शब्दार्थ-विचार कोश

आचार्य रामचन्द्र वर्मा

शब्दार्थ-विचार कोश

आचार्य रामचन्द्र वर्मा

"शब्दार्थ-विचार कोश" शब्दों के अर्थसहित विवेचन और उनके सूक्ष्म भेदों-उपभेदों के तुलनात्मक निरूपण की दृष्टि से हिन्दी का एक विशिष्ट और अपने ढंग का संभवतः अकेला ग्रंथ है। महान् भाषातत्त्वज्ञ आचार्य रामचन्द्र वर्मा ने इसमें समार्थक शब्दों का विवेचन अत्यंत वैज्ञानिक ढंग से किया है। समार्थक शब्दों के अर्थो में मूलतः समानता रहने पर भी उनकी विवक्षाओं या आशयों में जो कम-अधिक भिन्नताएं होती हैं, उन्हीं को ध्यान में रखते हुए उन्होंने इस अपूर्व ग्रंथ की रचना की। इसमें समार्थक शब्द-समूहों को व्यवस्थित क्रम से इस प्रकार विवेचित-विश्लेषित किया है कि विवक्षाओं के अन्तर स्वतः स्पष्ट होते जाते हैं। अस्तु, यह कहना गलत नहीं होगा कि इस ग्रंथ के पन्ने पलटना मानो शब्दों की आत्मा से साक्षात्कार करते चलना है।

विचक्षण भाषा-मर्मज्ञ आचार्य रामचन्द्र वर्मा ने अपना लगभग सारा जीवन भाषा और शब्दों के ही अध्ययन में व्यतीत किया था। भाषा की समृद्धि में योगदान की दृष्टि से उन्होंने अनेक मार्गदर्शक ग्रंथों की रचना की, जिनमें सर्वाधिक उल्लेखनीय है—"शब्दार्थ दर्शन"। इसमें उनके जीवन भर के संचित ज्ञान और अनुभव का मानो सारतत्त्व ही समाहित है। यह "शब्दार्थ-विचार कोश" आचार्य वर्मा के उसी ग्रंथ का नया परिशोधित और परिवर्धित रूप है। मूल ग्रंथ को यह परिशोधित और परिवर्धित रूप दिया है डॉ. बदरीनाथ कपूर ने, जो स्वयं एक जाने-माने कोशकार और भाषा-मर्मज्ञ हैं।

"शब्दार्थ-विचार कोश" शब्दों के सटीक और सार्थक प्रयोग की दिशा में मार्ग-दर्शन करने वाला "अवश्य संग्रहणीय" ग्रंथ है। यह न केवल अध्यापकों के लिए अत्यंत उपयोगी कोश है, बल्कि लेखकों, पत्रकारों और ऐसे सामान्य पाठकों के लिए भी परम उपयोगी है जो उत्तरोत्तर अपनी अभिव्यक्ति-क्षमता का विकास और परिष्कार चाहते हैं।

शब्दार्थ-विचार कोश

लेखक

आचार्य रामचन्द्र वर्मा

संशोधन तथा परिवर्धन

डॉ. बदरीनाथ कपूर

राजपाल

मूल्य : तीन सौ पचास रुपये (350.00)

संस्करण : 1995 © प्रकाशक
SHABDARTH-VICHAR KOSH
(Dictionary of Hindi words, their synonyms and etymology)
by Acharya Ram Chandra Verma

ISBN 81-7028-123-7

राजपाल एण्ड सन्ज़, कश्मीरी गेट, दिल्ली

भूमिका

प्रस्तुत **'शब्दार्थ-विचार-कोश'** आचार्य रामचन्द्र वर्मा द्वारा संपादित "शब्दार्थ दर्शन" का ही व्यवस्थित तथा परिवर्द्धित संस्करण है। इसमें अनेक नई शब्द-मालाओं का समावेश हुआ है तथा अनेक मालाओं में नए शब्द तथा विवरण भी बढ़ाए गए हैं। ऐसे बहुत से स्वतंत्र शब्दों का भी इसमें विवेचन हुआ है जो प्रस्तुत कोश के क्षेत्र में नहीं आते थे।

सामान्यतः पर्याय शब्दों का सारभूत अर्थ तो समान होता है परन्तु फिर भी उनकी विवक्षाएं एक दूसरी से कुछ-न-कुछ या बहुत-कुछ भिन्न होती हैं। विवक्षागत अंतर का ध्यान रखकर जब लेखक या कवि शब्दों का प्रयोग करते हैं तब रचना में चार चाँद लग जाते हैं। साधारणतः देखने में जुड़वां बच्चे एक दूसरे के इतने समरूप होते हैं कि सब के लिए उन्हें ठीक तरह से पहचानना कठिन हो जाता है। कभी-कभी तो ऐसे बच्चों के बहन-भाई तथा माता-पिता भी धोखा खा जाते हैं। फिर शब्दों का तो कहना ही क्या! बहुत कुछ एक ही प्रकार के अर्थ सूचित करने वाले शब्दों का वर्ग या माला हम भले ही बना लें फिर भी उस वर्ग की प्रत्येक विवक्षा तक पहुंच पाना हमारे लिए संभव नहीं। यह कार्य सचमुच अत्यंत कठिन है। वर्मा जी जैसी पैनी दृष्टि तथा सूक्ष्म विवेचन-विश्लेषण की शक्ति अन्यत्र देखने को नहीं मिलती। यह कार्य उन्हीं के बूते का था। उन्होंने यह कार्य इस उद्देश्य से किया था कि अध्ययनशील लोग शब्दों की सही विवक्षा समझकर उनका प्रयोग तो करें ही, साथ ही उनमें शब्दों के अंतर समझने की प्रवृत्ति भी जाग्रत हो।

संसार की सभी वस्तुओं में कुछ न कुछ सौन्दर्य होता है। कहीं तो वह ऊपरी या प्रत्यक्ष होता है और कहीं आंतरिक या प्रच्छन्न। शब्दों में ये दोनों प्रकार के सौन्दर्य होते हैं। उनका ऊपरी या प्रत्यक्ष सौन्दर्य तो प्रायः सभी लोग जानते, देखते और समझते हैं परन्तु उनका आंतरिक सौन्दर्य उनके अर्थों और विवक्षाओं में निहित होता है जो बहुत कम लोग देख पाते हैं। वर्मा जी की शब्दों का आंतरिक दर्शन करने और कराने की क्षमता को हम सादर प्रणाम करते हैं।

मुझे आशा है कि हिन्दी का उदबुद्ध पाठकवर्ग वर्मा जी की इस अद्वितीय कृति से अवश्य लाभान्वित होगा।

"शब्दलोक"
47, लाजपत नगर
वाराणसी (उ०प्र०)

बदरीनाथ कपूर

प्रथम संस्करण की प्रस्तावना

हिन्दी भाषा का आवश्यक संस्कार करने की ओर तो मेरा ध्यान आरम्भ से ही रहा है; और उसका मानक रूप स्थिर करने-कराने के प्रयत्न में भी मैं 25-30 वर्षों से लगा हूँ। इस बीच में मैंने जो साहित्यिक कार्य किए हैं, उनसे सुविज्ञ पाठक बहुत कुछ परिचित होंगे ही। पर एक तो मैं क्षीण स्वरवाला दुर्बल व्यक्ति ठहरा और दूसरे मैं चुपचाप एकांत में बैठकर अपनी अल्प शक्ति के अनुसार केवल सेवा-भाव से काम करनेवाला आदमी ठहरा। आन्दोलन खड़ा करना और हो-हल्ला मचाना मेरी प्रकृति के बिलकुल विरुद्ध है। कदाचित् इन्हीं कारणों से मेरे प्रयत्नों की ओर उतने लोगों का ध्यान आकृष्ट नहीं हुआ जितने लोगों का होना चाहिए था। मुझे इस बात की कोई शिकायत नहीं है; पर हाँ, हिन्दी के दिन पर दिन बिगड़ते हुए रूप के सम्बन्ध में अवश्य शिकायत है—और बहुत बड़ी शिकायत है। तिस पर मुझे ऐसा जान पड़ता है कि जिस प्रकार इधर बीस वर्षों में हमारी राजनीतिक स्वतन्त्रता ने सभी तरह के भारतवासियों को अच्छे और बुरे सभी प्रकार के काम करने की पूर्ण स्वतन्त्रता दे रखी है, उसी प्रकार सब लोगों को मनमाने ढंग से उल्टी-सीधी और बेढंगी भाषा लिखने की भी पूरी स्वतंत्रता दे रखी है। मैं तो निस्संकोच भाव से यहाँ तक कह सकता हूँ कि इस स्वतंत्रता में इतनी उच्छृंखलता मिल गई है कि हमारी यह स्वतन्त्रता पूर्ण रूप से निरंकुश स्वच्छन्दता में परिणत हो गई है। यदि इसमें मेरे संतोष की कोई बात है, तो वह यही कि अब अनेक मान्य तथा सुयोग्य विद्वानों का ध्यान भी हमारी इस त्रुटि और दोष की ओर आकृष्ट होने लगा है; और वे यह कहने तथा मानने लगे हैं कि हिन्दी विद्वानों तथा साहित्यिक संस्थानों को ऐसा प्रयत्न करना चाहिए जिससे लोग हिन्दी भाषा की ऐसी दुर्दशा करना छोड़कर उसका मानक और विशुद्ध रूप स्थिर करने का प्रयत्न करें! यदि हमने इस ओर ध्यान न दिया तो हिन्दी का राज-भाषा बनना व्यर्थ सिद्ध हो जाएगा। इसके फलस्वरूप हमारी पहली और सबसे बड़ी हानि तो यह होगी कि हम हिन्दी की गणना उच्चकोटि की भाषाओं में न करा सकेंगे; और दूसरी हानि यह भी हो सकती है कि कुछ नए उभड़नेवाले हिन्दी-विरोधी तत्व तथा पक्ष हिन्दी को राज-भाषा के पद से अनासीन करने के प्रयत्न में सफल हो जायें।

परन्तु सन्तोष का विषय है कि अब अनेक विचारशीलों और विद्वानों का ध्यान भाषा की इस दिन पर दिन बढ़नेवाली दुर्दशा की ओर जाने लगा है। डा० हजारीप्रसाद जी द्विवेदी ने अंग्रेजी पुस्तकों और लेखों के त्रुटिपूर्ण अनुवादों के सम्बन्ध में जो असंतोष प्रकट किया है, उसका उल्लेख मैंने इस पुस्तक के 'विषय प्रवेश' में किया है। द्विवेदी जी ने तो अपना मत अनुवादों और उनमें प्रयुक्त होनेवाले अप्रचलित तथा दुरूह शब्दों तक ही परिमित रखा है; परन्तु पटना विश्वविद्यालय के हिन्दी विभाग के अध्यक्ष डा० देवेन्द्रनाथ जी शर्मा इससे और भी बहुत कुछ आगे बढ़ गए हैं। दो-तीन महीने पहले पटना रेडियो से उनकी एक वार्त्ता प्रसारित हुई थी। उसमें आपने विश्वविद्यालयों के विद्यार्थियों की

भाषा की जो चर्चा की थी वह विशेष विचारणीय भी है और शिक्षाप्रद भी। उन्होंने कहा था कि मुझे प्रति वर्ष अनेक विश्वविद्यालयों की हिन्दी परीक्षाओं से सम्बद्ध विद्यार्थियों की लगभग 4000 उत्तर-पुस्तिकाएँ देखनी पड़ती हैं। उनकी परम अशुद्धि और सदोष भाषा से डा० शर्मा को जो मानसिक कष्ट होता है, उसकी चर्चा करते हुए वे यह कहने के लिए विवश हुए थे कि अब मुझे मृत्यु के उपरान्त नरक के कष्ट-भोग का कोई भय नहीं रह गया; क्योंकि मैं समझता हूँ कि वहाँ की सारी यातनाएँ इसी जन्म में भोग रहा हूँ। उन्होंने यह भी कहा था कि चाहे विद्यार्थियों से किसी अंश का अर्थ करने के लिए कहा जाय, चाहे व्याख्या करने के लिए, चाहे सारांश लिखने के लिए, चाहे स्पष्टीकरण करने के लिए और चाहे इसी प्रकार के कुछ और कामों के लिए; परन्तु उन सबका उत्तर बिलकुल एक-सा होता है। वे अर्थ, आशय, व्याख्या, सारांश, स्पष्टीकरण सरीखे शब्दों में कोई अन्तर ही नहीं समझते—सबको एक ही लाठी से हाँकते चलते हैं। मैं क्षमा-याचना पूर्वक और बहुत ही नम्र भाव से इतना और निवेदन कर देना चाहता हूँ कि भाषा की इस दुर्दशा के लिए बेचारे विद्यार्थी ही उत्तरदायी नहीं हैं। मैं अच्छे-अच्छे लेखकों और वक्ताओं की भाषा में ही नहीं, हिन्दी की उच्च कक्षाओं के अध्यापकों तथा प्राध्यापकों* की भाषा में भी प्रायः नित्य ऐसी त्रुटियाँ और दोष देखता हूँ जो यह सिद्ध करते हैं कि हिन्दी की प्रकृति से परिचित होना तो दूर रहा, वे हिन्दी व्याकरण के साधारण नियमों तक से या तो परिचित ही नहीं होते या अपने अज्ञान, अभ्यास आदि के कारण बहुत बुरी तरह से उनकी उपेक्षा करते हैं। और तो और, अनेक अवसरों पर उच्चारण भी प्रायः बहुत अशुद्ध होते हैं। हमारे विश्वविद्यालयों में 'डाक्टर' गढ़ने की होड़-सी लगी है; और हिन्दी की ऐसी शिक्षा से पारंगत होनेवाले 'डाक्टरों' में से ही विश्वविद्यालयों के लिए अध्यापक तथा प्राध्यापक चुने जाते हैं।

इस सम्बन्ध में एक मजेदार बात याद आ गई। अंग्रेजी के Hydrophobia के लिए हमारे यहाँ का बहुत पुराना शब्द जलातंक (जल+आतंक) हैं परन्तु इधर साल भर के अन्दर आकाशवाणी दिल्ली के प्रसारणों में मुझे उसके स्थान पर 'जलांतक' (जल+अंतक) सुनाई पड़ा। पहले एक दो बार मैंने समझा कि यह टाइप की या ऐसी ही और कोई भूल होगी, परन्तु फिर जब दो बार 'जलांतक' ही सुनाई पड़ा तब मुझे आश्चर्य भी हुआ और दुःख भी। रोज़ लाखों हिन्दी-प्रेमी रेडियो सुनते हैं, पर उनका ध्यान ऐसी बातों की ओर क्यों जाने लगा। आश्चर्य तो यह है कि भारत सरकार के इतने बड़े हिन्दी विभाग का ध्यान भी कभी इस भद्दी भूल की ओर नहीं गया और अब तो मुझे ऐसा जान पड़ने लगा है कि आकाशवाणी 'जलातंक' के स्थान पर 'जलांतक' का ही प्रचार करना चाहती है। सुना है स्थानीय संस्कृत विश्वविद्यालय के उद्यान में स्थान-स्थान पर पटरियों पर लिखा है—फूल तोड़ना निषेध है, घास पर चलना निषेध है। ऐसे अवसरों पर संज्ञा का नहीं बल्कि

---

*फारसी का एक शेर है—

गर हमीं मक्तबो हमीं मुल्लास्त।
कारे तिफलाँ तमाम ख्वाहद शुद।

अर्थात्—यदि यही विद्यालय और यही शिक्षक हैं, तो लड़कों (की पढ़ाई) का काम हो चुका।

भूत कृदन्त रूप निषिद्ध भी उक्त वाक्यों में ठीक नहीं बैठता। ऐसे अवसरों पर 'वर्जित' का प्रयोग होना चाहिए। अभी कल ही एक स्थानीय दैनिक में निकला था–'जब पुलिस के बड़े अधिकारी वहाँ पहुँचे, तब पुलिसवालों और डाकुओं में गोलियों का आदान-प्रदान हो रहा था।' गोलियाँ न हुईं मानो मिठाइयाँ हो गईं। अनुवादक को अं० में Exchange मिला; और उसने बिना समझे-बूझे उसके स्थान पर आदान-प्रदान रखकर काम चलता किया। ऐसे लोगों को जानना चाहिए कि आदान-प्रदान मित्रतापूर्ण परिस्थितियों में और सद्भावनापूर्वक होता है। विरोधियों और शत्रुओं में तो गोलियाँ चला करती हैं। रेडियो पर भी और समाचार-पत्रों में भी प्रायः इस प्रकार के प्रयोग आते रहते हैं–विरोधी पक्षों ने भी सरकार के उठाए हुए इन कदमों का स्वागत किया है। उठाए हुए कदमों का और स्वागत! भाषा और शब्दों के प्रति हमारी उदासीनता और उपेक्षा इस सीमा तक पहुँच गई है कि हम न तो शब्दों के ठीक अर्थ जानते हैं और न व्याकरण के नियमों की ही परवाह करते हैं। समझ में नहीं आता कि ऐसी भाषा से कभी हमारा पीछा छूटेगा भी या नहीं, परन्तु जिस द्रुत गति से हिन्दी इस नाशक प्रवाह में बहती चली जा रही है, उसे देखते हुए तो यही जान पड़ता है कि हम अनजान में ही हिन्दी को ऐसे नए साँचे में ढाल रहे हैं जो जन-साधारण के लिए परम परकीय है। हिन्दी का राष्ट्र-भाषावाला पुराना कलेवर और रूप तो दिन पर दिन विगलित होता जा रहा है; और उसके बदले राज-भाषा के नाम पर ऐसी नई हिन्दी गढ़ी जा रही है जो हिन्दी तो कदाचित् ही रह जाय, हाँ और जो चाहे वह भले ही हो जाय। मैंने अपने सारे जीवन में और किसी भाषा को ऐसी बे-ढंगी तरह से रूप बदलते नहीं देखा, जैसी बे-ढंगी तरह से आज-कल हिन्दी का रूप बदल रहा है। रूप ही क्यों उसकी सारी प्रकृति विकास के नाम पर विकृत होती जा रही है। क्या हिन्दी के कर्णधार इस ओर ध्यान देने की कृपा करेंगे ?

सरकार और कामों की तरह शिक्षा और हिन्दी प्रचार के लिए भी अंधाधुंध अनुदान देती और खर्च करती है। पर कोई यह देखनेवाला नहीं है कि सरकार का धन कहाँ जाता और कैसे खर्च होता है। अनुदान संस्थाओं को ही मिलते हैं। इसी अनुदान के धन के लिए संस्थाओं में मुट्ठी भर अधिकारी उन पर पूरा अधिकार कर लेते हैं या अधिकार-प्राप्ति के लिए दल-बन्दियाँ और लड़ाई-झगड़े करते हैं, काम की ओर ध्यान देने का किसी को अवकाश ही नहीं मिलता।

श्री भदन्त आनन्द कौशल्यायन के इस मत से पूर्णतः सहमत हूँ कि ऐसे अनुदान हिन्दी के लिए वरदान के बदले अभिशाप ही सिद्ध हो रहे हैं। यदि हम लोगों में हिन्दी की सेवा का सच्चा भाव होता और हम उसके लिए थोड़े त्याग और शुद्ध हृदयतापूर्वक प्रयत्न करते तो हिन्दी अब तक कहाँ की कहाँ पहुँच गई होती। परन्तु हिन्दी भी उसी ओर जाती हुई दिखाई देती है जिस ओर सारा देश आँखें बन्द करके चला जा रहा है। हिन्दी देश की भाषा ही ठहरी; फिर वह देश का साथ कैसे छोड़ सकती है ?

हम अपने सारे देश में भी और देश के बाहर भी दूर-दूर तक हिन्दी का प्रचार करना चाहते हैं यह हमारी सद्भावना के बहुत ही शुभ लक्षण हैं। परन्तु हमारा यह प्रयत्न

तब तक सफल नहीं हो सकता जब तक हम हिन्दी को अपेक्षित भाषिक गुणों और विशेषताओं से अलंकृत करके उसका मानक रूप स्थिर न कर लें।

मानक हिन्दी कोश तैयार करने के समय ही मेरा ध्यान था कि शब्दों की ऐसी ठीक और वैज्ञानिक व्याख्या होनी चाहिए जिसमें अव्याप्ति और अतिव्याप्ति वाले दोष यथा-साध्य कम हों अथवा हों ही न। मानक हिन्दी कोश की तैयारी के अन्तिम दिनों में मेरा ध्यान शब्दों के सूक्ष्म आर्थी अन्तरों और भेदों की ओर भी जाने लगा था और इस प्रकार मैं कोश-रचना के क्षेत्र से कुछ और आगे बढ़कर पर्यायकी के क्षेत्र में पहुँच गया था। घटनाओं के क्रम और चक्र ने ही मुझे इस नए मार्ग पर ला खड़ा किया था। इसके फलस्वरूप मैंने कोश-कला, शब्द-साधना, शब्दार्थ-मीमांसा, शब्द और अर्थ तथा शब्दार्थक ज्ञानकोश नामक छोटी-मोटी पुस्तकें लिखी थीं। शब्दार्थ-मीमांसा को ही मैं एक आदर्श रूप देना चाहता था; पर मैं इसे अपना दुर्भाग्य ही समझता हूँ कि मुझे उसमें अपनी इच्छा के अनुसार कुछ भी कार्य करने का अवसर ही नहीं दिया गया। फिर भी मेरी वह आकांक्षा कभी मन्द नहीं पड़ी, उल्टे बराबर बढ़ती ही गई। प्रस्तुत पुस्तक शब्दार्थ-दर्शन इन्हीं सब बातें की परिणति है। इसके सम्बन्ध में मैं तो दृढ़तापूर्वक कह सकता हूँ कि इसमें मेरी उक्त आकांक्षा बहुत कुछ पूरी हुई है; और इसे वर्तमान रूप देकर मैं बहुत कुछ निश्चिंत और सन्तुष्ट हुआ हूँ।

यह पुस्तक शब्दार्थक ज्ञानकोश का बहुत कुछ नया, परिवर्द्धित और संशोधित रूप तो है ही; साथ ही इसमें शब्द-साधना और शब्दार्थ-मीमांसा की कुछ अच्छी और काम की बातें ले ली गयी हैं; फिर भी ऐसी सभी बातों को बिलकुल नया, वैज्ञानिक और व्यवस्थित रूप दिया गया है। पहले की त्रुटियाँ और दोष दूर करके बहुत सी नई और काम की बातें बढ़ाई गयी हैं–सबको बहुत कुछ नया कलेवर दिया गया है। इसके सिवा इसमें 150 से कुछ ऊपर नई शब्द-मालाएँ भी बढ़ाई गयी हैं, जिनमें 4-5 सौ नए शब्दों का विवेचन है। इसमें मैंने उच्च कक्षाओं के विद्यार्थियों और सुविज्ञ पाठकों की आवश्यकताओं का तो ध्यान रखा ही है; अच्छे अध्यापकों, प्राध्यापकों, लेखकों और वक्ताओं के काम की बहुत सी बातों का भी समावेश किया है। अपने इस प्रयत्न में मैं कहाँ तक सफल हुआ हूँ इसका निर्णय करने का अधिकारी हिन्दी जगत् ही है। मैं तो अधिक से अधिक यही कह सकता हूँ कि जो कुछ थोड़ा-बहुत काम मुझसे हो सका है, वह मैं परम नम्रतापूर्वक हिन्दी जगत् और भगवती भारती की सेवा में अर्पित कर रहा हूँ।

एक और ऐसी आवश्यक बात है जिसका उल्लेख कर देना आवश्यक और उपयोगी समझता हूँ। साधारणतः यही कहा, माना और समझा जाता है कि कोशकार का काम प्रचलित शब्दों के आर्थी विवेचन तक ही परिमित रहा है–उसे नए शब्द गढ़ने और बनाने का अधिकार नहीं होता। परन्तु मैं यह समझता हूँ कि कोशकार जब कोश-रचना के क्षेत्र से आगे पढ़कर पर्यायकी के क्षेत्र में पहुँचता है, तब उसे नए शब्द सुझाने का भी कुछ अधिकार हो जाता है। उन्नत, पक्व और पुष्ट भाषाओं के कोशकारों को भले ही नए शब्द गढ़ने का अधिकार न हो; पर जो हिन्दी अभी तक अपनी आरंभिक अवस्था पार करके प्रगति और विकास के मार्ग पर चलने लगी है उसके लिए इस प्रकार का बन्धन

कुछ ठीक नहीं है। तिस पर जब बराबर नए शब्द बढ़ते जा रहे हों तब उनमें कहीं कुछ त्रुटियाँ और दोष रह ही जाते हैं। सूक्ष्म आर्थी विवेचन करनेवाले लोगों की दृष्टि में जब ऐसी त्रुटियाँ और दोष आते हैं तब उन्हें उनका उल्लेख भी करना ही पड़ता है और उनके स्थान पर कुछ नए शब्द सुझाने भी पड़ते हैं। इन्हीं सब बातों का विचार करके मैंने जो कुछ नया प्रयत्न किया है उसकी चर्चा कर देना भी आवश्यक समझता हूँ।

'शब्दार्थक ज्ञानकोश' और 'शब्दार्थ-दर्शन' की तैयारी के समय मुझे अंग्रेज़ी के कुछ ऐसे शब्द भी मिले हैं जिनके लिए सरकारी कोशों में मुझे हिन्दी समानक नहीं मिले; और कुछ ऐसे शब्द भी मिले हैं जो सूक्ष्म आर्थी अन्तरों और भेदों की दृष्टि से उपयुक्त नहीं हैं। ऐसे बहुत से शब्दों के लिए मुझे नए हिन्दी समानक या तो बनाने पड़े हैं या सुझाने पड़े हैं। उदाहरण के लिए उनमें से कुछ शब्द इस प्रकार हैं : Achievement –परिलब्धि [उपलब्धि से भिन्न]; Admiration– अभिशंसा [प्रशंसा से भिन्न]; Declaration– परिज्ञापन [प्रख्यापन से भिन्न]; Enclave– बहिरावर्त; Final– आंतिक [अन्तिम से भिन्न]; Hostility– रिपुता [शत्रुता से भिन्न]; Kidnapping– आहरण [अपहरण से भिन्न] Know-how– परिज्ञान [क्रिया-ज्ञान, क्रिया-पद्धति]; Manifesto– ध्येय-पत्र [प्रख्यापन से भिन्न]; Persistence– प्राग्रह [आग्रह से भिन्न]; Record– उच्चमान [कीर्तिमान से भिन्न]; Rostrum– मंच-शीर्ष; Schedule– अनुयोजन [अनुसूची से भिन्न]*; Tranquillity– शम [शान्ति से भिन्न]।

इसी प्रकार के और भी अनेक शब्द हैं जिनकी पूरी सूची मैं नहीं बना सका हूँ और जो प्रसंग-वश इस पुस्तक की शब्द-मालाओं में पाठकों को मिल जायँगे। ऐसे नए शब्द रखने के समय मैंने कारणों का भी निरूपण कर दिया है और यह बतला दिया है कि पहले के या पुराने शब्दों में आर्थी दृष्टि से क्या त्रुटि है और नए शब्द रखने का क्या औचित्य है। इससे सुविज्ञ आलोचक और पाठक सहज में मेरा उद्देश्य और आशय समझ लेंगे; और तब यदि उन्हें ठीक जान पड़ेगा तो वे मेरे सुझाए हुए शब्दों का उपयोग और प्रचलन करने लगेंगे।

एक अन्तिम निवेदन और. मैं चाहता हूँ कि शब्दों के ऐसे सूक्ष्म आर्थी विवेचन और भेद निरूपण का क्रम बराबर चलता रहे। यह तभी हो सकता है जब कुछ नए उत्साही और विचारशील नव-युवक इस क्षेत्र में आवें और पूरी लगन तथा सेवा-भाव से इस कार्य में प्रवृत्त हों।

16-11-68

रामचन्द्र वर्मा

विषय-सूची

प्रथम खंड

द्वितीय खंड : पर्याय-मालाएं

तुलनात्मक और व्याख्यात्मक विवेचन

विषय-सूची

विषय-सूची

विषय-सूची

विषय-सूची

परिशिष्ट

संकेत-सूची

अं० = अंग्रेजी
अ० = अरबी
तु० = तुर्की
प्रा० = प्राकृत
फ़ा० = फारसी
सं० = संस्कृत
हिं० = हिन्दी
दे० = देखिये
पुं०, पु० = पुल्लिंग
स्त्री० = स्त्रीलिंग
क्रि० = क्रिया
अ० क्रि० = अकर्मक क्रिया
स० क्रि० = सकर्मक क्रिया
भू० कृ० = भूत कृदन्त
वि० = विशेषण
मुहा० = मुहावरा

शब्दार्थ विचार कोश

1
विषय-प्रवेश

प्रायः लोक व्यवहार में किसी भाषा की महत्ता और श्रेष्ठता का मूल्यांकन मुख्यतः तीन बातों के आधार पर होता है। ये तीन बातें हैं: प्रचार, साहित्य और शब्द भंडार। पहले इन्हीं तीनों बातों के सम्बन्ध में कुछ कह लेना उचित होगा।

इधर कई सौ वर्षों से सारे भारत में हिन्दी का बहुत अधिक प्रचार होता चला आ रहा है, और इसी आधार पर स्वतन्त्र भारत के संविधान में उसे राज भाषा का पद मिला है। इससे बहुत पहले स्वामी दयानन्द सरस्वती की कृपा से गुजरात, पंजाब, राजस्थान आदि में और तदुपरान्त महात्मा गांधी की कृपा से दक्षिण भारत तथा असम में भी इसका बहुत अधिक प्रचार हो चुका था और ये तत्व हिन्दी को राजभाषा का पद दिलाने में और अधिक सहायक हुए हैं, और अब भारत के स्वतंत्र हो जाने पर तो इसका बहुत अधिक प्रचार हो रहा है।

साहित्यिक दृष्टि से भी हिन्दी का पद्य-भंडार मध्य युग से ही निरन्तर बढ़ता चला आ रहा था। भारतेन्दु बाबू हरिश्चन्द्र के प्रयत्न से बहुत से लोग हिन्दी की ओर आकृष्ट होने लगे और उसका गद्य साहित्य दिन पर दिन बढ़ने लगा। जब संविधान में भी हिन्दी को राजभाषा मान लिया गया तब हिन्दी में साहित्यरचना का कार्य इतने प्रबल वेग से चल पड़ा कि अन्य भारतीय भाषाओं में कहीं उसकी समता दिखाई नहीं देती। इधर पन्द्रह बीस वर्षों में हिन्दी में सभी विषयों के और सभी प्रकार के जितने अधिक ग्रन्थ प्रकाशित हुए हैं, उन्हें देखते हुए कहा जा सकता है कि हिन्दी ने बहुत थोड़े समय में आश्चर्यजनक उन्नति कर ली है।

जब हिन्दी राजभाषा मान ली गयी तब उसके लिए विविध विषयों के वैज्ञानिक और पारिभाषिक शब्दों की आवश्यकता भी प्रतीत होने लगी और भारत सरकार ने लाखों करोड़ों रुपए व्यय करके बीसियों हज़ार नये शब्द बनाये। इस शब्दरचना के कार्य में जो त्रुटियां और दोष रह गये थे उन्हें दूर करने के लिए भारत सरकार फिर से जांच पड़ताल कर रही है और उनमें आवश्यक संशोधन और सुधार करा रही है। सारांश यह कि प्रचार, साहित्य और शब्द भंडार तीनों की दृष्टियों से हिन्दी निरन्तर उन्नति करती जा रही है और आशा की जाती है कि वह आगे भी इसी तरह उन्नति करती रहेगी।

भारत सरकार बहुत अधिक धन व्यय करके अंग्रेज़ी हिन्दी की पारिभाषिक शब्दावलियां तो अवश्य तैयार करा रही है; परन्तु हमारी समझ में दो दृष्टियों से यह काम एकांगी और फलतः अधूरा ही है। पहली बात तो यह है कि इनका रूप अंग्रेज़ी हिन्दी ही होता है जिससे ये अंग्रेज़ी जानने वालों के ही काम आ सकती हैं। इनका हिन्दी अंग्रेज़ी रूप प्रस्तुत होना इसलिए बहुत आवश्यक है कि हिन्दी जाननेवालों को भी ऐसा साधन

प्राप्त हो जिससे वे समझ सकें कि हिन्दी का अमुक शब्द अंग्रेज़ी के अमुक शब्द के लिये निश्चित हुआ है। दूसरी बात यह कि हिन्दी पारिभाषिक शब्दों की व्याख्या भी हिन्दी में होना परम आवश्यक है। यदि ऐसा नहीं होगा तो हिन्दीवालों को ऐसे शब्दों के अभिप्राय और आशय समझने के लिए फिर अंग्रेज़ी का ही मुखापक्षी होना पड़ेगा जो कभी अभीष्ट और वांछनीय नहीं हो सकता। जब हिन्दी शब्द बन रहे हैं, तब उनके साथ-साथ उनका आशय और भाव समझने का साधन भी हिन्दी में अवश्य होना चाहिए। इस पुस्तक में मैंने हिन्दी के ऐसे बहुत से नये शब्दों के आशय और भाव स्पष्ट करने का प्रयत्न किया है। परन्तु यह काम अभी दाल में नमक के बराबर ही है। आशा है भारत सरकार मेरे इन सुझावों की ओर भी ध्यान देगी और ऐसी व्यवस्था करेगी जिससे उक्त दोनों त्रुटियों की पूर्त्ति हो सके और हिन्दीवालों के लिए ज्ञान के इस नये भंडार तक पहुंचने का अच्छा सुभीता हो सके।

यह तो हुई हिन्दी रूपी वृक्ष के ऊपरी और दृश्य भाग की बात, जिसका तना हमें दिन पर दिन मोटा ताजा होता हुआ दिखलायी देता है और जिसकी हज़ारों शाखाएं प्रशाखाएं हरे भरे पत्तों, सुगंधित फूलों और स्वादिष्ट फलों से लदी हुई चारों ओर खूब तेजी से फैलती हुई दिखायी देती हैं और जिसके द्वारा बहु संख्यक भारतवासी अनेक प्रकार के लाभ उठाते हैं। परन्तु वृक्ष का एक अदृश्य मूल भाग भी होता है जो सदा मिट्टी के नीचे दबा रहता है और जिस पर सहसा कभी किसी का ध्यान भी नहीं जाता। लोग आम का फल भी खा लेते हैं, उसकी पत्तियों से बंदनवार भी बना लेते हैं और उसकी लकड़ी का भी अनेक प्रकार से उपयोग करते हैं। ये सब उसके उपभोक्ता ही कहे जायेंगे। परन्तु वृक्षों की वास्तविक देखभाल करने के लिए ऐसे कुशल तथा चतुर मालियों की भी आवश्यकता होती है जो उनके मूल में खाद और पानी देते रहें, समय समय पर उचित मात्रा में उन्हें धूप और हवा भी पहुंचाते रहें; और उन्हें कीड़ों मकोड़ों के आक्रमण से बचाते रहें। ऐसे ही लोग वृक्ष के सेवी कहे जाने के अधिकारी होते हैं। हमारा आशय उस शब्द समूह से है जिससे भाषा बनती है। हमारे लिए यह बात अवश्य प्रसन्नता और संतोष की है कि इधर दस पन्द्रह वर्षों में कुछ प्रमुख विद्वानों ने भाषा विज्ञान की आरम्भिक बातों का कुछ परिचय हिन्दीवालों को कराया; और अब कुछ विद्वान हिन्दी की धातुओं, शब्दों की रचना और रूप तथा भाषा की प्रकृति पर भी बहुत कुछ विचार करके अपने निष्कर्ष तथा सिद्धान्त पुस्तकों के रूप में हिन्दी भाषियों के समक्ष उपस्थित करने लगे हैं। फिर भी खेद का विषय है कि हिन्दी में ऐसे लोगों का बहुत बड़ा अभाव दिखायी देता है जो हिन्दी रूपी वृक्ष के मूल अंश की देख रेख करते हों और उसे पुष्ट करने तथा सजीव रखने का प्रयत्न करते हों। बल्कि हम तो यहां तक कह सकते हैं कि हिन्दी का यह मौलिक क्षेत्र आरम्भ से अब तक बहुत कुछ उपेक्षित ही रहा है अथवा कम से कम हम हिन्दीवाले इस ओर से उदासीन ही रहते हैं।

साठ वर्षों के अपने साहित्यिक जीवन का बहुत अधिक अंश मैंने भाषा और शब्दों के अध्ययन में ही बिताया है। उसके फलस्वरूप मेरी यह धारणा निरन्तर पुष्ट होती है कि जिस रूप में शब्दों का आर्थी विवेचन और उनके सूक्ष्म भेदों तथा उपभेदों का

तुलनात्मक निरूपण होना चाहिए वह अभी तक नहीं हुआ है। साथ ही मैं यह भी समझता हूं कि अब वह समय आ गया है जब हिन्दी में ये दोनों काम वैज्ञानिक ढंग से, व्यवस्थित रूप में और शास्त्रीय स्तर पर होने चाहिए। इधर बहुत दिनों से अनेक अवसरों पर मैंने हिन्दीवालों का ध्यान इस ओर आकृष्ट किया है परन्तु मैं इस प्रयत्न में सफल नहीं हुआ हूं। यह काम कुछ विशिष्ट प्रकार के शब्दकोशों के द्वारा होना चाहिए। यह पुस्तक इसी उद्देश्य से प्रकाशित की जा रही है कि हिन्दी के विद्वान और साहित्यिक संस्थाएं शब्दों के इस प्रकार के विवेचनों की ओर या तो स्वयं ध्यान दें अथवा शासन से यह अनुरोध करें कि वह इसकी समुचित व्यवस्था करे।

मैंने कुछ अवसरों पर अपने कई सुयोग्य मित्रों को यह कहते हुए सुना है कि हिन्दीवाले शब्दकोशों का बहुत कम उपयोग करते हैं, और हिन्दी के कोशों का अधिकतर व्यवहार साधारण नवयुवक और विद्यार्थी ही करते हैं। उनकी यह बात मुझे बहुत कुछ ठीक जंची; और मैं इसके कारणों पर विचार करने लगा। मुझे इसके कई कारण जान पड़े, जिनका संक्षेप में यहां उल्लेख करना अनुचित न होगा। परन्तु उन कारणों का उल्लेख करने से पहले यह बतला देना भी आवश्यक जान पड़ता है कि यह बात हिन्दीवालों के लिए ही नहीं प्रायः सभी भारतीय भाषाओं के भाषी, वयस्क और विद्वान् सज्जनों के सम्बन्ध में भी कही जा सकती है। अब संक्षेप में वे कारण भी सुन लीजिए जो मेरे ध्यान में आये हैं।

मेरी समझ में पहला कारण भारतीय भाषाओं की लिपि प्रणाली है। रोमन लिपि के सब अक्षर अलग अलग होते हैं और उसमें न तो मात्राएं होती हैं, न द्वित्व अक्षर और न संयुक्त वर्ण। इन्हीं विशेषताओं के कारण रोमन लिपि में शब्दों का अक्षर क्रम बहुत ही सहज में और सुगमतापूर्वक समझ में आ जाता है; और रोमन लिपि के शब्दकोशों में उद्दिष्ट शब्द ढूंढने में किसी को कुछ भी कठिनाई नहीं होती। परन्तु भारतीय लिपियों में मात्राओं, संयुक्त वर्णों आदि की जटिलताओं के कारण शब्दकोशों में उद्दिष्ट शब्द ढूंढ़ निकालना बहुत कुछ कठिन होता है। मैंने अच्छे अच्छे विद्वानों और सुयोग्य व्यक्तियों तक को शब्दकोशों में शब्द ढूंढ़ने के लिए इधर उधर भटकते हुए देखा है। उन्हें आस पास बैठे हुए लोगों से पूछना पड़ता है कि अमुक शब्द कहां मिलेगा; और जब तक शब्द-क्रम का कोई जानकार उनकी सहायता न करे तब तक वे प्रायः असहाय से बने रहते हैं। मेरी इन बातों से किसी को यह नहीं समझना चाहिए कि मैं भारतीय लिपियों पर किसी प्रकार का आक्षेप कर रहा हूं। मैंने तो सही वास्तविक स्थिति बतलायी है जो अनेक अवसरों पर स्वयं मेरे देखने में आयी है।

आरम्भ से ही हिन्दी साहित्य की सेवा के क्षेत्र में, मेरा एकमात्र उद्देश्य यही रहा है कि भाषिक दृष्टि से हिन्दी को उसी उच्च स्तर पर पहुंचाया जाये जिस पर संसार की अनेक अन्यान्य उन्नत भाषाएं अवस्थित हैं। और यह काम तभी हो सकता है जब हम अपने शब्दों के आर्थी विश्लेषण को वैसा ही विशद रूप दें जैसा अन्य उन्नत भाषाओं में उनके शब्दों को प्राप्त है। यदि आप आक्सफोर्ड और वैब्स्टर सरीखे प्रामाणिक कोश

उठाकर देखें तो उनमें आपको at, on और the सरीखे छोटे छोटे शब्दों के आशयों और प्रयोगों के ऐसे सूक्ष्म विवेचन और विश्लेषण मिलेंगे कि आप चकित हो जायेंगे। उन्हीं के आदर्शों पर चलकर मैंने **अभी, ऊपर, और** सरीखे छोटे छोटे हिन्दी शब्दों के आशयों और प्रयोगों के विश्लेषण का यत्किंचित् प्रयत्न किया है। इस प्रकार के विवेचनों से मैं इस परिणाम पर पहुंचा हूं कि हमारे यहां के बहुत ही छोटे और साधारण शब्द भी अभिप्रायों और आशयों के ऐसे भंडार हैं जिनका अन्वेषण हमारे लिए बहुत ही आवश्यक है। भले ही हिन्दीभाषी अपनी भाषा के अभ्यस्त होने के कारण ऐसे विवेचनों की आवश्यकता या महत्त्व न समझते हों, परन्तु अन्य भाषा-भाषियों और विदेशियों को अपनी भाषा के शब्दों के प्रयोगों से भी और उसकी आर्थी क्षमता से भी परिचय कराने के लिए ऐसे विवेचन बहुत ही उपयोगी सिद्ध होंगे। मैं समझता हूं कि जब हिन्दी में छोटे और बड़े सभी प्रकार के शब्दों तथा प्रयोगों का सूक्ष्म विवेचन और विश्लेषण करने वाले उच्च कोटि के शब्दकोश तथा ऐसे ही और सांधन प्रस्तुत हो जाएंगे तब विचारशील विद्वान् और उत्साही विद्यार्थी हिन्दी की ओर अधिकाधिक संख्या में प्रवृत्त होने लगेंगे, तथा हिन्दी का और भी जल्दी तथा यथेष्ट प्रचार होने लगेगा। मुझे आशा है कि हिन्दी के अधिकारी और प्रतिष्ठित विद्वान् मेरे इस निवेदन पर उक्त दृष्टिसे विचार करने की कृपा करेंगे।

दूसरा कारण यह है कि भाषा सब जगह साधारणतः दो ही प्रकार से सीखी सिखायी जाती हैं। बच्चे आरम्भ में केवल दूसरों के अनुकरण पर शब्दों का उच्चारण करना सीखते हैं और उसी अनुकरण के आधार पर वे उनके अर्थ समझते और प्रयोगों के अभ्यस्त होने लगते हैं। न तो उनमें शब्दों के अर्थ और आशय ठीक तरह समझने की योग्यता या शक्ति ही होती है और न उनके अभिभावक या आरम्भिक शिक्षक ही इस योग्य होते हैं कि उन्हें शब्दों के ठीक ठीक अर्थ और आशय पूरी तरह से बतला सकें। कुछ और बड़े होने पर जब उन्हें अपनी भाषा के कठिन शब्दों का ज्ञान कराया जाता है अथवा अन्य भाषाएं सिखायी जाती हैं तब भी पर्यायों और समार्थक शब्दों का ही सहारा लिया जाता है। cat माने बिल्ली, dog माने कुत्ता और horse माने घोड़ा रटकर अंग्रेजी आदि परकीय तथा स्वदेशी भाषाएं सीखी जाती हैं। उन्हें 'उत्तम' का अर्थ अच्छा या बढ़िया और 'निकृष्ट' का अर्थ खराब या बुरा बताकर चलता किया जाता है। परन्तु उत्तम, अच्छा और बढ़िया के अर्थों में जो सूक्ष्म भेद हैं, उनसे वे आजीवन अपरिचित और कोरे ही रह जाते हैं। ऐसी बातों का स्वाभाविक परिणाम यह होता कि शिक्षित समाज के बहुत अधिक लोग जीवन भर अनुकरण, अभ्यास और पर्यायों की छाया में ही पलते हैं। शब्दों के अर्थों और आशयों के सूक्ष्म विवेचन और पर्यायों के पारस्परिक आर्थी भेद, प्रभेद आदि समझने की कोई आवश्यकता ही नहीं समझी जाती। शिक्षितों में से जो लोग साहित्य प्रेमी या साहित्यसेवी होते हैं वे भी प्रायः इस तरह की बातों से अलग और दूर ही रहते हैं। परिणाम यह होता है कि भाषिक और शब्दार्थिक क्षेत्रों में बहुत से लोग इन्हीं आरम्भिक परिस्थितियों में अपना सब काम जैसेतैसे चलाते रहते हैं। और उन्हें भाव व्यंजन की श्रेष्ठ और सूक्ष्म प्रणालियों के ज्ञान से वंचित रहना पड़ता है, जो भाषा में ओज, प्रसाद, और सौंदर्य की स्थापना करती हैं तथा उसे यथेष्ट प्रभावशाली और रोचक बनाती हैं। उन्हीं

सब बातों का परिणाम यह होता है कि बहुत से लोग बोलने और लिखने के समय अनेक प्रकार की भूलें करते हुए दिखायी देते हैं; और अनेक प्रकार से ऐसे बेढंगे और भद्दे प्रयोग करने लगते हैं जो भाषा की प्रकृति के विरुद्ध तो होते ही हैं, अनेक अवसरों पर या तो निरर्थक होते हैं या भ्रामक या हास्यास्पद । इस प्रकार की लिखी हुई भाषा में ओज, प्रवाह, प्रसार आदि का अभाव होता ही है, इससे पाठक ऊब जाते हैं और उनमें अध्ययन, वाचन आदि की प्रवृत्ति तथा रुचि कम होने लगती है ।

तीसरा कारण यह है कि हिन्दी में भी और अन्यान्य भारतीय भाषाओं में भी भाषिक दृष्टि से उच्च कोटि की ऐसी साहित्यिक चेतना अपेक्षित ही है जिसमें शब्दों और प्रयोगों का सूक्ष्म विवेचन करने वाले साहित्य की ओर जिज्ञासु लोग प्रवृत्त होते हैं । जैसा कि मैं आगे चलकर बतलाऊंगा, कदाचित् हमारी साहित्यिक चेतना के विकास में अभी ऐसे उत्कृष्ट शब्दकोशों की रचना का समय आने को ही है । बल्कि यों कहना चाहिए कि वह समय हमारे सिर पर आ गया है । हमें चाहिए कि हम उसे पहचानें और उसका स्वरूप समझकर अपनी भाषा की महत्वपूर्ण आवश्यकता की ओर ध्यान दें और उसकी पूर्ति का प्रयत्न करें । इसी के साथ एक बात और है । मनुष्यों की तरह भाषा का भी जन्म होता है, शैशव और बाल्यावस्था होती है, यौवन होता है, प्रौढ़ता और वयस्कता होती है, और वृद्धावस्था तथा उसके उपरान्त मृत्यु भी होती है । अपने जन्म के समय भाषा उसी प्रकार साहित्य से कोरी और रहित होती है जिस प्रकार मनुष्य जन्म के समय भाषा से कोरा और रहित होता है । मनुष्यों के शैशव और बाल्यकाल की तरह भाषा के ये आरम्भिक काल भी प्रायः किस्से कहानियों में ही बीतते हैं । अपनी किशोरावस्था और युवास्था में भाषा अन्यान्य उन्नत भाषाओं के अनुकरण पर चलती हुई साहित्यिक दृष्टि से थोड़ी बहुत पुष्ट और सम्पन्न होती है । इन अवस्थाओं में काव्यों, नाटकों, उपन्यासों आदि की प्रचुरता तो होती ही है; आलोचनात्मक दृष्टि से नये नये तथ्यों का अनुसंधान और नये नये मानों तथा मूल्यों का अन्वेषण भी होता है । परन्तु ये सब काम या तो कुतूहल की शान्ति के लिए होते हैं या मनोरंजन मात्र के लिए । हमारी हिन्दी भाषा ही नहीं भारत की अन्यान्य आधुनिक, उन्नत तथा प्रगतिशील भाषाएं भी अभी बहुत कुछ इसी अवस्था में चल रही हैं ।

अपनी यह अवस्था पार कर चुकने पर जब भाषाएं प्रौढ़ और वयस्क होती हैं तब उनमें उच्च कोटि के तात्त्विक, दार्शनिक और सैद्धांतिक विषयों के साहित्य का सृजन होता है । इसी प्रौढ़ावस्था में अथवा पूर्ण वयस्कता प्राप्त होने पर लोगों का ध्यान भाषिक और शाब्दिक अनुसंधानों की ओर जाता है । अपनी किशोरावस्था और युवावस्था में हिन्दी ने पाश्चात्य देशों की अनेक उन्नत भाषाओं के अनुकरण पर भाषा विज्ञान (Philology) की ओर थोड़ा बहुत ध्यान दिया था और जिन लोगों ने इस विषय का कुछ सामान्य सा भी अध्ययन कर लिया था उनका हिन्दी में यथेष्ट आदर और सम्मान हुआ था और अब भी होता है । परन्तु जिस प्रकार सैकड़ों हज़ारों वैज्ञानिक क्षेत्रों में पाश्चात्य देशों ने कल्पनातीत उन्नति की है, उसी प्रकार भाषिक क्षेत्र में भी वे इतने अधिक आगे बढ़ गये हैं जिसका हमें कदाचित् ही कुछ परिचय प्राप्त हुआ हो । इस अवसर पर हम अपने एक

नवयुवक और सुयोग्य विद्वान् मित्र श्री द्वारिकेश जी के एक पत्र की कुछ बातें उद्धृत करना चाहते हैं। श्री द्वारिकेश जी इन दिनों शिकागो विश्वविद्यालय में हिन्दी भाषा के प्राध्यापक हैं और हिन्दी कृदन्तों के सम्बन्ध में अनुसन्धान का बहुत बड़ा कार्य कर रहे हैं। अपने 5 अप्रैल '65 के पत्र में उन्होंने लिखा था: "हिन्दी की समस्या राजनीतिक ही नहीं, practical (व्यावहारिक) भी है। राजनीतिक उतनी ही, जितना कि लोग चिल्लाते हैं। उतनी कठिनाई नहीं है हिन्दी सीखने में; अंग्रेजी की अपेक्षा तो बहुत ही कम। practical (व्यावहारिक) इसलिए कि हिन्दी वाले हिन्दी को जितना सरल समझते हैं वह न तो उतनी सरल ही है और न 'हिन्दी हिन्दी' चिल्लाने से प्रचार में ही आ सकती है। मेरा दृढ़ विश्वास है कि हिन्दी का प्रचार केवल trained (प्रशिक्षित) और scientific linguists (वैज्ञानिक भाषा तत्त्वज्ञ या भाषा शास्त्री) ही कर सकते हैं जिनकी भारत में कोई सलाह नहीं ली जाती। दूसरा भ्रम यह है कि भारत में Philologist (भाषा विज्ञानी) को ही Linguist (भाषा तत्त्वज्ञ या भाषा शास्त्री) समझा जाता है। ... इन Philologist (भाषा विज्ञानियों) का एक समय था twenties (वर्तमान शताब्दी का तीसरा दशक)। किन्तु इनमें से किसी ने अपने को आधुनिक नहीं बनाया। अतः हिन्दी प्रचार समस्या का हल इन लोगों के बूते से बाहर है। Linguistics (भाषा तत्त्व या भाषा शास्त्र) एक विज्ञान है। यहां भौतिकी, रसायन शास्त्र आदि विज्ञानों में इसे भी स्थान मिला है। जब ये विज्ञान चन्द्र लोक की सैर कर रहे हैं तो फिर कल्पना करें कि Linguistics (भाषा तत्त्व या भाषा शास्त्र) ने आज कितनी उन्नति कर ली होगी। उतनी ही– जितनी चन्द्रलोक पहुंचने तक की। भारत में Contrastive study (वैषम्यात्मक अध्ययन) की परम्परा को मजबूती से स्थापित किया जाना अत्यावश्यक है। भारत के हिन्दी क्षेत्रों से आये हुए सभी linguists (भाषा तत्त्वज्ञ या भाषा शास्त्री) यहां आकर विश्वविद्यालयों में सम्मान पा रहे हैं किन्तु भारत के किसी विश्वविद्यालय ने उन्हें खोजने तथा बुलाने का प्रयत्न नहीं किया है। हिन्दीवालों को चाहिए कि वे इन भाषा शास्त्रियों को खोज खोजकर बुलायें और उचित सम्मान दें। अभी तो भारत की परम्परा इस क्षेत्र में पाणिनी युग से आगे नहीं बढ़ी है। यह स्वीकार करने में संकोच नहीं कि इस क्षेत्र में भी भारत अभी आदि अवस्था में है।"

मेरी 'शब्द और अर्थ' नामक पुस्तक प्रकाशित हो चुकने के उपरान्त उसके सम्बन्ध में संस्कृत के सुप्रसिद्ध विद्वान् और भाषा तत्त्वज्ञ डॉ० सिद्धेश्वर वर्मा ने अपने बहुमूल्य विचारों और सुझावों से परिपूर्ण जो विस्तृत पत्र मुझे भेजा था उसमें डॉ० द्वारिकेश वाले उक्त उद्धरण के संदर्भ में एक जगह लिखा थाः "पाश्चात्य देशों में भाषा विज्ञान का हमपल्ला एक और विज्ञान 'पराभाषा विज्ञान' (पैरा लिंग्विस्टिक्स) बन रहा है। हमारी शब्द ब्रह्म परिषद ने भी इस नये विज्ञान की कुछ सामग्री एकत्र कर दी है। इस नये विज्ञान में अर्थ और भावों का पूरा और यथोचित समावेश होता है।"

जब हम एक ओर यह देखते हैं कि पाश्चात्य देशों में भाषा और शब्दों के सम्बन्ध में गम्भीर गवेषणा किस ऊँचाई तक पहुंच रही है और दूसरी ओर यह देखते हैं कि भाषा और शब्दों तथा उनके अर्थों और प्रयोगों की ओर से हम लोग कितने उदासीन हैं तब हमें लज्जित होकर और सिर झुकाकर किसी उर्दू कवि के कथनानुसार यही कहना पड़ता हैः

इधर फ़क़त कट रही हैं घड़ियां,
उधर ज़माने बदल रहे हैं।

मैं न तो भाषा विज्ञानी हूँ और न भाषा तत्वज्ञ या भाषा शास्त्री। हां, इतना अवश्य है कि बाल्यावस्था से ही भाषा और शब्दों के अध्ययन के प्रति मेरी स्वाभाविक प्रवृत्ति और रुचि रही है। और अब तक मैं मुख्यतः तत्सम्बन्धी कामों में ही लगा रहा हूं। भाषिक दृष्टि से हिन्दी की जो दुरवस्था मेरे देखने में आयी उसका यत्किंचित प्रतिकार करने के लिए मैंने बीसों वर्ष पूर्व 'अच्छी हिन्दी' और 'हिन्दी प्रयोग' नामक पुस्तकें लिखी थीं। उनमें मैंने यह बतलाने का प्रयत्न किया था कि हिन्दी की वास्तविक प्रकृति क्या है और इसका मानक तथा शुद्ध रूप कैसा होना चाहिए। प्रसंगवश 'अच्छी हिन्दी' में मैंने यह भी बतलाया था कि कुछ अन्यान्य भारतीय भाषाओं और विशेषतः अंग्रेज़ी की छाया से हिन्दी किस प्रकार धीरे धीरे कुछ बिगड़ती सी जा रही है और अब तो मैं देखता हूं कि हिन्दी पर अंग्रेज़ी की घनी घटा ही घुमड़ने लगी है।

हिन्दी के सुप्रसिद्ध विद्वान् आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी ने जयपुर में अपने भाषण में (फरवरी 1968) कहा था कि आजकल हिन्दी में अंग्रेज़ी के जो अनुवाद होते हैं वे बहुत ही त्रुटिपूर्ण होते हैं, इतने त्रुटिपूर्ण कि सहसा जन-साधारण की समझ में नहीं आते। इसका कारण उन्होंने यह बतलाया था कि हम प्रायः ऐसे अप्रचलित शब्दों का प्रयोग करते हैं जिनका अर्थ और आशय स्पष्ट नहीं होता। हिन्दी की त्रुटियों की ओर मैं बीसियों वर्षों से हिन्दी वालों का ध्यान आकृष्ट करता आ रहा हूं। बल्कि मेरा अपना मत तो यहां तक है कि हमारे यहां मौलिक के नाम से जो कुछ लिखा जाता है उसका भी बहुत सा अंश वैसा ही त्रुटिपूर्ण होता है जैसा आचार्य द्विवेदी के मतानुसार अंग्रेज़ी के अनुवादों का होता है। इसका मुख्य कारण यही है कि हमारी अब तक की सारी शिक्षा-दीक्षा अंग्रेज़ी के माध्यम से होती आयी है; और अंग्रेज़ी ने हमारे मस्तिष्क में ऐसी बुरी तरह से घर कर लिया है कि हम सोचने समझने और लिखने बोलने के समय उससे किसी प्रकार अपना पीछा नहीं छुड़ा सकते। अनुवादों और मौलिक लेखों के त्रुटिपूर्ण होने का एक और कारण यह भी है कि हम अपनी मातृभाषा की प्रकृति से बहुत कुछ अनभिज्ञ तथा अपरिचित होते हैं। एक तीसरा और सबसे बड़ा कारण यह है कि हमारी दृष्टि तो सदा अंग्रेज़ी के शब्दों और वाक्य-रचना पर रहती है परन्तु न तो उनके ठीक-ठीक समार्थक जानने के ही साधन हमारे पास हैं और न उनके विशुद्ध अर्थ तथा आशय जानने के ही। फल यह होता है कि हमारी भाषा पर अनेक दिशाओं से अनेक प्रकार के आक्षेप होते रहते हैं। कुछ लोग कहते हैं कि हिन्दी में बहुत से ऐसे नये और बीहड़ शब्द बढ़ते जा रहे हैं कि उनका अर्थ हमारी समझ में ही नहीं आता। और कुछ लोग कहते हैं कि हिन्दी वाक्य-रचना के रूप दिन पर दिन इतने विकट होते जा रहे हैं कि वे जन-साधारण के दैनिक जीवन और बोल-चाल से बहुत दूर होते जा रहे हैं। परन्तु मेरी समझ में नये शब्दों का हिन्दी में आना तो अनिवार्य है ही और उनके अर्थों तथा आशयों से धीरे धीरे परिचित होने पर आज नहीं तो कल वे सबके लिए सुबोध हो जायेंगे। परन्तु हमारी वाक्य-रचना पर अंग्रेज़ी के चक्करदार और परम परकीय प्रयोगों की जो रंगत दिन पर दिन चढ़ती और बढ़ती जा रही है वह चिन्तनीय भी है और

शोचनीय भी। हमारे एक सुयोग्य मित्र का तो यहां तक कहना है कि आज-कल की हिन्दी को देखकर ऐसा प्रतीत होता है कि कोई गोरी मेम भारतीय साड़ी पहनकर और माथे पर बिन्दी लगाकर हमारे सामने आ खड़ी हुई है। ऐसे वीभत्स दृश्य के उपस्थित होने का मुख्य कारण यही है कि हम अपनी भाषा की प्रकृति का कुछ भी ध्यान नहीं रखते। और आधुनिकता, नवीनता तथा प्रगतिशीलता के नाम पर दुनिया भर का कूड़ा करकट बिना समझे बूझे अपने भाषिक क्षेत्र में भरते चलते हैं। हमें अपनी भाषा के इस पक्ष पर बहुत ही गंभीरता पूर्वक और सजग भाव से विचार करना चाहिए। अपनी भाषा के दिन पर दिन बिगड़ते हुए रूप के सम्बन्ध में जो बातें कुछ विस्तार से ऊपर कही गयी हैं, वे हमारे लिए दुःखकारक और लज्जाजनक तो हैं ही, साथ ही हिन्दी के समुचित प्रचार में भी बहुत कुछ बाधक हैं। पर्यायकी विषयक जो थोड़ा बहुत काम इधर बारह-पन्द्रह वर्षों में मैंने किया है उसका मुख्य उद्देश्य हिन्दी पर से यह कलंक दूर करना ही रहा है। मेरे अब तक के ऐसे कार्यों में जो दोष और भूलें रह गयी थीं उन सबका परिमार्जन और संशोधन करके मैंने यह 'विवेचन' प्रस्तुत किया है। इसमें अंग्रेज़ी शब्दों के लिए उपयुक्त समार्थक भी बतलाये गये हैं और प्रसंगों के अनुसार ठीक ठीक अर्थ और आशय भी। मैं आशा करता हूं कि हिन्दीवाले अपनी मातृ-भाषा के सम्मान की रक्षा के विचार से इस महत्वपूर्ण विषय की ओर प्रवृत्त होंगे और मेरे इस तुच्छ प्रयत्न से थोड़ा बहुत लाभ उठाकर इस कार्य-क्षेत्र का यथेष्ट विस्तार भी करेंगे।

आगे बढ़ने से पहले हिन्दी भाषा के इस विकृत रूपविकास के सम्बन्ध में मैं एक दो बातें बतला देना चाहता हूं। प्रचार और साहित्य प्रकाशन दोनों की दृष्टि से हिन्दी इधर तीस चालीस वर्षों से बराबर उन्नति करती चली आ रही है। परन्तु यदि भाषिक गति के वर्तमान रूप का विचार किया जाये तो हमें मानना पड़ेगा कि हम बहुत कुछ पिछड़े ही रहे हैं, आगे नहीं बढ़े हैं। मैं देखता हूं कि चालीस पचास वर्ष पहले हिन्दी के सेवियों में जितनी लगन हिन्दी को आगे बढ़ाकर ऊंचा स्थान देने की थी अब उसमें दिन पर दिन कुछ न कुछ कमी ही होती जा रही है। पुराने हिन्दी लेखकों का एक मात्र उद्देश्य था, हिन्दी को उन्नत भाषाओं के समकक्ष बनाना। उन दिनों शिक्षा का प्रचार कम होने के कारण लोगों में अंग्रेज़ियत भी कम ही आयी थी और अनुकरण-प्रियता भी। ज्यों-ज्यों शिक्षा का प्रचार बढ़ता गया, त्यों-त्यों हम पर अंग्रेज़ी का प्रभाव भी बढ़ता गया और ज्यों-ज्यों हिन्दी का प्रचार होता गया त्यों त्यों चारों ओर से लोग आ आकर हिन्दी में कुछ लिखने की ओर भी प्रवृत्त हुए। इन्हीं दोनों बातों के परिणामस्वरूप हमारी भाषा में भाषिक दृष्टि से कुछ विकृतियां उत्पन्न होने लगीं। नये लेखकों को हिन्दी की प्रकृति और स्वरूप का न तो उतना ज्ञान ही था और न ध्यान ही, जितना हिन्दी के आरम्भिक लेखकों को था। इसी के साथ लगी हुई एक और बात भी थी। पुराने हिन्दी लेखकों में सेवा का भाव ही प्रधान था, धन या नाम कमाने का नहीं। परन्तु ज्यों-ज्यों दिन बीतते गये, युग अर्थ प्रधान होता गया त्यों-त्यों कुछ ऐसे लेखकों की बाढ़ भी आने लगी जिनमें हिन्दी सेवा का भाव गौण और धन तथा नाम कमाने की प्रवृत्ति प्रबल थी। तिस पर स्वतंत्रता के उपरान्त हिन्दी के राजभाषा बन जाने पर तो लोगों का दाम और नाम कमाने का हौसला और भी बढ़ गया। हिन्दी सेवा का भाव कम होने लगा। इसका कारण

यह है कि जीवन संघर्ष दिन पर दिन और भी विकट होता जा रहा है। हो सकता है कि आर्थिक और राजनीतिक संघर्षों का प्रभाव हमारी साहित्यिक मनोवृत्ति पर भी पड़ा हो। आर्थिक और राजनीतिक क्षेत्र ज्यों-ज्यों कलुषित होते जाते हैं त्यों-त्यों जनसाधारण के मनोभाव भी बहुत कुछ वैसे ही होते जा रहे हैं। जिस प्रकार भारत के स्वतन्त्र हो जाने पर आर्थिक और राजनीतिक क्षेत्रों में अधिकाधिक लोग स्वार्थ-साधन के फेर में पड़ गये, उसी प्रकार हिन्दी के प्रकाशक और लेखक भी अपनी चर्या बदलते गये। बहुत से लोग यह सोचने समझने लगे कि क्यों न इस अवसर से हम भी थोड़ा बहुत लाभ उठा लें, और बहती गंगा में हाथ धो लें! फलतः हिन्दी क्षेत्र में जितने ही नये प्रकाशक आये उनसे कहीं अधिक लेखक भी। इस प्रकार 'बहुतेरे जोगी, मठ उजाड़' वाली कहावत चरितार्थ होने लगी। भाषिक और साहित्यिक उन्नति की दृष्टि से ऐसी स्थिति कभी वांछनीय नहीं हो सकती। उसके सुधार के लिए यह आवश्यक है कि हिन्दी लिखने से पहले लोग हिन्दी भाषा की प्रकृति और स्वरूप का भी कुछ ज्ञान प्राप्त करें और भाषा का स्वरूप स्थिर करने वाले शब्दों का भी। आज भी ऐसे त्यागी और निस्वार्थ महानुभावों की आवश्यकता है जो हिन्दी के आरम्भिक लेखकों की तरह हिन्दी सेवा का कार्य मुख्य समझते हों और उसकी तुलना में दूसरी बातों की ओर जिनका ध्यान अपेक्षया कम हो।

हमें यह तो मानना पड़ेगा कि वर्तमान काल में हिन्दी की यथेष्ट उन्नति करने के लिए हमें पाश्चात्य देशों के ज्ञान विज्ञान का बहुत अधिक अंश लेना पड़ेगा; और उसका अधिकतर भाग अंग्रेज़ी के माध्यम से ही हमारे यहां आयेगा। एक ओर तो हमें ऐसे ज्ञान विज्ञानों का अच्छी तरह अध्ययन करना पड़ेगा और दूसरी ओर अंग्रेज़ी के भाषिक गुणों और विशेषताओं का उचित ज्ञान प्राप्त करना पड़ेगा और ये दोनों काम हो जाने पर हमें यह देखना पड़ेगा कि हम ऐसे नये कामों को किस प्रकार हिन्दी की प्रकृति के अनुरूप बना सकते हैं। यह सारा ज्ञान विज्ञान तभी हमारे यहां के साधारण विद्यार्थियों और जनता के गले के नीचे उतर सकेगा जब वह हिन्दी और भारतीय भाषाओं की प्रकृति के अनुरूप होगा और यह अनुरूपता तभी स्थापित हो सकेगी जब हम और सब बातों की ओर से ध्यान हटाकर विशुद्ध सेवा-भाव से साहित्य रचना के कार्य में लगेंगे।

यहां हमें यह याद रखना चाहिए कि भाषा के शब्द और उनके समार्थक तो घिस पिस कर दूसरी भाषा में सहज ही मिल जाते हैं परन्तु अन्यान्य भाषाओं की पद-योजना और भाव-व्यंजन की प्रणालियां दूसरी भाषा में कभी सहज में नहीं खप सकतीं। शब्दों में परकीयता वाला तत्व उतना अधिक नहीं होता जितना पद योजना और भाव व्यंजन की प्रणालियों में होता है। उसका थोड़ा बहुत अंश भले ही दूसरी भाषा में आकर पच जाये; परन्तु सब कुछ ज्यों का त्यों ले लिये जाने पर भाषा इतनी परकीय और दुर्बोध हो जाती है कि जन-साधारण उसे समझ ही नहीं पाता। दुर्भाग्यवश हमारे यहां अंग्रेज़ी पद योजनाएं और भाव व्यंजन प्रणालियां बिना सोचे समझे ग्रहण करते चलने की प्रवृत्ति दिन पर दिन बढ़ती जाती है जो हमारी भाषा का स्वरूप ही बदल डालना चाहती है। यदि हम अभी से यह प्रवृत्ति नहीं रोकेंगे तो हिन्दी विरोधियों को अपना दुष्ट उद्देश्य सिद्ध करने के लिए बहुत बड़ा शस्त्र मिल जायेगा।

यहां हिन्दी विरोधियों की चर्चा आ गयी है, इसलिए, इस सम्बन्ध में भी एक दो

बातें बतला देना आवश्यक जान पड़ता है। इधर जब से भारतीय संसद में राजभाषा सम्बन्धी विधेयक उपस्थित करने की बात चली तभी से देश के कुछ भागों में इसके पक्ष और विपक्ष में कई प्रकार के आन्दोलन और उपद्रव होने लगे, जिन्होंने बहुत कुछ अराजकता का रूप धारण कर लिया। हिन्दी भाषी यह कहने लगे कि चाहे जैसे हो हिन्दी को सारे भारत में और सभी कामों में मुख्य स्थान प्राप्त हो। उधर कुछ ऐसे दक्षिण भारतीय राज्यों में भी इसकी विकट प्रतिक्रिया और विरोध होने लगा जिनमें इधर पचीसों वर्षों से हिन्दी का यथेष्ट प्रचार होता आ रहा था। परिणाम यह हुआ कि हिन्दी के विरोधियों की संख्या बढ़ने लगी और हिन्दी प्रचार के काम में बहुत बड़ी रुकावट पड़ गयी। यदि विचारपूर्वक देखा जाये तो दोनों ही पक्ष किसी न किसी रूप में भूल कर रहे थे। हिन्दी भाषी जनता और राज्यों का सबसे बड़ा दोष यह था कि हिन्दी के राजभाषा घोषित होने पर आरम्भ में ही उन्होंने उसके प्रचलन और प्रचार के लिए कोई विशेष प्रयत्न नहीं किया और अठारह बीस वर्ष यों ही गंवा दिये। यदि उसी समय भारत सरकार और हिन्दी भाषी राज्य हिन्दी के प्रचार के लिए ठीक तरह से प्रयत्न आरम्भ कर देते तो अब तक हिन्दी कहां से कहां पहुंच गयी होती। उधर उतना समय बीत जाने पर अनेक राजनीतिक परिस्थितियां बहुत कुछ बदल गयीं और हिन्दी विरोधियों को सिर उठाने का अच्छा अवसर मिल गया। हिन्दी भाषियों को अब भी यह सोचना चाहिए था कि जहां इतने दिन बीत गये वहां अब और दस पांच वर्ष भी इसी तरह शान्तिपूर्वक बीतने दिये जायें और इस बीच में हिन्दी को सब प्रकार से योग्य तथा समर्थ बनाया जाये। इन दस पांच वर्षों में दक्षिण भारत में हिन्दी का प्रचार और भी जोरों से चल पड़ता और नयी पीढ़ी में उसके विरोधियों की संख्या बहुत कम हो जाती और समर्थकों की संख्या बहुत कुछ बढ़ जाती। परन्तु जब हिन्दी वाले अपनी भाषा को सारे देश में सर्वोच्च स्थान दिलाने के लिए अड़ गये, तब हिंदी विरोधियों को भी सिर उठाने का अच्छा अवसर मिला। इस प्रतिक्रिया का जो दुष्परिणाम हुआ वह हम सबके सामने है।

फिर भी हमें ऐसी अड़ंगेबाजी और बाधाओं से घबराना नहीं चाहिए। कारण यह है कि हिन्दी में कुछ ऐसी ईश्वर दत्त संजीवनी शक्ति अंतर्हित है जो उसे बराबर आगे बढ़ाती चली आयी है और अब भी बढ़ाती चलेगी। मुसलमानी और अंग्रेज़ी शासनों में उसे दबाने और रोकने के अनेक प्रयत्न किये गये; फिर भी वह दबी या मरी नहीं बल्कि जन साधारण में बराबर चली और बढ़ती ही रही। उक्त स्थितियों की तुलना में आज का हिन्दी विरोधी आंदोलन बहुत कुछ अल्पकालिक और क्षणिक ही समझा जाना चाहिए। हिन्दी का वर्तमान विरोध विशुद्ध राजनीतिक है और अधिकार तथा नौकरियां पाने की आकांक्षाओं पर ही आश्रित है। इस विरोध का बहुत सा अंश विशुद्ध स्वार्थपरक है; इसीलिए वह अधिक दिनों तक नहीं चल सकता। अब तो हिन्दी वालों का पहला कर्तव्य यही है कि वे विरोधियों का भ्रम दूर करके उन्हें आश्वस्त करने और हिन्दी का समर्थक बनाने का प्रयत्न करें। हिन्दी विरोधियों को भी ठंडे दिल से यह सोचना और समझना चाहिए कि कोई परकीय या विदेशी भाषा कभी किसी दूसरे देश या राज्य की राजभाषा नहीं हो सकती। किसी देश या राज्य की जनता पर परकीय या विदेशी भाषा लादने के दिन अब दूर चले गये। यह साधारण सी सैद्धान्तिक बात हिन्दी विरोधी भी अवश्य अपने

मन में समझते हैं पर इस समय वे केवल स्वार्थवश उसका विरोध करने पर उतारू हुए हैं । इसीलिए मैं इस आन्दोलन को अल्पकालिक और क्षणिक समझता हूं ।

एक बात और है । मैं देखता हूं कि हिन्दी को अपनाने की प्रवृत्ति बिलकुल अनजाने में आप से आप निरन्तर बढ़ती चल रही है । यूरोप और अमेरिका के बहुत से विश्वविद्यालयों में हिन्दी का नियमित और व्यवस्थित अध्ययन जोरों से होने लगा है अर्थात् विदेशी भी इसका महत्व समझने लगे हैं । यदि हम अपने देश में ही देखें तो यहां के अनेक भिन्न भाषा भाषी प्रान्तों के लोग भी किसी न किसी रूप में हिन्दी को अपनाते चल रहे हैं । आज से दस बीस वर्ष पहले अनेक ऐसी आंचलिक और स्थानिक बोलियां और भाषाएं थीं जिन पर हिन्दी का कदाचित् कुछ भी प्रभाव नहीं था । परन्तु आज इन बोलियों और भाषाओं पर भी हिन्दी का थोड़ा बहुत प्रभाव पड़ने लगा है; और ऐसा जान पड़ता है कि यह प्रवाह दिन पर दिन बढ़ता ही जायेगा । पंजाबी, बुन्देली, मैथिली आदि भाषाओं में हिन्दीपन पहले की अपेक्षा बहुत अधिक बढ़ता हुआ दिखायी देता है । और तो और पंजाबी के अनुकरण पर पाकिस्तान की उर्दू पर भी उसका प्रभाव पड़ने लगा है । यों तो उर्दू का सारा ढांचा हिन्दी की नींव पर ही खड़ा है और उसके अस्सी नब्बे प्रतिशत शब्द मूलतः हिन्दी के ही हैं, फिर भी अब उसमें हिन्दी के ऐसे नये शब्दों का भी समावेश होने लगा है जिनके समार्थक उनके यहां नहीं अथवा होने पर भी सुबोध नहीं हैं । पाकिस्तान के रेडियो में अब जनता, निजी, लोकगीत, समाजी सरीखे अनेक ऐसे शब्दों का दिन पर दिन बढ़ता हुआ प्रचलन मेरे इस कथन का अच्छा प्रमाण है । अब तो उर्दू वाले 'सामाजिकता' की जगह 'सामाजियत' और 'साम्राज्यवाद' की जगह 'सामराजियत' सरीखे शब्द भी गढ़ने और चलाने लगे हैं । अतः हिन्दी वालों को निराश या हतोत्साहित नहीं होना चाहिए; बल्कि हिन्दी की उन्नति और पुष्टि के प्रयत्नों में अधिक मनोयोगपूर्वक लगे रहना चाहिए । हिन्दी अभी बहुत दिनों तक जीवित रहेगी और संसार की परम उन्नत भाषाओं में स्थान प्राप्त करके लोक कल्याण के बहुत काम करेगी ।

यों कहने के लिए हिन्दी हमारी राज भाषा हो गयी है , परन्तु इस क्षेत्र में अभी तक उसकी प्रगति बहुत ही असंतोषजनक और प्रायः नहीं के समान हुई है । पहला कारण तो यह है कि इधर कई पीढ़ियों से अंग्रेज़ी ने हमारे मस्तिष्क में बहुत अधिक घर कर लिया है । दूसरे हिन्दी भाषी राज्यों ने अभी हाल तक हिन्दी को राज्य के कारबार में स्थान देने का कोई उल्लेख योग्य और प्रत्यक्ष कार्य नहीं किया था । भारत सरकार का शिक्षा विभाग इधर पारिभाषिक शब्द गढ़ने में ही व्यस्त रहा है, हिन्दी के प्रचलन और प्रचार में विशेष सहायक नहीं हुआ है ।

इधर जब संसद में नया भाषा विधेयक पारित हुआ है और दक्षिण भारत में उसका बहुत बड़ा विरोध हुआ है; तब से अनेक हिन्दी भाषी राज्यों की भी आंखें खुल गयी हैं । और वे अपने राज कार्यों में हिन्दी को समुचित स्थान देने की व्यवस्था करने लगे हैं । हमें आशा करनी चाहिए कि यह क्रम बराबर तो चलता रहेगा ही, बहुत कुछ आगे भी बढ़ता चलेगा । विश्वविद्यालयों आदि में उच्च कक्षाओं की शिक्षा मातृभाषा में देने का जो आयोजन आरम्भ हुआ है, वह भी प्रकारान्तर से हिन्दी के प्रचार में बहुत कुछ सहायक होगा । इन परिस्थितियों को देखते हुए मैं समझता हूं कि हिन्दी शब्दों के अर्थापन और

आर्थी सीमानिर्धारण की आवश्यकता और भी बढ़ गयी है ।

यहां मैं एक बात और कह देना चाहता हूं । हमारे यहां आरम्भ से ही संगीत और साहित्य दोनों का बहुत कुछ समान आदर होता आया है और दोनों को समान महत्व का समझा जाता है । भगवती सरस्वती का वीणा-पुस्तक-धारिणी वाला रूप इसका प्रत्यक्ष प्रमाण है । हमारे यहां संगीत का जितना गहन और सूक्ष्म विवेचन हुआ है , उतना ही साहित्य का भी हुआ है । फिर भी आजकल की नवीन परिस्थितियों में पाश्चात्य देशों ने शाब्दिक क्षेत्र में जितनी उन्नति की है उतनी ही उन्नति करना हमारे लिए भी अनिवार्य होता जा रहा है । संगीत में स्वरों और उनके अंशों के रूप में श्रुतियों की तो प्रधानता है ही, एक एक* मात्रा और उसके छोटे छोटे खंडों या विभागों का भी पूरा पूरा ध्यान रखा जाता है । ठीक यही बात भाषा के शब्दों के सम्बन्ध में भी है । उनमें भी एक एक मात्रा और बिन्दु विसर्ग तक का स्वतन्त्र महत्व और स्थान होता है । हमें अपनी भाषा के सभी शब्दों का इसी दृष्टि से विशेष विचार और विवेचन करना चाहिए । ऐसे विवेचन के क्षेत्र में हम जितने ही अग्रसर होंगे, उतनी ही श्रेष्ठता हमारी भाषा में भी और साहित्य में भी आयेगी ।

भाषिक दृष्टि से हिन्दी की उक्त आवश्यकताएं पूरी हो जाने पर अनेक प्रकार के और बहुत बड़े लाभ होंगे । अभी कुछ दिन पहले (फरवरी '65 में और उसके बाद) दक्षिण भारत में विशुद्ध राजनीतिक और स्वार्थिक उद्देश्यों की सिद्धि के लिए अंग्रेज़ी के समर्थकों ने हिन्दी के विरोध का जो आन्दोलन चलाया था उसके प्रसंग में प्रायः कुछ बड़े बड़े लोग यह भी कहते थे कि हिन्दी जैसी अनुन्नत और अविकसित भाषा को अंग्रेजी का स्थान न तो मिल ही सकता है और न मिलना ही चाहिए । 16 दिसम्बर 1967 को जब भाषा विधेयक पर अंतिम विचार हो रहा था तब द्रविड़ मुनेत्र कड़गम के एक सदस्य ने लोकसभा में हिन्दी को 'घटिया' भाषा कहा था । हो सकता है कि उन्होंने अपनी मातृभाषा की तुलना में हिन्दी को घटिया समझा हो । इसी प्रकार की कुछ और बातें भी कुछ लोग समय समय पर कहते आये हैं । हमें अब उनका मुंह बन्द करने का पूरा प्रयत्न करना चाहिए । मेरा यह दृढ़ विश्वास है कि जब हम भाषिक दृष्टि से हिन्दी की उक्त दोनों मौलिक आवश्यकताओं की पूर्ति कर लेंगे तो किसी को यह कहने का साहस नहीं होगा कि हिन्दी अनुन्नत और अविकसित भाषा है । आज कल के सभ्य और सुशिक्षित देशों और समाजों में वस्तुतः वही भाषा उन्नत और विकसित मानी जाती है जिसके प्रायः सभी प्रमुख शब्दों का पूरा आर्थी विवेचन भी हो और पर्यायों के पारस्परिक अन्तरों का ठीक ठीक निरूपण और सीमांकन भी हो । ऐसे विवेचनों से दूसरा बड़ा लाभ यह होगा कि आनेवाली पीढ़ियों को एक ओर तो पुष्ट और प्रौढ़ भाषा लिखने की शिक्षा मिलेगी

---

*संगीत में सातों स्वरों में से हर एक के कई कई खण्ड या भाग निरूपित हैं; किसी के दो, किसी के तीन और किसी के चार । सब मिलाकर सातों स्वरों की 22 श्रुतियां हैं । परन्तु उच्चारण के विचार से इनमें इतने कम और सूक्ष्म पार्थक्य या अन्तर हैं कि सब लोग न तो उन्हें सहज में पकड़ ही पाते हैं और न समझ ही सकते हैं । हां, संगीत के परम रसिक और प्रशिक्षित कान ही उन्हें सुन और समझ सकते हैं । इसीलिए उन्हें 'श्रुति' कहते हैं ।

और दूसरी ओर उन्हें वह नया दृष्टिकोण भी प्राप्त होगा जिससे वे शब्दों के आर्थी अन्तरों और भेदों प्रभेदों पर नये ढंग से विचार करना सीखेंगे। तीसरा लाभ यह होगा कि इस प्रणाली से हम यह भी निश्चित कर सकेंगे कि हमारे शब्दों का आर्थी विकास कैसे हुआ है और उनका ऐतिहासिक स्वरूप क्या है। चौथा और सबसे बड़ा लाभ यह होगा कि अन्य भाषा भाषियों तथा विदेशियों में हम हिन्दी का प्रचार सहज में और अधिक सुगमतापूर्वक कर सकेंगे। इस प्रकार के हमारे सब विवेचन भाषातत्त्वज्ञों या भाषा शास्त्रियों के लिए बहुत सी आवश्यक और उपयोगी सामग्री भी प्रस्तुत कर सकेंगे और भारतीय भाषाओं के लिए एक नया आदर्श भी स्थापित कर सकेंगे। इन्हीं सब कारणों से मेरा यह विनम्र आग्रह और निवेदन है कि हिन्दी वालों को तत्काल इन कामों की ओर ध्यान देना चाहिए।

वर्तमान युग अनुसंधानों का है। सभी क्षेत्रों, सभी दिशाओं और सभी विषयों में बहुत बड़े बड़े अनुसंधान हो रहे हैं, और हर साल उनमें से प्रत्येक के लिए लाखों करोड़ों रुपए व्यय किये जाते हैं और नये विद्यार्थियों को उनका विशेषज्ञ बनाने का प्रयत्न किया जाता है। यहां तक कि कीड़े-मकोड़ों और पेड़-पौधों तक के अंगों और उपांगों के अध्ययन में भी अच्छे अच्छे विद्वान् अपना सारा जीवन व्यतीत कर देते हैं और अपने निकाले हुए निष्कर्ष से दिन पर दिन ज्ञान का भंडार बढ़ाते चलते हैं। और एक हम हिन्दी वाले हैं जो अपनी भाषा और उसका स्वरूप प्रस्तुत करने वाले शब्दों के अर्थों, भावों और व्यंजना शक्तियों की ओर भी ध्यान देने की आवश्यकता नहीं समझते। मेरी हार्दिक इच्छा है कि हिन्दी में शब्दार्थ विवेचन का यह काम वैज्ञानिक ढंग से, व्यवस्थित रूप में और शास्त्रीय स्तर पर चलाया जाये,इसे 'शब्दार्थ दर्शन' या 'शब्दार्थ विज्ञान' का पद प्राप्त हो।

मैं अपने जीवन व्यापी अनुभव से यह बात अच्छी तरह समझता हूँ कि अभी इस तरह के कामों का आदर करने और महत्त्व समझने वाले लोग बहुत थोड़े, प्रायः उंगलियों पर ही गिने जाने भर को हैं। ऐसे विद्वान् हिन्दी की वर्तमान भाषिक दुरवस्था से चिन्तित भी हैं और दुःखी भी। डा. सुनीति कुमार चाटुर्ज्या ने एक अवसर पर अपने एक पत्र में मुझे लिखा था, "आज कल अधिकतर लोग यहां तक कि कुछ लेखक भी संस्कृत शब्दों का बहुत ही असावधानी से प्रयोग करते हुए उनमें नये नये अर्थों का आरोप करते हैं। बहुत से लोग 'हेतु' और 'जन्य'* तक में अन्तर नहीं करते और एक की जगह दूसरे का प्रयोग कर जाते हैं। भाषा और उसकी शैली का सौंदर्य वस्तुतः ऐसे ही शब्दों के सूक्ष्म अन्तरों पर आश्रित होता है। संस्कृत शब्दों का हिन्दी में मनमाने ढंग से जो प्रयोग होता

---

*'हेतु' का तो हमारे यहां भी एक अर्थ लिए या वास्ते है ही। परन्तु बंगला में 'जन्य' का भी एक अर्थ लिए या वास्ते है। जैसेः इहार जन्य = इसके लिए। छेलेर जन्य = लड़के के लिए। फिर भी प्रयोग और विवक्षा के विचार से 'हेतु' और 'जन्य' में कुछ सूक्ष्म अन्तर है। डा. चाटुर्ज्या इन्हीं अन्तरों का ध्यान रखते हुए इस बात की ओर संकेत करते हैं कि लोग यह अन्तर न समझकर हेतु की जगह जन्य और जन्य की जगह हेतु बोल और लिख जाते हैं। उनकी यह शिकायत बंगला वालों के सम्बन्ध में ही है, हिन्दी वालों के सम्बन्ध मे नहीं। क्योंकि हिन्दी में 'जन्य' का अर्थ लिए या वास्ते है ही नहीं।

है उसे देखकर मैं बहुत दुःखी होता हूं। सन् 1965 के आरम्भ में संसद के दोनों सदनों की सम्मिलित बैठक में राष्ट्रपति महोदय के भाषण का जो हिन्दी अनुवाद हुआ था उसमें यह देखकर मुझे बहुत आघात लगा कि deficit financing का अनुवाद 'हीन-वित्त प्रबन्धन' और criticalका अनुवाद 'महत्त्वपूर्ण' किया गया था। जहां हमें 'उपकरण' या 'उपादान' का प्रयोग करना चाहिए वहां हम 'तत्त्व' का प्रयोग कर जाते हैं और कह चलते हैं हलुए में तीन तत्त्व (घी, सूजी और चीनी) हैं।''

मेरा यह दृढ़ विश्वास है कि भाषिक दृष्टि से हिन्दी का स्वरूप स्थिर करने के लिए छोटे और बड़े सभी प्रकार के शब्दों का समुचित आर्थी विवेचन होना चाहिए। जो लोग सब प्रकार के स्वार्थों का परित्याग करके ऐसे कामों में लगेंगे, भले ही वे अपने जीवनकाल में विशेष आदर, धन और सम्मान न प्राप्त कर सकें फिर भी यह निश्चित है कि आने वाली पीढ़ियां अपने आपको सबसे अधिक उन्हीं की ऋणी मानेंगी, उनकी कृतियां स्थायी होंगी और साहित्य में उनका नाम अमर होगा।

इन्हीं सब बातों का ध्यान रखते हुए मैं अब हिन्दी शब्दों की आर्थी व्याख्या पर और भी अधिक जोर देना चाहता हूं। इस पुस्तक के दूसरे खण्ड में मैंने हिन्दी के कुछ साधारण शब्दों का भी इसलिए विस्तृत विवेचन किया है कि अन्यान्य भाषा भाषियों और विशेषतः विदेशी विद्यार्थियों को हिन्दी शब्दों के सब अंगों का अच्छी तरह परिचय हो सके। परन्तु एक तो बहुत कुछ अकेला होने पर भी और दूसरे यह बिलकुल नए ढंग का काम होने के कारण मैं उतना आगे नहीं बढ़ सका हूं, जितना बढ़ना चाहता था। तिस पर इधर वर्षों से मेरा शरीर भी और स्वास्थ्य भी अस्वस्थ रहता और दिन पर दिन जवाब देता चलता है। तो भी जो कुछ अक्षत-पुष्प मुझसे हो सके हैं वे मैं माता भारती के चरणों में अर्पित करता हुआ आशा करता हूं कि हिन्दी के कुछ कर्मठ विद्वान् इस कार्य की ओर भी प्रवृत्त होंगे और इसे यथासाध्य आगे बढ़ाने का प्रयत्न करेंगे।

हमें यह नहीं भूलना चाहिए कि सरस्वती की सच्ची और सात्विक सेवा तभी सम्पन्न होती है, जब हम उनकी पूजनसामग्री में तपस्या और त्याग के सौरभ से युक्त कुछ सुमन भी संकलित करें। मातृभाषा ऐसे ही सच्चे सेवकों की प्रतीक्षा कर रही है। ★

2
शब्द और अर्थ

इन्द्रादयोपि यस्यांतं न ययुः शब्द वारिधेः

शब्द का महत्व और महिमा

संसार के सभी लोग सदा आपस में बातचीत करते और सैकड़ों-हजारों शब्दों का नित्य व्यवहार करते हैं। पर उनमें से कितने ऐसे हैं जो अपने नित्य व्यवहार के शब्दों का ठीक ठीक अर्थ और महत्व समझते हों। बोलना-चालना भी हम लोगों के लिए उठने-बैठने, खाने-पीने आदि की तरह इतना सामान्य हो गया है कि शब्दों के महत्व पर हम जल्दी ध्यान देने की आवश्यकता ही नहीं समझते। अशिक्षितों की बात तो जाने दीजिए अच्छे शिक्षितों से भी यदि आप यह जानना चाहें कि किसी शब्द का ठीक अर्थ, आशय या महत्त्व क्या है तो कदाचित् ही वे पूरी तरह से आपका समाधान कर सकें। हां, यदि आप किसी अच्छे कोशकार, दार्शनिक, भाषाविद् या वैयाकरण से शब्द का महत्व जानना चाहें तो वह अवश्य आपको इस सम्बन्ध में बहुत सी बातें बतला सकेगा। परन्तु हमारी समझ में प्रत्येक शिक्षित का यह कर्तव्य होना चाहिए कि वह शब्द का महत्त्व जाने और समझे, क्योंकि शब्द ही हमारे जीवन के समस्त कार्यों और व्यवहारों के सिवा हमारे ज्ञान-विज्ञान का भी और हमारी संस्कृति का भी मुख्य और मूल आधार है। यदि मानव समाज में वाक् शक्ति या वाचा न होती तो मनुष्यों का जीवन जड़ पदार्थों के जीवन से कुछ भी भिन्न न होता और यदि पशुपक्षियों में भी अपनी-अपनी बोलियां न होतीं तो उनके जीवन में क्या रस रह जाता? शब्दहीन सृष्टि की कल्पना मात्र से ही हम घबरा और डर जाते हैं।

यह तो हुई शब्द के महत्त्व की बात। अब शब्द की महिमा देखिए जो उस महत्त्व से बहुत अधिक बढ़ी-चढ़ी है। हमारे शास्त्रकारों ने माना है कि सृष्टि की उत्पति शब्द से ही हुई है। ईसाई, इस्लाम आदि धर्मों में भी प्रायः ऐसा ही कहा गया है। हमारे यहां के उपनिषदों, ब्राह्मण-ग्रन्थों और श्रुति-स्मृतियों में अनेक स्थलों पर शब्द की महिमा का उल्लेख हुआ है और प्राचीन कवियों, दार्शनिकों तथा विद्वानों ने भी शब्द की बहुत कुछ महिमा गायी है। शब्द नित्य तो माना ही गया है, वह पृथ्वी को धारण करने वाला भी कहा गया है। हमारे प्राचीन ऋषियों का मत है कि शब्द ही ब्रह्म है और यदि हम ब्रह्म रूप में उसकी उपासना करें तो हमें अलौकिक शक्ति प्राप्त हो सकती है। इस शब्द ब्रह्म

की कृपा से आज तक संसार ने जो उन्नति की है वह तो हमारे सामने है ही, पर हम यह भी देखते हैं कि हमारा सारा जीवन और सारा ज्ञान-विज्ञान दिन पर दिन इस शब्द-ब्रह्म के प्रसाद से और भी अधिक उन्नत तथा समृद्ध होता जा रहा है । आजकल कई अन्तरिक्ष-यान पृथ्वी की परिक्रमा कर रहे हैं और वहां से अन्तरिक्ष तथा वातावरण से सम्बन्ध रखनेवाली बहुत सी सूचनाएं पृथ्वी पर भेज रहे हैं । यहां तक कि कुछ अन्तरिक्ष-यान चन्द्रमा तक भी जा पहुंचे हैं और वहां की बहुत की बातों से हमें परिचित कराने लगे हैं । यह ठीक है कि इस प्रकार की सूचनाएं हमारे पास संकेत रूप में ही आती हैं; परन्तु हमें यह ध्यान रखना चाहिए कि तात्त्विक दृष्टि से संकेत का अन्तर्भाव भी शब्द में ही होता है; दोनों का मुख्य काम एक स्थान से कोई भाव, विचार या सूचना दूसरे स्थान तक पहुंचाना ही होता है । यह है उस शब्द की महिमा जिसके सम्बन्ध में अभी तक हमारा ज्ञान बहुत ही परिमित रहा है, परन्तु जो वस्तुतः बहुत अधिक विस्तृत होना चाहिए ।

शब्दों और अर्थों का सम्बन्ध

शब्दों और अर्थों के सम्बन्ध में विशेष बातें जानने से पहले संक्षेप में यह समझ लेना अच्छा होगा कि शब्द किसे कहते हैं और अर्थ किसे । इसी से यह पता चल जायेगा कि शब्द कितने प्रकार के होते हैं और अर्थ कितने प्रकार के । इससे पाठक सहज में यह समझ सकेंगे कि शब्द कैसे बनते हैं और उनमें से अर्थ कैसे निकलते हैं, अथवा उनमें अर्थों का आरोप और विकास कैसे होता है । ऐसे विवेचन से यह स्पष्ट हो जायेगा कि शब्दों और अर्थों में पारस्परिक सम्बन्ध क्या है अथवा उस सम्बन्ध का स्वरूप क्या है ।

शब्द की व्यापक और सरल परिभाषा हैः वह जो कुछ हमें सुनायी दे । हमें कानों से जो कुछ सुनायी पड़ता है वह भी शब्द है और पशुपक्षियों आदि को जो कुछ सुनायी पड़ता है वह भी । किसी वृक्ष के टूट कर गिरने, पहाड़ों से पत्थर के लुढ़कने, नदियों के जोरों से बहने, हवा के तेजी से चलने या बादलों के गरजने से जो शब्द उत्पन्न होते हैं, वे पशुपक्षियों को भी बहुत कुछ उसी प्रकार सुनायी पड़ते हैं जिस प्रकार हमें । इसी आधार पर हमारे शास्त्रकारों ने इसे श्रवणेन्द्रिय या कानों का विषय माना है ।

शब्द उत्पन्न होते हैं उक्त प्रकार की उन घटनाओं से जो हमसे थोड़ी या बहुत दूरी पर घटित होती हैं । परन्तु उनके फलस्वरूप उत्पन्न होने वाले शब्द हमारे कानों तक पहुंचते हैं, बीच की दूरी पार करके । यह बीचवाली दूरी या अवकाश दार्शनिक परिभाषा में आकाश कहलाता है । होता यह है कि उक्त प्रकार की घटनाओं के फलस्वरूप वायु में अनेक प्रकार के और बहुत से कंप होते हैं और वही कंप जब वायु की तरंगों के सहारे कानों तक पहुंचते हैं तब हमें एक विशिष्ट प्रकार का बोध कराते हैं । यह बोध उसी शब्द का परिणाम होता है जो हमसे कुछ दूरी पर उक्त प्रकार की घटनाओं के फलस्वरूप उत्पन्न होता है । उस दूरी से यह शब्द चलकर बीच वाले अवकाश या आकाश को पार करके हमारे कानों तक पहुंचता है । इसीलिए शास्त्रकारों ने इसे आकाश नामक तत्त्व का गुण माना है ।

शब्द मूलतः दो प्रकार के होते हैंः अनुच्चरित और उच्चरित । नदियों, पर्वतों, वृक्षों

आदि की विभिन्न क्रियाओं से उत्पन्न होने वाले शब्द अनुच्चरित कहलाते हैं। कारण यह है कि ऐसे शब्द प्राकृतिक रूप से उत्पन्न होते हैं, किसी प्रकार के कंठ उच्चारण या प्राणी के प्रयत्न के फलस्वरूप नहीं। यदि किसी प्राणी के कहीं गिरने से कोई शब्द उत्पन्न हो तो वह भी अनुच्चरित ही कहलायेगा; 'उच्चरित' नहीं क्योंकि ऐसे शब्द का कंठ-स्वर से कोई सम्बन्ध नही होता। पशुपक्षियों, मनुष्यों आदि के कंठ से और उनके चेतन प्रयत्न के फलस्वरूप जो शब्द होते हैं वे उच्चरित कहलाते हैं, अर्थात् ऐसे शब्द जिनका किसी प्राणी ने अपने कंठ से उच्चारण किया हो।

जिन वाक्ध्वनियों के द्वारा हम अपने विचारों का सफलतापूर्वक सम्प्रेषण करते हैं, उन्हें उच्चरित ध्वनियां कहते हैं। केवल कंठ से निकली होने के कारण कोई ध्वनि समूह तब तक उच्चरित नहीं कहलाता जब तक उसके मूल में कोई इच्छा-जन्य प्रयत्न न हो और जो उद्दिष्ट अभिप्राय से युक्त न हो। यदि कोई सोया हुआ मनुष्य खर्राटे भर रहा हो तो उसके खर्राटों की ध्वनि कंठ से निकली हुई होने पर भी इसलिए उच्चरित नहीं कही जायेगी कि उसके मूल में न तो कोई इच्छा-जन्य प्रयत्न होता है और न इसका उद्देश्य किसी अभिप्राय का सम्प्रेषण होता है।

उच्चरित शब्दों के भी दो भेद होते हैः अव्यक्त और व्यक्त। यदि कोई मनुष्य परिहास में किसी कुत्ते के भूंकने या घोड़े के हिनहिनाने का-सा शब्द करे तो वह भी उक्त कारणों से अव्यक्त ही कहा जायेगा। व्यक्त शब्दों में मुख्यतः वही शब्द आते हैं जिनका उच्चारण मनुष्य अपने कंठ के कुछ विशिष्ट प्रकार के प्रयत्नों से और अपने मन का कोई आशय या भाव दूसरों पर व्यक्त करने के लिए करता है। अर्थात् आशय या भाव प्रकट करने वाले और दूसरों की समझ में आ सकने वाले शब्द ही 'व्यक्त' कहलाते हैं। इनसे भिन्न और सब प्रकार के शब्द 'अव्यक्त' माने जाते हैं। कुछ लोगों ने 'अव्यक्त' शब्दों को 'निरर्थक' शब्द, और व्यक्त शब्दों को 'सार्थक' शब्द भी कहा है। परन्तु ऐसा कहना या मानना हमारी समझ में ठीक नहीं है। कुत्तों, चिड़ियों, बंदरों आदि के शब्द भले ही हमारे लिए निरर्थक हों परन्तु अन्यान्य कुत्तों, चिड़ियों, बंदरों आदि के लिए वे अवश्य सार्थक होते हैं क्योंकि उनके द्वारा वे अपने मन का कोई आशय या भाव अपने वर्ग के दूसरे प्राणियों तक पहुंचाते हैं; और वे दूसरे प्राणी वह आशय या भाव ठीक तरह से समझ भी लेते हैं। इसीलिए हम कहते हैं चिड़ियों की बोली, बन्दरों की बोली आदि। अनेक वैज्ञानिक विद्वान् अपने अनुसंधान सम्बन्धी कार्यों के लिए किसी विशिष्ट प्रकार के प्राणियों की बोलियों का अध्ययन करने में ही अपना सारा जीवन बिता देते हैं।

यहां हमारा सम्बन्ध मुख्यतः ऐसे शब्दों से ही है जो मनुष्यों के कंठ से दूसरों पर अपना भाव प्रकट करने के लिए उच्चरित होते हैं और जिनका लोक या समाज में कुछ अर्थ माना जाता है। अब हमें यह देखना चाहिए कि शब्दों और अर्थों में पारस्परिक सम्बन्ध कैसे और कितने प्रकार के होते हैं। यहीं यह भी प्रश्न होता है कि शब्द और अर्थ का पारस्परिक सम्बन्ध नित्य होता है अथवा अनित्य। परन्तु यदि इस सम्बन्ध का निराकरण अलग अलग दृष्टियों से किया जाय तो हमें कहना पड़ेगा कि वह सम्बन्ध नित्य भी होता है और अनित्य भी। देश भेद से भी और काल भेद से भी शब्दों के अर्थ

अलग अलग भी होते हैं और बदलते भी रहते हैं। हमारे यहां के वैदिक काल के अनेक शब्दों के अर्थ कुछ और होते थे; परवर्त्ती काल की संस्कृत भाषा में उनके कुछ और अर्थ हुए; और आज कल उन दोनों से भिन्न कुछ और ही अर्थों में उनका प्रयोग देखने में आता है। हिन्दी में ही अनेक ऐसे शब्द हैं जिनके पुराने अर्थ कुछ और थे और आज कल कुछ और हैं। हो सकता है कि आगे चलकर वर्तमान अर्थ भी बदल जाएं और उनका प्रयोग कुछ नये अर्थों में होने लगे।

यह तो हुई शब्दों के अर्थों में काल भेद से होने वाले परिवर्तनों की बात। अब उनमें देश भेद से होने वाले अन्तरों की बात लीजिए। खड़ी हिन्दी का प्रसिद्ध शब्द 'मोर' (सं॰ मयूर) एक प्रसिद्ध पक्षी का वाचक है; पर अवधी तथा पूर्वी हिन्दी में यह विशेषण 'मेरा' का पुराना रूप है। फारसी में 'मोर' का अर्थ होता है च्यूंटी; और अंग्रेजी में 'मोर' विशेषण के रूप में अधिक का वाचक है। इस प्रकार के सैकड़ों उदाहरण हमें मिल सकते हैं। इन सब बातों से यही सूचित होता है कि शब्दों का उनके अर्थों के साथ कोई नित्य सम्बन्ध नहीं होता। भाषा विज्ञान का एक सामान्य सिद्धांत ही यह है कि भिन्न भिन्न देशों और समाजों में शब्दों के साथ कुछ विशिष्ट अर्थ सम्बद्ध हो जाते हैं; और जिन देशों या समाजों में जो शब्द जिन विशिष्ट अर्थों में प्रयुक्त होते हैं वे उन्हीं देशों और उन्हीं समाजों में लोगों के लिए बोधगम्य और मान्य होते हैं, दूसरे देशों और दूसरे समाजों में नहीं। परन्तु जब हम देखते हैं कि मनुष्य के कंठ से उच्चरित होने वाले व्यक्त शब्दों का कुछ न कुछ अर्थ होता ही है तब तात्त्विक तथा दार्शनिक दृष्टियों से यह कहने में भी कोई हर्ज नहीं है कि अर्थ के साथ शब्द का सम्बन्ध नित्य होता है।

आत्मा और प्रकृति

अभी ऊपर हमने भाषा-विज्ञान के उस मत या सिद्धान्त की चर्चा की है जिसमें कहा गया है कि प्रत्येक जाति या देश के साथ उसकी भाषा और शब्दों का बहुत ही घनिष्ठ सम्बन्ध होता है। यदि तात्त्विक दृष्टि से देखा जाये तो यह मत सभी चीजों और बातों पर समान रूप से घटित होता है। विश्वात्मा या सर्वात्मा तो एक ही है, जो सभी चेतन और जड़ पदार्थों में सदा किसी न किसी मात्रा और रूप में वर्तमान रहता है। यह बात दूसरी है कि कहीं वह अधिक प्रत्यक्ष तथा विकसित होता है और कहीं कम। साथ ही यह बात भी ध्यान रखने की है कि विश्वात्मा या सर्वात्मा के अंश से युक्त होने पर भी जो कुछ उससे अलग होता है, उसकी एक पृथक् तथा स्वतन्त्र सत्ता होती है; और वही उसे विशिष्ट व्यक्तित्व का रूप प्रदान करती है। ऐसी अवस्था में पहुंचकर आत्मा अपना एक निजी व्यक्तित्व भी प्राप्त करती है और स्वतन्त्र प्रकृति भी। सभी प्रकार के जीव-जन्तुओं धातुओं, वनस्पतियों आदि में हमें उनकी स्वतन्त्र आत्मा, इच्छा-शक्ति, प्रकृति और प्रवृत्ति दिखायी देती है, चाहे धर्म हो या समाज; चाहे छोटी से छोटी चीजें हो या बड़ी से बड़ी; सबकी एक पृथक् आत्मा और निजी तथा स्वतन्त्र प्रकृति होती है; और अन्त में वार्धक्य की रेखा पार करती हुई फिर उसी विश्वात्मा या सर्वात्मा में लीन भी हो जाती हैं। आधुनिक विज्ञान ने यह सिद्ध कर दिखाया है कि अणुओं और परमाणुओं तक में यह नियम काम करता है।

जातीयता, धर्म, भाषा, साहित्य आदि सब में यही बात देखने में आती है। जातियों और धर्मों के लोग तो उनकी रक्षा के लिए अपने प्राण तक गंवा देते हैं क्योंकि वे उनकी आत्मा और प्रकृति से कुछ न कुछ परिचित होते और उनके प्रति ममत्व की तीव्र भावना रखते हैं। परन्तु भाषाओं और साहित्यों की अवस्था कदाचित् इसलिए कुछ भिन्न होती है कि जन-साधारण अपने आपको उनका कर्त्ता या रचयिता मान बैठते हैं, और इसीलिए वे उनके प्रति बहुत कुछ मनमाना आचरण और व्यवहार करने लगते हैं। बुद्धिमान् और विचारशील लोग तो बहुत अधिक गूढ़ चिन्तन और मनन करके काव्यों, भाषाओं और साहित्यों की आत्मा तक पहुंचने और उनकी प्रकृति पहचानने का प्रयत्न करते हैं परन्तु कम योग्यता और समझ वाले लोग यह मान बैठते हैं कि उंह, इन सब बातों में क्या रखा है; अपने काव्य, भाषा और साहित्य को हम जब जैसा रूप देना चाहें तब वैसा रूप दे सकते हैं अथवा पुरानी चीजों या बातों को अनावश्यक, तुच्छ और निरर्थक समझकर तोड़-फोड़ और मिटा सकते हैं और नया रास्ता निकालकर नयी सृष्टि रच सकते हैं।

परन्तु वास्तव में देखने और सोचने की बात यह है कि जो चीजें सैकड़ों-हजारों वर्षों में लाखों-करोड़ों आदमियों ने चलायी और बनायी हैं, क्या वे सभी सचमुच अनावश्यक, तुच्छ और निरर्थक हैं ! यह ठीक है कि मनुष्य का मन पुरानी चीजों और बातों से प्रायः ऊब जाता है; और इसीलिए वह नवीनता ढूंढ़ता भी है और निकालता, बनाता भी है; परन्तु इस नवीनता के मोह में पड़कर पुरानी बातों के गुणों और विशेषताओं की ओर से आंखें मूंद नहीं लेनी चाहिए; अच्छी चीजों या बातों में जो त्रुटियां या दोष आ गये हों उन्हें दूर तो अवश्य करना चाहिए; परन्तु उनकी अच्छाई और सौन्दर्य में वृद्धि करने का भी प्रयत्न करते रहना चाहिए। उन्नति और विकास का यही मार्ग श्रेयस्कर है।

हो सकता है कि कुछ पाठकों को ऐसा जान पड़ता हो कि यहां इस विषय की चर्चा आवश्यकता से अधिक विस्तृत हो गयी है। परन्तु नहीं, यह चर्चा जान बूझकर और विशिष्ट हेतु से विस्तृत की गयी है। यहां हम मुख्य रूप से बतलाना यह चाहते हैं कि प्रत्येक भाषा में भी और भाषा के प्रत्येक शब्द में भी एक विशिष्ट आत्मा और स्वतन्त्र प्रकृति होती है। भाषा-विदों का यह कर्त्तव्य होता है कि वे भाषा और इसके विशिष्ट शब्दों की आत्मा तक पहुंच कर इसके स्वरूप का ज्ञान प्राप्त करें और इसकी प्रकृति का अध्ययन तथा निरीक्षण करके तत्सम्बन्धी निश्चित मत और सिद्धान्त निरूपित करें। प्रायः बीस वर्ष पहले अपनी 'अच्छी हिन्दी' नामक पुस्तक के आरम्भ में मैंने 'भाषा की प्रकृति' शीर्षक जो प्रकरण रखा था उसमें यही बतलाने का प्रयत्न किया गया था कि हम लोगों को अपनी भाषा की प्रकृति का अधिक से अधिक ज्ञान प्राप्त करने का प्रयत्न करना चाहिए। आज भी मेरा यही मत है; बल्कि पहले से और भी अधिक दृढ़ मत है। इस बात पर मैं इसीलिए इतना ज्यादा जोर दे रहा हूं कि मुझे भाषा की आत्मा और प्रकृति पर कई प्रकार के कुठाराघात होते हुए तो अवश्य दिखायी देते हैं परन्तु इस आत्मा और प्रकृति के अन्वेषण तथा रक्षा की ओर मैं किसी को प्रवृत्त नहीं देखता। अनेक पाश्चात्य देशों के बहुत बड़े-बड़े भाषाविद् तो इस क्षेत्र से बहुत आगे बढ़ते जा रहे हैं और हम या तो जहां के तहां पड़े हैं या थोड़ा-बहुत पीछे ही हटते जा रहे हैं। जो लोग हिन्दी को सचमुच उन्नत करना चाहते हों, उन्हें इस क्षेत्र में आकर भी कुछ काम अवश्य

करना चाहिए। ऐसे सुयोग्य विद्वान् हैं भी तो उनकी गिनती उँगलियों के पोरों तक ही दिखायी देती है। इसके लिए हमें अपने आपको ऐसा सत्पात्र बनाना होगा कि हम वाणी रूपी पवित्र नारी के सब अंगों का ज्ञान प्राप्त करने के अधिकारी बन सकें।

शब्दों की रचना और आर्थी विकास

अब पहले हमें यह देख लेना चाहिए कि शब्दों की रचना या सृष्टि कैसे होती है और उनके अर्थों का आरम्भ तथा विकास कैसे होता है। संस्कृत का प्रसिद्ध शब्द 'पत्र' लीजिए जो संस्कृत में भी और हिन्दी में भी अनेक अर्थों में प्रचलित है। संस्कृत में इसकी व्युत्पत्ति 'पत्' धातु से मानी गयी है जिसका पहला अर्थ है— गिरना। दूसरा अर्थ है— ऊपर से उतर कर नीचे आना। तीसरा अर्थ है— हवा में इधर-उधर उड़ना, और इसी प्रकार के कई अन्य अर्थ भी हैं। अब प्रश्न हो सकता है कि 'पत्' धातु में ये अर्थ कहां से और कैसे आये। अनुमानतः यही कहा और समझा जा सकता है कि मानव-जीवन के बिलकुल आरम्भिक काल में मनुष्यों ने पेड़ों के पत्ते नीचे गिरते हुए देखे होंगे और उनके उस गिरने से होने वाला पत् पत् शब्द भी सुना होगा। इसीलिए 'पत्' का अर्थ गिरना मान लिया गया और इसी से आगे चलकर उसमें ऊपर से धीरे-धीरे उतरते हुए नीचे आने का भाव भी लग गया होगा। फिर हवा के झोंके से पत्तों को इधर-उधर उड़ते हुए देखकर उसमें उड़ने वाला अर्थ भी लग गया होगा। और आगे चलकर 'पत्' धातु से पतन, पत्र, पात, सरीखे शब्द भी बने होंगे। जिस प्रकार 'पत्' का आरम्भिक अर्थ पत्तों का पेड़ों से नीचे गिरना माना गया उसी प्रकार 'पत्र' का पहला अर्थ वृक्ष का पत्ता हो गया। प्राचीन काल में कागज जैसी कोई चीज तो थी ही नहीं, इसलिए पहले पहल लोगों ने पत्तों पर ही लिखना प्रारम्भ किया था। ताड़ के पत्तों और भोज नामक वृक्ष की छाल पर लिखे हुए बहुत से ग्रन्थ अब भी मिलते ही हैं, और आगे चलकर जब धातुओं का पता चला तब तांबे आदि के चिपटे और लम्बे-चौड़े टुकड़ों पर भी लेख लिखे जाने लगे; और मूल के अनुकरण पर तांबे के उन टुकड़ों को भी ताम्र पत्र कहने लगे, भले ही वे टुकड़े किसी वृक्ष के पत्ते न हों। यहां यह भी ध्यान रखना चाहिए कि धातुओं के ऐसे टुकड़ों को हिन्दी में जो 'पत्तर' कहते हैं वह भी इसी 'पत्र' का बिगड़ा हुआ रूप है। जिस पत्तल पर भोजन परोसा जाता है उसे भी इसीलिए 'पत्तल' कहते हैं कि वह पत्तों से बनी होती है। फिर सन्देश के रूप में भेजी जाने वाली चिट्ठियों की संज्ञा भी पत्र ही हो गयी क्योंकि ऐसी चिट्ठियां पहले पत्तों पर ही लिखी जाती थीं। यही नहीं, पत्तों के इधर उधर उड़ने के भाव के आधार पर चिड़ियों के डैनों और परों को भी 'पत्र' कहने लग गये। इससे भी आगे बढ़कर संस्कृत में रथ सरीखे यानों और ऊंट, घोड़े आदि वाहनों वाला अर्थ भी पत्र में लग गया। छुरी, तलवार आदि के फल भी प्रायः पत्तों की तरह पतले होते थे, इसलिए पहले तो उन फलों को ही और तब कटार, छुरी, तलवार आदि को भी 'पत्र' कहने लगे। इसी के योग से 'कर पत्र' शब्द बना जिसका हिन्दी में बिगड़ा 'करवट' है और जिसका अर्थ हैं आरा। इस प्रकार एक पत् धातु में अथवा यों कहना चाहिए कि वृक्षों से गिरने वाले पत्तों की क्रिया के आधार पर ही एक पत्र में कैसे-कैसे नये नये अर्थ बढ़ते और लगते चले गये! पूर्वी भारत में 'गुहार' एक प्रसिद्ध शब्द है, जिसका अर्थ है—कष्ट या विपत्ति के

समय रक्षा और सहायता के लिए मचायी जाने वाली पुकार। प्राचीन भारत में गौएं ही गृहस्थों की सबसे मूल्यवान् सम्पत्ति होती थीं। जब चोर या डाकू आकर गौएं चुरा या छीन ले जाते थे, तब 'गोहार' शब्द का प्रयोग होता था। आशय यह होता था कि हमारी गौएं चुरा या छीन ली गई हैं। सब लोग आकर हमारी सहायता करें और गौएं छुड़ाकर लायें। अब वही गोहार कुछ बदले हुए अर्थ में 'गुहार' बन गया है।

इसी तरह का संस्कृत और हिन्दी का एक प्रसिद्ध शब्द है — दुहिता, जो आज-कल पुत्री या बेटी के अर्थ में प्रचलित है। इसका सं॰ मूल रूप है दुहितृ जिसका शब्दार्थ है दूध दुहने वाली। प्राचीन आर्यों में गौएं, भैंसें आदि दुहने का काम घर की लड़कियों के जिम्मे ही रहता था, पर आगे चलकर यह पुत्री या बेटी का ही वाचक हो गया। यही नहीं, इससे दौहित्र शब्द भी बना जिसका अर्थ है पुत्री का पुत्र अर्थात् नाती, और साथ ही उसका स्त्रीलिंग रूप दौहित्री शब्द भी बना, जिसका अर्थ होता है पुत्री की पुत्री नातिनी या नातिन। और फिर दुहिता-पति का अर्थ जामाता या दामाद हो जाना तो स्वाभाविक ही था। ध्यान रहे कि इसी सं० 'दुहितृ' से फा० में 'दुख्तर' और अंग्रेजी में 'डॉटर' शब्द बना है जो पुत्री या बेटी का ही वाचक है।

इसी प्रकार का एक और शब्द है — 'दुर्भिक्ष' जो अकाल अर्थात् ऐसे समय का वाचक है जिसमें अन्न की उपज बहुत कम हुई हो और इसीलिए लोगों को अन्न बहुत कम और बहुत महंगा मिलता हो। जब लोगों को अपना पेट भरने के लिए ही पूरा अन्न न मिलता हो तब वे भिक्षुकों को यथेष्ट भिक्षा ही कहां से और कैसे दे सकते हैं। जान पड़ता है कि ऐसे अवसरों पर भिक्षुकों ने ही यह शब्द बनाकर यह सूचित करने के लिए आपस में चलाया होगा कि आज कल हम लोगों को भिक्षा बहुत ही कठिनता से और बहुत कम मिलती है, क्योंकि 'दुर्भिक्ष' का ठीक और वास्तविक अर्थ इसके सिवा और कुछ हो ही नहीं सकता। परन्तु कालान्तर में उसका यह मूल और व्युत्पत्तिक अर्थ बिल्कुल लुप्त हो गया और अब वह कोरे 'अकाल' का ही पर्याय तथा वाचक रह गया है।

आज-कल 'समाचार' का अर्थ खबर तो है ही, परन्तु प्राचीन काल में इसका अर्थ था कुशलक्षेम आदि। यह शब्द बना ही सम+आचार से है, जिसका अर्थ होता है - जीवन के निर्वाह और व्यवहार का ऐसा क्रम जो सम अर्थात् साधारण हो। और जिसमें कोई कष्ट, बाधा या विघ्न न हो। प्राचीन काल में जब कहीं से यह खबर आती थी कि वहां सब लोग अच्छी तरह या राजी-खुशी हैं तो यह अच्छी तरह रहना उनका समाचार कहा जाता था, परन्तु अब तो आग लगने, बिजली गिरने, मरने और युद्ध आदि में मारे-काटे जाने के भी समाचार होते हैं जो वस्तुतः सम नहीं बल्कि विषम आचार हैं। इसी प्रकार बंगाल में जब सम्बन्धियों आदि के यहां किसी के द्वारा कोई संदेश भेजा जाता था तब उसके साथ छेना और खजूर का गुड़ भी भेजते थे, परन्तु अब उक्त आधार पर 'संदेश' एक प्रकार की बंगला मिठाई का ही नाम पड़ गया है।

अर्थों के इसी विकास या वृद्धिवाली क्रिया के आधार पर एक और शब्द का विचार कर लीजिए। यह संस्कृत और हिन्दी का प्रसिद्ध 'योग' शब्द है। इसकी व्युत्पत्ति सं०

युज् धातु से कही गयी है, जिसके कई अर्थ हैं; यथा— (क) आपस में जुड़ना या मिलना (ख) जोड़ना या मिलाना, (ग) काम में लाने के लिए बांधना या लगाना, (घ) प्रयोग या व्यवहार में लाना, (ङ) नियत या नियुक्त करना आदि आदि । इसी आधार पर योग का पहला अर्थ हुआ — जोड़ना या मिलाना; दूसरा अर्थ हुआ - जोड़ या मिलान; और फिर इसी तरह उसमें प्रयोग, व्यवहार, सम्बन्ध सरीखे और भी बहुत से अर्थ लगते या विकसित होते गये । इस अर्थ-विकास का यहीं अन्त नहीं हुआ; बल्कि भिन्न-भिन्न क्षेत्रों, विज्ञानों, विद्याओं आदि में लोगों ने अपनी-अपनी आवश्यकता की पूर्ति के विचार से अलग-अलग अर्थों में उसका प्रयोग करना आरम्भ कर दिया । दार्शनिक क्षेत्र में पतंजलि ने उसका प्रयोग चित्त की वृत्तियों को इधर-उधर भटकने से रोकने या मन को एकाग्र करने के अर्थ में किया; ज्योतिषियों ने एक ही राशि में कई ग्रहों के एक साथ होने के अर्थ में उसका व्यवहार किया; और वैद्यों ने अनेक प्रकार की औषधियों, जड़ियों, रसों आदि के सम्मिलित रूप को 'योग' कहना आरम्भ किया । इससे भी और आगे बढ़कर गीताकार ने 'योगः कर्म-सुकौशलं' तक कह डाला; अर्थात् अच्छी और ठीक तरह से सब काम करने का नाम ही 'योग' रख दिया । यह तो हुई सं० युज् धातु और उससे बने योग शब्द के अर्थ-विकास की बात । दूसरी ओर वैयाकरणों ने उसमें कई प्रकार के उपसर्ग आदि लगाकर अनुयोग, आयोग, उपयोग, प्रयोग, वियोग, संयोग, सुयोग आदि शब्द बना डाले और फिर ऐसे शब्दों के आधार पर - आयोजन, नियोजन, प्रयोजन आदि अनेक रूप भी बना डाले; और उल्लिखित क्रम या पद्धति के अनुसार इन शब्दों में अनेक प्रकार के अर्थ भी लगते गये । फिर भिन्न-भिन्न अवसरों पर सामने आने वाली परिस्थितयों के विचार से और विभिन्न प्रकार के आर्थी अन्तर सूचित करने के उद्देश्य से व्याकरण के बहुविध नियमों के अनुसार युक्त, योग्य, योजक, योज्य आदि बहुत से रूप बने जिन्हें व्याकरण की परिभाषा में विकारी रूप कहते हैं ।

अब शब्दों के अर्थ-परिवर्तन का एक और प्रकार लीजिए । 'भारती' और 'सरस्वती' दोनों वाणी की देवी के वाचक और स्त्री॰ शब्द हैं । परन्तु हम देखते हैं कि बहुत बड़े-बड़े त्यागियों, विद्वानों और साधु संन्यासियों के नामों के अन्त में इन शब्दों का प्रयोग अल्ल के रूप में भी होता है । यथाः श्री शिवानन्द भारती, स्वामी दयानन्द सरस्वती आदि । ऐसे अवसरों पर ये शब्द प्रायः वाग्देवी के वरद पुत्र अथवा बहुत बड़े विद्वान् के अर्थ में प्रयुक्त होते हैं ।

अब अर्थ-विकास का एक और प्रकार देखिए । प्रायः विशेषणों और संज्ञाओं से उनके भाववाचक संज्ञा रूप तो बनते ही हैं, परन्तु संस्कृत व्याकरण के नियमों के अनुसार उन भाववाचक संज्ञाओं के भी कई-कई रूप होते हैं और उन रूपों में भी प्रयोग के आधार पर कई प्रकार के सूक्ष्म अन्तर देखने में आते हैं । उदाहरणार्थ कुशल से कुशलता और कौशल; गुरु से गुरुता, गुरुत्व, गौरव और गरिमा; पुरुष से पुरुषत्व और पौरुष आदि आदि । सुविज्ञ भाषाविद् सहज में समझ सकते हैं कि कुशलता और कौशल, गुरुता, गुरुत्व, गौरव और गरिमा तथा पुरुषत्व और पौरुष में मौलिक दृष्टि से कोई विशेष अन्तर न होने पर भी प्रयोग की दृष्टि से कुछ सूक्ष्म तथा महत्वपूर्ण अन्तर अवश्य हैं ।

ऊपर हमने शब्दों के विकारी रूपों की चर्चा की है। हिन्दी में भी शब्दों के विकारी रूप तो बनते ही हैं, परन्तु कभी-कभी कुछ शब्दों के ऐसे नये और व्याकरण विरुद्ध विकारी रूप भी बना लिये जाते हैं जिनका स्वतः तो कोई अर्थ नहीं होता, फिर भी जो कुछ दूसरे सार्थक शब्दों अथवा उसी प्रकार के निरर्थक विकारी रूपों के साथ मिलकर यौगिक पदों का रूप धारण कर लेते और बिलकुल नया अर्थ देने लगते हैं। जैसे 'चढ़ा-ऊपरी' में के 'चढ़ा' का कोई स्वतन्त्र अर्थ नहीं है और वह चढ़ना क्रिया का विकारी रूप मात्र है। उसमें का 'ऊपरी' है तो सार्थक विकारी रूप; परन्तु है वह विशेषण ही, संज्ञा नहीं है। फिर भी इन दोनों शब्दों के योग से एक नई सार्थक स्त्रीलिंग संज्ञा बन गयी है। आवा-जाही, चला-चली, देखा-देखी, भागा-भाग, हमा-हमी सरीखे अनेक यौगिक पद भी ऐसे ही हैं जिनमें के न तो पूर्व पद ही स्वतन्त्र रूप से सार्थक हैं और न उत्तर पद ही। फिर भी शब्दों के ऐसे विकारी और निरर्थक रूपों के योग से जो पद बने हैं वे सार्थक भी हैं और स्वतन्त्र भी। ऐसे रूप हमें यह भी बतलाते हैं कि हमारे यहां किस प्रकार नये शब्दों की रचना होती है और किस प्रकार उनमें नये अर्थों का आविर्भाव या संयोग होता है।

अब कुछ ऐसे विकारी रूप लीजिए जो या तो अज्ञान वश या दूसरी भाषाओं के अनुकरण पर बना अथवा ले लिये गये हैं और जो व्याकरण से सिद्ध नहीं होते। ऐसा ही एक शब्द आवागमन है। इसमें का 'आवा' हिन्दी के पुराने रूप 'आवना' (आना) से लिया गया है और संस्कृत का 'गमन' इसके साथ जोड़ दिया गया है। संस्कृत 'महत्' से भाववाचक रूप 'महत्ता' बनता है और हिन्दी में 'महत्' का 'महान्' रूप बनता है। पर हिन्दी वाले इसे 'महान' मानकर इससे भाववाचक रूप 'महानता' बना लेते हैं। ऐसा ही एक और शब्द 'सराहनीय' है। 'सराहना' क्रिया शुद्ध हिन्दी की है, पर इसमें संस्कृत 'ईय' प्रत्यय लगाकर भवदीय आदि के अनुकरण पर लोगों ने 'सराहनीय' रूप बना लिया है। फा० 'देग' का अल्पार्थक रूप 'देगचः', 'बाग' का 'बागचः' और अ० 'संदूक' का फा० अल्पार्थक रूप 'संदूकचः' होता है। परन्तु हिन्दी में हम 'देगचः' को 'देगचा' मानकर उसका स्त्री. अल्पार्थक रूप देगची बना लेते हैं। 'बागचः' का हिन्दी रूप 'बगीचा' बन गया है और उसका स्त्री. अल्पार्थक रूप हमारे यहां 'बगीची' बन गया है। 'संदूकचः' को हमने 'संदूकचा' बनाया और उसका स्त्री. अल्पार्थक रूप 'संदूकची' रखा है, और दूसरा रूप 'संदूकड़ी' भी बना लिया है। बात यही है कि अन्यान्य भाषाओं के शब्द जब हमारी भाषा में आ जाते हैं तब वे हमारे ही नियमों, प्रवृत्तियों आदि से नियन्त्रित और शासित होते हैं। यही कारण है कि संस्कृत के अनेक पुल्लिग और नपुंसक लिंग शब्द हमारे यहां स्त्रीलिंग माने और लिखे जाते हैं।

यह तो हुई ऐसी सं० संज्ञाओं की बात जिनके मूल में कुछ निरूपित धातुएं हैं। अब हिन्दी क्रियाओं के भी कुछ उदाहरण लीजिए। हिन्दी की प्रसिद्ध क्रिया है 'उड़ना' जिसका प्रयोग आरम्भ में पक्षियों के आकाश में विचरने वाली क्रिया के सम्बन्ध में होता था, परन्तु आगे चलकर देवदूतों तथा देवताओं आदि के कल्पित विमानों के सम्बन्ध में भी इसका प्रयोग होने लगा। फिर इसका प्रयोग उछलते हुए या तेजी से आगे बढ़नेवाले

प्राणियों की गति के सम्बन्ध में भी होने लगा; जैसे- घोड़ा हवा में उड़ता चला जा रहा था। फिर तेज हवा के झोंके से चीजों के इधर-उधर बिखरने के सम्बन्ध में भी इसका प्रयोग होने लगा, जैसे- (क) सब कागज-पत्र संभाल कर रखो नहीं तो हवा में उड़ जायेंगे; और (2) यदि हवा ठीक हो तो गुब्बारा (गुड्डी या पतंग) खूब उड़ता है। फिर किसी जगह टिकी, बंधी या लगी हुई पतली और हलकी चीज के किसी सिरे से हवा में लहराने के सम्बन्ध में भी इसका प्रयोग होने लगा; जैसे- किले पर झंडा उड़ रहा था। फिर ऊपर से आकर पड़ने या लगने वाले आघातों के सम्बन्ध में भी कहा जाने लगा- इस पर खूब थप्पड़ (या बेंत) उड़े। फिर अचानक अदृश्य या लुप्त हो जाने वाली चीजों के सम्बन्ध में अथवा तीव्र गति से, प्रचुर मात्रा में और व्यर्थ नष्ट या व्यय होने वाली चीजों के सम्बन्ध में भी कहा जाने लगा- (क) मैंने घड़ी तो अभी यहीं रखी थी, इतनी देर में न जाने कहां उड़ गयी; (ख) दो ही तीन वर्षों में उनका सारा धन न जाने कहां उड़ गया; (ग) कपूर इस तरह खुला छोड़ दोगे तो उड़ जायेगा; और (घ) कच्चे रंग धुलने (अथवा धूप या हवा लगने) से जल्दी उड़ जाते हैं। यहां तक तो हुई मूर्त्त वस्तुओं के सम्बन्ध की बात। फिर आगे चलकर अनेक प्रकार की अमूर्त्त वस्तुओं की बातों के सम्बन्ध में भी इसका प्रयोग होने लगा; जैसे- खबर उड़ना, मौज उड़ना, सुगंध उड़ना, होश उड़ना आदि। और तब आवश्यकता के अनुसार इस 'उड़ना' क्रिया से उड़ाई, उड़ाऊ, उड़ाका, उड़ान आदि संज्ञाएं और उड़न-खटोला, उड़न-थाल सरीखे यौगिक शब्द बनने लगे। इस प्रकार एक ओर तो इस क्रिया का आर्थी विकास और विस्तार हुआ; और दूसरी ओर नये शब्दों के बनने से उसके परिवार की वृद्धि हुई। यही बात काटना, खाना, गिरना, चलना, पड़ना, बैठना, लगना आदि क्रियाओं के सम्बन्ध में भी समझनी चाहिए। इससे हम समझ सकते हैं कि शब्दों के क्षेत्र में भी एक छोटी सी चीज या बात किस तरह फैलती और बढ़ती है और कितने प्रकार तथा रूप धारण करती है।

संज्ञाओं और क्रियाओं के सिवा अनेक विशेषणों और सर्वनामों के सम्बन्ध में भी यही बात है। क्रोध में आदमी का चेहरा तो लाल होता ही है, चौसर के खेल में गोटियां भी लाल होती हैं और धन कमाकर व्यापारी भी लाल होते हैं। फिर इसी प्रकार की कुछ बातों के मेल से बोलचाल के नये प्रयोग और मुहावरे भी बनते हैं जिनमें शब्द की अभिधा शक्ति तो पीछे छूट जाती है, और लक्षणा तथा व्यंजना नाम की शक्तियां काम करने लगती हैं।

शब्दों के अर्थ विकास और रूप विकार पर मुख्य रूप से क्षेत्रीय, जातीय और प्रान्तीय प्रभाव ही पड़ते हुए दिखाई देते हैं। एक भाषा के शब्द जब दूसरी भाषा में जाते हैं तब उनके उच्चारण और रूप तो बदलते ही हैं; कभी कभी उनके मूल अर्थ भी पीछे छूट जाते हैं, और उनमें नये अर्थ लग जाते हैं। संस्कृत में 'उद्धार' के अनेक अर्थों में ऋण चुकाकर उससे छुटकारा पाना भी है। परन्तु उसी उद्धार से हिन्दी में जो उधार शब्द बना है उसका अर्थ इससे बिलकुल उलटा हो गया, और यह शब्द अपने ऊपर ऋण चढ़ाने के भाव का द्योतक हो गया। सं० के 'बलिवर्द' में 'बलि' के आधार पर पश्चिम में बैल और 'वर्द' के आधार पर पूरब में 'बरधा' बना है। सं० 'गल्प' पंजाबी में 'गल्ल' हो

गया है जिसका अर्थ है साधारण बातचीत। परन्तु उत्तर प्रदेश और बिहार में इसका रूप 'गप्प' हो गया है और इसका अर्थ हुआ ऐसी बे सिर पैर की और लम्बी चौड़ी बातें जिनका न तो विशेष अर्थ हो और न जिन पर सहसा समझदार लोग विश्वास ही कर सकते हों। पर बंगाल में 'गप्प' का अर्थ होता है केवल मन बहलाने के लिए की जाने वाली इधर-उधर की और व्यर्थ की बातें। 'गैंडा' नामक जंगली पशु का असली रूप 'गुण्डा' है। हिन्दी में जन्तु का नाम तो गुण्डा से गैंडा हो गया, और गुण्डा का अर्थ हो गया बहुत ही उद्दण्ड और बड़ा बदमाश। हिन्दी का लुच्चा शब्द सं० लुंचा से व्युत्पन्न होने पर भी अर्थ की दृष्टि से अपने मूल से बहुत दूर जा पड़ा है। फारसी के 'बहादुर' शब्द का अभिधा शक्ति से निकलने वाला अर्थ है बहुमूल्य मोती। पर वह फारसी में भी और उर्दू-हिन्दी में भी वीर या शूर का वाचक हो गया है। अरबी में गबन के कई अर्थ हैं; जैसे बुद्धि की कमी, भूलना या विस्मृत होना, अचेत या संज्ञा-शून्य होना आदि। पर उर्दू और हिन्दी दोनों में यह शब्द दूसरों की धरोहर अनुचित रूप से अपने उपयोग में लाने का वाचक हो गया है। शब्दों के अर्थों में होने वाले इस प्रकार के परिवर्तन और विकास संसार की सभी बोलियों और भाषाओं में दिखायी देते हैं। संस्कृत के भी और अरबी-फारसी के भी अनेक शब्द ऐसे हैं जो भिन्न-भिन्न भारतीय भाषाओं में अलग-अलग अर्थों में प्रयुक्त होते हैं। हिन्दी में 'शिक्षा' का अर्थ होता है पढ़ना-लिखना या ऐसा ही और कोई काम सीखना-सिखाना। परन्तु मराठी में 'शिक्षा' का अर्थ होता है दंड या सजा। सं० मत्त से व्युत्पन्न फा० का 'मस्त' (विशेषण) हिन्दी में तो अपने ठीक अर्थ में प्रयुक्त होता है (जैसे मस्त हाथी) परन्तु बंगला में 'मस्त' का अर्थ होता है बहुत बड़ा या उत्कृष्ट। बंगला वाले बहुत बड़े या दिग्गज विद्वान् को कहते हैं मस्त पंडित। सं० वादन से बना हुआ हिन्दी का 'बजना' शब्द मुख्यतः बाजों के सम्बन्ध में और ध्वनियां या स्वर उत्पन्न करने के अर्थ में प्रयुक्त होता है। परन्तु इसका एक स्थानक रूप 'बाजना' भी होता है जिसका भोजपुरी में अर्थ होता है कहा-सुनी या लड़ाई-झगड़ा करना और मिथिला में अर्थ होता है बातें करना या बोलना। फा० का 'हवेली' शब्द हिन्दी में अपने मूल अर्थ में अर्थात् ऊंचे, पक्के और बड़े मकान के अर्थ में प्रयुक्त होता ही है; परन्तु बिहार में यह शब्द सांकेतिक रूप में बड़े आदमियों की धर्मपत्नी के अर्थ में होता है; जैसे सरकार के साथ उनकी हवेली भी आयी हैं। परन्तु काठियाबाड़ और गुजरात में यह शब्द वैष्णव देवमंदिरों के लिए प्रयुक्त होता है। ढूंढने पर ऐसे बहुत से शब्द और प्रयोग मिल जायेंगे। अब आर्थी परिवर्तन या विकास का एक और प्रकार देखिए। फारसी का 'रफू' शब्द हिन्दी में अपने मूल अर्थ में तो प्रचलित है ही परन्तु जब इसके साथ हिन्दी का 'चक्कर' शब्द लगने पर यौगिक पद 'रफूचक्कर' बनता है तब उसमें न तो 'रफू' का ही कोई भाव रह जाता है और न चक्कर का ही; बल्कि एक बिलकुल नया अर्थ या भाव आ लगता है अकस्मात् आंखों से इस प्रकार ओझल हो जाना कि किसी को पता ही न चलने पाये। बात यह है कि रफू करने पर कपड़ों में सूतों के जो चक्कर बनाये जाते हैं वे कपड़े के ताने-बाने में इस तरह मिल जाते हैं कि दूर से देखने पर जल्दी दिखाई ही नहीं पड़ते और इसी भाव के आधार पर यह पद बना है। इसी प्रकार का एक और उदाहरण लीजिए। सूर का एक प्रसिद्ध पद है :

जसुदा हरि पालने झुलावै ।
हलरावै, दुलराइ मल्हावै, जोइ सोइ कछु गावै ।

साधारणतः इसमें के 'जोइ सोइ' (जो सो) का कोई विशिष्ट अभिधार्थ नहीं है; परन्तु दोनों के योग से जो पद बना है, उसका अर्थ हो जाता है- जब जो कुछ जी में आ जाये, तब वही या वैसा ही । अर्थात् (ऐसा कार्य या बात) जिसमें न तो क्रम का ही कोई ध्यान रखा जाये, न प्रसंग का ही और न सार्थकता का ही ।

शब्दों में आर्थी परिवर्तन और विकास तो होते हैं पर कुछ अवस्थाओं में उनके वचन-भेद के कारण लिंग भी बदल जाता है और लिंग भेद के कारण वचन भी । 'खबर' शब्द तो स्त्रीलिंग एक-वचन है ही, पर उसका बहुवचन रूप 'अखबार' एक-वचन तो रहता ही है; परन्तु पुल्लिग हो जाता है । पश्चिम के स्थानों में जहां 'अखबार' को स्त्रीलिंग बोलते हैं, वहां भी उसका प्रयोग एक-वचन में ही होता है । हिन्दी का 'लोग' शब्द तो बहुवचन है ही; उसका स्त्रीलिंग रूप लुगाई एक-वचन में ही प्रयुक्त होता है ।

कुछ शब्दों और उनके आर्थी विकास के सम्बन्ध में ऊपर जो बातें कही गई हैं उनसे सूचित होता है कि आरम्भ में शब्द किसी एक क्रिया, घटना, भाव, विचार आदि का सूचक होता है । परन्तु आगे चलकर लोग अपनी आवश्यकताओं के अनुसार अर्थों, रूपों आदि में निरन्तर परिवर्तन और वृद्धि करते चलते हैं । बात यह है कि ज्यों-ज्यों हमारी आवश्यकताएं बढ़ती चलती हैं, ज्यों-त्यों हम उनकी पूर्ति भी करते चलते हैं । आरम्भिक युगों में मनुष्यों की आवश्यकताएं भी कम थीं और संख्या भी थोड़ी थी । ज्यों-ज्यों मानव समाज का विकास और विस्तार होता गया त्यों-त्यों उसके कार्यों और विचारों के क्षेत्र भी बढ़ते गये । नये-नये उद्योग-धन्धे, नये-नये ज्ञान-विज्ञान अपने साथ नये-नये पदार्थ और नये-नये विचार लाते गये, और इस प्रकार के सभी क्षेत्रों में नये-नये शब्द भी बनते गये; और उनमें नये अर्थ भी लगते गये ।

सृष्टि के आरम्भ से ही सभी चीजों और बातों के विकास का जो क्रम आज तक चला आया है उसी के अनुरूप तथा उसी के अनुसार हमारी भाषाओं का भी विकास हुआ है, शब्द-भंडार की भी वृद्धि हुई है और भाव-व्यंजन के लिए शब्दों की आर्थी क्षमता भी बढ़ती गयी है ।

शब्दों के विकारी रूप

शब्दों के अर्थ-विकास के सम्बन्ध में तो अनेक बातें ऊपर बतलाई ही जा चुकी हैं अब उनके रूप-विकास के सम्बन्ध में भी कुछ बातें देखिए । एक ही शब्द से विकसित होने पर उनके जो अनेक रूप बनते हैं उन्हें विकारी रूप कहते हैं । ऐसे रूप मुख्यतः दो प्रकार से बनते हैं । कुछ शब्द तो उपसर्गों के योग से बनते हैं और कुछ परसर्गों या प्रत्ययों के योग से बनते हैं । संस्कृत का 'योग' शब्द लीजिए । इसमें भिन्न-भिन्न उपसर्ग लगाकर अनुयोग, अभियोग, उपयोग, नियोग, प्रयोग, विनियोग, वियोग, संयोग, सुयोग आदि अनेक शब्द बना लिए गए हैं । इनके सिवाय कुछ तो संस्कृत व्याकरण के विशिष्ट नियमों के अनुसार और कुछ प्रत्ययों के योग से भी नये शब्द बनते हैं। जैसे—'गुरु' से

गुरुता, गुरुत्व, गौरव और गरिमा; और 'लघु' से लघुता, लघुत्व, लाघव, और लघिमा* आदि आदि। हिन्दी में प्रायः संस्कृत उपसर्गों के सिवाय अरबी, फारसी के कुछ उपसर्गों का भी प्रयोग होता है। परन्तु उसके अधिकतर प्रत्यय अपने और निजी हैं।

ऐसे प्रत्ययों के योग से शब्दों के जो विकारी रूप बनते हैं उनमें कभी तो बहुत अधिक आर्थी अन्तर होते हैं और कभी बहुत ही सूक्ष्म। उदाहरण के लिए– 'चढ़ना' से बनने वाले चढ़ाई, चढ़ान, चढ़ावा आदि के अर्थों में बहुत अन्तर हैं। बनाव और बनावट अथवा लगाव और लगावट के अर्थों में बहुत अन्तर है। 'उड़ाका' और 'लड़ाका' का प्रयोग तो ऐसे व्यक्तियों के सम्बन्ध में होता है जो आकाश में हवाई जहाज़ उड़ाते हैं अथवा आपस में प्रायः लड़ते-भिड़ते रहते हैं, परन्तु लड़ाकू का प्रयोग ऐसे समुद्री अथवा हवाई जहाजों के सम्बन्ध में होता है जिनका व्यवहार युद्ध-क्षेत्र में होता है। 'बनाव' और 'बनावट' अथवा 'महंगी' और 'महंगाई' के अर्थों में भी बहुत अन्तर है। इस प्रकार के आर्थी भेद संस्कृत शब्दों में भी होते हैं। जैसे मुद्रण और मुद्रा, शिक्षण और शिक्षा आदि। फिर पुराने शब्दों के अनुकरण पर नये शब्द भी बनने लगते हैं; जैसे– बनाव और लगाव के अनुकरण पर अब टकराव, पथराव, घेराव आदि शब्द भी बनने लगे हैं।

साधारणतः उन्नत, विकसित और सजीव भाषाओं में व्याकरण के नियमों के अनुसार तो नये शब्द और उनके विकारी रूप बनते ही हैं; पर कुछ अवस्थाओं में व्याकरण के नियमों का ठीक और पूरा ज्ञान न होने के कारण अथवा सुभीते के विचार से लोग उनके नये रूप भी बना और चला लेते हैं। आज-कल हिन्दी में कट्टरता, महानता सरीखे जो अनेक शब्द चल पड़े हैं, वे इसी वर्ग में आते हैं। हिन्दी के 'मिलनसार' (वि०) से भाववाचक संज्ञा 'मिलनसारी' बनती है। परन्तु कुछ लोग बिना समझे-बूझे इसके बदले में 'मिलनसारिता' रूप बना लेते हैं जो किसी प्रकार ठीक नहीं है। परन्तु प्रगतिशील भाषाओं में नई-नई आवश्यकताओं की पूर्ति और नये-नये भावों की अभिव्यक्ति के लिए भी कुछ ऐसे नये शब्द बनने लगते हैं जिन्हें व्याकरण के पुराने नियमों का कोई आधार प्राप्त नहीं होता। आज-कल हमारे यहां दैनिकी, पर्यायकी, भौगोलिकी, भौतिकी, वैमानिकी, सामयिकी, साहित्यिकी सरीखे जो बहुत से नये शब्द बने और चले हैं वे हमारी नयी और विशिष्ट आवश्यकताओं की पूर्ति करते हैं। और अब तो शस्त्रीकरण साधारणीकरण आदि के अनुकरण पर बिजलीकरण और मशीनीकरण सरीखे शब्द भी बनने लगे हैं। ऐसे रूप व्याकरण के नियमों से भिन्न या विपरीत होने पर इसलिए क्षम्य होते हैं कि उनके बिना हमारा काम नहीं चल सकता और हमारी भाषा आगे नहीं बढ़ सकती। अन्यान्य भाषाओं में भी बराबर ऐसा ही होता आया है। स्वयं संस्कृत में भी परकीय भाषाओं के शब्द तो हैं ही, उनके आधार पर बने हुए अनेक नये रूप भी देखने में आते हैं। फारसी वालों ने भी अरबी के योग से अपनी भाषा में बहुत से नये शब्द बना लिये थे जिनका उर्दू में बहुलता से प्रचार देखने में आता है। अंग्रेजी में संसार की बहुतेरी प्रमुख भाषाओं के शब्द तो मिल ही गये हैं; और अंग्रेजी व्याकरण के अनुसार उनके

---

*'गुरु' और 'लघु' के उक्त विकारी रूपों के सूक्ष्म आर्थी अन्तरों के लिए दे० इस पुस्तक का दूसरा खण्ड।

अनेक विकारी रूप भी बन गये हैं; साथ ही उनके अर्थों में भी कई प्रकार के मिश्रण और वृद्धियां भी हो गयी हैं।

यह तो हुई संज्ञाओं, विशेषणों और क्रियाओं के अर्थ-विकास की बात। परन्तु आगे बढ़ने से पहले हम क्रियाओं के सम्बन्ध में कुछ मुख्य बातें बतला देना आवश्यक समझते हैं। यह तो सभी लोग जानते हैं कि क्रियाओं का प्रयोग संज्ञाओं, विशेषणों आदि के साथ उनका कोई विशिष्ट कर्म या कृत्य सूचित करने के लिए होता है। इनमें से 'करना' और 'होना' क्रियाएं बहुत अधिक व्यापक रूप में प्रयुक्त होती हैं–प्रायः सभी जगह चलती और लगती हैं; जैसे– काम करना और काम होना, चिंता करना और चिंता होना, भोजन करना और भोजन होना, पीला या लाल करना और पीला या लाल होना आदि। परन्तु बहुत सी क्रियाएं कुछ अवस्थाओं या प्रसंगों में और कुछ विशिष्ट संज्ञाओं आदि के साथ कोई विशिष्ट अर्थ या भाव सूचित करने के लिए भी प्रयुक्त होती हैं। साधारणतः 'चलाना' का अर्थ होता है– किसी को गति में लाना या चलने में प्रवृत्त करना; जैसे– गाड़ी, जहाज या मोटर चलाना। ऐसी अवस्थाओं में 'चलाना' साधारण क्रिया-प्रयोग के रूप में व्यवहृत होता है। परन्तु तलवार, मुक्का, लाठी या हाथ चलाना भी लोक में प्रयुक्त होता ही है, क्योंकि इनमें न तो संज्ञाओं के अर्थ में ही कोई परिवर्तन होता है और न क्रियाओं के अर्थों के साथ ही उनका कोई विशेष सम्बन्ध होता है। भाषा में यही तत्त्व मुहावरों का मूल होता है।

यहां मुहावरों में प्रयुक्त होने वाली क्रियाओं के सम्बन्ध में एक और बात बतला देना भी आवश्यक जान पड़ता है। वह यह कि कुछ अवस्थाओं में मुहावरों की क्रियाएं भी उन संज्ञाओं का अर्थ निरूपित करती हैं जिनके साथ वे लगी हुई होती हैं। हिन्दी का एक प्रसिद्ध मुहावरा है 'पौरुष थकना'; जिसका अर्थ है– शारीरिक शक्ति का बहुत ही शिथिल हो जाना। इसमें की थकान क्रिया ही पौरुष [सं०] का अर्थ निरूपित करती है। इसके स्थान पर हम 'पुरुषार्थी थकना' का प्रयोग नहीं कर सकते और यहीं हमें वह तत्त्व अपना कार्य करता हुआ दिखायी देता है जो पौरुष और पुरुषार्थ के अर्थों के सूक्ष्म अन्तर का वाचक है।

संज्ञाओं और विशेषणों के साथ तो लगकर क्रियाएं अनेक प्रकार के नये अर्थ देती ही हैं; कुछ अवस्थाओं में क्रियाओं के साथ दूसरी क्रियाएं लगकर भी अनेक प्रकार के अर्थ और भाव सूचित करती हैं। समझ चुकना, समझ जाना, समझ पाना, समझ बैठना, समझ रखना, समझ लेना और समझ सकना के अर्थों में जो विशेष अन्तर हैं वे संयुक्त क्रियाओं के योग से ही उत्पन्न हुए हैं। 'चलना' और 'पड़ना' क्रियाएं अर्थ या भाव की दृष्टि से एक दूसरे से बहुत दूर होती हैं। 'चलना' तो मुख्यतः गति में आना या होना सूचित करता है परन्तु 'पड़ना' खड़े न रहकर जमीन पर लेटने का सूचक है। फिर जब इन दोनों क्रियाओं के योग से 'चल पड़ना' का प्रयोग होता है तब उसका अर्थ हो जाता है– चलने का कार्य आरंभ कर देना। इसी प्रकार 'बैठना' और 'जाना' दोनों परस्पर विरोधी भावों की सूचक क्रियाएं हैं, परन्तु जब इन दोनों क्रियाओं के योग से 'बैठ जाना' सरीखे प्रयोग बनते हैं, तब उनका आशय कुछ और ही हो जाता है। हम कहते हैं– इस आघात

से उनकी दोनों आंखें बैठ गयीं। आंखें न तो पहले खड़ी ही थी और न चलकर कहीं गयी ही। पर यहां 'बैठ जाना' यह सूचित करता है कि आंखों की ज्योति पूरी तरह से नष्ट हो गयी। 'मकान बैठ जाना' का अर्थ होता है– मकान का ढहकर खंडहर के रूप में परिणत हो जाना; और 'गला बैठ जाना' का अर्थ होता है– सर्दी आदि के कारण गले का ठीक तरह से स्वर निकालने के योग्य न रह जाना। आशय यही होता है कि कोई चीज जैसी पहले थी और जैसा काम देती थी वह अब या तो वैसी नहीं रह गयी है, या अपना ठीक और पूरा काम देने के योग्य नहीं बच रही है। जब 'मारना' के साथ 'डालना' का संयोग करके 'मार डालना' पद बनाया जाता है तब उसका अर्थ हो जाता है– हत्या करना; और जब इसी 'मारना' के साथ 'बैठना' का संयोग होने पर 'मार बैठना' पद बनता है तब उसका अर्थ होता है- बिना सोचे-समझे या समुचित विचार किये सहसा प्रहार करना और फिर इसी 'मार बैठना' का प्रयोग जब किसी की धन-सम्पत्ति के सम्बन्ध में होता है तब इसका अर्थ होता है– अनुचित रूप से अपने अधिकार में करके हड़प लेना; जैसे—हमारे भी सौ रुपए वे इसी तरह मार बैठे हैं। आंख, पेट, पैर, हाथ सरीखी सैकड़ों-हजारों संज्ञाओं के साथ लगकर भी और उठना, गिरना, दौड़ना, बोलना, सरीखी क्रियाओं के साथ लगकर भी अनेक प्रकार की संयोज्य क्रियाएं बहुत से नये-नये अर्थ और भाव प्रकट करने लगती हैं। क्रियाओं के योग से तो अर्थों और आशयों में अन्तर पड़ता ही है; कभी कभी किसी विभक्ति के योग से भी अर्थ या आशय बहुत कुछ बदल जाता है। 'मैंने एक सांप मारा था' का अर्थ होगा—मैंने उस पर आघात या प्रहार किया था; पर यह नहीं कहा जा सकता कि इसके फलस्वरूप वह मरा भी था या नहीं। अर्थ-परिवर्तन और अर्थ-विकास की इस क्रिया को पारिभाषिक दृष्टि से हम अर्थ-पल्लवन या अर्थ-पल्लवी कह सकते हैं।

आगे बढ़ने से पहले हम क्रिया-प्रयोगों और संयोज्य क्रियाओं के सम्बन्ध में एक दो बातें और कह देना चाहते हैं। आज कल कुछ लोग अपनी भाषा की प्रकृति से परिचित न होने के कारण कुछ नये क्रिया-प्रयोग भी चलाने लग गये हैं ; जैसे (क) किसी विषय में निर्णय लेना; (ख) किसी बात की प्रतिज्ञा लेना; (ग) किसी कला में रुचि लेना; (घ) किसी बात को कोई नई दिशा देना आदि आदि। ऐसे प्रयोग अंग्रेजी के अन्ध अनुकरण मात्र होते हैं। इन पंक्तियों के लेखक की दृष्टि में ऐसे प्रयोग ठीक नहीं जंचते। अब यदि समय के प्रवाह में ऐसे प्रयोग चल ही पड़ें तो इन्हें कौन रोकेगा ! फिर भी यह विषय भाषा-विदों के लिए चिन्तनीय तो है ही।

संयोज्य क्रियाओं के सम्बन्ध में ध्यान रखने की बात यह भी है कि अकर्मक क्रियाओं के साथ सकर्मक क्रियाएं भी और सकर्मक क्रियाओं के साथ अकर्मक क्रियाएं भी संयुक्त होती हैं। ऐसी दशा में व्याकरण की दृष्टि से किसी क्रिया के साथ लगी हुई दूसरी क्रिया भी उसी पहली क्रिया के समान मानी जाती है जिसके साथ वह संयुक्त होती है। अर्थात् अकर्मक के साथ लगने पर सकर्मक क्रिया भी अकर्मक ही बन जाती है; और सकर्मक के साथ लगी हुई अकर्मक क्रिया भी सकर्मक का सा काम देने लगती है।

रूसी विद्वान श्री ज.म. दीमशित्स ने अपनी 'हिन्दी व्याकरण की रूपरेखा' नामक

पुस्तक में लिखा है कि 'लेना' क्रिया केवल सकर्मक क्रियाओं के साथ ही संयुक्त होती है; जैसे: खा लेना, पी लेना आदि। पर यह बात ठीक नहीं है। 'लेना' का प्रयोग अकर्मक क्रियाओं के साथ भी होता है। जैसे:चल देना, सो लेना आदि।

इन्हीं सब बातों के कारण हमारे यहां के प्राचीन भाषाविद् यह मानते थे कि अर्थों के साथ शब्दों का मूल सम्बन्ध बहुत ही परिमित और सूक्ष्म होता है। निरुक्त या व्युत्पत्ति की दृष्टि से शब्द का मूल अर्थ तो प्रायः जहां का तहां रह जाता है और उसमें आर्थी दृष्टि से ऐसी नयी-नयी शाखाएं और प्रशाखाएं निकलने लगती हैं जो मूल से बहुत कुछ अलग हो जाती या दूर जा पड़ती हैं। यों कहने के लिए हम भले ही कह लें कि अमुक कोश में अमुक शब्द के 24 अर्थ मिलते हैं और अमुक कोश में अमुक शब्द के 60 अर्थ दिये हैं; परन्तु वास्तविक दृष्टि से देखा जाये तो मानना पड़ेगा कि ये सब अर्थ इस शब्द के नहीं हैं बल्कि इस शब्द का इतने अर्थों या प्रसंगों में प्रयोग होता है।

अपना आशय स्पष्ट करने के लिए हम यहां कुछ उदाहरण दे देना आवश्यक समझते हैं। यदि हमारी आंखों में कोई कष्ट या रोग हो तो उसकी चिकित्सा के लिए हम किसी चिकित्सक के पास जाकर उसे आखें दिखाते हैं। यहां 'आंखें दिखाना' अपने बिलकुल साधारण अर्थ में प्रयुक्त हुआ है। परन्तु जब हम क्रोध में आकर और लाल-लाल आंखें करके किसी को कुछ डांटते-फटकारते हैं, तब वह बिगड़कर कह सकता है:हमें इस तरह आंखें मत दिखाइए; हम आपके दबैल नहीं हैं। यहां 'आखें दिखाना' क्रोध या रोष का सूचक हो गया है और इसीलिए ऐसे प्रयोगों की गिनती मुहावरों में होती है। एक और उदाहरण लीजिए। यदि कोई पागल या बदमाश किसी के घर पर मिट्टी का तेल आदि छिड़ककर और दियासलाई लगाकर इसे जला दे तो कहा जायेगा कि पागल या बदमाश ने उसके घर में आग लगा दी। यहां 'आग' और 'लगाना' दोनों का प्रयोग साधारण अर्थों में हुआ है और ऐसी अवस्थाओं में 'आग' के साथ 'लगाना' की गिनती साधारण क्रिया-प्रयोग में होगी। परन्तु जब कोई आदमी किसी परिवार के कुछ लोगों को कई तरह की उल्टी-सीधी बातें समझाकर उन्हें आपस में लड़ा दे और उस परिवार में कलह खड़ी करा दे तो भी हम कहेंगे:तुमने तो उनके घर में अच्छी आग लगायी। यहां 'आग लगाना' का प्रयोग मुहावरे के अन्तर्गत होगा, साधारण क्रिया-प्रयोग के अन्तर्गत नहीं। खिड़कियों, दरवाजों, दीवारों आदि पर लगाया हुआ रंग धूप, वर्षा, हवा आदि के कारण तो उड़ता ही है, परन्तु किसी विकट या विपरीत स्थिति में पड़ने पर लोगों के चेहरे का रंग भी उड़ जाता है। संज्ञाओं के सिवा कुछ विशेषणों से भी इसी प्रकार के मुहावरे बनते हैं; जैसे: चेहरे का रंग काला पड़ना, शरीर का रंग पीला पड़ना आदि आदि। साधारण क्रिया-प्रयोगों और मुहावरों का यह अन्तर ध्यान में रखने में रखने योग्य है।

संयुक्त क्रियाओं की ही तरह कुछ अवस्थाओं में विभक्तियों के कारण भी वाक्यों के अर्थों में बहुत अन्तर हो जाता है। बहुत दिन पहले मैंने 'अच्छी हिन्दी' में बतलाया था कि (क) 'मैंने एक सांप मारा था'; और (ख)'मैंने एक सांप को मारा था' में केवल एक 'को' के कारण कितना अधिक अन्तर है। पहले वाक्य का अर्थ है-मैंने सांप पर आघात किया था, या उसे चोट पहुंचायी थी। बहुत कुछ यही बात 'मैंने शेर देखा है,' और 'मैंने शेर को

देखा है' के सम्बन्ध में भी है। दूसरे वाक्य में केवल 'को' बढ़ जाने के कारण किसी विशिष्ट शेर का बोध होता है। हम कहते हैं—(क) हमें इस बात पर विश्वास नहीं है; और (ख) हमें इस बात का विश्वास नहीं है। पहले वाक्य का अर्थ है -- भले ही लोग यह बात ठीक मानते हों, पर हम इसे कभी ठीक नहीं मान सकते, अर्थात् हमारी दृष्टि में यह बात कभी ठीक हो ही नहीं सकती। दूसरे वाक्य का आशय है हमें इसकी सत्यता में कुछ संदेह है, यह बात ठीक भी हो सकती है, और सम्भव है कि न भी हो। हम कहते हैं, (क) इस बात से आपका क्या मतलब है? और (ख) इस बात से आपको क्या मतलब है! इनमें जो अन्तर है वह बिलकुल स्पष्ट है। इन सब उदाहरणों से यह सिद्ध होता है कि साधारण विभक्तियां भी वाक्यों के अर्थों में कितना अन्तर उत्पन्न कर देती हैं। यह विषय भी हमारे भाषा विज्ञानियों और वैयाकरणों के लिए विशेष रूप से विचारणीय है।

शब्दों के रूप-विकार

घर में जब कोई बच्चा पैदा होता है तब उसका नाम रखा जाता है। ऐसा इसी लिए होता है कि अन्यान्य बच्चों तथा व्यक्तियों से उसकी अलग पहचान हो सके। व्यक्ति के साथ उसके नाम का जैसा सम्बन्ध होता है बहुत कुछ वैसा ही सम्बन्ध अर्थों का उनके वाचक शब्दों से होता है। मानव समाज के आविर्भाव के समय में मनुष्य का मस्तिष्क भी अपने विकास की बिल्कुल आरम्भिक अवस्था में था। उस समय वे जो क्रियाएं, घटनाएं, पदार्थ और व्यापार देखते थे उनके अलग-अलग नाम रखते चलते थे। कुछ अवस्थाओं में वह नामकरण किसी आधार पर या कारणवश भी होता था, पर जान पड़ता है कि अधिकतर अवस्थाओं में उसका कोई पुष्ट आधार या कारण नहीं होता था; बल्कि वह बहुत कुछ मनमाना ही होता था। परन्तु आगे चलकर मानव समाज की भी वृद्धि होती गयी, मानव मस्तिष्क का भी विकास होता गया और अनेक प्रकार के उद्योग-धन्धों और अनुभवों तथा कार्यों के क्षेत्र भी बढ़ते गये। उस समय कुछ तो पुराने शब्दों के आधार पर नये शब्द भी बनते गये और बहुत से नये-नये शब्द भी। प्राचीन काल में मनुष्यों की थोड़ी सी अलग-अलग जातियां और छोटे-छोटे समाज या समुदाय होते थे। जनसंख्या की वृद्धि के कारण लोगों को इधर-उधर हटना-बढ़ना भी पड़ता था और अपने निर्वाह तथा निवास के लिए नये-नये स्थान ढूंढ़ने या बनाने पड़ते थे। इस प्रकार चारों ओर फैलने-वाले लोग कुछ तो अपने साथ अपने पुराने शब्द ले जाते थे और फिर अपनी आवश्यकताओं के अनुसार कुछ नये शब्द भी बना लेते थे। यही कारण है कि आज मंगोल, सामी आदि प्राचीन जातियों की भिन्न-भिन्न शाखाओं में प्राचीन शब्दों के मूल रूप बहुत कुछ एक से दिखायी देते हैं। संस्कृत, फारसी तथा यूरोप की आर्य भाषाओं के बहुत से शब्दों का मिलान करने पर यह बात सहज में समझ में आ सकती है। यहां कुछ उदाहरण दिये जाते हैं:

संस्कृत	फारसी	अंग्रेजी
अन्त	इन्तहा	एन्ड(end)
अन्तर	अन्दर	इनर(inner)

अभ्र	अब्र	. . .
अश्व	अस्प	हार्स
आपत्ति	आफ़त	. . .
इरिण	वीरान	बैरन
उष्ट	शुतुर	. . .
क्रमेल	. . .	कैमल(camel)
क्षीर	शीर	. . .
गोधूम	गंदुम	. . .
तृष्णा	तश्नः	थर्स्ट
दुहिता	दुख़्तर	डाटर (daughter)
द्वार	दर	डोर (door)
नम्र	नर्म	. . .
नव	नौ	न्यू (new)
नवल	. . .	नावल (novel)
पाद	पा	. . .
पितृ	पिदर	फादर (father)
वृहत्तर	बेहतर	बेटर
भ्रातृ	बिरादर	ब्रदर (brother)
मत्त	मस्त	. . .
मातृ	मादर	मदर (mother)
मिहिर	मिह्र	. . .
यकृत्	जिगर	. . .
लिंग	. . .	लिम्ब (limb)
विधवा	बेवा	विडो (widow)
शंका	शक	. . .
शत	सद	सेन्ट (cent)
शर्करा	शकर	शुगर (sugar)
सप्ताह	हफ्तः	. . .
सर्प	. . .	सर्पेंट (serpent)
हस्त	दस्त	. . .
हृदय	. . .	हार्ट (heart)

यह तो ऐसे शब्दों की बात हुई जिनके आधुनिक या वर्तमान रूप आपस में बहुत कुछ मिलते-जुलते हैं। परन्तु शब्दों के रूपों की विकृति का यह क्रम भी हजारों वर्षों से चला आ रहा है और एक ही जाति की अनेक शाखाएं भी एक दूसरी से बहुत दूर जा बसी हैं। इसके सिवा उनकी संस्कृतियों तथा सभ्यताओं ने भी अनेक नये विकसित रूप धारण कर लिये हैं। जातियों की ऐसी शाखा-प्रशाखाओं ने नये-नये धर्म भी ग्रहण कर

लिये अथवा चला दिये हैं, और नये-नये देशों में पहुंचने पर वहां की अन्यान्य जातियों, धर्मों और संस्कृतियों से भी उनका बहुत कुछ घनिष्ठ सम्बन्ध हो गया है। इन सब बातों का उनकी भाषाओं और शब्दों पर भी इतना अधिक और गहरा प्रभाव पड़ा है कि कुछ शब्दों के मूल रूपों तक पहुंचना और क्रमिक विकास का रूप जानना बहुत ही कठिन हो गया है *। तो भी अनेक देशों के बहुत बड़े-बड़े विद्वान् इस क्षेत्र में छानबीन करने में लगे हैं। उन्होंने बहुत से निष्कर्ष भी निकाले हैं और बहुत से सिद्धान्त भी स्थिर किये हैं। अनुसन्धान और छानबीन का यह क्षेत्र भी दिन पर दिन बढ़ता जा रहा है, और नये-नये निष्कर्ष निकलते चलते तथा सिद्धांत बनते चलते हैं। ज्ञान-विज्ञान और विद्याओं के अध्ययन का कहीं कोई वारापार तो है नहीं। हम भारतीय अभी इस क्षेत्र के आरम्भिक अध्यायी ही हैं, और तिस पर हिन्दी वालों ने तो अभी इसके क ख ग का ही श्रीगणेश किया है। निरुक्त या भाषा-विज्ञान सरीखे विषय अब पुराने माने जाने लगे हैं; और अर्थ-विज्ञान, पर्यायकी सरीखी नई-नई शाखाएं निकलने लगी हैं। अतः इस पुस्तक में हम इन्हीं मुख्य बातों की स्थूल चर्चा मात्र करके यह विषय यहीं छोड़ते हैं, और अपने पाठकों को इस विषय से सम्बद्ध कुछ दूसरे क्षेत्र का भी संक्षिप्त परिचय कराना चाहते हैं।

शब्दों के प्रकार

यहां हमें सब बातों का विचार हिन्दी की ही दृष्टि से करना है, इसलिए संक्षेप में पहले यह देख लेना चाहिए कि इसके शब्द कितने प्रकार के होते और कैसे बनते हैं। भारत की प्रायः सभी आर्य भाषाओं का मूल उद्‌गम हमारे यहां की प्राचीन देववाणी या संस्कृत ही है। परन्तु संस्कृत से अपने वर्त्तमान रूपों तक पहुंचने में उन्हें बहुत अधिक समय लगा है और इस बीच में उन पर मध्ययुगीन स्थानिक प्राकृतों और अपभ्रंशों का भी बहुत कुछ प्रभाव पड़ा है जिनके कारण संस्कृत के बहुत से शब्दों के रूप बहुत कुछ विकृत हो गये हैं। इस दृष्टि से हमारी भाषाओं में मिलने वाले अधिकतर शब्द मुख्यतः दो भागों में बंटे हुए हैं। पहला भाग उन सब संस्कृत शब्दों का है जो अभी तक ज्यों के त्यों अपने मूल रूपों में प्रचलित हैं। ऐसे सब शब्द तत्सम कहलाते हैं; जैसे:अवस्था, ग्रहण, परिणाम, मध्य, रचना, लय, विद्युत, साधना आदि। परन्तु जिन संस्कृत शब्दों के रूप बदल गये हैं वे तद्‌भव कहलाते हैं। ये ऐसी साधारण बातें हैं जिनका ज्ञान हिन्दी के

एक-दो छोटे-मोटे उदाहरण लीजिए। आजकल हमारे यहां मूंगफली बहुत चलती और बिकती है। अंग्रेजी में इसे Ground Nut कहते हैं, जिसके अनुकरण पर दक्षिण भारत में भूमिफली शब्द चला था। इससे बिगड़ कर भूमफली रूप बना और तब उस भूमफली से मूंगफली रूप बन गया। छोटी खुली पालकी की तरह की एक पुरानी सवारी अब भी कहीं-कहीं देखने में आती है, जिसे तामजाम कहते हैं और जिसकी व्युत्पत्ति अभी तक अज्ञात थी। परन्तु मेरे प्रिय मित्र श्रीयुत रामकृष्ण दास जी ने मुझे सूचित किया है कि एक पुरानी अंग्रेजी पुस्तक में उन्हें इस सवारी का चित्र मिला है जिसके नीचे लिखा है Tomjohn, Palanquin. जान पड़ता है कि इस सवारी का आरम्भ इस्ट इंडिया कम्पनी के समय में हुआ था; और इसका नाम Tomjohn रखा गया था। इसी का बिगड़ा हुआ रूप तामजाम है। इस प्रकार की और बहुत सी बातों के लिए दे. मेरी 'कोशकला' नामक पुस्तक का 'निरुक्ति या व्युत्पत्ति' शीर्षक प्रकरण।

आरम्भिक विद्यार्थियों को पहले ही व्याकरण के द्वारा हो जाता है। परन्तु हिन्दी में इनके अतिरिक्त कुछ और प्रकार के शब्द भी प्रचलित हैं ; जैसे: कर्म से काम, पत्र से पत्ता, हस्त से हाथ आदि। तत्सम और तद्भव शब्दों के बीच में एक और प्रकार के शब्द होते हैं जो अर्द्ध-तत्सम कहलाते हैं। इस वर्ग में ऐसे शब्द आते हैं जिन्होंने संस्कृत से बिगड़कर प्राकृत या अपभ्रंश में तो विकृत रूप धारण कर लिया था; परन्तु हिन्दी के प्राचीन साहित्य में भी और स्थानिक बोलियों में भी वे अभी तक उन्हीं पहले वाले बिगड़े हुए रूपों में पाये जाते हैं जिनमें वे प्राकृत आदि में प्रचलित थे। उदाहरणार्थ हिन्दी में प्रचलित 'अग्नि' शब्द तो ज्यों का त्यों तत्सम रूप में प्रचलित है और आधुनिक हिन्दी में प्रचलित 'आग' शब्द तद्भव है। परन्तु पुरानी हिन्दी और स्थानिक बोलियों में कहीं-कहीं उसका जो 'अगिन' रूप मिलता है वह अर्द्धतत्सम कहलाता है। संस्कृत 'दैव' से प्राकृत में बना हुआ 'दई' शब्द और संस्कृत 'रात्रि' से बना हुआ उसका प्राकृत रूप 'रात' भी अर्द्धतत्सम ही है। 'दई' का प्रयोग पुरानी कविताओं, गीतों आदि में ही मिलता है, परन्तु आधुनिक हिन्दी में उसका प्रयोग नहीं होता और उसके स्थान पर संस्कृत के तत्सम 'दैव' का ही प्रयोग होता। 'रात' शब्द हमने प्राकृत से ज्यों का त्यों ले लिया है और आधुनिक हिन्दी में उसका रूप कुछ भी बदला नहीं, इसलिए सिद्धान्ततः रात भी अर्द्धतत्सम ही है, तद्भव नहीं।

हिन्दी में कुछ ऐसी क्रियाएं और संज्ञाएं भी प्रचलित हैं जो अनुकरणवाची कहलाती हैं। प्रायः किसी प्रकार की ध्वनि सुनकर उसके अनुकरण पर जो नये शब्द बनाये जाते हैं वे अनुकरणवाची कहलाते हैं; जैसे: खटखटाना, थपथपाना, धड़धड़ाना, भड़भड़ाना, बिलबिलाना, लपलपाना सरीखी क्रियाएं और पटाका, पपीहा, सिटकिनी सरीखी संज्ञाएं अनुकरणवाची ही हैं। गड़गड़ाहट, थरथराहट, हकलाहट सरीखी भाववाचक संज्ञाएं भी अनुकरणवाची ही हैं। चीनी, मिस्री आदि कुछ संज्ञाएं भी इसी लिए अनुकरणवाची मानी जाती हैं कि वे चीन और मिस्र देश के नामों के अनुकरण पर बनी हैं। करौली (एक प्रकार की छोटी कटार) और हलब्बी (एक प्रकार की तलवार) भी इसी लिए अनुकरणवाची हैं कि इनका नामकरण उन स्थानों के नाम पर हुआ है जहां पहले ये बनती थीं। अन्यान्य अनेक भाषाओं में भी इसी प्रकार की अनुकरणवाची संज्ञाएं आदि देखने में आती हैं। अरबी के कह-कहः (= अट्टहास) और ज़लज़लः (भूकंप) सरीखे शब्द भी अनुकरणवाची ही हैं। पैसा-वैसा में का उत्तर पद वैसा और भीड़-भाड़ में का उत्तर पद भाड़ प्रायः निरर्थक होने पर भी पैसा और भीड़ के अनुकरणवाची ही हैं। ऐसे निरर्थक अनुकरणवाची शब्द साधारणतः मूल शब्द के बाद ही लगते हैं; पर कुछ अवस्थाओं में पहले भी लगते हैं। उदाहारणार्थ ऐरा-गैरा और औने-पौने में के ऐरा और औने ऐसे निरर्थक अनुकरणवाची शब्द हैं, जो मूल शब्द गैरा और पौने से पहले लगे हैं। कुछ अवस्थाओं में अनुकरणवाची शब्द कुछ भिन्न अर्थ प्रकट करने के लिए भी बना लिये जाते हैं; जैसे: मंझला के अनुकरण पर बना हुआ संझला, साधारणतः मंझले से कुछ छोटे का वाचक होता है। कभी-कभी कुछ कवि लोग भी अपने विशेषाधिकार से कुछ नये अनुकरणवाची शब्द बना लाते हैं। हिन्दी में माता के अर्थ में अनेक स्थानों पर 'महतारी' तो प्रचलित है ही, कविवर व्यासदास ने इसके अनुकरण पर पिता के अर्थ में इसका

पुंलिंग रूप 'महतारो' भी बना डाला है। यथा–अवतारी सब अवतारन को, महतारी महतारो।

हिन्दी में एक और प्रकार के शब्द भी प्रचलित हैं जिन्हें हम मिश्रयौगिक कह सकते हैं। जब हम अपने यहाँ के किसी शब्द के साथ किसी दूसरी भाषा का शब्द (संज्ञा, विशेषण अथवा प्रत्यय) मिलाकर कोई नया शब्द बनाते हैं तो वह मिश्र-यौगिक कहा जाता है; जैसे–जेब-घड़ी, राजमहल, ला-पता, चमकदार, फलदार आदि।

शब्दों के तत्सम, तद्भव आदि भेद स्थिर करने के समय हमें एक विशेष बात का ध्यान रखना पड़ता है। वह यह कि ऐसे भेद शब्दों के रूपों पर नहीं वरन् उनके अर्थों के आधार पर निरूपित होते हैं। ध्वनि या शब्द के अर्थ में 'कल' शब्द तत्सम रहता है; जैसे–कल-नाद; कल-रव आदि। परन्तु आज के तुरन्त बाद आनेवाला दूसरा दिन अथवा आज से ठीक पहले बीता हुआ दिन भी 'कल' ही कहलाता है। किन्तु वह संस्कृत के 'कल्य' से उत्पन्न होने के कारण तद्भव होता है। इसके सिवा हमारे यहाँ कल-जिवभा, कल-मुँहाँ आदि पद भी प्रचलित हैं; और इनमें का 'कल' शब्द हिन्दी के 'काला' शब्द का संक्षिप्त रूप है। इसी प्रकार कृष्ण की रास-लीला में का 'रास' विशुद्ध संस्कृत होने के कारण तत्सम है। पर जब हम रास का प्रयोग ढेर के अर्थ में करते हैं तब वह संस्कृत राशि से व्युत्पन्न होने के कारण तद्भव होता है। फिर हम यह भी कहते हैं–यह मकान (या रोजगार) हमें रास नहीं आया। आशय यह होता है कि यह हमारे लिए अनुकूल या शुभ सिद्ध नहीं हुआ। ऐसी अवस्था में यह 'रास' फारसी के रास्त (= दक्षिण या अनुकूल) से व्युत्पन्न होने के कारण फारसी से आया हुआ तद्भव रूप है।

हिन्दी कोशों में कभी-कभी कुछ शब्द देशज भी कहे या माने जाते हैं। देशज का अर्थ होता है–देश में ही उत्पन्न। आशय यह होता है कि ऐसे शब्द किसी दूसरी भाषा के शब्दों से नहीं आये या नहीं बने हैं, और इन्हें इस देश के निवासियों ने ही गढ़ या बना लिया है। उदाहरणार्थ खिड़की, गड़बड़, रद्दा, लगभग, लच्छा सरीखे कुछ शब्द कोशों में देशज कहे गये हैं। परन्तु ऐसे शब्दों के सम्बन्ध में निश्चित रूप से यह नहीं कहा जा सकता कि ये किसी दूसरे शब्द से नहीं बने हैं, और इन्हें लोगों ने बिना किसी आधार के ही मनमाने रूप से गढ़ लिया है। हो सकता है कि आगे चलकर अधिक छानबीन होने पर ऐसे शब्दों के मूल का भी पता चल जाय।

परकीय या विदेशी भाषाओं से सम्बन्ध स्थापित होने पर बहुत से ऐसे नये शब्द मिलते हैं जिनका आशय या भाव सूचित करनेवाले शब्द हमारे यहाँ पहले से वर्तमान नहीं होते; और इसी लिए आवश्यकतानुसार हमें उनके स्थान पर अपने लिए नये शब्द गढ़ने पड़ते हैं। ऐसे-ऐसे नये गढ़े हुए शब्द तदर्थी वर्ग में आते हैं। यदि तात्त्विक दृष्टि से देखा जाय तो वे शब्द एक प्रकार से अनुकरणवाची ही ठहरते हैं क्योंकि वे अन्यान्य भाषाओं के शब्दों के अनुकरण पर बने हुए होते हैं। तदर्थी का पहला अर्थ होता है–किसी एक शब्द का अर्थ या भाव सूचित करनेवाला (दूसरा शब्द)। इस दृष्टि से हम इसे समार्थक या समानार्थी ही कह सकते हैं। परन्तु आज-कल अपने विस्तृत अर्थ में इसका प्रयोग ऐसे नये गढ़े हुए शब्दों के लिए होता है जो दूसरी भाषाओं के शब्दों के अनुकरण पर और

उनका आशय या भाव सूचित करने के लिए बनाए जाते हैं; जैसे–एडमिनिस्ट्रेशन (administration) के लिए प्रशासान, बान्ड (Bond) के लिए बन्ध, डीवैल्युएशन (devaluation) के लिए अवमूल्यन, थर्मामीटर (thermometer) के लिए तापमापी सरीखे शब्द इसी वर्ग में आते हैं। हमारे यहाँ का "द्विज" शब्द इसलिए ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य का वाचक है कि इन जातियों का दो बार जन्म लेना माना जाता है, एक तो प्रसव के समय और दूसरा यज्ञोपवीत संस्कार के समय। इसी आधार पर 'द्विज' का वाचक अंग्रेजी में (Twiceborn) शब्द बना है। वह तदर्थी है। आज-कल हिन्दी में इस प्रकार के बहुत से पारिभाषिक तथा अन्य प्रकार के शब्द बनने लगे हैं। पर कभी-कभी कुछ लोग बिना समझे-बूझे कुछ ऐसे तदर्थीय शब्द भी बना लेते हैं जो कई दृष्टियों से या तो अर्थहीन होते हैं या स-दोष। अंग्रेज़ी के हंगर-स्ट्राइक (hunger strike) के लिए हिन्दी में बहुत दिनों से 'भूख-हड़ताल' का प्रयोग होता आ रहा है जिसका वस्तुतः कुछ भी अर्थ नहीं होता। हमारे यहाँ पहले से इसके लिए जो 'अनशन' शब्द वर्तमान है वही इसके लिए अधिक उपयुक्त हो सकता है। अंग्रेज़ी के हनीमून (Honey Moon) के लिए बंगलावालों की देखादेखी कुछ हिन्दीवाले भी 'मधु-चन्द्र' का प्रयोग कर जाते हैं जिसका जन-साधारण कुछ भी अर्थ नहीं समझते। फिर भी पाश्चात्य समाजों के अनुकरण पर हमारे यहाँ के कुछ नई रोशनीवाले दंपति विवाह के तुरन्त उपरांत कुछ समय के लिए विहार के उद्देश्य से किसी रमणीक स्थान पर जाने लगे हैं। ऐसे लोगों के लिए यदि शब्द बनाना ही हो तो हमारी समझ में 'मधु-चन्द्र' की जगह 'मधु-काल' का प्रयोग कहीं अच्छा होगा।

अर्थों के प्रकार

हम ऊपर यह तो बतला ही चुके हैं कि शब्दों का मूल रूप जो अर्थ या आशय प्रकट करने के लिए होता है उससे उनके परवर्ती अर्थ प्रायः बहुत कुछ दूर जा पड़ते अथवा उनसे भिन्न हो जाते हैं। इस प्रकार के सभी अर्थों पर विचार करके भाषाविदों ने यह निश्चय किया कि शब्दों की ही तरह उनके अर्थ भी कई प्रकार के होते हैं। हमारे यहां साधारणतः शब्दों के दो प्रकार के अर्थ विशेष रूप से प्रसिद्ध हैं। ये हैं–धात्वर्थ और चलितार्थ। जिन भाषाओं में शब्द धातुओं से बनते हैं, उनमें धातुओं के आधार पर निकलने वाले अर्थ धात्वर्थ कहलाते हैं। हमारे यहां की संस्कृत भाषा भी धातुमूलक ही है, परन्तु संसार में अनेक ऐसी भाषाएँ भी हैं जो वस्तुतः धातुमूलक नहीं कही जा सकतीं। पर ऐसी भाषाओं में भी उनके शब्दों के अर्थ या आशय अपने मूल या व्युत्पत्ति से प्रायः बहुत दूर जा पड़ते हैं। इसलिए धात्वर्थ को हम व्यापक दृष्टि से मूल या व्युत्पत्तिक अर्थ भी कह सकते हैं। दूसरे प्रकार के अर्थ चलितार्थ कहलाते हैं - जिनमें शब्द वर्तमान काल में प्रचलित होते हैं अथवा जिनके बोधक या सूचक वे माने जाते हैं।

यहां हम कुछ उदाहरण देकर अपना आशय और स्पष्ट करना चाहते हैं। 'चिरंजीव' का मूल अर्थ तो है–अधिक दिनों तक जीनेवाला, परन्तु अब वह पुत्र या बेटे का आशीर्वादात्मक और मंगलसूचक विशेषण-सा हो गया है। संस्कृत के 'जगत्' शब्द का धात्वर्थ तो है–चलता-फिरता और जीता-जागता, पर उसका चलितार्थ है–यह लोक या

संसार। इसी प्रकार 'नयन' का धात्वर्थ तो है–मार्ग दिखलाकर आगे की ओर ले चलने या ले जानेवाला, परन्तु उसका चलितार्थ है–आंख या नेत्र। मृग का धात्वर्थ तो है–पीछा करके दौड़ाने या भगानेवाला। परन्तु उसके चलितार्थ हैं –(क) जंगली जानवर या अन्य पशु; और (ख) चीतल, बारहसिंगे, हिरण आदि वर्ग के पशु। इससे और आगे बढ़ने पर हमें ऐसे अनेक यौगिक शब्द भी मिलते हैं जिनके मूल अर्थ तो कुछ और ही होते हैं, पर चलित अर्थ कुछ और। उदाहरणार्थ 'दिनकर' का मूल अर्थ तो है–दिन करनेवाला; और उसका चलित अर्थ है–सूर्य। 'रत्नाकर' का मूल अर्थ तो है–रत्नों की खान; परन्तु उसका चलित अर्थ है–समुद्र या सागर। 'शाखा मृग' का मूल अर्थ तो है–वृक्ष की शाखाओं पर रहनेवाला पशु , परन्तु उसका चलित अर्थ है–बंदर। फारसी का 'बरखुर्दार' विशेषण वस्तुतः एक आशीर्वादात्मक वाक्य है जिसका अर्थ है–जीविका से लगे रहो, अर्थात् खाने पीने से सदा सुखी रहो। परन्तु अब उसका प्रयोग भी हमारे यहां के 'चिरंजीव' की तरह मंगलसूचक आशीर्वाद की तरह छोटों या बच्चों के सम्बन्ध में होता है। इसी प्रकार उर्दू और हिन्दी में प्रचलित 'शाबाश' अव्यय वस्तुतः फारसी के वाक्य 'शाद बाश' का संक्षिप्त रूप है, जिसका अर्थ है–प्रसन्न और सुखी रहो। परन्तु अब वह प्रशंसात्मक अव्यय की तरह प्रयुक्त होता है जिसका आशय होता है–वाह ! बहुत अच्छा काम किया।

शब्द-शक्ति

ये तो हुए लोक-व्यवहार की दृष्टि से अर्थों के प्रकार। परन्तु हमारे यहां के प्राचीन साहित्यकारों ने शब्दों और अर्थों के सभी अंगों की अच्छी तरह छान-बीन और देख-भाल करके कुछ और ही दृष्टि से अर्थों के प्रकार निरूपित किये हैं। अर्थ व्यक्त करने की दृष्टि से उन्होंने शब्दों की तीन विशिष्ट प्रकार की शक्तियां मानी हैं, जिन्हें अभिधा, लक्षणा और व्यंजना कहते हैं। शब्द की अभिधा शक्ति से निकलने वाला अर्थ अभिधार्थ कहलाता है। इसी अभिधार्थ को मुख्यार्थ या वाच्यार्थ भी कहते हैं। शब्द की लक्षणा शक्ति से निकलने वाला अर्थ लक्ष्यार्थ और व्यंजना शक्ति से निकलने वाला अर्थ व्यंग्यार्थ कहलाता है। 'अभिधा' का मुख्य अर्थ है नाम या संज्ञा। साधारणतः शब्द किसी प्रकार के गुण, पदार्थ, रूप, शक्ति आदि के वाचक होते हैं। उस गुण, पदार्थ, रूप, या शक्ति का जो नाम हम स्थिर करते हैं वही उसकी अभिधा है। यही बात दूसरे रूप में इस प्रकार कही जा सकती है कि शब्द किसी गुण, पदार्थ आदि का वाचक होता है और वे गुण, पदार्थ आदि उसके वाच्य होते हैं। इसी आधार पर अर्थ का यह पहला प्रकार अभिधार्थ या वाच्यार्थ कहलाता है। शास्त्रकारों ने इसके तीन मुख्य भेद किये हैं जिन्हें रूढ़, यौगिक और योगरूढ़ कहते हैं। संस्कृत अश्व या घोटक का अर्थ हिन्दी घोड़ा रूढ़ अर्थात् लोक-प्रचलित है ही; इसमें व्युत्पत्ति आदि का कोई विशेष विचार नहीं होता। ऊपर हमने दिनकर, रत्नाकर और शाखा मृग के जो उदाहरण दिये हैं, वे हैं तो यौगिक शब्द, फिर भी लोक में उनके वही विशिष्ट अर्थ प्रचलित हैं जो हम ऊपर बतला आये हैं। ऐसे अर्थ यौगिक कहलाते हैं। 'जलज' शब्द जल में ज प्रत्यय लगने से बना है और इस दृष्टि से इसका अर्थ होता है–जो जल में या जल से उत्पन्न हुआ हो। परन्तु लोक में वह कमल का वाचक माना

जाता है। यह उसका योगरूढ़ अर्थ है।

कभी-कभी ऐसा होता है कि वाक्य के शब्दों से जो अभिधार्थ निकलता है वह प्रसंग के अनुसार ठीक नहीं बैठता या पूरा नहीं उतरता। फिर भी उसका कुछ संगत और संबद्ध अर्थ होता ही है। अर्थात् उस वाक्य का कुछ और ही लक्ष्य होता है जो प्रसंग के अनुसार आपसे आप मिकल आता और समझ में आ जाता है; जैसे—तालाब पर एक बड़ा मन्दिर भी है। परन्तु तालाब के जल पर तो मन्दिर हो ही नहीं सकता, इसलिए यही माना और समझा जाता है कि तालाब के किनारे पर मन्दिर है। यदि कहा जाये दोनों तरफ से तलवारें चलने लगीं, तो इसका आशय यही होगा कि दोनों पक्षों के सैनिक तलवारें चलाने लगे, क्योंकि तलवारें आपसे आप तो चलती ही नहीं; उन्हें चलाने वाले आदमी होते हैं। वाक्यों से इस प्रकार निकलने वाले अर्थ लक्ष्यार्थ कहलाते हैं, और ऐसा अर्थ प्रकट करने वाली शब्द शक्ति लक्षणा होती है। शास्त्रकारों ने इसके निरूढ़ा और प्रयोजनवती ये दो भेद कहे हैं।

कभी कभी कुछ ऐसे वाक्य भी होते हैं जिनका अभिधार्थ या साधारण अर्थ भी ठीक और पूरा आशय नहीं प्रकट करता और लक्ष्यार्थ से भी काम नहीं चलता। फिर भी उस वाक्य का कुछ ऐसा विशिष्ट अभिप्राय या आशय होता ही है जो प्रसंग के अनुसार अतिरिक्त रूप से ध्वनित होता है। वाक्य में कथित न होने अथवा अर्थ से लक्षित न होने पर भी जो नया अर्थ या आशय किसी प्रकार व्यंग्य के रूप में व्यक्त होता है वही व्यंग्यार्थ कहलाता है। पदों और वाक्यों की व्यञ्जना शक्ति से जो गूढ़, चमत्कारपूर्ण और विशेष आशय प्रति-ध्वनित होता है वही उसका व्यंग्यार्थ कहलाता है। हमारे यहां के साहित्यकारों ने इस प्रकार के व्यंग्यार्थ को पारिभाषिक दृष्टि से 'ध्वनि' कहा है। (देखें आगे तीसरे खण्ड में—अर्थ, आशय, ध्वनि और विवक्षा)। हम कहते हैं—दो मित्रों को आपस में लड़ा देना तो आपके बायें हाथ का खेल है। आशय यह होता है कि लोगों को आपस में लड़ा देना तो आपके लिए बहुत ही छोटी या साधारण बात है। यह आशय न तो अभिधार्थ या वाच्यार्थ से ही निकलता है और न लक्ष्यार्थ से ही। यहां शब्दों की जो व्यंग्यात्मक शक्ति काम करती है वही व्यञ्जना कहलाती है और वाक्य का इस प्रकार निकलनेवाला अर्थ व्यंग्यार्थ कहलाता है, जिसे साहित्य की परिभाषा में ध्वनि कहते हैं। चालाकी में किसी के कान काटना, बक बक करके किसी का सिर खाना, सिर पर पांव रखकर भागना, बड़ों के मुंह पर कालिख पोतना की जगह बड़ों के मुंह पर चन्दन पोतना सरीखे मुहावरों का वास्तविक अभिप्राय या आशय न तो अभिधार्थ से ही निकलता है और न लक्ष्यार्थ से ही। शब्द की व्यञ्जना-शक्ति ही इनके आशय या भाव प्रकट करती है और इसीलिए ऐसे अर्थ व्यंग्यार्थ कहलाते हैं। ऐसा अर्थ कभी तो वाक्य के अर्थ पर आश्रित होता है और कभी उसके शब्दों पर। इसीलिए शास्त्रकारों ने इसके आर्थी और शाब्दी दो भेद कहे हैं, और उनका भी सूक्ष्म विचार करते हुए अनेक उपभेद तथा प्रभेद बतलाये हैं। लक्षणा और व्यञ्जना के भेदों-प्रभेदों आदि का विवेचन साहित्य-ग्रन्थों में देखा जा सकता है। यहां हम इतना और बतला देना आवश्यक समझते हैं कि अभिधा शक्ति तो शब्द में होती है परन्तु लक्षणा और व्यञ्जना शक्तियां पदों और वाक्यों में होती हैं; भले ही ये

शक्तियां पद या वाक्य में आये हुए किसी विशिष्ट शब्द या पद पर आश्रित हों परन्तु ये अकेले या छुटट्‌ शब्द में नहीं होतीं।

अलंकार

यहां इस विषय के एक दूसरे मनोरंजक पक्ष का संक्षिप्त परिचय करा देना भी आवश्यक जान पड़ता है। शिक्षित और संस्कृत विचारों वाले लोग कोई एक अर्थ, आशय या भाव भी अपनी-अपनी उद्‌भावना के अनुसार अलग-अलग प्रकार से प्रकट करते हैं। वस्तुतः बात तो बहुत-कुछ एक ही होती है, परन्तु वह बात कहने के ढंग भी कई होते हैं और वे सब ढंग एक दूसरे से अलग प्रकार के, अनोखे और निराले होते हैं। कोई कहता है- यह मुख तो चन्द्रमा के समान है; कोई कहता है- इसे देखकर चन्द्रमा का ध्यान आ जाता; कोई कहता है- इसे देखकर चन्द्रमा का भ्रम होता है; कोई कहता है- कलंकी चन्द्रमा इस निष्कलंक मुख के सामने क्या चीज है आदि आदि। इस प्रकार के वाक्यों में व्यंग्यार्थ की प्रतीति न होने पर भी इनके शब्द-विन्यास में ही कुछ ऐसी चमत्कारपूर्ण विशेषता है जो ऐसे कथनों को बहुत ही रोचक और सुन्दर बनाकर उनमें एक स्वतन्त्र प्रकार की व्यञ्जना उत्पन्न कर देती है। हमारे यहां के अलंकार-शास्त्र के मूल में ऐसे ही विलक्षण कथन-प्रकार काम करते हुए दिखायी देते हैं। अलंकार का अर्थ ही है—कोई ऐसी चीज जो किसी दूसरी चीज की शोभा या सौन्दर्य बढ़ाती हो। कथन का जो अनोखा प्रकार उसका माधुर्य, लालित्य और व्यञ्जकता बढ़ाता है वही वास्तविक अलंकार है; और अलंकार-शास्त्र ऐसे ही विलक्षण कथन-प्रकारों पर आश्रित है। वास्तविक दृष्टि से देखा जाये तो साहित्यिक क्षेत्र के सभी अलंकार भाव-व्यञ्जन के कौशलपूर्ण और विशिष्ट लक्षणों से युक्त कथन के भिन्न-भिन्न प्रकार ही हैं।*

यहां हम उदाहरण के रूप में कथन के भिन्न-भिन्न प्रकार और उनके सूचक अलंकारों के नाम दे रहे हैं :

1.	यह मुख चन्द्रमा के समान सुन्दर है।	(उपमा)
2.	मुख ही चन्द्रमा है।	(रूपक)
3.	यह मुख मानों चन्द्रमा है।	(उत्प्रेक्षा)
4.	यह (मुख) चन्द्रमा है।	(अतिशयोक्ति)
5.	यह मुख है या चन्द्रमा ?	(सन्देह)
6.	चकोर तुम्हारे मुख को चन्द्रमा समझकर तुम्हारी ओर दौड़ते हैं।	(भ्रान्तिमान)

---

*ऊपर हमने जिस प्रकार के अलंकारों की चर्चा की है वे मुख्यतः अर्थों पर आश्रित होते हैं। इसीलिए ऐसे अलंकारों को अर्थालंकार कहते हैं जिनकी संख्या एक सौ से कुछ ऊपर ही है। इसके सिवा कुछ अवसरों पर अनुप्रास, यमक, श्लेष आदि की सहायता से भी भाषा अलंकृत की जाती है और उसमें चमत्कार, माधुर्य या सौंदर्य लाया जाता है। ये अलंकार मुख्यतः अक्षरों, वर्णों और शब्दों पर ही आश्रित होते हैं। इसलिए इन्हें शब्दालंकार कहते हैं। अनेक रचनाओं में ऐसा भी होता है कि अर्थालंकार और शब्दालंकार दोनों साथ-साथ लाये जाते हैं। ऐसे अवसरों पर दोनों प्रकार के अलंकारों के योग को उभयालंकार कहते हैं।

7. यह निष्कलंक मुख चन्द्रमा से भी बढ़कर है। (व्यतिरेक)
8. यह तो चन्द्रमा है, मुख नहीं। (अपह्नुति)
9. मुख चन्द्रमा की भांति है और चन्द्रमा मुख की भांति। (उपमेयोपमा)
10. इस मुख के समान यही मुख है। (अनन्वय)
11. चन्द्रमा मुख की भांति है। (प्रतीप)
12. चन्द्रमा को देखते ही मुख का स्मरण हो आता है। (स्मरण)

शब्दों का जगत्

इस प्रसंग में हमने 'जगत्' शब्द का प्रयोग जान-बूझकर और विशिष्ट हेतु से किया है। जगत् का मुख्य अर्थ है- जो चलता-फिरता और जीता-जागता हो। इस पृथ्वी या संसार को इसीलिए जगत् कहते हैं कि इसमें चलते-फिरते और जीते-जागते प्राणी रहते हैं। पशु जगत्, राजनीतिक जगत्, साहित्यिक जगत् आदि पदों में जगत् शब्द का इसी अर्थ की दृष्टि से प्रयोग होता है। विद्वानों का मत है कि शब्दों का भी वैसा ही जीवन होता है, जैसा हमारा। वे भी हमारी ही तरह जन्म लेते, बड़े होते और अन्त में मरते भी हैं; वैज्ञानिकों ने जीवन के जो कई मुख्य लक्षण माने हैं प्रायः वे सभी किसी न किसी रूप में शब्दों में भी पाये जाते हैं। उनकी जातियां होती हैं, परिवार होते हैं, वर्ग होते हैं और सन्तानें होती हैं। हमारे जीवन के सहचार से उनमें भी बहुत कुछ हमारी ही तरह के जीवन का संचार होता है। इसलिए शब्दों के साथ भी हमारा वैसा ही कोमल, मृदुल और सहृदयतापूर्ण व्यवहार होना चाहिए जैसा अन्यान्य मनुष्यों, पशु-पक्षियों, वनस्पतियों आदि के साथ होता है। भले ही हम अपने विभिन्न धार्मिक विश्वासों के कारण उन्हें ब्रह्म का अंश या सरस्वती का स्वरूप न मानें तो भी उनके प्रयोग या व्यवहार के समय कभी उपेक्षा, कठोरता या निर्दयता का व्यवहार नहीं करना चाहिए। शब्दों का अच्छा और ठीक प्रयोग या व्यवहार हमारी संस्कृति और सभ्यता का सूचक होता है; और इसके विपरीत होने वाला आचरण, हमारा अज्ञान या गंवारपन सूचित करता है।

व्याकरणों में शब्दों के जो संज्ञा, सर्वनाम, विशेषण, क्रिया विशेषण आदि भेद कहे गये हैं वही वस्तुतः शब्दों की जातियां हैं। सभी भाषाओं के शब्द प्रायः इन्हीं जातियों में विभक्त होते हैं। ऊपर हमने शब्दों के आर्थी विकास की चर्चा करते हुए यह बतलाया है कि एक ही शब्द से उनके भिन्न-भिन्न अर्थ सूचित करने वाले कैसे-कैसे विकारी रूप बनते हैं। ऐसे शब्द मानो अपने परिवार के प्रधान होते हैं, और उनके विकारी रूपों को हम उनके परिवार के सदस्य कह सकते हैं। किसी भाषा में बहुत कुछ एक ही तरह के आशय या भाव प्रकट करने वाले जो अनेक शब्द होते हैं उन सब को हम एक वर्ग में रख सकते हैं; जैसे—आनन्द, प्रसन्नता, हर्ष आदि; खेद, दुःख, शोक आदि; शंका, संदेह, संशय आदि। ऐसे शब्दों के अर्थों और आशयों में परस्पर बहुत कुछ सूक्ष्म अन्तर या भेद होते हैं जिनके सम्बन्ध की कुछ मुख्य बातें आगे चलकर अर्थ-विज्ञान की चर्चा के समय बतलायी जायेंगी। यहां यही समझ लेना यथेष्ट होगा कि इस प्रकार के शब्दों के अलग-अलग वर्ग ही होते हैं। ऐसे ही वर्गों में अन्यान्य भाषाओं के वे शब्द भी आते हैं जो इसके पर्याय या समानार्थी होते हैं। इसके सिवा सन्धियों, समासों आदि के द्वारा शब्दों में पारस्परिक

सम्बन्ध भी स्थापित होते हैं जिनसे उनके परिवार की वृद्धि होती है। प्रत्ययों आदि के योग से जो नये शब्द बनते हैं वे भी इन्हीं के अन्तर्गत आते हैं। इस प्रकार शब्दों का जीवन भी उनका व्यवहार करने वाले मनुष्यों के जीवन से बहुत कुछ मिलता-जुलता है।

अब शब्दों की आयु या जीवन का एक और पक्ष देखिए। जो शब्द जितने ही छोटे, हलके और उच्चारण की दृष्टि से सरल और सुगम होते हैं उनका प्रचार भी उतना ही अधिक होता है; और वे उतने ही दीर्घजीवी भी होते हैं। उदाहरण के लिए तन, धन, मन, रस, फल सरीखे शब्द लीजिए जो हजारों वर्षों से अपने इन्हीं रूपों और मुख्य अर्थों में उत्तर भारत की प्रायः सभी भाषाओं और बोलियों में समान रूप से प्रचलित हैं। कमल, गीत, दान, मास, समय सरीखे शब्दों के सम्बन्ध में भी यही बात है। कारण यही है कि अशिक्षित अथवा साधारण जन-समाज को भी इनके उच्चारण और प्रयोग करने में कभी कोई कठिनता नहीं होती। इसके विपरीत जिन शब्दों के उच्चारण में कुछ कठिनता या जटिलता होती है उनका प्रयोग केवल शिक्षित और संस्कृत लोग ही कर सकते हैं; जन-साधारण नहीं कर पाते। इसी आधार पर साधारण लोगों को शब्दों के तत्सम रूप छोड़कर उनके तद्भव रूप बनाने पड़ते हैं। शब्दों के रूपों में निरन्तर होते रहने वाले ऐसे ही परिवर्तनों के कारण धीरे-धीरे बोलियों और भाषाओं के रूप बदलते रहते हैं। प्रायः दो-तीन सौ वर्षों के अन्दर ही बोलियों और भाषाओं के रूप बहुत-कुछ बदल जाते हैं। *

बोलियों और भाषाओं के रूप-परिवर्तन के कई कारण होते हैं; जैसे–अन्यान्य जातियों, संस्कृतियों, सभ्यताओं आदि से सम्पर्क; नये-नये उद्योग-धन्धों और ज्ञान-विज्ञानों का विकास; राजकीय क्रांतियां और विप्लव; परकीय जातियों के सामने युद्ध में होनेवाली हार और उसके फलस्वरूप होने वाली प्रतियोगिता या होड़ आदि आदि। जब कोई भाषा बोलने वाली जाति मर जाती है तब उसके साथ ही उसकी भाषा, संस्कृति, सभ्यता आदि भी नष्ट हो जाती है और जब कोई जाति बहुत दिनों तक पराजित रहने के उपरान्त स्वाधीन होकर उन्नति तथा विकास के मार्ग पर अग्रसर होने लगती है तब अनजान में ही धीरे-धीरे उसकी भाषा पर भी नये प्रभाव पड़ने लगते हैं। भारतीय बोलियां और भाषाएं युग के इसी नये चरण में प्रवेश कर रही हैं। दूर क्यों जाये, हमारी हिन्दी में ही ये बातें दिखायी देने लगी हैं। पंजाबी, बुन्देली, भोजपुरी आदि पर भी इस प्रकार के प्रभाव पड़ते हुए स्पष्ट दिखायी देते हैं। जब से भारत स्वाधीन हुआ है तब से प्रायः सभी क्षेत्रों में बहुत अधिकता से नये-नये शब्द भी बनने लगे हैं और नये-नये प्रयोग भी चलने लगे हैं। ऐसी अवस्था में हमारे यहां के शब्द बनाने वाले विद्वानों को इस

---

* भारतीय भाषाओं में दक्षिण भारत की तमिल भाषा इस नियम का अपवाद है। तमिल-भाषियों का कहना है कि हमारी भाषा पिछले दो हजार वर्षों से बराबर एक ही रूप में चली आ रही है और अब भी उसी रूप में चल रही है। फिर भी एक तो संसार ही परिवर्तनशील है, और दूसरे वर्तमान युग में अनेक प्रकार की क्रान्तियां हो रही हैं, इसलिए यह नहीं कहा जा सकता कि तमिल इसी रूप में और कितने दिन चल सकेगी।

बात का ध्यान रखना चाहिए कि उनके बनाये हुए नये शब्द उच्चारण के विचार से सुगम और फलतः दीर्घजीवी हों। यदि इस बात का ध्यान रखे बिना हम क्लिष्ट उच्चारण वाले शब्द बनाते हैं तो वे अल्पजीवी ही होंगे।

प्राचीन भारतीय शब्द-शास्त्र

ईश्वर ने मनुष्य को बुद्धि तो दी ही है। इसी बुद्धि के बल से वह नये-नये काम भी करता रहता है और उनमें बराबर आगे भी बढ़ता रहता है। इसी प्रगति के कारण उसके सभी काम और सभी बातें आगे बढ़ती-बढ़ती कला, विज्ञान, शास्त्र आदि के रूप धारण कर लेती हैं। भाषा और शब्द भी इस प्रक्रिया से अछूते नहीं रह सकते थे। मानवबुद्धि ने जहाँ अनेक प्रकार के विज्ञानों और शास्त्रों को जन्म दिया, वहाँ उसने भाषा और शब्दों के सम्बन्ध में भी अनेक शास्त्र बना डाले। ऐसे शास्त्रों में पहला और प्रमुख स्थान व्याकरण को ही प्राप्त है। जब तक लोग अशिक्षित और असंस्कृत थे तब तक वे मनमाने ढँग से जब जैसा और जो कुछ चाहते थे बोलकर अपना काम चला लेते थे। परन्तु जब लोग शिक्षित और सभ्य हुए तब उन्होंने बोलने-चालने के कुछ नियम भी बनाये और कुछ परिपाटियाँ भी स्थिर कीं। जब इस क्षेत्र में वे और भी आगे बढ़े तब उन्हें उन नियमों और परिपाटियों को व्यवस्थित रूप देने की आवश्यकता प्रतीत हुई। शिष्टों और समझदारों को कानों में अशुद्ध और भ्रामक प्रयोग खटकने लगे। कानों की यही खटक दूर करने और लोगों को बोलने तथा लिखने का ठीक ढंग बतलाने के लिए व्याकरण की सृष्टि हुई। व्याकरण का मुख्य काम है–सबको शब्दों के प्रयोगों का शुद्ध रूप बतलाना और भाषा का स्वरूप परिष्कृत, सुन्दर और स्थिर रखना। संसार में अब भी अनेक असभ्य और आदिम जातियाँ बसती हैं और अपनी-अपनी बोलियाँ बोलती हैं, परन्तु अशिक्षित होने के कारण वे अपना व्याकरण नहीं बना पातीं। कभी-कभी कुछ शिक्षित और सभ्य लोग उनके समाज में जाकर बहुत दिनों तक रहते और उनकी बोली सीखकर उसका व्याकरण बनाते हैं। परन्तु ऐसा व्याकरण वह बोली बोलनेवाले आदिम और असभ्य लोगों के लिए तब तक उपयोगी नहीं होता जब तक वे शिक्षित और सभ्य नहीं हो जाते। इधर बहुत दिनों से व्याकरण का दो ही क्षेत्रों में विशेष रूप से उपयोग होता था। एक तो अपनी भाषा का शुद्ध प्रयोग करने में; और दूसरा, परकीय भाषा अच्छी तरह सीखने और उसका शुद्ध रूप जानने में। परन्तु इधर कुछ दिनों से व्याकरण का एक नया और तीसरा उपयोग भी होने लगा है; और वह है–अशिक्षितों को शिक्षित बनाना और असभ्यों को सभ्यता की ओर प्रवृत करना।

व्याकरण भी और भाषा-सम्बन्धी दूसरे शास्त्र भी तभी बनते हैं जब भाषा बहुत कुछ उन्नत तथा प्रौढ़ हो चुकती है और उसमें उत्कृष्ट साहित्य की रचना यथेष्ट मात्रा में होने लगती है। भारत में इस क्रम का आरम्भ वैदिक युग में ही हो गया था। हमारे यहाँ चारों वेद और उनके उपवेद तो बने ही; छः वेदांग भी बने, जिनके नाम इस प्रकार हैं–शिक्षा, कल्प, व्याकरण, निरुक्त, ज्योतिष और छन्द। इनमें से कल्प और ज्योतिष को छोड़कर शेष चार वेदांग भाषा, शब्दों और साहित्य से ही सम्बद्ध हैं। व्याकरण की चर्चा हम ऊपर कर ही चुके हैं, छन्द-शास्त्र में छन्दों के प्रकार और उनकी रचना के नियमों

का विवेचन होता है। निरुक्त वह शास्त्र है जिसमें शब्दों के मूल रूप अर्थात् व्युत्पत्ति के विचार के साथ-साथ इस बात का भी विवेचन होता है कि शब्दों के विकारी रूप किन-किन आधारों पर और किस प्रकार बनते हैं। इसी लिए प्राचीन काल में हमारे यहाँ निरुक्त को भी और व्याकरण को भी शब्द-शास्त्र कहते थे।

वैदिक युग के उपरान्त जब संस्कृत भाषा का प्रचार बहुत बढ़ गया और उसमें अनेक प्रकार के विषयों के बहुत से और अच्छे-अच्छे ग्रन्थ बनने लगे तब तत्कालीन सभी प्रकार की साहित्यिक रचनाओं के विचार से बहुत कुछ नये तात्त्विक विवेचन होने लगे। उस समय तक निरुक्त का अध्ययन और विवेचन तो समाप्त सा हो चला था, पर छंद-शास्त्र का इसलिए विशेष रूप से विकास हुआ कि हमारे यहाँ अधिकतर साहित्यिक रचनाएँ पद्यात्मक ही होती थीं। तो भी कथानकों, नाटकों आदि में गद्य का प्रयोग तो होता ही था। अतः इन दोनों प्रकार की साहित्यिक रचनाओं के आधार पर हमारे यहाँ काव्य-शास्त्र बना जिसमें भाषा और विषय दोनों की दृष्टि से गद्य और पद्य, सभी प्रकार की रचनाओं के गुण-दोषों का भी विवेचन हुआ, और उनके प्रकार, भेद, स्वरूप आदि भी निरूपित हुए। व्याकरण उन दिनों एक अलग शास्त्र ही माना जाने लगा था; अतः उसे छोड़कर काव्य-शास्त्र का जो नया विकसित रूप प्रस्तुत हुआ था, वह साहित्य-शास्त्र कहलाने लगा था।

इससे भी और आगे बढ़ने पर काव्य की रीतियों का भी विवेचन होने लगा। काव्य-रचना के सभी प्रकार के गुणों और दोषों का विवेचन करते हुए कुछ विशिष्ट प्रकार की रीतियों का भी निरूपण हुआ और रीतियाँ ही काव्य की आत्मा के रूप में मानी जाने लगीं। ये रीतियाँ मुख्यतः पदों और वाक्यांशों के रचना-प्रकार पर आश्रित थीं। हमारे यहाँ गौड़ी, पांचाली, लाटी, वैदर्भी आदि जो रीतियाँ कही गई हैं वे वाक्य-रचना के स्थानिक प्रकारों और रूपों पर ही आश्रित हैं। साहित्यिक दृष्टि से हम इन्हें भाषा की प्रादेशिक या स्थानिक शैलियाँ ही कह सकते हैं। काव्यों के जो गुण, भेद, लक्षण आदि निरूपित हुए थे उनकी गणना भी रीतियों में ही होने लगी थी।

संस्कृत, प्राकृतों और अपभ्रंशों के उपरान्त जब देश-भाषा हिन्दी का आरम्भ हुआ तब रीतियों में भी कुछ और परिवर्तन तथा विकास हुआ। प्राचीन साहित्य-शास्त्र में अलंकारों, रसों आदि का भी बहुत अच्छा और प्रायः सर्वाङ्गपूर्ण विवेचन हो ही चुका था। अतः हिन्दी में उन्हीं सब लक्षणों और विवेचनों को आधार मान कर काव्यों की रचना होने लगी, और कुछ अवस्थाओं में लोग अलंकारों, रसों आदि के विवेचन में और आगे भी बढ़े। हिन्दी के जिस युग में इस प्रकार के विवेचन हुए और उन विवेचनों के आधार पर काव्यों की रचना हुई वह हमारे यहाँ रीतिकाल के नाम से प्रसिद्ध है। यह काल 16वीं शताब्दी के मध्य से 19वीं शताब्दी के मध्य तक माना जाता है। इस काल में कवियों को प्रायः राजा-महाराजाओं और धनी-मानी व्यक्तियों के आश्रय में ही और उनके मुखापेक्षी बनकर रहना पड़ता था; और उनके परितोष तथा मनोरंजन के लिए शृङ्गारिक विषयों की ही रचनाएँ प्रस्तुत करनी पड़ती थीं। परन्तु अब इस युग का भी अन्त हो चुका है; और हम लोग भाषा तथा साहित्य पर कुछ नई दृष्टियों से विचार करने लगे हैं

और ये नई दृष्टियाँ बहुत कुछ पाश्चात्य साहित्य की देन हैं।

पाश्चात्य शिक्षा और साहित्य के सम्पर्क से भाषिक और साहित्यिक दोनों क्षेत्रों में अध्ययन और मनन से हमें अनेक नये प्रकार और नई विचार-शैलियाँ प्राप्त हुई हैं। साहित्यिक शैलियों का विवेचन तो हमारे प्रस्तुत क्षेत्र से बाहर का है; परन्तु भाषिक दृष्टि से हमें जो नई उपलब्धियाँ हुई हैं या होने लगी हैं उनकी चर्चा तो हम आगे चलकर करेंगे; परन्तु उससे पहले अपने यहाँ की भाषिक और शाब्दी उपलब्धियों की कुछ बातें बतला देना इसलिए आवश्यक है कि आधुनिक पाश्चात्य विद्वानों ने उनसे बहुत कुछ लाभ भी उठाया है; और कुछ अवस्थाओं में वे उनसे और आगे बढ़ने के लिए भी प्रयत्नशील हैं।

हमारे यहाँ के प्राचीन वैयाकरणों और शिक्षा-शास्त्रियों ने भाषा और शब्दों के सिवा अक्षरों या वर्णों और उन्हें उत्पन्न करनेवाली ध्वनियों और उनके उच्चारणों के सम्बन्ध में बहुत ही गम्भीर अन्वेषण और मार्मिक विवेचन किये थे। ध्वनियों और उनके उच्चारणों के अन्तरों अथवा भेदों की ओर हमारे यहाँ के विचारवानों का ध्यान वैदिक काल में ही गया था। उन्होंने देखा था कि वेदों की भिन्न-भिन्न शाखाओं के अध्यायी और अनुयायी भी मंत्रों के भिन्न-भिन्न प्रकार के उच्चारण करते हैं और स्थान-भेद से भी उनके उच्चारणों में अन्तर होता है। इस प्रकार के अन्तरों और भेदों का निरूपण प्रातिशाख्यों में किया गया था। कुछ अवस्थाओं में किसी शब्द के उच्चारण के समय उसके किसी विशिष्ट अक्षर पर कुछ जोर देना पड़ता है। इसके सिवा हम यह भी देखते हैं कि किसी वाक्य के एक शब्द पर जोर देने से कोई और अर्थ निकलता है। शब्दों के अक्षरों और वाक्यों के शब्दों पर दिया जानेवाला इस प्रकार का जोर बलाघात या स्वराघात कहलाता है। पाणिनी के व्याकरण में इस प्रकार के बलाघातों या स्वराघातों का भी पूरा-पूरा विचार किया गया है। आधुनिक भाषाविज्ञान में जिस ध्वनि-शास्त्र का इतने विस्तार से विवेचन देखने में आता है उसकी बहुत सी बातों पर बहुत अधिक विचार हजारों वर्ष पहले हमारे यहाँ शिक्षा और व्याकरण में हो चुका था; और भाषा-शास्त्र के आधुनिक विद्वान् उन्हीं के आधार पर और आगे बढ़ने का प्रयत्न कर रहे हैं। ये सारे विवेचन हमारे यहाँ के व्याकरणों और शिक्षा-शास्त्र में देखे जा सकते हैं। व्याकरण सम्बन्धी थोड़ी बहुत बातें तो प्रायः सभी लोग जानते हैं; परन्तु शिक्षा-शास्त्र बहुत कुछ लुप्त सा होता जा रहा हैं। उसमें अन्यान्य अनेक बातों के सिवा विस्तारपूर्वक यह बतलाया गया था कि ध्वनियों और वर्णों के उच्चारण के समय उनके आरम्भ या उद्‌भव से लेकर श्रवण के योग्य बनने तक शरीर के अन्दर और बाहर कितने प्रकार की आंगिक क्रियाएँ और चेष्टाएं होती हैं। इन सभी क्रियाओं और चेष्टाओं को सामूहिक रूप से 'प्रयत्न' कहा गया है, और इसके आभ्यन्तर तथा बाह्य, ये दो भेद किये गये हैं। आभ्यन्तर प्रयत्न पाँच प्रकार के कहे गये हैं–स्पृष्ट, ईषत् स्पृष्ट, विवृत, ईषत् विवृत और संवृत। बाह्य प्रयत्न ग्यारह कहे गये हैं जिनके नाम हैं–विवार, संवार, श्वास, नाद, घोष, अघोष, अल्प-प्राण, महा-प्राण, उदात्त, अनुदात्त, और स्वरित। ये सब प्रयत्न इस बात के सूचक हैं कि ध्वनियों या वर्णों के उच्चारण का कार्य हमारी स्वर-नलिका में कहाँ और कैसे आरम्भ होता है और आगे चलकर कब और कहाँ हमारे गले, जीभ, तालू, दाँतों और

होंठों के सहयोग से उनका उच्चारण-कार्य सम्पन्न होता है। इसी आधार पर हमारे यहाँ वर्णों के ओष्ठ्य, कण्ठ्य, मूर्धन्य, तालव्य, दन्त्य कण्ठ-तालव्य, कण्ठ्योष्ठ्य, दन्त्य-ओष्ठ्य आदि भेद निरूपित हुए हैं। हमारे यहाँ इस बात का भी बहुत गम्भीर अन्वेषण हुआ था कि जब कुछ विशिष्ट स्वर और व्यञ्जन साथ-साथ आते हैं तब उनके सान्निध्य के फलस्वरूप उनके उच्चारणों में सुगमता लाने के लिए किस प्रकार की प्रवृत्तियाँ और वलन होते हैं, और तब संयुक्त शब्दों के उच्चारण आदि में कैसे परिवर्तन या विकार होते हैं। हमारे प्राचीन वैयाकरणों ने इस सम्बन्ध में जो नियम और सिद्धांत इस प्रकार स्थिर किये थे उनका विस्तृत विवेचन हमारे व्याकरणों के सन्धि-प्रकारण में मिलता है। इस प्रकार उच्चारण से सम्बन्ध रखनेवाली सभी बातों का विवेचन पराकाष्ठा तक पहुँचा दिया गया था। उस प्राचीन युग में जब कि भारतीय समाज ने किसी प्रकार की यांत्रिक उन्नति नहीं की थी, केवल चिन्तन और मनन के आधार पर इस प्रकार की खोज और जांच-पड़ताल कोई साधारण बात नहीं थी।

आधुनिक पाश्चात्य शब्द-शास्त्र

आज से हजारों वर्ष पहले भाषा, व्याकरण और साहित्य, तीनों के विचार से संस्कृत ने जितनी अधिक उन्नति की थी उतनी उस समय तक कदाचित् ही किसी अन्य भाषा ने की हो। अन्यान्य अनेक विषयों की तरह इस विषय में भी भारत आदि-गुरु माना जाता था। यही कारण था कि आज से डेढ़-दो सौ वर्ष पहले युरोप के अनेक अच्छे-अच्छे विद्वान् संस्कृत भाषा, व्याकरण और साहित्य के अध्ययन और मनन में प्रवृत्त हुए, और बहुतों ने अपना सारा जीवन लगाकर उसकी बहुत सी अच्छी-अच्छी बातें ढूँढ़ निकालीं। हमारे देश में तो संस्कृत का पठन-पाठन बहुत कुछ परिमित हो चला था परन्तु पाश्चात्य विद्वानों ने उसका गम्भीर और विचारपूर्ण अध्ययन करके देववाणी संस्कृत की भी और माता सरस्वती की भी बहुत बड़ी-बड़ी सेवाएँ कीं; और बहुत से लोगों को इस प्रकार के अध्ययन के लिए अनुरक्त किया। आज-कल हम जिसे भाषा-विज्ञान या भाषा-शास्त्र कहते हैं उसकी नींव पाश्चात्य विद्वानों के संस्कृत अध्ययन से ही पड़ी थी। इस अध्ययन के फलस्वरूप वे विद्वान् भाषा मात्र के अङ्गों और उपांगों का विवेचन करने लगे। वे लोग युरोप की यूनानी, रोमन तथा मध्य युरोप की कई पुरानी भाषाओं से तो परिचित होते ही थे; उनमें से कुछ लोग पश्चिमी एशिया की सभी भाषाओं के भी अच्छे ज्ञाता होते थे। इसलिए भाषा-विज्ञान के काम के लिए उन्होंने अनेक प्राचीन भाषाओं के पारस्परिक साम्य और वैषम्य के आधार पर भाषाओं के कुल, जातियाँ, परिवार और वर्ग भी निरूपित किए; और उनके प्रकार तथा भेद-विभेद भी निश्चित किए। प्राचीन-भाषाओं की खोज करते-करते तथा आगे बढ़ते-बढ़ते वे उस सीमा तक जा पहुँचे जहाँ मानव जाति ने बोलना आरम्भ किया था। इसके विपरीत मध्य युग तथा आधुनिक युग की ओर बढ़ते हुए उन्होंने इस बात का भी अध्ययन और विचार किया कि शब्द-रचना आदि की दृष्टि से भाषाएँ कितने प्रकार की हैं और किन-किन दिशाओं तथा किन-किन रूपों में वे विकसित तथा विस्तृत हुई हैं। उन्होंने उच्चारणों के तत्त्व तथा सिद्धान्त जानने के लिए मानव-कण्ठ के स्वर-यन्त्र का भी अध्ययन किया और यह भी पता लगाया कि कोई अर्थ,

आशय या भाव प्रकट करनेवाले सम-रूपी शब्द किन-किन भाषाओं में किस प्रकार या किस रूप में उच्चरित होते हैं। शब्दों के अर्थों, उच्चारणों, प्रयोगों तथा ऐसी ही और भी अनेक प्रकार की बातों का सांगोपांग विवेचन ही भाषा-विज्ञान का मुख्य क्षेत्र है। इन सब बातों के निरूपण में भाषा-विज्ञानियों को भाषा मात्र के विचार से भी सभी प्रकार के ऐतिहासिक, विकासात्मक, सांस्कृतिक, सामाजिक, साहित्यिक आदि तथ्यों और पक्षों का मन्थन करना पड़ा था। यह मन्थन अब भी बराबर चल रहा है और नये-नये तथ्यों का पता चल रहा है।

संस्कृत भाषा के गम्भीर अध्ययन के फलस्वरूप पहले तो पाश्चात्य विद्वानों ने साधारण भाषा-शास्त्र का सूत्रपात किया जो हमारे यहाँ भाषा-विज्ञान के नाम से प्रसिद्ध हुआ। इसके उपरांत उन्होंने अनेक प्राचीन तथा आधुनिक भाषाओं के मूल तत्त्वों का अध्ययन करके तुलनात्मक भाषाशास्त्र का विकास किया और बहुत सी नई बातें ढूँढ़ निकालीं। परन्तु उन्नति और प्रगति का क्रम यहीं तक पहुँचकर रुक नहीं गया बल्कि अब भी बराबर और आगे बढ़ता जा रहा है। इस शताब्दी में अनेक पाश्चात्य विद्वानों और विशेषतः अमेरिकन मनीषियों ने और भी बहुत से नये तत्त्व ढूँढ़ निकाले हैं और भाषा-शास्त्र का बिलकुल नये ढंग से अध्ययन करके उन्होंने अनेक नये मत और सिद्धांत स्थिर किये हैं। भाषा-शास्त्र के इस आधुनिकतम रूप का नाम वर्णनात्मक भाषा-विज्ञान पड़ा है। भाषा-शास्त्र और तुलनात्मक भाषा-शास्त्र से थोड़ी बहुत सम्बद्ध बातें तो अनेक भारतीय विश्वविद्यालयों की कृपा से हमारे यहाँ के कुछ उच्च विद्यार्थियों तक पहुचँ पाई हैं; परन्तु नवीन वर्णनात्मक भाषा-शास्त्र की चर्चा कुछ विशिष्ट प्रदेशों के बड़े-बड़े विद्वानों तक ही सीमित हैं। कारण यही है कि यह विषय व्याकरण से भी कहीं अधिक रूखा-सूखा है; और इसके जटिल विवेचन समझने के लिए लोगों को बहुत सिरपच्ची करनी पड़ती है। परन्तु सभी शास्त्रीय क्षेत्रों में गम्भीर और सूक्ष्म अध्ययन करना सब लोगों के बूते के बाहर है। तिस पर हिन्दी में तो अभी तक भाषा का ठीक और शुद्ध रूप भी पूरी तरह से स्थिर नहीं होने पाया है। हम जिस हिन्दी का सारे भारत में और अपने सभी कामों में पूरा-पूरा प्रचार करना चाहते हैं उसके सेवियों के लिए इस शास्त्र के नवीनतम रूप से अच्छी तरह परिचित होना परम आवश्यक हो जाता है। हिन्दी ही क्यों अन्यान्य सभी उन्नत और प्रगतिशील भाषाओं के सेवियों को इस क्षेत्र में मिलजुलकर अग्रसर होना चाहिए।

उन्नत और संस्कृत मस्तिष्कवाला मानव सदा विचारशील होता और प्रायः विचार-मग्न रहता है। उसकी इसी विचार-प्रवणता के फलस्वरूप उसके कार्य आगे बढ़ते-बढ़ते कला का रूप धारण करते हैं और उसके विचारणीय विषय विज्ञान या शास्त्र की सीमा में पहुँचते लगते हैं। आधुनिक वर्णनात्मक भाषा-शास्त्र भी अब वैज्ञानिक और व्यवस्थित पद्धति से आगे बढ़ता हुआ बहुत अधिक उन्नत हो गया है, और बराबर उन्नत होता जा रहा है। इस नवीन शास्त्र की जो हाल की अनेक महत्त्वपूर्ण उपलब्धियाँ हैं उनमें से कुछ का यहाँ संक्षिप्त परिचय करा देना आवश्यक जान पड़ता है।

पुराना भाषा-शास्त्र भी और परवर्ती तुलनात्मक भाषा-शास्त्र भी मुख्यतः लिखित

और साहित्यिक भाषाओं पर ही आश्रित था। परन्तु आज-कल वर्णनात्मक भाषा-शास्त्र का अनुशीलन करनेवाले विद्वान् ऐसी बोलियों का भी विस्तृत अध्ययन करते हैं जिनका कोई लिखित और साहित्यिक रूप नहीं होता। यह तो प्रायः सभी लोग जानते हैं कि स्थानिक बोलियाँ ही कुछ विशिष्ट परिस्थितियों में विकसित होकर लिखित और साहित्यिक रूप धारण कर लेती हैं। इसी लिए वर्तमान बहु-प्रचलित और साहित्यिक भाषाओं का पुराना इतिहास जानने के लिए आधुनिक भाषाविद् पुरानी और स्थानिक बोलियों का भी गम्भीर अध्ययन करने लगे हैं; और संसार की साहित्यिक भाषाओं का जो काल-क्रमिक और सुसम्बद्ध इतिहास प्रस्तुत हो चुका है उससे और पहले की स्थितियों का पता लगा रहे हैं। संसार के अनेक भागों में अब भी ऐसी बहुत सी असभ्य और जङ्गली जातियाँ बसती हैं जो लिखना-पढ़ना बिलकुल नहीं जानतीं। ऐसी जातियों की बोलियाँ लिपिबद्ध करके उनके सभी अङ्गों का अध्ययन और विवेचन करना भी वर्णनात्मक भाषाशास्त्र का अंग बन गया है। इससे भी बढ़कर एक बात और है। बहुत सी ऐसी पुरानी जङ्गली जातियाँ भी किसी समय इस संसार में थीं जिनका अब बिलकुल अन्त हो चुका है; उनकी बोलियाँ लिखी हुई तो क्या मिलतीं, कहीं सुनने में भी नहीं आतीं। ऐसी अनेक बोलियों के सम्बन्ध में जो थोड़े-बहुत साधन कहीं इधर-उधर मिलते हैं उन्हीं का उपयोग करके उन बोलियों का क्षेत्रीय और भौगोलिक स्वरूप ही नहीं बल्कि उद्‌गम तक ढूँढ़ निकालने का प्रयत्न हो रहा है। जिस प्रकार पुरातत्त्व, प्राणि-शास्त्र, भौमिकी आदि के अन्वेषक विद्वान हजारों-लाखों वर्ष पहले की बातों का पता लगाने में व्यस्त हैं, उसी प्रकार आधुनिक भाषाविद् भी आज से बीसियों हजार वर्ष पहले की बोलियों तक पहुँचने के प्रयत्न में लगे हैं। इस के लिए उन्होंने कुछ निश्चित क्रम, नियम और सीढ़ियाँ भी तैयार कर ली हैं; और वे उनका परीक्षण तथा संशोधन भी करते चलते हैं।

ध्वनि-विज्ञान

भाषा और शब्द दोनों का मूल मनुष्य के कंठ से निकलनेवाली ध्वनियाँ ही हैं। ध्वनियाँ तो पशु-पक्षियों के कंठों से भी निकलती हैं और उनके अनेक प्रकार के मनोभाव प्रकट करती हैं; परन्तु वे हमारे विवेच्य विषय के बाहर हैं। मनुष्य के कंठ से भी कुछ ध्वनियाँ इसी प्रकार की निकलती हैं; परन्तु वे भी भाषा और शब्द के क्षेत्र के बाहर की ही होती हैं। मनुष्य के कण्ठ से निकलनेवाली जिन ध्वनियों से शब्द, बोलियाँ और भाषाएँ बनती हैं उनका अध्ययन और विवेचन आरम्भ से ही भाषा-शास्त्र का मुख्य अङ्ग रहा है। शब्दों का ठीक और शुद्ध उच्चारण तभी हो सकता है जब इस प्रकार की ध्वनियों का पूरा-पूरा ज्ञान हो। विशेषतः परकीय और विदेशी बोलियों तथा भाषाओं का ज्ञान प्राप्त करने के लिए उनकी ध्वनियों की जानकारी होना भी अधिक आवश्यक होता है। इसी लिए अब ध्वनियों से सम्बन्ध रखनेवाला एक नया विज्ञान या शास्त्र ही बन गया है, जिसमें व्यावहारिक दृष्टि से और वैज्ञानिक आधार पर अनेक नये सिद्धान्त स्थिर होने लगे हैं।

यदि संसार भर की सभी बोलियों और भाषाओं का ध्यान रखा जाय तो कहा जा

सकता है कि मनुष्य के कंठ से निकलनेवाली सार्थक ध्वनियाँ सैकड़ों क्या, बल्कि हजारों की संख्या तक पहुँच जायेगी। क्षेत्रीय और भौगोलिक दृष्टि से भी ध्वनियों के बहुतेरे भेद और प्रभेद होते हैं और जातीय, वर्गीय, सांस्कृतिक, सामाजिक आदि दृष्टियों से भी। यहाँ तक कि कुछ अवस्थाओं में ध्वनि में परिवर्तन होने से ही किसी भाषा के शब्द, पद या वाक्य का अर्थ भी बहुत कुछ बदल जाता है। इसके सिवा ऐतिहासिक दृष्टि से भी इनके बहुत से भेद हो सकते हैं। कुछ पुरानी ध्वनियाँ धीरे-धीरे समय पाकर नष्ट भी हो जाती हैं; जैसे–वैदिककालीन और कभी-कभी बाहरी जातियों और बोलियों के सम्पर्क से नयी ध्वनियों का प्रचलन और प्रसार भी होने लगता है। दूर क्यों जायें, पंजाबी बोली में महाप्राण वर्णों का कुछ ऐसा विलक्षण उच्चारण होता है जिसका ठीक-ठीक अनुकरण भारत के अन्यान्य प्रान्तों के लोग नहीं कर पाते। असम प्रदेश की अनेक बोलियों में भी कुछ ऐसी ध्वनियाँ मिलती हैं। दक्षिण भारत की तमिल, तेलुगु, कन्नड़ आदि भाषाओं में भी अनेक ऐसी ध्वनियाँ प्रचलित हैं जिनमें से कुछ तो उत्तर भारतवालों ने ग्रहण कर ली हैं, पर कुछ ऐसी भी हैं जिन्हें और लोग ग्रहण नहीं कर पाते। मराठी में 'ल' के साधारण उच्चारण के सिवा एक और प्रकार का भी उच्चारण होता है जो इस प्रकार लिखा जाता है–ळ; और जिसे हम ल तथा ड़ का कुछ मिश्रित-सा रूप कह सकते हैं। इसका इसी से बहुत कुछ मिलता-जुलता ध्वनि-रूप उड़िया में भी प्रचलित है। अरब और फारस से आनेवाले मुसलमान ट, ड और ड़ का उच्चारण करना नहीं जानते थे। इसी लिए उन्हें उर्दू लिपि में टे, डाल, और ड़े की योजना करनी पड़ी थी और महाप्राण वर्णों का उच्चारण बतलाने के लिये दो-चश्मी है बनानी पड़ी थी। देवनागरी वर्णमाला के 'ज्ञ' वर्ण का भारत के भिन्न भिन्न भागों में चार-पांच प्रकार से उच्चारण होता है। हमारे यहाँ के तालव्य 'श' मूर्द्धन्य 'ष' के उच्चारणों का अन्तर बहुत कम लोग समझ पाते हैं। उर्दू लिपि के 'से', सीन, साद अथवा ज़ाल, ज़े, ज़ाद, ज़ोऽ के उच्चारणों में भले ही मूलतः कुछ अन्तर रहे हों, परन्तु आज-कल वे अन्तर जानने और समझनेवाले लोग कठिनता से ही कहीं मिलेंगे। आधुनिक वर्णनात्मक भाषा-शास्त्र में ध्वनियों के ऐसे ही संसार-व्यापी भेद-प्रभेदों का संकलन करके उनका अच्छी तरह अध्ययन किया जाता है और वैज्ञानिक ढंग से उनका वर्गीकरण तथा विश्लेषण होता है।

पाश्चात्य भाषा-शास्त्र में ध्वनियों का अध्ययन हमारे यहाँ के शिक्षा-शास्त्र और व्याकरण में आये हुए आभ्यंतर और बाह्य प्रयत्नों के विवेचन से ही आरम्भ हुआ था। उन विवेचनों की शुद्धता का परीक्षण करने के लिए पहले तो ग्रामोफोन के रेकार्डों आदि से ही सहायता ली जाती थी; परन्तु आज-कल के भाषा-शास्त्रियों को वे पुराने विवेचन कई दृष्टियों से कुछ अधूरे जान पड़ने लगे और बहुत-सी नई बातें सामने आने पर अब वे उनमें बहुत कुछ विस्तार और संशोधन करने के प्रयत्न में लगे हुए हैं। हमारे यहाँ के पुराने विवेचन तो भारतीय आर्यों की वैदिक और संस्कृत भाषाओं के वर्णों पर ही आश्रित थे, परन्तु आज जब संसार भर की बोलियों और भाषाओं की ध्वनियों का अध्ययन तथा विश्लेषण होने लगा है तब नये उपाय और नये साधन भी काम में लाये जाने लगे हैं। आज-कल पाश्चात्य देशों में कई तरह के ऐसे छोटे-बड़े नये यन्त्र भी बन गये हैं जो केवल ध्वनियों के अध्ययन और अनुशीलन में ही प्रयुक्त होते हैं। ऐसे यन्त्रों की सहायता

से वे लोग यह पता लगा रहे हैं कि नयी-नयी ध्वनियों के उच्चारण के समय और कितने नये प्रकार के आभ्यंतर तथा बाह्य प्रयत्न होते हैं। जहाँ जल्दी में उच्चारित की हुई ध्वनियाँ स्पष्ट रूप से समझ में नहीं आती वहाँ यांत्रिक क्रियाओं से उनका वितरण करके वर्गीकरण और विश्लेषण किया जाता है। हमारे यहाँ के संगीत शास्त्र से सातों स्वरों और 22 श्रुतियों के कम्पन और लम्बाई या विस्तार की नाप-जोख तो बहुत पहले से भी भौतिक विज्ञान में हो ही चुकी है; परन्तु अब कंठ से निकलनेवाली छोटी से छोटी ध्वनियों का भी कम्पमान तथा विस्तार निश्चित होने लगा है। इस प्रकार के अन्वेषणों के आधार पर जो बहुत बड़ी सामग्री अब तक प्रस्तुत हो चुकी है, उसी ने इसे विशिष्ट विज्ञान का रूप दे दिया है।

ध्वनि-ग्राम

आधुनिक ध्वनि-विज्ञान की एक बहुत बड़ी और महत्त्वपूर्ण उपलब्धि है—ध्वनि-ग्राम। यों तो प्रायः सभी भाषाएँ बोलनेवाले अपनी लिपियों के लिए अपनी ध्वनियों के सूचक अक्षर या वर्ण बना लेते हैं; और उनसे अपना काम चलाते हैं; परन्तु आधुनिक ध्वनि-विज्ञान-वेत्ता ध्वनियों के ऐसे निरूपण से सन्तुष्ट नहीं हुए; और उन्होंने ध्वनियों के सूक्ष्मातिसूक्ष्म अंगों, तत्त्वों ओर भेदों का बहुत ही गम्भीर विवेचन आरम्भ कर दिया। जिस प्रकार हमारे यहाँ के प्राचीन शास्त्रीय संगीतज्ञ स्वरों के सात प्रकार या भेद निश्चित करके ही सन्तुष्ट नहीं हो गये थे; बल्कि और आगे बढ़कर उन्होंने पाँच स्वरों के कोमल और तीव्र रूप भी ढूँढ़ निकाले थे; और प्रत्येक स्वर का बहुत ही सूक्ष्म विश्लेषण करके प्रत्येक स्वर को कई-कई श्रुतियों में विभक्त किया था; उसी तरह आधुनिक ध्वनि-विज्ञानी ध्वनियों के विश्लेषण, विभाजन और वर्गीकरण में लगे हैं। अब तक ध्वनियों का जो निरूपण हुआ था वह कानों या श्रवणेन्द्रियों पर ही आश्रित था। परन्तु और अधिक गहराई तक पहुँचने के लिए उन्हें अनेक आधुनिक विज्ञानों से सहायता लेकर अनेक ऐसे नये यन्त्र बनाने पड़े जो ध्वनियों के सूक्ष्मतम प्रकार और भेद स्पष्ट करने लगे हैं। उन्होंने बहुत कुछ जाँच-पड़ताल करके यह स्थिर किया है कि प्रत्येक ध्वनि कई छोटी-छोटी ध्वनियों के योग से बनती है; और भिन्न-भिन्न शब्दों के उच्चारण करते समय एक ही ध्वनि में अनेक सूक्ष्म अन्तर और भेद होते रहते हैं; और भिन्न-भिन्न शब्दों के उच्चारण में एक ही ध्वनि कई प्रकार के विकृत रूप धारण करती है। उन्होंने यह भी पता लगाया है कि एक ही ध्वनि के भिन्न-भिन्न अंग किन परिस्थितियों में और किन रूपों में किस प्रकार वलित तथा निरूपित होते रहते हैं।* इसी लिए अब वे किसी ध्वनि

---

*हमारे यहाँ के प्राचीन वैयाकरणों ने भी इस तरह की बातों का बहुत कुछ अनुसन्धान करके शब्दों की सन्धियों के प्रकार और रूप निर्धारित किये थे, यथा—उत्+ज्वल=उज्ज्वल; उत्+शृंखल=उच्छृंखल; जगत्+नाथ=जगन्नाथ आदि आदि। हमारे प्राचीन वैयाकरणों ने अक्षरों के विचार से शब्दों के जो आर्त्त, कर्म्म, गर्ज्जन, मूर्द्धा, सूर्य्य आदि रूप स्थिर किये थे वे सर्वथा सहेतुक थे, और ध्वनियों के उच्चारण-भेद पर ही आश्रित थे। वस्तुतः कर्म्म, धर्म्म आदि और कर्म, धर्म आदि के उच्चारण में 'म' बिलकुल एक से नहीं होते बल्कि एक दूसरे से कुछ भिन्न प्रकार के होते हैं। फिर भी जन-साधारण के सुभीते के विचार से उन्होंने विकल्प की भी व्यवस्था कर दी थी, और कह दिया था कि आर्त, कर्म, गर्जन, मूर्धा, सूर्य आदि रूप भी लिखे जा सकते हैं।

को एक स्वतंत्र इकाई न मानकर कई-कई छोटी ध्वनियों का सामूहिक रूप मानते हैं और ध्वनि के इसी समूहिक रूप को ध्वनि-ग्राम कहते हैं।

अब हम एक-दो उदाहरण देकर ध्वनि-ग्राम का स्वरूप स्पष्ट करना चाहते हैं। 'कंहार' शब्द ब्रज में भी बोला जाता है, और बुन्देलखन्ड में भी, पूर्वी उत्तर प्रदेश में भी बोला जाता है, और बिहार में भी। परन्तु यदि आप इन चारों क्षेत्रों के लोगों के उच्चारण अच्छी तरह और ध्यानपूर्वक सुनें तो उन उच्चारणों में कुछ न कुछ अन्तर मिल ही जाएगा। ये अन्तर 'कंहार' शब्द के अलग-अलग अक्षरों या वर्णों पर होने वाले स्वराघातों के कारण तो होते ही हैं, उन अक्षरों या वर्णों के ध्वनि-ग्रामों में होनेवाली थोड़ी बहुत विभिन्नताओं के कारण भी होते हैं। ध्वनिग्राम के विद्वानों का मत है कि 'कनक' के उच्चारण के समय पहले 'क' के ध्वनि-ग्राम से अन्तिम 'क' का ध्वनिग्राम कुछ भिन्न प्रकार का होता है। इसी प्रकार 'मनन' के उच्चारण में दोनों 'न' और 'ममता' के उच्चारण में दोनों 'म' कुछ अलग-अलग प्रकार से उच्चरित होते हैं। यही नहीं, उनका तो यहाँ तक मत है कि यदि एक ही व्यक्ति एक ही शब्द का कई बार या कई प्रसंगों में अलग-अलग उच्चारण करे तो उस शब्द प्रकार के अक्षर या वर्ण अलग-अलग प्रकार के ध्वनि-ग्रामों से युक्त होंगे।

एक बात और है। ध्वनि-विज्ञान में तो संसार भर की सभी बोलियों और भाषाओं की ध्वनियों का साधारणीकरण के आधार पर सामूहिक रूप से विचार होता है। परन्तु ध्वनि-ग्राम हर बोली और हर भाषा में कुछ अलग प्रकार के और स्वतन्त्र हुआ करते हैं। अतः हर बोली या भाषा के ध्वनि-ग्रामों का अध्ययन तथा विवेचन अलग-अलग होता है। इसमें यह देखा जाता हैं कि किसी भाषा के शब्दों के उच्चारण में ध्वनियों का वितरण किस प्रकार होता है और उनके विभेदों के कारण अर्थों में किस प्रकार के अन्तर उत्पन्न होते हैं। ध्वनि-ग्रामों का अन्तर उसी दशा में माना जाता है जब ध्वनियों के उच्चारण-भेद से शब्दों के अर्थों का अन्तर स्पष्ट रूप से सूचित होता हो। तात्पर्य यह कि अर्थ-सम्बन्धी अन्तर ही ध्वनि-ग्रामों का निरूपण करता है। यदि सुनाई पड़नेवाली ध्वनियों से अर्थ में कोई अन्तर न आता हो तो वे ध्वनियाँ एक ही ध्वनि-ग्राम का अङ्ग मानी जाएँगी। उदाहरणार्थ कोई 'यमुना' कहता है, और कोई 'जमुना', कोई 'सरयू' कहता है और कोई 'सरजू'। यद्यपि 'य' और 'ज' स्पष्ट रूप से दो अलग-अलग ध्वनियाँ हैं, फिर भी उक्त उदाहरणों में अर्थ का कोई अन्तर नहीं है। इसलिए ऐसे परिवेश में 'य' और 'ज' दोनों एक ही ध्वनि के दो रूप माने जाएँगे। इस प्रकार की ध्वनियों को पारिभाषिक दृष्टि से सह-ध्वनि कहते हैं।

अर्थ और कंठ-स्वर

यहाँ हम पदों और वाक्यों के आर्थी अन्तरों के भेदों के सम्बन्ध में भी एक बात बतला देना चाहते हैं। गद्य और पद्य दोनों में श्लेष का प्रयोग तो होता ही है; और साहित्य में काकु अलंकार से जो विपरीत अर्थ निकलता है, उसका आधार भी कंठ-स्वर ही होता है। परन्तु यदि इन दोनों स्थितियों को अलग छोड़ दें तो हम देखते हैं कि कुछ अवसरों पर एक ही पद या वाक्य के एक से अधिक अर्थ अथवा आशय निकलते हैं।

उनके ये अन्तर भी कभी तो हमारे कंठ-स्वर से सूचित होते; और कभी परिस्थितियों से। उदाहरण के लिए लीजिए : राम-राम। भक्त लोग जप और भजन के समय 'राम-राम' कहते हैं। दो परिचित या मित्र भेंट होने पर अभिवादन के रूप में भी 'राम-राम' कहते हैं। फिर बहुत अधिक भय या संकट सामने देखकर डर के मारे भी लोग 'राम-राम' कहते हैं। और जब हमारे सामने कोई बहुत ही अनुचित या घृणित बात होती है तब उसके प्रति अपनी उपेक्षा या विरक्ति प्रकट करने के लिए भी हम 'राम-राम' कहते हैं। अपने मन का आशय या भाव प्रकट करने की दृष्टि से उक्त पद के प्रयोग में दिखाई देनेवाले ये अन्तर भले ही हमें विशेष महत्त्व के न जान पड़ें फिर भी ध्यान में रखने योग्य अवश्य हैं।

जब हमसे पूछा जाता है कि आप भी वहाँ चलेंगे न ? तो हम कहते हैं–जी हाँ, क्यों नहीं ! ऐसे अवसरों पर यह वाक्य हमारा दृढ़ निश्चय सूचित करता है। परन्तु यदि किसी अच्छे काम के विरोधियों की चर्चा होती हो और कोई हम पर आक्षेप या व्यंग्य करने के लिए कहे–'आप भी तो उन्हीं लोगों के समर्थकों में हैं' तो भी हम अपना प्रतिरोध और रोष प्रकट करने के लिए कह बैठते हैं–जी हाँ, क्यों नहीं ! ऐसे अवसरों पर यही वाक्य पूर्णतः प्रतिगदात्मक हो जाता है। उक्त दोनों अवसरों पर हमारा कण्ठ-स्वर ही यह सूचित करता है कि हमारा वास्तविक आशय या उद्देश्य क्या है। फिर अलङ्कार शास्त्र में एक काकु अलङ्कार भी होता है। यह अलङ्कार वहाँ माना जाता है जहाँ हमारे कण्ठ-स्वर के आधार पर ही हमारी कही हुई बात का बिलकुल विपरीत अर्थ निकलता है; जैसे–यदि हम कहें कि क्या वह इतने पर भी नहीं मानेगा ? तो इसका यही आशय लिया जायगा कि वह अवश्य मानेगा। यदि हम किसी पर व्यंग्य करते हुए कहें–'अजी उनका क्या कहना है। वह बहुत बड़े पण्डित ठहरे।' तो इसका आशय भी यही माना जायगा कि उसमें या तो पांडित्य है ही नहीं और यदि हो भी तो बहुत थोड़ा या नाम मात्र का। यदि हम कहें–'उसने अपने पड़ोसी के घर में आग लगा दी' तो यहाँ 'आग लगाने का' साधारण शब्दार्थ ही लिया जायेगा। परन्तु यदि हम कहें–'यह सारी आग तुम्हारी ही लगायी हुई है' तो यहाँ 'आग लगाना' का मुहावरे वाला तत्त्व काम करेगा और आशय होगा–यह सारा झगड़ा या लड़ाई तुम्हारी ही खड़ी की हुई है।

साधारण बोल-चाल के अवसरों पर भी कण्ठ-स्वर ही किसी शब्द पर अधिक, किसी पर साधारण और किसी पर कम जोर देता है। यह बात अधिक स्पष्ट रूप से समझने के लिए नीचे के वाक्य देखिए :–

(क) यह मेरी पुस्तक है।
(ख) यह पुस्तक मेरी है।
(ग) मेरी पुस्तक यह है।

उक्त तीनों प्रसंगों में अलग-अलग शब्दों के अर्थों का अन्तर हमारे कण्ठ-स्वर अथवा साधारण स्वराघातों से तो स्पष्ट हो ही जाता है, परन्तु ध्वनि-विज्ञानियों का मत है कि ऐसे अवसरों पर इनके ध्वनि-ग्रामों में भी कई प्रकार के सूक्ष्म अन्तर होते हैं।

शब्दीय व्याकरण

'हिन्दी शब्द सागर' का संपादन करते समय पहले तो कुछ दिनों तक हम लोग यही समझा करते थे कि जो कुछ काम हम लोग कर चुके हैं या कर रहे हैं, वही बिलकुल ठीक और हर तरह से पूरा है; परन्तु कुछ और आगे बढ़ने पर हम लोगों को अपने अधूरेपन और त्रुटियों का भान होने लग गया था। इस सम्बन्ध में स्वर्गीय पंडित रामचन्द्र शुक्ल से प्रायः मेरी बातें हुआ करती थीं जिनमें स्वर्गीय पंडित केशवप्रसाद मिश्र का बहुमूल्य सहयोग भी हुआ करता था। उक्त दोनों विद्वान् मित्रों के निधन के उपरान्त इस प्रकार की चर्चा तो बन्द हो गई थी, परन्तु अपनी कृति की त्रुटियों और दोषों की खटक मेरे मन में घर कर बैठी थी। मेरे लिए परिस्थितियाँ भी बराबर विकट बनी रहती थीं, और सहायकों तथा साधनों का भी अभाव रहता था। तो भी 'प्रामाणिक हिन्दी कोश' और 'मानक हिन्दी कोश' के सम्पादन के समय भी तथा 'शब्द-साधना' और 'शब्दार्थ मीमांसा' के लेखन के समय भी, मैं यह निरन्तर अनुभव करता रहता था कि हमारे यहाँ शब्दों के विवेचन और संघटन में अभी बहुत कमी है, और यह कमी ऐसी है जिसे पूरा करने का निरन्तर प्रयत्न होता रहना चाहिए। हमारी भाषा ज्यों ज्यों आगे बढ़ती चलती है त्यों त्यों शब्दों के विवेचन का क्षेत्र भी बराबर विस्तृत होता चलता है। यदि हमें अपनी भाषा को सचमुच आगे बढ़ाना और उन्नत तथा सशक्त करना अभीष्ट हो, तो हमें शब्दों के सर्वांगपूर्ण विवेचन की ओर पूरा पूर ध्यान देना चाहिए।

यहाँ ये सब बातें लिखने की आवश्यकता एक विशेष कारण से उत्पन्न हुई है। इधर हाल में श्री हैर्लड ई० पामर नामक विद्वान की 'ए ग्रामर आफ इंगलिश वर्ड्स' (A Grammar of English Words) नामक पुस्तक देखने में आई। इस पुस्तक में यह बतलाया गया है कि शब्दों के साथ अर्थ-तत्त्व तो होता ही है; इसके सिवा व्याकरण का भी बहुत कुछ तत्त्व होता है। भाषा में जो क्रियाएँ, विशेषण और संज्ञाएँ जितनी ही अधिक प्रचलित होती हैं उनके साथ उतना ही अधिक व्याकरणिक तत्त्व भी लगा रहता है। अव्ययों और विभक्तियों के संयोग से यह तत्त्व और भी बढ़ जाता है। यही कारण है कि न तो किसी भाषा के व्याकरण ही और न शब्द-कोश ही अन्य भाषा-भाषियों को उस भाषा के ठीक-ठीक प्रयोग बतलाने और सिखाने में समर्थ होते हैं। शब्द-कोश तो शब्दों के अर्थ बतलाकर ही रह जाते हैं, और व्याकरण शब्द-भेदों, वाक्य-रचनाओं आदि के ऐसे पारिभाषिक विवेचनों के जंजाल में जा पहुँचता है जिसकी सब बातें न तो साधारण विद्यार्थियों के लिए सुबोध ही होती हैं और न रूचिकर ही। दूसरी मुख्य बात यह है कि किसी भाषा का व्याकरण उसके भाषियों के लिए ही अधिक उपयुक्त होता है, अन्य भाषा-भाषियों के लिए वह अच्छा मार्ग-दर्शक और सहायक सिद्ध नहीं होता। श्री पामर का मत है कि शब्द-कोश तो एक सिरे पर रहते हैं और व्याकरण दूसरे सिरे पर; और इन दोनों सिरों के बीच में जो विस्तृत क्षेत्र होता है वही वस्तुतः प्रयोग और व्यवहार का क्षेत्र होता है। अन्य भाषा-भाषियों को जब तक इस बीच वाले प्रायोगिक और व्यावहारिक क्षेत्र का पूर्ण ज्ञान न हो तब तक वे किसी भाषा का समुचित ज्ञान नहीं प्राप्त कर सकते। इसलिए किसी भाषा के नित्य काम में आनेवाले और बहु-प्रचलित शब्दों के अर्थों के साथ

व्याकरणिक तत्त्वों का विवेचन होना आवश्यक है। यदि हम अपनी भाषा के मुख्य-मुख्य शब्दों के अर्थ-विवेचन के समय बिना पारिभाषिक शब्दों की सहायता के उनके ठीक ठीक प्रयोग और व्यवहार उदाहरणों के सहित बतला सकें तो हम बहुत सहज में अन्य भाषा-भाषियों को अपनी भाषा सिखा सकते हैं।

यहां हम एक-दो छोटे-मोटे उदाहरण देकर यह विषय और अधिक स्पष्ट कर देना चाहते हैं। शब्द-कोशों में 'कभी' का अर्थ बतला दिया जाता है—किसी समय, और 'कहीं' का अर्थ बतला दिया जाता है—किसी स्थान पर। व्याकरण हमें बतला देता है कि ये दोनों शब्द अव्यय हैं। कोश और व्याकरण दोनों हमें बतला देते हैं कि 'का' षष्ठी विभक्ति का चिह्न और दो शब्दों के सम्बन्ध की सूचक विभक्ति है। अब जरा और आगे बढ़कर भाषा के व्यावहारिक क्षेत्र में आइए। हम कहते हैं—(क) हमारा उनका कभी का परिचय नहीं है; और (ख) वह तो कभी का आकर तुम्हारे आसरे बैठा है। उक्त दोनों वाक्यों में एक पद समान रूप से आया है; और वह है—कभी का। उक्त उदाहरणों में से पहले वाक्य में तो 'कभी का' का जो अर्थ है वह कोश और व्याकरण की सहायता से समझ में आ जाता है। अन्य भाषा-भाषी समझ लेता है कि इसका आशय है—किसी समय का परिचय नहीं है या पहले कभी परिचय नहीं हुआ था। परन्तु दूसरे वाक्य में जो 'कभी का' है उसका अर्थ छोटे-मोटे तथा साधारण शब्द-कोशों में नहीं मिलता। और इस अर्थ का विवेचन व्याकरण के क्षेत्र से भी बाहर है। **'शब्द सागर'** और **'मानक कोश'** में इस 'कभी का' का अर्थ अवश्य मिलता है—बहुत देर से या बहुत पहले से। फिर भी इसका प्रयोग स्पष्ट कर दिखलानेवाला कोई उदाहरण उनमें से किसी कोश में नहीं है, और जब तक उदाहरण देकर इसका अर्थ स्पष्ट न किया जाय तब तक अन्य भाषा-भाषियों के लिए उसका विशेष उपयोग नहीं है।

इसी प्रकार का एक और पद है—कहीं का। इसके भी दो प्रकार के प्रयोग होते हैं; यथा—(क) तुमने हमें कहीं का न छोड़ा, और (ख) पाजी या बदमाश कहीं का। दूसरे उदाहरण में 'कहीं का' पद का जो अर्थ या आशय है, एक तो उस तक पहुँचना ही बहुत कठिन है और यदि किसी प्रकार पहुँच हो भी जाय तो शब्दों में उसे स्पष्ट करके समझाना और भी अधिक कठिन है। हमारी समझ में ऐसे अवसरों पर 'कहीं का' अर्थ होगा—किसी ऐसे अज्ञात स्थान का जो परम उपेक्ष्य, नगण्य अथवा हीन हो। यह ठीक है कि **'शब्द सागर'** और **'मानक कोश'** में इस प्रकार के बहुत से शब्दों और उनके प्रयोगों का विवेचन हुआ है, पर वह विवेचन कभी पूरा और व्यापक नहीं माना जा सकता। शब्दों के विवेचन की इसी प्रकार की त्रुटियाँ दूर करने का जो थोड़ा बहुत प्रयत्न 'मानक कोश' में मैंने किया है उससे मैं अभी सन्तुष्ट नहीं हूं, और इसी लिए मैं चाहता हूं कि हिन्दी के यथेष्ट प्रचार के लिए शब्दों के ऐसे सूक्ष्म अर्थ-भेदों और अर्थ-विवेचनों के काम की ओर भी पूरा-पूरा ध्यान दिया जाय। इसके बिना हमारा भाषा-प्रचार और साहित्यिक उन्नति दोनों अधूरे ही रहेंगे।

सबसे पहले पंडित कामता प्रसाद गुरु ने अपने **'हिन्दी व्याकरण'** में कुछ अव्ययों आदि के सम्बन्ध में यह बतलाने का प्रयत्न किया था कि वे किन-किन प्रसंगों में और

किन-किन अर्थों में प्रयुक्त होते हैं। वह मानो इस कार्य का श्रीगणेश मात्र था। इसके बाद **'हिन्दी शब्द सागर'** में प्रायः सभी प्रकार के शब्दों का इस दृष्टि से विस्तृत विवेचन किया गया जिससे विद्यार्थी उनके प्रयोगों के प्रकार और स्वरूप अच्छी तरह समझ सकें। परन्तु वह भी प्रारम्भिक कार्य था। इसके उपरान्त **'मानक हिन्दी कोश'** में बहुत सी पुरानी त्रुटियां दूर करने और प्रायोगिक विवेचन को विस्तृत करने और उदाहरणों आदि की सहायता से सुबोध बनाने का प्रयत्न किया था। परन्तु समय और साधन दोनों की कमी के कारण बहुत से ऐसे काम छूट गये थे जिन्हें मैं आवश्यक समझकर पूरा करना चाहता था। यद्यपि उक्त कोशों में सभी प्रकार के शब्दों के विवेचन का बहुत काम हो चुका है, लेकिन जो कुछ हुआ है उसकी तुलना में भी बहुत अधिक काम होने की आवश्यकता है।

हमें यह भी ध्यान रखना चाहिए कि हिन्दी के सभी आरम्भिक और नये विद्यार्थियों की पहुंच उक्त कोशों तक नहीं हो सकती। अतः हिन्दी के समुचित प्रचार के लिए यह आवश्यक है कि हिन्दी के सभी प्रकार के बहुत-प्रचलित चार-पांच हज़ार शब्द चुन लिये जायें और इस रूप में उनका विवेचन हो कि नये विद्यार्थी उनके शुद्ध प्रयोग समझ और सीख सकें। आधुनिक गद्य हिन्दी में अंग्रेज़ी की तुलना में क्रियाएं बहुत ही थोड़ी हैं। पुरानी हिन्दी में संज्ञाओं से बननेवाली जो बहुत सी क्रियाएं प्रचलित थीं वे या तो प्रायः मर चुकी हैं या मरती जा रही हैं। इसलिए आज-कल की हिन्दी में प्रायः संज्ञाओं के साथ कुछ बची-खुची क्रियाएं लगाकर ही अनेक प्रकार के भाव या विचार प्रगट किये जाते हैं। अतः प्रयोग की दृष्टि से क्रियाओं का महत्व बहुत बढ़ता जा रहा है, और इसी अनुपात से क्रियाओं के प्रयोगों में भूलें भी बढ़ती जा रही हैं। क्रियाओं की विस्तृत व्याख्याएं होनी चाहिए और यथेष्ट उदाहरण देकर उनके प्रयोगों के प्रकार स्पष्ट किये जाने चाहिए।

हमें यह भी जानना चाहिए कि छोटे से छोटे शब्द भी अनेक प्रकार के अर्थों के भण्डार होते हैं। उन भण्डारों के द्वार खोलकर हमें अच्छी तरह देखना चाहिए कि उनमें कैसे-कैसे अर्थ-रत्न भरे पड़े हैं; और उन अर्थ-रत्नों से नये विद्यार्थियों को परिचित कराना चाहिए। यह काम हिन्दी पाठकों के लिए भी और भावी लेखकों के लिए भी बहुत उपयोगी सिद्ध होगा। हमारे महाविद्यालयों और हिन्दी विश्वविद्यालयों के हिन्दी विभाग के अध्यापकों और प्राध्यापकों को इस ओर विशेष ध्यान देना चाहिए। उन्हें अपनी भाषा और उसके शब्दों पर नयी दृष्टि से विचार करना चाहिए और विद्यार्थियों को भी इस ओर प्रवृत्त करना चाहिए। भाषा और शब्दों के क्षेत्र में अनेक ऐसे अंग और विभाग हैं जिनके सम्बन्ध में बहुत अधिक शोध-कार्य करने की बहुत बड़ी आवश्यकता है। यदि स्नातकोत्तर विद्यार्थी ऐसे शोध-कार्य में लगाये जायें तो हिन्दी का बहुत बड़ा उपकार होगा। इस समय भाषिक दृष्टि से हिन्दी की उन्नति और संपुष्टि का यही सबसे बड़ा कार्य हमारे सामने है।

अर्थ-विज्ञान

भाषा और साहित्य का सारा ढांचा शब्दों के आधार पर खड़ा होता है; और शब्दों का आधार उनके अर्थ होते हैं। शब्द और अर्थ के इस स्वरूप का अध्ययन और विवेचन

बहुत दिनों से कई रूपों में होता आया है। परन्तु आज-कल का वैज्ञानिक मानव उन रूपों से सन्तुष्ट नहीं है; और अपने वैज्ञानिक दृष्टिकोण से उन्हें विज्ञान या शास्त्र का रूप देने में लगा है। आधुनिक भाषा-शास्त्र में इसीलिए अर्थ-विज्ञान की एक नयी शाखा निकलने और पनपने लगी है। यों तो मोटे तौर पर हम कह सकते हैं कि अर्थ-विज्ञान का बीजारोपण उसी समय हो चुका था जब मानव समाज में शब्द-कोशों की रचना आरम्भ हुई थी। भाषा जब तक बोलचाल में प्रचलित रहती थी तब तक तो लोग अभ्यास और प्रयोग के आधार पर ही शब्दों के अर्थ समझ लेते थे , पर जब कोई भाषा बहुत पुरानी हो जाती थी और बोल-चाल से बहुत दूर जा पड़ती थी, तब उसके शब्दों के अर्थ जानने के लिए लोगों को शब्द-कोशों की आवश्यकता प्रतीत होती थी, और साहित्यिक क्षेत्र में मानों यहीं से अर्थ-विज्ञान का आरम्भ हुआ था। परन्तु आधुनिक युग में इसने बहुत कुछ विशुद्ध वैज्ञानिक रूप धारण कर लिया है; और इस क्षेत्र में बहुत-सी ऐसी नयी बातें ढूंढ़ निकाली हैं जिनकी ओर प्राचीन विद्वानों का ध्यान नहीं गया था।

इस पुस्तक में साधारण पाठकों के लिए अर्थ-विज्ञान सम्बन्धी बहुत-सी मुख्य और स्थूल बातों का विवेचन किया गया है। यह सारा विवेचन अर्थ-विज्ञान का बाह्य स्वरूप स्पष्ट करने के लिए ही हुआ है। परन्तु आधुनिक उन्नत अर्थ-विज्ञान तथा भाषा-शास्त्र के विद्वानों ने जिन बहुत-सी नयी बातों का पता लगाया है उनका भी यहां संक्षेप में उल्लेख कर देना आवश्यक जान पड़ता है। आधुनिक अर्थ-विज्ञानियों और भाषाशास्त्रियों ने शब्दों और उनके अर्थों के सम्बन्ध में दो अलग-अलग पक्ष स्थिर किये हैं। पहला पक्ष तो वह है जो मानव मात्र की प्रकृति के कारण संसार भर की भाषाओं में समान रूप से देखने में आता है। सभी भाषाओं में आवश्यकतानुसार नये शब्द गढ़े और बनाये जाते हैं तथा दूसरों से लिये जाते हैं। उनमें समान रूप से आर्थी परिवर्तन और विकास होता है; नये अर्थ लगते और पुराने अर्थ छूटते हैं; नये शब्द बनते और पुराने शब्द छूटते हैं; शब्द-भंडार भी बराबर बढ़ता रहता है; और भावों तथा विचारों की अभिव्यक्ति के लिए आर्थी क्षेत्र का विकास भी होता रहता है। ये सब और इसी प्रकार की कुछ और ऐसी ही बातें प्रायः सभी भाषाओं में समान रूप से पायी जाती हैं। यही है अर्थ-विज्ञान और भाषा-शास्त्र का सार्वभौम रूप अथवा सार्विक पक्ष।

दूसरा पक्ष वह है जिसमें भिन्न-भिन्न जातियों और देशों की भाषा में अनेक ऐसे निजी गुण और विशेषताएं मिलती हैं जो अन्य भाषाओं से बहुत कुछ भिन्न तथा स्वतन्त्र होती हैं। अलग-अलग जातियों और देशों के लोग अपने शब्दों की रचना अलग-अलग प्रकार से करते हैं; अपने नये और मौलिक ढंग से उनमें उपसर्ग, प्रत्यय आदि लगाते हैं; अपने भाव या विचार अलग-अलग ढंग से व्यक्त करते हैं; और अलग-अलग ढंग से लाक्षणिक तथा व्यंग्यात्मक उद्‌भावनाएं अभिव्यक्त करते हैं। प्रत्येक भाषा का इस प्रकार का रूढ़िगत रूप अन्यान्य भाषाओं से बहुत कुछ भिन्न होता है। यही है शब्द और अर्थ का दूसरा पक्ष।

अर्थ-विज्ञानी और भाषा-शास्त्री उक्त सभी प्रकार की बातों का अलग-अलग भी और सामूहिक रूप से भी तात्त्विक तथा सैद्धान्तिक दृष्टि से अध्ययन और विवेचन करते

हैं; और तब उनसे नये-नये निष्कर्ष भी निकालते हैं। उन्हें यह भी देखना पड़ता है कि किसी भाषा के प्रवाह और विकास पर उसके भाषियों के धार्मिक, नैतिक आदि विचारों और विश्वासों की कितनी और कैसी छाप पड़ी है; और क्या-क्या ऐतिहासिक और राजनीतिक प्रभाव पड़े हैं; तथा सामाजिक जीवन के संघर्षों और सम्पर्कों ने उसे किस प्रकार ढाला, मोड़ा या वलित किया है। इस प्रकार वे लोग भाषाओं की उत्पत्ति और विकास पर प्रायः सभी दृष्टियों से विचार करके जो नये मत या सिद्धान्त स्थिर करते हैं उन्हीं का सामूहिक नाम भाषा-शास्त्र है; और शब्दार्थ सम्बन्धी उसकी शाखा अर्थ-विज्ञान कहलाती है। विद्वानों का मत है कि भाषा और शब्दों की ऐसी छानबीन से जातियों और देशों के इतिहास की परम्परा और शृंखला की प्रस्थापना में बहुत बड़ी सहायता मिलती है।

पर्याय-विज्ञान या पर्यायकी

इधर कुछ दिनों से पाश्चात्य देशों में शब्दों और अर्थों के सूक्ष्म निरूपण के आधार पर उनके पारस्परिक अन्तर या भेद भी स्थिर होने लगे हैं; इसे हम अर्थ-विज्ञान की एक शाखा ही कह सकते हैं। इसमें ऐसे शब्द-वर्गों के अर्थों का गम्भीर विवेचन होता है जो लोक में साधारणतः पर्याय समझे जाते हैं। इसी लिए इस शाखा का आधुनिक नाम **'पर्यायकी'** रखा गया है। प्राचीन भारत में शब्दार्थों का विचार मुख्यतः उनकी निरुक्ति या व्युत्पत्ति के आधार पर ही होता था। परन्तु उनके परवर्ती तथा लोक-प्रचलित अनेक अर्थों के पारस्परिक सूक्ष्म अन्तरों का विचार करने की ओर विशेष ध्यान नहीं दिया जाता था। हमारे यहां क्रियाओं, गुणों, रूपों आदि के आधार पर किसी पुराने शब्द के लिए कई नये-नये शब्द अवश्य गढ़ लिये जाते थे, और प्रसंग के अनुसार लोग अपनी आवश्यकता देखते हुए उन्हीं में से शब्द चुनकर उनका प्रयोग करते थे। उदाहरण के लिए हमारे यहां कमल, चन्द्रमा, समुद्र, सूर्य आदि के वाचक बहुत से शब्द हैं। कवि और साहित्यकार अपनी रचनाओं में कभी तो छन्दों और मात्राओं के विचार से, कभी प्रसंग के अनुसार और कभी उनकी विवक्षाओं का ध्यान रखते हुए उन्हीं बहुतेरे शब्दों में से कुछ शब्द चुनकर उनके प्रयोग करते थे। इससे कई प्रकार के लाभ होते थे। पहली बात तो यह है कि किसी रचना में आदि से अन्त तक किसी पदार्थ, भाव या विचार का वाचक एक ही शब्द बार-बार लाते रहने से उसमें एक-तानता आ सकती थी जो पाठकों में अरुचि या ऊब भी उत्पन्न करती थी; और रस के परिपाक में भी बाधक होती थी। फिर हमारे यहां की अधिकतर साहित्यिक रचनाएं छन्दोबद्ध या पद्यात्मक हुआ करती थीं। छन्दों के चरण छोटे, मंझोले और बड़े सभी प्रकार के होते थे। छन्द-शास्त्र के नियमों के अनुसार कभी तो किसी चरण में छोटे शब्दों की आवश्यकता होती थी, और किसी में बड़े शब्दों की। अनुप्रास, यमक आदि के विचार से भी और रचना में ओज, प्रसाद आदि गुण लाने के उद्देश्य से भी अनेक प्रकार के ऐसे विशेषण और संज्ञाएं रखनी पड़ती थीं जिनकी गिनती पर्यायों में हो सकती थी। हमारे यहां नये शब्द प्रायः इन्हीं आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए गढ़े जाते थे। अनेक प्रकार के और बहुतेरे शब्दों के प्रयोग से कर्त्ता का पांडित्य भी सूचित होता था, रचना-कौशल भी।

प्रत्येक भाषा का शब्द-भण्डार जिन कारणों से बढ़ता है उनमें से एक मुख्य कारण उस भाषा के भाषियों के सांस्कृतिक और साहित्यिक स्तर की उच्चता या मान भी है। जब किसी भाषा का शब्द-भण्डार यथेष्ट भरा-पूरा हो जाता है तब उसमें स्वभावतः एक ही प्रकार का आशय या भाव प्रकट करने वाले कई-कई शब्दों का एक स्वतन्त्र वर्ग भी बन जाता है। अन्न, जल, धन, पृथ्वी, वायु आदि में से प्रत्येक के जो बहुत से वाचक शब्द हमारे यहां प्रचलित हैं, वे भिन्न-भिन्न अवसरों पर और भिन्न-भिन्न आवश्यकताओं के विचार से गढ़े गये हैं। पर्यायकी में पर्याय माने जाने वाले शब्दों का जो सूक्ष्म आर्थी विवेचन होता है उससे हमें यही पता चलता है कि किस अवसर पर और किस प्रकार की आवश्यकता पूरी करने के लिए कौन सा शब्द सबसे अधिक उपयुक्त भी होगा और सबसे अधिक प्रभावशाली तथा भाव-व्यंजक भी। जिस प्रकार अच्छे चित्रकार के लिए यह जानना आवश्यक है कि कहां कौन-सा रंग लगना चाहिए और कहां कैसी रेखा अंकित होनी चाहिए अथवा अच्छे संगीतज्ञ के लिए यह जानना आवश्यक है कि कहां तीव्र स्वर लगेगा और कहां कोमल, कहां गिटकिरी लेनी चाहिए और कहां फन्दा देना चाहिए अथवा किस स्वर की कौन-कौन-सी श्रुतियां हैं और उनका उच्चारण किस प्रकार होता है, उसी प्रकार अच्छे साहित्यकार के लिए यह जानना भी आवश्यक होता है कि किसी शब्द के कितने अर्थ होते हैं और उन अर्थों में कौन-कौन-सी मुख्य विवक्षाएं हैं, और किस प्रसंग में किस विवक्षा से युक्त कौन-सा शब्द प्रयुक्त होना चाहिए।

आगे बढ़ने से पहले हम यहां पर्यायों और उनकी विवक्षाओं के सम्बन्ध में कुछ बातें बतला देना आवश्यक समझते हैं। पर्याय का पहला और मौलिक अर्थ है- चारों ओर चलना; घूमना या चक्कर लगाना। पर उसके और कई अर्थों में मुख्य और सबसे अधिक प्रचलित अर्थ है– अर्थ की दृष्टि से कोई ऐसा शब्द जो उसी प्रकार का अर्थ रखनेवाले दूसरे शब्द के स्थान पर प्रयुक्त हो सके। अंगरेजी में सिनॉनिम (Synonym) का भी ठीक यही अर्थ है। परन्तु आज-कल पर्याय का वह पुराना अर्थ तो छूट चला है और उसके स्थान पर कुछ बदला हुआ एक नया अर्थ लग गया है। प्रस्तुत प्रसंग में पर्याय माने जाने वाले शब्द दो प्रकार के होते हैं। अब हम ऐसे दो शब्दों को पर्याय कहते हैं जो हमारी भाषा के ही हों और अपने वर्ग के दूसरे शब्दों के स्थान पर प्रयुक्त हो सकते हों। उदाहरण के लिए संस्कृत और हिन्दी में हम जिन्हें चन्द्रमा और सूर्य कहते हैं वे फारसी में माहताब और आफताब कहे जाते हैं; और अंगरेजी में उन्हें मून् (Moon) और सन् (Sun) कहते हैं। ऐसे शब्द एक दूसरे के समानार्थक या समार्थक * ही कहे जायेंगे,

---

* कुछ लोग ऐसे शब्दों को एकार्थक और समानक भी कहते हैं; पर हमारी समझ में ऐसा कहना ठीक नहीं है। एकार्थक का मुख्य अर्थ होता है– एक ही अर्थ वाला (अर्थात् ऐसा शब्द जिसका एक ही अर्थ हो)। इससे यह भाव नहीं सूचित होता है कि शब्द तो दो अलग-अलग हैं, पर उनका अर्थ एक ही है। इसी प्रकार समानक का अर्थ होता है– सम अर्थात् एक ही सा मान रखने वाले। समान मान रखने वाले बहुत से पदार्थ हो सकते हैं; सेर भर गेहूं, सेर भर दाल और एक रुपये का सिक्का–तीनों समानक हो सकते हैं। समानक का प्रयोग इसीलिए ठीक नहीं है कि न तो इसमें शब्द का सूचक कोई तत्त्व है और न अर्थ का सूचक।

पर्याय नहीं, क्योंकि हम अपनी भाषा में फारसी या अंगरेज़ी के शब्द ज्यों के त्यों नहीं ले सकते।

हाँ; पुरानी व्याख्या के अनुसार रत्नाकर, समुद्र और सागर एक दूसरे के पर्याय अवश्य हैं क्योंकि इनका एक दूसरे के स्थान पर प्रयोग हो सकता है। परन्तु आज-कल की नयी व्याख्या के अनुसार उक्त तीनों शब्द भी समानार्थक या समार्थक वर्ग में चले जाते हैं, और पर्याय के क्षेत्र में ऐसे शब्द-वर्ग लिये जाते हैं जिनका आधारिक या मूल अर्थ तो बहुत कुछ एक ही सा हो, परन्तु जिनमें कुछ अलग-अलग और नयी-नयी विवक्षाएं भी लगी हों। जन-साधारण ऐसे शब्दों के आधारिक या मूल अर्थ ही जानते हैं; और इसीलिए उनमें से एक के स्थान पर दूसरे का प्रयोग कर जाते हैं। परन्तु पर्यायकी हमें यह बतलाती है कि हमें उनका आधारिक या मूल अर्थ तो एक ओर छोड़ देना चाहिए, और उनकी विवक्षाओं का अध्ययन करके उनका पारस्परिक अन्तर या भेद अच्छी तरह समझ लेना चाहिए और विवक्षागत अन्तर या भेद का ध्यान रखकर साहित्य में ठीक तरह से उनका प्रयोग करना चाहिए।

पर्यायकी का महत्त्व

भाषा के प्रायोगिक और व्यावहारिक क्षेत्र में पर्यायकी के ठीक और पूरे ज्ञान से हमें जितनी अधिक सहायता मिलती है उतनी और किसी चीज़ या बात से नहीं मिलती। पर्यायकी का मुख्य कार्य है– सभी प्रकार के शब्दों का स्पष्ट रूप हमें बतलाना और उनके अर्थों, आशयों और भावों का क्षेत्र और सीमा निर्धारित करना। जब तक इन सब बातों का हमें अच्छा ज्ञान न हो तब तक न तो, हमारी भाषा में ओज आ सकता है, न प्रभावशालिता और न स्पष्ट भावव्यंजन। हम अपने अच्छे से अच्छे आशय या भाव तभी स्पष्ट कर सकते हैं जब हमारी भाषा में शब्दों का ठीक और समुचित उपयोग हो। इसके बिना हमारे आशय या भाव कुण्ठित और निष्प्रभ रह जाते हैं। आज-कल जितने अच्छे कवि, लेखक और वक्ता हुए हैं वे पर्यायकी के वैज्ञानिक तत्त्वों और सिद्धान्तों से भले ही परिचित न रहे हों; फिर भी उनमें दो बातें अवश्य होती हैं। एक तो उनका शब्द-भण्डार बहुत बड़ा होता है; और दूसरे शब्दों के अर्थों का भी बहुत अच्छा ज्ञान होता है। इसी के फलस्वरूप वे अवसर, प्रसंग और विषय के अनुसार ऐसे उपयुक्त शब्दों का चुनाव करते हैं जिनसे उनका आशय और उद्देश्य पूरी तरह से दूसरों की समझ में आ जाते हैं; और वे उनसे प्रभावित होकर उनके अनुयायी, प्रशंसक अथवा वशवर्ती हो जाते हैं। जब तक ये सब बातें न हों तब तक कवि, लेखक या वक्ता का परिश्रम कभी फलप्रद और सार्थक नहीं हो सकता। यदि आप भी अच्छी साहित्यिक कृति प्रस्तुत करना चाहते हों तो आपका आवश्यक कर्तव्य हो जाता है कि आप पर्यायकी का अच्छी तरह अध्ययन और अनुशीलन करें; और तब शब्दों का उपयुक्त चुनाव करके अपनी कृति में चार चांद लगायें। यों तो शब्दों के ठीक चुनाव के बहुतेरे उदाहरण दिये जा सकते हैं; फिर भी हम यहां इस प्रकार के कुछ शब्द देकर अपना आशय स्पष्ट कर देना चाहते हैं। जलाशय, नद, समुद्र सरीखे और सवर्गीय प्रसंगों के सम्बन्ध में 'दुस्तर' विशेषण का ही प्रयोग उचित होगा। पर्वतों अथवा उनकी तरह उच्चताओं और सघनताओं के प्रसंग में 'दुर्लंघ्य

का प्रयोग ठीक होगा। कर्तव्यों और कार्यों सरीखी बातों के सम्बन्ध में 'दुष्कर' का और साधनाओं तथा निरन्तर प्रयत्नों की अपेक्षा रखने वाले शब्दों के सम्बन्ध में 'दुस्साध्य' का; घेरों, दुर्गों आदि के वर्गों के साथ 'दुर्भेद्य' का; और गम्भीर विषयों, विवेचनों अथवा ऐसे ही दूसरे कामों के सम्बन्ध में 'दुरूह' या 'दुर्बोध' सरीखे विशेषणों का उपयोग उचित होगा। यों तो उस प्रकार के और भी कार्य तथा शब्द बतलाये जा सकते हैं; परन्तु विस्तार भय से हम इतना ही बतला देना यथेष्ट समझते हैं। आशा है, सुविज्ञ पाठक इतने से ही यह समझ लेंगे कि कब और कहां कैसे शब्दों का चुनाव और प्रयोग करना चाहिए।

अपना आशय स्पष्ट करने के लिए हम यहां ऐसी कुछ शब्दमालाओं या शब्द-वर्गों की एक छोटी-सी सूची दे रहे हैं जिनके आधारिक या मूल अर्थ तो बहुत कुछ एक ही हैं; फिर भी जिनकी विवक्षाएं एक दूसरी से बहुत कुछ भिन्न हैं:

अन्त, अवसान और समाप्ति;
अद्भुत, विचित्र और विलक्षण;
अनुराग, प्रेम और स्नेह;
अनूठा, अनोखा और निराला;
असमंजस, दुविधा और हिचक;
आश्चर्य, कुतूहल और विस्मय;
कपट, छल और धोखा;
गलना, घुलना और पिघलना;
तरंग, लहर और वीचि;
द्वेष और वैमनस्य;
लगाव, सम्पर्क और सम्बन्ध;
वैर और शत्रुता;
शंका, संदेह और संशय।

विचारशील पाठक सहज में समझ लेंगे कि इन शब्दों के आशय या भाव एक दूसरे से बहुत भिन्न हैं। परन्तु वह भिन्नता निरूपित या स्थिर कर सकना बहुत ही कठिन है, और यदि मन में वह भिन्नता समझी जा सके तो शब्दों में उसे वर्णित करना और भी कठिन है। पर्यायकी का मुख्य क्षेत्र यही दोनों कठिन काम पूरे करना है।

यह तो हुई ऐसे शब्दों की बात जो हमारी भाषा में बहुत दिनों से चले आ रहे हैं। परन्तु आज-कल हमारी भाषा में बहुत से अंग्रेज़ी शब्दों के अनुकरण और आधार पर नये शब्द गढ़े जाने लगे हैं; और ऐसे नये शब्दों के अर्थों के सूक्ष्म भेद समझने के लिए पर्यायकी की आवश्यकता और उपयोगिता बहुत अधिक बढ़ जाती है। यहां हम इस प्रकार के शब्द-वर्गों की एक छोटी-सी सूची दे रहे हैं। अंग्रेज़ी के जिन शब्दों के लिए हिन्दी के पुराने शब्द प्रचलित अथवा स्थिर होने लगे हैं, उनमें भले ही पहले से हमारे यहां कोई भेद न पड़ा हो फिर भी अंग्रेज़ी पर्यायकी में उनके जो भेद निरूपित हुए हैं उन्हें हिन्दी में ग्रहण करना हमारे लिए अनिवार्य-सा हो चला है। यदि अंग्रेज़ी पर्यायकी में निरूपित ये भेद-प्रभेद हम नहीं अपनायेंगे तो भाषिक दृष्टि से हमारी हिन्दी बहुत कुछ

पिछड़ी रह जाएगी; और जिस हिन्दी को हम अपने समस्त कार्यों में अंग्रेज़ी का स्थान दिलाना चाहते हैं वह अंग्रेजी का स्थान लेने में असमर्थ होगी। सूची इस प्रकार है :-

Bank	Shore
तीर	तट
Diplomacy	Politics
राजनय	राजनीति
Example	Instance, Illustration
उदाहरण	दृष्टांत
List, Inventory	Catalogue
सूची, तालिका	सूचीपत्र
Requirement	Necessity, Need
अपेक्षा	आवश्यकता
Space	Sky, Firmament
अन्तरिक्ष	आकाश, महाव्योम
Specimen	Sample
नमूना	बानगी

यों तो छोटे-बड़े सभी मनुष्य देखने में बहुत कुछ एक ही तरह के होते हैं, पर उनके गुण, विचार, स्वभाव आदि एक दूसरे से या तो बहुत कुछ या थोड़े बहुत भिन्न अवश्य होते हैं। यही बात ऐसे शब्दों के सम्बन्ध में भी समझनी चाहिए जो देखने में बहुत कुछ एक ही प्रकार या वर्ग के जान पड़ते हैं। वास्तविक बात यह है कि प्रत्येक शब्द किसी विशिष्ट अवसर पर और किसी विशिष्ट उद्देश्य की सिद्धि के लिए गढ़ा या लिया जाता है। इसी लिए समझदारों का मत है कि प्रत्येक शब्द का एक स्वतन्त्र अस्तित्व और स्वतन्त्र महत्त्व होता है। परन्तु सब लोग सब शब्दों का ठीक-ठीक महत्त्व न जानने या न समझने से ही एक की जगह उसी तरह के दूसरे शब्द का प्रयोग कर चलते हैं और दूसरे बहुत से लोग भी उन्हीं का अनुकरण करने लगते हैं। पर्यायकी हमें यह बतलाती है कि एक से जान पड़ने वाले कई शब्दों के आधारिक अथवा मूल अर्थ भले ही बहुत कुछ मिलते-जुलते हों फिर भी उनमें से प्रत्येक शब्द में कोई ऐसी स्वतन्त्र विवक्षा होती है जो उसे अपने सवर्गीय शब्दों से अलग रखती है। शब्दों की इस प्रकार की विशिष्ट विवक्षा का विवेचन ही पर्यायकी का मुख्य विषय है।

अब एक-दो छोटे उदाहरण ले लीजिए। हम वृक्ष की 'छाया' की जगह पेड़ की 'छाँह' तो कह सकते हैं, पर अर्थ या भाव की छाया की जगह छाँह नहीं कह सकते। बाल्यावस्था में भले ही हमने पढ़ या सीख लिया हो कि 'छाया' का अर्थ 'छाँह' होता है, पर इतने से ही हमारे सब काम नहीं चल सकते। कारण यही है कि 'छाया' में जो कई सूक्ष्म विवक्षाएँ हैं वे सब की सब 'छाँह' में नहीं आयी हैं। इसका कारण यही है कि 'छाया' का प्रयोग विद्वानों और साहित्यकारों ने जिन-जिन अवसरों और प्रसंगों में किया है उन सबसे न तो जन-साधारण परिचित ही होते हैं, और न नित्य प्रति के काम-काज में उन्हें कोई

आवश्यकता ही होती है। फिर कुछ विशिष्ट शब्द या पद कुछ विशिष्ट अर्थों के सूचक हो जाते हैं, और उनके अभिधार्थ मात्र से ही हमारे सब काम नहीं चल सकते। 'वंश-वृक्ष' का जो आशय होता है वह 'खानदान का पेड़' से व्यक्त नहीं हो सकता। हाँ, खानदान का पेड़ से कुछ और ही अर्थ अवश्य निकल सकता है। कभी-कभी दूसरों की देखा-देखी भी हम अपने शब्दों की सूक्ष्म विवक्षाएँ भूल जाते हैं। हमारे यहां शक, सन्देह और संशय ये तीनों शब्द एक ही वर्ग के हैं। परन्तु इन सब में विवक्षाएँ एक दूसरी से बिलकुल भिन्न हैं। हम अपने साहित्य के यथेष्ट ज्ञान के अभाव के कारण वे पुरानी विवक्षाएँ भूल गये हैं। फिर हम देखते हैं कि फारसी का एक 'शक' शब्द ही सब जगह समान रूप से प्रयुक्त होता है। अतः हम भी एक 'सन्देह' शब्द से ही अपने सब काम चला लेते हैं, और शंका तथा संशय दोनों हमारे लिए व्यर्थ से हो जाते हैं। हम यह भी नहीं सोचते कि फारसी की तुलना में संस्कृत का शब्द-भण्डार कितना बड़ा और विपुल है। परन्तु साहित्यिकों को तो इस प्रकार की बातों का ध्यान रखना ही पड़ता है, और रखना चाहिए ही।

हम ऊपर कह आये हैं कि पर्यायों का प्रयोग पहले मुख्यतः साहित्यिक रचनाओं का लालित्य और सौन्दर्य बढ़ाने के लिए ही होता था। आज भी हममें से अधिकतर लोग यही समझते हैं कि बहु-विध शब्दों के प्रयोग से भाषा का स्वरूप निखरता है। पर यहीं तक इसका अन्त नहीं है। साहित्यिक रचनाओं के लिए बहुत अधिक शब्दों का ज्ञान भी आवश्यक होता है और सब शब्दों के ठीक अर्थों और सूक्ष्म अन्तरों का ज्ञान भी अपेक्षित होता है। शब्दों का ठीक अवसर पर और ठीक अर्थों में किया जाने वाला प्रयोग हमारी योग्यता का भी सूचक होता है। इसके सिवा आज-कल की नयी परिस्थितियों में पर्यायकी की आवश्यकता और भी बढ़ गयी है। न्याय-विभाग में भी और राजनीति में भी प्रायः एक-एक शब्द का सूक्ष्मतम अर्थ ढूँढ़ा, देखा और निकाला जाता है। अनेक अवसरों पर तो अर्थ विवेचन के समय बाल की खाल निकालने वाली कहावत तक चरितार्थ की जाती है। अतः हमारे लिए शब्दों के ठीक-ठीक अर्थों का ज्ञान प्राप्त करना दिन पर दिन और भी अधिक आवश्यक तथा महत्वपूर्ण होता जा रहा है। पर्यायकी का अध्ययन करने वालों को एक और बहुत बड़ा लाभ होता है। उन्हें प्रत्येक शब्द और प्रत्येक भाव या विचार के सम्बन्ध में सोचने-समझने का एक बिलकुल नया दृष्टिकोण प्राप्त होता है। वे प्रत्येक विषय के सूक्ष्मतम अंगों के विवेचन की एक नयी कला सीखते हैं। अपने मत के प्रस्थापन के लिए उन्हें जो तर्क उपस्थित करने पड़ते हैं उनकी पुष्टि में पर्यायकी का ज्ञान और भी अधिक सहायक होता है। इसके सिवा किसी भाषा की पर्यायकी का अध्ययन उस भाषा के मानकीकरण में भी बहुत अधिक सहायक होता है, और उसे दुरूह या भ्रामक होने से बचाकर उसकी भाव-व्यंजकता और स्पष्टता बढ़ाता है। यही कारण है कि मैं हिन्दीवालों के लिए पर्यायकी का अध्ययन इतना अधिक आवश्यक समझता हूं, और इसके अनुशीलन पर इतना ज़ोर देता हूं।

पहले पहल सन् 1718 में जिरर्ड नामक एक फ्रांसीसी विद्वान् ने अपने एक ग्रन्थ में यह बतलाया था कि पर्यायों को बिलकुल समानार्थी समझना बहुत बड़ी भूल है। इसी ग्रन्थ के अनुकरण और आधार पर इग्लैंड में जॉन ट्रसलर नामक एक पादरी ने सन्

1776 में 'पर्यायवाची माने जानेवाले शब्दों में भेद' नामक एक ग्रन्थ अंग्रेज़ी में प्रकाशित किया था । इस विषय का दूसरा महत्वपूर्ण ग्रन्थ 'ब्रिटिश पर्यायकी' (British Synonymy) के नाम से सन् 1794 में प्रकाशित हुआ था, जिसकी रचयित्री श्रीमती पियोजी थीं । श्रीमती पियोजी अंग्रेज़ी के सुप्रसिद्ध कोशकार और विद्वान् डा. जॉन्सन की घनिष्ठ मित्र थीं । यद्यपि इस ग्रंथ में बहुत सी त्रुटियां थीं और अनेक स्थानों पर शब्दों के अर्थों के सम्बन्ध में डा. जॉन्सन से मतभेद भी प्रकट किया गया था, तो भी इस ग्रंथ से एक नयी विचारधारा के प्रवाह में भी और अंग्रेज़ी भाषा का स्वरूप स्थिर करने में भी बहुत कुछ सहायता मिली थी । तभी से और अनेक विद्वान् इस विषय में रस लेने लगे; और अंग्रेज़ी पर्यायकी क्रम-क्रम से वैज्ञानिक और व्यवस्थित शास्त्र का रूप धारण करने लगी । अब तक अंग्रेज़ी में इस विषय के पचीसों ग्रन्थ प्रस्तुत हो चुके हैं, जिनमें क्रैब, फर्नाल्ड आदि के पर्याय कोश परम उपयोगी हैं । सन् 1942 में अमेरिका से जो वेबस्टर कृत पर्यायकोश निकला था उसमें शब्दों के वर्गीकरण, अर्थों के विवेचन तथा प्रयोगों के उदाहरण आदि सभी ऐसी सीमा पर पहुंचा दिये गये हैं कि उससे आगे बढ़ने के लिए अभी बीसियों वर्ष लगेंगे । फिर भी अनेक पाश्चात्य देशों में बड़े-बड़े विचारशील विद्वान् इस विषय में बहुत नवीन अनुसन्धान करते चलते हैं और इसे विशिष्ट तथा विशुद्ध शास्त्र बनाने के प्रयत्न में लगे हैं । इन सभी कोशों में शब्दों के अर्थों तथा प्रयोगों का इतना अधिक सूक्ष्म विवेचन हुआ है कि देखकर दंग रह जाना पड़ता है । समझ में नहीं आता कि इस ऊंचाई तक पहुंचने में कितने दिन लगेंगे ।

इस विषय की ओर एक दिन मेरा ध्यान यों ही संयोगवश हो गया था । मेरे सुयोग्य मित्र श्रीयुक्त शिवनाथ प्रसाद जी बेरी प्रायः मेरे यहां आया करते थे, और हम लोगों में भाषा तथा शब्दों की चर्चा होती थी । प्रसंग चला-खेद, दुःख, शोक आदि के प्रयोगों का । हम लोग इनके अलग-अलग अर्थ और भाव का विवेचन करने लगे । श्री बेरी जी के अनुरोध पर मैंने 'दुःख का परिवार' शीर्षक एक छोटा सा लेख लिखकर स्थानीय 'आज' में प्रकाशित कराया । कुछ मित्रों को वह लेख बहुत पसन्द आया और उन्होंने इस विषय की चर्चा और आगे बढ़ाने का आग्रह किया । कुछ मित्रों ने अंग्रेज़ी पर्यायकी के एक दो ग्रन्थों के नाम भी बतलाये । मैंने वे ग्रन्थ मँगवाकर उनका अध्ययन किया और प्रायः दो वर्षों के परिश्रम में 10-11 वर्ष पूर्व **'शब्द-साधना'** नामक पुस्तक तैयार करके अपने साहित्य-रत्न माला कार्यालय से प्रकाशित की थी । भारत सरकार के शिक्षा विभाग के कुछ अधिकारियो को वह काम पसन्द आया था; इसलिए शिक्षा विभाग ने यह काम और आगे बढ़ाने के लिए मुझे अनुदान देना भी निश्चित किया था । **'शब्द-साधना'** इस विषय का पहला काम था, इसलिए उसमें शब्दों के वर्गीकरण की दृष्टि से भी और अर्थ-विवेचन की दृष्टि से भी अनेक त्रुटियाँ होना स्वाभाविक ही था । राजकीय अनुदान का सहारा पाकर मैं वे सब त्रुटियाँ दूर करना और **'शब्द-साधना'** को नया रूप देना चाहता था । परन्तु दुर्भाग्यवश कुछ क्षेत्रों से मेरे मार्ग में बड़ी-बड़ी बाधाएँ खड़ी की जाने लगीं, और मैं जो कुछ करना चाहता था उसके लिए मुझे अवसर ही न मिल पाया । तो भी उसका बहुत कुछ संशोधित और परिवर्द्धित रूप 'शब्दार्थ मीमांसा' के नाम से प्रस्तुत हुआ जो बहुत कठिनता से सन् 1965 के आरम्भ में भारत सरकार के केन्द्रीय हिन्दी निदेशालय द्वारा

प्रकाशित हुआ। उसमें प्रायः 2100 शब्दों के अर्थों का सूक्ष्म विवेचन तो हुआ था, परन्तु उसके अन्त में शब्दानुक्रमणिका न लगने के कारण कोई विशिष्ट शब्द ढूँढ़ निकालना असंभव नहीं तो बहुत कठिन अवश्य था। अब मैं इस काम को फिर नये रूप में और नये सिरे से आगे बढ़ाना चाहता हूँ, और इसीलिए यह **'शब्दार्थ दर्शन'** पुस्तक हिन्दी जगत् को अर्पित कर रहा हूँ। इसमें शब्दों का अर्थ-विवेचन अक्षर-क्रम विवेचन से देकर इसे शब्द-कोश का रूप दे दिया गया है जिसमें जिज्ञासुओं को कोई शब्द ढूँढ़ने में कष्ट न हो। इसमें मैंने ऐसे सैकड़ों नये शब्दों का विवेचन किया है जिनका पहले की उक्त दोनों पुस्तकों में विवेचन नहीं हुआ था। इसमें थोड़े से पुराने विवेचित शब्द भी आ गये हैं, पर बहुत कुछ नये रूप में आये हैं। हो सकता है कि इसमें भी बहुत सी त्रुटियां और भूलें हों, और इसमें संशोधन और सुधार की आवश्यकता हो। फिर भी मैं समझता हूं कि यह पुस्तक हिन्दी पर्यायकी के मार्ग-दर्शन में बहुत कुछ सहायक होगी। मानसिक और शारीरिक दोनों ही दृष्टियों से मैं दिन पर दिन शिथिल होता जा रहा हूं। फिर भी जब तक शरीर चलेगा तब तक कुछ न कुछ करता ही चलूंगा और अपने साथ यह आशा लेकर परलोक जाऊंगा कि आने वाली पीढ़ियां इस काम को अच्छी तरह आगे बढ़ाकर हिन्दी को भी संसार की प्रमुख तथा श्रेष्ठ भाषाओं में स्थान दिलायेंगी।

अन्त में मैं इस सम्बन्ध में एक और उल्लेखनीय घटना की भी कुछ बातें बतला देना चाहता हूं। जिन दिनों 'शब्दार्थ-मीमांसा' का काम चल रहा था उन्हीं दिनों मेरे छोटे भांजे चि. बदरीनाथ कपूर पी.एच.डी. के लिए प्रबन्ध प्रस्तुत करना चाहते थे। उन्होंने **प्रामाणिक हिन्दी कोश** और **मानक हिन्दी कोश** में भी तथा **शब्द-साधना** और **शब्दार्थ मीमांसा** में भी मेरे साथ बहुत कुछ काम किया था और शब्दों के सूक्ष्म आर्थी विवेचन में उनकी रुचि बराबर बढ़ रही थी। अतः हम लोगों ने श्री शिवनाथ प्रसाद जी बेरी के परामर्श से यही निश्चित किया कि चि. बदरीनाथ के प्रबन्ध का विषय पर्यायकी ही हो क्योंकि इस क्षेत्र में हिन्दी ही क्या कदाचित् ही किसी अन्य भारतीय भाषा में कोई काम हुआ हो। अतः उनके विषय का नामकरण हुआ– हिन्दी पर्यायों का भाषागत अध्ययन। उनके निदेशक भी नियत हुए भाषा विज्ञान के सुप्रसिद्ध विद्वान् और मेरे परम प्रिय बन्धु डा. हरदेव बाहरी। इस कार्य के निदेशन में उन्होंने बहुत अधिक रस लिया। प्रायः तीन वर्षों के परिश्रम से चि. बदरीनाथ ने जो प्रबन्ध प्रस्तुत किया बह प्रस्तुतिकरण, विवेचन और विश्लेषण की दृष्टि से बहुत प्रशंसनीय प्रयास रहा। इसके परीक्षकों ने इसकी यथेष्ट प्रशंसा की और फिर जब प्रयाग के हिन्दी साहित्य सम्मेलन से यह प्रबन्ध प्रकाशित हुआ तब डा. सिद्धेश्वर वर्मा सरीखे उत्कृष्ट भाषाविद् तथा अन्य कई विद्वानों ने मुक्त कंठ से इसकी प्रशंसा करके चि. बदरीनाथ को परम उत्साहित किया। मैं इसे हिन्दी में पर्यायकी के आरम्भ का बहुत शुभ लक्षण समझता हूं और आशा करता हूं कि अर्थ-विज्ञान की इस शाखा का अध्ययन और विवेचन निरन्तर कुछ न कुछ आगे बढ़ता रहेगा।

3

अर्थ-विवेचन की कला

शब्दों और अर्थों के पारस्परिक सम्बन्ध का विवेचन करना मूलतः निरुक्त या भाषा-विज्ञान का काम है। निरुक्त के बाद साहित्य-शास्त्र में कुछ दूसरी दृष्टि से यह विवेचन और अधिक पल्लवित होता है– इस विषय का और भी सूक्ष्म विचार किया जाता है। अभिधा से निकलनेवाला अर्थ अभिधेयार्थ, लक्षणा से निकलनेवाला अर्थ लक्ष्यार्थ, और व्यञ्जना से निकलनेवाला अर्थ व्यंग्यार्थ कहलाता है। परन्तु कोशकार को भी शब्दों और अर्थों से बहुत काम पड़ता है, बल्कि यों कहना चाहिए कि उसके सारे काम का अधिकांश मुख्यतः शब्दों और उनके अर्थों से ही सम्बद्ध होता है। इस दृष्टि से हम कह सकते हैं कि कोशकार शब्दों और अर्थों के सैद्धान्तिक सम्बन्ध वाले क्षेत्र से आगे बढ़कर उनके व्यावहारिक सम्बन्धवाले क्षेत्र में प्रविष्ट होता है, जहां उसका दृष्टि-कोण बहुत कुछ बदल कर बिलकुल नया और स्वतंत्र हो जाता है। यहां हम इस विषय का उसी नये दृष्टि-कोण से विचार करते हुए यह बतलाना चाहते हैं कि एक अभिधानिक या कोशकार के कार्य के लिए शब्दों के अर्थ कितने प्रकार के होते हैं अथवा अर्थ के विचार से कितने प्रकार या वर्ग होते हैं। इसी के साथ इस बात का भी विचार हो जायेगा कि शब्दों और अर्थों के प्रायोगिक सम्बन्धवाले क्षेत्र में कोशकार कहां तक और क्या काम कर सकता है, अथवा उसे कितना और कैसा काम करना चाहिए।

शब्द वस्तुतः क्रियाओं, गुणों, घटनाओं, पदार्थों आदि के सूचक संकेत मात्र होते हैं और ये संकेत भी साधारणतः उन्हीं लोगों के काम के होते हैं जो उनका आशय समझते हों। किसी भाषा या समाज में प्रचलित शब्द उसी भाषा के बोलने और समझनेवालों के काम के ही होते हैं। हाँ, विद्यार्थियों, विशेषतः अन्य भाषा-भाषी विद्यार्थियों के लिए बहुत से शब्द नये हो सकते हैं, और उन शब्दों का अर्थ, आशय या भाव समझने के लिए किसी प्रकार के विवरण या व्याख्या से सहायता लेनी पड़ती है। शब्दकोशों का काम ऐसे ही सुगम और सुबोध विवरण तथा व्याख्याएं प्रस्तुत करना होता है। परन्तु इस प्रकार के विवरण और व्याख्याएं प्रस्तुत करने में बहुत अधिक कुशलता, योग्यता और सतर्कता की आवश्यकता होती है। यदि ऐसा न हो तो कोश-रचना का उद्देश्य सिद्ध नहीं हो सकता; और इस उद्देश्य की सिद्धि के लिए कोशकार को शब्दों के सभी प्रकार के आशयों, प्रयोगों, भावों आदि से पूर्णतः परिचित होना पड़ता है; और इस प्रकार का पूर्ण परिचय हो

जाने पर आर्थी विवेचन की कला का उत्कृष्ट ज्ञान कोशकार का सबसे बड़ा सहायक होता है।

शब्द-कोश का वास्तविक महत्त्व उसमें दिए हुए शब्दों के अर्थों और व्याख्याओं पर आश्रित है, क्योंकि उसका मुख्य उपयोग अर्थ और परिभाषा या व्याख्या जानने के लिए ही होता है। कभी-कभी लोग शब्दों के शुद्ध रूप या अक्षरी, निरुक्ति, लिंग, शब्द-भेद आदि जानने के लिए भी कोशों का सहारा लेते हैं, पर कोश का यह उपयोग अर्थोंवाले उपयोग की तुलना में गौण ही होता है। अतः हम कह सकते हैं कि शब्द वस्तुतः शब्द-कोश के शरीर मात्र के रूप में होते हैं, उसके प्राण या आत्मा का स्थान अर्थों और व्याख्याओं को ही प्राप्त है। जिन कोशों में शब्दों के अर्थ और व्याख्याएं बिलकुल ठीक, शुद्ध और स्पष्ट न हों और जिनके उपयोग से पाठकों की शंकाओं का निवारण तथा ज्ञान की वृद्धि न हो, वे कोश बहुत कुछ निर्जीव या अल्प-प्राण होते हैं।

अच्छे शब्द-कोश का उपयोग सभी तरह के लोग करते हैं, जिनमें बहुत से अन्य भाषा-भाषी भी होते हैं। यह ठीक है कि हिन्दी-शब्द-कोश का उपयोग अधिकतर हिन्दी-भाषी ही करेंगे, पर उसका उपयोग करनेवाले अन्य भाषा-भाषियों की संख्या भी कम न होगी। आज-कल हिन्दी राजभाषा बन गयी है और उसका अध्ययन तथा प्रचलन भारत के सभी राज्यों में पहले की अपेक्षा बहुत अधिक हो रहा है और विदेशों में दूर-दूर तक होने लगा है। इन परिस्थितियों में हिन्दी के कोशों का महत्त्व बहुत अधिक बढ़ गया है अतः हिन्दी के भावी कोशकारों को इस बात का ध्यान रखना पड़ेगा कि हमारे दिये हुए अर्थों और व्याख्याओं से अन्य भाषा-भाषी भ्रम में न पड़ें और उनसे ठीक और पूरा लाभ उठा सकें। बल्कि हमें ऐसा प्रयत्न करना चाहिए कि हमारे शब्द-कोशों से भी उनका वैसा ही सन्तोष तथा समाधान हो, जैसा अन्य उन्नत भाषाओं के प्रथम श्रेणी के कोशों से होता है।

अब हम कुछ उदाहरण देकर अपना आशय स्पष्ट करना चाहते हैं। मान लीजिए कि आप कोश में 'भार्या' शब्द का अर्थ देखना चाहते हैं। यदि उसमें आपको उसका अर्थ मिले 'औरत' या 'स्त्री' तो क्या यह अर्थ ठीक होगा ? कदापि नहीं। वस्तुतः बात यह है कि 'भार्या' संस्कृत के 'भार्य' (विशेषण) का स्त्री॰ रूप है जो संज्ञा के रूप में प्रचलित हो गया है। व्युत्पत्तिक दृष्टि से भार्या का अर्थ होगा– ऐसी स्त्री जिसका भरण-पोषण करना किसी विशिष्ट पुरुष के लिए आवश्यक, उचित तथा कर्तव्य हो, अर्थात् ऐसी स्त्री जो भरण-पोषण की अधिकारिणी या पात्री हो। परन्तु सामाजिक दृष्टि से जोरू या पत्नीही भरण-पोषण की अधिकारिणी समझी जाती थी, इसलिए उसका परवर्ती और विकसित अर्थ हो गया- जोरू या पत्नी। 'औरत' तो मूलतः 'मर्द' का और 'स्त्री' मूलतः 'पुरुष' का स्त्री॰ रूप है। यह ठीक है कि 'औरत' या 'स्त्री' का एक अर्थ 'जोरू' 'पत्नी' या 'भार्या' भी होता है; परन्तु 'औरत' या 'स्त्री' का वह प्राथमिक अर्थ नहीं है बल्कि परवर्ती और गौण अर्थ है। नारी, महिला और स्त्री में भी ऐसे ही अर्थ-भेद हैं। 'खेह' का अर्थ धूल और राख एक साथ देना ठीक नहीं है, क्योंकि धूल अलग चीज है और राख अलग चीज। 'सम्पूर्ण'

और 'समस्त' में जो अन्तर है, वह इन वाक्यों से स्पष्ट हो जायेगा– (क) यह सम्पूर्ण ग्रन्थ महत्व की और विचारणीय बातों से भरा हुआ है; और (ख) उनके समस्त ग्रन्थ अभी तक अप्रकाशित ही पड़े हैं। इन वाक्यों में 'समस्त' की जगह 'सम्पूर्ण' या 'सम्पूर्ण' की जगह 'समस्त' का प्रयोग ठीक न होगा। 'आकृष्ट' और 'आकर्षित' प्रायः समानार्थक समझे जाते हैं। परन्तु तात्त्विक दृष्टि से दोनों अर्थों में कुछ अन्तर है या होना चाहिए। 'आकृष्ट' का ठीक अर्थ होगा– खिंचा हुआ, और 'आकर्षित' का अर्थ होगा- खींचा हुआ। इसी प्रकार 'विभक्त' का अर्थ होगा– जो मुख्य भाग से काटकर अलग कर दिया गया हो; और 'विभाजित' का अर्थ होगा जिसका विभाजन किया गया हो। इसी प्रकार बुरा, खराब, अनुचित, ना-मुनासिब सरीखे अर्थ एक साथ नहीं दिये जाने चाहिए। बुरा और खराब एक वर्ग में रहेंगे और अनुचित तथा ना-मुनासिब दूसरे वर्ग में। यों साधारणतः 'निषेध' और 'वर्जन' एक-दूसरे के पर्याय माने जाते हैं, परन्तु 'निषिद्ध' और 'वर्जित' के अर्थों पर ध्यान देने से दोनों का अन्तर स्पष्ट हो जाता है।

इस सम्बन्ध में **हिन्दी शब्द-सागर** का 'अधिकार' शब्द उदाहरण के रूप में लिया जा सकता है। उसमें इसके पहले अर्थ के अन्तर्गत ये शब्द मिलते हैं– कार्यभार, प्रभुत्व, आधिपत्य और प्रधानता। यह स्पष्ट है कि इन चारों शब्दों के मुख्य अर्थों में कई बड़े और महत्वपूर्ण अन्तर हैं। इसी प्रकार इस शब्द के तीसरे अर्थ में ये शब्द मिलते हैं - दावा, कब्जा और प्राप्ति। परन्तु पहले हमें किसी चीज़ के सम्बन्ध में अपना दावा पेश करना पड़ता है; और जब हमारा दावा मान लिया जाता है और वह चीज़ हमें दिला दी जाती है तब उस पर हमारा कब्जा होता है; और इसके उपरान्त हम कह सकते हैं कि वह चीज़ हमें प्राप्त हुई है अथवा हमें उसकी प्राप्ति हुई है।

तरंग, लहर और वीचि में अन्तर है। संस्कृत में भी और हिन्दी में भी इन तीनों शब्दों के अर्थों में विशेष अन्तर नहीं माना गया है; फिर भी कुछ सूक्ष्म अन्तर हैं ही। अंग्रेजी के wave शब्द का भी इसी प्रकार तीनों अर्थों में प्रयोग होता है। फिर भी आप्टे और मानिअर विलियम्स के संस्कृत-अंग्रेज़ी कोशों में इन तीनों शब्दों के आगे wave तो दिया ही है; परन्तु लहर के आगे उसके साथ billow भी दिया गया है; और वीचि के आगे उसके साथ ripple भी मिलता है। (विशेष देखें यथास्थान–तरंग, लहर और वीचि की माला) शंका, संशय और संदेह में; अनुराग, प्रणय, प्रेम और स्नेह में तथा इसी प्रकार के और बहुत से ऐसे शब्दों में जो साधारणतः एक दूसरे के पर्याय माने जाते हैं, बहुत सूक्ष्म अर्थ-भेद होते हैं। * उक्त प्रकार के अन्तरों के विचार से सब पर्याय बहुत

---

* इस प्रकार के लगभग 1400 शब्दों के अर्थों के अन्तरों का सूक्ष्म विवेचन मैंने **'शब्द-साधना'** नामक पुस्तक में किया था। इसके उपरान्त उसका परिवर्तित, परिवर्धित और संशोधित रूप मैंने **'शब्दार्थ मीमांसा'** के नाम से प्रस्तुत किया था जिसमें दो हजार से अधिक शब्दों का विवेचन था और जो भारत सरकार के केन्द्रीय हिन्दी निदेशालय के द्वारा प्रकाशित हुआ था। परन्तु ये दोनों काम प्रारम्भिक ही समझे जाने चाहिए क्योंकि इनमें अभी बहुत कुछ सुधार अपेक्षित थे। इसके उपरान्त मैंने 'शब्दार्थक ज्ञानकोश' प्रस्तुत किया, जिसमें कई सौ नये शब्दों का भी विवेचन था और कुछ पुराने शब्दों के वर्गीकरण और विवेचन के दोषों का परिमार्जन भी हुआ था। प्रस्तुत पुस्तक उक्त 'शब्दार्थक ज्ञान कोश' का और भी अधिक परिवर्तित, परिवर्धित और संशोधित रूप है।

समझ-बूझकर और अलग-अलग वर्गों में बाँटकर रखे जाने चाहिए । यदि 'बाई' का अर्थ वात या वायु दिया जाये तो वह अशुद्ध तथा भ्रामक होगा । इसकी ठीक व्याख्या है– रोगी के शरीर में होनेवाला वायु का प्रकोप । 'बदली' का अर्थ केवल बादल या मेघ नहीं है, बल्कि वह ऐसी अवस्था है, जिसमें आकाश बादलों से घिरा या भरा होता है । यदि 'प्रमेय' के सम्बन्ध में कहा जाय– वह जिसे प्रमाणित करना हो; तो यह व्याख्या बहुत भ्रामक होगी, क्योंकि इससे उस व्यक्ति का भी आशय लिया जा सकता है, जिस पर कोई बात प्रमाणित करने का उत्तरदायित्व या भार हो । इसकी ठीक व्याख्या होगी– (कथन या बात) जो प्रमाणित की जाने को हो अथवा जिसे प्रमाण के द्वारा सिद्ध करना आवश्यक हो । 'सचेष्ट' के ये अर्थ ठीक नहीं- 1. जिसमें चेष्टा हो । 2. जो चेष्टा कर रहा हो । कारण यह है कि उक्त दोनों अर्थों में चेष्टा शब्द दो अलग-अलग क्रियाओं या भावों का सूचक है, और जब तक दोनों क्रियाएं या भाव स्पष्ट न किये जायें तब तक आशय न खुलेगा । तात्पर्य यह है कि जहां तक हो सके, अर्थ ठीक, पूरा और स्पष्ट होना चाहिए । वह जिज्ञासुओं के लिए अधूरा, गलत या भ्रामक नहीं होना चाहिए ।

कुछ अवस्थाएं अवश्य ऐसी होती हैं, जिनमें या तो यथेष्ट अवकाश न होने (अर्थात् विस्तार-भय) के कारण या यथेष्ट साधन प्राप्त न होने के कारण पूरे अर्थ या विवरण नहीं दिये जा सकते । बहुत ही कम प्रचलित या कम ज्ञात शब्दों के सम्बन्ध में भी यही बात है । साथ ही यह भी ध्यान रहे कि नित्य की बोल-चाल में आनेवाले बहुत ही छोटे, परम प्रचलित और सरल शब्दों की ठीक-ठीक व्याख्या करना भी बहुत अधिक कठिन और परिश्रम साध्य होता है; जैसे- कहीं, ठीक, तो भी आदि । पशु-पक्षियों, कीड़े-मकोड़ों, पेड़-पौधों के हजारों नाम और भेद होते हैं । इनमें से पूरा अथवा साधारण ज्ञान करानेवाला विवरण प्रायः उन्हीं शब्दों का दिया जाता है, जो अधिक प्रसिद्ध होते अथवा प्रायः लोगों के सामने आते रहते हैं । शेष शब्दों के सम्बन्ध में एक प्रकार * की चिड़िया (पेड़, मछली) आदि देना ही यथेष्ट होता है । पर यदि 'सरसों' के आगे लिखा हो 'एक तेलहन' या 'सारंग' के आगे लिखा हो 'एक वृत्त' तो पाठकों के हाथ-पल्ले क्या पड़ेगा ? यदि चित्र, विशेष, व्यतिरेक सरीखे शब्दों के अन्तर्गत केवल 'एक अलंकार' कहकर चलता किया जाये, तो जिज्ञासुओं का काम न चलेगा । कारण यह है कि साधारण समझदार पाठक प्रायः प्रसंग से भी यह समझ लेंगे कि यह साहित्य-क्षेत्र का कोई अलंकार है । और कम समझनेवाले लोग या अल्पवयस्क विद्यार्थी 'एक अलंकार' का मतलब यह भी समझ सकते हैं कि यह किसी तरह के गहने या जेवर का नाम है । जिज्ञासु या विद्यार्थी का काम तो तभी निकलेगा, जब उस अलंकार का कुछ लक्षण या स्वरूप भी बतलाया जायेगा । हमारे यहां वज्र वधिर, वज्र मूर्ख आदि और उर्दू में सख्त नालायक,

---

* कोशों में अर्थ या व्याख्या देने के समय प्रायः लिखा जाता है– एक प्रकार का ...... । परन्तु इस पद का प्रयोग भी बहुत समझ-बूझकर किया जाना चाहिए क्योंकि यह सब जगह समान रूप से ठीक नहीं बैठता । चिड़िया, पेड़, मछली आदि में तो प्रकार होते हैं पर आइट, इमा, औटा, पन आदि प्रत्ययों के सम्बन्ध में 'एक प्रकार का प्रत्यय' लिखना ठीक नहीं है । ऐसे अवसरों पर व्याख्या में 'एक प्रत्यय' ही लिखा जाना चाहिए, क्योंकि प्रत्ययों के प्रकार या भेद नहीं होते ।

सख्त बेवकूफ आदि प्रयोग प्रचलित हैं। इनमें 'वज्र' और 'सख्त' के विशिष्ट अर्थ तो हैं ही, पर वे अर्थ एक विशिष्ट क्षेत्र तक परिमित हैं। कोशकार को ऐसे विशिष्ट अर्थ तो बतलाने ही चाहिए, उनके प्रयोगों के क्षेत्र की परिमिति का भी निर्देश करना चाहिए।

प्रामाणिक कोश तथा मानक कोश तैयार करते समय मुझे हिन्दी कोशों में ऐसे हजारों शब्द मिले, जो अर्थ के विचार से अधूरे थे। उदाहरणार्थ– 'दावना' शब्द के 'अनाज दाना' या 'ओसाना' और 'दमन करना' अर्थ तो कोशों में मिलते हैं, इसके और भी दो अर्थ (सं. दावा से व्युत्पन्न) होते हैं– एक तो जलाना और दूसरा चमकाना। पर ये अर्थ अब तक किसी हिन्दी कोश में नहीं आये हैं। भारतेन्दु जी ने इसी दूसरे अर्थ में इसका प्रयोग इस चरण में किया है– दामिन दमकि दसो दिसि दावति छूटि छुवति छिति छोर।

श्री मैथिलीशरण गुप्त के 'जय भारत' में एक जगह आया है–

छूत तो किसी को नहीं इस तनु से यहां ?

और एक दूसरी जगह आया है–

जिसने दो ही दिन में चुन कर डाला उनको आधा।

इन पंक्तियों में 'छूत' और 'चुनना' जिन विशिष्ट अर्थों में प्रयुक्त हुए हैं, वे अर्थ अब तक किसी कोश में नहीं आये हैं। हिन्दी का एक बहुत छोटा, पर परम प्रसिद्ध शब्द 'कुछ' है। हिन्दी शब्द-सागर में विशेषण रूप में उसका एक ही अर्थ आया है– 'थोड़ी संख्या या मात्रा का। जरा। थोड़ा सा। टुक। उसमें यह त्रुटि तो है ही कि संख्या और मात्रा का एक साथ ही उल्लेख है, जो वस्तुतः अलग-अलग होना चाहिए। पर 'कुछ' का एक दूसरा अर्थ उसमें आया ही नहीं। हम कहते हैं– (क) कुछ लोग इधर हो गये और कुछ उधर। (ख) कुछ चावल यहां रहने दो और कुछ वहां भेज दो। ऐसे अवसरों पर 'कुछ' का अर्थ जरा, थोड़ा, टुक आदि नहीं, बल्कि अनिश्चित मात्रा या संख्या अथवा आधे के लगभग होता है। 'तूलना' शब्द सकर्मक रूप में और गाड़ियों के पहियों और धुरी के सिरों पर तेल देने या औंगने के अर्थ में तो प्रसिद्ध है ही, प्रायः सभी कोशों में आया है, पर वह शब्द कवियों ने अन्य अर्थों में भी प्रयुक्त किया है। उदाहरणार्थ दीनदयाल गिरि ने कहा है–

रंग न तेरो है कछू सुबरन संग न तूलि।

और जयशंकर 'प्रसाद' ने लिखा है–

मंजुल रसालन की मंजरी के पुंजन में
पाय के प्रसाद तहां गूंज-गूंज तूले हौं।

पर 'तूलना' के ये अर्थ अब तक किसी कोश में नहीं आये।

भाषा-शास्त्र का एक बहुत चलता हुआ सिद्धान्त यह है कि किसी शब्द का प्रचार या व्यापकता जितनी ही अधिक होती है, जन-साधारण को उसके ठीक अर्थ का बोध भी उतना ही कम होता है। उदाहरण के लिए नित्य की बोल-चाल का 'सही' शब्द लीजिए। हम कहते हैं– (क) आप बैठें तो सही। (ख) आप वहां गये सही। (ग) अच्छा यही सही। (घ) हम दरिद्र सही आदि। अब जरा स्थिर-चित्त होकर विचार कीजिए कि उक्त प्रयोगों में 'सही' का क्या अर्थ या भाव है, और वह अर्थ या भाव किसी को समझाने का प्रयत्न

कीजिए। ऐसे अर्थ स्वयं समझ लेना जितना सहज है, दूसरों को समझा सकना उतना सहज नहीं है। हिन्दीवाले तो ऐसे प्रयोगों के आशय से परिचित होने के कारण उनके अर्थ या विवरण की अधिक खोज नहीं करते। परन्तु यदि कोई बात-चीत में 'सही' के उक्त प्रयोग सुने या तुलसीकृत रामायण के 'प्रभु आशुतोष कृपालु शिव अबला निरखि बोले सही', में के 'सही' शब्द का अर्थ जानना चाहे तो वह अर्थ उसे कोश में मिलना चाहिए, पर हिन्दी शब्दसागर के सम्पादन के समय 'सही' के उक्त प्रयोगों का अर्थ और विवरण शायद इसीलिए छूट गया था कि सम्पादकों ने सोचा होगा कि यहां 'सही' बिलकुल साधारण रूप में प्रयुक्त हुआ है और यह अपने विशेषण तथा स्त्रीलिंग संज्ञावाले अर्थों में तो आ ही चुका है, अतः उन्हीं में कहीं इसका भी अन्तर्भाव हो जायेगा। उनका ध्यान इस शब्द के उक्त प्रकार के असाधारण प्रयोगों, उनसे सूचित होनेवाले कई तरह के विशिष्ट भावों और उसकी स्वतन्त्र व्युत्पत्ति की ओर नहीं गया था और फलतः हिन्दी के सभी कोश 'सही' के ऐसे अर्थों से वंचित रह गये। उक्त शब्द के वैसे ही विलक्षण प्रयोगों ने मुझे आकृष्ट करके उसका पूरा विवेचन करने के लिए प्रेरित किया था। (दे. **मानक हिन्दी कोश** तथा **'शब्द और अर्थ'** के अन्त में सही का विवेचन) इन सब उदाहरणों से यही निष्कर्ष निकलता है कि शब्दों के अर्थों के सम्बन्ध में बहुत ही गम्भीर अध्ययन और छान-बीन होने की आवश्यकता है।

आज-कल अनेक प्राचीन काव्यों के ऐसे नये संस्करण निकलने लगे हैं, जिनमें टीका-टिप्पणियां भी रहती हैं। प्रायः सुयोग्य विद्वान् ही ऐसे संस्करणों का सम्पादन करते हैं। वे बहुत परिश्रम और छान-बीन करके ग्रन्थों का सम्पादन करते और यथासाध्य शुद्ध पाठ और ठीक अर्थ देने का प्रयत्न करते हैं। पर कभी न कभी और कहीं भूल सबसे हो ही जाती है। यह बात दूसरी है कि आप कम भूलें करें और मैं अधिक भूलें करूं। पर मनुष्य कभी सर्वज्ञ नहीं हो सकता, और न सदा सब अवसरों पर यही कह सकता है कि जो पाठ, अर्थ या निरुक्ति मैंने बतलाई है, वही बिल्कुल ठीक है; या इसके सिवा और कुछ पाठ, अर्थ या निरुक्ति हो ही नहीं सकती। मुझे नये शब्द और नये अर्थ एकत्र करने में ऐसे सुसम्पादित ग्रन्थों से बहुत अधिक सहायता मिलती है, और मैं उनके सुयोग्य सम्पादकों का बहुत ऋणी हूं। उनके प्रति यथेष्ट आदर-सम्मान का भाव रखते हुए भी मैं कह सकता हूं कि कुछ स्थानों पर उनके दिये हुए पाठ या किये हुए अर्थ मुझे ठीक नहीं जान पड़ते, और ठीक अर्थ तक पहुंचने के लिए मुझे इधर-उधर भटकना पड़ता है। और जब तक सन्तोषजनक निराकरण नहीं हो जाता, तब तक मैं ऐसे शब्द और उनके अर्थ ग्रहण नहीं करता, उन्हें विचारणीय वर्ग में ही रखता हूं।*

---

*मेरे पास ऐसे विचारणीय शब्दों की एक बहुत बड़ी सूची बन गयी है जो फिर किसी अवसर पर प्रकाशित की जायेगी।

ऐसा एक शब्द लीजिए। महाकवि सूरदास जी ने एक जगह कहा है–

ग्रीवा-रन्ध्र नैन चातक जल, पिक मुख बाजे बाजन।

और दूसरी जगह कहा है–

स्वाति बिना ऊपर सब मरियत ग्रीव-रन्ध्र मत कीन्हों।

इनमें का ग्रीव-रन्ध्र या ग्रीवा-रन्ध्र शब्द किसी कोश में नहीं आया है। कई संस्कृत कोशों में ढूंढ़ने पर भी यह शब्द मुझे नहीं मिला। पर एक मित्र कहते हैं, इसका अर्थ 'झिल्ली' नामक प्रसिद्ध बरसाती जन्तु है, जो उक्त प्रसंगों में ठीक बैठता है। हो सकता है कि इसका शुद्ध रूप रन्ध्र-ग्रीव हो। इस प्रकार के शब्दों की ओर भी कोशकारों को ध्यान देना चाहिए।

एक बार एक प्राचीन काव्य के नये संस्करण में एक जगह एक शब्द (खेद है कि वह शब्द मुझे इस समय याद नहीं आता) का अर्थ मिला– एक प्रकार का बाजा, और दूसरी जगह उसी शब्द का अर्थ मिला– एक प्रकार का हथियार। सन्देह की निवृत्ति के लिए मैंने मूल से मिलान किया तो पता चला कि उसका प्रयोग हथियारों के प्रसंग में ही हुआ है, और दूसरी जगह वह भूल से ही बाजा बतलाया गया है। ऐसे अवसरों पर ध्यान रखने की मुख्य बात यह है कि शब्द ज्यों-ज्यों पुराने होते चलते हैं, त्यों-त्यों उनका प्रयोग भी कम होने लगता है। प्रयोग की इस कमी के कारण लोग उनके अर्थ भूलने लगते या कुछ और समझने लगते हैं। प्राचीन ग्रन्थों के सम्पादक कभी-कभी या तो पुराने शब्दों में नये मनमाने अर्थ लगा लेते हैं या उनका रूप ही बदल देते हैं। अच्छे कोशकार को यथा-साध्य ऐसे चक्करों से बचने के लिए बहुत सतर्क रहना पड़ता है।

मीरा के पदों में से शब्द-संग्रह करते समय मुझे एक पद में ये दो चरण मिले– **'मोती मानिक परत न पहिरूं; मैं कबकी नटकी।'** और **'गैणो तो म्हारो माला दोवड़ी औ चन्दन की कुट़की।'** एक सुयोग्य विद्वान् ने कदाचित् अनवधानता के कारण इनमें से पहले चरण के 'नटकी' शब्द का अर्थ किया है– अस्वीकार कर दिया है, अर्थात् इसे नटना क्रिया से सम्बद्ध मान लिया है और दोवड़ी का अर्थ लिखा है– एक प्रकार का गहना। ऐसा सम्भवतः इसीलिए किया गया है कि मीरा के उक्त पद में पहले गैणों (हि० गहना या आभूषण का राजस्थानी रूप) शब्द आया है। पर मुझे ये दोनों अर्थ ठीक नहीं जंचे। नटना क्रिया तो ठीक है, पर नटका के अर्थ में कभी नटकना का प्रयोग नहीं होता। राजपूताने में नट जाति के लोगों, विशेषतः बालकों और युवकों को 'नटका' भी कहते हैं, जिसका अर्थ होता है-नट जाति का या नट की सन्तान। 'नटकी' इसी 'नटका' का स्त्री० रूप है। मीरा कहती हैं कि मैं कोई नट जाति की स्त्री नहीं हूं जो चमकीले पत्थरों से अपने आपको सजाऊं। 'दोवड़ी' के सम्बन्ध में मैंने सोचा कि जिस मीरा ने राज-सुख पर लात मारी थी, वह भला कोई गहना क्यों पहनेगी। तिसपर वह स्वयं कह रही है कि माला दोवड़ी और चन्दन की कुटकी ही मेरे गहने हैं। मैंने अपने विचारणीय शब्दों की सूची में दोवड़ी शब्द के साथ उक्त चरण लिख लिया था।कोई छह महीने बाद जब 'कबीर साहित्य का अध्ययन' प्रकाशित हुआ और मैं उसमें से शब्द-संग्रह करने लगा, तब उसमें एक जगह मिला– पांच गज दोवटी मांगी, चून लियो सानि। तब तुरन्त मेरा

ध्यान मीरा की दोवड़ी की ओर गया और दोनों पदों को मिलाकर देखने पर मालूम हुआ कि 'दोवटी' और 'दोवड़ी' एक ही चीज है। ये शब्द सं० द्विपट्ट * से निकले हैं, जिसका अर्थ है– साधारण मोटा कपड़ा। और तब यह शब्द मैंने अपनी प्रति में उक्त उदाहरणों सहित संकलित किया था। परन्तु **'शब्द और अर्थ'** का पहला संस्करण प्रकाशित होने पर सीतामऊ के महाराजकुमार डॉ. रघुबीर सिंह जी ने मुझे सूचित किया कि राजस्थान में 'दोवड़' या 'दोवड़ा' शब्द विशेषण के रूप में और 'दोलड़ा' के अर्थ में प्रचलित है; और 'दोवड़ी' इसी का स्त्री० रूप है। माला के साथ 'दोवड़ी' का प्रयोग होने पर उसका अर्थ होता है- दो लड़ोंवाली माला। राजस्थान में बड़े आदमी तो 5, 7 और 9 लड़ोंवाली बहुमूल्य मालाएं पहनते हैं परन्तु जन-साधारण हलके मूल्य की दो लड़ोंवाली मालाएं ही पहनते हैं। मुझे भी यही अर्थ संगत और समीचीन जान पड़ता है। इसी के अनुसार **'मानक हिन्दी कोश'** के दूसरे संस्करण के लिए मैंने 'दोवड़ी' के अर्थ का संशोधन भी किया है।

'सूर-सागर' में एक जगह आया है- जनि बल बाँधि बढ़ावहु छीति। इसमें पहले तो 'बल बाँधना' मुहावरा है, जिसका आज-कल के शब्दों में अर्थ है– जोर लगाना या प्रयत्न करना। यह मुहावरा ही अब तक कोश में नहीं आया है। दूसरा शब्द है 'छीति' जिसको **हिन्दी शब्द-सागर** में सं० क्षति से व्युत्पन्न माना गया है और जिसका अर्थ किया गया है- हानि, बुराई आदि। सूर के शब्दों का नये सिरे से संग्रह करते समय जब मेरा ध्यान इस शब्द पर गया, तब इसकी व्युत्पत्ति और अर्थ दोनों मुझे ठीक नहीं जान पड़े। वास्तव में बात यह है कि हि० छूना (स्पर्श करना) का उच्चारण ब्रज भाषा में छीना होता है। जिस प्रकार खड़ी बोली में छूना से भाववाचक संज्ञा छूत बनती है, उसी प्रकार ब्रज भाषा में छीना से छीति बनती है। इस छीति का पहला अर्थ वही छूत होता है, और दूसरा अर्थ सम्पर्क या सम्बन्ध होता है। सूरदास का आशय यही है कि प्रयत्नपूर्वक उनसे बहुत सम्बन्ध या हेल-मेल मत बढ़ाओ। और इस शब्द की निरुक्ति तथा अर्थ की इस प्रकार संगति बैठ जाने पर मैंने अपनी प्रति में इसी के अनुसार संशोधन किया है।

कबीरदास के एक पद में आया है– पाहू घर आये, मुकलाऊ आये। सन्त समाज में यह चरण विशेष प्रसिद्ध है, और गुरु ग्रन्थ साहब में भी यह इसी रूप में आया है। एक आदरणीय विद्वान् ने अपने ग्रन्थ में 'मुकलाऊ' का अर्थ किया है– मुक्त करना, विदा करना और इसीलिए उक्त पद का अर्थ दिया है– विदा कराने के लिए पाहुने आये हुए हैं। कबीर ने एक उलटवांसी में भी इस 'मुकलाना' शब्द का प्रयोग किया है– सुत मुकलाई अपनी माउ। उक्त ग्रन्थ में इसका अर्थ किया गया है– पुत्र (अज्ञान) अपनी माता (माया) को बन्धन से मुक्त कर लाया है। परन्तु पंजाबी होने के नाते मैं जानता हूं कि 'मुकलावा' पंजाबी में द्विरागमन को कहते हैं। दामाद जब विवाह के बाद अपनी बहू को विदा कराके अपने घर लाने के लिए ससुराल जाता है, तब कहा जाता है कि वह

---

*इसी से हिन्दी का 'दुपट्टा' शब्द भी बना है और 'दोहर' भी।

'मुकलावा' लेने के लिए गया है, और जब बहू घर आ जाती है, तब कहा जाता है– मुकलावा आ गया। इस दृष्टि से पहले उद्धरण का अर्थ होगा– बहू को विदा कराने के लिए दामाद * घर आया है और दूसरे उद्धरण का अर्थ होगा- पुत्र (अज्ञान) ने अपनी माता (माया) के साथ विवाह करके उसका गौना या द्विरागमन कराया है।

यह तो हुई ऐसे शब्दों की बात जो स्थानिक होते और जिनके विशिष्ट अर्थ होते हैं। इन्हीं से मिलते-जुलते कुछ ऐसे शब्द और पद भी होते हैं जो विशिष्ट भौगोलिक स्थितियों अथवा सामाजिक रीति-रिवाजों से सम्बद्ध होते हैं, जैसे– 'केसरिया बाना' और 'जौहर' का सम्बन्ध राजस्थान से है, और 'बीड़ा उठाना' भारत की सामन्त प्रणाली से सम्बद्ध है। 'झांझी', 'टेसू' आदि कुछ विशिष्ट क्षेत्रों के सामाजिक त्यौहार हैं, और सांझी कुछ विशिष्ट स्थानों के देव-मन्दिरों में प्रचलित सज्जा-कला है। इसी वर्ग में 'हाथों की चूड़ियां बनी रहना' (साथ में राखिए नाथ उन्हें हम हाथ मैं चाहति चारि चूरीयें। –देव) माथे का सिंदूर पोंछा जाना, तृण गहना या दांतों में तिनका पकड़ना, तिनके की ओट पकड़ना, तिनके की ओट करना या लेना (तृन धरि ओट कहति वैदेही।– तुलसी), दिशाएं रुकना, (किसी पर से) पानी पारकर पीना, सिर सूंघना आदि मुहावरे भी आते हैं। इस प्रकार के शब्दों और मुहावरों के अर्थ देने या व्याख्या करने के समय कुछ विशिष्ट प्रकार की जानकारी के सिवा बहुत कुछ सतर्कता की भी आवश्यकता होती है। 'तिरिया तेल, हमीर हठ चढ़ै न दूजी बार' में के तेल चढ़ना का आशय वही लोग समझ सकते हैं जो यह जानते हैं कि उत्तर भारत के हिन्दुओं में विवाह से एक-दो दिन पहले वर और वधू के शरीर पर तेल पोतने की रस्म होती है। बहुत दिन पहले मैंने उर्दू के एक बहुत बड़े और मान्य शब्द-कोश में हिन्दी के 'कनागत' शब्द की इस जानकारी के अभाव के कारण, बहुत ही विलक्षण दुर्दशा देखी। उसके आदरणीय सम्पादक महोदय हिन्दुओं की रीति-रस्मों और 'कनागत' की व्युत्पत्ति (कन्यागत या कन्या राशि में पहुंचा हुआ सूर्य) से बिलकुल अपरिचित थे, इसलिए इसका मनमाना अर्थ लगाते हुए वे लिख गये थे कि हिन्दू लोग इन दिनों में कन्याओं या लड़कियों को बस्ती के बाहर ले जाकर उनकी गत बनाते (दुर्दशा करते) हैं।

एक और क्षेत्र है, जिसमें अर्थों के सम्बन्ध में प्रायः गड़बड़ी होती है। बहुत-सी पुरानी चीजें या बातें ऐसी होती हैं, जिनका प्रचलन उठ जाने के कारण, लोगों का उनसे बहुत कम परिचय रह जाता है अथवा उनके सम्बन्ध में जनता में भ्रम फैल जाता है। उदाहरण के लिए आज-कल साधारणतः 'नावक' का अर्थ 'तीर' ही समझा जाता है, पर वास्तव में नावक साधारण तीर नहीं है, बल्कि वह एक विशेष प्रकार का छोटा तीर या उसका फल होता है, जो लोहे की नली में रखकर बारूद की सहायता से चलाया जाता था। ऐसी अनेक छोटी-मोटी बातें होती हैं, जिनके सम्बन्ध में कभी कोई विद्वान् विशेष छान-बीन करके उसके वास्तविक तथ्य का पता लगाता है, और तब अपने नये

---

* उक्त उद्धरण में पाहू उसी प्रकार दामाद के लिए आया है, जिस प्रकार आज भी पाहुना पश्चिम में और मेहमान पूरब में दामाद का वाचक माना जाता है।

अनुसन्धान का फल किसी पत्र-पत्रिका में प्रकाशित कराता है। कोशकार की दृष्टि इस क्षेत्र पर भी रहनी चाहिए। नेत्र-कष्ट के कारण मैं पढ़ता बहुत कम हूं, फिर भी फुटकर पत्र-पत्रिकाओं में मुझे कभी-कभी कुछ नये शब्द या अर्थ मिल ही जाते हैं। बहुत दिन पहले डा. वासुदेवशरण जी अग्रवाल दतिया का किला देखने गये थे। वहां उन्हें पुराने अस्त्र-शस्त्रों के सम्बन्ध में बहुत-सी नयी बातें मालूम हुई थीं, और मध्यकालीन युग के अनेक भारतीय आयुध देखने को मिले थे। उन्होंने इस सम्बन्ध का एक विस्तृत लेख अगस्त 1951 की 'कल्पना' में प्रकाशित कराया था। उस लेख में मुझे पचासों नये शब्द और नये विवरण मिले। उनका संग्रह करते समय एक नयी और जानने योग्य बात यह मिली कि 'झिलम' और 'टोप' दोनों एक ही चीज नहीं हैं, बल्कि दो अलग-अलग चीजें हैं। दोनों में ऐसा अन्तर है, जिसे अब लोग प्रायः भूल गये हैं। टोप तो लोहे का उपकरण है ही, जो युद्ध के समय सिर पर पहना जाता था। पर झिलम उसमें लगी हुई सिकड़ियों की उस झालर को कहते थे, जो पीछे गरदन की ओर लटकती थी। इसी अन्तर ने मेरा ध्यान इस बात की ओर भी आकृष्ट किया था कि इस शब्द का झिलमिली के साथ नैरुक्तिक सम्बन्ध होना चाहिए। इसी प्रकार का कुछ विशिष्ट अन्तर जिरह और बख्तर में भी है, पर वह अन्तर भी आज-कल लोग भूल गये हैं और दोनों एक चीज समझे जाते हैं। **मानक हिन्दी-कोश** के लिए उक्त चारों शब्दों की व्याख्या इसी आधार पर ठीक की गयी है, और दोनों शब्द-युग्मों के अन्तर स्पष्ट किये गये हैं। पुराने शब्दों के अतिरिक्त आज-कल हमारे साहित्य में ऐसे बहुत-से नये शब्द भी चल रहे हैं, जिनका ठीक-ठीक आशय कुछ विशिष्ट विद्वानों की आलोचनात्मक या साहित्यिक कृतियों में तो कहीं-कहीं मिलता है, पर साधारण पाठकों को जिनके ठीक और स्पष्ट अर्थ का ज्ञान नहीं होता। इस प्रकार के शब्द तो खूब मंज जाने के कारण लोगों की जबान पर चढ़ जाते या कलम से उतर आते हैं, पर इनके ठीक आशयों से पाठक तो क्या स्वयं लेखक भी कभी-कभी पूरे परिचित नहीं होते। अभी हाल तक छायावाद और रहस्यवाद को बहुत-से लोग समानार्थक समझते थे, और कदाचित् अब तक कुछ लोग उनमें विशेष अन्तर नहीं मानते। पर दोनों में अन्तर है– बहुत बड़ा अन्तर है। साधारण पाठकों के लिए यह अन्तर स्पष्ट कर दिखलाना कोशकार का ही काम है। अभिव्यंजनावाद, आदर्शवाद, प्रतीकवाद, यथार्थवाद, साधारणीकरण आदि सैकड़ों ऐसे नये शब्द साहित्य में चल पड़े हैं, जिन्हें ठीक और पूरी व्याख्या के साथ शब्द-कोशों में स्थान मिलना चाहिए। चारों ओर दृष्टि रखने से कोशकार को ऐसी बहुत-सी नयी बातें मिलती रहती हैं, जो उसके कोश में औरों की तुलना में बहुत कुछ नवीनता और विशेषता ला सकती हैं।

अब एक और क्षेत्र लीजिए, जो है तो परिमित, फिर भी प्राचीन हिन्दी साहित्य में वह पाया ही जाता है। वह है श्लेषों, उलटवांसियों, कूटों आदि का वर्ग। श्लिष्ट शब्दों और पदों के अर्थ तो फिर भी थोड़े-बहुत प्रयत्न से, या शब्द-कोशों की सहायता से, समझ में आ जाते हैं, जैसे– कहीं मित्र शब्द आया हो तो पाठक समझ सकते हैं कि अमुक प्रसंग में यह सूर्य के लिए आया है, और अमुक प्रसंग में दोस्त के लिए। कहीं 'हंस' मिले तो वे समझ सकते हैं कि यहां यह पक्षी के लिए आया है और यहां सूर्य के लिए। 'द्विज-पांति'

से वे समझ सकते हैं कि यहां ब्राह्मणों की पंक्ति वाला आशय अभीष्ट है, या दांतों की पंक्ति वाला या दोनों। इसका एक तीसरा अर्थ पक्षियों की पंक्ति भी हो सकता है। और इस क्षेत्र में शब्द-कोशों से जिज्ञासुओं को सहायता मिल सकती है, पर इससे आगे नहीं।

अब उलटवांसियां और कूट लीजिए। हिन्दी में कबीर की उलटवांसियां और सूर के कूट बहुत प्रसिद्ध हैं। पर उनका आशय समझना-समझाना सबका काम नहीं है, क्योंकि उनका सम्बन्ध कुछ विशिष्ट घटनाओं, तथ्यों, परिस्थितियों आदि से होता है। 'पहले पूत पीछे भई माई' सरीखी उलटवांसियों या गिरजापति-पतिनी-पतिजा-सुत' सरीखे कूटों का वास्तविक अभिप्राय कोशकार किसी प्रकार बतला ही नहीं सकता। उसका काम अलग-अलग शब्दों के अर्थ बतलाना और व्याख्या करना ही है, पौराणिक कथाओं, दार्शनिक तत्त्वों आदि का पारस्परिक सम्बन्ध और तारतम्य स्पष्ट करके उनका गूढ़ अभिप्राय या आशय बतलाना नहीं। कभी-कभी कुछ शब्दों के आदि, मध्य या अन्त के अक्षरों के योग से बनने वाले शब्दों का भी कवि लोग संकेत करते हैं। साधारण अवस्था में पाठक स्वयं ऐसे शब्द ढूंढ़ निकालते हैं। पर जहां शब्दों के पर्यायों के आदि अन्त के अक्षर जोड़कर शब्द ढूंढ़ने पड़ते हैं, वहां न पाठकों की बुद्धि काम करती है और न कोशों से सहायता मिल सकती है। सूर-कृत "भूसुत (कुज) मेघकाल (बरुखा) निसि (जामिनि) इनके आदि बरन चित आवै का अर्थ– कुब्जा का ध्यान आता है।" भला शब्द-कोश की सहायता से कैसे जाना जा सकता है ? ऐसे प्रसंगों में आनेवाले पदों और वाक्यों का ठीक और पूरा विवेचन ग्रन्थ विशेष के सम्पादकों का ही काम है। इस प्रकार के प्रयोगों की गणना तो पहेलियों के वर्ग में होनी चाहिए, और पहेलियां बूझने में शब्द-कोशों से कोई सहायता नहीं मिल सकती।

इसी से मिलती-जुलती एक और ऐसी अवस्था है जिसमें कोशकार के हाथ-पैर बंध जाते हैं– वह कुछ नहीं कर सकता। प्रायः लोग साधारण अवस्थाओं में कहीं 'कमल' के लिए 'विधि-तात', कहीं 'पूर्व दिशा' के लिए 'वासव', कहीं 'कल्प-वृक्ष' के लिए 'काम-भूरुह', और कहीं 'चन्द्रमा' के लिए 'गिरिजा-पति भूषण' सरीखे पदों का प्रयोग कर जाते हैं। इसी वर्ग का शब्द 'लक्ष्मी- सहज' है। इसका शब्दार्थ है- वह जो लक्ष्मी के साथ उत्पन्न हुआ हो। पर समुद्र-मंथन के समय लक्ष्मी के साथ तेरह अन्य चीजें भी निकली थीं; जैसे– अमृत, विष, चन्द्रमा आदि। यहां तक कि उच्चैश्रवा नाम का घोड़ा भी उसमें से निकला था। अब कोशकार 'लक्ष्मी-सहज' का अर्थ दे तो क्या दे ? और फिर 'लक्ष्मी सहज' तक तो बात है ही नहीं। लक्ष्मी के भी बीसियों पर्याय हैं और सहज के भी गाहियों। फिर समुद्र मन्थन से अमृत, ऐरावत, चंद्रमा, विष आदि और भी तेरह पदार्थ निकले थे और उन सबके नामों और पर्यायों के साथ 'सहज' अथवा उसके पर्यायों के योग से ऐसे सैकड़ों यौगिक पद बन सकते हैं और उन सभी को किसी प्रकार कोशों में स्थान नहीं दिया जा सकता। कोशकार तो अधिक से अधिक यही कर सकता है कि समुद्र-मन्थन के अन्तर्गत कुछ ब्योरा दे दे। ऐसे पदों का आशय जानने के लिए जिज्ञासुओं को दूसरे साधनों से सहायता लेनी पड़ेगी।

फिर कुछ ऐसे भिन्नार्थक शब्द भी होते हैं, जो किसी विशिष्ट क्षेत्र में एक दूसरे के

पर्याय मान लिये जाते हैं। उदाहरण के लिए चन्द्रमा का जो कलंक है, उसे कुछ लोग शश या खरगोश कहते हैं और कुछ लोग हिरन। कामदेव को मकर-ध्वज भी कहते हैं और मीन-केतु भी। कारण यही है कि उक्त प्रसंगों में कवि-समय के अनुसार शश और हिरन तथा मकर और मीन एकार्थवाची मान लिये गये हैं। कोशकार न तो शश का अर्थ हिरन या मकर का अर्थ मीन ही बतला सकता है, न प्रतिक्रमात् ही। ऐसी बातें साहित्य-शास्त्र के अध्ययन से ही जानी जा सकती हैं।

अब और एक प्रकार के शब्द लीजिये, जिनके कुछ विशिष्ट क्षेत्रों या प्रसंगों में ही अपने कुछ विशिष्ट अर्थ होते हैं। रहस्य-सम्प्रदाय में ऐसे बहुत से शब्द प्रचलित हैं, जिनके कुछ निजी और निराले अर्थ होते हैं; जैसे– उक्त सम्प्रदाय के ग्रन्थों में अम्बर से अन्तःकरण का, गुफा या सरोवर से हृदय का, और हंस से जीव, प्राण, आत्मा आदि का अर्थ लिया जाता है। उक्त सम्प्रदाय का साहित्य हिन्दी में प्रचुर मात्रा में पाया जाता है, और अब उसके अध्ययन की ओर लोगों की रुचि भी बढ़ने लगी है। पर अभी तक इस प्रकार के विशिष्ट अर्थों की ओर हिन्दी कोशकारों का ध्यान नहीं गया था। मेरी समझ में इस प्रकार के कुछ बहुत प्रसिद्ध और प्रचलित शब्द-अर्थ कोशों में सहज में लिये जा सकते हैं और यही समझ मैंने मानक कोश में इनका संकलन किया है।

कहीं-कहीं कवि लोग कुछ शब्दों का प्रयोग केवल सांकेतिक रूप में कर जाते हैं और ऐसे शब्दों के द्वारा वे कोई ऐसा भाव प्रकट करना चाहते हैं, जो न तो सहसा किसी की समझ में आ सकता है और न जिसका किसी दूसरे प्रसंग में वह अर्थ या आशय लग सकता है। उदाहरण के लिए तुलसी सतसई में गोस्वामी जी ने कहा है– **भगन भगति करू मरम तजि, तगन सगन विधि होय**। कहा जाता है कि इसमें का 'भगन' यहां माधव के लिए; 'तगन' सन्तोष के लिए और 'सगन' शुचिता के लिये आया है। ये सब शब्द (भगण, तगण, सगण) छन्द-शास्त्र के गणों के नाम हैं, और हो सकता है कि कुछ विद्वान् दिमाग लड़ाकर इन गणों को कुछ और तत्त्वों या बातों का भी सूचक सिद्ध कर सकें। पर गोस्वामी जी ने जिस अभिप्राय से इन शब्दों का प्रयोग किया है, वह अभिप्राय तुलसी-सतसई की अच्छी टीका से ही जाना जा सकता है, किसी शब्द-कोश की सहायता से नहीं क्योंकि गणों के ये नये नाम बहुत से शब्दों के सूचक हो सकते हैं। हाँ, लोग अपनी समझ से प्रसंग के अनुसार इनका आशय समझ सकते हैं।

इस वर्ग में ऐसे साधारण शब्द भी आते हैं, जिनका हमारे यहाँ के भक्त कवियों ने विशेष रूप से प्रयोग किया है, और जिनका सम्बन्ध किसी विशिष्ट पौराणिक कथानक या घटना से होता है; जैसे– व्याध, गीध, गणिका आदि। ये शब्द साधारणतः जातिवाचक संज्ञा हैं। कोशों में इनके साधारण अर्थ तो मिल जायेंगे, पर जो विशिष्ट व्याध, गीध और गणिका उक्त पद में अभिप्रेत हैं, उनका विवरण भी तो जिज्ञासुओं को मिलना चाहिए। इस दृष्टि से अब तक किसी कोश में ऐसे शब्दों का विवेचन नहीं हुआ है। पर यदि विचारपूर्वक देखा जाये तो कोशों में बहुत प्रचलित और प्रसिद्ध शब्दों के अन्तर्गत इससे सम्बन्ध रखनेवाले पौराणिक कथानकों, घटनाओं या व्यक्तियों का भी कुछ उल्लेख होना चाहिए।

कभी-कभी कवि लोग यौगिक पदों के अलग-अलग अंगों या शब्दों के पर्यायों के योग से भी नये शब्द बना लेते हैं; जैसे– धनुष-यज्ञ के लिए चाप-मख, इन्द्र-धनुष के लिए चक्र-चाप, वाग्वीर या शब्द-सूर के लिए गिरा-भट या सुग्रीव के लिए सुकंठ आदि। इस प्रकार के शब्द जब संस्कृत के क्षेत्र से आगे बढ़कर हिन्दी के क्षेत्र में आते हैं, तब वे कोशकारों के लिए एक समस्या सी खड़ी कर देते हैं; जैसे– कामधेनु के लिए सुर-गैया या यदुराज के लिए जदुरैया सरीखे प्रयोग। इस प्रकार के बहुत से नये शब्द भी बनाये जा सकते हैं, और उन सबकी कल्पना करके शब्द कोशों में उन सबको स्थान देना न तो संगत ही है, न सम्भव ही। फिर भी इनमें जो अधिक प्रसिद्ध हों या जिनका प्राचीन काव्यों में विशेष प्रयोग हुआ हो, उन्हें शब्द-कोश में ले लेना ही उचित होगा।

अर्थ की दृष्टि से कोशकार को एक और महत्त्वपूर्ण बात का ध्यान रखना पड़ता है। जीवित और प्रचलित भाषाएँ सदा बढ़ती रहती हैं। उनमें नये-नये शब्द और नये-नये अर्थ बढ़ते रहते हैं, और जब तक कोश में ऐसे नये शब्द और नये अर्थ न लिये जायें, तब तक वह अद्यावधिक नहीं हो सकता। आज-कल सारे देश में 'मत' शब्द अंग्रेजी के 'वोट' के लिए प्रचलित है। परन्तु जब इन पंक्तियों का लेखक **प्रामाणिक हिन्दी कोश** तैयार कर रहा था तब उसने देखा कि हिन्दी के किसी कोश में 'मत' का यह नया अर्थ नहीं आया है। कारण कदाचित् यही है कि जिस समय **हिन्दी शब्द-सागर** बना था, उस समय इस नये अर्थ में 'मत' शब्द बहुत अधिक प्रचलित नहीं हुआ था। यदि शब्द-सागर में इस शब्द का उक्त अर्थ आया होता, तो अन्य कोशों में भी अवश्य आ जाता। 'मत' का यह नया अर्थ पहले-पहल **प्रामाणिक हिन्दी कोश** में बढ़ाया गया था। 'चरम' अब तक विशेषण माना जाता है, पर अब वह उपन्यासों और नाटकों के सम्बन्ध में उस विशिष्ट स्थिति की सूचक संज्ञा के रूप में भी व्यवहार होने लगा है, जिसमें घटना-क्रम या कथा-वस्तु आगे बढ़ती हुई अपनी चरम सीमा पर पहुंचकर उतार या समाप्ति की ओर चलती है और जिसे अंग्रेजी में 'क्लाइमेक्स' कहते हैं। आज-कल 'आकाश-वाणी' शब्द 'रेडियो' के लिए बहुत प्रयुक्त होता है। 'समारम्भ' का साधारण अर्थ है– अच्छा आरम्भ। पर अब यह हिन्दी में उत्सव या समारोह के अर्थ में चल पड़ा है। पहले 'दैनिकी' का अर्थ था– दैनिक वेतन या भाड़ा, पर अब वह अं० डायरी के अर्थ में चल रहा है। 'निर्भर' का अर्थ है– अच्छी तरह भरा हुआ या पूरा, पर आज-कल वह अवलम्बित या आश्रित के अर्थ में चलता है। अंग्रेजी की देखा-देखी 'दुर्बलता' में एक नया अर्थ लग गया है। हम कहते हैं– उनमें एक दुर्बलता यह भी है कि वे सुनी-सुनायी बातों पर जल्दी विश्वास कर लेते हैं। स्थूल आकलन (या विचार) सूक्ष्म बुद्धि (या अन्तर), सरीखे प्रयोगों में स्थूल और सूक्ष्म के जो अर्थ हैं, वे अब तक किसी कोश में ठीक से नहीं आये हैं। ढूँढ़ने पर इस प्रकार के सैकड़ों-हजारों नये शब्द मिल सकते हैं। जब तक ऐसे नये अर्थ कोश में न आयें, तब तक वह आधुनिक विद्यार्थियों के लिए उपयोगी और सर्वांगपूर्ण नहीं कहा जा सकता।

यहाँ प्रसंगवश एक और बात बतला देना आवश्यक जान पड़ता है। हिन्दी में 'समाचार' आज-कल खबर के अर्थ में बहुत प्रयुक्त हो रहा है, बल्कि यों कहना चाहिए कि अब इस शब्द का 'खबर' के सिवा और कोई अर्थ रह ही नहीं गया। कम से कम गोस्वामी

तुलसीदास जी के समय से तो यह इसी अर्थ में प्रचलित है । यथा –समाचार पुरवासिन पाये । संस्कृत में इसके 'अच्छा आचार' आदि कुछ अर्थ थे, पर वे सब प्रायः छूट से गये हैं । पहले इसमें पुराने अर्थों के साथ नया अर्थ लगा–किसी के आचरण का ज्ञान, परिचय या सूचना । और तब यही अर्थ विकसित होकर साधारण 'खबर' के रूप में परिणत हो गया । यह ठीक है कि संस्कृत के बहुत पुराने कोशों में इस शब्द का यह अर्थ नहीं मिलता । परन्तु केवल इसी आधार पर एक प्रतिष्ठित विद्वान् इसे संस्कृत का शब्द मानने के लिए तैयार नहीं हैं । वह इसके लिए क्लिष्ट-कल्पना करते हुए कहते हैं कि 'खबर' के अर्थ में 'समाचार' शब्द सम्भवतः सं० संचार * से निकला होगा । पर यह द्रविड़ प्राणायाम के सिवा कुछ नहीं है । सीधी सी बात यह जान पड़ती है कि समाचार का विकसित अर्थ रहा होगा– अच्छी तरह रहना । और इसी से आगे चलकर किसी के कुशलपूर्वक होने की जो सूचना होती होगी, उसे भी 'समाचार' कहने लगे होंगे, और इस प्रकार यह शब्द 'खबर' के अर्थ में प्रचलित हो गया होगा । फिर यह मत भी ठीक नहीं है कि संस्कृत शब्द का जो अर्थ पुराने संस्कृत कोशों में न मिले, उस अर्थ में वह संस्कृत का शब्द ही न माना जाये । इस मत के अनुसार तो अपने नये अर्थों में प्रचलित सैकड़ों हजारों शब्द संस्कृत के क्षेत्र से अलग हो जायेंगे ।

आज कल भारत भर में 'चल-चित्र' शब्द फिल्म के अर्थ में बहुत अधिक प्रचलित है । 'चल' और 'चित्र' दोनों संस्कृत के शब्द हैं; पर दोनों का यह यौगिक रूप संस्कृत में प्रचलित नहीं था, यह रूप तो अब गढ़ा गया है । संस्कृत कोशों में 'चल-चित्र' शब्द ही नहीं मिलेगा, अर्थ का तो कहना ही क्या है । यही बात 'प्रवर समिति', 'राज्य परिषद्', 'लोक सभा', 'स्थानिक स्वराज्य', 'स्थायी समिति' सरीखे सैकड़ों हजारों शब्दों के सम्बन्ध में भी है; जो इधर हाल में नये बने हैं और बिलकुल नये अर्थों में प्रचलित हैं । फिर भी निरुक्ति की दृष्टि से ये शब्द संस्कृत के ही माने जायेंगे, किसी अन्य भाषा के नहीं । संस्कृत व्याकरण के अनुसार उपसर्ग केवल बीस माने गये हैं । पर उपसर्ग हिन्दी में भी होते हैं और अरबी, फारसी और अंग्रेजी आदि अन्य भाषाओं में भी । अरबी में अल्, बिल् आदि उपसर्ग होते हैं । फारसी में कम, बद आदि शब्द कुछ अवस्थाओं में शब्दों के पहले उपसर्ग के रूप में लगते हैं; जैसे– कम्बख्त, बदबू आदि । इसी प्रकार अंग्रेजी के अन्, प्री, मिस्, सब् आदि अनेक उपसर्ग होते हैं । यदि हम उपर्सग शब्द का प्रयोग किसी ऐसे अव्यय या शब्द के सम्बन्ध में करें जो हिन्दी अथवा किसी अन्य भाषा में उपसर्ग की तरह लगता हो तो उसके विषय में यह आपत्ति ठीक नहीं कि इसे उपसर्ग नहीं कहना चाहिए, क्योंकि यह संस्कृत के उपसर्गों की सूची में नहीं आया है । ऐसे अवसरों पर हमें अर्थों के सम्बन्ध में अपनी दृष्टि व्यापक और धारणा उदार रखनी चाहिए । हमें इस सर्वमान्य सिद्धान्त के आगे सिर झुकाना चाहिए कि शब्दों के अर्थों का बराबर विकास होता रहता है, उनमें नये अर्थ लगते रहते हैं । संस्कृत के पुराने शब्द कुछ विशिष्ट अर्थों के क्षेत्र में बांधकर नहीं रखे जा सकते; उनका अर्थ-विकास होता ही रहेगा ।

---

* यों उत्तर प्रदेश में रहने वाले राजस्थानी भाई भले ही चिट्ठी-पत्री में लिखा करें– आगे भाई जी समचार नग एक बंचना । यहां भी यह समाचार का ही विकृत रूप है, संचार का नहीं ।

भाषा विज्ञान में अर्थापदेश का तत्त्व आरम्भ से ही मान्य है। पर हमारे यहां यह तत्त्व कुछ अवस्थाओं में असाधारण रूप से भी काम करता हुआ दिखायी देता है। उदाहरण के लिए अर्जुन शब्द लीजिए। यह पांडवों में के एक भाई का नाम तो है ही जो प्रसिद्ध धुनर्धर थे। इसके अतिरिक्त यह एक प्रसिद्ध वृक्ष का भी नाम है। पहले तो एक विशिष्ट क्षेत्र में पांडव अर्जुन के अनेक नाम बने और दूसरे क्षेत्र में वृक्ष अर्जुन के। पर आगे चलकर दोनों के अलग अलग नाम भी एक दूसरे के पर्याय माने जाने लगे। हमारे यहां कवियों ने अनेक स्थलों पर ऐसा ही किया है। हिन्दी का 'टेक' शब्द लीजिए। इसके अनेक अर्थों में दो अर्थ बहुत प्रसिद्ध हैं। यथा — (क) दृढ़ता पूर्वक की हुई ऐसी प्रतिज्ञा जिससे मनुष्य कभी विचलित न हो, और (ख) गीत का पहला चरण जो हर चरण के बाद दोहराया जाता है और जिसे संगीत के पारिभाषिक क्षेत्र में आस्थायी (स्थायी) कहते हैं। इस अर्थ में इसका एक पुराना पर्याय गीत-भार भी है। परन्तु कवि प्रसाद ने एक जगह इस गीत-भार पद का निम्न पंक्तियों में ऊपर बतलाए हुए पहले अर्थ में ही प्रयोग किया है–

देखता हूं मरना ही भारत की नारियों का एक गीत भार है।

यहां गीत-भार टेक के पहले अर्थ में हुआ है जो ठीक नहीं जान पड़ता।

यहां तक तो हुआ शब्दों के अर्थों का विवेचन, अब एक दूसरा अंग या पक्ष लीजिए। शब्द कोशों में अर्थ दो रूपों में दिये जाते हैं– पर्याय रूप में और व्याख्या रूप में। अधिकतर अवसरों पर प्रसिद्ध और विशेष प्रचलित पर्याय दे देने से ही काम चल जाता है; जैसे– अनंग, कंदर्प, पंचशर, मदन, मनमथ, स्मर आदि के आगे कामदेव लिख दिया जाये और कामदेव में विस्तृत विवरण या व्याख्या दे दी जाये तो काम चल जायेगा। पर कुछ अवसरों पर तत्त्वों; पदार्थों आदि की कुछ परिभाषा देने या व्याख्या करने की भी आवश्यकता होती है। यह परिभाषा कठिन या दुरूह शब्द को सुगम और सुबोध बनाने के लिए होती है। साधारण नियम यही है कि शब्दों की व्याख्या पहले की जाती है और तब उसके पर्याय दिये जाते हैं। शब्दों की व्याख्या का काम कभी कभी इसलिए बहुत कठिन हो जाता है कि हम शब्द का आशय या भाव तो ठीक तरह से समझ लेते हैं, पर शब्दों में वह आशय या भाव प्रकट करने का प्रकार या रूप निश्चित नहीं कर पाते। अपनी अनुभूति को अभिव्यंजना का रूप देने में हम पूरी तरह से समर्थ नहीं होते। शब्द की परिभाषा या व्याख्या करते समय उसके अनेक तत्त्वों या सिद्धान्तों का स्वरूप बतलाना देना भी आवश्यक है। वे तत्त्व या सिद्धान्त इस प्रकार हैं–

1 प्रत्येक परिभाषा या व्याख्या सदा एक वाक्य में पूरी होनी चाहिए, और जहां तक हो सके यह सब प्रकार से ठीक और पूरी होनी चाहिए। कोई शब्द जिस भाव या विचार का सूचक हो, उससे सम्बन्ध रखनेवाले सभी अंगों या रूपों पर वह परिभाषा बिलकुल ठीक घटनी चाहिए; अर्थात् उसमें अव्याप्ति दोष नहीं होना चाहिए।

2 किसी शब्द के जिस अर्थ की परिभाषा की जाये मुख्यतः उसी पर दृष्टि रहनी चाहिये। जहां तक हो सके, परिभाषा संक्षेप में होनी चाहिए, और उसमें इधर उधर की फालतू बातें नहीं आनी चाहिए; अर्थात् वह अतिव्याप्ति दोष से भी रहित होनी चाहिए।

3 परिभाषा सदा सरल और स्पष्ट होनी चाहिए। उसका रूप ऐसा जटिल या दुरूह नहीं होना चाहिए कि स्वयं उस परिभाषा की भी परिभाषा अपेक्षित हो, और न उसमें ऐसे कठिन पारिभाषिक शब्द आने चाहिए जिन्हें समझने के लिए जिज्ञासुओं को कोशों आदि की सहायता लेनी पड़े। हाँ, कुछ विशिष्ट वैज्ञानिक शब्द कभी कभी इसके अपवाद भी हो सकते हैं।

4 आरम्भिक परिभाषा या व्याख्या में कहीं वह शब्द या उसका कोई पर्याय नहीं आना चाहिए, जिसकी परिभाषा या व्याख्या की जा रही हो।

परिभाषा के सम्बन्ध में एक बहुत ही विलक्षण बात यह है कि बहुत ही थोड़ी ऐसी चीजें या शब्द होते हैं जिनकी ठीक ठीक परिभाषा हो सकती है। जो शब्द जितना ही साधारण और सीधा-साधा होता है, उसकी परिभाषा करना भी उतना ही कठिन होता है। कारण यह है कि साधारण वस्तुओं या शब्दों की व्याख्या या परिभाषा करने के लिए अपेक्षया अधिक सरल और साधारण शब्द ढूंढ़ निकालना बहुत ही कठिन होता है। इसलिए अधिकतर हिन्दी कोशों में लोग या तो केवल पर्याय देकर काम चलाते हैं या ऐसी परिभाषाएं या व्याख्याएं भर देते हैं जिनसे कुछ भी फल-सिद्धि नहीं हो सकती। इधर **मानक हिन्दी कोश** तैयार करने के समय जब मुझे हिन्दी और संस्कृत के प्रायः सभी शब्दों पर फिर से नयी दृष्टि से विचार करना पड़ा, तब मैंने देखा कि ठेठ हिन्दी के बहुत ही छोटे, परम प्रचलित और साधारण शब्द भी अर्थ तथा व्याख्या की दृष्टि से अब तक निरे अधूरे पड़े हैं, और उनके सम्बन्ध में अधिक विचारपूर्वक नया काम करने की आवश्यकता है। उदाहरणार्थ, **हिन्दी शब्द सागर** के अच्छा, अभी, आन, इतना, उधर, उठना, उलटा, ऊंचा, ऊपर और कच्चा, काटना, कड़ा, कल आदि शब्द देखे जा सकते हैं। शब्द सागर में 'अच्छा' के सब अर्थ दो भागों में बांटकर रख दिये गये हैं, और उन दोनों भागों में पर्याय मात्र भरे पड़े हैं। पहले अर्थ भाग में उत्तम, भला, बढ़िया, उम्दा, खरा और चोखा दिया है और दूसरे अर्थ-भाग में स्वस्थ, चंगा, तन्दुरुस्त, निरोग और आरोग्य। दूसरे अर्थ-भाग के पर्याय तो बहुत कुछ समानार्थक माने भी जा सकते हैं, पर पहले अर्थभाग में दिये हुए पर्यायों का पारस्परिक सामंजस्य स्थापित करना बहुत ही कठिन है। और फिर सबसे बड़ी बात यह है कि इतने पर्याय एक साथ दे देने पर भी 'अच्छा' शब्द का ठीक ठीक आशय इसलिए समझ में नहीं आ सकता है कि उन पर्यायों की भी कहीं कोई समुचित व्याख्या नहीं है। हर शब्द के साथ घूम-फिर कर वही पर्याय आते हैं। उनकी आत्मा या वास्तविक आशय का परिज्ञान कराने वाली व्याख्या कहीं नहीं मिलती। यही हाल 'आन' का है। उसमें सात आठ अर्थ-विभाग हैं, जिनमें से अनेक अर्थ-विभागों में दिये हुए पर्यायों का आपस में कोई मेल नहीं बैठता। उदाहरणार्थ चौथे अर्थ-विभाग में ढंग, तर्ज, अदा और छवि, और सातवें अर्थ-विभाग में दिये हुए पर्यायों का आपस में कोई मेल नहीं बैठता। उदाहरणार्थ चौथे अर्थ विभाग में, ढंग, तर्ज, अदा और छवि, और सातवें अर्थ-विभाग में अदब, लिहाज, दबाब, लज्जा, शर्म, शंका, डर और भय ऐसे पर्याय हैं जो अर्थ और आशय के विचार से एक दूसरे से बहुत दूर जा पड़ते हैं। कहां ढंग और कहां छवि ! कहां अदब। कहां शंका और कहां भय ! और तिस पर व्याख्या कहीं

नहीं। मानक कोश के लिए इस एक 'आन' शब्द की व्याख्या निश्चित करने और तर्क संगत रूप में उसका विवेचन करने में मुझे चार दिन लगाने पड़े थे और 'अभी' के विवेचन में छः दिन लगे थे। 'अभी' शब्द का शब्द सागर में एक ही अर्थ है:इसी क्षण, इसी वक्त। पर जब हम कहते हैं–(क) वह अभी चार ही वर्ष का था कि उसके पिता का देहान्त हो गया; अथवा (ख) ग्रहण तो अभी माघ में लगेगा; अथवा (ग) यह तो अभी कल की बात है; तो क्या इन प्रयोगों में भी 'अभी' का वही अर्थ है जो शब्द सागर में दिया गया है ? कदापि नहीं*। इसीलिए मैं इस निष्कर्ष पर पहुंचा हूं कि ठेठ हिन्दी के बहुत ही छोटे और साधारण समझे जानेवाले शब्दों पर हमें नये ढ़ग से और पूरा विचार करना चाहिए।

प्रायः होता यही है कि पारिभाषिक और व्याख्यात शब्द तो बहुत अधिक सरल होता है, पर उसकी परिभाषा या व्याख्या करना बहुत ही कठिन होता है, और इसलिए उसकी परिभाषा और भी अधिक जटिल तथा दुरूह हो जाती है। यह ठीक है कि बहुत से पारिभाषिक और वैज्ञानिक शब्द ऐसे होते हैं जिनकी ठीक और पूरी व्याख्या सरल और सुबोध रूप में नहीं हो सकती, फिर भी अच्छे कोशकार का काम ही है उन्हें यथा-साध्य बोध-गम्य बनाना। यहीं जाकर कोशकार की योग्यता और सूक्ष्म-दर्शिता की परीक्षा होती है। परिभाषा या व्याख्या थोड़े में ऐसे ढंग से की जानी चाहिए कि जिज्ञासु पाठक सहज में उसके स्थूल रूप से परिचित हो जायें। कुछ शब्दों की कुछ विशिष्ट क्षेत्र में असाधारण प्रकार की व्याख्या या पारिभाषिक विवेचन होता है, पर शब्द-कोशों में उनकी ऐसी व्याख्या या विवेचन की आवश्यकता होती है, जिसे सब लोग सहज में समझ सकें। कुछ शब्द ऐसे भी (यथा-अधिकार, धातु , मात्रा, मूल, योग, रस, विधि, सम आदि) होते हैं, जो भिन्न-भिन्न क्षेत्रों या शास्त्रों में कुछ विशेष प्रकार के अर्थ रखते हैं। ऐसे अवसरों पर इस बात का संकेत कर देना भी कोशकार का कर्त्तव्य हो जाता है कि इस शब्द का यह अर्थ अमुक क्षेत्र या शास्त्र से सम्बन्ध रखता है।

इसके सिवा कुछ ऐसे शब्द भी होते हैं, जिनके अर्थ के सम्बन्ध में तो विशेष विवाद नहीं होता, पर जिनकी व्याख्याएं अलग-अलग शास्त्रों में अलग-अलग प्रकार से होती हैं। तत्त्व, द्रव्य, धर्म, मन सरीखे बहुत से ऐसे शब्द हैं, जिनका आध्यात्मिक क्षेत्र में एक प्रकार से अर्थ या व्याख्या की जाती है, दार्शनिक क्षेत्र में दूसरे प्रकार से, भौतिक विज्ञान में तीसरे प्रकार से और मनोविज्ञान में चौथे प्रकार से। ** ऐसे अवसरों पर कोशकार का कर्त्तव्य है कि वह अर्थ के आरम्भ में इस बात का संकेत कर दे कि अमुक शास्त्र या

---

* मानक हिन्दी कोश के लिए ऐसे सभी शब्दों का बिलकुल नये ढंग से और पूरा तथा व्याख्यात्मक विवेचन मैंने किया है।

** उदाहरण के लिए अर्थ-शास्त्र में 'भूमि' का अर्थ जमीन या पृथ्वी तक ही परिमित नहीं रहता, बल्कि पृथ्वी के गर्भ, धरातल के ऊपरी भाग और उस पर की सब चीजों (नदी, पर्वत, गर्मी, सर्दी, वर्षा आदि) का भी उसमें अन्तर्भाव होता है, क्योंकि सभी चीजों से किसी न किसी प्रकार का उत्पादन होता है या हो सकता है। इसके विपरीत उक्त शास्त्र में मनुष्य का श्रम ही 'श्रम' माना जाता है। उसमें घोड़े, बैलों या पशु-पक्षियों का श्रम इसलिए 'श्रम' नहीं माना जाता कि आर्थिक दृष्टि से मनुष्य के लिए उपयोगी होने पर भी स्वयं उन पशु-पक्षियों के लिए उत्पादन या उपयोगी नहीं होता।

विज्ञान में इस बात का अर्थ लिया जाता है, अथवा अर्थ के अन्त में कोष्ठक में भी इस बात का निर्देश किया जा सकता है। इस प्रकार के निर्देश का ध्यान शब्दों के अतिरिक्त मुहावरों के सम्बन्ध में भी रखना पड़ता है, और कुछ अवसरों पर यह बतलाना भी आवश्यक हो जाता है कि अमुक शब्द या अर्थ किस भौगोलिक क्षेत्र या प्रदेश का है।

कोशकारों के सामने इधर हाल में वेब्सटर की **न्यू डिक्शनरी** ने एक नया आदर्श रखा है जो बहुत ही उपयोगी तथा उपादेय होने के कारण अच्छे, और बड़े शब्द-कोशों के लिए विशेष रूप से अनुकरणीय है। उसमें अनेक शब्दों के अन्तर्गत उनके मिलते-जुलते पर्यायों के सूक्ष्म अन्तर भी दिखलाये गये हैं। यथा फीयर (Fear) के अन्तर्गत ड्रेड (Dread), फ्राइट (Fright), एलार्म (Alarm), डिस्मे (Dismay), टेरर (Terror) और पैनिक (Panic) के सूक्ष्म अन्तर भी बतला दिये गये हैं। ऐसा यही सोचकर किया गया है कि कोशकार का काम शब्दों के अर्थ बतला देने से ही समाप्त नहीं हो जाता, बल्कि इससे भी आगे बढ़कर उसका काम होता है– लोगों को शब्दों के ठीक प्रयोग बतलाना। हमारे यहां ऐसे सैकड़ों-हजारों शब्द मिलेंगे, जिनके पारस्परिक सूक्ष्म अन्तर बतलाये जा सकते हैं, और इस प्रकार जिज्ञासुओं को शब्दों पर नये ढंग से विचार करने का अभ्यास कराया जा सकता है। इसी दृष्टि से मानक हिन्दी कोश में ठंड और ठंडक; तुल्य, सदृश और समान; मात्रा और मान; सहना, झेलना और भोगना; संशय और सन्देह; साहित्य और वाङ्मय सरीखे अनेक शब्दों के अन्तर्गत उनके पारस्परिक सूक्ष्म भेद बतलाने का भी प्रयत्न किया गया है। यह ऐसा नया क्षेत्र है जिसमें भावी कोशकारों को अधिकाधिक काम करके दिखलाना चाहिए।

शब्दों की व्याख्या करते समय ध्यान में रखने की दूसरी महत्त्वपूर्ण बात यह है कि यह यथा-साध्य बोध-गम्य या स्पष्ट होनी चाहिए--पहले के रूप में या ऐसी नहीं होनी चाहिए, जिसे समझने के लिए जिज्ञासु को सिर-पच्ची करने पर भी निराश या विफल ही रहना पड़े। व्याख्या के सम्बन्ध में सिद्धान्त यह होना चाहिए कि वह जिज्ञासुओं को निराश या खिन्न न करने पाये। बहुत ही साधारण ज्ञान रखनेवाले जिज्ञासु का तो उससे पूरा सन्तोष हो ही जाये, पर यदि वह व्याख्या किसी विद्वान् या विशेषज्ञ के सामने पड़े, तो वह भी मान ले कि कोशकार ने यह विषय अच्छी तरह समझकर तो लिखा ही है, अच्छी तरह समझाकर भी लिखा है।

शब्द की व्याख्या के सम्बन्ध में एक सर्व-मान्य नियम यह है कि जिस शब्द की व्याख्या की जाये, स्वयं वह शब्द उस व्याख्या में नहीं आना चाहिए। कारण यह है कि परिभाषा या व्याख्या का मुख्य उद्देश्य कठिन को सहज या दुर्बोध को सुबोध करने के लिए ही होता है, और जो बात या विषय पहले ही दुर्बोध हो वह कुछ दूसरे शब्दों की सहायता से ही सुबोध कराया जा सकता है। कोशकार के लिए इस नियम का पालन आवश्यक तो है, पर इसके कारण कभी-कभी उसका काम बहुत कठिन हो जाता है। मुझे याद है कि हिन्दी शब्द सागर के सम्पादन के समय इसी दृष्टि से 'करना' क्रिया की व्याख्या और विवेचन करने के लिए स्व० पं० रामचन्द्र शुक्ल को और मुझे पूरे तीन दिन लगाने पड़े थे। इस सम्बन्ध में अन्यान्य अनेक प्रामाणिक कोश देखकर हमें यह नीति

निर्धारित करनी पड़ी थी कि शब्द की जो पहली और मूल व्याख्या हो, उसमें तो वह शब्द कदापि नहीं आना चाहिए; बाद के अर्थों में वह शब्द प्रयुक्त करना इसीलिए उतना दोषपूर्ण नहीं माना जाता कि पहले अर्थ में उसकी यथेष्ट व्याख्या हो चुकी होती है। अंग्रेजी के अनेक अच्छे शब्द-कोशों में यही परिपाटी दिखायी देती है और हिन्दी में भी यह आपत्तिजनक नहीं मानी जानी चाहिए।

अब हम अर्थों और विवरणों पर एक दूसरी दृष्टि से विचार करना चाहते हैं। अधिकतर शब्द ऐसे होते हैं, जिनके अनेक अर्थ होते हैं। पर वे सब अर्थ एक साथ ही उस शब्द में आकर लगे हुए नहीं होते। उनके अर्थ-विकास का भी एक क्रम—एक इतिहास होता है, और अच्छे कोशकार के लिए उस क्रम या इतिहास का भी ध्यान रखना बहुत आवश्यक है। यदि वे सब अर्थ साथ गड्ड-मड्ड करके बिना किसी क्रम या व्याख्या के रख दिये जायें तो एक भद्दे ढेर की तरह दिखायी देंगे। अच्छे कोशकार विवरणों और अर्थों का भी एक निश्चित क्रम लगाते हैं, और उन्हें नियमित तथा व्यवस्थित रूप में सजा कर जिज्ञासुओं के सामने रखते हैं। साधारणतः शब्दों के अर्थ तीन प्रकार के होते हैं—मूल अर्थ या शब्दार्थ, चलित अर्थ और लाक्षणिक अर्थ। किसी शब्द का जो आरम्भिक और मूल अर्थ होता है, वही शब्दार्थ कहलाता है। उस मूल अर्थ के बाद उसमें कुछ और अर्थ लगते हैं, जिन्हें चलित अर्थ कहते हैं। कभी-कभी कुछ शब्दों में मंगल-भाषित का अभिप्राय है किसी अमंगल-सूचक शब्द के स्थान पर किसी मंगलवाची शब्द का प्रयोग करना। सुहागिन स्त्रियों की चूड़ियाँ उस समय उतारी या तोड़ी जाती हैं, जब वे विधवा होती हैं, इसीलिए साधारण अवस्था में वे चूड़ी के उतारने के लिए चूड़ियाँ बढ़ाना और चूड़ी टूटने के समय 'चूड़ी बढ़ना' का प्रयोग करती हैं। दुकान बन्द करना कारोबार के समाप्त हो जाने की अशुभ भावना का सूचक है। इसलिए नित्य रात के समय दूकान बन्द करना लोक में 'दुकान बढ़ाना' कहलाता है। इसी प्रकार दीया बुझाना की जगह 'दीया बढ़ाना' कहलाता है, और 'चूल्हा बुझाना' की जगह 'चूल्हा ठंढा करना' कहते हैं। कुछ समाजों और भाषाओं में साधारण 'जाना' शब्द तक अशुभ माना जाता है। इसीलिए महाराष्ट्र में लोग जब कहीं से चलने लगते हैं, तब यह नहीं कहते—मी जातो (अर्थात मैं जाता हूं) बल्कि कहते हैं—मी येतो (अर्थात् मैं आता हूं), यही बात बँगला में भी है। फारसी में भी ऐसे अवसरों पर प्रायः 'मी आयम' कहा जाता है। अर्थात उक्त प्रसंग में 'आना' का प्रयोग जाना के अर्थ में होता है। कदाचित् इसी विचार से हिन्दी में भी लोग 'अब मैं जाता हूं' न कहकर प्रायः 'अब मैं चलता हूं' कहते हैं। बहुत कुछ इसी वर्ग में उर्दू भाषा तथा मुसलमानी समाज में एक और प्रकार का प्रयोग प्रचलित है। जब कोई बहुत बड़ा आदमी, रईस या राजा बीमार पड़ता है तब उसके घर के लोग और नौकर-चाकर कहते हैं—आज-कल हुजूर के दुश्मनों की तबीयत खराब है। ऐसे अवसरों पर तबीयत की खराबी या बीमारी का आरोप 'हुजूर' के बदले उनके 'दुश्मनों पर दिया जाता है। इसे हम अमंगल-वर्जित प्रयोग कह सकते हैं।

व्यंग्य के रूप में लोग प्रायः दुष्ट के अर्थ में भले-आदमी, महात्मा, महापुरुष, हजरत आदि का और किसी के मुंह पर 'कालिख पोतना', की जगह 'चन्दन पोतना या

लगाना' का प्रयोग करते हैं। जब गोपियाँ उद्धव से कहती हैं– 'मधुकर श्याम हमारे चोर' तब भी वे 'चोर' का प्रयोग कटाक्ष और व्यंग्य के रूप में ही करती हैं; उसके वास्तविक अर्थों में नहीं। उर्दू का एक शेर है :-

सबसे तुम अच्छे हो, तुमसे मेरी किस्मत अच्छी;
ये ही कम्बख़्त दिखा देती है सूरत अच्छी।

यहां पहले तो 'किस्मत' सबसे अच्छी कही गई है और फिर कटाक्ष तथा व्यंग्य के रूप में उसी को 'कम्बख़्त' भी कहा गया है।

कभी-कभी वाक्यों के कुछ शब्दों के अर्थ केवल प्रसंग के अनुसार और कभी-कभी 'काकु' अलंकार के कारण कुछ उलटे हो जाते हैं। जैसे– (क) आप ही तो सबसे चोखे हैं; और (ख) हम उनसे कब बात करते हैं! ऐसे सभी अवसरों पर तो नहीं, पर कुछ विशिष्ट अवसरों पर यह संकेत किया जा सकता है कि इस शब्द, पद या मुहावरे का इस अर्थ में प्रयोग परिहास, मंगल-भाषित या व्यंग्य के रूप में होता है अथवा यह अर्थ काकु से निकलता है।

कुछ ऐसी अवस्थाएं भी होती हैं जिनमें लोग केवल अपनी मनोदशा के अनुसार अथवा अपने मन का भाव सूचित करने के लिए ही किसी को कुछ बुरा-भला कह जाते हैं। गीतों में प्रायः आता है– **पापी पपीहा पी-पी पुकारे**। पपीहा वस्तुतः न तो पापी होता है और न पुण्यात्मा; फिर भी विरहिन नायिका उसकी पुकार से पीड़ित होने के कारण उसे 'पापी' कह डालती है। यही बात **'सखी री, रतियाँ बैरिन भयीं'** में के 'बैरिन' शब्द के सम्बन्ध में भी है। इस प्रकार के मनोदशासूचक शब्दों या पदों के अर्थ शब्द-कोशों में नहीं दिये जाते। इनका अर्थ या आशय पाठकों को प्रसंग के अनुसार ही लगाना या समझना पड़ता है।

कभी-कभी कुछ शब्दों का पारिभाषिक रूपों में भी प्रयोग होने लगता है। उदाहरण के लिए 'भस्म' शब्द लीजिये। इसका मूल या वास्तविक अर्थ है– किसी चीज के जल जाने पर उसकी बची हुई राख। परन्तु लोक में इसका चलित अर्थ है– शिव की धूनी की वह राख जो शैव लोग तिलक के रूप में मस्तक, भुजाओं, वक्षस्थल आदि पर लगाते हैं। फिर इसमें वैद्यकवाला वह अर्थ भी आ लगता है, जो धातु को फूंककर तैयार किये हुए 'रस' शब्द का पर्याय है। यहां प्रसंगवश यह भी बतला देना आवश्यक जान पड़ता है कि स्वयं 'रस' के भी बहुत-से अर्थ हैं, जो क्रमशः उसमें लगे हैं। ऐसे अर्थों का ठीक क्रम न रहने के कारण कोश का उपयोग करने वालों के मन में कई प्रकार के भ्रम हो सकते हैं। उदाहरणार्थ **'हिन्दी शब्द-सागर'** में और उसके अनुकरण पर बने हुए शेष सभी हिन्दी कोशों में 'आल्हा' शब्द के अन्तर्गत पहला अर्थ मिलता है– एक प्रकार का छन्द, और तब दूसरे अर्थ में महोबे के प्रसिद्ध वीर योद्धा का उल्लेख मिलता है। इससे यह भ्रम हो सकता है कि आल्हा नामक योद्धा के जन्म से पहले ही वीर नामक छन्द का एक दूसरा नाम 'आल्हा' भी चला आ रहा था। पर वास्तविक बात इसके बिलकुल विपरीत है। पहले आल्हा नामक वीर हुआ था, और उसके समय अथवा उसके बाद लोग

वीरतापूर्ण कृत्यों के कथानाक और गाथाएं वीर नामक छन्द में बनाने और गाने लगे थे। इसी आधार पर आगे चलकर वीर नामक छन्द का दूसरा नाम 'आल्हा' भी पड़ गया था। शब्द-सागर में 'परिमल' का पहला अर्थ दिया है– सुवास या खुशबू; दूसरा अर्थ है– सुगन्धित पदार्थ मलने से उत्पन्न होनेवाली सुगन्ध; तीसरा अर्थ है– मलने का कार्य या मालिश; और चौथा अर्थ है– उबटन। परन्तु इस शब्द के अर्थ-विकास की दृष्टि से यह क्रम बहुत कुछ उलटा-पुलटा और बिलकुल गलत है। पहला अर्थ होना चाहिए– अच्छी तरह मलने की क्रिया या भाव। दूसरा अर्थ होगा–शरीर में सुगन्धित पदार्थ मलना;तीसरा अर्थ होगा– इस प्रकार के पदार्थ के मलने से उत्पन्न होने वाली सुगन्ध; और तब चौथा अर्थ होगा– सुवास या सुगन्ध। यही इस शब्द के अर्थ-विकास का क्रम है, और 'मानक हिन्दी कोश' में मैंने 'परिमल' के अर्थ इसी क्रम में दिये हैं। भविष्य में जो कोश बनें, उनमें यथा-साध्य अर्थों के ऐसे क्रमिक विकास का पूरा ध्यान रखा जाना चाहिए। **प्रामाणिक हिन्दी कोश** के पहले संस्करण में अधिकार, करण, परिभाषा, विधि, साधारण, साहित्य, सूचना आदि का और दूसरे संस्करण में कवच, छाया, प्रकार, मात्रा, रस, रूपक, विकल्प सरीखे हजारों शब्दों का इसी दृष्टि से और बिलकुल नये ढंग से क्रमिक विवेचन किया गया है। अब **मानक हिन्दी कोश** में तो इस प्रकार के हजारों शब्दों का बिलकुल नये ढंग से विवेचन किया गया है और उनके अर्थ नये और युक्तिसंगत क्रम से रखे गये हैं। सारांश यह है कि शब्दकोशों में शब्द के सब अर्थ दे देना ही पर्याप्त नहीं है, उनके अर्थों का क्रम भी ठीक और संगत होना चाहिए।

शब्दों के अर्थों का क्रम लगा लेने पर तथा उनका वर्गीकरण कर लेने पर यदि उन्हें एक बार ध्यान से देख लिया जाये तो पता चलेगा कि वे अर्थ कुछ विशिष्ट या विभागों में बंट सकने के योग्य हो सकते हैं, और अच्छे कोशकार को ऐसे अर्थों के वर्ग या विभाग भी निश्चित करने पड़ते हैं। प्रत्येक वर्ग या विभाग में कुछ अलग-अलग प्रकार के शब्द भी आते हैं, और इस प्रकार के सब अर्थ एक साथ आने चाहिए। उदाहरणार्थ– रस शब्द लीजिए। इसके कुछ अर्थ तरल पदार्थों के वाचक होते हैं, कुछ घन पदार्थों के और कुछ अमूर्त भावनाओं या अनुभूतियों से सम्बद्ध होते हैं और सम्भवतः इसी क्रम से इसके अर्थों का विकास भी हुआ है। अतः इसके अर्थ भी इसी क्रम से होने चाहिए। फिर 'रस' शब्द में जीभ से सम्बन्ध रखनेवाले छह रसों का जहां उल्लेख हो, वहीं उसके बाद यह भी उल्लेख होना चाहिए कि काव्य में यह इस अर्थ के आधार पर छह की संख्या का भी वाचक है, और जहां साहित्य के नौ रसों का उल्लेख हो, वहीं उसके बाद उसके 9 की संख्या के वाचक होने का भी उल्लेख होना चाहिए।

शब्दों के अर्थ देते समय उनका ठीक-ठीक पार्थक्य दिखलाने और विभाग करने के लिए उनके साथ संख्यासूचक अंक देना बहुत आवश्यक होता है। हिन्दी में यह उपयोगी प्रथा **'हिन्दी शब्द-सागर'** से चली थी, और कुछ दूसरे कोशों ने भी इनका अनुकरण किया है। इससे जिज्ञासुओं को अर्थ समझने में बहुत सुभीता होता है और किसी प्रकार का भ्रम नहीं होने पाता। स्वयं कोशकार के लिए भी अर्थ-सूचक संख्याएं देना विशेष रूप से उपयोगी होता है। मान लीजिए कि हम किसी शब्द के आगे किसी ऐसे दूसरे शब्द का अभिदेश करना चाहते हैं, जिसके कई अर्थ हैं, जो सबके सब उद्दिष्ट

नहीं हैं, बल्कि उनमें से कोई विशेष अर्थ ही उद्दिष्ट है । उस समय उस शब्द की अर्थ-संख्या हमारे अभिदेश के लिए विशेष उपयोगी सिद्ध होगी । पर प्रायः कोशकार केवल स्थान की बचत करने के लिए अर्थ-संख्या रखते ही नहीं । शायद वे समझते हैं कि इस प्रकार बचाये हुए स्थान का उपयोग शब्दों की संख्या बढ़ाने में किया जा सकता है । पर इधर-उधर के बहुत से शब्द इकट्ठे करके बहुत से अर्थ एक साथ खिचड़ी के रूप में तैयार करके लोगों के सामने रखने की अपेक्षा थोड़े से ऐसे शब्द देना कहीं अच्छा है, जिनके अर्थ ठीक और पूरे हों और उचित क्रम तथा व्यवस्थित रूप में रखे गये हों । अंग्रेजी के अच्छे कोशों में इस प्रकार का बहुत सूक्ष्म विचार करके उनके अर्थ-विभाग किये जाते हैं । उनमें प्रत्येक विभाग के साथ संख्या-सूचक अंक तो रहते ही हैं, उन विभागों के अन्तर्गत क,ख,ग,घ आदि देकर उप-विभागवाले अर्थ भी दिये जाते हैं ।*

अर्थों के ठीक विभाग और उप-विभाग और क्रम लगा लेने के बाद एक और बात का ध्यान रखना चाहिए । कभी-कभी कुछ शब्दों के विशिष्ट अर्थों के साथ कुछ विशिष्ट मुहावरे, पद, कहावतें, क्रिया-प्रयोग आदि सम्बद्ध होते हैं । ये सब बातें भी अपने ठीक स्थान पर, अर्थात् उन्हीं अर्थों के तुरन्त बाद होनी चाहिए जिनका पालन सारे कोश में आदि से अन्त तक एक-सा हो । यदि पहले क्रिया-प्रयोग, तब पद और अन्त में मुहावरे या कहावतें हों तो और भी अच्छा है । परन्तु साधारण क्रिया-प्रयोगों और मुहावरों में जो सूक्ष्म अन्तर होता है, उसका कोशकार को पूरा और स्पष्ट ज्ञान होना चाहिए । उदाहरण के लिए 'हजामत बनाना' प्रयोग लीजिए । बिलकुल साधारण अर्थ में तो 'हजामत' के साथ 'बनाना' शब्द क्रिया मात्र के रूप में लगा है, पर किसी को मूर्ख बनाकर उससे रुपए वसूल करने के अर्थ में वह मुहावरा है । यही बात 'कान काटना', 'गोली मारना', 'चाल चलना', 'जान देना', 'मुँह खोलना', 'लोहा लेना' सरीखे प्रयोगों के सम्बन्ध में भी है, जिनमें एक अर्थ के विचार से तो क्रियाएं अपने साधारण रूप में लगी हैं पर दूसरे अर्थ के विचार से वे मुहावरा बनाती हैं । मुहावरों और कहावतों में भी इस प्रकार का बहुत बड़ा अन्तर है, और उस अन्तर का भी पूरा-पूरा ध्यान रखना चाहिए– दोनों को एक साथ मिला नहीं दिया जाना चाहिए ।

मुहावरों के सम्बन्ध में अच्छे कोशकारों के सामने एक और बहुत बड़ी कठिनता उपस्थित होती है, जिससे पार पाने के लिए गम्भीर विचार और सूक्ष्म-दर्शिता की आवश्यकता होती है । साधारणतः मुहावरे कई शब्दों के पद होते हैं, और उन्हें देखकर यह निश्चय करना कठिन होता है कि कोई मुहावरा उसमें आए हुए किस शब्द के अन्तर्गत रखा जाय । साधारण नियम यही है कि सारे पद में जो शब्द मुख्य हो, उसी में यह पद (या मुहावरा) रखा जाता है । 'शब्द-सागर' में इस सिद्धान्त का यथा-साध्य बहुत कुछ पालन हुआ है, और उसमें हिन्दी के भावी कोशकारों के लिए इस समस्या का बहुत

*'प्रामाणिक हिन्दी कोश' के पहले संस्करण में शब्दों के अर्थों के साथ भी और मुहावरों के अर्थों के साथ भी संख्या-सूचक अंक ही रखे गये थे । पर इसमें कहीं कहीं जिज्ञासुओं को भ्रम हो सकता था, इसलिए दूसरे संस्करण में मुहावरों के अर्थों के साथ संख्या-सूचक अंकों की जगह उनके विभेद सूचित करने के लिए क, ख, ग आदि वर्ण लगाये गये हैं । यही परिपाटी 'मानक हिन्दी कोश' में भी रखी गई है ।

कुछ निराकरण हो चुका है। फिर भी कुछ स्थलों पर; दृष्टि-दोष से, उसमें अनेक भूलें रह ही गई हैं। उदाहरणार्थ–उसमें 'ऊपर' शब्द के अन्तर्गत 'किसी के ऊपर टूट पड़ना' और 'किसी के ऊपर छार पड़ना' मुहावरे भी दे दिये गये हैं। इस सम्बन्ध में ध्यान देने की पहली बात यह है कि उक्त मुहावरों में 'किसी के ऊपर' पद प्रधान या मुख्य नहीं है, क्योंकि इसका रूप 'किसी पर' भी हो सकता है , वस्तुतः प्रधानता तो 'टूट पड़ना' और 'छार पड़ना' की है। अतः इनमें का पहला मुहावरा 'टूटना' के अन्तर्गत और दूसरा 'छार' के अन्तर्गत आना चाहिए। इन मुहावरों में किसी के ऊपर या किसी पर का कुछ भी महत्त्व नहीं है। यदि हम 'ऊपर' का महत्त्व मानें तो 'पर' का क्यों न मानें ? यदि 'ऊपर' या 'पर' का ही महत्त्व माना जाये, तब तो इधर-उधर के सैकड़ों-हजारों मुहावरे (जैसे–किसी पर मार पड़ना, किसी पर लानत भेजना आदि) 'ऊपर' या 'पर' के अन्तर्गत ही ला रखने पड़ेंगे। इसी प्रकार 'लगे हाथ' या 'लगे हाथों' मुहा० 'हाथ' के अन्तर्गत रहना चाहिए, 'लगना' के अन्तर्गत नहीं। 'गोली मारना' मुहा० 'गोली' के अन्तर्गत और 'चाल चलना' मुहा० 'चाल' के अन्तर्गत रहना चाहिए।

मुहावरों के रूपों और अर्थों के स्पष्टीकरण के सम्बन्ध में एक और बात ध्यान देने योग्य है। कोशों में मुहावरे ऐसे रूप में देने चाहिए कि उनका ठीक-ठीक प्रयोग भी लोगों को तुरन्त और स्पष्ट ज्ञात हो जाय। उदाहरणार्थ, **'हिन्दी शब्द-सागर'** में 'आँख' के अन्तर्गत सैकड़ों मुहावरे आये हैं; जैसे–आँख उठाना, आँख खोलना, आँख लगना आदि। ऐसे प्रत्येक मुहावरे का एक ही रूप रखकर उसके अन्तर्गत कई-कई अर्थ एक साथ दे दिये हैं, जिससे उस मुहावरे का आशय और प्रयोग ठीक तरह से स्पष्ट नहीं होने पाता। 'आँख लगना' ही लीजिए, जिसके हिन्दी शब्द-सागर में तीन अर्थ आये हैं–नींद लगना, प्रीति होना और टकटकी लगना। पर इन तीनों अर्थों के प्रयोग के विचार से 'आँख लगना' के ये तीन रूप होते हैं-किसी की आँख लगना, किसी से आँख लगना और किसी ओर आँख लगना। अतः आगे चलकर बननेवाले अच्छे कोशों में यह मुहावरा इन रूपों में आना चाहिए–(किसी की) आँख लगना, (किसी से) आँख लगना और (किसी ओर) आँख लगना। इसके सिवा इस मुहावरे का एक चौथा अर्थ भी होता है–प्राप्ति की इच्छा से ध्यान लगा रहना। और इस दृष्टि से इसका रूप होगा–(किसी चीज पर) आँख लगना। **'मानक हिन्दी कोश'** में ये सब मुहा० इन्हीं रूपों में दिये गये हैं। इस प्रणाली से पाठकों का विशेष उपकार होगा, मुख्यतः अन्यान्य भाषा-भाषी सहज में इनका ठीक-ठीक प्रयोग करना सीख सकेंगे। जो बात यहाँ आँख के सम्बन्ध में कही गई है, वही सैकड़ों-हजारों अन्यान्य शब्दों के मुहावरों के सम्बन्ध में भी समझनी चाहिए।

मुहावरों के आर्थी विवेचन के सम्बन्ध में ध्यान रखने की एक बात और है। जिस प्रकार किसी वर्ग के अनेक शब्द एक दूसरे के समानार्थी जान पड़ने पर भी सूक्ष्म विवेचन करने पर कुछ विशिष्ट सूक्ष्म अन्तरों से युक्त सिद्ध होते हैं, उसी प्रकार कुछ मुहावरे भी ऐसे होते हैं जो देखने में तो एक दूसरे के बहुत कुछ सदृश जान पड़ते हैं, फिर भी जिनके अर्थों और भावों में बहुत बड़ा अन्तर होता है। उदाहरणार्थ ये दो मुहावरे लीजिए–

(क) किसी का कलेजा तर होना।
(ख) किसी की छाती ठंढी होना।

उक्त दोनों मुहावरों में कलेजा और छाती तथा तर और ठंढी बहुत कुछ समानार्थक हैं, फिर भी दोनों मुहावरों के आशय एक दूसरे से बिलकुल भिन्न और बहुत कुछ विपरीत हैं। कलेजा तर होने का प्रयोग तो किसी शुभ प्राप्ति या लाभ होने और उससे तृप्ति प्राप्त होने के प्रसंगों में होता है। परन्तु 'छाती ठंढी होना' का प्रयोग ऐसे अवसरों पर होता है जब हम देखते हैं कि किसी ऐसे व्यक्ति का कोई बहुत बड़ा अपकार या हानि होती है, जिसके प्रति हमारे मन में ईर्ष्या या द्वेष का भाव होता है। यही बात 'कलई खुलना' और 'भंडा फूटना' सरीखे अन्यान्य अनेक मुहावरों के सम्बन्ध में भी है।

प्रत्येक शब्द का अर्थ उसके उसी रूप के अन्तर्गत आना चाहिए, जो सबसे अधिक विस्तृत क्षेत्र में प्रचलित हो तथा मानक माना जाता हो। शब्द के शेष पर्यायों या रूपों के आगे वही मानक और विशेष प्रचलित रूप अभिदिष्ट होना चाहिए, जिसके साथ अर्थ, व्याख्याएं, मुहावरे आदि दिये हों। परन्तु अभिदेश करते समय कोशकार को बहुत सावधान रहना चाहिए। बहुत से शब्द ऐसे होते हैं जो एक से अधिक शब्द-भेद वाले होते हैं। यह ठीक है कि संज्ञा शब्द का अभिदेश संज्ञा के प्रति ही होगा,* विशेषण का विशेषण और क्रिया-विशेषण का क्रिया-विशेषण के प्रति। यदि किसी अकर्मक क्रियावाले शब्द के आगे लिखा हो– दे० 'चूना'; तो जिज्ञासु को 'चूना' का वही अर्थ देखना चाहिए, जो उसके अकर्मक क्रियावाले विभाग में हो। और यदि किसी संज्ञा शब्द के आगे लिखा हो– दे० 'चूना' तो जिज्ञासु को उसके संज्ञावाले विभाग के अन्तर्गत ही उसका अर्थ देखना चाहिए। यह तो हुआ जिज्ञासु का काम। पर हम सभी जिज्ञासुओं से यह आशा नहीं रख सकते कि वे इस प्रकार की सूक्ष्म बातों या भेदों का हर समय ठीक और पूरा ध्यान रखेंगे। अतः उनके मार्ग-प्रदर्शन और सहायता के लिए कुछ सुभीता कर देना भी कोशकार का कर्तव्य होता है। उसे अभिदेश के समय उस अर्थ का भी कुछ संकेत कर देना चाहिए, जो इस प्रसंग में अभीष्ट हो; जैसे– यदि 'चूना' का अ० क्रियावाला अर्थ उद्दिष्ट हो तो कोष्ठक में उसके आगे टपकाना, रिसना या और कोई ऐसा प्रसिद्ध पर्याय दे देना चाहिए, जो 'चूना' के क्रियावाले अर्थ में आया हो, और यदि संज्ञा वाला अर्थ अभीष्ट हो तो 'चूना' के आगे कोष्ठक में 'फूँका हुआ पत्थर' या इसी प्रकार का और कोई संकेत कर देना आवश्यक है। जैसा कि हम ऊपर कह आये हैं, अभिदेश के लिए शब्दों की अर्थ-संख्या भी बहुत उपयोगी होती है। यदि हम किसी शब्द के आगे लिख दें- दे० काँटा, घाट, प्रत्यय, मन, राग, वाचन या शाखा तो जिज्ञासु को शब्द के सभी अर्थ देखने पड़ेंगे, और तब अपनी बुद्धि से यह सोचना पड़ेगा कि इन सब अर्थों में से कौन-सा अर्थ अभीष्ट है। पर यदि हम लिख दें– दे० 'काँटा' (पक्षियों का), 'काँटा' (तराजू का), 'काँटा'

---

* कभी कभी स्त्री० संज्ञा किसी पुंलिंग संज्ञा के प्रति भी अभिदिष्ट होती है और प्रतिक्रमात् भी। ऐसे अवसरों पर भी अभिदिष्ट शब्द के बाद कोष्ठक में उसके विशिष्ट अर्थ का संकेत कर देना आवश्यक होता है।

(गणित का) या दे० 'प्रत्यय' (सृष्टि का), 'प्रत्यय' (साहित्य का), या दे० 'मन' (अन्तःकरण), 'मन' (तौल) या दे० 'शाखा' (वृक्ष की), 'शाखा' (वेद की) आदि तो पाठकों को अभीष्ट अर्थ तक पहुंचने या बात समझने में विशेष सुभीता होगा। और हो सकता है कि इतने अभिदेश से जिज्ञासु का उस समय काम चल जाये, और उसे अभिदिष्ट शब्द देखने की आवश्यकता न रह जाये। अथवा जहां किसी कारण से ऐसा न हो सके, वहां यदि हम लिख दें– दे० 'प्रत्यय' 4, 'राग' 8, या 'वाचन' 6, तो जिज्ञासु बिना किसी कठिनता के और सहज में हमारा आशय समझ लेंगें और तुरन्त अभीष्ट अर्थ तक पहुंच जायेंगे।

परन्तु अभिदेशों के सम्बन्ध में कई बातों का ध्यान रखना आवश्यक है। कोशों में और विशेषतः बड़े-बड़े कोशों में अभिदेशों का प्रयोग जहां तक हो सके, खूब सोच समझकर और यथा-साध्य परिमित ही होना चाहिए। इसके कई कारण हैं। पहली बात तो यह है कि ऊपर से समानार्थक जान पड़नेवाले शब्दों में भी प्रायः अर्थ सम्बन्धी कुछ सूक्ष्म भेद होते हैं, और ऐसे अर्थोंवाले शब्दों का भी अभिदेशिक सम्बन्ध करना ठीक नहीं होता। दूसरे बहुत बड़े और कई खंडों वाले कोशों में अभिदिष्ट शब्द तक पहुंचने के लिए कुछ अतिरिक्त परिश्रम करना और समय लगाना पड़ता है। तीसरे, अभिदिष्ट शब्द प्रायः स्वतन्त्र व्युत्पत्तिवाले होते हैं, और कुछ अवस्थाओं में व्युत्पत्ति ढूंढ़नेवाले जिज्ञासु अभीष्ट सिद्धि से वंचित रह जाते हैं। चौथे, कभी-कभी कम प्रचलित अभिदिष्ट शब्द अपने स्वतन्त्र उदाहरण की भी अपेक्षा रखते हैं। ये सभी बातें ऐसी हैं जिनका अच्छे कोशकार को ध्यान रखना पड़ता है।

एक बात और है। शब्दों के आगे अभिदेश देते समय कोशकार को यह भी देख लेना चाहिए कि हम जिस शब्द की ओर संकेत कर रहे हैं, उसमें ठीक और पूरा, अर्थ आया भी है या नहीं। **हिन्दी शब्द-सागर** के पहले संस्करण में 'कलछी' के आगे छपा था– दे० 'कलछा', और 'कलछा' के आगे छपा था– दे० 'कलछी', पर अर्थ या व्याख्या दोनों में से किसी शब्द के आगे नहीं थी। जिस दूसरे शब्द की ओर संकेत किया जाता है, वह शब्द देखने पर उसके आगे यदि किसी तीसरे शब्द का अभिदेश मिलता है, तो जिज्ञासु को उलझन होती है। यह भी कोश का बड़ा दोष माना जाता है, अच्छे कोशकारों को इससे भी बचना चाहिए।

द्वितीय खंड

तुलनात्मक और व्याख्यात्मक विवेचन

तुलनात्मक और व्याख्यात्मक विवेचन

1.	**अंक**	**आंकड़े**	**संख्या**
	Figure, Digit	Numerals Statistics	Number

इस वर्ग के शब्द गिनतियों और उसके सूचक चिह्नों आदि के वाचक तो हैं ही, फिर भी अपने क्षेत्र में कुछ विशिष्ट अभिप्रायों या आशयों से भी युक्त हैं।

'अंक' *पु०* (सं०) मूलतः उसी धातु से बना है, जिससे अंकन बना है। अंकन का अर्थ है– किसी चीज पर पहचान के चिह्न, छाप, निशान या मोहर लगाना। अपने परवर्ती अर्थ में यह उस क्रिया का भी सूचक है, जिसमें किसी चीज की आकृति या रूप सूचित करने के लिए उल्टी-सीधी और टेढ़ी-मेढ़ी रेखाएं बनायी जाती हैं। इसी के अन्तर्गत चित्र बनाने और लिखने की क्रियाएं आती हैं। इसी आधार पर **अंक** का एक आरम्भिक अर्थ चिह्न, छाप या निशान और दूसरा अर्थ लिखावट या लेख भी होता है। इसका एक और विकसित अर्थ प्रारब्ध या भाग्य भी होता है, क्योंकि वह विधाता का कभी न मिटनेवाला लेख माना जाता है। इसके कुछ और विकसित अर्थ होते हैं; जैसे क्रोड़ या गोद, कटि या कमर आदि। परन्तु प्रस्तुत प्रसंग में **अंक** का अर्थ है – संख्यावाचक शब्दों का सूचक चिह्न। हम एक, दो, तीन आदि संख्याओं का जहां तक उच्चारण करते हैं, वहां तक तो उन्हें **संख्या** कहते हैं; परन्तु जिस प्रकार अक्षरों की उच्चारण ध्वनियां सूचित करने के लिये उनके अंकित या लिखित रूपों को 'वर्ण' कहते हैं (दे० 'अक्षर और वर्ण') उसी प्रकार **संख्या** सूचक उच्चारण ध्वनियों का बोध करानेवाले चिह्नों को इसलिए **अंक** कहते हैं कि हम उन्हें टेढ़ी-मेढ़ी रेखाओं से लिखकर उनका प्रतीकात्मक आकार या रूप बनाते हैं।*

'आंकड़े' *पु०* हैं तो सं० **अंक** का अपभ्रष्ट रूप ही; पर इसके सम्बन्ध में दो बातों का ध्यान रखना आवश्यक है। एक तो यह कि इसका प्रारम्भिक और मूल रूप **'आंकड़ा'** है; और दूसरे यह कि **'आंकड़े'** इसी का बहुवचन रूप है। **अंक** का प्रयोग तो दोनों वचनों में होता है; परन्तु हिन्दी में **'आंकड़ा'** एक वचन में और **'आंकड़े'** बहु वचन में प्रयुक्त होता है। जैसे (क) यहां लिखने में तुम एक **आंकड़ा** छोड़ गये हो और (ख) बच्चे ने आंकड़े लिखना अच्छी तरह सीख लिया है। यहां यह भी ध्यान रहे कि प्रस्तुत प्रसंग में **'आंकड़ा'** और **'आंकड़े'** का अर्थ वहीं तक सीमित है, जहां तक **अंक** का ऊपर बतलाया हुआ अर्थ निरूपित है।

---

* अंग्रेजी में Figure का भी प्रमुख अर्थ आकृति या रूप ही है। कहा जा सकता है कि अंग्रेजी में अंक को भी इसलिए Figure कहते हैं क्योंकि संख्याओं की अमूर्त उच्चारण-ध्वनियों को किसी प्रकार अंकित या चित्रित करके अथवा लिखकर मूर्त रूप दिया जाता है। इस प्रकार अंक और Figure दोनों की सार्थकता सिद्ध भी होती है और सूचित भी।

परन्तु बहुवचन रूप में आज-कल **'आंकड़े'** का प्रयोग एक नये और विशिष्ट अर्थ में होने लगा है। प्रायः किसी कार्य, विभाग या विषय से सम्बन्ध रखनेवाले कुछ विशिष्ट महत्वपूर्ण तथ्य, पक्ष या स्थिति स्पष्ट रूप से सूचित करने और उनके आधार पर कोई निष्कर्ष निकालने या सिद्धान्त स्थिर करने के लिए संख्याएं आदि एकत्र करके उनका वर्गीकरण करके उन्हें सारिणी के रूप में प्रस्तुत किया जाता है; और तब उनका अध्ययन, अनुशीलन और विवेचन किया जाता है। इस प्रकार की सभी संख्याओं की पारिभाषिक और सामूहिक संज्ञा **'आंकड़े'** है। जैसे (क) इधर दस वर्षों के **आंकड़ों** से सिद्ध होता है कि मृत्यु-संख्या बराबर कुछ न कुछ घट रही है। और (ख) शासन ने **आंकड़ों** के आधार पर यह बतलाया है कि गत और विगत वर्षों की तुलना में इस वर्ष कई खाद्यान्नों की उपज दूनी से भी अधिक हुई है; और तिलहन तथा पटसन की उपज भी प्रायः ड्योढ़ी हो गयी है।

'संख्या' *स्त्री०* (सं०) उसी 'ख्या' से बना हुआ शब्द है, जिसके अर्थ हैं– ज्ञात या परिचित कराना, नाम स्थिर करना, पुकारना आदि; और जिससे आख्या, उपाख्यान, ख्याति सरीखे शब्द बने हैं। **संख्या** का यों साधारण अर्थ तो है– गणना करने या हिसाब लगाने के लिए वस्तुओं की गिनती करना। परन्तु प्रस्तुत प्रसंग में **संख्या** का मुख्य अर्थ है वह मान या राशि जो गिनने या हिसाब लगाने पर निश्चित हुई हो। **'संख्या'** और **अंक** में ध्यान रखने योग्य दो मुख्य अन्तर हैं। एक तो यह कि **संख्या** मूलतः अर्थ की दृष्टि से वहीं तक सीमित है जहां तक हम उसके वाचक शब्दों का उच्चारण करते हैं अर्थात् यह उच्चारण ध्वनि-मात्र का वाचक है और इन ध्वनियों के लिखित रूप **'अंक'** कहलाते हैं। इसके अतिरिक्त तात्त्विक दृष्टि से 1 से 9 तक लिखे जाने वाले सब शब्द और दहाई की सूचक बिन्दी ही अंकों के अन्तर्गत आती है। परन्तु **संख्या** के सम्बन्ध में इस प्रकार का कोई बन्धन नहीं। संख्याएं सैकड़ों, हजारों, लाखों, करोड़ों, अरबों और इससे भी अधिक तक हो सकती हैं। यदि हम लिखें– 'सन् 1652 में देश में बहुत बड़ा अकाल पड़ा था।' तो यहां 'एक, छह, पांच, दो' से तो **संख्या** ही सूचित होगी। परन्तु आज-कल कुछ विशिष्ट क्षेत्रों में प्रयोग और लोक-व्यवहार की दृष्टि से **'अंक'** और **'संख्या'** एक दूसरे के पर्याय के रूप में भी चल पड़े हैं; जैसे (क) यह तो इस मासिक पत्रिका का तीसरा ही **अंक** है; अथवा तीसरी ही **संख्या** है। और (ख) आपकी पत्रिका के चौथे और पांचवे **अंक** हमें अभी तक नहीं मिले हैं; अथवा छठी और सातवीं संख्याएं छपते ही भेज दीजिएगा आदि।*

---

* गणित के क्षेत्र में संख्याएं दो प्रकार की मानी गयी हैं– क्रम-संख्या और गण- संख्या। नियत और निश्चित क्रम से चलनेवाली 1, 2, 3, 4 आदि अथवा 32, 33, 34 आदि संख्याएं क्रम-संख्या (Ordinal number) कहलाती हैं। तीसरा, चौथा, पांचवां आदि भी क्रम-संख्यक विशेषण होते हैं; क्योंकि ये किसी शृंखला में क्रमागत स्थानों के सूचक हैं। परन्तु 156, 1272, 8796 सरीखी गण या समूह वाचक संख्याएं गण-संख्या कहलाती हैं।

2. **अंकुश** **नियन्त्रण** **संयम** **सम्वरण**

अंकुश	नियन्त्रण	संयम	सम्वरण
Check	Control	Self-control	Restrain

इस वर्ग के शब्द किसी को ठीक तरह से चलाने और वश में रखने के वाचक हैं।

'अंकुश' *पु०* (सं०) मूलतः छोटी बरछी की तरह का वह हथियार है जिसके अगले सिरे पर दोनों ओर दो उल्टी अंकुड़ियां लगी रहती हैं। यह महावत के हाथ में रहता है और इसी की सहायता से वह हाथी को चलाता, मोड़ता और रोकता है। हिन्दी में इसे 'गज-बाग' भी कहते हैं। परन्तु अपने परवर्ती और विकसित अर्थ में यह उस अधिकार का वाचक है, जिसके बल पर वह दूसरे को किसी काम में प्रवृत्त करता अथवा कोई काम करने से रोकता है; जैसे यदि लड़कों पर **अंकुश** न रखा जाये तो वे मनमाना आचरण करने लगते और बिगड़ जाते हैं। इसी आधार पर 'निरंकुश' ऐसे व्यक्ति को कहते हैं जो अपने बड़ों का अधिकार और आज्ञा न मानकर मनमाने अनुचित आचरण करता है।

'नियन्त्रण' *पु०* (सं०) का मुख्य अर्थ है किसी काम, बात या व्यक्ति को नियम या बन्धन से बांधना। परन्तु अपने परवर्ती और विकसित रूप में यह किसी अधिकारी या बड़े की उस क्रिया का वाचक है, जिसके द्वारा वह दूसरों को नियमों, बन्धनों आदि में बांधकर अपने अधीन या वश में रखता है और उचित आचरण, मार्ग आदि से विचलित नहीं होने देता। इस प्रकार किसी विषय और व्यक्ति को पूरी तरह से अपने अधिकार और वश में रखकर उसे ठीक रास्ते पर आगे बढ़ाना या चलाना ही **नियन्त्रण** है। फिर भी इसमें मुख्य भाव किसी को पथभ्रष्ट होने या बिगड़ने से बचाने का ही है, जैसे (क) सुयोग्य अधिकारी अपने अधीनस्थ कर्मचारियों को सदा **नियंत्रण** में रखते हैं। (ख) सरकार ने अनाज (या करों की वसूली) पर **नियन्त्रण** रखने के लिए एक नया विधान बनाया है। (ग) अब ऐसे नये इंजिन बनने लगे हैं, जिनकी सहायता से वायुयान पर चालक का पूरी तरह से **नियन्त्रण** रह सकता है।

'अंकुश' और **'नियन्त्रण'** में मुख्य अन्तर यह है कि **'अंकुश'** किसी व्यक्ति को किसी काम में बलपूर्वक प्रयुक्त करने के अर्थ में भी प्रयुक्त होता है; परन्तु **'नियन्त्रण'** में इधर-उधर जाने या बिगड़ने से रोकने का ही भाव है।

'संयम' *पुं०* (सं०) का मूल अर्थ है– अच्छी तरह इस प्रकार बांधकर रखना कि नियन्त्रण या वश के बाहर न होने पाये। परन्तु लोक प्रचलित और व्यावहारिक क्षेत्र में इसका मुख्य अर्थ है– अपनी इन्द्रियों और मन को इस प्रकार वश में रखना कि वे अनुचित, निन्दनीय और वर्जित कामों और बातों से अलग या दूर

रहें, और उचित मार्ग पर चलकर ठीक तरह से सब काम करें। धार्मिक तथा नैतिक दृष्टि से मन की विषय-वासनाओं को अनुचित, बुरे या हानिकारक मार्गों में प्रवृत्त होने से रोकना ही **'संयम'** है। इसका आशय यही है कि मनुष्य काम, क्रोध, मोह, लोभ आदि दूषित वृत्तियों से बचा रहे, और अपना आचरण सब प्रकार से शुद्ध रखे। इसके सिवा चिकित्साशास्त्र की दृष्टि से शरीर-रक्षा और स्वास्थ्य के सब नियमों का ठीक तरह से पालन करना भी **'संयम'** कहलाता है। स्वस्थ रहने की दशा में अपना आहार-व्यवहार ठीक रखना और अस्वस्थ होने की दशा में हानिकारक कामों, चीजों और बातों से बचकर रहना भी **'संयम'** कहलाता है। इस अर्थ में इसके स्थान पर परहेज (फा०) का भी प्रयोग होता है। योग शास्त्र के अनुसार ध्यान, धारणा और समाधि का साधन भी **'संयम'** कहलाता है।

'सम्वरण' *पुं०* (सं०) के पुराने अर्थ हैं– ढकना, छिपाना, बन्द करना, रखना आदि। परन्तु प्रस्तुत प्रसंग में इसका अर्थ होता हैं आवेश, इच्छा, कामना आदि मनोविकारों या मनोवृत्तियों को दबाकर **नियन्त्रण** में रखना और उन्हें रोककर वश में रखना। जब हम कहते हैं– ' मैं ऐसे अच्छे अवसर से लाभ उठाने का लोभ संवरण न कर सका ' तब हमारा आशय यही होता है कि हमारी इच्छा या कामना तो बहुत प्रबल थी; परन्तु हमने जान-बूझकर कुछ विशिष्ट कारणों से उसे रोक रखा और उसकी पूर्ति नहीं होने दी। इस प्रकार हम उसे **नियन्त्रण** या रुकावट का एक विशिष्ट रूप ही कह सकते हैं।

3. अंग — अवयव

Component, Part — Limb

ये शब्द मूलतः किसी शरीर, शरीरी या समूचे पदार्थ के ऐसे अंशों या भागों के वाचक हैं जो या तो उसके अन्दर या बाहर अभिन्न रूप से स्थित रहकर अथवा बाहर की ओर कुछ दूर तक निकले या बढ़े रह कर कोई विशिष्ट क्रिया करते हैं अथवा उसे पूर्णता तक पहुंचाते हैं।

'अंग' *पुं०* (सं०) के अनेक अर्थों में मुख्य अर्थ है– किसी पदार्थ, प्राणी या शरीर का प्रत्येक ऐसा अंश या भाग जो नित्य या स्थायी रूप से उनके साथ लगा रहकर या तो उसकी क्रिया करता हो या उसे सम्पूर्णता प्राप्त कराता हो। यह बात दूसरी है कि हम किसी पदार्थ या प्राणी का कोई अंग काटकर अलग कर लें; परन्तु जब तक वह अंग उस पदार्थ या प्राणी में लगा रहता है तब तक उसके साथ उसका नित्य या समवाय सम्बन्ध रहता ही है। आंख, कान, नाक, पैर, हाथ आदि सभी हमारे शरीर के अंग हैं; जड़ें, डालें, पत्तियां आदि सभी वृक्षों के **अंग** हैं। और इसी प्रकार खिड़कियां, दरवाजे और दीवारें आदि मकान के **अंग** हैं।

'अवयव' भी है तो **अंग** ही; परन्तु आज-कल अंग्रेजी के Limb के अनुकरण पर

इसमें कुछ विशिष्ट अर्थ लग गया है। यह हमारे ऐसे अंगों का वाचक हो गया है, जो शरीर के बाहर की ओर कुछ आगे या दूर तक निकले या बढ़े हुए होते हैं। इस आधार पर हमारे पैर और हाथ अवयव ही कहे जायेंगे। इसी प्रकार वृक्षों की बड़ी लम्बी डालियां अवयव के अन्तर्गत ही आती हैं, क्योंकि वे दूर तक बाहर निकली और फैली होती हैं, पर उनकी पत्तियों, फलों, फूलों आदि की गिनती उनके अंगों में ही होती है, अवयवों में नहीं। शरीर के जितने घटक हैं, वे सब के सब **अंग** तो होंगे, परन्तु **अवयव** वही होंगे जो दूर तक बाहर निकले हों। दोनों में एक और अन्तर यह भी है कि **अंग** का प्रयोग तो प्राणियों के अतिरिक्त सभी प्रकार के जड़ पदार्थों और अमूर्त तत्त्वों, भावों आदि के भागों और विभागों के सम्बन्ध में होता है, परन्तु वे सब लोक-व्यवहार में कभी **अवयव** नहीं कहे जाते। न्याय या व्यवस्था करना शासन का **अंग** तो है, पर **अवयव** नहीं है। विज्ञान और शास्त्र के सैकड़ों प्रकार और विभाग तो उसके अंग हैं ही, और उनमें से प्रत्येक की शाखा-प्रशाखाएं भी अंग ही कही जायेंगी, **अवयव** नहीं। हम भी अपने देश या समाज के **अंग** तो हैं, परन्तु **अवयव** नहीं। **अवयव** का प्रयोग मुख्यतः प्राणियों और वनस्पतियों के क्षेत्र में ही होता है और वह भी उनके ऐसे भागों के ही सम्बन्ध में होता है जो कुछ दीर्घकाय हों और कुछ विशिष्ट प्रकार की क्रियाएं सम्पादित करते हों।

अंडोच्छेद– *पु०* (सं) दे० 'गर्भनिरोध, गर्भपात, गर्भस्राव और भ्रूणहत्या'।

4. अन्त — अवसान — समाप्ति

End — Termination — Completion

ये तीनों शब्द उस बिन्दु या स्थिति के वाचक हैं जहां तक पहुंचने पर कोई अवधि, क्रिया, गति या व्यापार पूरा हो जाता है और उससे आगे नहीं बढ़ता। इस प्रकार ये शब्द चरम सीमा के सूचक हैं। इनमें **'अन्त'** शब्द अर्थ और प्रयोग दोनों की दृष्टि से सबसे अधिक व्यापक है, और शेष दोनों शब्द इसके घेरे या विस्तार के अन्दर ही रहे हैं। फिर भी मुख्य विवक्षाओं के विचार से तीनों में कुछ सूक्ष्म अन्तर हैं।

'अन्त' मुख्यतः आदि का विपर्याय है। इसका प्रयोग मुख्यतः नीचे लिखे क्षेत्रों या प्रसंगों में होता है :

1. अवधि या समय के सम्बन्ध में; जैसे वर्ष का अन्त, शरदृतु का अन्त आदि।

2. क्रिया या गति के सम्बन्ध में; जैसे प्रवास या यात्रा का अन्त।

3. विस्तार के सम्बन्ध में; जैसे कथा का अन्त, पुस्तक का अन्त, पर्वतमाला या सीमा का अन्त।

4. व्यवहार या व्यापार के सम्बन्ध में; जैसे जीवन का अन्त, शिक्षा का अन्त आदि।

'अवसान' भी है तो **अन्त** का ही पर्याय, फिर भी इसमें किसी ऐसे कार्य, स्थिति आदि के पूरे होने का भाव प्रधान है जिसकी अवधि, व्याप्ति, सीमा आदि पहले से निर्धारित या निश्चित हो; जैसे: जीवन का **अवसान;** दिवस का **अवसान;** यात्रा का **अवसान** । जीवन के अन्त का भाव सूचित करने के लिए ही इसका एक अर्थ 'मरण' या 'मृत्यु' भी है । आज-कल कुछ स्थानों पर उनकी यात्रा के समय उद्दिष्ट स्थान तक पहुंचने के सम्बन्ध में यात्रियों से जो एक विशेष प्रकार का कर लिया जाता है उसे 'आवसानिक कर' (terminal tax) कहते हैं । काशी, प्रयाग, हरद्वार आदि का टिकट खरीदनेवाले रेलवे यात्रियों को टिकट के दाम के साथ ही साथ यह आवसानिक कर भी चुकाना पड़ता था ।

विधानसभा के सत्र का **अवसान** (सत्रावसान) कुछ समय के लिए ही होता है; फिर भी वह अधिवेशन की समाप्ति का सूचक होता है । बाद में उपयुक्त अवसर आने पर वह फिर से आमन्त्रित की जाती है; और उसके नये अधिवेशन का आरम्भ होता है ।

'समाप्ति' भी है तो एक प्रकार का **'अन्त'** ही, परन्तु यह **'आरम्भ'** का विपर्याय है ।* जो कार्य हाथ में लिया जाता है, उसके पूरे हो जाने की अवस्था ही मुख्यतः **समाप्ति** है; जैसे, इस पुस्तक की **समाप्ति** में अभी एक महीने की देर है । जो क्रम कुछ समय से बराबर चल रहा हो उसका पूरा होना भी **'समाप्ति'** ही है; जैसे वर्ष की **समाप्ति** पर सबका हिसाब चुका दिया जायेगा । अब **'अन्त'** और **'समाप्ति'** के अर्थों में ध्यान रखने की एक मुख्य बात यह भी है कि **अन्त** तो अधिकतर अवस्थाओं में यह सूचित करता है कि जिसका अन्त हुआ है उसकी पुनरावृत्ति नहीं होगी; जैसे: जीवन का **अन्त,** सतयुग का अन्त । परन्तु जिसकी **समाप्ति** होती है, उसकी प्रायः फिर से आवृत्ति भी होती या हो सकती है; जैसे: इस पुस्तक के पहले संस्करण की **समाप्ति** पर शीघ्र ही दूसरे संस्करण का भी प्रकाशन हो जायेगा ।

5. अन्तरावर्त — बहिरावर्त

Enclave — Exclave

अंग्रेजी के 'एन्क्लेव' और 'एक्स्क्लेव' के लिए मेरे देखने में कोई अच्छा शब्द-युग्म नहीं आया था; इसलिए मैंने मानक हिन्दी कोश के परिशिष्ट में इनके क्रमात् **'अन्तरावर्त'** और **'बहिरावर्त'** शब्द स्थिर किये थे ।

प्रायः ऐसा होता है कि दो पड़ोसी देशों में से किसी एक देश का कुछ भूभाग दूसरे देश की सीमा के अन्दर रहता है । उदाहरण के लिए पश्चिमी बंगाल के दो-तीन

---

* यद्यपि संस्कृत व्याकरण और व्युत्पत्ति की दृष्टि से 'समाप्ति' वह अवस्था है जिसमें किसी वस्तु का सदा के लिए अन्त, अदर्शन और अभाव हो जाये; परन्तु हिन्दी में इसका प्रयोग किसी काम, चीज या बात के पूरे और सम्पन्न हो जाने के अर्थ में भी होता है ।

छोटे-छोटे भू-खण्ड बांग्लादेश की सीमा के अन्दर पड़ते हैं; और इसी प्रकार बांग्लादेश के दो-तीन छोटे-छोटे भूखण्ड पश्चिम बंगाल की सीमा के अन्दर पड़ते हैं। हमारे जो भू-भाग बांग्लादेश की सीमा में पड़ते हैं, वे हमारी दृष्टि से **बहिरावर्त** हैं और बांग्लादेश की दृष्टि से अन्तरावर्त। इसी प्रकार बांग्लादेश के जो भू-भाग भारत की सीमा के अन्दर हैं वे बांग्लादेश की दृष्टि से उसके **बहिरावर्त** हैं और हमारी दृष्टि से **अन्तरावर्त**। परन्तु अंग्रेजी में ऐसे हर भू-खण्ड के लिए केवल एन्क्लेव का ही प्रयोग होता है। फिर भी एन्क्लेव और एक्स्क्लेव में बहुत बड़ा अन्तर तो है ही; अतः दोनों के लिए शब्द भी अलग-अलग होने चाहिए।*

इसी आधार पर मैंने उक्त दोनों शब्दों में आवर्त का अर्थ छोटा भू-खण्ड भी मान लिया है; और उसी में उपसर्ग लगाकर ये शब्द बनाये हैं।

6. अन्तरिक्ष आकाश महाव्योम व्योम
Space Sky Firmament

ये चारों शब्द उस खुले हुए और परम विस्तृत अवकाश या खुले स्थान के वाचक हैं जो हमें अपने ऊपर हर जगह दिखायी देता है और जिसमें ग्रहों, तारों, नक्षत्रों आदि का अवस्थान है। भले ही **'आकाश'** का मूल अर्थ कितना ही व्यापक क्यों न हो परन्तु वह मुख्यतः उस वातावरण का ही वाचक है जो हमारी पृथ्वी को चारों ओर से घेरे हुए है और जिसमें पक्षी आदि उड़ते हैं, बादल आते-जाते दिखायी देते हैं और हवा चलती है। संस्कृत में 'गगन', 'नभ' आदि इसके अनेक नाम या पर्याय हैं और हिन्दी में फारसी का 'आस्मान' भी इसकी जगह चलता है। भौतिक विज्ञान के अनुसार हमारी पृथ्वी के पास की वायु तो सघन है, परन्तु ज्यों-ज्यों हम ऊपर उठते हैं त्यों-त्यों उसकी सघनता कम होती जाती है और विरलता बढ़ती जाती है। आगे चलकर इस वायु का बिल्कुल अभाव भी हो जाता है और दूसरे आकाशीय तत्त्व मिलने लगते हैं।

पृथ्वी के वातावरण के उपरान्त अन्यान्य ग्रहों, नक्षत्रों आदि तक जो सारा विस्तार है वही 'अन्तरिक्ष' है। 'अन्तरिक्ष' का शब्दार्थ ही है– ग्रहों, नक्षत्रों आदि के बीच का अवकाश या खाली स्थान। आज-कल वातावरण के उक्त ऊपरी विस्तार में चलने वाले जो यांत्रिक यान बनते हैं, उन्हें इसीलिए 'अन्तरिक्ष-यान' कहते हैं।

'व्योम' यों तो है **आकाश** का भी वाचक और **अन्तरिक्ष** का भी, क्योंकि उसका शब्दार्थ ही है– वह जिसने सबको चारों ओर से घेर तथा व्याप्त कर रखा हो। परन्तु लोक में उसका व्यवहार अधिकतर आकाशवाले अर्थ में ही देखने में आता है। तात्त्विक दृष्टि से कहा जा सकता है कि **अन्तरिक्ष** में केवल ऊंचाई का, आकाश में ऊंचाई और निचाई दोनों का और **व्योम** में ऊंचाई-निचाई तथा चौड़ाई तीनों का भाव सम्मिलित है।

---

* सं० में आवर्त का एक अर्थ–बहुत बड़ा देश या प्रदेश; जैसे;आर्यावर्त, ब्रह्मावर्त आदि।

इसी **व्योम** शब्द में महा उपसर्ग या विशेषण लगाकर आज-कल नया **'महाव्योम'** शब्द बनाया गया है। अर्थ की दृष्टि से यह **आकाश** और **अन्तरिक्ष** दोनों की तुलना में बहुत अधिक व्यापक है। यह उस समस्त परम विशाल आकाश का वाचक है जिसमें सारा ब्रह्माण्ड स्थित है ! न तो कहीं इसके आदि की ही कल्पना की जा सकती है और न अन्त की ही। इसमें लाखों-करोड़ों नक्षत्र या आकाशस्थ पिंड तो हैं ही, असंख्य छाया-पथ और असंख्य नीहारिकाएं भी हैं, जो नित्य ग्रहों, नक्षत्रों आदि की सृष्टि करती रहती हैं, और आधुनिक विज्ञान के अनुसार जिनका विस्तार दिन पर दिन बढ़ता ही जाता है।

7. अन्तर्ज्ञान — सहजवृत्ति

Intuition — Instinct

इस वर्ग के शब्द प्राणियों की ऐसी प्राकृतिक और स्वाभाविक शक्तियों के वाचक हैं जिनसे वे बिना किसी प्रकार के प्रयत्न या प्रयास के कोई तथ्य या बात अपने आप और तत्काल जान या समझ लेते हैं।

'अन्तर्ज्ञान' *पु०* (सं०) हमारे अन्तर में रहनेवाला वह प्रकृति-प्रदत्त ज्ञान है जो हमें किसी काम या बात के तत्त्व या वास्तविक स्वरूप से तुरन्त उत्पन्न होता है। इसके लिए हमें न तो मन में कोई तर्क-वितर्क करना पड़ता है न कुछ सोचना-समझना पड़ता है। इसमें कर्मेन्द्रियों की सहायता से किसी बात तक पहुंचा जाता अथवा बोध प्राप्त किया जाता है। इससे मनुष्य को अतीन्द्रिय तथा लोकोत्तर बातों या विषयों का ज्ञान हो जाता है। हम जानें या न जानें, चाहें या न चाहें, पर **अन्तर्ज्ञान** आवश्यकता पड़ने पर हमसे अपेक्षित और कर्तव्य करा ही लेता है। इस प्रकार का ज्ञान हममें जन्मकाल से ही रहता है, इसीलिए इसे 'सहजज्ञान' कहते हैं। इसे 'अन्तर्बोध' भी कहते हैं।

'सहजवृत्ति' *स्त्री०* इधर हाल का बना हुआ शब्द है। यह भी है तो बहुत कुछ वही, जो **अन्तर्ज्ञान** है, परन्तु दोनों में मुख्य अन्तर यह है कि **अन्तर्ज्ञान** का प्रयोग प्रायः मनुष्यों के ही सम्बन्ध में होता है और **सहजवृत्ति** का प्रयोग सब प्रकार के जीव-जन्तुओं या प्राणी मात्र के सम्बन्ध में होता है। मनुष्य की चेतना-शक्ति इतनी बढ़ी हुई होती है कि उसे पारिभाषिक क्षेत्र में, ज्ञान के क्षेत्र में स्थान मिलता है। परन्तु जीव-जन्तुओं की चेतना शक्ति पारिभाषिक दृष्टि से वृत्ति के क्षेत्र तक की परिमित रहती है। यही **सहजवृत्ति** प्राणियों को अपने क्षेम-कल्याण, जीवन-निर्वाह, वंश-वृद्धि आदि में प्रवृत्त करती और समर्थ बनाती है। जीव-जन्तुओं आदि में इस वृत्ति के वर्धन, विकास आदि के लिए विशेष अवकाश नहीं होता और इसका स्वरूप बहुत कुछ एक सा बना रहता है। परन्तु मानव वर्ग में उनके **अन्तर्ज्ञान** का बहुत कुछ विकास हो सकता और प्रायः होता भी है। **अन्तर्ज्ञान** से ही मनुष्य के कर्तृत्व का क्षेत्र और ज्ञान का भण्डार बढ़ता रहता है। ××

अंतर्बोध- *पु०* (सं०) दे० 'अन्तर्ज्ञान और सहजवृत्ति।'

8. **अन्तर्विवेक** **विवेक**

Conscience

अंग्रेजी के 'कॉन्शेन्स' (Conscience) शब्द के लिए हिन्दी में बहुत दिनों से **'विवेक'** शब्द का प्रयोग होता चला आ रहा है। परन्तु हिन्दी का यह शब्द अंग्रेजी के मूल शब्द का ठीक और पूरा भाव प्रकट करने में अक्षम है और कदाचित् यही सोचकर भारत सरकार ने अपनी शब्दावली में इसके बदले **'अन्तर्विवेक'** शब्द रखा है जो अपेक्षया अधिक ठीक जान पड़ता है। अंग्रेजी के 'कॉम्शेन्स' का वास्तविक अर्थ है– अच्छे और बुरे या उचित और अनुचित का ऐसा ज्ञान जो अच्छे या उचित के सम्पादन में प्रवृत्त करता हो। परन्तु संस्कृत में **'विवेक'** का मूल अर्थ है– किसी बात या वस्तु के सभी अंगों पर अच्छी तरह विचार करके उसके मूल अथवा वास्तविक रूप का ज्ञान प्राप्त करना अथवा उसकी परख करना। इस दृष्टि से **'विवेक'** और 'विवेचन' एक दूसरे के पर्याय या समानक ठहरते हैं। **विवेक** विशुद्ध बौद्धिक क्रिया है और इसमें अच्छे या भले की ओर प्रवृत्त करने-कराने का कोई भाव नहीं है। अंग्रेजी 'कॉन्शेन्स' के मूल में किसी प्रवृत्तिकारक आंतरिक शक्ति का भाव निहित है जिसका **'विवेक'** में पूर्णतः अभाव है। कदाचित् यही आन्तरिक शक्तिवाला भाव सूचित करने के लिए भारत सरकार की शब्दावली में **'विवेक'** के बदले 'अन्तर्विवेक' रखा गया है। अंग्रेजी के 'कॉन्शेन्स' शब्द के सम्बन्ध में ध्यान रखने की एक बात यह भी है कि यह मूलतः यूनानी दर्शन की कल्पना है। न तो भारतीय दर्शन में ही ऐसी किसी आन्तरिक शक्ति का अस्तित्व माना गया है और न आधुनिक पाश्चात्य दर्शन ने ही इसे ग्राह्य किया है। भारतीय दर्शन में केवल एक 'अन्तःकरण' माना गया है और मन, चित्त, बुद्धि तथा अहंकार ये चारों उसके क्रियात्मक अंग कहे गये हैं। अंग्रेजी 'कॉन्शेन्स' का ठीक-ठाक आशय या भाव प्रकट करने के लिए ऐसा शब्द होना चाहिए, जिसमें बुद्धि के साथ मन का भी संयोग हो। इसी विचार से हमारी सम्मति में आज-कल के बहुप्रचलित **'विवेक'** के स्थान पर **'अंतर्विवेक'** का प्रयोग ही ठीक होगा क्योंकि यह शब्द मन और बुद्धि दोनों के संयुक्त क्रियाकलाप का सूचक है।

9. **अन्तिम** **आन्तिक** **आवसानिक**

Last Final Terminal

समापक **समाप्ति**

Concluding

ये विशेषण ऐसी स्थितियों के सूचक हैं, जिनमें कोई काम या बात कुछ और कामों या बातों के बाद घटित या पूरी होती है।

'अन्तिम' *वि०* (सं०) का मुख्य अर्थ है-- सबके अन्त में या समाप्ति पर होनेवाला। जब एक ही कोटि या वर्ग के बहुत से काम हो चुकते हैं तब इसके बाद में होनेवाला काम अन्तिम कहलाता है। आशय यही होता है कि इस तरह का काम इसके उपरान्त या तो

फिर हुआ ही नहीं या होगा ही नहीं। हम कहते हैं– यह उनकी अन्तिम कृति या पुस्तक है अर्थात् इसके बाद उन्होंने फिर किसी कृति या पुस्तक की रचना नहीं की। यदि कहा जाए– "यही उनके भाषण का अन्तिम वाक्य था" तो आशय यही होगा कि इसी वाक्य से उनका भाषण समाप्त हुआ और फिर उन्होंने भाषण सम्बन्धी कोई और वाक्य नहीं कहा। वे अन्तिम बार होली के अवसर पर काशी आये थे। तो आशय यह होगा कि वे इसके बाद फिर आज तक यहां आये ही नहीं अथवा यह भी आशय हो सकता है कि इसके बाद वे अपने जीवन में कभी काशी आये ही नहीं।

'आन्तिक' भी (सं०) अन्त से बना हुआ बहुत-कुछ वैसा ही विशेषण है, जैसा **अन्तिम** है। यद्यपि यह रूप मुझे सं० कोशों में नहीं मिला है। फिर भी मैंने यह जान और समझकर स्थिर किया है कि व्याकरण की दृष्टि से इसकी सिद्धि में कोई बाधा नहीं है। अंग्रेजी के Final का ठीक-ठीक आशय और भाव प्रकट करनेवाला कोई अच्छा और ठीक शब्द मेरे देखने में नहीं आया है। अधिकतर लोग इसके लिए प्रायः **'अन्तिम'** का ही प्रयोग कर जाते हैं। जो मेरी समझ में बहुत-कुछ भ्रामक है। अतः मेरा सुझाव है कि अंग्रेजी Final के स्थान पर हिन्दी में **'आन्तिक'** का ही प्रयोग होना चाहिए। अन्तिम तो वस्तुतः उस स्थिति का सूचक है, जिसमें कोई क्रमबद्ध या परम्परा वाला कार्य पूरी तरह से और सदा के लिए समाप्त हो जाता है; और फिर उसके बाद उसका कोई और आवर्तन नहीं होता। परन्तु कुछ अवस्थाएं ऐसी होती हैं, जिनमें कोई कार्य शृंखला या श्रेणी के रूप में बराबर होता चलता है। इसी एक शृंखला या श्रेणी के अन्त या समाप्ति पर जो कार्य होता है उसका वाचक **आन्तिक** होना चाहिए। यदि हम कहें– 'उच्च न्यायालय का यह अन्तिम **निर्णय है**' तो इसका आशय यही होगा कि अब इसके बाद और कोई निर्णय किसी प्रकार हो ही नहीं सकता। परन्तु वास्तव में सर्वोच्च न्यायालय को सम्बद्ध विषय में फिर से विचार तथा निर्णय करने का अधिकार तो होता ही है। ऐसी अवस्था में उच्च न्यायालय का निर्णय **आन्तिक** होगा और सर्वोच्च न्यायालय का निर्णय इसलिए **अन्तिम** होगा कि वह निर्णय किसी प्रकार बदला ही नहीं जा सकता। कोई आयोग या अधिकरण किसी विषय पर अपने जो विचार प्रकट करेगा या निष्कर्ष निकालेगा वह आन्तिक ही होगा। परन्तु राज्य सरकार अथवा केन्द्रीय सरकार उस विषय पर फिर से विचार कर सकती है और अपना नया निर्णय दे सकती है। ऐसा ही निर्णय अन्तिम कहा जायेगा। हम किसी विषय पर पूर्ण रूप से विचार करके स्थायी रूप से अपना जो मत व्यक्त करते हैं वह हमारा **आन्तिक** मत होता है। दूसरे अनेक विद्वान् भी उस विषय पर किसी दूसरे रूप में विचार करके अपने अलग-अलग **आन्तिक** मत व्यक्त कर सकते हैं। इस सम्बन्ध में **अन्तिम** मत तो तभी स्थिर हो सकता है जब सभी विद्वान् एकत्र होकर अपने मतों का प्रतिपादन करें; और सब लोग मिलकर कोई ऐसा सर्वमान्य या सर्वसम्मत मत स्थिर करें जिसमें किसी प्रकार के परिवर्तन या संशोधन के लिए कोई अवकाश ही न रह जाये।

'आवसानिक' सं० 'अवसान' का विशेषण रूप है। **आवसानिक** में मुख्य भाव किसी विस्तार की अन्तिम सीमा तक पहुंचने का है। किसी कार्य के सब अंगों और क्रमों

को पूरा करते हुए अथवा किसी विस्तार को पार करते हुए उसके अन्त या समाप्ति तक पहुंचते हैं, तब यह पहुंचवाली अन्तिम क्रिया ही **आवसानिक** होती है। प्रायः यात्रियों पर कोई मार्ग पूरा करने या उसके अन्तिम बिन्दु तक पहुंचने के सम्बन्ध में अनेक स्थानों पर जो कर लगाये जाते हैं वे 'आवसानिक कर' कहलाते हैं। काशी, प्रयाग, हरद्वार आदि जानेवाले यात्रियों पर रेल-अधिकारी प्रायः ऐसे कर लगाते थे जो रेल के टिकट के दाम में ही जोड़ लिये जाते थे।

'समापक' या **'समाप्तिक'** का प्रयोग मुख्यतः ऐसे कामों या बातों के अन्तिम अंश का सूचक है जो क्रम-क्रम से चलती हुई आगे बढ़ती हैं, जैसे– ग्रंथ, लेख या व्याख्यान का समापक या समाप्तिक अंश जिसमें पहले कही हुई सब बातों का उद्देश्य, परिमाण, सारांश या स्वरूप संक्षेप में बतलाया जाता है। उत्सवों, नाटकों सरीखे कार्य-क्रमों आदि का समापक या समाप्तिक अंश इस बात का सूचक होता है कि यहीं इनका अन्त या **'समाप्ति'** हो रही है।

हिन्दी में **अन्तिम, आन्तिक** और **समापक** तीनों के स्थान पर प्रायः फारसी के 'आखिरी' शब्द का भी प्रयोग होता है।

अन्दाज़ा- *पु०* (फा०) 'गणन, अनुगणन, अभिकलन, आकलन, परिकलन, परिगणन और संख्यापन'।

अंशदान- *पु०* (सं०) दे० 'दान, अंशदान, अधिदान, अनुदान, परिदान और प्रदान'।

अक्ल- *स्त्री०* (अ०) दे० 'बुद्धि, समझ और अक्ल।'

10. अक्षर / वर्ण / वर्णमाला

Character / Letter / Alphabet

ये शब्द मुंह से निकलने वाले सार्थक शब्दों के खंडों या घटकों के वाचक हैं, परन्तु इनके अर्थों में जो सूक्ष्म भेद है, उसकी ओर साधारणतः लोग उचित ध्यान नहीं देते और एक की जगह दूसरे का प्रयोग कर जाते हैं।

'अक्षर' का विशेषण रूप में अर्थ है– जिसका क्षर या नाश न हो। परन्तु संज्ञा रूप में लोक-व्यवहार में अक्षर मुंह से निकलनेवाली प्रत्येक ऐसी स्वतन्त्र ध्वनि का वाचक है जिसके खंड या टुकड़े नहीं हो सकते। इसे ध्वनि की लघुतम इकाई कह कहते हैं। शब्दों में इनका प्रयोग जब एक निश्चित क्रम या नियम से होता है, तभी उसका या तो कोई अंश सूचित होता है या किसी क्रिया, गुण या वस्तु का बोध होता है। यहां यह भी ध्यान रखना चाहिए कि यह तभी **'अक्षर'** कहा जाता है, जब इसका उच्चारण कंठ से निकलनेवाली कोई ध्वनि सूचित करने के लिए होता है।

'वर्ण' *पु०* (सं०) का पहला और परम प्रचलित अर्थ है– रंग। लिखते समय **अक्षर**

किसी न किसी रंग से ही लिखे जाते हैं इसलिए जब कोई अक्षर किसी रंग से कहीं लिखा जाता है, तब उसकी संज्ञा **'वर्ण'** हो जाती है ।*

वर्ण सदा अक्षरों और ध्वनियों का मूक परन्तु मूर्त प्रतीक होता है और उनका सूचक चिह्न मात्र होता है । यह ठीक है कि कुछ अवस्थाओं में अक्षर उकेरे या खोदकर भी लिखे जाते हैं परन्तु इन्हें हम अपवाद या असाधारण स्थित ही कह सकते हैं । साधारणतः अक्षर किसी न किसी रंग से ही लिखे जाते हैं; इसलिए लिखित अक्षर ही वर्ण कहे जाते हैं । यह बात दूसरी है कि हम एक के स्थान पर दूसरे का प्रयोग कर जाते हैं; जैसे इस पुस्तक की प्रत्येक पंक्ति में **20 अक्षर** (वस्तुतः वर्ण) हैं । पर तात्त्विक दृष्टि से दोनों का यह अन्तर ध्यान में रखने योग्य है ।

'वर्णमाला' *स्त्री०* (सं०) का शब्दार्थ है वर्णों की क्रमिक शृंखला । परन्तु व्यावहारिक क्षेत्र में यह किसी भाषा में उच्चरित होने वाले या प्रचलित समस्त वर्णों का वह निश्चित और क्रमबद्ध रूप है जिसका ज्ञान उस भाषा की लिपि-प्रणाली के द्वारा किया और कराया जाता है, जैसे अंग्रेजी, अरबी, फारसी, हिन्दी आदि की अपनी-अपनी अलग वर्णमालाएं हैं । भाषा और लिपि का आरम्भिक ज्ञान बहुधा वर्णमाला की सहायता से ही प्राप्त किया जाता है ।

अक्सर क्रि.वि. दे० 'प्रायः और बहुधा' ।

अग्नि-परीक्षा *स्त्री०* (सं०) दे० 'संकल्प, निश्चय, प्रतिज्ञा और शपथ' ।

11. अग्रधर्षण चढ़–जोरी

Aggression

अंग्रेजी का एक प्रसिद्ध शब्द है– एग्रेशन (Aggression) जिसके लिए भारत सरकार की शब्दावली में शब्द रखा गया है– **अग्रधर्षण** । भले ही अंग्रेजी मूल शब्द और हिन्दी के इस गढ़े हुए नये शब्द में कुछ उच्चारण साम्य हो परन्तु यह हिन्दी शब्द अनेक दृष्टियों से कुछ ठीक नहीं जान पड़ता । इससे अंग्रेजी मूल शब्द के आशय या भाव की भी पूरी अभिव्यक्ति नहीं होती । **अग्रधर्षण** का सीधा-सादा अर्थ होता है– आगे या पहले चांपना या दबाना । अंग्रेजी के मूल शब्द का प्रयोग ऐसे अवसरों पर होता है जब कोई आगे बढ़कर और अपनी शक्ति का प्रदर्शन करने के लिए कोई झगड़ा या विवाद करना चाहता है, अथवा किसी प्रकार का आघात या जबरदस्ती करके किसी को दबाना चाहता है । **'अग्रधर्षण'** में इस प्रकार के भावों का उतना अच्छा आभास नहीं है । हमारी समझ में इसके लिए हिन्दी का सबसे अच्छा शब्द **'चढ़-जोरी'** हो सकता है जो उच्चारण की दृष्टि से सुगम भी है और यथेष्ट भाव-व्यंजक भी । फारसी का **'सीना-जोरी'** शब्द उर्दू से हिन्दी

---

* यह सूचना मुझे छपरे के डा० मुरलीधर जी श्रीवास्तव से प्राप्त हुई है, जिन्होंने शब्दों की अक्षरी और अर्थों पर बहुत कुछ विचार किया है ।

में आकर प्रचलित तो हो ही चुका है, हमारे यहां के पुराने कवियों और गीतकारों ने इसके अनुकरण पर बर-जोरी शब्द बनाकर भी चला रखा है। यदि वास्तविक दृष्टि से देखें तो बर-जोरी ही अं० एग्रेशन के भाव का बहुत कुछ सूचक है; पर इसका प्रयोग अधिकतर शृंगारिक क्षेत्र में हुआ है जिससे इसमें ग्राम्यता की भी थोड़ी-बहुत गन्ध आ गयी है। ऐसी अवस्था में अं० एग्रेशन के लिए हिन्दी में **'चढ़-जोरी'** बनाकर चलाना अधिक अच्छा होगा। हिन्दी में 'चढ़ना' और उसके कुछ रूपों का प्रयोग आगे बढ़कर आक्रमण और आघात के प्रसंगों में भी होता है; जैसे– तुम भी तो चढ़कर उनके घर लड़ने के लिए गये थे। आशय यही होता है कि वह तुमसे लड़ने के लिए नहीं आये थे बल्कि लड़ाई के लिए तुम्हीं ने आगे बढ़कर पहल की थी। इसके सिवा 'जोरी' का अर्थ होता है– अपने जोर या बल का प्रदर्शन करना, और दूसरे को दबाने का प्रयत्न करना। इन सब बातों का विचार करते हुए हमारी समझ में अं० के 'एग्रेशन' के लिए हिन्दी में **'चढ़-जोरी'** का ही प्रयोग होना चाहिए।

अचम्भा- *पुं०* (सं० चम्भ) दे० 'आश्चर्य, अचम्भा, विस्मय और कुतूहल'।

12. अच्छा — उत्तम — बढ़िया — भला — श्रेष्ठ

अच्छा	उत्तम	बढ़िया	भला	श्रेष्ठ
Good	Best	Nice	Good	Best

इस वर्ग के विशेषण ऐसे कार्यों, बातों आदि के सम्बन्ध में प्रयुक्त होते हैं जो अनेक दृष्टियों से प्रशंसनीय, वांछित तथा सन्तोषजनक होते हैं।

संस्कृत में **'अच्छा'** का पहला अर्थ होता है– जो देखने में साफ या स्पष्ट हो, अथवा जहां स्पष्ट रूप से देखने में कोई कठिनाई या बाधा न हो। आगे चलकर यह 'चमकीला' और 'पारदर्शी' का भी वाचक हो गया था, परन्तु हिन्दी में यह शब्द मुख्यतः नीचे लिखे अर्थों में प्रयुक्त होता है–

1. जो अपनी कोटि, क्षेत्र या वर्ग में औरों से बहुत कुछ आगे बढ़ा हुआ हो और इसीलिए जिससे लोग प्रसन्न और सन्तुष्ट हों अथवा जिसे अनुकरणीय या प्रशंसनीय समझते हों ऐसे अवसरों पर इसके विशेष्य की उपयोगिता और गुणों का ही मुख्य रूप से ध्यान रखा जाता है; जैसे:**अच्छा** विचार, **अच्छा** स्वभाव आदि।

2. इसके सिवा जो अपने आकार-प्रकार, रूप आदि के विचार से औरों से बढ़कर होता है अथवा परिस्थितियों आदि के विचार से देखने में अच्छा या भला लगता हो, वह भी अच्छा कहलाता है; जैसे:**अच्छा** चित्र, **अच्छा** पहनावा, कपड़ों में टंकी हुई **अच्छी** गोट या **अच्छी** बेल आदि।

3. जिसे देखने या सुनने से लोगों का चित्त प्रसन्न होता है अथवा मनोरंजन होता हो, वह भी **अच्छा** कहलाता है, जैसे:**अच्छा** तमाशा, **अच्छा** दृश्य आदि।

4. जिसमें किसी प्रकार का खोट या मिलावट न हो अर्थात् जो प्रामाणिक और मानक स्तर का हो, अथवा जैसा होना चाहिए वैसा हो; वह भी अच्छा कहलाता है, जैसे:

अच्छा घी, **अच्छी** चांदी, **अच्छा** सोना आदि।

5. कल्याण, मंगल या हित करनेवाला भी अच्छा कहलाता है, जैसे– अच्छा उपदेश, **अच्छा** दिन, **अच्छा** मुहूर्त आदि।

6. आर्थिक, व्यावहारिक आदि दृष्टियों से लाभदायक सिद्ध होनेवाला भी अच्छा होता है, जैसे– **अच्छे** दिन, **अच्छी** नौकरी, **अच्छा** रोजगार आदि।

7. साधारण स्थिति में त्रुटियों, दोषों, विकारों आदि से रहित होना भी **'अच्छा'** माना जाता है। जैसे; **अच्छी** फसल, **अच्छी** लिखावट, **अच्छा** स्वास्थ्य आदि। इसी आधार पर जो तन्दुरुस्त, नीरोग या स्वस्थ होता है वह भी **अच्छा** कहलाता है; जैसे– अब वह पहले से बहुत **अच्छा** है।

उत्तम सं० 'उत्'* में 'तम' प्रत्यय लगाने से बना है। इसका शब्दार्थ है सबसे अच्छा उपयुक्त, ऊंचा, बढ़कर या लाभदायक।

श्रेष्ठ सं० 'श्रेयस्' से बना हुआ शब्द है और इसी का एक और विकारी रूप श्रेष्ठी (श्रेष्ठिन्) भी होता है। मूलतः आशय या भाव की दृष्टि से तो नहीं, फिर भी अर्थ की दृष्टि से यह भी बहुत कुछ वही है जो उत्तम है। इसका अर्थ भी 'सबसे बढ़कर' ही है। पर प्रायः लोग इसका प्रयोग साधारणतः अच्छा की तरह ही करते हुए देखे जाते हैं। 'उत्तम तो यही है;' 'अच्छा तो यही है;' सरीखे प्रयोगों में लोग **उत्तम** का व्यवहार उसके मूल अर्थ में नहीं, बल्कि **'अच्छा'** वाले अर्थ में ही करते हुए देखे जाते हैं। यही बात 'वे संस्कृत के **अच्छे** विद्वान् हैं' के सम्बन्ध में भी है। परन्तु वास्तव में **उत्तम** और **श्रेष्ठ** चरम या परम भाव से युक्त हैं।

बढ़िया हिन्दी 'बढ़ना' से बना है और इसका मूल अर्थ है– किसी की तुलना में बढ़कर या आगे बढ़ा हुआ। इसीलिए इसका विपर्याय घटिया (अर्थात् जो किसी की तुलना में घट करके हो) है। परन्तु लोग अनेक अवसरों पर इसका प्रयोग भी सुन्दर की तरह ही करते हैं।

भला की व्युत्पत्ति हिन्दी **शब्द-सागर** में सं० 'भद्र' से बतलाई गयी है। इसका आधार कदाचित् **'भला** आदमी', **'भला** व्यवहार' सरीखे प्रयोग ही हैं। पर हो सकता है कि यह सं० 'भल्' से व्युत्पन्न हो जिसका अर्थ है– अच्छी तरह देखना और जिससे देखना-भालना में का 'भालना' शब्द बना है। उस दशा में इसका मूल अर्थ दर्शनीय या देखे जाने के योग्य भी हो सकता है; तो भी लोक-व्यवहार में **भला** वही कहा जाता है जो सब प्रकार की त्रुटियों, दोषों, विकारों आदि से रहित हो; जैसे– (क) 'अभी कल तो वह यहां भला-चंगा बैठा था; (ख) **'भला** किया जो आप वहां नहीं गये।' संज्ञा रूप में यह कल्याण या मंगल का भी वाचक होता है; जैसे, 'दाता का **भला** हो।'

---

* इसी 'उत्' में 'तर' प्रत्यय लगने से 'उत्तर' शब्द बना है जिसका अर्थ– किसी की तुलना में बढ़कर अर्थात् बढ़िया है। परंतु अब यह संज्ञा रूप में एक विशिष्ट दिशा का वाचक हो गया है और विशेषण के रूप में इसका प्रचलन नहीं रह गया है।

अजब- वि० (*अ०*) दे० 'विचित्र, विलक्षण और अद्भुत'।

अजीब- वि० (अ०) दे० 'विचित्र, विलक्षण और अद्भुत'।

अटकल- स्त्री० दे० 'गणन, अनुगणन, अभिकलन, आकलन, परिकलन, परिगणन और संख्यापन'।

अड़चन स्त्री० दे० 'बाधा और विघ्न'।

अतिशयोक्ति- दे० 'अत्युक्ति और अतिशयोक्ति'।

13. अत्युक्ति अतिशयोक्ति

Exaggeration Hyperbole

इन दोनों शब्दों का प्रयोग ऐसे कथनों या बातों के सम्बन्ध में होता है जो अर्थ की दृष्टि से औचित्य, मर्यादा, व्यावहारिकता आदि के विचार से कुछ और बढ़ा-चढ़ाकर कही गयी हों।

'अत्युक्ति' (सं० *अति+उक्ति*) का अर्थ है ऐसी उक्ति या कथन जो वास्तविक स्थिति से कुछ बढ़ा-चढ़ाकर कहा गया हो और इसीलिए जिस पर सहसा विश्वास करना कठिन हो।

'अतिशयोक्ति' (सं०. *अतिशय+उक्ति*) भी है तो बहुत कुछ वही जो **अत्युक्ति** है परन्तु दोनों में सूक्ष्म अन्तर वही है जो अति और अतिशय में है। साधारणतः बोल-चाल में अतिशय का अर्थ अति के अर्थ से भी बहुत-कुछ आगे बढ़ा हुआ माना जाता है। अति का अर्थ तो होता है– मर्यादा या सीमा से आगे बढ़ा हुआ या अधिक; परन्तु अतिशय का अर्थ होता है– मर्यादा या सीमा से बहुत आगे बढ़ा हुआ अथवा बहुत अधिक। इसी आधार पर हमारे यहां अतिशय नामक एक अलंकार भी माना गया है जिसमें किसी बात की उत्तरोत्तर बढ़ती जानेवाली सम्भावना या असम्भावना का उल्लेख होता है। इसके अतिरिक्त **अतिशयोक्ति** नाम का भी एक अलंकार माना गया है। जहां कोई बात बहुत अधिक बढ़ा-चढ़ाकर और अपनी ओर से खूब नमक-मिर्च लगाकर कही जाती है वहां यह अलंकार माना जाता है। साधारण बोलचाल में इसका रूप कुछ इस प्रकार होगा– आप के मुंह से जो कुछ निकलता है वह ब्रह्मवाक्य है। ऐसी बातें इतनी बढ़ा-चढ़ाकर कही हुई होती हैं कि सुननेवाले को दंग रह जाना पड़ता है।

14. **अथ**	**आदि**	**आरम्भ**
Beginning	Start	Commencement,
	प्रारम्भ	**समारम्भ**
Commencement		Inauguration

संस्कृत के ये शब्द मूलतः इस बात के सूचक हैं कि कोई नया काम या बात या तो पहले-पहल क्रियात्मक रूप में चलकर प्रगति की ओर अग्रसर होने लगी है अथवा नये सिरे से या तो उसमें गति आने लगी है या उसे मति देकर कार्य रूप में लाया जाने लगा है। इन शब्दों के अर्थों में कोई विशेष अन्तर नहीं है फिर भी प्रयोग की दृष्टि से कुछ बातें ऐसी हैं जिन्हें ध्यान में रखना आवश्यक है।

'अथ' मूलतः हमारे यहां का बहुत पुराना अव्यय है जो मंगलसूचक माना गया है। संस्कृत में इसके अब, तब, अतिरिक्त आदि अनेक अर्थ हैं, परन्तु हमारे यहां के प्राचीन, धार्मिक और शास्त्रीय ग्रन्थों का आरम्भ प्रायः इसी शब्द से होता था। इसका विपर्याय 'इति' है। प्रायः बोल-चाल में इसका प्रयोग संज्ञा रूप में भी देखने में आता है, जैसे, उन्होंने अथ से इति तक सारी कथा कह सुनायी।

'आदि' भी है तो पुराना ही शब्द परन्तु **'अथ'** के बाद का है। इसका मुख्य अर्थ है– मूल कारण। इसीलिए यह ईश्वर का भी वाचक है परन्तु हिन्दी में साधारण रूप में यह **आरम्भ** और **प्रारम्भ** के पर्याय के रूप में ही प्रयुक्त होता है। इसका भी विपर्याय 'अन्त' है, जैसे,मैं आदि से अन्त तक सारी पुस्तक पढ़ गया हूं। कुछ अवस्थाओं में इसका प्रयोग विशेषण के रूप में भी होता है, जैसे:आदि कवि। इसके अतिरिक्त इसका प्रयोग अनेक कही हुई बातों या गिनायी हुई चीजों के अन्त में अव्यय के रूप में भी होता है, जैसे:हमारे यहां के कवि, नाटककार, लेखक, समालोचक आदि। ऐसी अवस्था में इसका अर्थ होता है– इसी प्रकार के और भी अनेक। कुछ लोग इसके प्रयोग में कुछ भूल भी करते हैं, जैसे:हमारे यहां के कवि, नाटककार, लेखक और समालोचक आदि। ऐसे अवसरों पर वाक्य में 'और' का प्रयोग ठीक नहीं। और का प्रयोग तभी ठीक माना जायेगा जब 'समालोचक' के बाद 'आदि' न रहे। वाक्य में 'और' का प्रयोग करके हम मानो यह सूचित करते हैं कि उसके बादवाले शब्द तक ही हमारी कही हुई बातें या गिनाये हुए नाम सीमित हैं। परन्तु **'आदि'** इस बात का सूचक होता है कि अभी और भी ऐसी बहुत सी बातें या बहुत से नाम हैं जिनका उल्लेख विस्तार भय से यहां नहीं किया जा रहा है। इसके स्थान पर प्रायः 'इत्यादि' का भी प्रयोग होता है, जैसे:सूर, तुलसी, केशव, पद्माकर, बिहारी इत्यादि।

'आरम्भ' और **'प्रारम्भ'** में कोई विशेष अन्तर नहीं। यदि कोई सूक्ष्म अन्तर हो सकता है तो वह इसी आधार पर कि आरम्भ में 'प्र' उपसर्ग लगाकर **'प्रारम्भ'** शब्द बनाया गया है। संस्कृत में 'प्र' उपसर्ग का प्रयोग प्रायः आधिक्य, उत्त्कर्ष, पूर्णता आदि के भाव सूचित करने के लिए होता है। इसी आधार पर हम कह सकते हैं कि **'आरम्भ'** की तुलना

में **'प्रारम्भ'** बहुत-कुछ आगे बढ़ा हुआ और उक्त प्रकार के भावों से युक्त शब्द है। आरम्भ बहुत ही साधारण और सामान्य कोटि के प्रसंगों में प्रयुक्त होता है; जैसे– कार्य का **आरम्भ**, दिन का **आरम्भ**, युद्ध का **आरम्भ** आदि। परन्तु **'प्रारम्भ'** में कुछ औपचारिकता, महत्ता, कुछ साहित्यिकता और कुछ सुष्ठुता का भी पुट रहता है, जैसे: कवि-सम्मेलन का **प्रारम्भ**, महासभा का **प्रारम्भ** आदि। एक और सूक्ष्म भेद यह भी माना जा सकता है कि **'आरम्भ'** का विपर्याय तो 'अन्त' होता है; परन्तु **'प्रारम्भ'** का विपर्याय 'समाप्ति' होता है। हिन्दी में इन दोनों शब्दों के स्थान पर प्रायः शुरू (अ० शुरूअ) का भी प्रयोग होता है।

यों विशुद्ध प्रारम्भिक अर्थ की दृष्टि से **'छेड़'** और **'पहल'** भी इसी वर्ग में आते हैं, परन्तु उनके परवर्ती और विकसित अर्थों में कुछ नयी रंगत भी चढ़ जाती है। इसीलिए इन शब्दों का विवेचन 'छेड़ और पहल' शीर्षक के अन्तर्गत यथास्थान किया गया है।

'समारम्भ' *पु०* (सं०) भी तो है बहुत-कुछ वही जो **आरम्भ** और **प्रारम्भ** हैं फिर भी इसमें औपचारिकता तथा गरिमा के भाव विशेष रूप से सम्मिलित हैं, और यह मांगलिक **आरम्भ** का वाचक माना जाता है। इसके विषय में और बातें जानने के लिए **दे०** 'अनावरण, उद्‌घाटन, समारम्भ'। ××

अद्‌भुत- *वि०* दे० 'विचित्र, विलक्षण और अद्‌भुत'।

अधिकरण- *पु०* (सं०) दे० आयोग, अधिकरण, न्यायाधिकरण, परिषद् और मंडल।

15. अधिकार एकाधिकार परमाधिकार विशेषाधिकार स्वत्व

15.	**अधिकार** Right	**एकाधिकार** Monopoly	**परमाधिकार** Prerogative
	विशेषाधिकार Privilege	Ownership	**स्वत्व**

इस वर्ग के शब्द ऐसी न्यायसंगत अथवा विधिसम्मत स्थितियों के वाचक हैं; जिनमें कोई व्यक्ति कोई विशिष्ट कार्य या बातकर सकने में औरों की अपेक्षा विशिष्ट और वैयक्तिक रूप से समर्थ होता है।

'अधिकार' मूलतः अधि+कृ से बना है जिसका अर्थ है– किसी को कोई काम पूरा करने या अपनी देख-रेख में पूरा कराने के लिए प्रधान या मुख्य बनाकर नियुक्त करना। इसी आधार पर 'अधिकार' का भौतिक अर्थ होता है– सब कामों की पूरी तरह से की जाने वाली देख-भाल या निरीक्षण। परन्तु आगे चलकर इसमें कई अर्थों का विकास हुआ। लोक-व्यवहार में इसका पहला अर्थ होता है– वह शक्ति जिसके द्वारा मनुष्य किसी कार्य के सम्बन्ध में औरों को कोई आज्ञा देता है अथवा उनसे उनके कर्तव्यों का पालन कराता है। इसी अर्थ में यह विवक्षा भी सम्मिलित है कि वह लोगों को अपना अनुचर और आज्ञाकारी बनाये रखता है। सारांश यह कि इसमें आदेश, व्यवस्था, शासन

आदि के तत्त्व प्रधान हैं, जैसे: राष्ट्रपति को अपने क्षेत्र या राष्ट्र में यह अधिकार होता है कि वह जब और जहां चाहे युद्ध छेड़ सकता अथवा बन्द कर सकता है।

अपने परवर्ती अर्थ में **'अधिकार'** वह शक्ति या स्थिति है जो किसी व्यक्ति को कोई काम कर सकने के योग्य या समर्थ बनाती है। यह शक्ति या स्थिति नैतिक दृष्टि से भी प्राप्त हो सकती है, नैसर्गिक दृष्टि से भी और विधिक दृष्टि से भी। कुछ अवस्थाओं में वह प्रयत्नपूर्वक अर्जित या प्राप्त भी की जा सकती है। नैतिक दृष्टि से हमें समाज में प्रचलित कुप्रथाएं दूर करने का **अधिकार** होता है। नैसर्गिक या प्राकृतिक दृष्टि से हमें जीवित रहने और काल-यापन करने का **अधिकार** होता है और विधिक दृष्टि से दूसरों के अत्याचार, आक्रमण आदि से अपनी रक्षा का **अधिकार** होता है। इसके सिवा हम अध्ययन और मनन करके किसी विज्ञान या शास्त्र में ऐसा अधिकार प्राप्त करते हैं कि लोगों को हमारा कथन या निर्णय मानना पड़ता है अथवा हम धन देकर कोई ऐसी सम्पत्ति खरीदते हैं जिसके सम्बन्ध में हमें उसे दान करने, बेचने अथवा और किसी प्रकार से हस्तांतरित करने का **अधिकार** प्राप्त होता है। इसी दृष्टि से हम किसी विषय के भी अधिकारी कहे जाते हैं और किसी सम्पत्ति के भी।

इस सम्बन्ध में ध्यान देने की एक और बात है। किसी वस्तु या विषय पर हमारे अर्जित किये हुए जो **अधिकार** होते हैं, उन पर हमारा पूर्ण स्वत्व या स्वामित्व भी होता है। परन्तु कुछ **अधिकार** ऐसे भी होते हैं जिन पर हमारा कोई स्वत्व या स्वामित्व नहीं होता। पहले प्रकार के **अधिकार** तो कुछ अवस्थाओं अथवा कुछ रूपों में हस्तान्तरित भी किये जा सकते हैं परन्तु दूसरे प्रकार के अधिकारों के सम्बन्ध में यह बात नहीं होती। जब हम किसी राज्य के मन्त्री या किसी सभा के सचिव बनाये जाते हैं तब तत्सम्बन्धी अधिकार हमारे अर्जित किये हुए नहीं होते वे दूसरों के द्वारा हमें प्रदत्त होते हैं। ऐसे अधिकारों पर हमारा स्वत्व तो होता है परन्तु स्वामित्व नहीं होता और इसीलिए हमारे ऐसे अधिकार यथेष्ट विस्तृत होने पर भी परिमित या सीमित ही होते हैं। उदाहरणार्थ शिक्षा मन्त्री अपने विभाग की सारी व्यवस्था भी कर सकता है और उसके कार्यकर्ताओं पर अपना नियन्त्रण या शासन भी रखता है। परन्तु ये सब काम वह तभी तक कर सकता है जब तक अपने पद पर आसीन रहे। उस पद से हट जाने या हटा दिये जाने पर उसका वह अधिकार नष्ट हो जाता या उसके हाथ से निकल जाता है। दूसरी बात यह भी है कि वह अपने समस्त अधिकार अपनी इच्छा से किसी दूसरे को सौंप नहीं सकता और इसी दृष्टि से कहा गया है कि ऐसे अधिकार पर व्यक्ति का स्वामित्व नहीं होता। हिन्दी में अरबी का 'इख्तियार' शब्द भी इसके समानार्थक के रूप में प्रयुक्त होता है।

अपने तीसरे अर्थ में **'अधिकार'** उस स्थिति का वाचक है जिसमें कोई व्यक्ति किसी सम्पत्ति को अपने वश में करके उसका उपभोग भी करता है और उस पर नियन्त्रण भी रखता है। ऐसी स्थिति वैध भी हो सकती है और अवैध भी। हमारी जो सम्पत्ति किसी दूसरे के हाथ में चली गयी हो उसे फिर से प्राप्त करके हम उस पर अपना **अधिकार** स्थापित कर लें अथवा यह भी हो सकता है कि हम किसी युक्ति से किसी दूसरे

की सम्पत्ति अपने हाथ में करके उस पर अपना **अधिकार** जमा लें। इसके सिवा कोई व्यक्ति अपनी इच्छा से अपनी सम्पत्ति की व्यवस्था करने के लिए उसका **अधिकार** हमें सौंप सकता है। हिन्दी में इस तीसरे अर्थ के लिए 'क़ब्जा' (अ० कब्जः) शब्द भी प्रचलित है।

हिन्दी के अधिकतर कोशों में **'अधिकार'** का एक अर्थ 'दावा' भी मिलता है। परन्तु वस्तुतः **अधिकार** का अर्थ दावा नहीं। दावे का भाव तो इसमें तब आता है जब हम इसके साथ 'जताना' या 'जतलाना' क्रिया का प्रयोग करते हैं।जब हम कहते हैं– उस मकान पर दोनों पक्ष अपना दावा जताते हैं तब यह भी कहा जा सकता है कि उस मकान पर दोनों पक्ष अपना दावा पेश करते हैं। यों 'दावा जताना' का साधारण अर्थ होता है– यह प्रदर्शित करना कि अमुक वस्तु पर हमारा भी **अधिकार** होना चाहिए। साधारण अवसरों पर 'दावा जताना' का यह भी अर्थ होता है– लोगों को दिखाने या उन पर अपना प्रभाव डालने के लिए अपने प्राप्त **अधिकार** का प्रदर्शन करना, जैसे:जब देखो तब वे दफ्तर के लोगों पर अपना **अधिकार** जताते रहते हैं। आशय यह होता है कि वे अनावश्यक और अनुचित रूप से अपने **अधिकार** या शक्ति का प्रदर्शन करते हैं।

'एकाधिकार' *पु. (सं० एक + अधिकार)* **अधिकार** का वह विशिष्ट प्रकार या रूप है जिसमें कोई एक व्यक्ति अथवा कुछ व्यक्तियों का वर्ग या समूह बाजार में बिकने वाली चीजों या जनता की सेवा के कामों को पूर्णतः अपने नियन्त्रण में रखता है, उसकी दर, पारिश्रमिक, भाव आदि स्वयं मनमाने ढंग से निश्चित करता है। और अपने क्षेत्र में दूसरे लोगों को आने या हस्पक्षेप करने से वंचित रखता है। यह **अधिकार** मुख्यतः दो प्रकार का होता है। एक तो यह **अधिकार** राजा, राज्य अथवा शासन की ओर से किसी को दिया जाता है; और दूसरे खुले बाजार में अपनी आर्थिक शक्ति और प्रभाव बहुत अधिक बढ़ाकर अर्जित या प्राप्त किया जाता है। राज्य अथवा शासन की ओर से किसी एक व्यक्ति अथवा मंडली को किसी खान या जंगल से सम्बन्ध रखने वाले सभी कार्यों का **एकाधिकार** दिया जाता है; और वही उससे सब प्रकार का लाभ उठाता है। दूसरे प्रकार में बहुत बड़े-बड़े व्यापारी अनाज, कपड़े, चांदी, सोने आदि के सारे व्यापार का इतना अधिक अंश अपने **अधिकार** और नियन्त्रण में ले लेते हैं कि वही लोग बाजार भाव का रुख जब जिधर चाहें, तब उधर मोड़ सकते हैं; ऐसे ही लोग चीजों का भाव अपने सुभीते के अनुसार घटाते-बढ़ाते रहते हैं; और उसकी आपूर्ति में कमी या बेसी करते रहते हैं; जैसे:आज-कल अनेक बड़े-बड़े समाचार पत्रों पर दो चार बहुत-बड़े पूंजीपतियों का ही एकाधिकार है। आज-कल इस प्रकार का अधिकार जन-साधारण और विशेषतः लोकतान्त्रिक समाजवादी क्षेत्रों में बहुत ही अनुचित और आपत्ति-जनक माना जाता है।

परमाधिकार *पु० (सं० परम+अधिकार)* वह है जो किसी व्यक्ति को उसकी अवस्थिति या सत्ता के फलस्वरूप प्राप्त होता है। यह अधिकार ऐसा होता है जो विशिष्ट रूप से किसी को अपने लिंग, पद, विशिष्ट गुण आदि के कारण प्राप्त होता है, जैसे राजा या राज्यपाल को अपने राज्य में शासन और व्यवस्था-सम्बन्धी बहुत से काम कर सकने का और सब मनुष्यों को सोच-समझकर काम करने का **परमाधिकार** है। ईश्वर-दत्त

परमाधिकार (जैसे, स्त्रियों को सन्तान प्रसव करने का) तो किसी तरह छीना ही नही जा सकता, पर राजा अपने सरदारों या सामन्तों का कोई **परमाधिकार** इसलिए छीन भी सकता कि उसे ऐसा करने का **परमाधिकार** होता है। राजा भी अपनी प्रजा या न्यायालय से अपने छिने हुए **परमाधिकार** मांगने और पाने का अधिकारी हो सकता या अभ्यर्थन कर सकता है।

विशेषाधिकार *पुं०* (सं० *विशेष+अधिकार*) वह विशिष्ट प्रकार का **अधिकार** है जो किसी को अनुग्रहपूर्वक या रियायत के रूप में दिया जाता है। ऐसा अधिकार प्रायः कृत्रिम या मनमाना और बहुत-कुछ व्यापक अथवा सार्विक होता है और कुछ ही गिने-चुने लोगों को (और वह भी विशिष्ट परिस्थितियों में ही) मिलता है। ऐसा **अधिकार** कुछ काम कर सकने के सम्बन्ध भी हो सकता है और कुछ कामों से बचने या बच सकने के लिए भी। कुछ लोगों को यह **विशेषाधिकार** मिल सकता है कि वे जब चाहें, तब संसद की बैठकों में उपस्थित हों और जब न चाहें, तब न हों। जिन जंगलों में शिकार खेलना मना होता है, उनमें कुछ लोगों को शिकार खेलने का **विशेषाधिकार** मिल सकता है।

'स्वत्व' 'स्व' का भाववाचक रूप है। इसका मूल अर्थ– अपनापन। जो वस्तु पूर्णतः हमारी अपनी या निजी हो उसी के सम्बन्ध में कहा जाता है कि उस पर हमारा **स्वत्व** है। ऊपर अधिकार के जो कई अर्थ बतलाये गये हैं उनसे इसमें मुख्य अन्तर यही है कि स्वत्व या तो पैतृक और वंशानुक्रमिक रूप में प्राप्त होता है अथवा स्वयं अर्जित करके ऐसे रूप में प्राप्त किया जाता है कि उसमें दूसरे का कोई अंश या अधिकार न हो। कुछ अवस्थाओं में इस **स्वत्व** के भोग का कुछ अंश किसी दूसरे को भी उपयोग या उपभोग के लिए दिया जा सकता है। उदाहरणार्थ हम मौलिक और स्वतन्त्र रूप से जो साहित्यिक रचना करते हैं उस पर पूर्ण रूप से हमारा **स्वत्व** होता है। परन्तु उसके प्रकाशन, विक्रय, वितरण आदि का अधिकार हम किसी दूसरे को भी दे सकते और देते हैं। फारसी का 'मिल्कियत' (स्त्री०) शब्द **स्वत्व** का बहुत कुछ समानार्थक है।

अधिकेन्द्र-*पुं०* (सं०) दे० केन्द्र, उत्केन्द्र और नाभि

अधिदान- *पु०* (सं०) दे०, 'दान, अंशदान, अधिदान, अनुदान, परिदान और प्रदान'।

अधिदेश- *पु०* (सं०) दे० 'अध्यादेश, परादेश और समादेश'।

अधिसूचना- *स्त्री०* (सं०) दे० विज्ञप्ति, अधिसूचना, ज्ञापन, ध्येयपत्र, परिपत्र और श्वेतपत्र।

अधीक्षक- *पु०* (सं०) दे०, 'निरीक्षण, अधीक्षण, पर्यवेक्षण, पुनरीक्षण, सम्प्रेक्षण और सर्वेक्षण '।

अधीक्षण- *पु०* (सं०) दे० 'निरीक्षण, अधीक्षण, पर्यवेक्षण, पुनरीक्षण, सम्प्रेक्षण और सर्वेक्षण'।

अध्यक्ष-मंडल *पु०*(सं०) दे० आयोग, अधिकरण, परिषद् और मंडल।

16. **अध्ययन** **अनुशीलन** **परिशीलन**

Study

पारायण **मनन** **स्वाध्याय**

Contemplation

इस वर्ग के शब्द ऐसी क्रियाओं के वाचक हैं जो किसी विषय का ज्ञान प्राप्त करने अथवा उस विषय के अंगों और समस्याओं का स्वरूप समझने के लिए कुछ विशिष्ट साधनों (यथा–ग्रन्थ, लेख आदि) के आधार पर की जाती है। हम साधारण रूप से पुस्तकें, समाचार-पत्र आदि सरसरी तौर पर पढ़ तो जाते हैं, परन्तु विशेष ध्यान देकर उन पर कोई विचार नहीं करते। पर जब हम किसी ग्रन्थ या विषय की सब बातों का अच्छा और यथासाध्य पूरा ज्ञान प्राप्त करने के लिए ध्यान देकर और विशेष विचारपूर्वक कुछ पढ़ते हैं तब हमारा वही पढ़ना **'अध्ययन'** कहलाता है। इसके लिए विशेष तत्परता और मनोयोग की आवश्यकता पड़ती है।

साधारणतः ग्रन्थों, विद्याओं आदि का **अध्ययन** तो होता ही है; किसी काल, देश आदि की आर्थिक, औद्योगिक, राजनीतिक, सामाजिक आदि परिस्थितियों और प्रवृत्तियों का भी इस उद्देश्य से **अध्ययन** किया जाता है कि उनका इतिहास, गतिविधि, विकास आदि के तथ्य जानकर उनकी उपयोगिता, भविष्य आदि का निरूपण हो सके।

'अनुशीलन' और **'परिशीलन'** दोनों बहुत-कुछ एक ही हैं। परन्तु अध्ययन की तुलना में ये कई दृष्टियों से बहुत कुछ आगे बढ़े हुए होते हैं। इनमें प्रस्तुत विषय से सम्बन्ध रखनेवाले ब्योरे की और अधिक सूक्ष्म बातों पर विशेष ध्यान दिया जाता है, और उसके भेद-विभेदों और जटिल समस्याओं पर भी अधिक गम्भीरतापूर्वक विचार किया जाता है। तात्त्विक दृष्टि से देखने पर कहा जा सकता है कि किसी जाने या पढ़े हुए विषय का मन में बार-बार चिन्तन करना **अनुशीलन** है; और अन्यान्य ग्रन्थों की सहायता से तुलनात्मक विवेचन करना **परिशीलन** है; जैसे दर्शनशास्त्र या मनोविज्ञान का पूरा-पूरा **अनुशीलन** या **परिशीलन** कर लेने पर ही मनुष्य उसके सम्बन्ध में कुछ कहने या लिखने का अधिकारी होता है। **अध्ययन** में तो किसी विषय का ज्ञान प्राप्त करने का भाव प्रधान है। परन्तु **अनुशीलन** या **परिशीलन** का उद्देश्य होता है गम्भीर तथा सूक्ष्म बातों का ज्ञान प्राप्त करके उनके सम्बन्ध में कोई नयी बात ढूंढ़ निकालना या किसी नये निष्कर्ष तक पहुंचना, जैसे:विश्वविद्यालय में जो अनुशीलन-विभाग खुला है उसमें सूर साहित्य का नये सिरे से विवेचन हो रहा है और उसके फलस्वरूप बहुत सी ऐसी नयी बातें सामने आ सकती हैं जिनकी ओर अभी तक लोगों का ध्यान नहीं गया है।

'मनन' *पु०* (सं०) 'मन' से सम्बद्ध है और इसका मुख्यार्थ है– किसी विषय पर मन ही मन बहुत अच्छी तरह विचार करना या सोचना-समझना। यह वस्तुतः हमारी ज्ञानेन्द्रिय का कार्य है। हम पहले कोई विषय अच्छी तरह पढ़ या सुन लेते हैं, और तब मन ही मन इस बात का विचार करते हैं कि जो कुछ हमने पढ़ा या सुना है वह कहां तक

ठीक है । इसके सिवा हम उस विषय की गहराई या तह तक पहुंचने का विशिष्ट मानसिक प्रयत्न करते हैं, और तर्क-वितर्क, अनुमान आदि की सहायता से उसका ठीक-ठीक स्वरूप निर्धारित करते हैं । इसके लिए विशिष्ट बौद्धिक या मानसिक शक्ति अपेक्षित होती है; और फलतः यह **अनुशीलन** या **परिशीलन** का बहुत बढ़ा हुआ और विकसित रूप होता है ।

'स्वाध्याय' *पु०* (सं०) का शब्दार्थ है– स्व के सम्बन्ध में किया जाने वाला अध्ययन और मनन । यहां स्व से अभिप्राय है अपनी आत्मा का और उस परमात्मा का जिसका अंश आत्मा है । जब हम इस बात का **अध्ययन** करते हैं कि हम क्या हैं, हमारा वास्तविक रूप क्या है और उस परमात्मा के साथ हमारा कैसा और क्या सम्बन्ध है, तब यही **अध्ययन** और **मनन स्वाध्याय** कहलाता है । वेदों में भी मुख्य रूप से आत्मा और परमात्मा के पारस्परिक सम्बन्ध का विवेचन है; इसलिए प्राचीन काल में वेदों का **अध्ययन** भी **स्वाध्याय** कहलाता था । पर इसका मूल आशय स्व के सम्बन्ध में किया जाने वाला **अध्ययन** ही है । इस दृष्टि से यह पारायण का बहुत कुछ सम-कक्ष है ।

'पारायण' *पु०* (सं०) का शब्दार्थ है– पार जाने या होने की क्रिया अथवा भाव । परन्तु प्रस्तुत प्रसंग में इसका अर्थ **अध्ययन, अनुशीलन** और **परिशीलन** के अर्थों का मानों सामूहिक रूप है । इसका प्रयोग मुख्यतः धार्मिक ग्रन्थों के **अध्ययन** और **अनुशीलन** साथ-साथ चलाने के सम्बन्ध में होता है । अध्ययन और **अनुशीलन** तो सभी विषयों का होता और हो सकता है; परन्तु पारायण का विशिष्ट उद्देश्य होता है– आत्मिक उन्नति या आध्यात्मिक कल्याण । परन्तु आज-कल लोग धार्मिक ग्रन्थों के साधारण, परन्तु नित्य पाठ को ही पारायण कहने लगे हैं । इसी के मौलिक अर्थ से युक्त **पारंगत** शब्द भी हिन्दी में प्रचलित है, जिसका भूत कृदन्त में अर्थ होता है– पार गया या पहुंचा हुआ, और संज्ञा रूप में अर्थ होता है– बहुत बड़ा ज्ञाता या विद्वान । परन्तु **'पारायण'** में पांडित्य अथवा विद्वत्ता का कोई तत्त्व नहीं है वह तो भक्ति और श्रद्धापूर्वक किया जाने वाला धार्मिक ग्रंथों का **अध्ययन** और **अनुशीलन** मात्र है ।

17. अध्यादेश — परादेश प्रादेश — समादेश

Ordinance — Mandate — Writ

इस वर्ग के शब्द प्रशासनिक और विधिक क्षेत्र में कुछ उच्च स्तर के और विशिष्ट प्रकार के आदेशों के वाचक हैं; और इधर हाल में कुछ नये अर्थ सूचित करने के लिए प्रचलित हुए हैं ।

अध्यादेश *पु०* (सं० अधि+आदेश) वह आधिकारिक आदेश है, जो किसी कार्य, व्यवस्था आदि के सम्बन्ध में राज्य के प्रधान शासक द्वारा दिया या निकाला जाता है । हमारे यहां सारे भारत के लिए अथवा उसके किसी अंश के लिए **'अध्यादेश'** जारी करने का अधिकार राष्ट्रपति महोदय को है और अपने-अपने प्रदेश के लिए राज्यपाल को भी

ऐसा करने का अधिकार है। परन्तु इसमें प्रतिबन्ध यह है कि अध्यादेश उन्हीं दिनों में निकाला जा सकता है जिन दिनों संसद या विधान-सभा का अधिवेशन न हो रहा हो। **अध्यादेश** की अवधि अधिक से अधिक 6 मास की होती है और इस बीच में यदि संसद या विधान-सभा का अधिवेशन आरम्भ हो जाये तो **अध्यादेश** उस अधिवेशन में पारित कराना पड़ता है और उसे विधान का रूप देना पड़ता है। ऐसा **अध्यादेश** किसी जटिल या विषम स्थित में ही प्रशासनिक व्यवस्था ठीक रखने के लिए जारी किया जाता है।

परादेश *पु०* (सं० परा+देश) मेरी सम्मति में अंग्रेजी के mandate के लिए अधिक उपयुक्त होगा।*

'परादेश' वह अधिकार है जो कोई बहुत उच्च अधिकार रखनेवाला मंडल या संस्था अपने किसी सदस्य राज्य को किसी उपनिवेश या प्रदेश की कुछ दिनों तक व्यवस्था करने और शासन चलाने के लिए देता है। ऐसा उपनिवेश या प्रदेश उस राज्य की देख-भाल के लिए थाती या न्यास के रूप में ही नियत समय तक रहता है। इस बीच में या तो वह उपनिवेश अथवा वह प्रदेश अपना शासन चलाने के लिए आप ही योग्य बन जाता है अथवा उसमें इस प्रकार की योग्यता लाने के लिए वह किसी दूसरे राज्य को सौंप दिया जाता है। इससे और आगे बढ़ने पर वह आदेश भी **'परादेश'** कहलाता है जो किसी उच्च न्यायालय की ओर से किसी अधीनस्थ न्यायालय को कोई विशिष्ट कार्य करने के लिए दिया जाता है। इसका वि० रूप परादेशिक होगा, जैसे, अमुक राज्य को अमुक प्रदेश पर शासन करने का परादेशिक अधिकार मिला हो।

समादेश *पु०* (सं० सम्+आदेश) का साधारण अर्थ है– आधिकारिक रूप से किसी अधीनस्थ को दिया जानेवाला आदेश या आज्ञा। परन्तु आज-कल हमारे यहां समादेश सर्वोच्च न्यायालय अथवा किसी उच्च न्यायालय का दिया हुआ वह आदेश है जो किसी अधीनस्थ न्यायालय को किसी मामले की सुनवाई तब तक रोक रखने के लिए दिया जाता है, जब तक सर्वोच्च न्यायालय या उच्च न्यायालय उस मामले के सम्बन्ध में अपना निश्चय या विचार प्रकट न कर दे। कभी-कभी ऐसा होता है कि किसी न्यायालय में कोई राजनैतिक या संवैधानिक विवाद विचारार्थ पेश किया जाता है परन्तु प्रतिवादी को उसके सम्बन्ध में कोई विधिक या वैधानिक आपत्ति होती है। ऐसी अवस्था में प्रतिवादी उच्च न्यायालय अथवा सर्वोच्च न्यायालय में इस आशय का प्रार्थना-पत्र या याचिका दायर

---

*भारत सरकार ने mandate के लिए 'प्रादेश' शब्द स्थिर किया है जो एक दृष्टि से ठीक नहीं है। अंग्रेजी में mandate से उसका वि० रूप mandatory बनता है। परन्तु यदि हम प्रादेश से उसका वि० रूप बनाना चाहें तो हमें 'प्रादेशिक' शब्द रखना पड़ेगा। जो पहले से Provincial और Regional के लिए प्रचलित है। डा० रघुवीर ने अपने कोश में इसके लिए 'अधिदेश' शब्द स्थिर किया है। इसमें का 'अधि' उपसर्ग अतिरेक या अधिक के भाव का सूचक है परन्तु mandate में अतिरेक या आधिक्य का भाव नहीं; बल्कि उच्चाधिकार या वरिष्ठता का भाव प्रधान है। इसके सिवा अधिदेश और अध्यादेश में आशय की दृष्टि से कोई विशेष अन्तर भी नहीं है। इसी विचार से मैंने 'परादेश' रूप स्थिर किया है। वरिष्ठता या श्रेष्ठता का भाव सूचित करने के लिए 'परा' अधिक उपयुक्त है, जैसा कि परा-मनोविज्ञान आदि में व्यक्त होता है।

करता है कि अधीनस्थ न्यायालय तब तक इस पर विचार न करे, जब तक आप इसकी वैधानिकता आदि के सम्बन्ध में अपना निर्णय न दे दें। ऐसे प्रार्थना-पत्र या याचिका को 'समादेश-याचिका' कहते हैं।

अनमिल *पु०* (हिन्दी) दे० 'पाखंड, आडंबर, ढकोसला और ढोंग'।

अनमेला *पु०* (हिन्दी) 'पाखंड, आडंबर, ढकोसला और ढोंग'।

18. अनशन उपवास प्रायोपवेष लंघन व्रत

अनशन	उपवास	प्रायोपवेष	लंघन	व्रत
Fast		Fast		
		Religious vow		

संस्कृत की ये सभी पु० संज्ञाएं उस अवस्था की सूचक हैं जिसमें मनुष्य भोजन नहीं करता और भूखा रहता है। **'अनशन'** और **'व्रत'** का प्रयोग तब होता है जब मनुष्य अपनी इच्छा से और जान-बूझ कर किसी अभिप्राय या उद्देश्य से कुछ समय के लिए भोजन छोड़ देता है। परन्तु **'उपवास'** और **'लंघन'** अपनी इच्छा के अतिरिक्त चिकित्सक के आदेश या निर्देश पर अथवा विवशता की दशा में भी किये जाते अथवा होते हैं।

'अनशन' मूलतः सं० के अशन (खाना या भोजन करना) के पहले सं० का अन् उपसर्ग लगने से बना है; और इसका सीधा-सादा शब्दार्थ है– न खाना या भोजन न करना। वस्तुतः **'अनशन'** किसी प्रकार की खिन्नता, रोष, विरक्ति आदि उत्पन्न होने पर किया जाता है। परन्तु आज-कल यह शब्द एक विशिष्ट अर्थ या भाव सूचित करने के लिए होने लगा है। आज-कल प्रायः ऐसा होता है कि कैदी, मजदूर, राजनीतिक नेता आदि अपनी इच्छा के अनुसार कोई काम कराना तो चाहते हैं पर अधिकारी उनकी बात नहीं मानते या नहीं सुनते। अतः अधिकारियों को विवश करने के लिए वे कहते हैं कि हम तब तक भोजन नहीं करेंगे जब तक हमारी मांगें पूरी नहीं हो जातीं। अंग्रेजी में ऐसी स्थिति का सूचक एक प्रसिद्ध पद है– हंगर स्ट्राइक (Hunger strike)। हिन्दी में बहुत दिनों से इसके अंध-अनुकरण पर 'भूख-हड़ताल' पद चल रहा है जो बिल्कुल निरर्थक भी है और बहुत ही भद्दा भी। कुछ समझदार लोग इसके स्थान पर जो **'अनशन'** का प्रयोग करते हैं वही ठीक भी है और सार्थक भी। 'भूख-हड़ताल' के स्थान पर सदैव इसी का प्रयोग होना चाहिए।

'उपवास' का प्रयोग हमारे यहां प्राचीन काल में एक प्रकार का ऐसा आध्यात्मिक और धार्मिक आचरण होता था जिसमें लोग संसार से विरक्त होने के लिए इन्द्रियों के सब प्रकार के सुख-भोगों का परित्याग कर देते थे। वे शरीर के निर्वाह के लिए खाते पीते तो थे परन्तु आभूषणों, वस्त्रों, सुगंधियों आदि का व्यवहार नहीं करते थे और मनोविनोद आदि की लौकिक बातों से बिल्कुल अलग और दूर रहते थे। आगे चलकर यह शब्द उसी अर्थ में प्रयुक्त होने लगा था जिस अर्थ में आज-कल हिन्दू समाज में 'एकादशी का व्रत' में का **'व्रत'** शब्द प्रयुक्त होता है। इसका अर्थ होता था– संयमी बनने के लिए किसी

दिन भोजन न करना। परन्तु आज-कल इसका प्रयोग कुछ और विस्तृत रूप में भी होने लगा है। हम आध्यात्मिक और धार्मिक दृष्टि से तो किसी-किसी दिन भोजन छोड़कर भूखे रहते ही हैं; परन्तु रोगी होने पर चिकित्सक लोग हमारे शारीरिक कल्याण और स्वास्थ्य के लिए हमें **उपवास** कराते हैं अर्थात् हमारे लिए भोजन की मनाही कर देते हैं। इसके सिवा दरिद्रता, दुर्भिक्ष आदि के कारण भी कभी-कभी लोगों को **उपवास** करने के लिए विवश होना पड़ता है। तात्पर्य यह कि भोजन-सामग्री बहुत ही कम मिलने अथवा बिल्कुल न मिलने की दशा मे भी लोगों को **उपवास** करना अर्थात् भूखों रहना पड़ता है।

'प्रायोपवेष' में के 'प्राय' का अर्थ है– मृत्यु की कामना करना; और उपवेष का अर्थ है– बैठना। इस प्रकार **प्रायोपवेष** का अर्थ होता है– मृत्यु की कामना करते हुए बैठे रहना। यह हमारे यहां की बहुत प्राचीन प्रथा है। प्राचीन भारत में ऋषि, मुनि आदि जब बहुत वृद्ध हो जाते थे अथवा मानसिक चिन्ताओं या शारीरिक कष्टों से बचने के लिए अपने प्राण देना चाहते थे, तब वे अन्न जल छोड़कर मृत्यु की कामना करते हुए शान्त भाव से किसी स्थान पर बैठ जाते थे और उसी दशा में प्राण त्याग देते थे। इसी प्रथा को **प्रायोपवेष** कहते थे। महाभारत में द्रोण के **प्रायोपवेष** की कथा आयी है।

'लंघन' सं० की लंघ् धातु से बना है जिसका अर्थ है किसी ऊंची चीज पर एक ओर से चढ़कर दूसरी ओर से नीचे उतरना अर्थात् किसी चीज के ऊपर से होते हुए और उसे पार करते हुए आगे बढ़ना। हिन्दी की 'लांघना' क्रिया इसी सं० **लंघन** से बनी है; और इसी **लंघन** में उत् उपसर्ग लगने से 'उल्लंघन' बनता है। संस्कृत में **लंघन** के जो कई अर्थ हैं उनमें से एक अर्थ यह भी है–नियत समय पर भोजन न करके भूखे पेट ही समय बिताना; अर्थात् है तो यह भी बीच में कुछ समय तक भोजन न करने का वाचक; परन्तु लोक-व्यवहार में यह शब्द प्रायः रोगियों के सम्बन्ध में प्रयुक्त होता है। वैद्यक का एक प्रसिद्ध वाक्य है– लंघनं परमौषधम् अर्थात् **लंघन** रोगों की सबसे अच्छी दवा है। वैद्य लोग स्वास्थ्य-रक्षा के विचार से रोगियों को जो भोजन से विरत रखते हैं वह लंघन कराना कहलाता है। इस विशिष्ट अर्थ में **'उपवास'** और **'लंघन'** को समानार्थक ही समझना चाहिए। प्राचीन और मध्ययुगीन भारतीय हिन्दू समाज में यह प्रथा थी कि जब, घर का कोई आदमी मर जाता था तब स्त्रियां दिन भर भोजन नहीं करती थीं, केवल रात के समय एक बार भोजन करती थीं। इस प्रकार दिन भर शोक-सूचक भूखे रहने को भी **'लंघन'** ही कहते थे। **'उपवास'** और **'लंघन'** दोनों के लिए हिन्दी में उर्दू का **'फ़ाका'** (अ० फ़ाक़ः) भी पर्याय के रूप में प्रचलित है।

'व्रत' के संस्कृत में बहुत से अर्थ हैं; जैसे आज्ञा या आदेश, नियम, विधान आदि। परन्तु मुख्य रूप से यह ऐसे दृढ़ निश्चय या प्रतिज्ञा का वाचक है जो धार्मिक, नैतिक आदि दृष्टियों से और किसी सद् उद्देश्य से की गयी हो और जिसका पालन दृढ़ता और निष्ठापूर्वक किया जाता हो। पतिव्रत, ब्रह्मचर्य आदि में का **व्रत** इसी प्रकार के निश्चयों और प्रतिज्ञाओं का सूचक है। जैनों में सूर्यास्त से पहले भोजन करने का जो विधान है वह भी एक प्रकार का **व्रत** ही है। आगे चलकर इसका प्रयोग भी **उपवास** की तरह आध्यात्मिक, धार्मिक आदि क्षेत्रों में संयमपूर्वक किये जानेवाले आचरण के सम्बन्ध में होने

लगा था। प्रस्तुत प्रसंग में यह धार्मिक दृष्टि से किये जानेवाले उपवास का ही समानार्थक माना जाता है और इस क्षेत्र में **उपवास** की तुलना में इसी का प्रचार है; जैसे एकादशी या पूर्णिमा का **व्रत**, रामनवमी या शिवरात्रि का **व्रत** आदि-आदि। धार्मिक दृष्टि से 24 घंटे तक कुछ भी न खाना निराहार **व्रत** कहलाता है और निर्जला एकादशीवाले **व्रत** का नामकरण इस दृष्टि से हुआ है कि उस दिन 24 घंटे जल तक न पीने का विधान है। परन्तु साधारणतः यही देखा जाता है कि लोग **व्रत** के दिन एक ही बार भोजन करते हैं और अन्न न खाकर उसके बदले फल अथवा फलों से बनी हुई चीजें ही खाकर अथवा दूध ही पीकर रह जाते हैं। मुसलमान लोग धार्मिक दृष्टि से उक्त प्रकार का जो उपवास करते हैं वह 'रोजा' कहलाता है।

निश्चय या प्रतिज्ञा से **'व्रत'** कई बातों में आगे बढ़ा हुआ है। निश्चय और प्रतिज्ञा तो मुख्यतः लौकिक या सामाजिक क्षेत्रों के शब्द हैं; परन्तु **व्रत** आस्तिक और धार्मिक प्रवृत्तियों से युक्त होता है। निश्चय और प्रतिज्ञा दोनों दूसरों के प्रति भी हो सकती हैं परन्तु **व्रत** विशुद्ध रूप से आत्मगत और वैयक्तिक होता है और सदा सत्कर्मों के संबंध में होता है।

19. अनाचार — कदाचार — दुराचार — भ्रष्टाचार — व्यभिचार

अनाचार	**कदाचार**	**दुराचार**
Misconduct	Bad conduct	
भ्रष्टाचार		**व्यभिचार**
Corruption		Adultery Prostitution

इस वर्ग के शब्द ऐसे आचारों के वाचक हैं जो लोक तथा समाज में घृणित, निन्दनीय या बुरे माने जाते हैं।

अनाचार *पु०* (सं०) ऐसी स्थिति का वाचक है जिसमें आचार का न तो कोई ध्यान ही रखा जाता हो और न कोई सिद्धान्त ही माना जाता हो। जब जो कुछ अच्छा जान पड़े या जी में आये अथवा जिसमें अपना लाभ या हित दिखायी दे तब वही कर डालना अनाचार है। यह बिल्कुल अनियन्त्रित और मनमाने ढंग से किये जानेवाले कामों और व्यवहारों का सूचक है। यह ऐसे अनुचित आचरण और व्यवहार का सूचक है जिसमें किसी प्रकार के नियम, परिपाटी या विधान की कुछ भी परवाह नहीं की जाती, उसे तुच्छ या निरर्थक समझा जाता है।

कदाचार और दुराचार *पु०* (सं०) दोनों मूल अर्थ के विचार से बहुत कुछ एक ही हैं; दोनों का अर्थ है– दूषित और बुरा आचार। मध्य युग के संस्कृत ग्रन्थों में तो **'कदाचार'** का प्रयोग प्रायः मिलता है ; परन्तु आज-कल इसका प्रयोग बहुत कम होता है और इसके स्थान पर **'दुराचार'** ही विशेष रूप से प्रचलित है। चोरी, जुआ, मद्य-पान,

वेश्यागमन आदि सभी बुरी बातें इसके अन्तर्गत आ जाती हैं। यहां तक कि धोखेबाजी, बेईमानी आदि की गिनती भी **'दुराचार'** में होती है।

'भ्रष्टाचार' *पु०* (सं०) भ्रष्ट+आचार के योग से बना है। इसका मूल अर्थ तो आचार से भ्रष्ट, रहित या हीन होता ही है; परन्तु अब इसका प्रयोग कुछ विशिष्ट प्रकार के बुरे आचरणों और व्यवहारों के सम्बन्ध में होने लगा है। आज-कल राजनीति, व्यापारिक, सामाजिक आदि क्षेत्रों में जो बहुत से नये प्रकार के, विधि विरुद्ध और निन्दनीय आचरण तथा व्यवहार होने लगे हैं यह उन सबके सामूहिक रूप का सूचक हो गया है। चोर-बाजारी, मुनाफाखोरी, तस्करी सरीखे जितने अनुचित कार्य लोग स्वयं अथवा राजकीय कार्यकर्ताओं के सहयोग तथा सहायता से करते हैं, अथवा राजकीय कर्मचारी अनेक प्रकार के पक्षपातपूर्ण और बेईमानी के काम करते हैं अथवा बड़ी-बड़ी रिश्वतें लेकर उस प्रकार के काम होने देते हैं अथवा धन, पद आदि के लोभ में पड़कर अनेक प्रकार के अनुचित कार्य करते हैं, उन सबकी गिनती अब **'भ्रष्टाचार'** में ही होती है।

'व्यभिचार' *पु०* (सं०) हमारे यहां का बहुत पुराना और प्रचलित शब्द है। यह मुख्यतः पुरुषों और स्त्रियों के अनुचित और नीति-विरुद्ध लैंगिक सम्बन्ध का वाचक है। परन्तु यह सम्बन्ध दो प्रकार का होता है। एक तो केवल इन्द्रिय-सुख अथवा काम-वासना की तृप्ति के लिए होता है, और दूसरा विशुद्ध धन उपार्जित करने के उद्देश्य से। पर-पुरुष और पर-स्त्री से सम्बन्ध रखनेवाले लोग भी व्यभिचारी कहलाते हैं; और वेश्याओं आदि की गिनती भी व्यभिचारिणी स्त्रियों में होती है। परन्तु आज-कल इस दूसरे प्रकार के साथ अंग्रेजी के Prostitution के अनुकरण पर एक नया अर्थ भी लग चला है। बहुत से लोग किसी उच्चकोटि के कार्य, गुण, वस्तु आदि का कभी-कभी किसी बहुत ही निकृष्ट या बुरे उद्देश्य की सिद्धि के लिए प्रयोग कर जाते अथवा बहुत ही अशोभन रूप से उससे लाभान्वित होने का प्रयत्न करते हैं। इसे भी उस उत्तम कार्य या वस्तु से व्यभिचार करना कहते हैं, जैसे धर्म का मुख्य उद्देश्य तो मनुष्य की आध्यात्मिक उन्नति करना और उसे ईश्वर की ओर उन्मुख तथा प्रवृत्त करना होता है; परन्तु कभी कभी कुछ लोग बहुत ही अनुचित तथा निन्दनीय रूप से अपना आर्थिक, राजनीतिक या सामाजिक उद्देश्य सिद्ध करने का उससे प्रयत्न करते हैं। आज-कल के नये प्रयोग के विचार से इसे धर्म से **व्यभिचार** करना कहा जा सकता है और कुछ क्षेत्रों में कहा भी जाने लगा है।

20 अनावरण उद्‌घाटन समारंभ लोकार्पण विमोचन

Unveiling Inauguration Release

इस वर्ग के शब्द कुछ विशिष्ट प्रकार के सार्वजनिक समारोहों के ऐसे आरम्भिक और औपचारिक कृत्यों के वाचक हैं जो जन-साधारण का ध्यान आकृष्ट करने अथवा लोक में विशेष प्रचार करने के उद्देश्य से किये जाते हैं।

'अनावरण' (सं०) आवरण के पहले अन् उपसर्ग लगने से बना है। इसका शब्दार्थ है आवरण (ढकनेवाली चीज या परदा) न रहने देना या हटाना। जिस चीज के आगे कोई परदा पड़ा हो, उसे हटाना ही अनावरण है। पर आज-कल इसका प्रयोग किसी महापुरुष के नये बने हुए चित्र या मूर्ति के सार्वजनिक रूप से पहले-पहल प्रदर्शित करने के उद्देश्य से किये जानेवाले समारोह के सम्बन्ध में होता है। ऐसे अवसरों पर चित्र या मूर्ति के सामने पहले से कोई परदा टंगा रहता है और समारोह का आरम्भ करते हुए कुछ लोग उस महापुरुष के सम्बन्ध में भी और उसके चित्र या मूर्ति के सम्बन्ध में भी मुख्य बातें बतलाते हैं और तब वह पर्दा हटा कर लोगों के लिए चित्र या मूर्ति अनावृत्त कर देते हैं। यही क्रिया **'अनावरण'** कहलाती है।

'उद्घाटन' (सं०) के आरम्भिक और मुख्य अर्थ हैं– ऊपर उठाना, खोलना आदि। तात्त्विक दृष्टि से इसका आरम्भिक अर्थ भी बहुत कुछ वही है जो **अनावरण** का है। इसमें भी आड़ में रखनेवाली चीज या परदे को दूर करने और हटाने का भाव प्रधान है। इसी आधार पर रहस्योद्घाटन का अर्थ होता है– रहस्य के ऊपर पड़ा हुआ आवरण या परदा हटाना, जिससे रहस्य का वास्तविक रूप सबके सामने आ जाये। परन्तु आज-कल इसका प्रयोग अंग्रेजी के 'इनॉग्युरेशन' (Inauguration) के स्थान पर होने लगा है जो उपयुक्त और ठीक नहीं मालूम पड़ता। प्रायः कहा जाता है– (क) अमुक स्थान पर नहर (पुल या बांध) का **उद्घाटन** हुआ। (ख) आज शिक्षा-मन्त्री महोदय अमुक सभा (या सम्मेलन) का **उद्घाटन** करेंगे। परन्तु नहर, पुल, सभा, सम्मेलन आदि ऐसी चीजें नहीं हैं जिनके सामने कोई आड़ खड़ी हो या परदा पड़ा हो। धमन भट्ठी के आरम्भ का **उद्घाटन** और महाविद्यालय के शिलान्यास का **उद्घाटन** परिवार नियोजन या चेचक उन्मूलन सप्ताह का **उद्घाटन** सरीखे वाक्यों में **उद्घाटन** का प्रयोग बिल्कुल असंगत और अर्थहीन होता है। वस्तुतः इसका आशय होता है– किसी अच्छे और उपयोगी कार्य का शुभ-आरम्भ। परन्तु उद्घाटन में न तो शुभ का ही भाव है, न आरम्भ का ही। यद्यपि यह शब्द बहुत अधिक चल पड़ा है और इसे छोड़ना या हटाना सहज नहीं है, फिर भी मैं चाहता हूं कि हिन्दी वाले इस पर अच्छी तरह विचार करें और यदि उचित समझें तो ऐसे अवसरों के लिए **'उद्घाटन'** के स्थान पर **'समारम्भ'** का प्रचलन करें जो सभी दृष्टियों से उपयुक्त भी है और सार्थक भी। समारंभ के सम्बन्ध में विशेष बातें जानने के लिए दे० 'अथ, आदि, आरम्भ, प्रारम्भ और समारम्भ'।

लोकार्पण का अर्थ है– लोक या राष्ट्र को अर्पण करना। इसका प्रयोग ऐसे कामों के लिए होता है जो राष्ट्र और राष्ट्रवासियों के लिए अत्यन्त महत्त्वपूर्ण होते हैं।

विमोचन *पु०* (सं०) के मुख्य अर्थ हैं– छोड़ना, त्यागना, बन्धन से मुक्त करना, स्वतन्त्र करना आदि। परन्तु आज-कल इसका प्रयोग कुछ नये प्रसंगों में होने लगा है। जब कोई चीज बनकर तैयार होती है और पहले-पहल वह जन-साधारण के सामने उपयोग के लिए रखी या लायी जाती और प्रचलित या प्रचारित की जाती है, तब ऐसी क्रिया के आरम्भ में कोई आयोजन या उत्सव किया जाता है। तब जनता को उसके उपयोग का सुभीता प्राप्त होता है। अब इसी प्रकार की क्रियाएं **'विमोचन'** कही जाने लगी

है। उदाहरणार्थ जब कोई नया बांध तैयार होता है तब नहरों में उसका **पानी छोड़ना 'विमोचन'** कहलाता है। इसी प्रकार नये और महत्वपूर्ण प्रकाशनों आदि का किसी मान्य पुरुष के हाथों पहले **विमोचन** कराया जाता है और तब उसकी बिक्री आदि का आरम्भ होता है, जैसे: आज राष्ट्रपति महोदय ने महात्मा गांधी की जीवनी के पहले खण्ड का **विमोचन** किया।

21. अनुकरण अनुगमन अनुवर्तन अनुसरण

इस वर्ग के शब्द ऐसे कामों या बातों के वाचक हैं जो किसी को कोई अच्छा काम करते हुए देखकर अथवा किसी के ऐसे ही किये हुए काम को देखकर उन्हीं के अनुरूप या अनुसार किये जाते हैं।

'अनुकरण' में मुख्य शब्द करण है। इसमें किसी के किये हुए काम या रचना के अनुसार वैसा ही कोई और काम या रचना करने का भाव प्रधान है, जैसे कालिदास के मेघदूत के अनुकरण पर संस्कृत में पवनदूत, हंसदूत आदि अनेक काव्य रचे गये थे। कुछ अवसरों पर इसका प्रयोग लाक्षणिक रूप में भी होता है, जैसे (क) किसी के आचरण या रंग-ढंग का **अनुकरण**। (ख) धर्म या न्याय के मार्ग का अनुकरण और (ग) किसी के उपदेशों और शिक्षाओं का अनुकरण। ऐसे अवसरों पर इसका अर्थ होता है– किसी के दिखाये हुए या बताये हुये मार्ग पर चलना। इससे विशेषण कर्तारूप अनुकारी (अनुकरण करनेवाला) बनता है।

'अनुगमन' में मुख्य शब्द गमन है और इसीलिए इसका अर्थ है किसी के पीछे-पीछे अथवा किसी के दिखलाये हुए रास्ते पर चलना, जैसे वनवास के समय लक्ष्मण और सीता ने भी राम का **अनुगमन** किया था। इससे विशेषण कर्ता रूप अनुगामी (अनुगमन करनेवाला) बनता है।

अनुवर्तन *पुं०* (सं०) 'वर्तन' में 'अनु' उपसर्ग लगने से बना है। वर्तन के दो मुख्य अर्थ हैं– एक तो काम में लाना या बरतना; और दूसरा बर्ताव या व्यवहार करना। इसी आधार पर **अनुवर्तन** का अर्थ होता है– किसी को किसी प्रकार का बर्ताव या व्यवहार करते हुए देखकर अर्थात् उसकी देखादेखी स्वयं भी उसी तरह का बर्ताव या व्यवहार करना। इसी आधार पर कहा जाता है– हमारे पिता जी सदा दूसरों के साथ उदारता और सज्जनता का व्यवहार करते थे ; इसीलिए जहां तक हो सकता है, मैं भी उन्हीं का **अनुवर्तन** करता हूं।

'अनुसरण' में मुख्य शब्द 'सरण' है, जिसका अर्थ होता है धीरे-धीरे चलते हुए आगे बढ़ना। जब हम किसी को बहुत आगे बढ़ा हुआ देखते हैं और उसी की तरह आगे बढ़ने के लिए उसी की देखा-देखी कुछ और काम करते हैं, तब उस स्थिति का वाचक शब्द अनुसरण होता है; जैसे औद्योगिक, व्यावसायिक आदि क्षेत्रों में भारत आज-कल पाश्चात्य देशों का **अनुसरण** कर रहा है। इससे विशेषण कर्ता रूप अनुसारी (अनुसरण

करनेवाला) बनता है।

यहां यह ध्यान रहे कि उक्त तीनों प्रकार के कार्य तभी किये जाते हैं जब हम किसी के कामों को आदर्श या श्रेष्ठ समझते हैं और उसे किसी विशिष्ट क्षेत्र में नेता या पथदर्शक मानते हैं।

22. अनुकल्प — विकल्प
Alternative — Option

इस वर्ग के शब्द ऐसी स्थितियों के वाचक हैं जिनमें हमें दो या अधिक कामों, चीजों, बातों आदि में से कोई एक अपने कार्य-निर्वाह के लिए या तो विवशतापूर्वक या स्वतंत्रतापूर्वक अपनानी और चुननी पड़ती है।

'अनुकल्प' *पु०* (सं०) वह स्थिति है जब हमारे सामने दो या अधिक चीजें या बात होती हैं और उनमें से कोई एक बात हमारे लिए आवश्यक रूप से ग्राह्य होती है या हमें चुननी पड़ती है। परन्तु किसी प्रकार के अभाव, कठिनता या विवशता के कारण हम उनमें से आवश्यक और प्रमुख चीज या बात ग्रहण करने में असमर्थ होते हैं। तब शेष चीजों या बातों में से कोई एक हमें ग्रहण या मान्य करनी पड़ती है। ऐसी ही ग्राह्य या मान्य चीज या बात ही आवश्यक या प्रमुख चीज या बात के बदले में ग्रहण कर सकने को **अनुकल्प*** कहते हैं।

यद्यपि अंग्रेजी में भी Alternative का ठीक वही आशय लिया जाता है, जो यहां **अनुकल्प** का बतलाया गया है, पर जान पड़ता है कि Option से उसका इस प्रकार का पार्थक्य इधर हाल में निश्चित हुआ है। फर्नाल्ड ने English Synonyms and Antonyms (पृष्ठ 60) में बतलाया है कि मिल और ग्लैडस्टन ने Alternative का प्रयोग Option वाले अर्थ में किया है। पर आक्सफोर्ड डिक्शनरी से पता चलता है कि अंग्रेजी में सन् 1650 से ही Alternative में दो में से कोई एक ग्रहण करने का भाव चला आ रहा है। हिन्दी में, Alternative का जो दूसरा अर्थ एकान्तर है, वह भी इसी 'दो में से एकवाले' भाव से युक्त है। अर्थात् एक के अभाव में उसके स्थान पर काम दे सकनेवाला कोई और **अनुकल्प** कहलाता है।

'विकल्प' *पु०* (सं०) भी है तो बहुत कुछ वही जो **अनुकल्प** है, फिर भी दोनों में कुछ सूक्ष्म अन्तर हैं। विकल्प एक तो बहुत-सी चीजों के सम्बन्ध में होता है; और दूसरे

---

* अब तक के हिन्दी कोशों में Alternative और Option दोनों के लिए एक 'विकल्प' शब्द ही आता रहा है। इस विवेचन के समय जब मुझे इनके लिए दो अलग-अलग शब्दों की आवश्यकता प्रतीत हुई, तब ढूंढ़ने पर मुझे संस्कृत कोशों में Alternativeके लिए अपने यहां का पुराना शब्द अनुकल्प मिला, और इसके उदाहरण भी इन रूपों में मिले—यदि कुश न हो तो दूर्वा (मॉनियर विलियम्स) और तंडुल न हो तो यव (आप्टे) से काम चल सकता है, अर्थात इनमें से दूसरे पदार्थ पहले पदार्थ के अनुकल्प हैं।

उसमें हमारे अधिकार, अनुकूलता, रुचि आदि का भाव मुख्य होता है। यदि उसमे कभी या कहीं कुछ विवशता होती भी है, तो वह गौण ही रहती है। आज-कल विद्यार्थियों के सामने किसी परीक्षा के लिए बहुत-से विषय रहते हैं, और वे **विकल्प** से उनमें से कुछ विषय अपनी पढ़ाई के लिए चुन लेते हैं।*

'अनुकारी' *वि०* (सं०) दे० 'अनुकरण, अनुगमन, और अनुसरण' के अन्तर्गत 'अनुकरण'।

23 अनुकूल अनुरूप अनुसार

अनुकूल	**अनुरूप**	**अनुसार**
Favourable	Similar	
Agreeable	Like	

इस वर्ग के शब्द हैं तो मुख्यतः विशेषण ही, पर कुछ अवस्थाओं में इनका प्रयोग क्रिया-विशेषण के रूप में होता है।

'अनुकूल' संस्कृत के 'कूल' में 'अनु' उपसर्ग लगने से बना है। **'कूल'** का मुख्य अर्थ है नदी का किनारा या तट। इस आधार पर **'अनुकूल'** का मुख्य अर्थ होता है– जो उसी किनारे या तट पर हो जिस पर हम हैं या वक्ता है। इसीलिए हिन्दी में इसका पहला अर्थ होता है– (ऐसी बात, व्यक्ति या स्थिति) जो हमारी इच्छा, प्रवृत्ति, रुचि आदि के अनुसार ही काम करती, चलती या रहती हो; जैसे:उनके चारों लड़के उनके अनुकूल हैं; अर्थात् वे जो कुछ करते, कहते या चाहते हैं, वही चारों लड़के करते हैं। किसी की आज्ञा, इच्छा आदि मानकर उसके अनुसार आचरण या व्यवहार करना ही उसके अनुकूल रहना या होना है। इसी प्रकार **अनुकूल** वायु या **अनुकूल** परिस्थिति का अर्थ होगा वैसी ही वायु या स्थिति जैसी हम चाहते हैं या हमारी प्रकृति के लिए उपयुक्त और ठीक हो। और फलतः जो हमारे उद्देश्य या कार्य की सिद्धि में सहायक ही होती है, बाधक नहीं होती। **अनुकूल** बात या व्यक्ति हमारे लिए उत्साहवर्धक भी होता है और लाभदायक भी। इसमें मुख्य भाव हमारे पक्ष में होने का है; विपक्ष में, या विरुद्ध होने का नहीं। जो बात ---री रुचि, स्वभाव आदि से मेल खाती हो उसे भी **अनुकूल** कहते हैं। इसका विपर्याय 'प्रतिकूल' होता है। दे० 'प्रतिकूल, विपरीत और विरुद्ध'।

'अनुरूप' संस्कृत के 'रूप' में 'अनु' उपसर्ग लगने से बना है। इसका मुख्य अर्थ है किसी के रूप (आकार-प्रकार, आचार-व्यवहार, गुण-दोष आदि) के ढंग या तरह का;

---

* इससे विशेषण 'वैकल्पिक' बनता है परन्तु आज-कल इसका अर्थ और भाव सूचित करने के लिए इसके स्थान पर कुछ लोग 'ऐच्छिक' का भी प्रयोग करने लगे हैं, जो कई दृष्टियों से कुछ ठीक नहीं जान पड़ता। कारण यह है कि विकल्प में तो हमारे लिए चुनाव का क्षेत्र बहुत कुछ नियत या परिमित होता है; परन्तु ऐच्छिक के सम्बन्ध में यह बात ठीक नहीं बैठती। ऐच्छिक का सम्बन्ध तो हमारी इच्छा, प्रवृत्ति, रुचि आदि से है; और इसीलिए ऐच्छिक का क्षेत्र विवक्षा की दृष्टि से बहुत अधिक विस्तृत हो जाता है।

अर्थात् जो किसी के रूप से बहुत कुछ मिलता-जुलता हो); जैसे ;वे उदारता, योग्यता, विद्वता आदि की दृष्टि से अपने गुरु (या पिता) के अनुरूप ही हैं। आशय यही होता है कि उनके गुरु या पिता में जो अच्छी बातें थीं प्रायः वे सभी उनमें भी बहुत कुछ पायी जाती हैं। किसी चित्र या मूर्ति को देखकर बहुत कुछ वैसा ही जो चित्र या मूर्ति बनायी जाती है, उसके सम्बन्ध में कहा जाता है– यह मूल चित्र या मूर्ति के ठीक अनुरूप है।

'अनुसार' संस्कृत के 'सार' में अनु उपसर्ग लगने से बना है। 'सार' के कई अर्थों में से एक अर्थ गति और दूसरा आगे बढ़ना या फैलना भी है। यह सार वस्तुतः उसी 'सरण' का विकारी रूप है, जिसमें अनु उपसर्ग लगने से **'अनुसरण'** बना है। (दे०-ऊपर अनुकरण, अनुगमन और अनुसरण) इसका शब्दार्थ है– जो किसी को देखकर उसी की तरह आगे चल या बढ़ रहा हो। 'के अनुसार' का प्रयोग सम्बन्ध बोधक के रूप में होता है और इसका अर्थ है– किसी के ढंग या मार्ग पर।

इसका प्रयोग आदर्श, आदेश, नियम, विधान, विधि आदि के क्षेत्रों में होता है, जैसे आज्ञानुसार, नियमानुसार आदि। अर्थात् आज्ञा या नियम जैसा कहता या बतलाता हो, ठीक उसी तरह पर। कुछ अवसरों पर इसका प्रयोग मत, विचार आदि के सम्बन्ध में भी होता है; जैसे पुराणों या वेदों के **अनुसार;** महाभारत या रामायण के **अनुसार** आदि। आशय यही होता है कि वेदों, पुराणों आदि में जैसा कहा गया है, यह वैसा ही है अथवा इसका पालन इसी तरह होना चाहिए। इसीलिए हम कहते हैं– आपके मत के **अनुसार** तो यह बात किसी तरह ग्राह्य या मान्य हो ही नहीं सकती।

अनुकृति– (सं०) दे० 'आदर्श प्रतिमान, प्रतिरूप, मान और मानदंड'।

अनुगणन- *पु०* (सं०) दे० 'गणन, अनुगणन, अभिकलन, आकलन, परिकलन, परिगणन और संख्यापन'।

अनुदान- *पु०* (सं०) दे० 'अनुकरण, अनुगमन, अनुवर्तन और अनुसरण'।

अनुगामी- *वि०* (सं०) दे० 'अनुकरण, अनुगमन, अनुवर्तन और 'अनुसरण' के अन्तर्गत 'अनुगमन'।

अनुपात- *पु०* (सं०) दे० 'ताप, परिताप, पश्चाताप और संताप' के अन्तर्गत **'पश्चाताप'**।

अनुदान- *पु०* (सं०) दे० 'दान, अंशदान, अनुदान, परिदान और प्रदान'।

24. अनुपात — समानुपात

Ratio — Proportion

ये दोनों शब्द चीजों की मात्रा, मान, संख्या आदि के पारस्परिक सम्बन्धों के सूचक हैं।

'अनुपात' *पु०* (सं०) का मूल अर्थ है– घटनाओं, बातों, वस्तुओं आदि का एक-एक

करके सामने आते जाना, उपस्थित होना या ऊपर से गिरना। परन्तु प्रस्तुत प्रसंग में यह एक ही तरह की दो चीजों या मानों के ऐसे पारस्परिक सम्बन्ध या स्वरूप का वाचक है जो उनके अंशों या स्थितियों के आधार पर निश्चित किया जाता है, जैसे:हमारे नगर में पुरुषों और स्त्रियों का **अनुपात** 10 और 8 है। आशय यही होता है कि सारी आबादी की दृष्टि से जहां 10 पुरुष हैं, वहां स्त्रियां केवल 8 हैं अर्थात् पुरुषों की तुलना में स्त्रियों का **अनुपात** 5-4 है। और भी सरल रूप में हम कह सकते हैं 5 और 2 में वही **अनुपात** है जो 20 और 8 अथवा 40 और 16 में है। इस प्रकार तुलनात्मक मान ही मूलतः **अनुपात** है; और वह मुख्यतः गुणा और भाग के आधार पर ही स्थिर होता है।

'समानुपात' इसी अनुपात का दूसरा प्रकार या भेद है, जो किसी एक वस्तु के भिन्न-भिन्न अंगों या अंशों का उस समूची वस्तु के आकार-प्रकार, विस्तार आदि के विचार पर स्थिर होता है। यही, वह तत्त्व है जिससे उस समूची वस्तु के ठीक और पूरे स्वरूप में संगति, सामंजस्य और सुन्दरता आती है– उसके कार्यों, गुणों आदि में पूर्णता आती है। यह अंगी और उसके अंगों के पारस्परिक अनुपात का सूचक है, जैसे आम का अचार डालने के समय उसमें तेल, नमक, मिर्च, मसाले आदि समानुपात में ही डालने चाहिए। यदि आम 5 किलो तो तेल ढाई किलो और नमक, मिर्च, मसाले आदि 250 ग्राम होने चाहिए पर आम यदि 10 किलो हों तो तेल 5 किलो और नमक, मिर्च मसाले आदि 500 ग्राम होने चाहिए। यही इन सब चीजों का पारस्परिक समानुपात है।

अनुपूर्ति- *स्त्री०* (सं०) दे० 'पूर्ति, अनुपूर्ति, आपूर्ति और प्रतिपूर्ति'।

अनुप्रमाणन- *पुं०* (सं०) दे० 'पहचान, अनुप्रमाणन, पृष्ठांकन और सत्यापन'।

25 अनुभव — अनुभूति
Experience — Feeling

ये दोनों शब्द मूलतः 'अनुभू' के विकारी रूप हैं। 'अनु' का अर्थ है– पीछे या बाद में; और 'भू' का अर्थ है- अस्तित्व में आना या होना। इस प्रकार कोई काम, घटना या बात हो जाने के उपरान्त उसके सम्बन्ध में हमें जो ज्ञान या बोध होता है, वही **अनुभव** भी है और **अनुभूति** भी। व्यावहारिक क्षेत्र में ये मूलतः एक विशेष प्रकार की जानकारी या परिज्ञान के सूचक हैं। बाह्य क्रियाओं, घटनाओं, दृश्यों आदि के देखने, सुनने आदि के उपरान्त हमारे मन पर उनकी छाप बैठती है जो हमारे ज्ञान का रूप धारण करती है। यहां यह भी ध्यान रखना चाहिए कि इस सीमा तक यह ज्ञान उस ज्ञान से भिन्न है, जो पुरानी स्मृतियों आदि के फलस्वरूप हमारे मन में उत्पन्न होता है। हम कहते हैं– हमें इस समय ताप या शीत का अनुभव हो रहा है। यही बात इस रूप में भी कही जा सकती है– हमें इस समय ताप (या शीत) की अनुभूति हो रही है। परन्तु इससे और आगे बढ़ने पर **'अनुभव'** में एक और ऐसे नये अर्थ का विकास होता है जो **'अनुभूति'** में नहीं है।

अपने ज़ीवनकाल में बहुत सी बातें होती रहती हैं। जब हम उन अनुभूतियों में से,

कुछ उपयोगी और संगत बातें कौशलपूर्वक चुनकर उनसे कोई निष्कर्ष या परिणाम निकलते हैं तो यही निष्कर्ष या परिणाम **'अनुभव'** कहलाता है। यह हमारी कुछ विशिष्ट प्रकार की अनुभूतियों का परिपक्व और परिष्कृत रूप होता है। अन्य साधनों से प्राप्त किये हुए ज्ञान का जो संचय हमारे मन में होता है वह इसके परिवर्धन और पोषण में और भी अधिक सहायक होता है। इसी **अनुभव** के आधार पर हम आगे चलकर अपने कार्य और व्यवहार परिचालित करते हैं। यही अनुभव हमें त्रुटियों और दोषों से बचाता है, मार्ग में पड़नेवाली कठिनाइयों और बाधाओं से सतर्क रखता है और हमें ठीक रास्ते पर चलाता है। आवश्यकता पड़ने पर इसी अनुभव के सहारे हम नयी-नयी बातें और नये-नये रास्ते ढूंढ़ निकालते हैं अथवा पुरानी बातों में संशोधन और सुधार करते हैं।

चिकित्सा, शिक्षण आदि का कार्य वही व्यक्ति अच्छी तरह से कर सकता है जिसे उन विषयों का अच्छा अनुभव हो, अर्थात् जिसके हृदय में इस क्षेत्र में किये हुए बहुत से कामों का अच्छा ज्ञानपुंज विद्यमान हो। यह तो हुई हमारी अपनी वैयक्तिक बात। इसके सिवा दूसरे लोगों के व्यवहारों तथा प्राकृतिक, राजनीतिक, सामाजिक आदि घटनाओं और परिवर्तनों से भी हमें जो परिज्ञान होता है वह भी उसी के अन्तर्गत आता है। ऐसा अनुभव केवल व्यक्तियों को ही नहीं, बल्कि जातियों, देशों, समाजों आदि को भी होता है। हम कहते हैं– हिन्दू जाति (अथवा भारतवर्ष) को विदेशी शासनकाल में अनेक प्रकार के कटु अनुभव हुए थे। हिन्दी में इसके लिए फारसी का 'तजरूबा' शब्द भी विशेष प्रचलित है।

'अनुभूति' के सम्बन्ध में ऊपर जो मुख्य बात कही गयी है उसके अतिरिक्त और भी कुछ बातें ध्यान में रखने योग्य हैं। पहली बात तो यह है कि यह विशुद्ध वैयक्तिक होती है, सामाजिक या सामूहिक नहीं होती। दूसरी बात यह भी है कि अपने परवर्ती और विकसित अर्थ में अनुभव तो मनुष्य को कुछ ज्ञान या बुद्धि प्राप्त कर लेने के उपरान्त ही होता है, परन्तु अनुभूति (जैसे– ताप, शीत आदि की) छोटे बच्चों तक को होती है, भले ही वे अपनी **अनुभूति** कह या बतला न सकते हों। **अनुभव** यदि बुद्धि का विषय है तो **अनुभूति** हमारी चेतना का विषय है। **अनुभूति** की छाप और प्रभाव तो प्रायः तात्कालिक तथा अल्पकालीन होता है; परन्तु **अनुभव** का प्रभाव बहुत कुछ दीर्घकाल व्यापी अथवा स्थायी हो सकता है। सभी प्रकार की अभिव्यक्तियां इसी **अनुभूति** से अंकुरित और पल्लवित होती हैं। हिन्दी में **अनुभूति** के लिए अरबी के 'एहसास' शब्द का भी प्रयोग प्रायः देखने में आता है।

दार्शनिक क्षेत्र में अनुभूति एक विशिष्ट अर्थ में प्रचलित है। वहां वह उस ज्ञान की वाचक है, जो अनुमिति, उपमिति, प्रत्यक्ष या शब्दबोध नाम के चार प्रमाणों में से किसी प्रमाण के आधार पर प्राप्त हो। परन्तु यह प्रसंग हमारे प्रस्तुत विषय से भिन्न है।

अनुभूति- *स्त्री०* (सं०) दे० 'अनुभव और अनुभूति'।

अनुरक्ति- *स्त्री०* (सं०)=अनुराग; दे० 'अनुराग, प्रीति, प्रेम और स्नेह'।

अनुयोजना *स्त्री०* (सं०) दे० 'सूची, अनुसूची, तालिका, अनुक्रमणिका और सारणी।

26 अनुराग प्रीति प्रेम वात्सल्य स्नेह
Attachment Love Love Affection

इस वर्ग के शब्द ऐसे हार्दिक व्यवहारों या सम्बन्धों के वाचक हैं जिनके कारण हम किसी काम, बात या व्यक्ति के प्रति विशिष्ट रूप से आकृष्ट या प्रवृत्त होते हैं; और या तो उन कामों या बातों की सिद्धि के लिए प्रयत्नशील होते हैं या उन व्यक्तियों के साथ आत्मीयता या घनिष्ठता स्थापित करना चाहते हैं।

'अनुराग' संस्कृत के 'राग' शब्द में अनु उपसर्ग लगने से बना है। वैयक्तिक क्षेत्र में किसी व्यक्ति के आचरण, व्यवहार आदि देखने से हमारे मन पर जो रंग या रंगत चढ़ती है उसे राग कहते हैं। राग हो जाने पर हमारी जो अनुकूल और मधुर मानसिक स्थिति होती है, वही **अनुराग** है। सारांश यह कि किसी बात या व्यक्ति की ओर शुद्ध भाव से मन लगना ही उसके प्रति होनेवाला **अनुराग** है। इसका विपर्याय 'विराग' है। **अनुराग** का प्रयोग प्रायः अच्छे अर्थों में ही होता है; जैसे चित्रकला, संगीत या साहित्य के प्रति होनेवाला **अनुराग**। शृंगारिक क्षेत्र में यह आरम्भिक या हलके प्रेम का भी सूचक होता है। व्यक्तियों के विचार से यह एक पक्षीय भी हो सकता है, और उभय-पक्षीय या पारस्परिक भी हो सकता है। परन्तु यह आवश्यक नहीं कि हमारे मन में जिसके प्रति अनुराग हो वह भी हमसे अनुराग करता हो या करे ही। इसका दूसरा समार्थक **'अनुरक्ति'** भी है।

साधारणतः अर्थ के विचार से **'प्रीति'** और **'प्रेम'** बहुत कुछ एक ही हैं, फिर भी प्रयोग के क्षेत्र में इनमें कभी-कभी कुछ अन्तर भी दिखायी देता है। किसी उत्तम और सुन्दर बात या वस्तु अथवा श्रेष्ठ सत्ता के प्रति स्वाभाविक रूप से होनेवाला सात्त्विक झुकाव या प्रवृत्ति ही वास्तविक रूप में प्रेम है; जैसे ईश्वर, देश या साहित्य के प्रति होनेवाला **प्रेम**। परन्तु लौकिक व्यवहार में **प्रेम** का प्रयोग प्रायः मोहजन्य अथवा स्वार्थमूलक भावना या व्यापार के प्रसंग में भी होता है। शृंगारिक क्षेत्र में यह स्त्री-पुरुष के उस प्रेम का वाचक है जो साधारण **अनुराग** और **स्नेह** से बहुत-कुछ आगे बढ़ा हुआ हो। इसमें ऊपर कही हुई वासनाहीन और विशुद्ध प्रेमपूर्ण स्थिति की भी थोड़ी-बहुत छाया या रंगत होती है और व्यवहार के निर्वाह की दृढ़ता और पुष्टता का भी कुछ भाव होता है। इस विशिष्ट अर्थ में इसका दूसरा समार्थक **'प्रणय'** भी है।

'प्रीति' का प्रयोग अधिकतर लौकिक व्यवहार में प्रायः प्रेम के समान ही होता है। इसमें **अनुराग**वाले तत्त्व भी हैं और **स्नेह** वाले तत्त्व भी। व्युत्पत्तिक दृष्टि से **प्रीति** और प्रिय एक ही मूल धातु से बने हैं। प्रिय का धात्वर्थ है– जिसे देखने या पाने से मन तृप्त और प्रसन्न होता हो। ऐसी वस्तु के प्रति हमारे मन में जो उत्कंठापूर्ण प्रवृत्ति होती है वही **'प्रीति'** है। यह शृंगारिक क्षेत्र के सिवा पारिवारिक और सामाजिक क्षेत्रों में भी प्रयुक्त होता है।

'प्रेम' *पुं०* (सं०) वस्तुतः **प्रीति** का वह रूप है जो आपसदारी के लोगों और बराबरवालों में होता है। ऊपर **प्रीति** के सम्बन्ध में शृंगारिक और सामाजिक क्षेत्रों की जो

बातें कही गयी हैं वे सभी बातें पूर्ण रूप से **प्रेम** के सम्बन्ध में भी समझी जानी चाहिए। फिर भी यह कहा जा सकता है कि 'प्रीति' तो मुख्यतः सामाजिक क्षेत्र का और **'प्रेम'** अधिकतर शृंगारिक क्षेत्र का शब्द माना जाने लगा है। साधारणतः हमारी भाषा में 'प्रीति' और **'प्रेम'** दोनों के स्थान पर प्रायः हिन्दी का **'प्यार'** और अरबी का **'मुहब्बत'** शब्द भी प्रयुक्त होता है।

संस्कृत में **'स्नेह'** के कई अर्थों में से एक अर्थ चिकनापन या चिकनाहट और दूसरा अर्थ तेल भी है। चिकना और तरल पदार्थ या तेल सदा नीचे की ओर ही ढलता है; इसी आधार पर तात्त्विक दृष्टि से जो **प्रीति** अपने से छोटों के प्रति होती है, मुख्यतः वही **स्नेह** है। परन्तु अब इसका प्रयोग बराबर वालों के साथ होनेवाली **प्रीति** के सम्बन्ध में भी अधिकता से होने लगा है। प्रस्तुत प्रसंग में यह मनुष्यों के ऐसे पारस्परिक सम्बन्ध का वाचक है जिसमें दोनों ओर से सब व्यवहार बहुत ही शुद्ध, सरल और सुखद रूप में चलते रहते हों। आपसी व्यवहार में न तो कभी कहीं कटुता आने पाती है और न रुखाई। यह बहुधा हृदय की शुद्धता और स्वार्थहीनता का सूचक होता है, और प्रायः घनिष्ठ परिचय या सम्बन्ध के फलस्वरूप उत्पन्न होता है। कुछ अवस्थाओं में यह प्राकृतिक या स्वाभाविक भी हो सकता है; अर्थात् समान गुण, धर्म, विचार आदि भी इसके मूल में हो सकते हैं।

'अनुराग' से **'स्नेह'** कुछ बढ़ा हुआ तो होता ही है; इसके सिवा इसमें कुछ और भी अन्तर है। **अनुराग** तो मूर्त और अमूर्त दोनों के प्रति हो सकता है, पर स्नेह सदा व्यक्तियों में ही होता है।

वात्सल्य जिस 'वत्स' शब्द से बना है उसका अर्थ है– बच्चा। बच्चों के प्रति बड़ों विशेषतः माता-पिता के प्यार को **वात्सल्य** कहते हैं।

अनुरूप- *वि०* (सं०) दे० 'अनुकूल, अनुरूप, और अनुसार।

27. अनुरोध | आग्रह Insistence | प्राग्रह Persistence

इन शब्दों का प्रयोग ऐसे प्रसंगों में होता है जब हम किसी से कोई काम करने या बात मानने के लिए यह समझते हुए प्रार्थना करते हैं कि वह साधारण स्थिति में अथवा सहसा हमारी प्रार्थना मानने के लिए तैयार या राजी न होगा।

'अनुरोध' *पुं०* (सं०) का शब्दार्थ है किसी को चारों ओर से घेरना; अथवा पीछे से आकर रोकना। यों सं० में इसके और अर्थ भी हैं, जैसे, (क) किसी की इच्छा पूरी करके उसे अनुरक्त, कृतज्ञ या प्रसन्न करना। (ख) आदर, सम्मान आदि। परन्तु हिन्दी में ये अर्थ प्रचलित नहीं। पर हां, तुलसी ने इसका प्रयोग बाधा या रुकावट के अर्थ में अवश्य किया है; यथा **सोधु बिन, अनुरोधु ऋतु का बोध बिहित उपाउ**। –**तुलसी**। परन्तु इस अर्थ में भी इसका प्रयोग क्वचित ही देखने में आता है। शब्दार्थ के विचार से यह किसी

आगे बढ़ते हुए व्यक्ति को पीछे से रोक कर उससे कुछ कहने के भाव का सूचक है। परन्तु इस प्रकार कहने में नम्रता, शिष्टता और सज्जनता के तत्त्व भी निहित हैं। मुख्य रूप से यह किसी से किये जाने वाले ऐसे निवेदन या प्रार्थना का वाचक है जो इस दृष्टि से की जाती है कि वह स्वीकृत होनी ही चाहिए। इसीलिए कहा जाता है कि (क) हमारा **अनुरोध** है कि कल आप हमारे यहां आने की कृपा करें। अथवा (ख) मैं तो आपके **अनुरोध** पर ही वहां गया था; अन्यथा मेरी इच्छा वहां जाने की नहीं थी। (ग) राज्यपाल ने मुख्यमंत्री से **अनुरोध** किया है कि वह नया मंत्रिमंडल बनने तक राज्य का काम चलाते रहें। इस दृष्टि से हम इसे आज्ञा और प्रार्थना के मध्यवर्ती भाव का सूचक शब्द मान सकते हैं।

आग्रह *पुं०* (सं०) का मूल अर्थ है– अच्छी तरह पकड़ना। परन्तु प्रस्तुत प्रसंग में यह आगे से किसी व्यक्ति का हाथ पकड़कर उसे बैठाने या रोकने के भाव का सूचक है। इसीलिए इसमें सामान्य बलप्रयोग और हठ के तत्त्व भी सम्मिलत हैं। हिन्दी में यह मुख्यतः ऐसे **अनुरोध** का वाचक है जिस पर बहुत जोर दिया गया हो। इसीलिए इसे हम जिद या हठ का बहुत हलका रूप भी कह सकते हैं। जब हम कहते हैं, 'हमारा **आग्रह** है कि आप उसे कुछ रुपए अवश्य दे दें' तब हम रुपए देने के लिए **अनुरोध** तो करते ही हैं, पर उस **अनुरोध** में बहुत-कुछ जोर या हलके दबाव का भी भाव आ जाता है। 'बच्चे सवेरे से ही मेले में चलने का **आग्रह** कर रहे थे' में भी यही बात है। कुछ अवस्थाओं में हम यह भी कहते हैं– हमारा आप से साग्रह **अनुरोध** है। ऐसी अवस्थाओं में आशय यही होता है कि हमारा **अनुरोध** साधारण नहीं बल्कि जोरदार है। कुछ अवस्थाओं में यह दृढ़ निश्चय या पूरी तत्परता का भाव भी सूचित करता है; यथा राक्षस बड़े **आग्रह** और **सावधानी** से चन्द्रगुप्त और चाणक्य के अनिष्ट साधन में प्रवृत्त हुआ। – भारतेन्दु कृत मुद्राराक्षस।

...ग्रह' *पुं०* (सं०) प्र+आग्रह बहुत कुछ नया शब्द है जिसे मैं अंग्रेजी के Persistence का भाव सूचित करने के लिए बहुत उपयुक्त समझता हूं। कारण यह कि अंग्रेजी शब्द के इस भाव का सूचक कोई अच्छा शब्द मुझे नहीं मिला है। यह वस्तुतः **आग्रह** का बहुत कुछ आगे बढ़ा हुआ और जोरदार या प्रबल रूप है। कुछ अवस्थाओं में **प्राग्रह** अच्छा भी हो सकता है और कुछ अवस्थाओं में अनुचित या बुरा भी। यह मुख्य रूप से बहुत कुछ हमारी अधीरता अथवा उत्कट इच्छा का सूचक होता है। हम अपनी इच्छा के विरुद्ध कोई काम होता हुआ देखकर अथवा किसी के विरोध करने पर भी अपनी दृढ़ता दिखलाने या बात मनवाने के लिए जो हठ करते हैं, वही प्राग्रह है। हम अपना कोई उद्देश्य सिद्ध करने अथवा कोई नयी बात ढूंढ़ निकालने के लिए निरन्तर अध्यवसाय या प्रयत्न करते रहते हैं। उसका मूल कारण या स्रोत भी हमारा यही प्राग्रह होता है। कुछ अवस्थाओं में यह हमारी प्रकृति या स्वभाव का एक अंग भी हो सकता है। हम यह कहते हैं–(क) वह जो काम हाथ में लेता था उसे पूरा करने के लिए वह अन्त तक उसमें **प्राग्रह** पूर्वक लगा रहता था। (ख) वह निसर्ग का **प्राग्रह** ही है जो प्राणियों को अपनी जीवन-रक्षा में सदा प्रवृत्त रखता है। और (ग) उसमें **प्राग्रह** की भावना इतनी

प्रबल थी कि वह बड़े-बड़े संकटों के समय भी पीछे हटना या रुकना नहीं जानता था।

इस कोटि के और शब्दों के लिए दे० 'हठ, टेक और जिद'।

28. अनुलोम विलोम

इस वर्ग के शब्द कुछ निश्चित क्रम या नियम से होनेवाले कुछ विशिष्ट कामों या बातों के रूप के वाचक हैं।

'अनुलोम' *पु०* (सं०) का प्राथमिक अर्थ है– शरीर पर निकलनेवाले लोमों अर्थात् बालों या रोओं का ठीक और प्राकृतिक क्रम। इसी से आगे बढ़कर इसका अर्थ होता है– ठीक वैसा ही जैसा रोओं के उगने का क्रम होता है; अर्थात् नियत, निश्चित या स्वाभाविक क्रम, प्रकार अथवा रूप। आगे चलकर यह आरम्भ से अन्त की ओर अथवा ऊंचे या बड़े से नीचे या छोटे की ओर चलनेवाला क्रम। परन्तु इससे भी ठीक विवक्षा यह है कि जो क्रम किसी मान्य पद्धति या शास्त्र में निरूपित हो ठीक वही क्रम। संगीत में सातों स्वरों का आरम्भ षडज से चलकर निषाद तक समाप्त होता है। यह बात दूसरी है कि ये स्वर क्रमशः ऊंचे और तेज होते जाते हैं; पर इनका क्रम षडज, ऋषभ गांधार आदि के रूप में नियत है। इसीलिए यह क्रम **अनुलोम** कहा जाता है। घड़ी में भी पहले एक बजता है परन्तु क्रमशः आगे बढ़ते-बढ़ते वह बारह तक पहुंचता है, परन्तु शास्त्रों में वर्णों का क्रम ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र बतलाया गया है और यही पूर्व निश्चित क्रम **अनुलोम** कहा गया है। ब्राह्मणों को अपने वर्ण की कन्या के अतिरिक्त शेष तीनों वर्णों की कन्या से विवाह करना विहित कहा गया है। इसलिए यदि ब्राह्मण किसी क्षत्रिय या वैश्य की कन्या से अथवा क्षत्रिय किसी वैश्य या शूद्र की कन्या से विवाह करे तो वह **अनुलोम** विवाह कहा जायेगा।

'विलोम' इसी **अनुलोम** का विपर्याय है; ऊपर **अनुलोम** के जो क्रम बतलाये गये हैं, उनके उलटे या विपरीत क्रम ही **विलोम** कहलाते हैं। यदि घड़ी की सुई बारह से खींचकर पीछे ग्यारह या दस की ओर लायी जाये तो क्रम **विलोम** कहा जायेगा। इसी प्रकार यदि वैश्य किसी क्षत्रिय या ब्राह्मण की कन्या से विवाह करे तो वह **विलोम** विवाह कहा जायेगा।

अनुवर्तन- *पु०* (सं०) दे० 'अनुकरण, अनुगमन, अनुवर्तन, अनुसरण'।

अनुविधान- *पु०* (सं०) दे० 'विधा, विधान, विनियम, प्रविधान, संविधान और संहिता'।

अनुवृत्ति- *स्त्री०* (सं०) दे० 'पारितोषिक, पारिश्रमिक, पुरस्कार, आनुतोषिक और अनुवृत्ति'।

अनुवेतन- *पु०* (सं०) दे० 'पारितोषिक, पारिश्रमिक, पुरस्कार, आनुतोषिक और अनुवृत्ति'।

अनुशंसा- *स्त्री०* (सं०) दे० 'आशंसा, अनुशंसा, अभिशंसा और प्रशंसा'।

अनुशासन- *पु०* (सं०) दे० 'शासन,प्रशासन और अनुशासन'।

अनुशीलन- *पु०* (सं०) दे० 'अध्ययन, अनुशीलन, परिशीलन, पारायण, मनन और स्वाध्याय'।

अनुसन्धान- *पु०* (सं०) दे० 'खोज, अनुसन्धान, अन्वेषण और शोध'।

अनुसरण- *पु०* (सं०) दे० 'अनुकूल, अनुरूप और अनुसार'।

अनुसार- *क्रि० वि०* (सं०) दे० 'अनुकूल, अनुरूप और अनुसार'।

अनुसारी-*वि०* दे० 'अनुकरण, अनुगमन और अनुसरण' के अन्तर्गत 'अनुसरण'।

29. अनूठा — अनोखा — निराला

Singular — Peculier — Unique

इस वर्ग के शब्द ऐसे कामों, चीजों बातों आदि के विशेषण हैं, जो साधारण से भिन्न होने के सिवा किसी प्रकार की विलक्षण नवीनता से भी युक्त होते हैं और इसीलिए लोगों का ध्यान आकृष्ट करते हैं।

'अनूठा' सं० अनुच्छिष्ट से व्युत्पन्न है, जिसका अर्थ है– जिसे किसी ने जूठा न किया हो। इस प्रसंग में इसका आशय यह है कि जिसकी ओर अभी तक ध्यान न गया हो अथवा जिसे किसी ने छुआ न हो। जो अपने वर्ग या जाति के और सब पदार्थों, व्यक्तियों आदि की तुलना में कोई ऐसा नयापन या विशेषता रखता हो जो हमें चकित करने के साथ ही प्रसन्न भी कर सके उसे **अनूठा** कहते हैं। इसमें कुछ नयी तरह की आकर्षक विचित्रता और सुन्दरता का भाव मुख्य है। **अनूठा** सदा उत्कृष्ट होता है, जैसे **अनूठा** रूप या **अनूठी** उक्ति अपने वर्ग में सबसे अलग भी होती है, बढ़कर भी और आनन्दप्रद भी।

'अनोखा' संभवतः संस्कृत के अनवीक्ष्य से व्युत्पन्न है, जिसका अर्थ है– जैसा पहले कभी देखा न गया हो। यह अपने साधारण रूप से भिन्न होने पर भी प्रायः अभीष्ट और प्रिय रूपवाला होता है; जैसे, **अनोखी** अदा। परन्तु कुछ अवस्थाओं में इसमें किसी प्रकार की उग्रता, तीव्रता आदि की भी कुछ छाया दिखायी पड़ती है जो मन में कुछ खटक भी उत्पन्न करती है और कुछ व्यंग्य भी; जैसे: आप ही सबसे **अनोखे** हैं जो सभी अच्छी-अच्छी चीजें ले जायेंगे और दूसरे लोग मुंह ताकते रह जायेंगे। कविताओं, गीतों आदि में जो '**अनोखे** लला' सरीखे पद आते हैं वे इसी भाव के सूचक होते हैं।

'निराला' सं० निरालय से व्युत्पन्न है जिसका अर्थ है एकांत स्थान या ऐसी जगह जहां कोई न हो। परन्तु व्यवहार में **'निराला'** ऐसी बात, वस्तु या व्यक्ति का सूचक होता है जो अपनी बनावट, रूप, विशिष्टताओं आदि के कारण सबसे अलग तरह का हो और जिसमें कुछ बढ़ा-चढ़ा अनूठापन हो, जैसे; **निराली** छटा; अर्थात् ऐसी छटा या शोभा जो पहले कभी देखी न गयी हो या किसी अन्य स्थान पर दिखायी न पड़ती हो। यह

उत्कृष्टता, श्रेष्ठता आदि का सूचक है और इसमें आश्चर्य के सिवा आदर और प्रशंसा का भाव भी सम्मिलित है।

अनोखा- *वि०* (सं०) दे० 'अनूठा, अनोखा, निराला'।

अन्योन्याश्रित- *वि०* (सं०) दे० 'पारस्परिक, अन्योन्याश्रित और प्रतिपूरक'।

अन्वेषण- *पु०* (सं०) दे० 'खोज, अनुसंधान, अन्वेषण और शोध'।

अपकीर्ति- *स्त्री०* (सं०) दे० 'अपयश, अपकीर्ति, अपवाद, बदनामी और कुख्याति।

30. अपयश अपकीर्ति अपवाद कुख्याति

Ignominy Infamy Obloquy Ill-repute

इस वर्ग के शब्द ऐसी स्थितियों के वाचक हैं जिनमें मनुष्य ऐसे निन्दनीय या बुरे काम करता है जिनसे लोग उसे नीति से च्युत समझते हैं और वह सबकी नजरों से गिर जाता है।

'अपयश' *पु०* (सं०) मनुष्य के आचरण की वह स्थिति है जिसमें उसके यश या सुनाम में बट्टा लगता है। यह स्थिति उसे अनुचित, निन्दनीय या बुरा काम करने पर उत्पन्न होती है। फिर भी तुलनात्मक दृष्टि से यह **अपवाद** और **कुख्याति** की अपेक्षा कुछ कम बुरा और हलका होता है।

'अपकीर्ति' *स्त्री०* (सं०) भी है तो बहुत कुछ वही जो **अपयश** है; परन्तु इन दोनों में कुछ वैसा ही सूक्ष्म अन्तर है जैसा **कीर्ति** और **यश** में है। (दे० 'कीर्ति, यश और श्रेय') **अपकीर्ति** बहुधा ऐसा अनुचित काम करने पर होती है, जो पहले की अर्जित कीर्ति के लिए घातक सिद्ध हो। **अपकीर्ति** उसी की होगी, जिसकी पहले से कुछ कीर्ति चली आ रही हो, पर **अपयश** के लिए यह आवश्यक नहीं है कि पहले का कुछ यश वर्तमान में भी हो। किसी साधारण आदमी को भी बिना कुछ किये, केवल घटनाचक्र या संयोग से ही **अपयश** मिल सकता है। हम कहते हैं– 'इस रोगी का मरना तो अवश्यम्भावी था, पर बेचारे हकीम जी के भाग्य में व्यर्थ का **अपयश** बदा था।'

'अपवाद' *पु०* (सं०) का पहला अर्थ तो है किसी के वाक्य या कथन का खंडन या विरोध*। परन्तु प्रस्तुत प्रसंग में इसका अर्थ कुछ-कुछ विकसित और विस्तृत हो गया है। प्रायः छोटे-मोटे कारणों से कुछ लोगों की समाज में ऐसी चर्चा होती रहती है जिसमें

---

* इसी आधार पर एक दूसरे क्षेत्र में **अपवाद** का कुछ और अर्थ होता है, और वहां यह अंग्रेजी के Exception का समार्थक होता है। हम किसी काम या बात के सम्बन्ध में कोई व्यापक और सामान्य नियम आदि तो बना लेते हैं अथवा उसका कोई स्वरूप निर्धारित कर लेते हैं। परन्तु कभी-कभी कोई ऐसी असाधारण और नयी बात भी निकल आती है जो उसके नियम अथवा निश्चित स्वरूप के विरुद्ध पड़ती है। किसी एक कोटि या वर्ग की और सभी बातों से जब उसी कोटि या वर्ग की कोई बात भिन्न, विपरीत और स्वतन्त्र होती है, तब उसे **अपवाद** कहते हैं। न्याय, विधि-विधान, व्याकरण आदि के क्षेत्रों में प्रायः इस प्रकार के कुछ **अपवाद** देखने में आते हैं।

लोग उसे बुरा-भला कहते हैं और उसकी प्रतिष्ठा या सम्मान बहुत कुछ घट जाता है। जब कोई व्यक्ति और प्रायः शासनिक अधिकारी बहुत बड़ा अनुचित काम कर बैठता है जिस पर जन-साधारण को सहसा विश्वास नहीं हो पाता तब उसके ऐसे कार्य को और फलस्वरूप होने वाली उसकी बदनामी को भी लोकापवाद कहते हैं।

'कुख्याति' *स्त्री०* (सं०) का अर्थ है किसी के नाम के सम्बन्ध में होने वाली व्यापक प्रसिद्धि। जब कोई अच्छा या प्रतिष्ठित आदमी नीति और मर्यादा के विरुद्ध कोई काम कर बैठता है, तब समाज में उसकी जो निन्दात्मक चर्चा फैलती है, वही **कुख्याति** है। अर्थात कोई अनुचित या निन्दनीय काम करने पर समाज में घृणा, तिरस्कार आदि से युक्त जो विपरीत धारणा फैलती है, वही जन-साधारण की चर्चा का विषय बनने पर **कुख्याति** कहलाती है। यदि कोई बहुत बड़ा अधिकारी किसी से रिश्वत में धन ले ले, या खुलकर अन्याय, पक्षपात या स्वार्थ-साधन करने लगे अथवा कोई बड़ा नेता या रईस किसी प्रकार चरित्र-भ्रष्ट हो जाये तो समाज को पता चलने पर जगह-जगह उसकी जो चर्चा होने लगेगी, वही उसकी **कुख्याति** होगी। जो आदमी जितना ही बड़ा और मान्य होगा, उसकी कुख्यात भी उतनी ही बड़ी होगी। इसके स्थान पर फा० बदनामी का भी प्रयोग होता है। परन्तु इन दोनों में कुछ सूक्ष्म अन्तर भी है। बदनामी किसी एक काम या बात से भी हो सकती है, पर **कुख्याति** प्रायः निरन्तर छोटे-मोटे बहुत से अनुचित काम करते रहने पर ही होती है अर्थात कुख्यात व्यक्ति के सम्बन्ध में लोग प्रायः यही समझते हैं कि यह बराबर कुछ बुरे काम करता रहता है। सं० दुर्नाम है तो फा० बदनामी का ही पर्याय; परन्तु इसमें **कुख्याति** का भी अंतर्भाव हो जाता है।

अपवाद- *पु०* (सं०) दे० 'अपयश, अपकीर्ति, अपवाद और कुख्याति (बदनामी)।

अपहरण- *पु०* (सं०) दे० 'हरण, अपहरण, आहरण, परिहरण और परिहार '।

31. अपेक्षा. ज़रूरत आवश्यकता

Requirement		Necessity Need

ये शब्द किसी काम या बात की उस स्थिति के वाचक हैं, जिसमें अभी कोई ऐसा अधूरापन या कमी हो जिसे पूरा किये बिना वह काम या बात ठीक और पूरी न हो सकती हो। यदि ऐसा अधूरापन या कमी पूरी न की जाये तो वह काम या बात या तो अपूर्ण मानी जाती है या दोषपूर्ण।

'अपेक्षा' (स्त्री० सं०) में 'अप' का अर्थ है अभाव या कमी; और ईक्ष् का अर्थ है देखना। इस प्रकार **'अपेक्षा'** का मूल अर्थ है– ऐसी चीज ढूंढने या पाने के लिए इधर-उधर देखना जिसका अभाव या कमी प्रतीत हो रही हो। प्रस्तुत प्रसंग में **'अपेक्षा'** वह स्थिति है जिसकी पूर्ति से कार्य की उपयोगिता या महत्त्व बहुत कुछ बढ़ जाता है और वह अपने उचित तथा मानक रूप तक पहुंच जाता है। फिर भी यदि यह कमी पूरी न हो तो भी काम जैसे-तैसे चल सकता है, जैसे:यों तो यह पुस्तक और सब तरह से अच्छी है,

फिर भी इसमें प्रतिपादित विषय को स्पष्ट करने के लिए कुछ उदाहरणों और प्रमाणों की **अपेक्षा है**। हिन्दी में कहीं-कहीं इसके स्थान पर फा० का **'दरकार'** शब्द भी चलता है।

'आवश्यकता' वस्तुतः **'अपेक्षा'** की तुलना में बहुत आगे बढ़ी हुई स्थिति का वाचक है। यह संस्कृत के **'आवश्यक'** विशेषण का भाववाचक संज्ञा रूप है। यह ऐसी अवस्था का सूचक है जिसमें किसी खास चीज या बात के बिना किसी तरह काम चल ही न सकता हो। प्राणी मात्र को अपने जीवन-निर्वाह के लिए खाद्य-पदार्थ, जल और वायु की **आवश्यकता** होती है। आशय यह होता है कि इन चीजों के बिना उसका काम किसी तरह चल ही नहीं सकता, वह किसी प्रकार जीवित रह ही नहीं सकता। परन्तु हमारे भोजन में चीनी, नमक आदि की अपेक्षा ही होती है क्योंकि इसके बिना भी हमारा काम चल तो सकता है भले ही इसके बिना भोजन पौष्टिक या स्वादिष्ट न हो सकता हो। वस्त्रों में टिकाऊपन भी अपेक्षित होता है और सुन्दरता भी। पर वस्त्र बनाने के लिए ऊन, रुई, रेशम आदि की आवश्यकता होती है क्योंकि इन चीजों के बिना वस्त्र किसी तरह बन ही नहीं सकते। हिन्दी में इनके स्थान पर अरबी का **'ज़रूरत'** शब्द भी चलता है।

अप्रज्ञेय- *वि०* (सं०) दे० 'प्रज्ञा और प्रतिभा'।

अफसोस- *पु०* (फा०) = खेद; दे० 'दुःख, खेद, विषाद और शोक'।

अभिकलन- *पु०* (सं०) दे० 'गणन, अनुगणन, अभिकलन, आकलन, परिकलन, परिगणन और संख्यापन'।

अभिक्षेप- *पु०* (सं०) दे० 'आक्षेप, अभिक्षेप, भर्त्सना'।

अभिज्ञान- *पु०* (सं०) दे० 'पहचान, अनुप्रमाणन, अभिनिर्धारण, पृष्ठांकन और सत्यापन'।

अभिदेश- *पु०* (सं०) दे० 'विषय, प्रकरण, प्रसंग और सन्दर्भ'।

अभिनिर्धारण- *पु०* (हि०) दे० 'पहचान, अभिज्ञान, अनुप्रमाणन, अभिनिर्धारण, पृष्ठांकन और सत्यापन'।

अभिभाषण- *पु०* (सं०) दे० 'प्रवचन, भाषण, वक्तृता और व्याख्या।'

32. अभिमान गर्व घमंड मद शेखी

अभिमान	गर्व	घमंड	मद / शेखी
Pride	Pride	Pride	Vainglory

इस वर्ग के शब्द व्यक्तियों की ऐसी मानसिक स्थिति के सूचक हैं जिसमें वह अपने आपको प्रभुत्व, योग्यता, शक्ति आदि के विचार से औरों की तुलना में बड़ा या श्रेष्ठ समझता है; और अपना यह बड़प्पन समय-समय पर अपने आचार-व्यवहार अथवा बात-चीत में प्रदर्शित करता रहता है।

'अभिमान' संस्कृत 'मान' में 'अभि' उपसर्ग लगने से बना है; 'अभि' का अर्थ है—

चारों ओर, और 'मान' का यहां अर्थ है– इज्जत या प्रतिष्ठा। इस प्रकार इसमें मुख्य भाव चारों ओर अर्थात् सब जगह प्रतिष्ठा या सम्मान प्राप्त करनेवाली उत्कट अभिलाषा का भाव प्रधान है। जब मनुष्य यह समझने लगता है कि मुझमें औरों की अपेक्षा अधिक गुण, बल, बुद्धि या विद्या है और इसके फलस्वरूप सब जगह मेरा मान या प्रतिष्ठा होनी चाहिए तब उसके मन में उत्पन्न होनेवाली ऐसी धारणा या भावना ही **अभिमान** कहलाती है। इसके कारण मनुष्य अपने-आपको औरों से बड़ा और दूसरों को अपने से छोटा या हीन समझने लगता है। यह साधारणतः दो प्रकार का होता है: सद् और असद् अथवा उचित और अनुचित। यह मनुष्य में रहनेवाले अहं का विकसित रूप है। यों हर योग्य और समझदार व्यक्ति को सदा अपनी प्रतिष्ठा का ध्यान रहता भी है और रखना भी पड़ता है। वह न तो स्वयं कोई ऐसा काम या बात करना चाहता है जिससे उसकी प्रतिष्ठा को ठेस पहुंचे; और न वह यही चाहता है कि दूसरे लोग कोई ऐसा काम या बात करें जो उसकी प्रतिष्ठा या सम्मान को हानि पहुंचानेवाला हो। इस सीमा तक **अभिमान** उचित और सद् ही होता है, यथा **'अस अभिमान जाइ जनि भोरें। मैं सेवक रघुपति पति मोरे।'** – **तुलसी** यहां तक तो आवश्यक भी होता है और प्रशंसनीय भी। किसी प्रकार की प्रतिष्ठा या सम्मान प्राप्ति भी मनुष्य में इस प्रकार का **अभिमान** उत्पन्न करती है, जैसे, जो एक समय मेरे जीवन के एकमात्र आभूषण थे, जिन पर मुझे **अभिमान** था उनको नष्ट होते देखकर मेरी आंखों में आंसू निकल पड़ते हैं'– (रघुवीर सिंह)। पर औचित्य की इस सीमा से आगे बढ़ने पर वह अवस्था आती है, जिसमें अपनी प्रतिष्ठा या मान के सामने दूसरों की प्रतिष्ठा या मान तुच्छ जंचने लगता है। इसमें मनुष्य साधारणतः अपनी ही प्रतिष्ठा या बड़प्पन के ध्यान में लीन रहता है। औरों की प्रतिष्ठा या बड़प्पन उसे जल्दी दिखायी ही नहीं देता अथवा वह उनकी ओर ध्यान देने की आवश्यकता ही नहीं समझता। ऐसी अवस्था में यह **अभिमान** मनुष्य की नैतिक दुर्बलता और मानसिक तुच्छता का सूचक होता और समाज में निन्दनीय माना जाता है। इस प्रकार के **अभिमान** के फेर में पड़कर मनुष्य अपनी विद्या-बुद्धि या शक्ति का महत्त्व बहुत अधिक समझकर दूसरों को तिरस्कार या उपेक्षा की दृष्टि से देखने लगता है। ऐसा मनुष्य बड़ों तथा बराबरवालों के सामने उद्दंड तथा उद्धत हो जाता है और छोटों को घृणा या उपेक्षा की दृष्टि से देखने लगता है जैसे (क) अभिमानी व्यक्ति प्रायः मुंह की खाता है।' –(महादेवी) अथवा (ख) अभिमानी का सिर सदा नीचा होता है।

'गर्व' (सं०) भी है तो बहुत कुछ वही जो **अभिमान** है फिर भी लोक व्यवहार में हमें दोनों में कुछ सूक्ष्म अन्तर देखने में आता है। **अभिमान** तो सद् और असद् दोनों प्रकार का होता है परन्तु **गर्व** प्रायः सद् **अभिमान** का ही वाचक माना जाता है। हम यह तो कह सकते हैं–मैं गर्वपूर्वक समाज में सिर ऊंचा करके खड़ा हो सकता हूं। पर यह नहीं कह सकते-- मैं अभिमानपूर्वक सिर ऊंचा करके खड़ा हो सकता हूं।' कारण यही है कि **गर्व** की अपेक्षा **अभिमान** लोक में अधिक बुरा समझा जाता है। कदाचित् इसी विचार से साहित्य में भी एक संचारी भाव **अभिमान** नहीं, बल्कि **गर्व** माना गया है और इसका लक्षण इस प्रकार कहा गया है– इसमें मनुष्य अपने किसी गुण या विशेषता के कारण अपने आप को दूसरों से बढ़ा-चढ़ा समझता है और अपने आचार तथा व्यवहार से अपनी

श्रेष्ठता प्रकट करता है।

'घमंड' की व्युत्पत्ति अनिश्चित है। यह **अभिमान** का वह निन्दनीय और निकृष्ट रूप है जिसकी ऊपर **'अभिमान'** के अन्तर्गत चर्चा की गयी है। इसमें मनुष्य साधरणतः अपनी ही प्रतिष्ठा, बड़प्पन, योग्यता, शक्ति आदि के ध्यान में इतना चूर रहता है कि उसे दूसरों के इस प्रकार के गुण या तो दिखायी ही नहीं देते और यदि दिखायी देते भी हैं तो भी अपने गुणों की तुलना में उसे दूसरों के ये गुण उपेक्ष्य, तुच्छ या नगण्य जान पड़ते हैं। यह मनुष्य की नैतिक दुर्बलता और मानसिक तुच्छता का सूचक होता है और इसीलिए समाज में ऐसा व्यक्ति बहुत ही हीन दृष्टि से देखा जाता है इसके साथ प्रायः चूर होना, टूटना, तोड़ना आदि क्रियाओं का प्रयोग होता है। इसके कुछ आगे बढ़कर यह उस स्थिति का भी सूचक होता है जिसमें कोई व्यक्ति किसी दूसरे व्यक्ति के पृष्ठ-पोषण, समर्थन या सहायता के बल पर दूसरों को अपने सामने महत्वहीन समझता है। इसीलिए कहा जाता है– हम जानते हैं कि तुम अपने बड़े भाई के **घमंड** पर ही इतना कूदते हो। आशय यह होता है कि तुम्हारे मन में यह विश्वास है कि यदि तुम पर कोई विपत्ति या संकट आयेगा तब तुम्हारे भाई आड़े आकर तुम्हारी सहायता करेंगे। उर्दूवालों की देखा-देखी हिन्दी में इसके स्थान पर कभी-कभी 'गरूर' का भी प्रयोग देखने में आता है।

'मद' *पु०* (सं०) इस वर्ग के सभी शब्दों की अपेक्षा अधिक उग्र और प्रबल भाव का वाचक है। इसी का एक विकारी रूप मद्य (शराब) है। इसके अतिरिक्त सं० में इसके और भी कई अर्थ हैं– उत्तेजना, उल्लास, काम-वासना, मन-मौजीपन आदि। परन्तु आज-कल हिन्दी में इसका प्रयोग **घमंड** के ऐसे बहुत बढ़े हुए रूप का सूचक है जिसमें मनुष्य वैसा ही बेढंगा, बेसिर-पैर का और मनमाना आचरण करने लगता है जैसा लोग शराब पी लेने पर कर लेते हैं। **मद** की अवस्था में मनुष्य प्रायः बहुत ही उद्धत हो जाता है, अपने आप को सबसे बड़ा और बढ़ा-चढ़ा मानने लगता है और औचित्य-अनौचित्य का ध्यान छोड़कर जो जी में आता है, वही करने लगता है। उसे देखने पर बहुत कुछ ऐसा जान पड़ता है कि मानो वह किसी नशे में चूर हो कर अन्धा-सा हो रहा है और भले-बुरे का विचार उसमें रह ही नहीं गया है। यह अभिमान और घमंड की चरम सीमा या परकाष्ठा ही है।

'शेखी' उस 'शैख' से बना है जिसका पहला अर्थ है– पूज्य और सम्मानित वृद्ध व्यक्ति। इसका दूसरा या परवर्ती अर्थ 'दल का नायक या सरदार' भी होता है। मध्य युग में अरब के बड़े-बड़े कबीलों के सरदार शैख ही कहलाते थे। उनमें प्रायः अतिरिक्त **अभिमान या घमंड** भी यथेष्ट मात्रा में होता था, इसीलिए **'शेखी'** भी बहुत कुछ वही है जो **'घमंड'** है। फिर भी हम कह सकते हैं कि **अभिमान** से **'शेखी'** कुछ बातों में और आगे बढ़ी हुई है। यह प्रायः थोथी भी होती है और आचार-व्यवहार अथवा बात-चीत में इसका प्रदर्शन भी उचित-अनुचित सभी अवसरों पर आवश्यकता से अधिक होता है। इसमें प्रायः किये हुए साधारण कामों का भी बहुत बढ़-चढ़कर बखान होता है और यह भी सूचित किया जाता है कि हम ऐसे बड़े-बड़े काम कर सकते हैं। इसके साथ प्रायः दिखाना, बघारना, हांकना आदि क्रियाओं का प्रयोग होता है।

33	**अभियान**		**आक्रमण**	
	Expedition		Attack	
	धावा	**लाम**	Assault	**लामबन्दी**
			Onset	Mobilisation

इस वर्ग के शब्द हैं तो मुख्यतः सैनिक क्षेत्र के और शत्रु को दबाने के लिए आगे बढ़ने के वाचक, परन्तु इनके साथ कुछ और विवक्षाएं भी लग गयी हैं।

'अभियान' (पु० सं०) का पहला अर्थ है कहीं या किसी तक पहुंचने के लिए आगे बढ़ना या चढ़ना। परन्तु आगे चलकर यह शब्द सेनाओं की उस यात्रा का वाचक हो गया जो शत्रु को दबाने या उससे लड़ने के लिए की जाती है। इस प्रकार इसका अर्थ हुआ– शत्रु से लड़ने के लिए आगे बढ़ना। इस स्थान पर हिन्दी की **'चढ़ाई'** और उर्दू **'हमला'** (अ० हम्लः) शब्द का भी प्रयोग होता है। (दे०–चढ़ाई, चढ़ान, चढ़ाव और चढ़ावा) इसके अतिरिक्त आज-कल इसका प्रयोग एक और विकसित अर्थ में होने लगा है। जब कुछ लोग कोई बहुत बड़ा उद्देश्य सिद्ध करने के लिए दल-बल सहित और संघटित रूप में कार्य-क्षेत्र में उतरते हैं और उसके लिए पूरी तरह से प्रयत्न करना आरम्भ करते हैं, तब उसे भी **'अभियान'** कहते हैं; जैसे किसी रोग के उन्मूलन या किसी निधि के लिए धन-संग्रह अथवा निर्यात बढ़ाने का **अभियान**। परिवार नियोजन का **अभियान**, फसल के कीड़े नष्ट करने का **अभियान** सरीखे प्रयोग भी इसी आशय के सूचक हैं। इसके अतिरिक्त किसी बात का पता लगाने या बल-विक्रम दिखाने के लिए बड़ी-बड़ी कठिनाइयों को पार करते हुए दल-बल सहित कहीं जाना भी **'अभियान'** कहलाता है; जैसे (क) उत्तरी ध्रुव का होनेवाला **अभियान**; और (ख) हिमालय की किसी चोटी पर चढ़ने के लिए पर्वतारोहियों का **अभियान** आदि।

'आक्रमण' *पु०* (सं०) का भी पहला अर्थ किसी के पास तक पहुंचने के लिए आगे बढ़ना ही है। आगे चलकर इसमें अपनी सीमा पार करके दूसरे की सीमा में पहुंचने का भाव भी सम्मिलित हो गया। **अभियान** में तो मूलतः आगे बढ़ने का भाव ही प्रधान है। परन्तु **आक्रमण** में किसी को दबाने और हानि पहंचाने का भाव प्रधान है। अपने आधुनिक प्रचलित अर्थ में यह शब्द शत्रु पर की जानेवाली सैनिक चढ़ाई का ही वाचक है* । परन्तु कुछ अवस्थाओं में इसका रूप सामूहिक से वैयक्तिक भी हो जाता है। एक देश की सेना तो दूसरे देश या उसकी सेना पर आक्रमण (चढ़ाई या हमला) करती ही है, परन्तु एक व्यक्ति भी किसी दूसरे व्यक्ति को मारने-पीटने या शारीरिक कष्ट पहुंचाने के लिए उस पर आक्रमण (चढ़ाई या

---

* आक्रमण के सम्बन्ध में ध्यान रखने की एक विशेष बात यह है कि विधिक क्षेत्र में तो काम चलाने भर के लिए इसकी व्याख्या कर दी गयी है, परन्तु राजनीतिक और सामरिक दृष्टियों से अभी तक इसकी कोई ठीक और पूरी व्याख्या नहीं हो पायी है।

(हमला) करता है; और व्यक्तियों के छोटे-मोटे दल किसी एक व्यक्ति या कुछ व्यक्तियों के दल पर आक्रमण करते हैं। इससे और आगे बढ़ने पर व्यावहारिक क्षेत्रों में भी लाक्षणिक रूप में इसका प्रयोग होता है। हम किसी के मत या विचार का खण्डन अथवा विरोध करने के लिए यदि कुछ कटु उक्तियों का प्रयोग करते हैं, तब हमारा ऐसा करना इसलिए 'आक्रमण' कहलाता है कि हम जिसका खण्डन या विरोध करते हैं, उसकी प्रतिष्ठा या सम्मान को हानि पहुंचाना चाहते हैं, और उसे दूसरों की दृष्टि में तुच्छ या हीन सिद्ध करना चाहते हैं। इसी आधार पर कहा जाता है– आज-कल सरकार की खाद्य नीति पर चारों ओर से बहुत आक्रमण या हमले हो रहे हैं। अन्तिम दोनों अर्थों में **'आक्रमण'*** की जगह **'चढ़ाई'** का प्रयोग इसलिये नहीं होता कि इसमें लोग चढ़ कर अर्थात कुछ दूर चल कर नहीं जाते, बल्कि जहां रहते हैं वहीं से वह क्रिया करते हैं, जिसका अन्तर्भाव **आक्रमण** में होता है।

'धावा' *पु०* (सं० धावन, हि० धाना=बहुत जल्दी-जल्दी आगे बढ़ना या दौड़ना) अपने मूल अर्थ में बहुत तेज़ी से आगे बढ़ने या दौड़ते हुए कहीं जाने की क्रिया और भाव का सूचक है। इस अर्थ में इसके साथ बहुधा 'मारना' क्रिया का प्रयोग होता है, जैसे- अभी तो मैं चार कोस का **धावा** मारकर यहां पहुंचा हूं।

इससे और आगे बढ़ने पर यह शत्रु पर किये जानेवाले **आक्रमण** या चढ़ाई का भी वाचक हो गया है। इस अर्थ में इसके साथ प्रायः 'बोलना' क्रिया का प्रयोग होता है। शत्रु पर **धावा** बोलने का अर्थ होता है– **आक्रमण** या चढ़ाई करने के लिए तेज़ी से आगे बढ़ना। **आक्रमण** की तरह कुछ अवस्थाओं में लाक्षणिक रूप में भी इसका प्रयोग होता है, जैसे;सभी विरोधी पक्षों ने मिलकर सरकारी पक्षों का विरोध करने के लिए उस पर **धावा** बोल दिया। आशय यही होता है कि सबने सरकार की तीव्र निन्दा और बौछारें करना आरम्भ कर दिया।

'लाम' *स्त्री०* (अ०) का अर्थ है– युद्ध के समय पहना जानेवाला कवच या जिरह। कदाचित इसी आधार पर यह सेना और सैनिक **आक्रमण** या चढ़ाई का भी वाचक हो गया है। किसी देश पर सैनिक चढ़ाई करने के लिए सैनिकों को तैयार करने और अस्त्र-शस्त्रों से सज्जित करने की क्रिया इसीलिए **'लामबन्दी'** कहलाती है। **लाम** पर जाने का अर्थ होता है– सैनिक अभियान में सम्मिलित होकर युद्ध-क्षेत्र तक पहुंचना। साधारण बोल-चाल में **लाम** का एक अर्थ इसलिए कतार या पंक्ति भी हो गया है कि सैनिकों की टुकड़ियां कतार बांधकर और पंक्ति के रूप में आगे बढ़ती हैं। इसी आधार पर हिन्दी में 'लाम लगाना' मुहावरा भी बन गया है जिसका अर्थ होता है– निरन्तर एक के बाद एक उपस्थिति करना या रखना। लोग कहते हैं– तुमने तो चीजों (या बातों) की **लाम** लगा दी है।

---

* आक्रमण के सम्बन्ध में ध्यान रखने की बात यह है कि विधिक क्षेत्र में तो काम चलाने भर के लिए इसकी व्याख्या कर दी गयी है, परन्तु राजनीतिक और सामरिक दृष्टियों से अभी तक इसकी कोई ठीक और पूरी व्याख्या नहीं हो पायी है।

अभिलाषा- *स्त्री* (सं०) दे० 'इच्छा, कामना, अभिलाषा, आकांक्षा, और स्पृहा'।

अभिशंसा- *स्त्री०* (सं०) दे० 'आशंसा, अनुशंसा, और प्रशंसा।

अभिलेख *पुं०* (सं०) दे०'लेख, अभिलेख, आलेख, प्रलेख और विलेख'।

अभिवेदन *पुं०* (सं.) दे० 'विनति, प्रार्थना, याचना, निवेदन, आवेदन, अभिवेदन और प्रतिवेदन'।

अर्घ- *पु०* (सं०) दे० 'मूल्य, दाम और अर्घ'।

अर्जी- *स्त्री०* (सं०) दे० 'विनति, प्रार्थना, याचना, निवेदन, आवेदन, अभिवेदन और प्रतिवेदन'।

34. अर्थ — आशय

अर्थ	**आशय**	
Meaning	Import	
ध्वनि	**भाव**	**विवक्षा**
	Sense	Implication

ये शब्द ऐसी चीजों, बातों, विचारों आदि के वाचक हैं, जो किसी समाज में प्रचलित पदों, वाक्यों, शब्दों आदि के तात्पर्य का बोध उस समाज के दूसरे लोगों को कराते हैं।

'अर्थ' *पु०* (सं०) इस वर्ग का सबसे अधिक प्रचलित और व्यापक भावोंवाला शब्द है। यों तो अनेक प्रकार की क्रियाओं, चिह्नों, मुखमुद्राओं आदि के भी कुछ **अर्थ** होते हैं, परन्तु प्रस्तुत प्रसंग में **अर्थ** का सम्बन्ध किसी भाषा के वाक्यों, शब्दों आदि तक ही परिमित है। हमारे काम के लिए **अर्थ** वह तत्त्व है जो किसी उच्चरित अथवा लिखित वाक्य का अभिप्राय सूचित करता है, जैसे (क) शब्दकोशों में सभी प्रकार के शब्दों के **अर्थ** दिये रहते हैं; (ख) गीता के इस संस्करण में मूल श्लोकों के अतिरिक्त उनके **अर्थ** भी दिये हैं; और (ग) उनकी भाषा इतनी जटिल और संस्कृत-बहुल होती है कि साधारण लोग उनकी बातों का पूरा-पूरा **अर्थ** नहीं समझ पाते। हिन्दी में इसके स्थान पर उर्दू का **'माने'** (अ० माअना) भी प्रचलित है जिसका प्रयोग सदा बहुवचन में होता है।

'विवक्षा' *स्त्री०* (सं०) हमारे यहां का पुराना साहित्यिक शब्द है। इसका धातुमूलक या मूल **अर्थ** होता है- कुछ कहने अथवा मन का **भाव** या विचार प्रकट करने की इच्छा। परन्तु प्रस्तुत प्रसंग में इसे अर्थ का एक विशिष्ट प्रकार या भेद ही कहना उचित होगा। कभी-कभी ऐसा होता है कि हम जो बात कहते हैं उसका एक साधारण **अर्थ** तो होता ही है; पर उसके साथ ही हमारी शब्दावली का रूप कुछ ऐसा होता है कि हमारा अभिप्रेत या उद्दिष्ट **आशय** कुछ भिन्न ही होता है। वही विशिष्ट **आशय** सूचित करनेवाला तत्त्व **विवक्षा** है। यों पिशाच और वज्र का साधारण **अर्थ** तो सभी लोग जानते हैं; पर जब हम किसी को अर्थपिशाच या 'वज्रमूर्ख' कहते हैं, तब पिशाच अथवा वज्र से हमारा तात्पर्य

कुछ और ही हो जाता है, जो शब्द की लक्षणा शक्ति से व्यक्त होता है। यों अभिधा की दृष्टि से 'कृतार्थ' और 'सिद्धार्थ' के अर्थों में कोई विशेष अन्तर नहीं है; परन्तु अपना कोई उद्देश्य पूरा हो जाने पर हम अपने आपको 'कृतार्थ' तो कह सकते हैं, परन्तु 'सिद्धार्थ' न तो कहते ही हैं और न कह ही सकते हैं। कारण यही है कि साधारण 'कृति' की तुलना में 'सिद्धि' बहुत अधिक गौरवमयी और महिमावाली **विवक्षा** से युक्त है। और इसीलिए 'सिद्धार्थ' जैनतीर्थंकर तथा गौतमबुद्ध सरीखी बहुत बड़ी विभूतियों का वाचक हो गया है। प्राचीन साहित्यकारों का मत है कि शब्दों की लक्षणा और व्यंजना शक्तियों से हमारा जो **आशय या भाव** प्रकट होता है वही हमारी **विवक्षा** है।

परन्तु आज-कल **विवक्षा** का प्रयोग अंग्रेजी के 'इम्प्लिकेशन' (Implication) के स्थान पर होने लगा है। * हम यह तो जानते ही हैं कि कुछ विशिष्ट प्रकार के ऐसे शब्दों के अलग-अलग वर्ग होते हैं जिनके साधारण **अर्थ** बहुत कुछ एक से या मिलते-जुलते होते हैं, जैसे (क) कष्ट, दुःख, पीड़ा और वेदना; (ख) अभिमान, गर्व और घमंड; (ग) अध्ययन, अनुशीलन और पठन; आदि आदि। ऐसे शब्दों के साधारण **अर्थ** ही अधिकतर लोग जानते हैं; परन्तु इनके सूक्ष्म अन्तरों या भेदों से परिचित होने अथवा उन पर विचार करने का न तो उन्हें अवकाश ही रहता है; और न अवसर ही मिलता है। किसी शब्द के **अर्थ** और **विवक्षा** में बहुत-कुछ उसी प्रकार का अन्तर होता है, जिस प्रकार का अन्तर मनोविज्ञान की दृष्टि से हमारी चेतना और उपचेतना** में होता है। एक ही वर्ग के भिन्न भिन्न शब्दों के अर्थों की एक ऊपरी तह होती है। यह तह देखने पर ऐसी जान पड़ती है कि इनके अर्थों में कोई विशेष अन्तर नहीं है, और इसीलिए लोग प्रायः एक के स्थान पर दूसरे शब्द का, और दूसरे के स्थान पर तीसरे शब्द का प्रयोग कर जाते हैं। यही कारण है कि साधारण शब्दकोशों में ये बहुत कुछ पर्याय समझे जाते और मिश्रित रूप में पाये जाते हैं। परन्तु शब्दों के **अर्थ** की इस ऊपरी तह के नीचे एक और भीतरी तह भी होती है। उसे ध्यानपूर्वक देखने पर हमें यह पता चलता है कि किसी शब्द में कौन सा ऐसा विशिष्ट **आशय या भाव** है जो उस वर्ग के अन्यान्य शब्दों से उसे पृथक् करता है। किसी शब्द का ऐसा विशिष्ट **आशय** या **भाव** सूचित करनेवाला तत्त्व ही **'विवक्षा'** है। इस **विवक्षा** का ज्ञान न होने के कारण ही लेखक और वक्ता अनजान में ही एक की जगह दूसरे शब्द का प्रयोग कर जाते हैं और साधारण पाठक या श्रोता भी उसका कोई मनमाना **अर्थ** समझकर अपना काम चलता करते हैं। पर्यायकी में पर्याय समझे जानेवाले शब्दों के अर्थों और प्रयोगों में होनेवाले ऐसे ही सूक्ष्म अन्तरों या भेदों का

---

* वेब्स्टर की Synonyms Dictionary में Implication की जो व्याख्या दी गयी है उसे देखते हुए विवक्षा को हम उसका ठीक और पूरा समार्थक नहीं कह सकते। फिर भी आज-कल दोनों एक दूसरे के समार्थक माने जाने लगे हैं जो कुछ ठीक नहीं जंचता। कारण यह है कि **विवक्षा** सदा वक्ता को अभिप्रेत या उद्दिष्ट होती है, परन्तु 'इम्प्लिकेशन' में ऐसे भावों का भी समावेश होता है जो वक्ता को अभिप्रेत या उद्दिष्ट नहीं होते। हमारी समझ में इसमें कुछ अंश अभिधार्थ का भी है और कुछ लक्ष्यार्थ का भी।

** हिन्दी की मनोवैज्ञानिक पुस्तकों में आरम्भ से अंग्रेजी के Subconsciousness के लिए 'अवचेतना' का प्रयोग होता आया है। परन्तु इसके लिए उपयुक्त शब्द 'उपचेतना' ही है, 'अवचेतना' नहीं।

विवेचन होता है। शब्दों में होने वाली **विवक्षा** के सिवा उक्ति या कथन सम्बन्धी वाक्यों में भी कुछ **विवक्षा** होती है जो उन वाक्यों के अभिधार्थ से कुछ भिन्न होती है। यहां उदाहरण स्वरूप कुछ ऐसे वाक्य दिये जाते हैं :–

वाक्य- अब इसके सिवा हमारे पास और उपाय ही क्या रह गया है।

विवक्षा- अब इसके सिवा हमारे पास और कोई उपाय ही नहीं है।

वाक्य- अब तो उनकी रक्षा ईश्वर के ही हाथ है।

विवक्षा- अब उनकी रक्षा की कोई सम्भावना नहीं रह गयी है।

वाक्य- क्या तुमने मुझे कभी बासीरोटी खाते देखा है ?

विवक्षा- मैं सदा ताजी रोटी ही खाता हूं।

इन उदाहरणों से यही सूचित होता है कि **विवक्षा** भी लक्ष्यार्थ और व्यंग्यार्थ की तरह का एक **अर्थ** है, और इसमें दोनों का कुछ न कुछ मिश्रण रहता है।

ध्वनि और **विवक्षा** में तीन मुख्य अन्तर होते हैं :–

1. **ध्वनि** तो केवल वाक्यों में होती है, पर **विवक्षा** वाक्यों के सिवा शब्दों में भी होती है।

2. **ध्वनि** अभिधार्थ पर आश्रित नहीं होती, पर **विवक्षा** अभिधार्थ पर आश्रित होती है। और

3. **ध्वनि** में तो कटाक्ष या व्यंग्य की प्रधानता होती है पर **विवक्षा** में कटाक्ष या व्यंग्य का होना आवश्यक नहीं है।

'आशय' *पु०* (सं०) शब्द हिन्दी में दो मुख्य अर्थों में प्रचलित है। पहला **अर्थ** है– वह उद्देश्य या लक्ष्य जिसे ध्यान में रखकर कोई बात कही जाती है, जैसे:मेरा **आशय** यह नहीं था कि तुम उनसे झगड़ा कर बैठो। इसका दूसरा **अर्थ** किसी विस्तृत कथन का वह सारांशिक रूप है जो या तो स्वयं समझने के लिए होता है या संक्षिप्त और सुबोध रूप से दूसरों को समझाने के लिए प्रस्तुत किया जाता है; जैसे:इन सब बातों का **आशय** यही है कि मनुष्य को सदा सत्य और सदाचार का आचरण (अथवा पालन) करना चाहिए। अरबी का 'मतलब' शब्द भी इसके समार्थक के रूप में उक्त दोनों अर्थों में प्रयुक्त होता है।

भाव *पु०* (सं) के यों तो अनेक **अर्थ** हैं,* परन्तु प्रस्तुत प्रसंग में यह भी बहुत कुछ वही है जो **'आशय'** है। फिर भी दोनों में कुछ सूक्ष्म अन्तर है। **भाव** की ठीक व्याख्या के विचार से हम कह सकते हैं कि यह किसी कथन, लेख्य आदि का वह उद्दिष्ट या अभिप्राय है जो कुछ अस्पष्ट तथा गूढ़ होता है; और जो सहसा दूसरों की समझ में नहीं आता। इसे समझने के लिए कुछ विशिष्ट प्रयास भी करना पड़ता है और बुद्धि बल भी लगाना

---

* भाव के अन्यान्य अर्थों के लिए दे० 1.'भाव और भावना', 2. 'भाव और दर'।

पड़ता है। कारण यह है कि **आशय** तो मुख्य रूप से शब्दों, पदावलियों और वाक्यावलियों पर आश्रित होता या उन्हीं में से निकाला जाता है। परन्तु **भाव** मुख्य रूप से उनमें प्रतिपादित तर्कों, विचारों और स्थापनाओं पर आश्रित होता है और उन्हीं का संक्षिप्त रूप या सार भाग होता है, जैसे:इस कवित्त की वाक्यावली से तो वही **आशय** निकलता है जो आप कहते हैं; परन्तु वास्तव में कवि का **भाव** कुछ और ही होता है। यहां '**भाव**' बहुत कुछ अभिप्राय का वाचक है; अर्थात् वह उस विचार का सूचक है जो कवि ने अपने कवित्व में निहित रखा है।*

'ध्वनि' *स्त्री* (सं०) यों तो संस्कृत में '**ध्वनि**' के अनेक **अर्थ** हैं, परन्तु हिन्दी में इसका प्रयोग दो क्षेत्रों में अलग-अलग अर्थों में होता। एक **ध्वनि** तो वह है जो कंठ से उच्चरित होती है, अथवा ठोस पदार्थों पर किसी प्रकार का आघात लगने से उत्पन्न होती और कानों से सुनायी पड़ती है। **ध्वनि** के इस रूप का वर्णन पुस्तक के पहले प्रकरण 'शब्द और **अर्थ**' में **अर्थ** के प्रसंग में तथा उसके 'ध्वनि विज्ञान' शीर्षक के अन्तर्गत विस्तार पूर्वक किया जा चुका है। प्रस्तुत प्रसंग में **ध्वनि** विशेषत: काव्य-शास्त्र और साहित्य का पारिभाषिक शब्द है और एक विशिष्ट प्रकार के **अर्थ** या **आशय** का सूचक है। हमारे साहित्य-शास्त्र के अनुसार **ध्वनि** की उत्पत्ति शब्दों की व्यंजना-शक्ति से होती है। इसीलिए **ध्वनि** को व्यंग्यार्थ भी कहा गया है। इसे काव्य की आत्मा या सर्वश्रेष्ठ गुण माना गया है और यह रस के परिपाक में सबसे अधिक सहायक होती है। इसका मूल आधार किसी प्रकार का कटाक्ष, वक्रता या व्यंग्य होता है। **ध्वनि** वहां उत्पन्न होती है जहां शब्दों के अभिधार्थ तो गौण रह जाते हैं, और व्यंग्यार्थ बहुत ही चमत्कारपूर्ण तथा नवीन रूप में सामने आता और समझदारों के मन में एक विशेष प्रकार के आनन्द का उद्रेक करता है। साधारणत: **ध्वनि** सदा सब लोगों की समझ से आनेवाली चीज नहीं। यथेष्ट परिष्कृत और संस्कृत बुद्धिवाले सहृदय लोग ही उसे समझ पाते हैं। बौद्धिक दृष्टि से निम्न स्तर पर रहनेवाले लोग सदा उस तक नहीं पहुंच पाते।

कुछ अवस्थाओं में तो लेखक या वक्ता अपनी रचना या कथन को ऐसा रूप देता है कि उससे एक विशिष्ट प्रकार की **ध्वनि** निकलती है। उदाहरण के लिए यह कहानी लीजिए। एक सज्जन का किसी बात पर उनके पड़ोसी से कुछ झगड़ा हो गया। उस सज्जन ने बहुत ही धीरे से और नम्रतापूर्वक कहा– मैं तो आपको भला आदमी समझता

---

* लोक-व्यवहार में और संस्कृत शब्दकोशों में भी **आशय** और **भाव** के **अर्थ** बहुत कुछ समान ही दिखायी देते हैं। फिर भी मेरी समझ में दोनों में सूक्ष्म अन्तर यह जान पड़ता है कि **आशय** तो इसी कथन या लेख का स्थूल और स्पष्ट सार-भाग है, परन्तु **भाव** अपेक्षया अधिक गहन और दुरूह होता है। **भाव** मुख्यत: लेखक अथवा वक्ता की अनुभूतियों और विचार प्रणाली का सूचक होता है; और **आशय** उसके विवेचन के ढंग, प्रकार या रूप से सम्बद्ध होता है। **भाव** तो अस्तित्व या सत्ता का वाचक है; और **आशय** उस अस्तित्व या सत्ता के अधिष्ठान या आधार का सूचक है। मराठी में जो 'भाव गीत' प्रसिद्ध हैं उन्हें हम इसलिए आशय गीत नहीं सकते कि **भाव** में जो तात्त्विक गंभीरता और विशिष्टता है, वह **आशय** में नहीं है। अपने आरंभिक जीवन में संस्कृत के प्राचीन पंडितों को मैंने बहुत कुछ इसी प्रकार की व्याख्या करते हुए देखा है। शब्द-शास्त्र के आधुनिक विद्वान इस पर और अधिक विचार कर सकते हैं।

था। पड़ोसी ने बहुत बिगड़कर और तीखे स्वर में कहा– मैं भी आपको भला आदमी समझता था। इस पर पहले सज्जन ने फिर उसी प्रकार नम्रतापूर्वक कहा-भूल मुझसे ही हुई थी। इस छोटे से वाक्य से **ध्वनि** यह निकलती थी कि आप वस्तुतः भले आदमी नहीं हैं। आपको भला आदमी समझकर मैंने भूल की।

कुछ अवस्थाओं में बिल्कुल सहज भाव से कही हुई बात से भी कोई विलक्षण **ध्वनि** निकल पड़ती है। पचीसों वर्ष पहले की बात है। महामना पं० मदन मोहन मालवीय केन्द्रीय विधान सभा में अछूतों के उद्धार की चर्चा कर रहे थे। एक मुसलमान सदस्य ने बात काटकर पूछा-क्या आप भी अछूतों से मिलते हैं ? मालवीय जी ने बहुत ही सहज भाव से उतर दिया–मैं अछूतों से भी उसी प्रकार प्रेमपूर्वक मिलता हूं जिस प्रकार स्वयं आपसे मिलता हूं। इस पर जोरों का ठहाका लगा क्योंकि इससे यह **ध्वनि** निकलती थी कि आप भी मेरी दृष्टि में अछूतों के समान ही हैं।

कुछ अवस्थाओं में अनजान में ही मुंह से कोई ऐसी बात निकल जाती है जिससे **ध्वनि** तो अवश्य निकलती है, पर उस **ध्वनि** के कटाक्ष या व्यंग्य का पात्र स्वयं वक्ता बन जाता है। कहते हैं कि एक बार किसी अदालत में किसी गवाह से जिरह करते समय वकील ने खिझलाकर कहा- मैंने तुम्हारे जैसा बेवकूफ आज तक कभी नहीं देखा। जज ने न्यायालय के सम्मान की रक्षा के विचार से वकील को सचेत करने के लिए कहा- मेरे यहां रहते हुए आपको ऐसी बात नहीं कहनी चाहिए। जज के इस कथन से **ध्वनि** यह निकलती थी कि इस गवाह से बढ़कर बेवकूफ तो मैं यहां मौजूद हूं।

कहते हैं कि एक बार एक आदमी किसी दवाखाने में कोई दवा खरीदने गया। दुकानदार ने कहा वह दवा तो नहीं है इसके बदले यह दूसरी दवा ले जाइए इससे आपको अवश्य लाभ होगा। उस आदमी ने पूछा- आपने कैसे जाना कि इस दवा से अवश्य लाभ होगा। दुकानदार ने कुछ सकपकाकर कहा- जो आदमी एक बार यहां से दवा ले गया, वह फिर दोबारा लौटकर नहीं आया। दुकानदार का आशय तो यह था कि इस दवा से उसे इतना लाभ हुआ कि फिर आने की आवश्यकता ही नहीं पड़ी। पर उसके कथन से यह **ध्वनि** निकलती थी कि या तो वह आदमी यह दवा खाकर मर ही गया और या इसका कोई प्रभाव न देखकर इतना निराश हुआ कि वह मेरी दुकान पर फिर आया ही नहीं।

सारांश यह कि **ध्वनि** किसी उक्ति या कथन का वह अनुरणन, गूंज या झनकार है जो पदों और वाक्यों के शब्दार्थ से बिल्कुल अलग और ऊपर होती है। **ध्वनि** का साधारण और लोक-प्रचलित अर्थ जानने के लिए देखें- 'नाद, घोष, ध्वनि और लय'।

अलहदी- *वि०*—अहदी; दे० 'अहदी, आलसी, आस्कती, दीर्घसूत्री, और सुस्त'।

अवयव- *पु०* (सं०) दे० 'अंग, अवयव और घटक'।

अवरोध- *पु०* (सं०) दे० 'रोध, अवरोध, निरोध, प्रतिरोध और विरोध।

35. अवसरवादी **समयसेवी**
Opportunist Time server

अवसरवादी वे लोग कहलाते हैं जो अवसरवाद के अनुयायी और पालक होते हैं। अवसरवाद के सम्बन्ध में मुख्य बातें ऊपर 'अवसरवाद' के विवेचन में बतलाई जा चुकी हैं। **समयसेवी** भी बहुत-कुछ अवसरवादियों की कोटि में ही आते हैं फिर भी दोनों में कुछ सूक्ष्म अन्तर है। अवसरवादी तो उपयुक्त अवसर मिलने पर ही अपना स्वार्थ सिद्ध करते हैं। परन्तु समयसेवी जब जैसा समय देखते हैं, तब अपने आपको वैसे ही रंग में रंग लेते और वैसा ही रुख अपना लेते हैं। अनुकूल अवसर तो उतनी जल्दी-जल्दी सामने नहीं आते परन्तु अनेक प्रकार के समय तो बराबर सामने आते ही रहते हैं। आज जिस बात या व्यक्ति के पक्ष मे रहते हैं, कल ही उसके विपरीत और विरुद्ध आचरण या व्यवहार करने लगते हैं ऐसे लोग प्रायः खुशामदी होते, ठकुर-सुहाती और मुंह देखी बातें करनेवाले होते हैं। उनका सारा लाभ और हित प्रायः ऐसी ही बातों पर आश्रित होता है। यही कारण है कि अवसरवादियों की तुलना में समयसेवी लोग और भी अधिक तुच्छ या हीन दृष्टि से देखे जाते हैं।

36. अवसाद **उदासी** **कुंठा** **विषण्णता**
Depression Sadness Frustration 1. Despondence
2. Gloom

विषाद
Dejection

इस वर्ग के शब्द मन की ऐसी स्थितियों के वाचक हैं जिनमें वह उत्साह, साहस आदि खो बैठता है और प्रायः खिन्न, चिंतित या विरक्त और दुःखी होकर चुपचाप बैठ जाता है।

'अवसाद' *पु०* (सं०) के यों तो अनके अर्थ हैं– धीमा या मंद पड़ना, थकावट, सुरती, हार या पराजय, कमजोरी या दुर्बलता आदि। परन्तु हिन्दी में मुख्य रूप से यह मन की ऐसी स्थिति का वाचक है जिसमें आशा, उत्साह, तत्परता आदि का बहुत-कुछ अभाव हो जाता है और ऐसी वृत्तियां बहुत मंद या शिथिल हो जाती हैं। ऐसी मनोवृत्ति शारीरिक परिश्रम के कारण भी हो सकती हैं और निराशा, विफलता आदि के फलस्वरूप मानसिक कारणों से भी। मन में **अवसाद** होने पर प्रायः कुछ करने को जी नहीं चाहता; और देखनेवालों को वह चिंतित, दुःखी, विकल या सुस्त सा दिखाई देता है। कुछ लोग इसे विषाद का भी समकक्ष समझते हैं; परन्तु जैसा कि नीचे विषाद के विवेचन में बताया गया है। दोनों में कुछ विशिष्ट अंतर है।

कुछ अवस्थाओं में इसका एक बढ़ा हुआ और विस्तृत रूप भी होता है। बहुत

अधिक मानसिक कष्ट या दुःख में, कुछ विकट रोगों में और शारीरिक दुर्बलता और बढ़ जाने पर भी जो **अवसाद** होता है, उसके संबंध में लोक-व्यवहार में कहा जाता है– मानो कलेजा धंस रहा है, जी बैठा जाता है आदि आदि ।

'उदासी' *स्त्री०* (सं० उदास+हिन्दी प्रत्ययी) मूलतः उदास का भाववाचक संज्ञा रूप है । सं० में उदास के कई अर्थ हैं, जैसे (क) किसी से अलग या दूर रहना, (ख) किसी काम या बात से अलग या दूर रहना और उसकी चिंता या ध्यान न करना, (ग) किसी काम या बात से मन हटा लेना और उसमें प्रवृत्ति या रुचि न रखना आदि । परन्तु हिन्दी में उदास कुछ और ही अर्थ या आशय प्रकट करने के लिए प्रयुक्त होता है । जब हम किसी अनिष्ट की आशंका से, किसी प्रकार के अभाव या हानि से अथवा इसी प्रकार के और किसी कारण से बहुत अधिक चिंतित और दुःखी होते हैं और इन सब बातों के फलस्वरूप साधारण काम-धंधा, बात-चीत आदि छोड़कर प्रायः चुप-चाप और बहुत-कुछ निष्क्रिय तथा निश्चल होकर बैठे रहते हैं तब लोग हमें उदास समझते हैं । ऐसी अवस्था में किसी काम या बात में हमारा मन नहीं लगता; और हम बहुत सी बातों से प्रायः विरक्त से हो जाते हैं । **'उदासी'** ऐसी ही स्थिति की सूचक भाववाचक संज्ञा है, जैसे (क) लड़कों के ननिहाल चले जाने पर घर में **उदासी** छा गई है; (ख) व्यापार में बहुत अधिक हानि होने पर (अथवा घर की सारी सम्पत्ति जल या बिक जाने पर) घर के सभी लोगों में **उदासी** छा गई है । और (ग) ऐसे दानी और प्रजापालक महाराज की मृत्यु से सारे नगर में **उदासी** छा गई थी ।

'कुंठा' *स्त्री०* (सं०) का मूल अर्थ है– लंगड़ा, लूला, विकलांग आदि । इसका प्रयोग ऐसे शस्त्रों के लिए भी होता था जिनकी धार काम करते-करते या पुरानी पड़ने के कारण बिलकुल खराब या नष्ट हो गयी हो और जो काटने, चीरने आदि के काम ठीक तरह से न कर सकती हो । आगे चलकर इसका प्रयोग मनुष्य की अतृप्त या सुप्त भावनाओं के लिए भी होने लगा था । और आगे बढ़ने पर इससे ऐसी लज्जा या संकोच भी सूचित होने लगा था जो मनुष्य को किसी काम में आगे बढ़ने से रोकता था, यथा ......ने आज के समूचे साहित्य को कुंठाजात माना है । परन्तु आजकल इसका प्रयोग अं० के Frustration का भाव सूचित करने के लिए अधिकता से होने लगा है । हम कोई कार्य या प्रयत्न तो आरम्भ करते हैं; पर बीच में या तो कुछ ऐसी बाधाएं आ पड़ती हैं अथवा कुछ ऐसे विरोधी आ खड़े होते हैं जो हमारा वह काम या प्रयत्न निष्फल कर देते या पूरा नहीं होने देते हैं । ऐसी अवस्था में हमारे विफल होने पर मन में जो अतृप्ति, असंतोष, निराशा या पराजय का भाव उत्पन्न होता है और हमें आगे बढ़ने से रोक लेता है, वही कुंठा है । ऊपर शस्त्रों की धार निकम्मी हो जाने का जो उल्लेख हुआ है, उससे हमारी स्थिति का बहुत-कुछ मेल बैठता है । हिन्दी में प्रायः इसके भूतकृदन्त रूप 'कुंठित' का ही प्रयोग देखने में आता है ।

'विषण्णता' *स्त्री०* (सं०) के कई अर्थ शब्दकोशों में मिलते हैं । उसके आधार पर हम कह सकते हैं कि यह **अवसाद, कुंठा** और विषाद का ऐसा सम्मिलित रूप है जो आशय की दृष्टि से इन शब्दों के आशय से बहुत-कुछ आगे बढ़ा हुआ है । इसकी मुख्य

विशेषता यह है कि मन की **उदासी** बहुत अधिक बढ़कर प्रायः अपनी चरम सीमा तक पहुंच जाती है। प्रायः इसके फलस्वरूप मनुष्य को अपने चारों ओर अन्धकार दिखाई देने लगता है, और कुछ समय तक उसकी समझ में यही नहीं आता कि मुझे अब क्या करना चाहिए अथवा आगे चलकर क्या होगा। ऐसी स्थिति मनुष्य को प्रायः हतबुद्धि कर देती है।

'विषाद' *पु०* (सं०) विषद् का विकारी रूप हैं जिसके कई अर्थ हैं। परन्तु इसका मुख्य अर्थ है – निराश या हतोत्साह होने के कारण बहुत दुःखी होना, और चुपचाप बैठ जाना। यह मुख्यतः विफलता और उससे उत्पन्न होनेवाली विरक्ति का सूचक शब्द है। हिन्दी में प्रायः लोग इसका प्रयोग तीव्र दुःख या वेदना के अर्थ में करते हैं जो कुछ ठीक नहीं जान पड़ता। भारतीय साहित्य में इसका प्रयोग बहुत-कुछ ठीक अर्थों में, परन्तु केवल श्रृंगार के क्षेत्र में होता है। उसमें विषाद उस मानसिक स्थिति का सूचक माना जाता है जिसमें नायक या नायिका अपने प्रेम-व्यवहार में बिल्कुल निराश और विफल होकर बहुत ही दुःखी होते हैं। यह भी कहा गया है कि इस प्रकार की निराशा या विफलता मनुष्य को थोड़े या अधिक समय तक के लिए इतना अधिक दुःखी और विरक्त कर देती हैं कि वह बहुत-कुछ जड़वत् हो जाता है। ××

अवसान- *पु०* (सं०) दे० 'अन्त, अवसान और समाप्ति'।

37. अवस्था दशा स्थिति

Condition State Position, Situation

साधारणतः **अवस्था, दशा** और **स्थिति** में कोई अन्तर नहीं दिखाई देता। हम कहते हैं– ऐसी **अवस्था** में उनकी कोई सहायता नहीं की जा सकती। यदि इस वाक्य में **अवस्था** की जगह **दशा** या **स्थिति** का प्रयोग किया जाए, तो भी प्रायः काम चल जाता है। ऐसे परिवर्तनों से उक्त वाक्य के अर्थ या आशय में कोई विशेष अन्तर नहीं आने पाता। इससे पता चलता है कि एक सीमा तक इन तीनों शब्दों के अर्थ प्रायः समान हैं; और इसीलिए एक दूसरे के समानक माने जा सकते हैं। फिर भी ये तीनों अलग-अलग शब्द हैं; अतः इनके अर्थों में भी परस्पर कुछ अन्तर होना ही चाहिए, भले ही वह अन्तर थोड़ा या सूक्ष्म हो। और वास्तव में अन्तर है भी; क्योंकि कुछ प्रसंगों में ये शब्द एक दूसरे के स्थान पर प्रयुक्त हो ही नहीं सकते। और ऐसे प्रसंगों का विचार करने पर ही जाना जा सकता है कि इन तीनों शब्दों के अर्थों में क्या अन्तर है?

हमारे यहां मनुष्य की कहीं 4, कहीं 8 और कहीं 10 अवस्थाएं मानी गई हैं; जैसे जन्म, शैशव, बाल्य, कौमार्य, पौगंड, यौवन, जरा आदि। इन अवस्थाओं को **दशा** भी कहते हैं। पर ज्योतिष में ग्रहों का नियत भोगकाल **दशा** ही कहलाता है, **अवस्था** या **स्थिति** नहीं। फिर हम कहते हैं– यहां की **स्थिति** आपके संभाले नहीं संभलेगी। इस प्रसंग में **स्थिति** का काम **अवस्था** या **दशा** से नहीं चल सकता। अर्थात् कहीं तो **अवस्था, दशा** और **स्थिति** तीनों एक दूसरे के पर्याय होते हैं, कहीं केवल **अवस्था** और **दशा** एक

दूसरे के पर्याय होते हैं; और कहीं ये तीनों शब्द अलग अर्थ रखते हैं; और इनमें से किसी एक का काम दूसरे से नहीं चल सकता। जिन प्रसंगों में ये तीनों शब्द एक दूसरे का काम दे जाते हैं, कुछ तो उन्हीं प्रसंगों के आधार पर और कुछ इन तीनों शब्दों के ठीक-ठीक अर्थ-विस्तार न जानने के कारण ही इनके प्रयागों में प्रायः गड़बड़ी होती है। तीनों शब्दों के आर्थी क्षेत्र का यह अन्तर उनके भोगकाल के आधार पर स्थित है। **अवस्था** की अपेक्षा **दशा** का और **दशा** की अपेक्षा **स्थिति** का भोगकाल साधारणतः कुछ अधिक होता है। जो **अवस्था*** आज है, वह कल बदल सकती है; पर **दशा** के बदलने में कुछ अधिक समय लगता है** । और इन दोनों की अपेक्षा **स्थिति** का भोग-काल साधारणतः कुछ और भी अधिक होता है*** । अर्थात् तुलनात्मक दृष्टि से **स्थिति** की अपेक्षा **दशा** और **दशा** की अपेक्षा **अवस्था** कुछ जल्दी और सहज में बदलनेवाली होती है। इन तीनों शब्दों में दूसरा पारस्परिक अन्तर इनके मान या व्याप्ति के क्षेत्रों से सम्बन्ध रखता है। **अवस्था** में जितनी बातें अन्तर्भुक्त होती हैं, उनकी अपेक्षा **दशा** में कुछ अधिक बातों का अन्तर्भाव होता है।

व्युत्पत्ति की दृष्टि से विचार करने पर हम देखते हैं कि **अवस्था** शब्द भी उसी 'स्था' धातु से बना है जिससे **स्थिति** शब्द बना है। **अवस्था** का एक धात्वर्थ है– खड़ा होना या वर्तमान होना; और इस दृष्टि से कहा जा सकता है कि **अवस्था** का बहुत-कुछ सम्बन्ध वर्तमान से है।**** **स्थिति** का अर्थ है– स्थित होने या ठहरे रहने की **अवस्था** या भाव। यह मुख्यतः एक प्रकार के ठहराव की सूचक भाववाचक संज्ञा है। भाव सदा वर्तमान की अपेक्षा कहीं अधिक विस्तृत तथा स्थायी होता है – उसकी व्याप्ति उन भूत और भविष्य कालों तक होती है, जो वर्तमान की अपेक्षा कहीं अधिक विस्तृत हैं। और

---

*दूसरे प्रसंग में यही **अवस्था** वय या उमर की वाचक है, और वहां यह क्षण-क्षण बदलती और बढ़ती रहनेवाली चीज है। दे० 'आयु, **अवस्था** और वय'।

ज्योतिष में ग्रहों का भोग-काल इसीलिए **दशा कहलाता है कि उसकी कुछ निश्चित मर्यादा होती है; और उसको बदलने के लिए कुछ समय अपेक्षित होता है।

*****स्थिति** का एक और अर्थ उस स्थान से सम्बद्ध है, जहां कोई वस्तु स्थित होती है।

****इसी दृष्टि से अ० हाल को सं० **अवस्था** का समानार्थी माना जाता है। हाल का पहला अर्थ वर्तमान है; और **अवस्था** भी बहुत-कुछ वर्तमान से ही सम्बद्ध है। उर्दू का एक शेर है-

देखकर कासिद को मेरे उसने पूछा खैर है
अब कहो क्या हाल है जिन्दः है या जाता रहा

इसके द्वितीय चरण का 'अब' ही इस बात का सूचक है कि कुछ देर पहले कुछ और हाल मिल चुका था और इस समय का हाल या **अवस्था** पूछी जा रही है। एक और शेर है–

उनके देखे से जो आ जाती है रौनक मुंह पर
वह समझते हैं कि बीमार का हाल अच्छा है

यहां भी थोड़े समय के लिए प्रिय के सामने आ जाने पर मुंह पर रौनक आ जाती है; पर इसी क्षणिक परिवर्तन के कारण प्रेमी की **अवस्था** अच्छी मान या समझ ली जाती है। इन उदाहरणों से भी **अवस्था** और **दशा** सम्बन्धी हमारे निरूपित अन्तरों का समर्थन होता है।

इस दृष्टि से भी इन शब्दों के भोगकाल वाले और मान या व्याप्तिवाले अन्तरों की पुष्टि होती है। **दशा** की व्युत्पत्ति कुछ सन्दिग्ध रूप से 'दंश' कही गई है। दंश का पहला अर्थ है- दांत से पकड़ना या दांत गड़ाना। इस व्यापार में भी और इसके फल में भी काल-विस्तार का कुछ भाव है ही। 'दंश' का दूसरा अर्थ कपड़े का छोर या सिरा भी है; और उसमें भी विस्तार का भाव निश्चित रूप से है ही।

अब कुछ प्रयोग देखिए। जो व्यापारी बहुत दिनों से लाखों रुपयों का क्रय-विक्रय और लेन-देन करता आ रहा हो और बाजार में जिसकी अच्छी साख हो, उसके सम्बन्ध में कहा जाएगा--इसकी **स्थिति** बहुत अच्छी है। यहां **स्थिति** उसकी धन-सम्पत्ति, मान-मर्यादा, व्यवहार-कुशलता आदि अनेक बातों की सूचक है। यदि बीच में कुछ घाटे या व्यापार की मन्दी आदि के कारण उसके कार्यों में कुछ शिथिलता आने लगे तो कहा जाएगा- आज-कल उसकी **दशा** ठीक नहीं है। अब यदि कुछ दिन बाद उसका कारोबार फिर ज्यों का त्यों चलने लगे, तो कहा जाएगा-- बीच में उसकी **दशा** कुछ खराब हो गई थी, पर अब फिर ठीक हो गई है। पर आदि से अब तक उसकी **स्थिति** अच्छी ही मानी जाएगी; बीच में बदलनेवाली **दशा** से उस **स्थिति** में कोई विशेष अन्तर न आएगा। किसी रोगी को देखकर चिकित्सक कह सकता है-- कल से आज इसकी **अवस्था** कुछ अच्छी है; और यदि यही क्रम चलता रहा तो एक सप्ताह तक इसकी **दशा** बहुत-कुछ सुधर जाएगी। इससे सूचित होता है कि रोगी की **दशा** कुछ समय तक प्रायः एक सी चल सकती है, पर उसकी **अवस्था** में जल्दी-जल्दी सुधार अथवा बिगाड़ हो सकता है। हम कोई कल (मशीन) देखने जाते हैं, और लौटकर अपने मित्रों से कहते हैं-- हमने तो उसे चलती हुई **अवस्था** में देखा था, पर हमारे मिस्त्री का कहना है कि वह ठीक **दशा** में नहीं है। कुछ मरम्मत होने पर वह ठीक **दशा** में आ सकती और अच्छी तरह काम दे सकती है। उक्त दोनों प्रसंगों में यदि **अवस्था** की जगह **दशा** और **दशा** की जगह **अवस्था** का प्रयोग किया जाए तो वाक्यों में कुछ खटक सी आ जाएगी। इससे सिद्ध होता कि **अवस्था** की काल-व्याप्ति उतनी अधिक नहीं होती, जितनी **दशा** की होती है।

एक दूसरी दृष्टि से विचार करने पर पता चलता है कि **अवस्था** और **दशा** दोनों बहुत-कुछ आत्मगत या व्यक्तिगत होती हैं, पर **स्थिति** बहुत-कुछ बाहरी बातों पर भी आश्रित होती है। आर्थिक, प्रशासनिक आदि दृष्टियों से किसी देश की **दशा** तो बहुत अच्छी हो सकती है, पर दूसरे देशों या राष्ट्रों की वक्र दृष्टि के कारण उसकी **स्थिति** चिन्तनीय या शोचनीय भी हो सकती है। यदि कोई सैनिक टुकड़ी युद्ध-क्षेत्र में कहीं शत्रुओं से घिर जाए तो हम कहेंगे-- वह टुकड़ी निकट **स्थिति** में पड़ गई है। पर जब शांतिकाल में अपने ही देश में सैनिक शरीरतः दुर्बल हों, उनके पास यथेष्ट अस्त्र-शस्त्र न हों अथवा वे आदेशों, नियमों, नियंत्रणों आदि का ठीक तरह से पालन न करते हों, तो कहा जाएगा--उनकी **दशा** अच्छी नहीं है।

इसमें उन सब बातों का अंतर्भाव होता है जो किसी को चारों ओर से घेरे रहती हैं और उसे प्रभावित भी करती हैं, जैसे-- कोई इन परिस्थितियों में शासन-सूत्र संभालने को तैयार नहीं होगा।

'परिस्थिति' शब्द सं० स्थिति में 'परि' उपसर्ग लगने से बना है।

अवहार- *पु०* (सं०)=युद्ध विराम। दे० 'युद्ध विराम और विराम संधि'।

38. असमंजस उभय-संकट दुविधा हिचक

Predicament Dilemma Quandary Hesitation

इस वर्ग के शब्द मन की ऐसी स्थिति के वाचक हैं जिसमें कोई काम या बात सामने आने पर हमें कई तरह की बातों का सोच-विचार करना पड़ता है; और इसीलिए हम अपना कर्तव्य निश्चित करने या उनमें हाथ डालने से रुकते हैं।

'असमंजस' *स्त्री०* (सं०) असामंजस्य का बिगड़ा हुआ हिन्दी रूप है। कभी-कभी ऐसा होता है कि प्रस्तुत कार्य या प्रश्न के सम्बन्ध में हमें कई अंग या पक्ष दिखाई देते हैं, और हम उनमें ताल-मेल बैठाने या सामंजस्य स्थापित करने में अपने आपको असमर्थ पाते हैं, और यह सोचते हैं कि इसके परस्पर-विरोधी पक्षों में किस प्रकार सामंजस्य स्थापित करें। 'आप तो अलग हो गए हैं, पर हमें आपने बहुत ही **असमंजस** में डाल दिया है' से आशय यही होता है कि हमारी समझ में यह नहीं आता कि हम किस प्रकार इस झगड़े से पार पाएं या इसे सुलझाएं। पश्चिमी भारत में लोग इसका प्रयोग प्रायः *पु०* में भी करते हैं।

'उभय-संकट' संस्कृत का पुराना शब्द है, और इसका मुख्यार्थ है-- ऐसी स्थिति जिसमें दोनों और संकट ही दिखाई देता हो। हिन्दी की पुरानी कहावत है– इधर गिरो तो कुआं और उधर गिरो तो खाईं। यह कहावत **उभय-संकट** का ठीक-ठीक स्वरूप उपस्थित करती है। कभी-कभी हमारे सामने ऐसी स्थिति उत्पन्न होती है जिसके दो पक्ष होते हैं, और दोनों ही पक्ष हमारे लिए किसी न किसी रूप में कष्टकर या हानिकारक प्रतीत होते अथवा सिद्ध हो सकते हैं। फिर भी यह स्थिति हमें कोई न कोई पक्ष ग्रहण करने के लिए विवश करती है और हमें कहना पड़ता है कि इस समय हमारे सामने **उभय-संकट** है।

'दुविधा' संस्कृत द्विविधा से व्युत्पन्न है। इसका अर्थ है – ऐसी स्थिति जिसमें हमारे सामने दो प्रकार या दो रास्ते पड़ते हों। और हमारे लिए यह निश्चय करना कठिन हो कि हमें कौन सा प्रकार या रास्ता अपनाना चाहिए। यह **उभय-संकट** का इसलिए कुछ हल्का रूप है कि इसमें हमारे लिए किसी विपत्ति या संकट की संभावना तो नहीं होती, फिर भी हमें यह सोचना पड़ता है कि कौन सा पक्ष या मार्ग ग्रहण करना हमारे लिए श्रेयस्कर या हितकर होगा; और इसीलिए हमें आगे बढ़ने से रुकना और कुछ सोचना-समझना पड़ता है।

'हिचक' हिन्दी की हिचकी से बना हुआ शब्द है। 'हिचकी' एक विशिष्ट प्रकार की प्राकृतिक और शारीरिक व्यापार है जिसमें हमारा सांस बीच-बीच में क्षण भर के लिए रुक जाता है। इसी आधार पर 'हिचकी' में किसी काम के लिए आगे बढ़ने से पहले कुछ ठहरने या रुकने का भाव प्रधान है। कभी-कभी कोई काम आरम्भ करने से पहले हमें

कुछ सोचने-समझने के लिए रुकना पड़ता है; अथवा अपने सामने कोई कठिनाई दिखाई देने पर यह सोचना पड़ता है कि हम इसमें हाथ डालें या नहीं। ऐसे अवसर पर हम कहते हैं– इस काम में आगे बढ़ने में हमें कुछ **हिचक** हो रही है। आशय यही होता है कि हम सोच रहे हैं कि हम आगे बढ़ें या नहीं। यह स्थिति अनिश्चय की सूचक तो होती ही है; कुछ अवस्थाओं में साहस के अभाव की भी सूचक होती है, जैसे– बड़े लोगों के सामने बोलने में हमें **हिचक** होती है।

असमवायि कारण - *पु०* (सं०) दे० 'कारण और हेतु' के अन्तर्गत 'कारण'।

असूया- *स्त्री०* (सं०) दे० 'वैमनस्य, ईर्ष्या, द्वेष, शत्रुता, वैर और रिपुता'।

39. अस्त्र, आयुध शस्त्र

Arms, weapon | Ammunition | Arms

ये तीनों शब्द उन उपकरणों के वाचक हैं जिनका मार-काट, युद्ध आदि में उपयोग होता है। साधारणतः लोक-व्यवहार में **अस्त्र** और **शस्त्र** के सूक्ष्म अन्तर का कोई ध्यान नहीं रखा जाता और एक के स्थान पर दूसरे का बराबर प्रयोग होता है। परन्तु वास्तविक दृष्टि से दोनों के अर्थों में एक बड़ा मौलिक अन्तर है। **'अस्त्र'** शब्द संस्कृत की 'अस्' धातु से बना है, जिसका अर्थ है– फेंकना। पर **'शस्त्र'** शब्द संस्कृत की 'शस्' धातु से बना है जिसका अर्थ है – काटना। मानव जाति अपनी आदिम अवस्था में जंगली जानवरों अथवा शत्रुओं आदि पर पत्थर, लकड़ी आदि के टुकड़े फेंककर ही प्रहार किया करती थी। ऐसी अवस्था में जिन फेंकी जानेवाली चीजों का प्रयोग होता था उन्हीं को **अस्त्र** कहते थे। अर्थात् **अस्त्र** मूलतः ऐसा उपकरण था जो दूर से किसी पर फेंका जाता था। महाभारत आदि प्राचीन ग्रंथों में वरुणास्त्र, वायवास्त्र आदि अनेक ऐसे अस्त्रों का उल्लेख मिलता है जो दूर रहनेवाले शत्रुओं पर मंत्र बल से चलाए जाते थे। आज-कल सैकड़ों-हजारों मीलों की दूरी पर मार करनेवाले जो कई नये यंत्र बने हैं वे भी इसीलिए 'क्षेप्यास्त्र' ही कहे जाते हैं। इसके विपरीत **शस्त्र** ऐसे उपकरणों को कहते थे जिनसे शरीर के अंग आदि काटे जाते थे; जैसे छुरी, तलवार आदि। बरछी, भाले आदि कुछ अवस्थाओं में पास खड़े हुए शत्रु के शरीर में भोंके भी जाते थे और उस पर दूर से फेंके भी जाते थे। कदाचित् इसी आधार पर **अस्त्र** और **शस्त्र** एक दूसरे के पर्याय हो गए थे। ये सब तो आक्रमण के उपकरण थे; परन्तु इनसे बचने के लिए कवच, ढाल आदि जो उपकरण बनने लगे थे उनका भी **अस्त्र-शस्त्र** में ही अन्तर्भाव माना जाता है जो तात्त्विक दृष्टि से ठीक नहीं है। हां, **'आयुध'** शब्द अवश्य ऐसा है जिसमें आक्रमण और प्रतिरक्षा दोनों के उपकरणों का समावेश होता है। **आयुध** का अर्थ ही है– युद्ध में काम आनेवाले उपकरण। आज-कल उन्नत युग में आक्रमण और प्रतिरक्षा दोनों के लिए काम में लाए जानेवाले सभी उपकरण (गोला, बारूद, तोप ढोनेवाली गाड़ियां, टैंक आदि) **आयुध** हैं। **अस्त्र** और **शस्त्र** दोनों के लिए हिन्दी का **'हथियार'** शब्द भी प्रचलित है।××

अस्मिता- *स्त्री०* (सं०)=अहंकार, दे० 'अहं, अहंकार, अहंता, अहंभाव और अहंमन्यता'।

40. अहं

Ego, Vanity

अहंकार

Egoism, Egotism

अहंता

Egoism

अहंभाव

Ego, Egoism,

अहंमन्यता

Egotism, Conceit

इस वर्ग के शब्द ऐसी मानसिक स्थितियों के वाचक हैं जिनमें मनुष्य या तो अपनी सत्ता औरों से अलग या पृथक् मानता है अथवा अपने आप में कुछ विशिष्ट गुणों, योग्यताओं आदि की प्रधानता समझता है; और इसके फलस्वरूप वह समाज में कोई विशिष्ट स्थिति प्राप्त करने का इच्छुक होता है।

'अहं' अपने विशुद्ध अर्थ में इस बात का सूचक है कि हम हैं; और हमारी सत्ता औरों से अलग या पृथक् है। हिन्दी का 'हम' (सर्व०) इसी **अहं** से बना है। प्रत्येक मनुष्य को इस बात की सहज और स्वाभाविक अनुभूति तथा ज्ञान होता है कि मैं हूं, दूसरों से पृथक् मेरी स्वतंत्र सत्ता है। अपने निर्विकार और शुद्ध रूप में यही अनुभूति या ज्ञान **अहं** कहलाता है। हमारे यहां के आध्यात्मिक और दार्शनिक क्षेत्रों में इस शब्द का अपने इसी मौलिक अर्थ में प्रयोग हुआ है। परन्तु आज-कल लौकिक क्षेत्र में इसका प्रयोग कुछ और विकसित तथा विस्तृत अर्थ में होने लगा है। कभी-कभी मनुष्य अपने किसी गुण या विशेषता पर आवश्यकता से कुछ अधिक ध्यान देता है और उसे अपने लिए गौरव या सम्मान की बात समझता है। अपने मन का यह तीव्र भाव वह सहसा औरों पर तो प्रकट नहीं होने देता परन्तु स्वयं उससे अपना पीछा भी नहीं छुड़ा सकता। इसीलिए हम कहते हैं– आज तुमने एक ऐसी बात कह दी, जिससे उसके **अहं** पर आघात (या धक्का) लगा है। आशय यही होता है कि तुम्हारी बातों से उसके मन पर कुछ चोट लगी है। ऐसे अवसरों पर मनुष्य के मन में अपने अपमान का ऐसा सूक्ष्म भाव उत्पन्न होता है जो वह शालीनता या सौजन्य के विचार से औरों पर जल्दी प्रकट नहीं होने देता; परन्तु मन में दुःखी अवश्य होता है।

'अहंकार' मूलतः हमारे यहां के दार्शनिक क्षेत्र का शब्द है; और वह अंतःकरण की चार वृत्तियों में से एक माना गया है। (शेष तीन वृत्तियां मन, चित्त और बुद्धि कहलाती हैं।) जब हमारे मन में यह भाव उत्पन्न होता है कि मैं तो औरों से अलग हूं ही परन्तु अमुक-अमुक वस्तुएं भी मेरी हैं अथवा मुझमें अमुक-अमुक गुण और विशेषताएं हैं तब हमारे मन की यही वृत्ति **अहंकार** कहलाती है। योग में मन की यह वृत्ति **'अस्मिता'** कहलाती है परन्तु आगे चलकर **'अहं'** की तरह इसका अर्थ भी कुछ और अधिक विस्तृत तथा विकसित हो गया है। जब मनुष्य अपने किसी गुण, बल, विशेषता आदि के कारण अपने आपको औरों से अधिक महत्वपूर्ण तथा दूसरों को अपनी तुलना में कुछ घटकर या हलका समझता है तब उसके मन की यह स्थिति **'अहंकार'** कहलाती है। इसमें मनुष्य का मन अपने आप पर अपेक्षया अधिक केन्द्रित होता है; और वह यह चाहता है कि दूसरे लोग भी मेरी विशेषताएं जानें और समझें और इनके लिए मेरा आदर सम्मान करें।मन की

यह वृत्ति बहुत अधिक बढ़ जाने पर मनुष्य दूसरों से अच्छी तरह बातें और व्यवहार नहीं करता तथा प्रायः औरों के प्रति अपने मन में तुच्छता या हीनता की भावना रखता है । मनोवैज्ञानिकों का मत है कि मनुष्यों में इस प्रकार की भावना मूलतः आत्मरक्षा के विचार से उत्पन्न हुई होगी ।

'अहंता' व्याकरण की दृष्टि से अहं का भाववाचक संज्ञा रूप है । इसीलिए ऊपर **अहं** के जो अर्थ बतलाए गए हैं यह उनकी भावात्मक संज्ञा है । लोक-व्यवहार में इसका प्रयोग **'अहंकार'** के ऊपर बतलाए हुए दूसरे अर्थ में भी होता है ।

'अहंभाव' भी मुख्यतः उन्हीं अर्थों में प्रयुक्त होता है जो **अहं** और **अहंकार** के परवर्ती, विकसित और विस्तृत अर्थ हैं । इस दृष्टि से **'अहंता'** और **'अहंभाव'** के अर्थों में कोई विशेष अन्तर नहीं ।

'अहंमन्यता' का शब्दार्थ है--अपने आपको ही मानना । इसका आशय यह है कि अपने आपको औरों से बड़ा अथवा बहुत बड़ा समझना । इसे हम **'अहंकार'** का बहुत-कुछ आगे बढ़ा हुआ रूप कह सकते हैं । जब किसी व्यक्ति में **अहंमन्यता** आ जाती है तब वह प्रायः अपने आपको बहुत बड़ा और दूसरों को बहुत तुच्छ या हेय समझने लगता है । लेकिन व्यवहार में यह **अहंकार** से कहीं अधिक प्रत्यक्ष और स्पष्ट होता है । इस भावना के फलस्वरूप मनुष्य यही चाहता है कि लोग मेरे गुणों आदि की अधिक से अधिक चर्चा तथा प्रशंसा करें और मेरा अधिक से अधिक सम्मान करें और दूसरों को मेरी तुलना में तुच्छ या हेय समझें ।

इस वर्ग के अन्यान्य शब्दों के लिए देखें-- (1) 'अभिमान' गर्व, घमंड और शेखी' । और (2) 'हमी और हमेव' ।

अहंकार- *पु०* (सं०) दे० 'अहं, अहंकार, अहंता, अहंभाव और अहंमन्यता' ।

अहंता- *स्त्री०* (सं०) दे० 'अहं, अहंकार, अहंता, अहंभाव और अहंमन्यता' ।

अहंभाव- *पु०* (सं०) दे० 'अहं, अहंकार, अहंता, अहंभाव और अहंमन्यता' ।

अहंमन्यता- *स्त्री०* (सं०) दे० 'अहं, अहंकार, अहंता, अहंभाव और अहंमन्यता' ।

41. अहदी, आलसी, आस्कती दीर्घसूत्री सुस्त

Indolent Lazy

इस वर्ग के शब्द ऐसे व्यक्तियों के वाचक हैं जो सहसा या तो कोई काम करना नहीं चाहते और या बहुत ही कठिनता से अथवा विवश होकर अपने काम में लगते हैं ।

'अहदी' अरबी भाषा का शब्द है जिसका मूल अर्थ है -- **आलसी** या **सुस्त** । परन्तु हिन्दी में यह शब्द एक ऐसे भाव का सूचक बन गया है जो आलस्य या सुस्ती की तुलना में बहुत आगे बढ़ा और प्रायः चरम सीमा तक पहुंचा हुआ है । अकबर के शासनकाल में

कुछ ऐसे विशिष्ट प्रकार के योद्धा और वीर होते थे जो केवल बहुत ही विकट अवसरों पर युद्ध-क्षेत्र में भेजे जाते थे। वे लोग अपना शेष समय बहुत ही सुखपूर्वक अपने घर रहकर बिताते थे। जान पड़ता है कि इसी आधार पर हिन्दी में यह शब्द ऐसे लोगों का वाचक बन गया है जो यथासाध्य नाम को भी कोई काम नहीं करना चाहते, और चुपचाप अपनी जगह पर आराम से बैठे रहना ही चाहते हैं। इसीलिए हिन्दी में अहदी का अर्थ हो गया है—बहुत बड़ा अकर्मण्य या बिल्कुल निकम्मा पर साथ ही बहुत बड़ा **आलसी** या **सुस्त**। इसी आधार पर अहदियों के सम्बन्ध में बहुत से किस्से भी गढ़ लिये गये हैं।* कुछ हिन्दी भाषी क्षेत्रों में इस अर्थ में इसका बिगड़ा हुआ रूप 'अलहदी' भी प्रचलित है।

'आलसी' हिं० आलस (सं० आलस्य) से बना हुआ विशेषण है। **आलसी** ऐसे व्यक्ति को कहते हैं जो काम करने से बहुत घबराता हो और चुपचाप आराम से पड़ा रहना चाहता हो। ऐसा व्यक्ति जहां तक हो सकता है अपने काम टालता चलता है और सोचता है कि अभी रहने दो, कल-परसों या फिर किसी दिन देखा जाएगा।

'आस्कती' संम्भवतः आसक्ति या अशक्य से सम्बद्ध जान पड़ता है। **आस्कती** व्यक्ति कार्य आरम्भ करने के समय तो अवश्य कुछ आलस्य दिखलाता है क्योंकि किसी न किसी कारण वह अपने आपको अशक्य या असमर्थ सा समझता है। फिर भी जब वह उठकर अपने काम में लगता है तब या तो जैसे-तैसे और या ठीक तरह से अपना काम करता रहता है। **आस्कती** को सबेरे सोकर उठने में तो अवश्य आस्कत मालूम होती है, पर जब वह उठ बैठता है तब अपने सब काम करने लगता है।**

---

*इनके सम्बन्ध में एक प्रसिद्ध किस्सा इस प्रकार है। एक बार कोई घुड़सवार अपने काम से कहीं चला जा रहा था। रास्ते में एक जगह उसने देखा कि सड़क के किनारे बेर के एक पेड़ के नीचे दो आदमी बहुत ही आराम और निश्चिंत भाव से लेटे हुए हैं। उनमें से एक ने घुड़सवार को आवाज देकर कहा—भैया, जरा यहां आना। घुड़सवार ने उसके पास पहुंचकर पूछा— कहो, क्या बात है ? उसने कहा—यह बेर मेरी छाती पर आ पड़ा है, इसे उठाकर मेरे मुंह में डाल दो। घुड़सवार ने कहा—तुम इतने अहदी हो कि अपनी छाती पर पड़ा हुआ बेर भी उठाकर अपने मुंह में नहीं डाल सकते, जो इसके लिए मुझे इतनी दूर से यहां बुलाया ? पास लेटे हुए दूसरे आदमी ने कहा— अजी कुछ न पूछिए, यह बहुत बड़ा अहदी है। कल रात को एक कुत्ता मेरा मुंह चाट रहा था, पर इससे उस कुत्ते को दुत्कारते न बना।

यह भी कहते हैं कि अकबर के समय में बहुत से ऐसे लोग काम-धन्धे से बचने के लिए अहदियों में अपना नाम लिखा लेते थे और राजकीय वृत्ति लेकर घर बैठे रहते थे। जब ऐसे लोगों की संख्या बहुत अधिक बढ़ गई तब वास्तविक अहदियों की परीक्षा लेने के लिए उन्हें एक बड़े घेरे में भेज दिया गया और तब उस घेरे में आग लगा दी। नकली और बने हुए अहदी तो आग लगते ही भाग निकले, पर दो-चार वास्तविक अहदी फिर भी वहीं पड़े रह गए।

** स्वर्गीय पं० रामचन्द्र शुक्ल अपनी अन्तिम अवस्था में कभी-कभी कहा करते थे कि पहले तो मैं केवल **आस्कती** ही था, पर अब देखता हूं कि मैं दिन-पर-दिन **आलसी** होता जा रहा हूं। उनकी इस बात पर एक बार मैंने हंसते हुए कहा था – अच्छा अब यहीं रुक जाइए, और आगे मत बढ़िए; नहीं तो आपको अहदियों में नाम लिखाना पड़ेगा। इस बातचीत से उक्त तीनों शब्दों के आशय या भाव का तारतम्य बहुत-कुछ स्पष्ट हो जाता है।

'दीर्घसूत्री' सं० का पुराना शब्द है । यह ऐसे व्यक्ति का वाचक है जो काम तो करता हो, परन्तु बहुत ही धीरे-धीरे करता हो, और हर काम में आवश्यकता से बहुत अधिक समय लगाता हो । ऐसा व्यक्ति स्वभावतः प्रायः यह सोचता रहता है कि अभी यह काम करूं तो कैसे करूं । इस प्रकार का सोच-विचार बराबर उसके कार्यों में बाधक होता रहता है । ऐसा व्यक्ति बहुत ही आवश्यक काम भी प्रायः ठीक समय पर पूरा नहीं कर पाता और बहुत से कामों या बातों में प्रायः पिछड़ा हुआ रहता है । ऐसे व्यक्ति की बुद्धि ही प्रायः कुछ मन्द होती है ।

'सुस्त' फारसी का एक प्रसिद्ध विशेषण है जो हिन्दी में कई अर्थों में बहुत प्रचलित है । फारसी में भी इसके कई मूल अर्थ हैं, यथा– (क) कमजोर या दुर्बल; (ख) धीमा या मन्द; (ग) शिथिल या स्फूर्तिहीन; (घ) उदास या खिन्न आदि आदि । हिन्दी में यह शब्द प्रायः उक्त सभी अर्थों में प्रचलित है । परन्तु प्रसंग में यह **आलसी, आस्कती** और **दीर्घसूत्री** तीनों के पर्याय के रूप में चलता है । परन्तु इसमें मुख्य भाव कर्मठता या क्रियाशीलता की कमी और गति की मन्दता है । **सुस्त** आदमी कुछ तो मानसिक दृष्टि से और कुछ शारीरिक दृष्टि से असमर्थ या दुर्बल होता है । वह **आस्कती** तो होता ही है, पर उसके लिए आलसी होना उतना आवश्यक नहीं है । हां, उसमें दीर्घसूत्रता की थोड़ी–बहुत प्रवृत्ति सदा बनी रहती है, और हर काम में निरन्तर प्रकट होती रहती है ।××

आँकड़ा, आँकड़े- *पु०* (सं०)– दे० 'अंक, आंकड़े और संख्या' ।

आंतिक- *वि०* (सं०) दे० 'अन्तिम, आंतिक, आवसानिक और समापक या सामाप्तिक' ।

आईन- *पु०* (अ०) दे० 'विधि और संविधि' ।

आकलन- *पु०* (सं०) दे० 'गणन, अनुगणन, अभिकलन, आकलन, परिकलन, परिगणन और संख्यापन' ।

आकांक्षा-*स्त्री०* (सं०) दे० 'इच्छा, कामना, अभिलाषा, आकांक्षा और स्पृहा' ।

आकाश- *पु०* (सं०) दे० 'अंतरिक्ष, आकाश, व्योम और महाव्योम' ।

आक्रमण- *पु०* (सं०) दे० 'अभियान, आक्रमण, धावा, लाम और लामबन्दी' ।

42. आक्षेप Aspersion · अभिक्षेप Reflection · छींटा · फटकार · बौछार · भर्त्सना Stricture

इस वर्ग के शब्द ऐसे स्थानों या वक्तव्यों के वाचक हैं जिनमें किसी के अनुचित, अनुपयुक्त या दूषित कार्य अथवा व्यवहार की कुछ कटु आलोचना की गई हो और उस पर ठीक मार्ग से च्युत होने का आरोप किया गया हो ।

'आक्षेप' *पु०* (सं०) के आरम्भिक अर्थ हैं - ऊपर से गिरना, किसी पर कुछ गिराना, कोई चीज दूर हटाना या फेंकना आदि। परन्तु प्रस्तुत प्रसंग में यह किसी की कही हुई ऐसी बात का वाचक होता है जो किसी दूसरे के आचरण, कार्य या व्यवहार को अनुचित और निंदनीय ठहराने के लिए और उसे दोषी या भ्रांत सिद्ध करने के लिए कही जाती है। ऐसी बात कुछ कठोर तो होती ही है; कुछ अवस्थाओं में ऐसी बात व्यंग्यात्मक भी होती है। इसका मुख्य उद्देश्य उस आदमी को लज्जित करना तो होता ही है कुछ सोचने-समझने पर विवश करना भी होता है, जैसे (क) उनके भाषण (या लेख) में हिन्दी वालों पर कई प्रकार के **आक्षेप** भी थे। (ख) उनकी बातों में प्रायः अपने संगी-साथियों पर कुछ न कुछ **आक्षेप** रहता ही है। इसके स्थान पर हिन्दी के **'बौछार'** शब्द का भी प्रयोग हो सकता है।

'अभिक्षेप' *पु०* (सं०) मेरी समझ में अंग्रेजी के Reflection के लिए अधिक उपयुक्त होगा। एक दो कोशों में मुझे इसके लिए 'अधिक्षेप' शब्द मिला है, परन्तु एक विशिष्ट कारण से मुझे यह कुछ ठीक नहीं जान पड़ता। संस्कृत में 'अधि' का एक अर्थ ऊंचाई पर से या ऊपर से भी होता है परन्तु Reflection का जो आशय या भाव प्रस्तुत प्रसंग में बतलाया गया है; उसमें ऊंचाई या ऊपरवाला कोई तत्त्व नहीं है। हां, उसमें अप्रत्यक्ष रूप से या कहीं से परिवर्तित होकर आने का तत्व प्रधान है। 'अभि' का एक अर्थ किसी की ओर, किसी के प्रति अथवा किसी के उद्देश्य से भी होता है।* अतः 'अधिक्षेप' की तुलना में **'अभिक्षेप'** ही बहुत कुछ ठीक बैठता है। **अभिक्षेप** भी है तो एक प्रकार का **आक्षेप** ही; परन्तु एक तो वह अपेक्षया कुछ हल्का होता है और दूसरे उतना प्रत्यक्ष और स्पष्ट नहीं होता जितना **आक्षेप** होता है। इसमें या तो दोषारोपण आदि की कुछ हल्की छाया या रंगत होती है और या कुछ ध्वनि सी निकलती है। इसके स्थान पर हम हिन्दी के **'छींटा'** शब्द का भी प्रयोग कर सकते हैं।**

'भर्त्सना' *स्त्री०* (सं०) के यों तो अर्थ हैं- डराना, धमकाना, बुरा-भला कहना, शाप देना आदि। परन्तु प्रस्तुत प्रसंग में यह उक्त सभी अर्थों के मिले-जुले भावों का सम्मिश्रण है। **भर्त्सना** मूलतः किसी के अनुचित कामों की कटु और निंदात्मक आलोचना है इसमें कभी तो दुर्भाव या द्वेषवश उसको दोषों के लिए बुरा भला कहा जाता है; और कभी आधिकारिक रूप से अपने किसी अधीनस्थ कर्मचारी के प्रति अपना विशेष असंतोष प्रगट किया जाता है। इसके अतिरिक्त विधिक क्षेत्रों में न्यायाधीश भी कुछ अवसरों पर किसी

---

* अंग्रेजी के Address का भाव सूचित करने के लिए 'भाषण' में अभि उपसर्ग लगाकर जो नया शब्द 'अभिभाषण' बनाया गया है उसमें भी हेतु यही है कि अभिभाषण सदा किसी के प्रति अथवा किसी वर्ग या समाज को संबोधित करके किया जाता है। विशेष दे० 'प्रवचन, भाषण, वक्तृता और व्याख्यान'।

बौछार और **छींटा में भी बहुत कुछ इसी प्रकार का अंतर है। **बौछार** तो सदा प्रत्यक्ष या सीधी आकर पड़ती है; परन्तु 'छींटा' प्रत्यक्ष या सीधा तो आकर पड़ता ही है कुछ अवस्थाओं में वह पहले कहीं गिर कर तब वहां से परिवर्तित होकर भी आता और पड़ता है; जैसे कीचड़ से भरी हुई सड़क पर जाती हुई गाड़ी के पहियों से छींटा उछल या उड़कर आस-पास के राह चलतों पर भी पड़ता है।

अधूरी या दोषपूर्ण कार्रवाइयों या बातों के संबंध में किसी पक्ष या उसके समर्थक की **भर्त्सना** करता है, जैसे (क) सभापति ने ऐसे लोगों की यथेष्ट **भर्त्सना** की जो साहित्य में अश्लील और गन्दी बातों का प्रचार करते हैं । और (ख) न्यायाधीश ने पुलिस के कर्मचारियों की इसलिए **भर्त्सना** की कि उन्होंने मुकदमे की जांच का काम ठीक तरह से पूरा नहीं किया अथवा अपने कर्तव्य का पालन करने में त्रुटि की । हिन्दी में कुछ अवसरों पर इसके स्थान पर **फटकार** (हिं० फटकारना से) का भी प्रयोग होता है । अन्तर यही है कि **फटकार** कुछ तुच्छता का बोधक शब्द है और इसमें उद्दण्डता या गंवारपन की भी बहुत कुछ गन्ध है, परन्तु **भर्त्सना** विशिष्ट रूप से शिष्टता भाव से युक्त है ।××

आखिरी- वि० (फा०) दे० 'अंतिम, आंतिक, आवसानिक और समापक' ।

आग्रह- पु० (सं०) दे० 'अनुरोध, आग्रह और प्राग्रह' ।

43. आचरण — आचार — व्यवहार

Conduct — Good-conduct — Behaviour

इस वर्ग के शब्द मनुष्य के ऐसे कार्यों के वाचक हैं जो वह नित्यप्रति अपने जीवन निर्वाह के लिए करता है, परन्तु जिनका सम्बन्ध आस-पास के लोगों से भी होता है । प्रायः ऐसे ही कार्यों के प्रकारों और रूपों के आधार पर समाज में व्यक्तियों के चरित्र, योग्यता आदि का मूल्यांकन होता है ।

'आचरण' *पु०* (सं०) का प्रारम्भिक अर्थ है - चलकर कहीं पहुंचना; और दूसरा अर्थ होता है - कोई कार्य आरम्भ करके आगे बढ़ाना या पूरा करना । परन्तु प्रस्तुत प्रसंग में और अपने परम प्रचलित अर्थ में यह उन सभी कार्यों का वाचक है, जो मनुष्य अपने दैनिक जीवन में प्रायः करता रहता है । इस प्रकार के कार्य सामाजिक दृष्टि से अच्छे भी हो सकते हैं और बुरे भी । इसी आधार पर कहा जाता है - (क) इस विद्यालय के सभी विद्यार्थी अपने अच्छे **आचरण** के लिए प्रसिद्ध हैं; और (ख) छोटे आदमियों की संगत में पड़कर तुम्हारा छोटा भाई भी भ्रष्ट आचरण करने लगा है । इस संबंध में ध्यान रखने की मुख्य बात यह है कि यह सदा व्यक्ति परक होता है , जैसे: उनका धर्माचरण (या सत्याचरण) समाज में आदर्श माना जाता था । इसके स्थान पर इसका हिन्दी पर्याय **'चाल-चलन'** भी बहुत प्रसिद्ध है ।

'आचार' *पु०* (सं०) लोगों के उस उत्तम **आचरण** का वाचक है, जो धार्मिक, नैतिक, सामाजिक आदि दृष्टियों से सबके लिए अनुकरणीय और ग्राह्य माना जाता है और जिसका विधान जन-साधारण या समाज के कल्याण के लिए किया जाता है । यह सदा शोभन और सबके लिए हितकर होता है । इसका स्वरूप नियमों, रूढ़ियों, सिद्धांतों आदि के आधार पर स्थिर होता है । यह बात दूसरी है कि भिन्न-भिन्न कार्यों, जातियों, देशों में इसका मानक स्वरूप अलग-अलग प्रकार का हो; पर सबके मूल में सदा लोक-कल्याण का उद्देश्य ही निहित रहता है । लोकाचार, शिष्टाचार, सदाचार आदि पद

इसी भाव के सूचक हैं। कुछ अवस्थाओं में इसके पहले दूषित अर्थों वाले उपसर्ग भी लगा लिए जाते हैं जैसे हमें लड़कों के साथ आदरपूर्ण तथा छोटों और बराबरीवालों के साथ सदा प्रेमपूर्ण **व्यवहार** करना चाहिए। तात्त्विक दृष्टि से देखने पर पता चलता है कि यह कुछ अवस्थाओं में प्रकृतिजन्य भी हो सकता है; परन्तु अधिकतर अवस्थाओं में प्रायः जान-बूझकर, सोच-समझकर ही किया जाता है और इसीलिए प्रायः किसी उद्देश्य से किया जाता है। यह प्रायः कर्ता के चरित्र, योग्यता, शील आदि का भी परिचायक होता है। शिक्षण, प्रशिक्षण, संगति आदि के फलस्वरूप यह उत्कृष्ट भी हो सकता है और निकृष्ट भी। एक ही व्यक्ति का **व्यवहार** कुछ लोगों के साथ अच्छा भी हो सकता है और कुछ लोगों के साथ बुरा भी; अथवा सब लोगों के साथ अच्छा भी हो सकता है और बुरा भी। प्रकृति के अतिरिक्त यह व्यक्तिगत परिस्थितियों, रुचियों आदि पर भी आश्रित होता है; जैसे पहले तो हमारे साथ उनका **व्यवहार** बहुत अच्छा होता था, परन्तु आज-कल न जाने क्यों उसमें बहुत कुछ अन्तर आ गया है। इसके स्थान पर लोग प्रायः हिन्दी के **'बरताव'** का भी प्रयोग करते हैं। इसके एक और प्रचलित अर्थ के विवेचन के लिए दे० 'उपयोग, प्रयोग और व्यवहार'।

'व्यवहार' *पु०* (सं०) का प्रारम्भिक अर्थ है – किसी निश्चय या विचार को कार्य रूप में परिणत करना। इसीलिए यह काम या कार्य का भी वाचक हो गया था। फिर आगे चलकर इसमें और कई विवक्षाएं भी आ लगीं। प्राचीन काल में रुपयों का लेन-देन या महाजनी कारबार भी **व्यवहार** कहलाता था। जो अब भी कुछ स्थानों में इसी अर्थ में प्रायः इसी रूप में अथवा थोड़े बहुत परिवर्तित रूप में प्रचलित है। प्राचीनकाल में उक्त प्रकार के **व्यवहार** या लेन-देन के सम्बन्ध में न्यायालयों में जो वाद-विवाद उपस्थित होते थे और उनके सम्बन्ध में जो कार्यवाहियां होती थीं उन्हें भी **व्यवहार** ही कहते थे। परन्तु प्रस्तुत प्रसंग में इसका अर्थ होता है – मनुष्य के वे सभी काम जो औरों के लिए प्रभावी होते हों अथवा जिनका सम्बन्ध औरों के साथ होता हो। लोक में हमें बहुत से काम तो करने ही पड़ते हैं; परन्तु समाज में रहने के कारण दूसरों के साथ जो **आचरण** या बर्ताव करने पड़ते हैं उनकी गिनती **व्यवहार** में होती है।××

आचार-*पु०* (सं) दे० 'आचरण, आचार और व्यवहार'।

आचारशास्त्र- *पु०* (सं०) दे० 'नीतिशास्त्र'।

आचार-संहिता- *स्त्री०* (सं०) दे० 'आचरण-संहिता'।

44. आज्ञा, आदेश. निदेश निर्देश

Order, Command Direction Instruction

इस वर्ग के शब्द मुख्यतः ऐसी बातों के सूचक हैं जो आधिकारिक रूप से अपने अधीनस्थों को कोई काम करने या न करने अथवा कोई काम करने के ढंग या प्रकार बतलाने के लिए कही जाती हैं और अधीनस्थों के लिए जिनका पालन अनिवार्य तथा आवश्यक होता है।

'आज्ञा' *स्त्री०* (सं०) का मौलिक अर्थ है- किसी को किसी बात की जानकारी या परिचय कराना। परन्तु अपने विकसित और प्रचलित अर्थ में यह मुख्यतः अधिकारी, गुरु अथवा मान्य व्यक्ति की कही हुई ऐसी बात का वाचक है जिसे पूरा करना सुननेवाले का परम कर्तव्य होता है, जैसे:गुरु, पिता या शासन की आज्ञा। परन्तु कुछ अवसरों पर यह बड़ों के प्रति सम्मान सूचित करने के लिए और अपनी शिष्टता तथा सौजन्य दिखलाने के लिए भी प्रयुक्त होता है;जैसे कोई बड़ा और मान्य व्यक्ति कहे- 'आगे से इसका ध्यान रखना या संभल कर रहना' तो उत्तर में कहा जाता है- जो आज्ञा। कुछ और आगे बढ़ने पर यह 'अनुमति' का भी वाचक हो जाता है, जैसे:यदि आपकी आज्ञा हो तो मैं भी इनके साथ चला जाऊं। आधिकारिक रूप से दी हुई आज्ञा मौखिक भी हो सकती है और लिखित भी; परन्तु सामाजिक क्षेत्रों में 'आज्ञा' का प्रयोग प्रायः मौखिक बातों के सम्बन्ध में ही होता है।

'आदेश' *पु०* (सं०) का मुख्य अर्थ है- कोई उद्देश्य सिद्ध करने या कार्य में प्रवृत्त होने के लिए कही जाने वाली बात। परन्तु अपने विकसित अर्थ में यह आज्ञा वाले अर्थ में कुछ और आगे बढ़ा हुआ होता है। यों बोलचाल में भले ही लोग एक की जगह दूसरे का प्रयोग कर जाते हैं, परन्तु 'आदेश' अधिकतर आधिकारिक और औपचारिक ही होता है। दूसरे यह कि **'आदेश'** का पालन आवश्यक ही नहीं, अनिवार्य और अपरिहार्य भी होता है। इस दृष्टि से यह आज्ञा की तुलना में बहुत अधिक जोरदार होता है।* हिन्दी में आज्ञा और **आदेश** दोनों के लिए अ० **'हुक्म'** का भी प्रयोग होता है।

'निदेश' *पु०* (सं०) मूलतः है तो आज्ञा और **आदेश** का समार्थक ही; परन्तु अपने विकसित और प्रचलित अर्थ में यह किसी बड़े अधिकारी की कही या बतलायी हुई ऐसी बात का वाचक है जिसमें कोई काम करने का ढंग या प्रकार बतलाया गया हो। जब अधीनस्थ कार्यकर्ताओं से कहा जाता है कि अमुक काम या बात अमुक प्रकार से अथवा अमुक रूप में होनी चाहिए, तब ऐसा कथन ही **'निदेश'** कहलाता है। **निदेश** का पालन होना तो आवश्यक ही है; पर इसमें उतना जोर नहीं है, जितना आज्ञा या **आदेश** में है। इसके सिवा इसका प्रयोग मुख्यतः कार्यालयों और उनके कार्य संचालन तथा व्यवस्था के क्षेत्र में भी होता है।

'निर्देश' *पु०* (सं०) का मुख्य अर्थ है- कोई बात अच्छी तरह और स्पष्ट रूप से बतलाना या समझाना, परन्तु प्रस्तुत प्रसंग में यह भी बहुत कुछ वही है जो **'निदेश'** है। अन्तर इतना ही है कि **निर्देश** उतना अधिक आधिकारिक और जोरदार नहीं होता जितना **निदेश** होता है। **निर्देश** अपने बराबर वालों या कुछ बड़ों के सम्बन्ध में भी हो सकता है। यह प्रायः परामर्श के रूप में और किसी काम या बात के सम्बन्ध में संकेत करने के लिए भी प्रयुक्त होता है। जैसे:प्रधान अधिकारी ने अपने चपरासी को **निर्देश** दे

---

* आदेश के योग से बनने वाले कुछ और शब्दों के लिए दे०- 'अध्यादेश, परादेश और 'समादेश' की माला।

रखा था कि मेरी आज्ञा के बिना किसी को मेरे कमरे में मत आने दिया करो।××

आतंक- *पु०* (सं०) 'भय, आडंबर' - *पु०* (सं०) दे० 'पाखंड, आडंबर, ढकोसला और ढोंग, डर, भीषिका, आतंक और कातरता'।

आत्म-निवेदन-*पु०* (सं०) दे० 'विनति, प्रार्थना, याचना, निवेदन, आवेदन, अभिवेदन और प्रतिवेदन'।

45. आदर्श, प्रतिमान अनुकृति प्रतिरूप मानक मानदंड

आदर्श,	**प्रतिमान**	**अनुकृति**
Ideal	Model	
प्रतिरूप	**मानक**	**मानदंड**
Model	Standard	Measure

उक्त संज्ञाएं ऐसी स्थितियों की वाचक हैं जिनके अनुरूप आचरण करना या जिन तक पहुंचने का प्रयत्न करना आवश्यक, उपयोगी या लाभदायक माना जाता है।

'आदर्श' का व्युत्पत्तिक अर्थ-आंखों से देखना, अथवा अच्छी तरह देखना। इसका दूसरा अर्थ है- वह पदार्थ जिसमें अपना रूप देखा जाए। इसीलिए यह दर्पण या शीशे के अर्थ में प्रचलित है। परन्तु आज-कल यह शब्द उस परम अनुकरणीय अथवा श्रेष्ठतम स्थिति का वाचक है जिस तक पहुंचना श्रेयस्कर कर्तव्य माना जाता है। ऐसी स्थिति बहुधा कल्पित और भविष्यत् काल से सम्बद्ध ही होती है, उसकी प्रत्यक्ष या वास्तविक सत्ता का प्रायः अभाव ही होता है। हम किसी बात या वस्तु की पूर्णता का जो रूप अपने मन में सोच-समझ लेते हैं, वही हमारा **आदर्श** कहलाता है, और उसी की सिद्धि के लिए हम प्रयत्न करते हैं। ऐतिहासिक, पौराणिक आदि दृष्टियों से कभी-कभी वह मूर्त या वास्तविक भी हो सकता है, फिर भी वह रहता है प्रायः हमारी पहुंच के बाहर ही। यह मुख्य रूप से पूर्णता की वह स्थिति ही है जिसका कल्पित चित्र हम अपने मानस-पट पर अंकित कर लेते हैं। इसीलिए हम कहते हैं- महात्मा गांधी ने भारत के लिए रामराज्य को **आदर्श** माना था। परन्तु कुछ अवस्थाओं में हम किसी प्रस्तुत अथवा वर्तमान गुण, तथ्य या विशेषता को अनुकरणीय और श्रेष्ठतम मानकर काम चलाने के लिए उसे भी **आदर्श** कह लेते हैं, परन्तु वह होना चाहिए जनसाधारण की पहुंच के बाहर ही। जैसे आज भी बहुत से भारतवासी तथा विदेशी लोग महात्मा गांधी के चरित्र और जीवन को अपना **आदर्श** मानते हैं। हिन्दी में इसके स्थान पर नमूना (फा० नमून:) का भी प्रयोग होता है।

'प्रतिमान' का मुख्य अर्थ है - किसी के जोड़ की या बराबरी करनेवाली चीज या बात। परन्तु आज-कल हिन्दी में अंग्रेजी के मॉडल (Model) के अनुकरण पर इसमें दो नए अर्थ लग गए हैं। पहले नए अर्थ में अब यह ऐसी अच्छी, पूर्ण अथवा सुन्दर वस्तु का वाचक होता है जिसके अनुकरण पर हम वैसी ही दूसरी चीज या चीजें बनाते हैं। चित्रकला, मूर्तिकला आदि में चीजों के सिवा व्यक्तियों का भी इसमें अंतर्भाव होता है।

इसमें मुख्य भाव यही है कि पहले कोई चीज नमूने के तौर पर अपने सामने रख ली जाए और तब उसके अनुरूप दूसरी कोई चीज या बहुत सी चीजें बनाई जाएं, जैसे (क) उन्होंने पहले कई प्रकार के अच्छे विदेशी खिलौने चुनकर अपने पास **प्रतिमान** के रूप में रख लिए, और तब उन्हीं के अनुरूप खिलौने बनाने के लिए एक कारखाना खोल दिया; और (ख) अनेक चित्रकार और मूर्तिकार पहले किसी बलिष्ठ या सुन्दर व्यक्ति को अपने सामने **प्रतिमान** के रूप में रखकर उसका चित्र या मूर्ति बनाते हैं। अपने इस अर्थ में यह ऐसी चीज या व्यक्ति का वाचक होता है जो पहले से हमारे सामने वर्तमान हो और जिसका अनुकरण हम अपनी कृति में करते हों। हमारी समझ में इस अर्थ में **'अनुकृति'** का प्रयोग अधिक उत्तम होगा। इसका अर्थ होता है- किसी कृति के अनुकरण पर वैसी ही और चीजें बनाना; जैसे- (क) ताजमहल की संगमरमर की अनुकृतियां आगरे में बहुत बिकती हैं। (ख) अमुक नए बने हुए कारखाने (अथवा भाखरा बांध) की चांदी की **अनुकृति** राष्ट्रपति को भेंट की गई। ऐसा करने से नीचे लिखे दूसरे अर्थ से इसका अंतर स्पष्ट हो जाएगा और पाठकों को दूसरे अर्थ का भ्रम न हो सकेगा।

दूसरे अर्थ में भी मुख्यता तो उक्त बातों की ही होती है, परन्तु एक विशिष्ट अन्तर यह होता है कि इसमें हमारा **प्रतिमान** पहले से उपस्थित या वर्तमान नहीं होता; बल्कि हमें स्वयं अपनी कल्पना अथवा कौशल से उसका रूप प्रस्तुत करना पड़ता है। कारीगरों को जब कोई मकान या मूर्ति बनानी होती है, तब वे पहले अपनी कल्पना से उसका एक छोटा सा **प्रतिमान** प्रस्तुत करके अपने सामने रख लेते हैं, और तब उसके आकार-प्रकार, गुण-दोष, रंग-रूप आदि का अच्छी तरह विवेचन करते हैं, और यदि आवश्यकता हो तो उसमें कुछ परिवर्तन या सुधार भी कर लेते हैं। जब उनकी दृष्टि में वह बदला या सुधरा हुआ रूप बिल्कुल ठीक और निर्दोष ठहरता है तब वे उसी के अनुरूप पूरा मकान या बड़ी मूर्ति बनाते हैं। प्रत्येक दशा में **प्रतिमान** वह वस्तु है जिसकी **अनुकृति** प्रस्तुत की जाती है, फिर चाहे वह पहले से वर्तमान हो अथवा अपनी कल्पना से नई बनाई जाए।

इसी प्रकार **'प्रतिरूप'** भी हमारे यहां का पुराना शब्द है जिसका विशेषण रूप में अर्थ होता है- जाली या नकली; और संज्ञा रूप में अर्थ होता है- प्रतिमा या मूर्ति। परन्तु आज-कल यह भी अंग्रेजी के मॉडल (model) वाले उन अर्थों में ही प्रयुक्त होने लगा है जिनका विवेचन ऊपर **'प्रतिमान'** के अन्तर्गत हुआ है। हिन्दी में **आदर्श, प्रतिमान** और **प्रतिरूप** तीनों के स्थान पर फारसी का 'नमूना' शब्द भी प्रचलित है।

संस्कृत में 'मान' के अनेक अर्थ हैं; जैसेः नाप, तौल, लंबाई, चौड़ाई, आकृति की समानता आदि। प्रस्तुत प्रसंग में 'मान' शब्द इन बातों का सामूहिक वाचक माना गया है और इसी अर्थ के विचार से उसमें 'क' प्रत्यय जोड़कर **'मानक'** शब्द बनाया गया है। *

सन् 45-46 में मैंने 'अच्छी हिन्दी' के किसी आरंभिक संस्करण में अंग्रेजी 'स्टैन्डर्ड' के लिए 'मानक' शब्द सुझाया था। उस समय कुछ लोगों ने इस पर कड़ी टिप्पणी भी की थी। पर अब यह शब्द अच्छी तरह चल गया है, और भारत सरकार ने इसे मान लिया है।

आशय की दृष्टि से **मानक** भी बहुत कुछ वही कहा जा सकता है जो **'आदर्श'** है। **आदर्श** तक पहुंचना तो यदि असम्भव नहीं तो बहुत कुछ कठिन अवश्य होता है। परन्तु **मानक** की स्थापना इसी उद्देश्य से होती है कि लोग अपने व्यावसायिक उत्पादनों में भी उसे अपना लक्ष्य बनाकर उस तक पहुंचे ही। इसके सिवा **मानक** प्रायः नियम, परिपाटी, विधान आदि पर आश्रित होता है , और उस तक पहुंचना कठिन तो हो सकता है परन्तु असम्भव नहीं। वह प्रामाणिकता का ऐसा प्रतीक होता है जिसका पालन लोगों के लिए आवश्यक कर्तव्य माना जाता है। किसी वस्तु का नाप-तौल, रूप-रंग, आकार-प्रकार अथवा किसी बात के गुण, महत्व, विशेषता आदि जांचने और स्थिर रखने के लिए प्रायः आधिकारिक रूप से जो **प्रतिमान** सब जगह अनुकरणीय माना है, वही **मानक** कहलाता है। इसी **मानक** के विचार से चीजों या बातों के बढ़िया-घटिया और अच्छे-बुरे होने का अनुमान तथा निर्णय किया जाता है। औषधों, दैनिक व्यवहार की वस्तुओं, रासायनिक उत्पादनों (जैसे-तेल, मद्य आदि) का भी आधिकारिक रूप से **मानक** स्थिर कर लिया जाता है और उद्योग-धन्धों में लगे हुए कल-कारखानों और लोगों से यह आशा की जाती है कि वे अपनी चीजें इसी **मानक** के अनुरूप तैयार करें–उनमें किसी प्रकार का घाल-मेल या मिलावट न करें। इसी तरह प्रायः लोग कुछ और क्षेत्रों में भी अपनी दृष्टि से कोई **मानक** स्थिर कर लेते हैं और कहते हैं- (क) आज-कल अमुक पत्र या पत्रिका अपने **मानक** से गिर गई है, अथवा (ख) वे अपनी साहित्यिक रचनाओं का **मानक** दिन पर दिन ऊंचा करते चलते हैं। आशय यही होता है कि साधारणतः जो अच्छी स्थिति होनी चाहिए या रहती है, उससे (1) पत्रिका नीचे गिरती जा रही है, या (2) रचनाएं ऊपर उठती जा रही हैं। किसी चीज को **मानक** रूप देने का काम मानकीकरण कहलाता है।

मानदंड (पुं० सं०) मूलतः लकड़ी, लोहे आदि की वह लम्बी छड़ी है जिससे किसी चीज की ऊंचाई, चौड़ाई या लम्बाई नापी जाती है। इसी को मापदंड भी कहते हैं, इसके लिए हमारे यहां बहुत अधिक प्रचलित फा० का गज (yard stick) है। कपड़े, जमीन आदि की लम्बाई-चौड़ाई इसी से नापी जाती है। इसके सिवा तरल पदार्थ (जैसे:तेल, दूध, पानी आदि) विशिष्ट आकार और प्रकार के पात्रों या बर्तनों से नापे जाते हैं जिन्हें हम मान-पात्र कह सकते हैं और जिनके लिए उत्तर प्रदेश, बिहार आदि में 'नपना' शब्द प्रसिद्ध है जिसका अर्थ है- नापने का पात्र। अनाज, फल आदि पदार्थों का मान जिनसे स्थिर होता है, उन्हें हम मान-बट कह सकते हैं, जिनके लिए हमारे यहां बटखरा और बाट शब्द ही अधिक प्रचलित और प्रसिद्ध हैं। परन्तु यह तो हुई स्थूल पदार्थों के क्षेत्र की बात। इसके सिवा मान-दंड या माप-दंड का प्रयोग लाक्षणिक रूप में भी होता है। यद्यपि **मानक** के साथ मान-दंड या माप-दंड का कोई नित्य संबंध नहीं है फिर भी यह उनके आंशिक रूपों का सूचक अवश्य है। हम कहते हैं- आप हमें अपने **मानदंड** (मापदंड या गज) से नापने का प्रयत्न न करें। आशय यही होता है कि व्यावहारिक क्षेत्र में आप हमें उस तरह का आदमी न समझें, जिस तरह के स्वयं आप हैं। ××

46. आदर्शवाद यथार्थवाद
Idealism Realism

भारतीय साहित्य में ये दोनों विचारधाराएं पाश्चात्य साहित्य के संपर्क से आई हैं। साधारतः लोग इन्हें परस्पर-विरोधी समझते हैं, परन्तु वास्तव में ये दोनों परस्पर पूरक होती हैं और इनमें अन्योन्याश्रय सम्बन्ध होता है। कारण यह कि सभी जातियों और सभी देशों में साहित्य की रचना समाज की यथार्थ और वास्तविक स्थिति पर ही आश्रित होती है, परन्तु उसका उद्देश्य समाज को उन्नत करना होता है। इसीलिए उसमें एक ओर तो यथार्थ का आधार या भूमिका होती है, और दूसरी ओर उसके ऊपर आदर्श का भव्य भवन निर्मित होता है। परन्तु न जाने क्यों पाश्चात्य साहित्यकारों ने इन्हें दो भिन्न भागों में विभक्त करके एक को दूसरे से पृथक् कर रखा है।

लौकिक और व्यावहारिक दृष्टि से **आदर्शवाद** वह मत या सिद्धांत है जिसमें यह माना जाता है कि मनुष्य को अपनी दृष्टि के सामने सदा अच्छी से अच्छी बातें या आदर्श ही रखने चाहिए और उनकी प्राप्ति तथा सिद्धि के लिए निरन्तर प्रयत्नशील रहना चाहिए। दार्शनिक दृष्टि से इसका मुख्य उद्देश्य चिरंतन सत्य तक पहुंचकर आंतरिक या आत्मिक सुख प्राप्त करना होता है। परन्तु कला और साहित्य के क्षेत्र में यह उस विशिष्ट प्रणाली का सूचक हो गया है जिसमें किसी कृति में अपने कल्पित आदर्श की अभिव्यक्ति और स्थापना करने का प्रयत्न किया जाता है, और उसे यथासाध्य आदर्श रूप देने अथवा आदर्श की ओर प्रवृत्त करने का कौशल प्रधान होता है। इसमें यथार्थ के लौकिक स्तर से ऊपर उठकर अधिक कल्याणकारी और सुन्दर धारणा अथवा विचारणा का प्रतिपादन होता है।

'**यर्थाथवाद**'का मूल यूनानी दार्शनिक अफलातून (प्लैटो) के इस मत या सिद्धांत में माना जाता है कि हमें जिस अमूर्त या मूर्त बात या वस्तु का बोध होता है, वह यथार्थ में स्वतन्त्र सत्तावाली इकाई होती है। कुछ फ्रांसीसी लेखकों ने इसी आधार पर यह मत प्रतिपादित किया था कि साहित्य में समाज के प्रस्तुत यथार्थ या वास्तविक घटनाओं और स्थितियों का ही उल्लेख और विवेचन होना चाहिए, कल्पित भावनाओं और विचारों से लेखकों को बचना चाहिए। साहित्य से आगे बढ़कर यह मत कला के क्षेत्र में भी चल पड़ा था। आज-कल हमारे साहित्य में इस मत के समर्थक कहते हैं कि प्रत्येक घटना या बात अपने यथार्थ रूप में चित्रित की जानी चाहिए। इसमें आदर्शों का ध्यान छोड़कर उसी रूप में कोई चीज या बात लोगों के सामने रखी जाती है, जिस रूप में वह नित्य या प्रायः लोगों के सामने आती रहती है। इसमें कर्ता न तो अपनी ओर से टीका-टिप्पणी करता है, न अपना दृष्टिकोण बदलता है और निष्कर्ष निकालने का काम दर्शकों या पाठकों पर छोड़ देता है। परन्तु इस पक्ष का एक दूसरा आपत्तिजनक अंग या पार्श्व भी है। अनेक अवसरों पर यथार्थ बहुत कुछ गर्हित, जघन्य या वीभत्स भी होता है, और कुछ लेखक **यथार्थवाद** के नाम पर अपनी कृतियों में उसी दूषित और हीन रूप का चित्रण करने लगते हैं जिससे समाज में अश्लीलता और कुरुचि का प्रसार होने लगता है। **यथार्थवाद**

के इसी दूषित और विकसित रूप को कुछ लोग प्रकृतिवाद भी कहने लगे हैं। दे० 'प्रकृतिवाद और प्राकृतवाद'। समाज के विशुद्ध सुधार की दृष्टि से यथार्थ का चित्रण ऐसा होना चाहिए जो लोगों को त्रुटियों और दोषों से बचने के लिए प्रवृत्त करे। कबीर, तुलसी आदि ने भी अपनी कृतियों में अपने समय के समाज का बहुत कुछ यथार्थ चित्रण किया है; परन्तु ऐसे रूप में किया है कि लोग दोषों और बुराइयों से बचकर ठीक रास्ते पर चलें। यही वह स्थिति है जिसमें यथार्थ की भीत पर आदर्श का भवन बनता है। ××

आदि- *पु०* (सं०) दे० 'अथ, आदि, आरम्भ और समारंभ'।

आदिकल्प- *पु०* (सं०) दे० 'कल्प और युग'।

आदेश- *पु०* (सं०) दे० 'आज्ञा, आदेश, निदेश और निर्देश'।

आनुतोषिक- *पु०* (सं०) दे० 'पारितोषिक, पारिश्रमिक, पुरस्कार, आनुतोषिक और अनुवृत्ति।'

आपत्कालीन स्थिति- *स्त्री०* (सं०) दे० 'आपात, आपातिक स्थिति और अपस्थिति (या विस्थिति)।'

47. आपात — आपात-स्थिति — विस्थिति

Emergency — Emergency

इस वर्ग के शब्दों का प्रयोग ऐसे अवसरों या स्थितियों के सम्बन्ध में होता है जिनमें किसी चलते हुए काम में कोई जटिल या विकट बाधा उपस्थित होती है और जिनमें यह सोचना पड़ता है कि यह बांधा किस प्रकार दूर की जाय।

'आपात' *पु०* (सं०) का मूल अर्थ है ऊपर या बाहर से अचानक आकर गिरना या उपस्थिति होना परन्तु अपने विकसित अर्थ में यह ऐसी आकस्मिक घटना का वाचक हो गया है जो लोगों को चकित और विचलित कर दे। जातियों, राष्ट्रों, व्यक्तियों और संस्थाओं के चलते हुए कामों में कभी-कभी अचानक जो बहुत बड़ी गड़बड़ी या विकट समस्या आ उपस्थित होती है, यह शब्द अब उसी का वाचक हो गया है। अचानक देश में बहुत बड़ी बाढ़ या भूकम्प आ जाता है अथवा बहुत बड़ी क्रांति या विद्रोह के लक्षण दिखाई पड़ते हैं। ऐसी घटनाओं की न तो पहले से कभी कल्पना ही की जा सकती है और न कभी संभावना ही प्रतीत होती है। परन्तु इनका विकट स्वरूप देखते हुए यह आवश्यक होता है कि बहुत समझ-बूझकर और तत्काल ऐसा निराकरण या मीमांसा की जाए जिससे बिगड़ती हुई बात फिर बन जाए और आगे बिगड़ने की सम्भावना न रह जाए। इससे विशेषण रूप 'आपातिक' बनता है। जिसके स्थान पर उर्दूवालों की देखा-देखी अब कुछ लोग 'हंगामी' (फा० हंगामः=उथल-पुथल, उपद्रव, विप्लव आदि) का भी प्रयोग करने लगे हैं।

'आपात-स्थिति' *स्त्री०* (सं०) वही आकस्मिक, जटिल और विकट स्थिति है जिसका उल्लेख ऊपर **'आपात'** के अन्तर्गत हुआ है। साधारणतः हिन्दी में **'आपात'** का

प्रयोग न करके प्रायः **आपात-स्थिति** का ही प्रयोग करते हैं। कुछ लोग इन पारिभाषिक शब्दों से कदाचित अपरिचित होने के कारण ही 'आपत्कालीन स्थिति' और 'संकटकालीन स्थिति' का भी प्रयोग करते हैं। इसी प्रकार विशेषण आपातिक की जगह संकटपूर्ण या संकटमय का भी प्रयोग करते हैं। ऐसी विकट स्थिति उत्पन्न होने पर प्रमुख कार्यकर्ताओं या व्यवस्थापकों की जो सभा या समिति विचार करने के लिए बुलाई जाती है, उसके सम्बन्ध में 'आपातिक बैठक' या 'आपत्कालीन बैठक' सरीखे पदों का प्रयोग अधिक अच्छा होगा, न कि संकटकालीन बैठक या सभा सरीखे पदों का। औद्योगिक, व्यापारिक शासकीय आदि क्षेत्रों में आजकल प्रायः आपातिक स्थितियां उत्पन्न होती रहती हैं, जिनकी चर्चा जनसाधारण प्रायः समाचार-पत्रों में देखते रहते हैं।

'अपस्थिति' *स्त्री०* (सं०) 'स्थिति' के पहले 'अप' उपसर्ग लगने से बना है। अंग्रेजी के क्राइसिस (Crisis) के लिए अभी तक कोई अच्छा और चलता हुआ शब्द मेरे देखने में नहीं आया है; इसलिए मेरा सुझाव है कि 'क्राइसिस' के लिए यदि इसका प्रचलन हो जाए तो अच्छा हो अथवा इसके बदले में **'विस्थिति** (विकट या विकृत स्थिति)' का भी प्रयोग हो सकता है; परन्तु मेरी समझ में 'अपस्थिति' ही सुगम और सुबोध है। ऐसी स्थिति 'आपातिक स्थिति' की तुलना में होती तो बहुत कुछ हलकी ही है; फिर भी इसमें किसी बड़े उलट-पलट का खटका लगा ही रहता है और इसीलिए यह बहुत कुछ चिन्ताजनक भी होती है। यदि कोई या कई बैंक या महाजनी कोठियां सहसा अपना देन चुकाना या कारबार करना बंद कर दें, तो बाजार में खलबली मच जाती और अपस्थिति उत्पन्न हो जाती है। राजनीतिक क्षेत्र में यदि कुछ विरोधी दल आपस में मिल जाए अथवा आपस में मिले हुए दल एक दूसरे का साथ छोड़ दें तो भी शासन के क्षेत्र में खलबली मच जाती और अपस्थिति उपस्थित हो जाती है। यदि किसी रोगी की स्थिति सहसा अधिक बिगड़ जाय तो उसे भी अपस्थिति कहेंगे। ××

आपातिक- दे० **'आपात**, आपातिक-स्थिति और अपस्थिति या **विस्थिति'**।

आपातिक स्थिति- *स्त्री* दे० **'आपात**, आपातिक स्थिति और अपस्थिति या **विस्थिति'**।

आपूर्ति- *स्त्री०* (सं०) दे० 'पूर्ति, अनुपूर्ति, आपूर्ति और प्रतिपूर्ति'।

आफ़त- *स्त्री०* (फा०) दे० 'विपत्ति और संकट'।

48. आयु अवस्था वय

Age

इस वर्ग के शब्द प्राणियों के जीवन-काल की विभिन्न और विशिष्ट प्रकार की स्थितियों के वाचक हैं। परन्तु कुछ लोग इनके सूक्ष्म आर्थी भेदों का ध्यान न रखकर एक के स्थान पर दूसरे का प्रयोग कर जाते हैं।

'आयु' *स्त्री०* (सं०) वस्तुतः किसी प्राणी या व्यक्ति के समस्त जीवनकाल की

सूचक हैं। **जन्म से मरण तक का सारा काल आयु** है। ज्योतिषी लोग जन्मपत्री में आयुभाव देखकर यह बतलाते हैं कि जातक कितने दिनों तक जीवित रहेगा। आयुर्वेद में जन्म से मरण तक होनेवाले सभी प्रकार के रोगों का विवेचन भी होता है और समस्त जीवनकाल में स्वस्थ रहने के उपाय भी बताए जाते हैं। छोटे बच्चों आदि को आशीर्वाद देने के समय भी और बड़ों के प्रति शुभ-कामना प्रकट करने के समय भी कहा जाता है तुम दीर्घ जीवी हो अथवा आप दीर्घायु हों।

'अवस्था' *स्त्री०* (सं०) मुख्यतः जीवनकाल के उतने अंश या भाग की वाचक है जितना कोई व्यक्ति किसी कथित समय में पूरा कर चुका या बिता चुका हो, जैसे '(क) बारह वर्ष की **अवस्था** में ही वे विरक्त होकर घर से निकल पड़े थे। (ख) बीस वर्ष की **अवस्था** में ही वे वकालत करने लगे थे'। परन्तु बहुत से लोग ऐसे अवसरों पर भी 'अवस्था' के स्थान पर **'आयु'** का प्रयोग कर जाते हैं, जो ठीक नहीं। प्रायः सामयिक पत्रों में छोटे बच्चों की लिखी हुई कविताओं, कहानियों पर उनके नाम के साथ लिखा होता है – **आयु** 12 वर्ष, **आयु** 14 वर्ष आदि। अस्पतालों आदि में रोगियों को जो परची लिखकर दी जाती है, उसमें भी एक कोष्टक के ऊपर प्रायः **'आयु'** लिखा रहता है जो ठीक नहीं है। उक्त दोनों स्थितियों में **'आयु'** की जगह **'अवस्था'** का ही उपयोग होना चाहिए। **आयु** और **अवस्था** दोनों के स्थान पर हिन्दी में **उमर** 'अ० उम्र' का भी प्रयोग होता है।

इसके सिवा **अवस्था** का प्रयोग जीवनकाल के कुछ विशिष्ट और विस्तृत विभागों के लिए भी होता है, जैसे;बाल्यावस्था, युवावस्था, वृद्धावस्था आदि। इसके सिवा कुछ विशिष्ट प्रकार की स्थितियों के सम्बन्ध में भी यह शब्द प्रयुक्त होता है, जैसे: जीवितावस्था, मरणावस्था, रुग्णावस्था आदि। ऐसी अवस्थाओं में यह दशा या स्थिति का ही वाचक होती है, कालमान का नहीं।

'वय' *पु०* (सं० वयस्) भी मुख्यतः उन्हीं अर्थों का वाचक है, जो ऊपर **अवस्था** के बतलाए गए हैं। फिर भी यह एक दो बातों में उससे कुछ और आगे बढ़ा हुआ है। हम कहते हैं- व्यक्ति के गुणों का आदर होता है, **वय** का नहीं। ऐसे अवसरों पर **वय** जीवन के हर एक कालमान का सूचक हो जाता है, किसी विशिष्ट कालमान का वाचक नहीं रह जाता। इसके सिवा **वय** मनुष्य की उस **अवस्था** का वाचक होता है जिसमें वह बाल्य-काल बिता कर यौवन-काल में प्रवेश करता है और अपने सब कामकाज स्वयं करने, देखने और समझने के योग्य हो जाता है। इसी आधार पर 'वयस्क' शब्द बना है, जो ऐसे व्यक्ति का वाचक होता है, जो मानसिक और शारीरिक दृष्टियों से अच्छी तरह पुष्ट, और समर्थ या सशक्त हो गया हो, जैसे जनमत गणना के समय सभी वयस्क पुरुषों और स्त्रियों को मत देने का अधिकार होता है। ××

49. आयोग, अधिकरण, न्यायाधिकरण परिषद् मण्डल

आयोग,	**अधिकरण,**	**न्यायाधिकरण**
Commission	Tribunal	Judicial Tribunal
परिषद्	**मण्डल**	
Council	Board	

इस वर्ग के शब्द ऐसी समितियों आदि के वाचक हैं जो अनुसंधान, न्याय, प्रशासन आदि के कुछ निश्चित कामों के लिए विशेष रूप से नियुक्त की जाती हैं।

'आयोग' *पु०* (सं०) का मुख्य अर्थ है- कोई काम पूरा करने के लिए किसी को नियुक्त करना। आज-कल इसका प्रयोग राज्य द्वारा नियुक्त की हुई ऐसी संस्था के लिए होता है, जिसे कुछ निश्चित और विशिष्ट कार्यों की पूरी जांच-पड़ताल करके उन पर अपना मत या विचार व्यक्त करने का कार्य सौंपा जाता है। **आयोग** में एक व्यक्ति भी प्रधान अधिकारी हो सकता है और कई भी। इसे अपना अंतिम मत और सिफारिशें सरकार के पास भेजनी पड़ती हैं; और तब सरकार उस पर अच्छी तरह विचार करके अपना निर्णय या निश्चय जनता अथवा विधायिका के सामने उपस्थित करती है। **आयोग** प्रायः उस विषय के अधिकारियों और जानकारों की गवाहियां लेता है; और सब बातों की अच्छी तरह छानबीन करके अपना मत या विचार स्थित करता है, जैसे: सरकार ने राष्ट्रभाषा निश्चित करने (अथवा आयकर, लाभकर आदि की विधियों में संशोधन और सुधार करने) के लिए एक **आयोग** नियुक्त किया है।

'अधिकरण' *पु०* (सं०) के प्रारंम्भिक अर्थ तो आधार, प्रकरण आदि हैं; परन्तु उसका एक पुराना अर्थ न्यायालय भी है। परन्तु आज-कल इसी न्यायालयवाले अर्थ के आधार पर इसका जो नया परिवर्तित तथा विकसित रूप बना है वह इससे कुछ भिन्न और हमारे यहां की पुरानी पंचायतों के रूप से बहुत कुछ मिलता-जुलता है। आज कल प्रायः किसी विवादग्रस्त विषय का विवेचन करके कुछ निर्णय करने के लिए किसी राजकीय विभाग अथवा अधिकार सम्पन्न बड़ी संस्था के द्वारा जो समिति नियुक्त की जाती है वही **अधिकरण** कहलाती है। **आयोग** की तुलना में इसके अधिकार और कार्यक्षेत्र कुछ परिमित होते हैं; और इसका स्वरूप कुछ गौण प्रकार का होता है। **अधिकरण** के अधिकारी एक भी हो सकते हैं और दो-चार भी। इनका काम दोनों विरोधी पक्षों को समझा-बुझाकर उनमें समझौता कराना होता है। ऐसा समझौता प्रायः दोनों को मान्य होता है पर यदि किसी कारण से समझौता न हो, तो **अधिकरण** अपना निर्णय और मत उच्च अधिकारियों के पास विचारार्थ भेज देता है।

'न्यायाधिकरण' *पु०*(सं०) भी है तो एक प्रकार का **अधिकरण** ही; परन्तु इसके अधिकार और कर्तव्य अधिक महत्वपूर्ण भी होते हैं और सर्वमान्य भी। कारण यह है कि इस **अधिकरण** के प्रधान अधिकारी प्रायः राज्य के अनुरोध पर उच्च न्यायालयों के द्वारा नियुक्त होते हैं; और वे अधिकारी ऐसे ही लोग होते हैं जो या तो न्याय विभाग में किसी ऊंचे पद पर काम कर रहे हों अथवा अब उससे अलग होकर अवकाश प्राप्त कर चुके

हों । ऐसे अधिकारियों का निर्णय अधिकार सम्पन्न न्यायालय के निर्णय के समान ही माना जाता है ।

'परिषद्' *स्त्री०* (सं०) का मूल अर्थ है चारों ओर घेरा बनाकर बैठना । परन्तु वैदिक काल में विद्वानों की वह सभा **परिषद्** कहलाती थी, जो राजा किसी विषय पर परामर्श लेने, विचार करने और व्यवस्था मांगने के लिए बुलाता था । आज-कल भी इसी आधार पर **परिषद्** किसी बड़ी सभा या सम्मेलन के अर्थ में प्रचलित है, जैसे:संस्कृत प्रचारक **परिषद्**, संगीत **परिषद्** आदि । बौद्धकाल में वे निर्वाचित राजकीय संस्थाएं **परिषद्** कहलाती थीं जो (क) राजकीय व्यवस्था, (ख) शिक्षा प्रचार और (ग) सामाजिक संघटन के लिए बनाई जाती थीं । इसी आधार पर आजकल कुछ ऐसी समितियों को भी **परिषद्** कहते हैं जो प्रशासनिक कार्यों में राज्य को परामर्श और सहायता देने के लिए नियत की जाती हैं । ऐसी समितियों के कुछ विशिष्ट अधिकार होते हैं और वे आपस में विचार और विमर्श करके कुछ कार्य प्रणालियां, विधियां आदि निश्चित करती हैं; और या तो स्वयं उन्हें कार्यान्वित करती हैं अथवा शासन को उनके अनुसार कार्य करने की सम्मति देती हैं, जैसे राज्यपाल या राष्ट्रपति की परामर्श **परिषद्** । कुछ स्थितियों में विधान सभाओं की विशिष्ट शाखा या उच्च सदन को भी **परिषद्** कहते हैं, जैसे:विधान सभा ने तो पहले ही अमुक विधान स्वीकृत कर लिया था, अब यह विधान **परिषद्** के पास विचार और स्वीकृति के लिए भेजा गया है ।

'मंडल' *पु०* (सं०) के भी आरंभिक अर्थ हैं- घेरा, चक्र आदि, जैसे:चन्द्रमण्डल, भूमण्डल, रासमंडल आदि । किसी विशिष्ट प्रकार या रूप वाले भूखंड को भी घेरा कहते हैं; जैसे-व्रजमण्डल । इसके सिवा कुछ विशिष्ट प्रकार के लोगों के वर्ग या समूह को भी **मण्डल** कहते हैं, जैसे:मित्रमंडल, राजकीय मंडल आदि । परन्तु आज-कल प्रशासनिक, राजनीतिक आदि क्षेत्रों में कुछ विशिष्ट प्रकार के ज्ञाताओं अथवा सुविज्ञों के उस वर्ग या समुदाय को मंडल कहते हैं, जिसके सदस्यों की नियुक्ति शासन की ओर से होती है; और जिसे किसी विशिष्ट प्रकार के विभाग की व्यवस्था, नियन्त्रण और संचालन का भार सौंपा जाता है । इसके अधिकार मुख्य रूप से प्रशासनिक तो होते ही हैं, कुछ अवस्थाओं में न्यायिक भी होते हैं, जैसे: राजस्वमंडल (Revenue Board), वेतनमंडल (Wage Board) आदि । कुछ अवस्थाओं में ऐसे मंडल शासकीय मंडलों से भिन्न और निजी भी होते हैं, जैसे, क्रिकेट अथवा खेल-कूद आदि और उनके खिलाड़ियों का चुनाव अथवा नियुक्ति करने तथा दल बनानेवाले मंडल । पर कुछ लोग इसके स्थान पर भी **'अधिकरण'** का प्रयोग करने लगे हैं, जो ठीक नहीं हैं ।××

आरंभ- *पु०* (सं०) दे० 'अथ, आदि, आरंभ, प्रारंभ, प्रारंभ और समारंभ' ।

आरक्षक- *पु०* (सं०) दे० 'रक्षा, आरक्षा, आरक्षण, परिरक्षा, प्रतिरक्षा, संरक्षा, और सुरक्षा' ।

आरक्षण- *पु०* (सं०) दे० 'रक्षा, आरक्षा, आरक्षण, परिरक्षा, प्रतिरक्षा, संरक्षा और सुरक्षा' ।

आरक्षा- *स्त्री०* (सं०) दे० 'रक्षा, आरक्षा, आरक्षण, परिरक्षा, प्रतिरक्षा, संरक्षा और सुरक्षा'।

आरक्षित- *भू० कृ०* (सं०) दे० 'रक्षा, आरक्षा, आरक्षण, परिरक्षा, प्रतिरक्षा, संरक्षा और सुरक्षा'।

आलेख- *पु०* (सं०) दे० 1. 'लेख, अभिलेख, आलेख, प्रलेख और विलेख'। 2. दे० 'पांडुलेख और हस्तलेख'।

50. आलोचना Criticism — समालोचना Review — समीक्षा Review

इस वर्ग के शब्द अभिधार्थ की दृष्टि से बहुत कुछ एक से ही हैं; इसीलिए लोग प्रायः इनमें से एक का प्रयोग दूसरे के स्थान पर कर जाते हैं। परन्तु वास्तव में इन शब्दों के भावार्थ में बहुत कुछ सूक्ष्म अन्तर हैं, जिनका ध्यान रखना आवश्यक है।

'आलोचना' *स्त्री०* (सं०) का मूल अर्थ है - देखना; और दूसरा अर्थ है- चिन्तन, मनन या विचार करना। अभी कुछ दिन पहले तक उसी अर्थ में इसका प्रयोग होता था, जो अर्थ नीचे **'समालोचना'** में बताया गया है; परन्तु आज-कल इसका प्रयोग किसी व्यक्ति के कथन, निश्चय या विचार के दोषों का उल्लेख करते हुए उसका विरोध करने और अपनी असहमति व्यक्त करने के लिए होता है, जैसे प्रधान मंत्री के वक्तव्य की विरोधी दलों के नेताओं ने कड़ी **आलोचना** की। आशय यही होता है कि प्रधानमंत्री के वक्तव्य की त्रुटियां और दोष दिखलाए गए तथा कुछ कठोर शब्दों में उनका विरोध किया गया।

'समालोचना' *स्त्री०* (सं०) का मूल अर्थ है- अच्छी तरह देखना और ध्यानपूर्वक विचार करना। परन्तु आज-कल इसका प्रयोग किसी कलात्मक, वैज्ञानिक अथवा साहित्यिक कृति अथवा रचना के सम्बन्ध में विचारपूर्वक कही जाने वाली बातों और सम्मतियों के सम्बन्ध में होता है। वास्तविक अर्थ में **'समालोचना'** ऐसे मत या सम्मति की वाचक है, जो किसी कृति के गुणों और दोषों का अच्छी तरह विश्लेषण करते हुए व्यक्त की जाती है। किसी कृति की **समालोचना** के लिए अच्छे अध्ययन और विशेष ज्ञान की आवश्यकता तो होती ही है, साथ ही यह भी आवश्यक होता है कि उसमें किसी प्रकार का द्वेष या पक्षपात न हो, और जो कुछ कहा जाए उसका रूप निर्णयात्मक हो। आज-कल सामयिक पत्रों में पुस्तकों आदि की जो समालोचनाएं होती हैं, उनका आदर्श यही होना चाहिए।

'समीक्षा' स्त्रीलिंग भी है तो बहुत कुछ वही, जो **'समालोचना'** है, फिर भी यह उससे कुछ भिन्न है। **समालोचना** में तो समालोचक अपने निजी विचार भी प्रकट करता है पर **समीक्षा** में यह बात नहीं होती। जब कहीं कोई विशेष महत्वपूर्ण घटना या बात होती है तब उसका संक्षिप्त विवरण लोगों के सामने उपस्थित करने को ही **'समीक्षा'** कहते हैं। आज-कल रेडियो पर बाजार भाव की जो **समीक्षा** होती है, उसमें चीजों की दरों आदि के

उतार-चढ़ाव और वर्तमान स्थिति का ही उल्लेख रहता है। इसी प्रकार संसद की **समीक्षा** में यह बतलाया जाता है कि संसद में किन-किन बातों पर विचार हुआ, और उन बातों के सम्बन्ध में अलग दलों या व्यक्तियों ने अपने क्या मत या विचार प्रकट किए अथवा उनमें परस्पर किस प्रकार के आक्षेप और प्रत्याक्षेप हुए। ऐसी अवस्थाओं में समीक्षक सब बातों का संक्षिप्त रूप ही बतलाता है, उनके सम्बन्ध में अपनी ओर से न तो कोई टीका-टिप्पणी करता है और न अपना मत या विचार ही प्रकट करता है। ××

आवश्यकता- *स्त्री०* (सं०) दे० 'अपेक्षा और आवश्यकता'।

आवसानिक- *वि०* (सं०) दे० 'अन्तिम, आंतिक, आवसानिक और समापक या समाप्तिक'।

51. आविष्कार, ईजाद उपज्ञा, खोज
Invention Discovery

इस वर्ग के शब्द हैं तो मुख्यतः दो अलग-अलग भावों या विचारों के सूचक; परन्तु इनमें से **आविष्कार** इतना अधिक प्रचलित हो गया है कि उसी से दोनों भाव या विचार सूचित किये जाने लगे हैं*। अतः यहां दोनों के आशय और भाव अलग-अलग स्पष्ट कर देना आवश्यक जान पड़ता है।

'आविष्कार' *पु०* (सं०) का मुख्य अर्थ है- किसी चीज को दृश्य बनाना अर्थात् जो चीज दृश्य या प्रत्यक्ष न हो उसे दृश्य या प्रत्यक्ष करके सबके सामने लाना। परन्तु इधर बहुत दिनों से इसका प्रयोग ऐसी नई चीजों बातों या रचनाओं के सम्बन्ध में होता रहा है जो पहले से किसी को मालूम न रही हों अथवा पहले कभी बनी न रही हों। इस प्रकार के नए काम मुख्यतः विशेष अध्ययन, अनुशीलन, कल्पना, परीक्षण आदि के फलस्वरूप प्रस्तुत होते हैं; और इनका सम्बन्ध भौतिक विज्ञान, रसायन अथवा इसी प्रकार के और किसी वैज्ञानिक क्षेत्र से होता है। ऐसे कामों या चीजों का जन-साधारण के लिए विशेष रूप से उपयोगी और लाभदायक होना भी आवश्यक होता है। यह कर्ता (या आविष्कर्ता) के विशिष्ट अध्यवसाय, परिश्रम और मानसिक कौशल या प्रवीणता का भी परिचायक होता है, जैसे;बिजली से प्रकाश उत्पन्न करने या समाचार भेजने की युक्ति का **आविष्कार**; किसी नए उपकरण या यंत्र का **आविष्कार**; अणुबम अथवा क्षेप्यास्त्र का **आविष्कार**, पृथ्वी अथवा किसी ग्रह के चारों ओर चक्कर लगानेवाले उपग्रह का **आविष्कार** आदि आदि। ये सभी चीजें या बातें ऐसी हैं, जिन्हें बनाना पहलेवाले लोग नहीं जानते थे परन्तु किसी एक व्यक्ति अथवा व्यक्ति समूह ने मिलकर ये नए काम किए थे या नई चीजें निकाली थीं; और

---

* भारत सरकार ने दोनों भावों को अलग-अलग मानकर Invention के लिए **आविष्कार** और **ईजाद** शब्द दिए हैं; और Discovery के लिए खोज तथा शोध शब्द रखे हैं। Invention के दोनों अर्थ ठीक तो हैं ही; परन्तु शोध हिन्दी में प्रायः Research के लिए प्रयोग होता है अतः मेरी समझ में Discovery के लिए **उपज्ञा** और **खोज** ही अधिक उपयुक्त होंगे।

उन्हें सबके उपयोग के लिए उपस्थित तथा प्रस्तुत किया था। कुछ अवस्थाओं में इसका प्रयोग लाक्षणिक रूप में भी होने लगा है; जैसे (क) चीन दूसरे राष्ट्रों को बदनाम करने के लिए नित्य नए-नए आरोपों का **आविष्कार** करता रहता है। और (ख) तुम तो छुट्टियां लेने के लिए नित्य नये-नये बहानों का **आविष्कार** करते रहते हो। कुछ लोग इसके स्थान पर अ० **'ईजाद'** का भी प्रयोग करते हैं।

'उपज्ञा' *स्त्री०* (सं०) का मूल अर्थ है- कोई चीज ढूंढ़ निकालना, पता लगाना आदि। ढूंढ़ी वही चीज जाती है और पता उसी का लगाया जाता है जो पहले से वर्तमान हो या रही हो, परन्तु अब जो अन्धकार में पड़ गई हो और अब जिसे लोग जानते ही न हों अथवा बिल्कुल भूल चुके हों। अर्थात् किसी चीज पर पड़ा पर्दा हटाना ही उपज्ञा है। इस दृष्टि से यह कहना ठीक नहीं है (क) कोलम्बस ने अमेरिका का **आविष्कार** किया था। अथवा (ख) हर्सल नामक ज्योतिषी ने वरुण ग्रह का **आविष्कार** किया था। कारण यह है कि अमेरिका भी बहुत पहले से विद्यमान था और वरुण ग्रह भी। कोलम्बस और हर्सल ने तो उन्हें ढूंढ़ कर उनका पता भर लगाया था। अतः ऐसे अवसरों पर यही कहना ठीक होगा कि अमुक ने अमुक की उपज्ञा की थी। परन्तु हो सकता है कि इस प्रकार का प्रयोग बिलकुल नया होने के कारण लोगों को कुछ खटके। इसलिए यह भी कहा जा सकता है कि अमुक ने अमुक की खोज की थी या उसे ढूंढ़ निकाला था।

एक दूसरे प्रसंग में 'खोज' का जो अर्थ होता है उसके लिए दे० 'खोज, अनुसंधान, अन्वेषण और शोध'।

आवेदन- *पु०* (सं०) दे० 'विनति, अभिवेदन, आवेदन, प्रार्थना, याचना, निवेदन, प्रतिवेदन'।

आशंका- *स्त्री०* (सं०) दे० 'शंका, आशंका, संदेह और संशय'।

52. आशंसा — अनुशंसा — अभिशंसा — प्रशंसा

आशंसा	अनुशंसा	अभिशंसा	प्रशंसा
1. Desire, wish 2. Hope	Recommendation	1. Appreciation 2. Admiration	Praise

इस वर्ग के शब्द संस्कृत शंस् के विकारी रूप हैं। शंस् के दो मुख्य अर्थ हैं-1. किसी की कही हुई बात की आवृत्ति करना। और 2. किसी के गुणों का कथन करना।

'आशंसा' *स्त्री०* (सं०) के भी दो मुख्य अर्थ हैं - 1. अभिलाषा, इच्छा या कामना करना और 2. आशा। परन्तु इनमें से पहला अर्थ ही अधिक प्रचलित तथा प्रधान है, और उसी की छाया या विवक्षा इस वर्ग के अन्यन्य शब्दों में मुख्य रूप से काम करती हुई दिखाई देती है। जब हम किसी के सम्बन्ध में अपनी शुभाशंसा प्रकट करते हैं, तब आशय यही होता है कि हम उसके कल्याण या मंगल की कामना करते हैं।

'अनुशंसा' का भी पहला अर्थ वही है, जो आशंसा का पहला अर्थ है। परन्तु (सं०) में इसका दूसरा अर्थ है – गुण कथन करने में किसी का साथ देना या सम्मिलित होना। परन्तु हिन्दी में अब इसमें एक तीसरा नया अर्थ लग गया है, और यह अंग्रेजी के Recommendation का समार्थक हो गया है। जब कोई व्यक्ति किसी नये काम में या नई नौकरी पर लगना चाहता है तब वह ऐसे और योग्य व्यक्तियों के पास जाता है, जो उसे अच्छी तरह जानते हैं और जो उसके कार्यों, गुणों, योग्यताओं के आधार पर यह कह सकते हैं कि हां यह व्यक्ति अमुक काम या नौकरी के लिए उपयुक्त है। ऐसे व्यक्ति के सम्बन्ध में उक्त प्रकार की जो अच्छी बातें कही जाती हैं उन्हीं को अनुशंसा कहते हैं। *इस प्रकार की अनुशंसा व्यक्तियों के अतिरिक्त उपयुक्त पदार्थों, स्थानों आदि के सम्बन्ध में भी हो सकती है, जैसे (क) इस कपड़े (या दवा) की अनुशंसा मेरे कई मित्रों ने की है और (ख) मेरे चिकित्सक ने जल-वायु बदलने के लिए दार्जिलिंग जाने की अनुशंसा की है। अब तक इसके स्थान पर सिफारिश *स्त्री०* (फ़ा०) का ही प्रयोग होता आया है और अनुशंसा का प्रयोग उसी के स्थान पर होने लगा है।

'अभिशंसा' *स्त्री०* (सं०) के दो मूल अर्थ हैं। एक तो किसी पर कोई अभियोग, कलंक या दोष लगाना, और दूसरा किसी की अच्छी बातों या गुणों का बखान करना। इस प्रकार यह शब्द दो परस्पर विरोधी विवक्षाओं से युक्त है। परन्तु पहले अर्थ में अभी तक प्रचलित है। इसी दूसरे अर्थ के आधार पर मेरा झुकाव है कि इसका प्रयोग अंग्रेज़ी के Admiration का भाव सूचित करने के लिए अधिक उपयुक्त होगा। हम किसी व्यक्ति के कार्यों, गुणों आदि को बहुत अच्छा समझते हैं और इसी आधार पर हम हृदय से उसका आदर करते और आवश्यकता होने पर अच्छे शब्दों में और उत्साह-पूर्वक उसकी चर्चा करते हैं, हमारी इस प्रकार की भावना और उस व्यक्ति अथवा उसके कार्यों, गुणों आदि की चर्चा ही वस्तुतः उसकी अभिशंसा है।

'प्रशंसा' *स्त्री०* (सं०) हिं० का बहुत ही प्रचलित और प्रसिद्ध शब्द है। जब हम किसी के अच्छे कार्यों और गुणों के फलस्वरूप यथेष्ट प्रभावित और प्रसन्न होते हैं तब हम उसके सम्बन्ध में अपनी गुणग्राहकता सूचित करने के लिए जो अच्छी बातें कहते हैं, उन्हीं की गिनती उसकी प्रशंसा में होती है। इसमें दो भाव मुख्य हैं। एक तो यह कि प्रशंसा करनेवाला अच्छा पारखी और योग्य माना जाता अथवा होता है; और दूसरे यह

---

* कुछ लोग इसके स्थान पर संस्तुति का प्रयोग करते हैं। जो हमारी समझ में ठीक नहीं है। कारण यह है कि स्तुति तो आर्थी अभिव्यंजना की दृष्टि से 'प्रशंसा' की अपेक्षा भी बहुत आगे बढ़ा हुआ शब्द है। Recommendation की मर्यादा और स्वरूप का ध्यान रखते हुए हम उसका समार्थक प्रशंसा के वर्ग में ही रख सकते हैं; स्तुति की कोटि या वर्ग में उसे स्थान नहीं दे सकते। तिसपर स्तुति के पहले सं उपसर्ग लग जाने से उसकी व्याप्ति और भी बढ़ जाती है। इसलिए 'अनुशंसा' ही उपयुक्त और समुचित शब्द हो सकता है।

अंग्रेज़ी में Admiration और Praiseके अर्थों में जो बहुत बड़ा अन्तर है, उसी के आधार पर यहां अभिशंसा और प्रशंसा का विवेचन किया गया है।

कि प्रशंसा करनेवाला यह चाहता है कि प्रशंसित व्यक्ति का अथवा उसके कार्यों, गुणों आदि का समाज में अच्छा आदर या सम्मान हो। इस प्रकार की प्रशंसा व्यक्तियों के सिवा पदार्थों आदि की भी हो सकती है। परन्तु इस सम्बन्ध में ध्यान रखने की एक बात और है। आज-कल के युग में अनेक अवसरों पर केवल औपचारिक रूप से अथवा किसी को प्रसन्न करने के लिए अथवा उसकी सहायता से अपना कोई स्वार्थ सिद्ध करने के लिए ही किसी व्यक्ति की अथवा उसके कार्यों, गुणों आदि की प्रशंसा की जाती है और यही वह मुख्य आधार है जिससे प्रशंसा और अभिशंसा का पार्थक्य सूचित और स्पष्ट होता है। अभिशंसा में इस प्रकार का कोई अनुचित आशय या भाव नहीं होता; और वह विशुद्ध, सात्विक तथा हार्दिक होती है। परन्तु प्रशंसा का सदा सात्विक या हार्दिक होना अनिवार्य या आवश्यक नहीं है। प्रशंसा के स्थान पर हमारे यहां प्रायः तारीफ स्त्री०(अ०) का भी प्रयोग होता है।

××

53 आशा — प्रतीक्षा — प्रत्याशा
Hope — Awaiting — Expectation

इस वर्ग के शब्द ऐसी स्थिति के सूचक हैं, जिसमें हम कोई काम होने या कोई चीज पाने का विचार करते हैं, और यह चाहते या सोचते हैं कि वह काम या बात हो सकती है या वह चीज मिल सकती है। परन्तु इनकी विवक्षाओं में कुछ ऐसे सूक्ष्म अन्तर हैं जिनके कारण एक के स्थान पर दूसरे शब्द के प्रयोग से काम नहीं चल सकता। जब हमारे मन में किसी काम या बात के पूरे होने की आकांक्षा या कामना होती है और हम यह समझते हैं कि हमारी वह आकांक्षा या कामना बहुत कुछ पूरी हो सकती है, या कुछ ही समय में पूरी होने को है, तब वह स्थिति **'आशा'** कहलाती है। इस स्थिति में हम यह तो समझते हैं कि हमारी आकांक्षा पूरी हो सकने के योग्य है, और उसमें बाधाओं आदि के लिए बहुत कम अवकाश है; फिर भी हमारे मन में उस काम या बात के पूरे होने का दृढ़ निश्चय नहीं होता जैसे मैं आश करता हूं कि आप मेरे इस पत्र का उत्तर देने की अवश्य कृपा करेंगे; अथवा उन्हें तो यह आशा नहीं है कि दोनों पक्ष आपस में समझौता कर लेंगे और मिलकर काम करने के लिए तैयार होंगे। कुछ अवस्थाओं में बहुत ही दुष्कर तथा दुस्साध्य कामों के सम्बन्ध में केवल औपचारिक रूप से और सद्भावना मात्र प्रकट करने के लिये भी इसका प्रयोग होता है, जैसे:हम आशा करते हैं कि पाकिस्तान ताशकन्द समझौते का ठीक तरह से पालन करेगा! हिन्दी में इसके स्थान पर उर्दू का उम्मीद (फा.) का भी प्रयोग होता है।

'प्रतीक्षा' संस्कृत प्रति+ईक्षा के योग से बना है। इसका मूल और व्युत्पत्तिक अथ होता है- पीछे की ओर अथवा सामनें की ओर देखना। परंतु लोक-व्यवहार में पीछे की ओर देखनेवाला भाव तो लुप्त हो गया है, और सामने की ओर देखनेवाला भाव विकसित हुआ है। यह शब्द आशा से कुछ और आगे बढ़ी हुई तथा विकसित स्थिति का वाचक है। 'आशा' में तो अभीष्ट कार्य के सिद्ध होने की कामना मात्र रहती है, पर उसकी सिद्धि का कोई निश्चय या विश्वास नहीं होता। परन्तु प्रतीक्षा ऐसे काम या बात के सम्बन्ध में

होती है जिसके विषय में हमें पहले से बहुत कुछ आशा होती है और हम यह समझते हैं कि यदि कोई विशेष बात न हुई तो वह काम या बात होगी ही । हम कहते हैं- मैं आपके आने की प्रतीक्षा ही कर रहा था । आशय यह होता है कि मैं पहले से जानता और समझता था कि आप आएंगे ही; भले ही आने का समय निश्चित न हो, अथवा निश्चित समय बीत चला हो । हिन्दी में इसके स्थान पर उर्दू का **'इन्तजार'** (अ० इन्तिज़ार) भी प्रायः चलता है ।

'प्रत्याशा' संस्कृत के 'आशा' शब्द के पहले 'प्रति' उपसर्ग लगने से बना है । यह है तो हमारे यहां का पुराना शब्द, परन्तु हिन्दी में इसका प्रयोग इधर थोड़े ही दिनों से होने लगा है । यह भी है तो एक प्रकार की प्रतीक्षा ही, फिर भी इन दोनों में कुछ सूक्ष्म अन्तर है । प्रतीक्षा तो ऐसे काम या बात के लिए होती है जिसके सम्बन्ध में पहले से कुछ आशा भी हो, और कुछ निश्चय भी । परंतु प्रत्याशा में आशा का कुछ सूक्ष्म अंश तो अवश्य होता है, परन्तु निश्चय का प्रायः अभाव ही होता है । इसके सिवा जिस काम या बात की प्रतीक्षा होती है उसके लिए मनुष्य थोड़ा बहुत तैयार रहता है । जब हम अपने किसी मित्र के आने की प्रतीक्षा करते हैं तब हम मानो पहले से यह जानते हैं कि वे आने को हैं । परन्तु प्रत्याशा में हम यह तो जानते हैं कि अमुक काम या बात हो तो सकती है, परन्तु उसके सम्बन्ध में यह नहीं जानते कि वह कब हो जाएगी, अथवा होगी भी या नहीं । फिर भी परिस्थितियां देखते हुए यह समझा जाता है कि कभी या किसी दशा में ऐसा हो सकता है, यह असम्भव नहीं । परन्तु इस अर्थ में 'प्रत्याशा' का प्रयोग हमारे देखने में कदाचित् ही कभी आया हो । परन्तु हां, इसका विपर्याय और वह भी भूतकृदंत रूप में अवश्य देखने में आता है । प्रायः पुस्तकों और समाचार-पत्रों में लिखा मिलता है - अमुक घटना अप्रत्याशित रूप से घटित हुई है । आशय यही होता है कि ऐसी घटना घटित होने की न तो कोई आशा ही थी, और न कल्पना या सम्भावना ही । ××

54. आशावाद — निराशावाद

Optimism — Pessimism

आशावाद की मूल मान्यता यह है कि संसार की सभी बातें अच्छी हैं और अन्त में उनको बुरी बातों पर अवश्य विजय प्राप्त होती है । इसके विपरीत **निराशावाद** की मूल मान्यता यह है कि वर्तमान संसार बहुत ही बुरा है और इसमें अच्छाई के लिए कोई स्थान नहीं । आशय यही है कि एक में सत् की और दूसरे में असत् की प्रधानता मानी गई है । परन्तु साधारणतः लोक-व्यवहार में **आशावाद** का यह आशय माना जाता है कि मनुष्य को सदा यही समझना चाहिए कि अन्त या भविष्य में जो कुछ होगा, वह अच्छा, शुभ और हितकर ही होगा । इसलिए परम विकट और विपरीत परिस्थितियों में भी हमें सदा आशान्वित रहना चाहिए - कभी निराश या हताश नहीं होना चाहिए । इसके विपरीत **निराशावाद** में यही समझा या सोचा जाता है कि जो कुछ हो रहा है इसका परिणाम अच्छा नहीं होगा, थोड़ा या बहुत बुरा ही होगा ।

55. **आश्चर्य**   **अचम्भा**

Surprise   Astonishment   Amazement

विस्मय   **कुतूहल**

Wonder   Curiosity

इस वर्ग के शब्द ऐसी मनोदशाओं के वाचक हैं जो हमें कोई अद्‌भुत या विलक्षण कार्य, वस्तु या व्यवहार दिखाई देने पर उत्पन्न होती हैं ।

'आश्चर्य' *पु०* (सं०) हमारे मन की उस दशा या स्थिति का सूचक शब्द है, जो हमें कोई अनोखा, अप्रत्याशित या असाधारण काम, चीज या बात दिखाई देने पर होती है । हम साधारणतः जो काम या बात देखने के अभ्यस्त नहीं होते या जिसमें कोई ऐसी नवीनता या विशेषता होती है जो हमें विलक्षण जान पड़ती है तब हमें **आश्चर्य** होता है । हम ऐसे काम या बात का कारण अथवा रहस्य समझने में असमर्थ रहते हैं । जैसे:**आश्चर्य** तो इस बात का है कि आज आप यहां आ कैसे गए ! आशय यही होता है कि आप तो साधारणतः यहां कभी आते नहीं आज कैसे और क्यों आ गए ।

'अचंभा' *पु०* को शब्द सागर में सं० असम्भव से व्युत्पन्न माना गया है, जो कुछ ठीक नहीं जान पड़ता । हो सकता है कि इसका सम्बन्ध सं० स्तम्भ से हो जिसका प्राकृत रूप चम्भ होता है । इसी स्तम्भ का विकारी रूप स्तब्ध है, जिसका आशय होता है- गतिशून्य या जड़वत् होना । यह आश्चर्य का कुछ और आगे बढ़ा हुआ रूप है । हम साधारणतः जब कोई ऐसी चीज या बात देखते हैं, जिसकी हमारी समझ में कोई संभावना नहीं होती तब हमें अचंभा होता है । हिन्दी का एक प्रसिद्ध दोहा है –

नव द्वारे को पींजरा तामें पंछी कौन ।
रहिबे को आचरज है गए अचंभा कौन ।।

इसमें 'आश्चर्य' और 'अचंभा' का अन्तर बहुत कुछ स्पष्ट हो जाता है । नव द्वारों वाले पिंजड़े में किसी पंछी का रहना ही आश्चर्य की बात है; क्योंकि साधारणतः ऐसा होता हुआ देखा नहीं जाता । पर उसमें से उसका निकल जाना कोई अचम्भे की बात नहीं है; हम साधारणतः यही समझते हैं कि ऐसे पिंजड़े में पंछी के रहने की कोई सम्भावना नहीं है । इसीलिए कहते हैं कि इसमें से पंछी निकलकर चला जाए तो यह अचम्भे की कोई बात नहीं है । **अचम्भा** हमें ऐसी स्थिति में पहुंचाता है जिसमें हमारी बुद्धि कुछ काम न करती हो; और इसीलिए हम विशेष कुछ कह भी न सकते हों ।

कुछ लोग भूतकृदन्त रूप अचम्भित भी बना लेते हैं जो ठीक नहीं है । इसके स्थान पर सं० 'चकित' का प्रयोग ही ठीक होगा । हिन्दी में कुछ लोग 'आश्चर्य' और **'अचम्भा'** के स्थान पर **ताज्जुब** (अ० तअज्जुब) का भी प्रयोग करते हैं ।

'विस्मय' *पु०* (सं०) को हम आश्चर्य और अचम्भा दोनों का और भी आगे बढ़ा

हुआ रूप कह सकते हैं ।* जब हमें कोई ऐसी अद्भुत या विलक्षण वस्तु दिखाई देती है, जिसके अस्तित्व की हम सहसा कल्पना भी नहीं कर सकते तब हमारे मन में **विस्मय** उत्पन्न होता है । साधारणतः **विस्मय** होने पर मनुष्य की आकृति या मुद्रा प्रायः कुछ विकृत सी हो जाती है । जल्दी समझ में नहीं आता कि ऐसा अद्भुत या विशाल कार्य मनुष्य कैसे सम्पन्न कर सका । आगरे का ताजमहल, चीन की दीवार और आधुनिक विज्ञान के चमत्कारपूर्ण आविष्करण साधारण मनुष्यों के लिए बहुत ही **विस्मय** जनक होते हैं । कुछ लोग इसके स्थान पर **हैरत** (स्त्री०)अ० का भी प्रयोग करते हैं ।

'कुतूहल' *पु०* (सं०) हमारे मन की वह जिज्ञासा वृत्ति है जो कोई अद्भुत, असाधारण अथवा बहुत विलक्षण काम, चीज या बात देखने पर उसका कारण, तथ्य, रहस्य या वास्तविक स्वरूप जानने के लिए हमारे मन में उत्पन्न होती है । यह वृत्ति बालकों से लेकर वृद्धों तक सभी के मन में होती या हो सकती है । जिस काम, चीज या बात के विषय में हमारे मन में **कुतूहल** उत्पन्न होता है, उसका हमारे साथ किसी प्रकार का सम्बन्ध होना आवश्यक नहीं है । हम बिना किसी कारण के ही किसी अनजानी या नई चीज के बारे में कुछ विशेष बातें जानना चाहते हैं । जानने की यह इच्छा ही **कुतूहल** है । छोटे बच्चे केवल कुतूहलवश कोई खिलौना यह जानने के लिए तोड़ देते हैं कि यह कैसे चलता या नाचता है अथवा इसके अन्दर क्या है । इसका मूल उद्देश्य अपनी किसी प्रकार की जानकारी बढ़ाना ही होता है; परन्तु हमारे मन में यह प्रवृत्ति उत्पन्न करनेवाला तत्त्व आश्चर्य, अचम्भा या **विस्मय** ही होता है । कुछ लोग इसके स्थान पर कोतूहल *पु०* (सं०) का भी प्रयोग करते हैं ।

56. आश्वासन, ढारस, तसल्ली,

आश्वासन,	**ढारस,**	**तसल्ली,**
Assurance	Comfort	Comfort Satisfaction
दिलासा		**सांत्वना**
Comfort		Consolation, solace

इस वर्ग के शब्द ऐसी बातों के सूचक हैं जो किसी दुःखी, निराश या हताश व्यक्ति की चिंता या व्याकुलता दूर करके उसे भविष्य के लिए आशान्वित अथवा उत्साहित करने अथवा धैर्य दिलाने के लिए कही जाती हैं ।

---

* विस्मय वस्तुतः सं० स्मय में वि उपसर्ग लगने से बना है । स्मय का अर्थ है - मुस्कराहट या हँसी । इसी के विकारी रूप स्मित (मुस्कराता हुआ) और स्मिति (मुस्कराहट) हैं । अंग्रेजी का Smile भी इसी से सम्बद्ध जान पड़ता है । मनुष्य जब कोई बहुत हीं अद्भुत या विलक्षण बात या वस्तु देखकर प्रसन्न तो होता है, परन्तु उसका आश्चर्य बहुत अधिक बढ़ा हुआ होता है, तब उसकी वही मानसिक स्थिति विस्मय कहलाती है ।

'आश्वासन' *पु०* (सं०) का मूल अर्थ तो है- अच्छी तरह या सुखपूर्वक सांस लेना परन्तु अपने विकसित अर्थ में यह ऐसी स्थिति का वाचक है जिसमें मनुष्य स्वयं प्रसन्न और सुखी रहता और दूसरों को भी प्रसन्न तथा सुखी करता है । प्रस्तुत प्रसंग में **आश्वासन** का अर्थ है – कष्ट या दुःख में पड़े हुए व्यक्ति से यह कहना कि तुम चिंता मत करो, तुम्हारा कष्ट या दुःख या तो स्वयं दूर हो जाएगा या हम उसे दूर करने का यथासाध्य प्रयत्न करेंगे । इसके अतिरिक्त किसी का कोई काम पूरा करने के लिए अथवा उसे सहायता देने के लिए निश्चित रूप से जो बातें कही जाती हैं, उन्हें भी **आश्वासन** ही कहते हैं, जैसे:अधिकारियों ने कर्मचारियों को उनके कष्ट और शिकायतें दूर करने का **आश्वासन** दिया है । इसमें मुख्य भाव मन में यह भावना उत्पन्न कराने और होने का है कि कार्य यथासाध्य अवश्य हो जाएगा ।

'ढारस' की व्युत्पत्ति कुछ संदिग्ध-सी है । कहीं-कहीं इसका दूसरा रूप ढाढ़स भी प्रचलित है; इसलिए इसका सम्बन्ध संस्कृत दृढ़ या दाढर्य से सूचित होता है । इसका प्रयोग मुख्यतः अधीर, खिन्न या हतोत्साह व्यक्ति की चिंता और निराशा दूर करके उसे आशान्वित और प्रोत्साहित करने के लिए होता है । इसके साथ मुख्यतः देना और बंधाना क्रियाओं का प्रयोग होता है ।

'तसल्ली' अरबी भाषा का शब्द है, जो हिंदी में मुख्यतः दो अर्थों में प्रचलित है । इसका पहला अर्थ तो बहुत कुछ यही है जो ऊपर **आश्वासन** का बताया जा चुका है । एक तो इसका प्रयोग किसी का कष्ट, चिंता या दुःख कम करने के लिए और उसे धैर्यपूर्वक और शांत भाव से रहने के लिए कही जानेवाली बातों के सम्बन्ध में होता है । ऐसे प्रसंगों में इसके साथ देना क्रिया का प्रयोग होता है । दूसरे इसका प्रयोग किसी की जिज्ञासा या सन्देह दूर करके उसे संतुष्ट करने के प्रसंगों में होता है, जैसे:लोगों ने प्रश्न तो कई प्रकार के किए, परन्तु आपने उत्तर से उन सब लोगों की **तसल्ली** कर दी । ऐसे अवसरों पर इसके साथ करना या कराना क्रिया का प्रयोग होता है ।

'दिलासा' फारसी दिल से बनाया हुआ शब्द है, इसका अर्थ है- किसी के दिल या मन में उत्पन्न होनेवाले क्षोभ, चिंता या विकलता को कम अथवा दूर करने के लिए कही जानेवाली बात । इस दृष्टि से हम इसे **ढारस** और **तसल्ली** का पर्याय भी कह सकते हैं । फिर भी उक्त दोनों शब्दों से **दिलासा** में कुछ सूक्ष्म अन्तर अवश्य देखने में आता है । **ढारस** या **तसल्ली** में तो बहुत कुछ दृढ़ निश्चय और सत्यता की भावना वर्तमान रहती है परन्तु लोक-व्यवहार में इसका प्रयोग ऐसी बातों के सम्बन्ध में भी होता है जो केवल ऊपरी मन से अथवा नाम मात्र के लिए कही जाती हैं । उर्दू और हिन्दी में 'दम-दिलासा' पद बहुत प्रसिद्ध है । इसका प्रयोग **ढारस, तसल्ली** या **दिलासा** की तरह तो होता ही है, परन्तु कुछ अवसरों पर इसका प्रयोग दूसरों को धोखे में रखकर अपना काम निकालने अथवा टाल-मटोल करके समय बिताने के लिए कही जाने वाली बातों के सम्बन्ध में भी होता है ।

'सांत्वना' (स्त्री० सं०) का मुख्य अर्थ तो है – किसी असंतुष्ट या रुष्ट व्यक्ति को

मीठी-मीठी बातों से प्रसन्न या संतुष्ट करना है। परन्तु प्रस्तुत प्रसंग में इसका प्रयोग मुख्यतः दो अर्थों में होता है - एक तो सहानुभूतिपूर्वक किसी को यह बतलाना या समझाना कि जो अनिष्ट या हानि हो चुकी है, वह अनिवार्य या अवश्यंभावी थी, अब उसके लिए चिंता करना व्यर्थ है। अब उत्साह तथा धैर्यपूर्वक आगे के कामों और बातों की ओर ध्यान दो। इसी से कुछ और आगे बढ़कर यह ऐसी बातों का भी सूचक हो गया है जो किसी आर्त्त या शोकाकुल व्यक्ति का दुःख और विकलता कम करने के लिए कही जाती हैं। इसमें संवेदन और सहानुभूति का भाव प्रधान होता है, जैसे (क) किसी के पिता या माता की मृत्यु पर उसे **सांत्वना** देना। (ख) किसी की बहुत बड़ी हानि हो जाने पर उसे **सांत्वना** देना। इसका मुख्य उद्देश्य मन की उदासी, उद्वेग, दुश्चिंता आदि दूर करना होता है, जैसेःविपत्ति के उन दिनों में मुझे गीता के अनुशीलन से बहुत **सात्वना** मिली थी। आज-कल इससे कुछ और आगे बढ़कर इसका प्रयोग प्रतियोगिताओं आदि के क्षेत्र में भी होने लगा है। प्रायः ऐसा होता है कि कुछ प्रतियोगी किसी कारण से बाजी तो नहीं जीत पाते फिर भी उनका काम बहुत अच्छा और संतोषजनक होता है। ऐसे लोगों की योग्यता से प्रसन्न होकर उन्हें भी इसलिए कुछ पुरस्कार दिया जाता है कि वे हतोत्साह न होने पावें और आगे चलकर बराबर अच्छा काम करके दिखलाते रहें। ऐसे पुरस्कार को भी **सांत्वना** पुरस्कार (Consolation Prize) कहते हैं। **'सांत्वना'** के साथ साधारणतः देना और मिलना क्रियाओं का प्रयोग होता है। ××

आस-पास– *अव्य०* दे० 'लगभग, प्रायः, और आस-पास'।

आसमान– *पु०* (सं०) दे० 'अन्तरिक्ष, आकाश, व्योम और महाव्योम'।

आस्कती– *वि०* दे० 'अहदी, आलसी, आस्कती, दीर्घसूत्री और सुस्त'।

57. आस्था, निष्ठा, श्रद्धा भक्ति

Consideration Fidelity Reverence Devotion

इस वर्ग के शब्द हमारी ऐसी धारणाओं और मनोभावों के वाचक हैं जो किसी मान्य, योग्य या श्रेष्ठ व्यक्ति अथवा विचारों, सिद्धान्तों आदि के प्रति हमारे मन में इसलिए घर कर लेते हैं कि हम उन्हें बहुत कुछ आदर की दृष्टि और पूज्य भाव से देखते हैं; और इसीलिए जिनके प्रति हम अपना कुछ विशिष्ट उत्तरदायित्व समझते हैं और अवसर पड़ने पर उनसे अच्छी प्रेरणाएं भी प्राप्त करते हैं। यहां यह भी ध्यान रहे कि चारों शब्द मनाभावों के विचार से उत्तरोत्तर बढ़ती हुई दृढ़ता और प्रबलता के भी सूचक हैं।

'आस्था' *स्त्री०* (सं०) मुख्यतः कहीं दृढ़तापूर्वक टिके रहने या स्थित होने का भाव सूचित करती हैं। हम किसी काम, चीज, बात या व्यक्ति को औरों की तुलना में बहुत कुछ अच्छा समझते हैं; और उसे आदर तथा सम्मान की दृष्टि से देखते हैं। इसीलिए हम उसे

बहुत-कुछ अवलंबन या आश्रय का आधार मानते हैं और सहज में उसे खोने के लिए तैयार नहीं होते। यह मुख्यतः बौद्धिक या मानसिक ही होती है। हम कहते हैं- 'बौद्धधर्म पर उनकी विशेष **आस्था** थी' आशय यहां होता है कि वे अन्य धर्मों की अपेक्षा बौद्ध धर्म को अधिक अच्छा समझते और आदर की दृष्टि से देखते थे, भले ही वे उसके उपदेशों, नियमों, सिद्धान्तों आदि का पालन न करते रहे हों।

'निष्ठा' (स्त्री०) भी मूल अर्थ या आशय की दृष्टि से बहुत कुछ वही है, जो आस्था है; फिर भी इसमें अपेक्षया कुछ अधिक तीव्रता और महत्ता है। अपने अधिक प्रचलित और प्रसिद्ध अर्थ में यह शब्द मुख्य रूप से हमारी उस भावुकतापूर्ण मनोवृत्ति का वाचक बन गया है जो हमें किसी के प्रति वैयक्तिक रूप से आसक्त या उससे संलग्न रखती है। यह अधिक घनिष्ठ सम्बन्ध और समीपता की सूचक है। इसका मूल हमारे आन्तरिक विश्वास में होता है। किसी बात, व्यक्ति या सिद्धान्त की श्रेष्ठता के कारण उस पर हमारा जो दृढ़ विश्वास रहता है वही उसके प्रति मन में **निष्ठा** उत्पन्न करता है। हम कहते हैं - (क) अपने गुरु पर उनकी पूरी **निष्ठा** थी। और (ख) उन्होंने अपना सारा जीवन निष्ठापूर्वक देश (या समाज) की सेवा में बिता दिया। आशय यही होता है (क) अपने गुरु पर उनका पूरा विश्वास था; और (ख) वे देश (या समाज) की सेवा बहुत ही ईमानदारी और सचाई से करते थे। इसमें अपने निश्चय, पथ आदि से विचलित न होने का भाव बहुत प्रबल होता है।

'श्रद्धा' (सं०) 'श्रत्' या 'श्रद्' धातु से व्युत्पन्न है, जिसका मूल सत्य या सत्यता है। श्रद्धा मुख्यतः धार्मिक क्षेत्र का शब्द है। किसी व्यक्ति या वस्तु को बिल्कुल ठीक और सच या सच्चा समझकर उसकी पवित्रता, श्रेष्ठता आदि पर पूरा-पूरा भरोसा या विश्वास रखना ही उस पर **श्रद्धा** रखना है। जिसके प्रति मन में **श्रद्धा** होती है, उसके उपदेशों, शिक्षाओं आदि का प्रायः पूरा-पूरा पालन किया जाता है और उसके विरुद्ध कोई काम करना या कोई बात सुनना अनुचित समझा जाता है। यह **निष्ठा**, **भक्ति** और विश्वास तीनों से उत्पन्न तथा युक्त है। अपने धर्म या देवी-देवताओं आदि पर तो लोगों की **श्रद्धा** होती ही है प्रायः परम योग्य तथा श्रेष्ठ व्यक्तियों और गुरु-जनों के प्रति भी **श्रद्धा** होती है। यह सदा बहुत अधिक आदर और सम्मान के भाव की सूचक होती है। यह मुख्यतः बड़ों के प्रति मन में होनेवाले बहुत अधिक आदर और पूज्य बुद्धि की वाचक है। आप्त पुरुषों, धर्म ग्रन्थों, शास्त्रों आदि पर हमारा जो दृढ़ विश्वास होता है उसका मूल कारण यही **श्रद्धा** है।*

'भक्ति' *स्त्री०* (सं०) का मूल अर्थ है - किसी वस्तु के अनेक खंड या टुकड़े करना; अथवा उसे अलग-अलग भागों में बांटना। पर इसका एक अर्थ किसी वस्तु का अंग या

---

* हिन्दुओं में पितरों आदि के उद्देश्य से दान, ब्राह्मण-भोजन आदि कृत्य इसीलिए "श्राद्ध" कहलाते हैं कि वे धार्मिक दृष्टि से उनके प्रति हमारे आदर और पूज्य भाव के सूचक होते हैं- इनसे उनके प्रति हमारी हार्दिक श्रद्धा व्यक्त होती है।

अंश होना भी है और कदाचित् इसी आधार पर यह अपने उस विशिष्ट अर्थ में प्रचलित और प्रसिद्ध है, जिसमें हम लोग धार्मिक और व्यावहारिक क्षेत्रों में उसका प्रयोग करते हैं। धार्मिक क्षेत्र में **भक्ति** जिस अर्थ में सबसे अधिक प्रचलित है, उसमें ईश्वर, देवता अथवा पूज्य व्यक्ति के प्रति विश्वास और श्रद्धा रखने और स्नेहपूर्वक तथा आदर भाव से उसकी सेवा कर उसे प्रसन्न तथा संतुष्ट रखने के सभी तत्त्व आ जाते हैं। **भक्ति** हमें अपने पूज्य या इष्ट (देवता अथवा व्यक्ति) के प्रति सदा निष्ठ रखती है, उसके लिए हमसे सब तरह के त्याग कराती है, सब प्रकार की सेवाओं से उसे अनुकूल तथा कृपालु बनाने के प्रयत्न कराती है और हमें सदा उसके पास पहुंचाने और साथ रहने के लिए परम उत्सुक रखती है। ईश्वर, देवता आदि की **भक्ति** सदा इसी रूप में होती है*। प्रजा अपने राजा के प्रति, पत्नी अपने पति के प्रति, देशसेवी अपने देश के प्रति अथवा शिष्य अपने गुरु के प्रति जो **भक्ति** रखता है उसमें भी प्रायः यही सब बातें होती हैं।

इस कोटि के और शब्दों के विवेचन के लिए दे० 'विश्वास, प्रतीति, प्रत्यय और भरोसा'।

आहरण- *पु०* (सं०) दे० 'हरण, अपहरण, आहरण, परिहरण और परिहार'।

इन्तज़ार- *पु०* (अ० इन्तिज़ार) दे० 'आशा, प्रतीक्षा और प्रत्याशा'।

58. इच्छा, Will, Wish; अभिलाषा Aspiration; आकांक्षा Ambition; कामना Desire; स्पृहा Desire

इस वर्ग के शब्द मन की ऐसी वृत्तियों के वाचक हैं जो हमें अपना कोई उद्देश्य सिद्ध करने के लिए प्रयत्नशील या प्रवृत्त करती हैं।

'इच्छा' *स्त्री०* (सं०) 'इष्' धातु से व्युत्पन्न है, जिसका अर्थ है – कुछ प्राप्त करने के लिए प्रयत्न या प्रयास करना। इसीलिए इसमें उस काम, चीज या बात के लिए प्रयत्न करने का भाव प्रधान है, जो हम पूरा या प्राप्त करना चाहते हैं। **इच्छा** प्रायः उसी बात के लिए होती है, जो हमसे पूरी हो सकती हो और जिसके लिए हम प्रयत्न कर सकते हों या

---

* हमारे यहां के धार्मिक ग्रंथों में नवधा (नौ प्रकार की) भक्ति कही गई है। वे नौ प्रकार ये हैं--श्रवण, कीर्तन, स्मरण, पाद-सेवन, अर्चन, वंदन, दास्य, सख्य और निवेदन।

करना चाहते हों। जिस प्रकार हमारे शास्त्रकारों ने वासना* को हमारे समस्त कार्य-कलापों का मूल प्रवर्तक माना है, उसी प्रकार पाश्चात्य दार्शनिकों और मनोवैज्ञानिकों ने **इच्छा** को मनुष्य की नहीं बल्कि सृष्टि के समस्त कार्यों का मूल प्रवर्तक कहा है और इसे मौलिक तत्त्व या शक्ति Will Power माना है। कुछ पैगम्बरी मतों के अनुसार यह भी माना जाता है कि ईश्वर ने सृष्टि उत्पन्न करने की **इच्छा** मात्र की, और इतने से ही सृष्टि रचना का कार्य आरंभ हो गया। पाश्चात्य दृष्टि से **इच्छा** सर्वप्रधान और सर्वश्रेष्ठ शक्ति है। हमारे यहां वेदांत और सांख्य में **इच्छा** को मन का गुण और धर्म माना है। परन्तु न्याय और वैशेषिक में इसे आत्मा का धर्म और व्यापार कहा गया है। **इच्छा** के सम्बन्ध में हम साधारणतः यही कह सकते हैं कि यह हमारी मनोवृत्ति है जो किसी ऐसे काम या बात की ओर हमारा ध्यान ले जाती है जिससे हमें किसी प्रकार की तृप्ति, संतोष या सुख पाने की आशा या संभावना होती है। **अभिलाषा, आकांक्षा, कामना, चाह, लालसा** आदि इसी की शाखा प्रशाखाएं हैं।

'कामना' *स्त्री०* (सं०) उस 'कम्' धातु से व्युत्पन्न है, जिसका अर्थ है- **इच्छा** करना या चाहना। इसी से आगे चलकर काम, कामुक, कमनीय आदि शब्द बने हैं। मनुष्य के मन में वासनाएं तो बहुत-सी होती हैं, पर उनमें से कुछ ही **कामना** का रूप धारण करती हैं। वासनाएं तो मन में सदा स्वाभाविक रूप से वास करती या रहती ही हैं, पर कामनाएं जान-बूझकर या सोच-समझकर अपने किसी हित के विचार से की जाती है। **कामना** प्रायः ऐसी बातों के लिए की जाती है, जो साधारणतः हमारी पहुंच के बाहर होती है। **कामना** की पूर्ति के लिए शारीरिक प्रयत्न तो अपेक्षया कम होता है। हां, ईश्वर या देवी-देवताओं से उसकी पूर्ति के लिए प्रार्थना अवश्य की जाती है और मन्नतें मनाई जाती हैं, यथा 'को करि कोटिक **कामना** पूजे बहु देव।' (तुलसी) **कामना** भी मनुष्य के लिए उसी तरह का बंधन है, जिस प्रकार वासना है। इसीलिए मनुष्य को मोक्ष दिलाने के उद्देश्य से गीता में निष्काम कर्म का अर्थात् **कामना** से रहित होकर सब कर्म करने का उपदेश दिया गया है। इसका आविर्भाव बहुधा आसक्ति, मोह या स्वार्थ-साधन आदि भावों के कारण होता है। यह प्रायः अच्छी या सद् ही होती है; पर इसकी पूर्ति हमारे वश के बहुत कुछ बाहर होती है।

'अभिलाषा' *स्त्री०* (सं०) लष् (**इच्छा** करना या चाहना) धातु में 'अभि' उपसर्ग लगने से बना है। इसे हम **कामना** का कुछ और बढ़ा हुआ रूप कह सकते हैं। **कामना** की सिद्धि के लिए हमें कोई विशेष शारीरिक प्रयास नहीं करना पड़ता, वह प्रायः हमारे मानसिक व्यापार तक ही परिमित रहती है क्योंकि वह बहुत कुछ सूक्ष्म या हल्की होने के कारण हमारे उप-चेतन में दबी हुई रहती है। पर अपनी **अभिलाषा** पूरी करने का मनुष्य

---

* दे० 'वासना, तृष्णा, लालसा और लिप्सा'।

कमनीय का शब्दार्थ है- जिसे प्राप्त करने की कामना हो सके, अर्थात् जो इस योग्य हो, कि चाहा जा सके। नयनाभिराम, प्रियदर्शी, सुन्दर आदि इसके परवर्ती और विकसित अर्थ हैं।

कभी-कभी थोड़ा-बहुत परिश्रम या प्रयत्न भी करता है। कारण यही है कि **अभिलाषा** ऐसी ही चीज या बात के लिए होती है जो हमें तृप्त, प्रसन्न या सन्तुष्ट करने वाली हो। **अभिलाषा** का प्रयोग प्रायः ऐसे स्थलों पर होता है, जहां इच्छित या इष्ट कार्य या तो अपनी पहुंच के बाहर होता है जिसके लिए हम विशेष प्रयत्नशील नहीं होते या नहीं हो सकते, यथा (क) सबके हृदय मदन **अभिलाषा**।' (तुलसी); (ख) **अभिलाषा** अपने यौवन में उठती, उस सुख के स्वागत को।' (प्रसाद) इन उदाहरणों से यही सूचित होता है कि यह **कामना** और चाह के बीच का स्तर है। बहुत कुछ इसी प्रकार का सूक्ष्म अन्तर **'इच्छा'** और **'अभिलाषा'** में भी है। हम कहते हैं कि यों तो कलकत्ता देखने की **अभिलाषा** हमारे मन में बहुत दिनों से थी, पर **इच्छा** होती है कि इस बार दशहरे की छुट्टियां वहीं बिताएं। पर जब हम कई बार कलकत्ते जाने का विचार करते हैं या बांधनू बांधते हैं और हर बार विफल रहकर अन्त में एक बार कलकत्ता पहुंच जाते हैं, तब हम कहते हैं – 'कलकत्ता देखने की हमारी बहुत दिनों की **इच्छा** आज पूरी हुई।'

आकांक्षा (सं०) 'कांक्ष्' धातु से व्युत्पन्न है जो अर्थ की दृष्टि से बहुत कुछ वही है, जो **इच्छा** है, फिर भी लौकिक प्रयोग या व्यवहार में दोनों में कुछ अन्तर है और होना चाहिए। **आकांक्षा** का प्रयोग वहां होता है, जहां हमारे मन में किसी काम या बात में आगे बढ़ने की प्रबल **इच्छा** होती है। **इच्छा** तो बुरी और भली दोनों बातों के लिए हो सकती है, पर **आकांक्षा** प्रायः भली या सद् बातों की ही होती है। इसके सिवा **इच्छा** तो वैयक्तिक क्षेत्र में भी हो सकती है और सार्विक क्षेत्र में भी, पर **आकांक्षा** प्रायः व्यक्तिगत ही होती है और यह धन, सम्पत्ति, प्रसिद्धि, शक्ति आदि की प्राप्ति के लिए होती है। किसी कार्यालय में काम करते समय हमारे मन में उसके प्रधान अधिकारी बनने और छोटा-मोटा रोजगार करने के समय बहुत बड़े व्यापारी बनने की **आकांक्षा** होती है। ऐसे अवसरों पर **अभिलाषा, इच्छा, कामना** आदि का प्रयोग समुचित न होगा। इसी **आकांक्षा** शब्द में उच्च विशेषण लगाकर उच्चाकांक्षा Ambition शब्द बना लिया गया है, जो किसी ऐसी बहुत ऊंची या बड़ी **आकांक्षा** का सूचक है, जिसकी सिद्धि हमारे लिए यदि पूर्ण रूप से असंभव नहीं, तो बहुत कुछ दुष्कर अवश्य होती है। **आकांक्षा** प्रायः सद होती ही है पर उच्चाकांक्षा उससे कहीं बढ़कर सद तथा उन्नायक होती है।

यदि कोई साधारण मनुष्य बहुत बड़ा पंडित या महात्मा बनना चाहता हो और इसके लिए प्रयत्न भी करता हो तो यह उसकी उच्चाकांक्षा कही जायगी।

'स्पृहा' *स्त्री०* (सं०) 'स्पृह' से व्युत्पन्न है और व्युत्पत्तिक दृष्टि से यह शब्द स्पर्धा से सम्बद्ध है। **स्पृहा** प्रायः औरों को कोई अच्छा या बड़ा काम करते हुए देखकर उत्पन्न होनेवाली ऐसी लालसा है जिसकी सिद्धि के लिए मनुष्य प्रायः प्रयत्न करता रहता है। **स्पृहा** बहुधा ऐसे कामों या बातों के लिए होती है, जो हमारी पहुंच के क्षेत्र में होती हैं अथवा जिनकी सिद्धि के लिए हममें शक्ति होती है। इसमें मुख्य भाव प्रयत्नशीलता का है और लक्ष्य वह आनन्द या सुख होता है जो तत्संबंधी प्रयत्न सफल होने पर मिलता है। इस प्रकार कहा जा सकता है कि आगे बढ़ने और यशस्वी या सफल होने की प्रवृत्ति ही इसमें मुख्य रूप से प्रेरक होती है।

इस कोटि के अन्यान्य शब्दों के लिए दे० (1) 'चाह, चाहत, चाव और साध' । और (2) 'वासना, तृष्णा, लालसा और लिप्सा' ।××

इच्छा-शक्ति –*स्त्री०* (सं०) दे० 'इच्छा, कामना, अभिलाषा, आकांक्षा और स्पृहा' ।

इत्यादि–*अव्य०* (सं०) दे० 'अथ, आदि, आरम्भ और प्रारम्भ' ।

ईजाद– *स्त्री०* (फा०) दे० 'आविष्कार और उपज्ञा' ।

ईर्ष्या–*स्त्री०* (सं०) दे० 'वैमनस्य, ईर्ष्या, द्वेष, शत्रुता, वैर और रिपुता' ।

उगाहना– (सं०) दे० 'चन्दा, बेहरी और उगाही' के अन्तर्गत 'उगाही' ।

उगाही––*स्त्री०* (हिं०) उगाना दे० 'चन्दा, बेहरी और उगाही' ।

59. उच्चमान उच्चांक कीर्तिमान

Record

अंग्रेजी का एक प्रचलित और प्रसिद्ध शब्द है रिकार्ड (Record) जो कई क्षेत्रों में और कई अर्थों में प्रयुक्त होता है । भारत सरकार की शब्दावली में इसके पहले और मुख्य अर्थ के लिए 'अभिलेख' शब्द दिया है जो प्रायः सर्वमान्य है और जिसके सम्बन्ध में किसी को कोई आपत्ति नहीं हो सकती । पर इसके अर्थों का एक दूसरा क्षेत्र भी है जिसमें कोई सबसे अच्छा काम कर दिखलाने अथवा किसी कार्य का सबसे ऊंचा मान स्थिर करने के भाव आते हैं । इसका प्रयोग यह सूचित करने के लिए होता है कि अमुक काम या बात इतनी असाधारण, कुतूहलजनक अथवा विलक्षण हुई है कि उसे अभिलेखों तक में स्थान मिला है । हिन्दी भाषी क्षेत्रों में और रेडियो पर यह भाव सूचित करने के लिए प्रायः **'कीर्तिमान'** शब्द का प्रयोग होता है । परन्तु यह शब्द एक दृष्टि से उपयुक्त जान पड़ने पर भी दूसरी दृष्टि से अनुपयुक्त ठहरता है । यदि किसी ने कोई ऐसा बहुत बड़ा और विलक्षण काम कर दिखलाया हो जिसका अभिलेखों में उल्लेख हो सकता हो और जिससे कर्ता को कीर्ति या यश प्राप्त होता हो तो यह कहा जा सकता है कि उसने उस क्षेत्र में एक नया **कीर्तिमान** स्थापित किया है । परन्तु अंग्रेजी में Record शब्द का प्रयोग कुछ ऐसे क्षेत्रों में भी होता है जिनमें कीर्ति या यश का कोई प्रश्न ही नहीं होता । उदाहरणार्थ किसी चीज का मूल्य भी किसी अवस्था में किसी बहुत बड़ी ऊंचाई तक पहुंच सकता है अथवा किसी स्थान पर इतना पानी बरस सकता या बरफ पड़ सकती है जितना पहले न बरसा हो या न पड़ी हो । अंग्रेजी में तो उस स्थिति में Record का प्रयोग होता ही है पर हिंदी में यह नहीं कह सकते कि यहां वर्षा या हिमपात का **कीर्तिमान** स्थापित हुआ है क्योंकि इसमें कीर्ति अथवा यश की कोई बात नहीं है । यहां बात गरमी, सरदी की अत्यधिकता सूचित करने के सम्बन्ध में ही है ।

रेडियो के मराठी प्रसारणों में इसी Record के लिए **'उच्चांक'** शब्द का प्रयोग होता

है, जो संस्कृत उच्च+अंक के योग से बना है। ऊपर **'कीर्तिमान'** के सम्बन्ध में हमने जो आपत्ति की है वह आपत्ति तो **'उच्चांक'** के सम्बन्ध में नहीं हो सकती। परन्तु एक दूसरी दृष्टि से नई आपत्ति अवश्य हो सकती है। वह यह कि जो स्थिति सूचित करने के लिए इसका प्रयोग किया जाएगा उसमें 'अंक' की कोई प्रधानता नहीं होगी। प्रधानता तो कार्य या घटना की मात्रा और मान का होगा जो पहले की तुलना में आगे बढ़ा हुआ होगा। हमारी समझ में यदि **कीर्तिमान** और **उच्चांक** दोनों के स्थान पर **'उच्चमान'** शब्द रखा जाय तो वह अधिक भाव-व्यंजक भी होगा और अधिक सार्थक भी। इसीलिए 'मानक हिन्दी कोश' के परिशिष्ट में मैंने Record शब्द के लिए **'उच्चमान'** ही को स्थान दिया है। यहां यह भी ध्यान रहे कि इस प्रसंग में 'मान' का प्रयोग प्रतिष्ठा के पर्याय के रूप में नहीं बल्कि नाम या मात्रा वाले तत्त्व के सूचक रूप में हुआ है।××

उच्चांक– *पु०* (सं०) दे० 'उच्चमान, उच्चांक और कीर्तिमान'।

उच्चाकांक्षा– *स्त्री०* दे० 'इच्छा, कामना, अभिलाषा, आकांक्षा, और स्पृहा'।

उतार-चढ़ाव– *पु०* (हिं० उतार+चढ़ना) दे० 'चढ़ाई, चढ़ान, चढ़ाव और चढ़ावा (या चढ़त)'।

उत्तम– (वि०) दे० अच्छा, उत्तम, बढ़िया, भला और श्रेष्ठ।

उत्तर-कल्प-दे० 'कल्प और युग'।

उत्पादक– *पु०* (सं०) दे० उत्पादन निर्माण, प्रस्तुतीकरण, रचना और संरचना'।

60. उत्पादन | निर्माण | प्रस्तुतीकरण | रचना | संरचना

उत्पादन	निर्माण	प्रस्तुतीकरण
Production	Building, Erection Making	Production
रचना	**संरचना**	
Construction Composition	Structure	

इस वर्ग के शब्द ऐसी क्रियाओं और प्रक्रियों के वाचक हैं जिनकें द्वारा परिश्रम या प्रयत्नपूर्वक कोई वस्तु अस्तित्व में लाई जाती या बनाकर तैयार की जाती है। कुछ अवस्थाओं में इन शब्दों में उन वस्तुओं का भी अन्तर्भाव होता है, जो इनके फलस्वरूप बनकर तैयार होती हैं।

'उत्पादन' *पु०* (सं०) का पहला अर्थ है- उत्पन्न या पैदा करना। इस प्राथमिक अर्थ में जीव-जन्तुओं, प्राणियों आदि की जननेन्द्रिय से उत्पन्न सन्तान का अभिप्राय प्रधान होता है, परन्तु अपने परवर्ती अर्थ में यह किसी प्रकार के उपकरण या साधन के द्वारा कोई चीज तैयार करने या बनाने का वाचक होता है, जैसे:खेतों से होनेवाला अनाज

आदि का **उत्पादन**; कल-कारखानों में होनेवाला कपड़ों, घड़ियों, बर्तनों, हथियारों आदि का **उत्पादन** । यहां यह ध्यान रहे कि इसका प्रयोग मुख्यतः ऐसी चीजों के सम्बन्ध में होता है जो अधिक मात्रा, मान या संख्या में बनाकर तैयार की जाती हैं और उपभोक्ताओं के उपभोग के लिए खरीदी और बेची जाती हैं । इसके सिवा यह भी ध्यान रहे कि खेतों आदि में जो वस्तुएं उत्पन्न होती हैं; उन्हें **'उपज'** या **'पैदावार'** भी कहते हैं । परन्तु कल-कारखानों में बननेवाली चीजें **'उत्पादन'** ही कहलाती हैं । इस प्रकार **उत्पादन** करने वाला उत्पादक (Producer) कहलाता है ।

'निर्माण' *पु०* (सं०) मुख्यतः ऐसी चीजें तैयार करने या बनाने का सूचक है जिसमें मानसिक या शारीरिक परिश्रम करना पड़ता है । इसके सिवा इसका प्रयोग मुख्यतः ऐसी वस्तुएं बनाने के सम्बन्ध में होता है जिनके छोटे-छोटे अंश इधर या उधर से लाकर इकट्ठे किये जाते और कुछ विशिष्ट प्रकार से आपस में मिलाकर यथा-स्थान बैठाए, रखे या सजाए जाते हैं;जैसे दुर्ग, भवन, सेतु आदि का **निर्माण** । इसमें मुख्य भाव गढ़ या ढालकर अथवा इसी प्रकार की और किसी प्रक्रिया से चीज तैयार करने का है । इस प्रकार का **निर्माण** करने वाले को 'निर्माता' कहते हैं । कुछ अवस्थाओं में यह उत्कृष्ट या प्रशंसनीय रूप देने का भाव भी सूचित करता है, जैसे चरित्र का **निर्माण**, देश का **निर्माण**, साहित्य का **निर्माण**, आदि । इनके सिवा यह किसी अच्छी साहित्यिक कृति या ग्रन्थ बनाकर प्रस्तुत करने का वाचक भी होता है, जैसे काव्य या ग्रंथ का **निर्माण** । परन्तु ऐसी अवस्थाओं में इसका प्रयोग सामूहिक रूप में ही होता है, आंशिक रूप में नहीं । 'काव्य या ग्रन्थ के **निर्माण**' के सही प्रयोग देखने में आते हैं । परन्तु 'कविता या कहानी के **निर्माण**' सरीखे प्रयोग न तो अच्छे ही जान पड़ते हैं, न देखने में ही आते हैं । ऐसे प्रसंगों में अधिकतर **रचना** का ही प्रयोग प्रचलित है ।

'प्रस्तुतीकरण' *पु०* (सं०) प्रस्तुत से बनाया हुआ इधर हाल का नया शब्द है जिसका अर्थ है - प्रस्तुत अर्थात् तैयार करने की क्रिया या भाव । इसमें मुख्य आशय कोई नई चीज बना या तैयार करके लोगों के सामने रखने या लाने का है । आज-कल इसका प्रयोग कथा-कहानियों, नाटकों, रूपको आदि को नई तरह से अथवा नए रूपों में लाकर चलचित्र के पर्दे अथवा रंगमंच पर लोगों के सामने उपस्थित करने के प्रसंग में होता है, जैसे (क) अमुक उपन्यास के इस रूपक का **प्रस्तुतीकरण** अमुक सज्जन ने किया है । और (ख) इस बार हिन्दी के दो चलचित्रों के **प्रस्तुतीकरण** के लिए सरकार ने उनके प्रस्तुत कर्ताओं (Producers) को पुरस्कार प्रदान किए हैं । इसके सिवा प्रस्तुत का एक और अर्थ किसी के सामने उपस्थित करना या रखना भी होता है । इसमें नई चीज तैयार करने या बनाने का भाव नहीं होता और इसीलिए कोई पहले की या पुरानी चीज भी किसी के निरीक्षण, परीक्षण आदि के लिए उसके सामने प्रस्तुत की जाती है, जैसे:उन्होंने अपना स्वामित्व प्रमाणित करने के लिए एक पुराना दानपत्र भी न्यायालय के सामने प्रस्तुत किया था । ऐसे अवसरों पर इसमें केवल उपस्थित करने का भाव होता है, तैयार करने या बनाने का नहीं । फिर भी इस क्रिया को **प्रस्तुतीकरण** ही कहा जाएगा । इसी आधार पर हम उस वस्तु को भी 'प्रस्तुति' (Produce) कह सकते हैं जो किसी प्रकार या

रूप में प्रस्तुत की गयी हो या जिसका **प्रस्तुतीकरण** हुआ हो।*

'रचना' *स्त्री०* (सं०) भी साधारणतः है तो बहुत कुछ वही जो **निर्माण है; क्योंकि** इसका मूल अर्थ भी कोई चीज तैयार करना या बनाना है। फिर भी यह एक विशिष्ट विवक्षा से युक्त है। **रचना** का प्रयोग मुख्यतः ऐसी वस्तुओं के सम्बन्ध में होता है जिन्हें प्रस्तुत करने में विशेष कौशल या चातुरी और मनोयोग की आवश्यकता होती है; और इसीलिए जिसका रूप बहुत कुछ आकर्षक, चमत्कारपूर्ण या सुन्दर हो जाता है, जैसे काव्य-रचना, केश-रचना, वाक्य-रचना, व्यूह-रचना आदि।

हिन्दी में इसका प्रयोग संज्ञा के सिवा सकर्मक क्रिया के रूप में भी होता है; जैसे 'इहां हिमालय रचेऊ बिधाना। अति विचित्र नहिं जाइ बखाना'। (तुलसी)। इसी आधार पर हिन्दी कविताओं में 'रचि-रचि' का प्रयोग मुहावरे के रूप में भी हुआ है; जिसका अर्थ होता है– बहुत ही कौशल और मनोयोग पूर्वक तथा सुन्दर रूप से कोई चीज तैयार करना या बनाना।

इसके सिवा संज्ञा रूप में **'रचना'** का प्रयोग दो और अर्थों में भी होता है। एक तो तैयार की या बनाई हुई चीज के अर्थ में, जैसेःइधर हाल में उनकी दो और नई रचनाएं प्रकाशित हुई हैं; और ऐसी वस्तु के बनाने के ढंग या प्रकार के रूप में, जैसे:इस भवन की रचना बिल्कुल नए प्रकार की है। इस अर्थ में यह 'बनावट' का पर्याय ही है; और बनाए जाने के ढंग या प्रकार का सूचक है। रचना करने वाले को रचयिता कहते हैं।

'संरचना' *स्त्री०* (सं० सं + रचना) का शब्दार्थ है - अच्छी, ठीक और सुन्दर रचना। परन्तु मुख्य रूप से इसे हम किसी चीज के बनाए जाने के ढंग या प्रकार का सूचक कह सकते हैं; और इसे हिन्दी बनावट का पर्याय मानते हैं।** इसके सिवा किसी बड़ी वस्तु के सभी प्रकार के छोटे बड़े अंगों का जो समालोचन होता है और उन अंगों में जो पारस्परिक सम्बन्ध होता है उसका अन्तर्भाव भी इसी **संरचना** में होता है, जैसे किसी प्रासाद, संयंत्र या समाज की **संरचना**। इस अर्थ में सभी अंगों और उपायों का तथा उसके सारे ढाँचे और स्वरूप का अन्तर्भाव होता है।

उदासी– *स्त्री०* (हिन्दी उदास) दे० 'अवसाद, उदासी, कुंठा, विषण्णता और विषाद'

---

*यहाँ पर ध्यान रहे कि 'प्रस्तुति' का प्रयोग हमारे यहाँ कुछ दूसरे ही अर्थ और प्रसंग में होता आया है। यहाँ यह शब्द वस्तुतः सं० 'स्तुति' के पहले 'प्र' उपसर्ग लगने से बना है; और इसका अर्थ होता है-अच्छी तरह या विशेष रूप से की जाने वाली स्तुति। परन्तु अब सं० के प्रस्तुत *वि०* से प्रस्तुतीकरण बनाया गया है; और इसी आधार पर 'प्रस्तुति' को संज्ञा का रूप प्राप्त हो गया है।

** बनावट में अभिमान, दिखावटी योग्यता आदि के सूचक जो और कई अर्थ हैं, उन अर्थों का 'संरचना' में समावेश नहीं होता। दे० 'बनाव और बनावट'।

61. उदासीन तटस्थ निष्पक्ष

उदासीन	तटस्थ	निष्पक्ष
Stoic	Neutral	Impartial

इस वर्ग के विशेषण ऐसे व्यक्तियों आदि के सूचक हैं, जो किसी प्रकार के विवादास्पद विषय से तब तक बिल्कुल अलग या दूर रहते हैं जब तक अपनी इच्छा से रह सकते हैं अथवा जब तक किसी विशेष उद्देश्य अथवा कारण से उसमें सम्मिलित होना आवश्यक नहीं समझते या उसके लिए विवश नहीं किये जाते हैं।

'उदासीन' (सं०) हमारे यहां के दार्शनिक और धार्मिक क्षेत्रों का बहुत पुराना और प्रसिद्ध शब्द है। जो लोग सांसारिक झंझटों और बन्धनों से ऊब कर अथवा विरक्त होकर एकांत में रहने और त्यागियों या विरक्तों का सा जीवन व्यतीत करते थे उनके सम्बन्ध में कहा जाता था कि वे सांसारिक बातों से **उदासीन** हो गए हैं अर्थात् वे सोचते थे कि संसार में जो कुछ होता है, वह हुआ करे; अब हम उससे कोई सम्बन्ध नहीं रखना चाहते। ऐसे लोगों के मन से सांसारिक बातों के प्रति ममता अथवा मोह-माया या तो बहुत कुछ दूर हो जाती थी या नहीं रह जाती थी। लौकिक क्षेत्र में भी जो लोग किसी काम या व्यवहार के प्रति इस प्रकार का दृष्टिकोण या वृत्ति अपनाते हैं वे उदासीन कहे जाते हैं। साधारणतः ऐसे लोग इस बात का विचार नहीं करते कि कौन सी बात अच्छी है या बुरी, आवश्यक है या अनावश्यक अथवा ग्राह्य है या अग्राह्य और इसीलिए वे सब प्रकार के कार्यों, व्यवहारों, वर्गों, श्रेणियों आदि से अलग और दूर रहते हैं और उनकी चिन्ता या ध्यान बहुत कुछ छोड़ देते हैं।

'तटस्थ' का शब्दार्थ है– जो तट पर स्थित हो; अर्थात् जो अपने सामने होनेवाले प्रवाह में न पड़ा हो और दूर से उसे देख भर रहा हो। आज-कल इसका प्रयोग ऐसे दलों, राष्ट्रों, व्यक्तियों आदि के सम्बन्ध में होता है जो दो परस्पर विरोधी और आपस में लड़ने-झगड़ने वाले दलों, राष्ट्रों, व्यक्तियों आदि में से किसी का साथ न देता हो। भले ही वह उन सबकी गतिविधियां देखता और समझता रहे। हो सकता है वह स्वयं यह निश्चय न कर पाता हो कि मुझे किस दल या पक्ष का पोषण या समर्थन करना चाहिए अथवा यह भी हो सकता है कि वह ऐसे झगड़े-बखेड़ों में पड़ना ही न चाहता हो। आज-कल जब दो दल, राज्य या व्यक्ति आपस में लड़ते-झगड़ते या किसी प्रकार की चढ़ा-ऊपरी अथवा वैर-विरोध में लगे रहते हैं तब कोई या कुछ दल, राज्य या व्यक्ति ऐसे भी होते हैं जो उनमें से किसी का पक्ष नहीं लेते, और उनसे अलग रहते हैं। हां, आगे चलकर कोई अवसर ऐसा भी आ सकता है जब वे अपनी यह मनोवृत्ति छोड़कर किसी दल या पक्ष में सम्मिलित हो जाएं और उसकी शक्ति बढ़ाने का प्रयत्न करें। परन्तु वे जब तक ऐसा नहीं करते तब तक वे **तटस्थ** ही कहे और माने जाएंगे।

'निष्पक्ष' (सं०) का शब्दार्थ है जो किसी पक्ष मे न हो; पर इसमें मुख्य भाव यह है कि व्यक्ति के मन में किसी के प्रति पक्षपात की धारणा बिल्कुल न हो। जब किसी व्यक्ति के मन में दो परस्पर विरोधी दलों या व्यक्तियों के सम्बन्ध में किसी प्रकार का पक्षपात

नहीं होता अथवा उसके निर्णयों, विचारों आदि में पक्षपात का पूर्ण अभाव रहता है, तभी वह **निष्पक्ष** कहलाता है। ऐसे व्यक्तियों के सम्बन्ध में साधारणतः यही माना और समझा जाता है कि वे जो निर्णय, मत या विचार प्रकट करेंगे वह बहुत ही ठीक और संतुलित होगा और उसमें किसी प्रकार के अनौचित्य या अन्याय की कोई संभावना नहीं होगी। प्रायः झगड़े आदि के निपटारे के लिए ऐसे ही निर्णायक या पंच ढूंढ़े जाते हैं जो पक्षपात की भावना से बिल्कुल रहित हों क्योंकि ऐसे ही लोग न्यायसंगत रूप से ठीक-ठीक निर्णय कर सकते हैं और ऐसे ही लोगों का निर्णय विवाद से सम्बन्ध रखनेवाले लोगों के लिए प्रायः मान्य भी होता है। यह बात दूसरी है कि कोई दल या पक्ष स्वार्थ या हठवश **निष्पक्ष** व्यक्ति का निर्णय मानने से इनकार कर दे, परन्तु निर्णायक के **निष्पक्ष** होने की दशा में किसी को यह आशंका या संदेह नहीं रह जाता कि किसी दल या पक्ष के साथ किसी प्रकार का अन्याय हुआ है।

××

62. उदाहरण — दृष्टान्त

Example — Illustration Instance

जब हम किसी को कोई बात बतलाते या समझाते हैं तब उसे और अधिक ठीक सिद्ध करने अथवा उसका रूप और अधिक स्पष्ट करने के लिए उसी तरह की या उससे मिलती-जुलती कोई और बात उसके सामने रखते या लाते हैं तो वह दूसरी बात उसका **'उदाहरण'** कही और मानी जाती है, जैसे आकाश से होनेवाली फूलों की वर्षा का अर्थ या आशय बालकों को समझाने के लिए उनके सामने आकाश से बरसने वाले पानी का **उदाहरण** रखा जाता है। **उदाहरण** के संबंध में ध्यान रखने योग्य कई मुख्य बातें हैं। पहली बात तो यह है कि इसके साथ जैसे, यथा आदि शब्दों का प्रयोग किया जाता है। कविता में इनके स्थान पर प्रायः 'ज्यों' का प्रयोग देखने में आता है, यथा 'यों रहीम जस होत है उपकारी के संग। बांटनवारे के लगै, ज्यों मेंहदी को रंग'।– रहीम। यहां कवि कहता है कि जो दूसरों का उपकार करता है उसे आपसे आप यश मिलता है। परन्तु साधारणतः सुननेवाले की समझ में यह बात नहीं आ सकती कि उपकार करनेवाले को यश आप से आप कैसे मिल जाता या मिल सकता है। अपने इसी कथन को ठीक सिद्ध करने अथवा स्पष्ट रूप से बतलाने के लिए वह मेहंदी पीसनेवाले का **उदाहरण** सामने रखता है और कहता है कि जिस प्रकार मेहंदी पीसनेवाले के हाथ में उसका लाल रंग आप से आप लग जाता है उसी प्रकार दूसरों का उपकार करनेवाले को यश भी आप से आप मिल जाता है।

'उदाहरण' का प्रयोग साधारणतः किसी प्रकार के नियम, परिपाटी, सिद्धांत आदि का अच्छी तरह और सहज में बोध कराने के लिए होता है। पाठ्य-पुस्तकों आदि में विद्यार्थियों के सामने जो **उदाहरण** आते हैं उनसे मुख्यतः यही उद्देश्य सिद्ध होता है। प्रायः वक्ता लोग भी अपने श्रोताओं को कोई जटिल या दुरूह विषय समझाने के लिए इस

प्रकार के उदाहरणों से सहायता लेते हैं। **उदाहरण** किसी ऐसे तथ्य के रूप में भी हो सकता है जो किसी प्रतिपादित मत या सिद्धांत की सत्यता प्रमाणित करता हो, जैसे ताप की दाहक शक्ति की व्याख्या करते हुए आग या धूप का **उदाहरण** देना। किसी का मार्ग प्रशस्त या सुगम करने के लिए भी इससे सहायता ली जाती है, जैसे महाभारत और रामायण में आपको ऐसे अनेक **उदाहरण** मिलेंगे जिनसे आपको इस विषय की कुछ और नई बातें भी मालूम हो सकेंगी। कुछ अवसरों पर इसके स्थान पर फारसी के 'नमूना' और अरबी के 'मिसाल' शब्दों का प्रयोग होता है।

'दृष्टांत' संस्कृत के दृष्ट+अन्त के योग से बना है। इसका शब्दार्थ होता है– अब तक जो कुछ देखा (या सुना) हो उसकी अन्तिम या चरम सीमा। परन्तु ऐसी सीमा का विचार किसी उद्देश्य या लक्ष्य की दृष्टि में ही होता है। यों संसार में हम बहुत सी चीजें देखते और बातें सुनते हैं परन्तु उनमें से जिसे हम सबसे बढ़कर समझते हैं उसकी चर्चा जब हम अपने मत के पोषण अथवा दूसरों के मार्ग-प्रदर्शन के लिए करते हैं तब उसकी गिनती दृष्टांत में होती है। साधारणतः **उदाहरण** और दृष्टांत के अर्थों में बहुत ही थोड़ा और सूक्ष्म अन्तर है और इसीलिए लोग प्रायः इन्हें समानार्थी समझकर एक के स्थान पर दूसरे का प्रयोग कर जाते हैं। दृष्टांत बहुधा किसी पुरानी घटना विशेषतः ऐसी घटना या तथ्य के रूप में होता है जो साधारणतः लोक में अनुकरणीय या आदर्श माना जाता है अथवा कुछ अवस्थाओं में शिक्षाप्रद भी हो सकता है। हम कहते हैं– उन्होंने भाइयों के पारस्परिक प्रेम की चर्चा करते हुए राम और लक्ष्मण के प्रेम का दृष्टांत दिया। यहां यदि 'दृष्टांत' की जगह **'उदाहरण'** का प्रयोग किया जाए तो आशय यही समझा जायगा कि वक्ता ने अपने मत का स्पष्टीकरण मात्र किया है। परन्तु 'दृष्टांत' के प्रयोग से यह ध्वनि निकलती है कि वक्ता राम और लक्ष्मण के प्रेम को आदर्श मानता है और चाहता है कि श्रोताओं में भी वैसा ही प्रेम उत्पन्न हो। इसी प्रकार परस्त्री हरण के दुष्परिणामों की चर्चा करते हुए रावण के शोचनीय अंत का भी दृष्टांत दिया जा सकता है। आशय यही होता है कि श्रोता उससे शिक्षा ग्रहण करें और इस प्रकार के दुष्कर्मों से सदा दूर रहें।

कुछ अवस्थाओं में **उदाहरण** का प्रयोग ऐसे प्रसंगों में भी होता है जिनका तथ्य अनुकरणीय भी हो सकता है और शिक्षाप्रद भी; जैसे: शास्त्री जी ने अपने आचरण और व्यवहार से जो **उदाहरण** हमारे सामने रखा है वह हमारे लिए आदर्श होना चाहिए। आशय यही होता है कि वह अनुकरणीय भी है और शिक्षाप्रद भी। ऐसे अवसरों पर यदि **उदाहरण** की जगह दृष्टांत का प्रयोग किया जाय तो भी अर्थ या आशय की दृष्टि से कोई विशेष अन्तर न हो।

फिर भी तात्त्विक दृष्टि से **उदाहरण** और **दृष्टान्त** के प्रयोगों में कुछ स्पष्ट अन्तर दिखायी भी देता है। साधारणतः **उदाहरण** का प्रयोग बौद्धिक और व्यावहारिक तथ्यों, विचारों आदि के सम्बन्ध में नियम या परिपाटी के स्पष्टीकरण के लिए होता है परन्तु दृष्टांत प्रायः आचरणों, कृतियों और घटनाओं के सम्बन्ध में आदर्श और प्रमाण के रूप में होता है। **'उदाहरण'** का क्षेत्र अपेक्षया अधिक विस्तृत और व्यापक है, इसीलिए दृष्टांत तो **उदाहरण** के अन्तर्गत आ सकता है पर **उदाहरण** सर्वथा दृष्टांत के अन्तर्गत नहीं

होता।

हिन्दी में अरबी का 'नजीर' शब्द दृष्टांत के बहुत कुछ समानार्थक के रूप में प्रचलित है।

उदाहरण और **दृष्टांत** के अन्तर का यहीं अन्त नहीं हो जाता। भारतीय साहित्य के काव्यशास्त्र में **उदाहरण** और **दृष्टांत** नाम के जो दो अलग-अलग अलंकार हैं, वे भी दोनों के पारस्परिक सूक्ष्म अन्तरों के सूचक हैं। **'उदाहरण'** और 'दृष्टांत' अलंकारों में यह अन्तर है कि **उदाहरण** में तो साधारण का विशेष से और विशेष का साधारण से समर्थन होता है, पर 'दृष्टांत' से साधारण की समता साधारण से और विशेष की समता विशेष से होती है। इसके सिवा **उदाहरण** में मुख्य लक्ष्य उपमेय वाक्य (वाक्य का पूर्वार्ध) होता है; पर दृष्टांत में मुख्य लक्ष्य उपमान वाक्य (वाक्य का उत्तरार्ध) होता है। ××

उद्घाटन– *पु०* (सं०) दे० 'अनावरण, उद्घाटन या समारम्भ और विमोचन।'

63. उद्देश्य ध्येय प्रयोजन लक्ष्य

उद्देश्य	ध्येय	प्रयोजन	लक्ष्य
Aim	Object	Purpose	Target
Object	Object		

इस वर्ग के शब्द ऐसे कामों और बातों के वाचक हैं जिन्हें पूरा या प्राप्त करने के लिए हम कोई प्रयत्न या प्रयास करते हैं।

'उद्देश्य' *पु०* (सं०) उद्दिष्ट से बना है, जिसका अर्थ है – किसी कार्य की दिशा का निर्देश या संकेत करना। जब हम कोई अच्छा और महत्वपूर्ण कार्य आरम्भ करके उसके लिए प्रयत्न करते और अपनी शक्ति तथा समय लगाते हैं तब उसके मूल में कोई ऐसा परिणाम या फल भी होता ही है जो हम प्राप्त करना चाहते हैं। मुख्यतः फलप्राप्ति की इसी इच्छा वाली भावना या विचार ही **उद्देश्य** कहलाता है। जीवन में हमारा **उद्देश्य** धनी या विद्वान या साहित्यकार बनना हो सकता है। किसी योजना का **उद्देश्य** खेती-बारी की उपज बढ़ाना, बाढ़ों से होनेवाले विनाश का अंत करना अथवा युद्ध में काम आनेवाली सामग्री प्रस्तुत करना हो सकता है। ऐसे सभी प्रसंगों में हमारी जो मूल धारणा, प्रवृत्ति या प्रेरक विचार होता है, वही वस्तुतः **उद्देश्य** कहलाता है; क्योंकि वही हमें कार्य की दिशा में आगे बढ़ाता है। अपने परवर्ती अर्थ में यह उस परिणाम या फल का भी वाचक हो जाता है जिसके लिए हम परिश्रम या प्रयत्न करते हैं। जब हम कहते हैं– "उनके जीवन का **उद्देश्य** धन कमाना ही है।", तब 'धन' की गिनती भी **उद्देश्य** में हो जाती है। इसी आधार पर व्याकरण के क्षेत्र में Object और **उद्देश्य** दोनों समार्थक होते हैं।

'ध्येय' (सं०) का प्रयोग विशेषण रूप में भी होता है और संज्ञा रूप में भी। विशेषण रूप में इसका अर्थ होता है – जिसका ध्यान किया जा सकता हो, किये जाने योग्य हो अथवा जो ध्यान में रखने या लाने के योग्य हो। प्रस्तुत प्रसंग में यह बहुत कुछ उसी

दूसरे और परवर्ती अर्थ का वाचक है जिसका उल्लेख ऊपर **उद्देश्य** के अन्तर्गत किया गया है। इसमें हमारी भावना या विचार का तत्त्व तो गौण रहता है; और स्वयं उस कार्य, वस्तु या विषय का भाव प्रधान होता है जिस पर हमारा मन केन्द्रित रहता है। जैसे– 'राज्य का **ध्येय** जनता पर नियंत्रण रखना नहीं, बल्कि उसका कल्याण करना होता है'। ध्येय मुख्यतः कुछ प्रयोजनों या सिद्धांतों पर आश्रित होता है। यों भले ही हम धन और नाम कमाने के उद्देश्य से लेखक बन जाएं पर हमारा ध्येय सदा पाठकों का ज्ञानवर्धन ही होना चाहिए।

'प्रयोजन' *पु०* (सं०) के अनेक अर्थ हैं; जैसे–अवसर, उपयुक्त समय, उपयोगिता आदि। इसके अतिरिक्त इस माला के अन्यान्य शब्दों का भी इसमें समावेश हो जाता है। इसमें करण या हेतु वाला कुछ तत्त्व तो वर्तमान है ही; फिर भी इसमें इन सबकी अपेक्षा एक विशेष विवक्षा लगी हुई है। प्रस्तुत प्रसंग में **प्रयोजन** ऐसे उद्देश्य, ध्येय या **लक्ष्य** को कहते हैं जिसकी कार्य-प्रणाली और रूपरेखा हम अपने मन में अच्छी तरह बना लेते हैं और उसकी कोई योजना स्थिर कर लेते हैं। जब हम कहते हैं 'इन चीजों (या बातों) से हमारा **प्रयोजन** सिद्ध नहीं होगा' तब हमारा आशय यही होता है कि हम अपने उद्देश्य या कार्य का जो प्रकार या रूप स्थिर कर चुके हैं वह इन चीजों (या बातों) से पूरा नहीं होगा– हमारा मतलब नहीं निकलेगा। हम यह भी कहते हैं – 'तुम्हारा यह सारा प्रयत्न हमें तो निष्प्रयोजन ही जान पड़ता है'। ऐसे अवसरों पर आशय यही होता है कि हमें तुम्हारा यह प्रयत्न बिल्कुल व्यर्थ जान पड़ता है। हमारे यहां साहित्य में जो 'प्रयोजनवती लक्षणा' स्थिर की गई है, उसमें भी **प्रयोजन** की वही विवक्षा मुख्य है जिसका उल्लेख ऊपर किया गया है। इसके अतिरिक्त अपने विस्तृत अर्थ में हमारे यहां इसका प्रयोग बड़े और शुभ कार्यों, उत्सवों, संस्कारों आदि के संबंध में भी होता है, जैसे जब उनके यहां कोई **प्रयोजन** होता है, तब वे हमें अवश्य बुलाते हैं। ऐसे अवसरों पर यह शब्द किसी पौराणिक कथा, ब्राह्मण भोजन, यज्ञ, यज्ञोपवीत, विवाह सरीखे उत्सवों का सूचक होता है।

'लक्ष्य' (सं०) का विशेषण रूप में मुख्य अर्थ है– जिस पर कोई चिह्न या निशान हो। इसी आधार पर इसका परवर्ती अर्थ होता है जिस पर दृष्टि जमे या लगे। संज्ञा रूप में इसका प्रयोग मुख्यतः आखेट या शिकार के क्षेत्र में होता रहा है। हम जिस जीव का शिकार करना चाहते हैं, उस पर पहले हमें अच्छी तरह दृष्टि जमानी पड़ती है। वही जीव हमारा **लक्ष्य** होता है। तात्त्विक दृष्टि से देखने पर ध्येय और **लक्ष्य** में यही सूक्ष्म अन्तर रह जाता है कि ध्येय में ध्यान की और **लक्ष्य** में दृष्टि की प्रधानता होती है। इसके सिवा ध्येय में उतना अधिक मनोनिवेश नहीं होता, जितना **लक्ष्य** में होता है। इससे और आगे बढ़ने पर साधारण प्रयोग में इसमें वह अर्थ भी आ लगता है जो **उद्देश्य** का दूसरा और परवर्ती अर्थ है। अर्थात् साधारणतः यह उस काम या बात का भी वाचक हो जाता है जिसके लिए हम कोई परिश्रम या प्रयत्न करते हैं पर ऐसी दशा में इसके साथ अन्तिम या चरम सीमा का भाव भी आ लगता है; जैसेः इस वर्ष हमारे यहां रेशम के उत्पादन का **लक्ष्य** 1 लाख मन रखा गया है। कुछ लोग इसके स्थान पर निशाना (फा० निशानः) का भी प्रयोग करते हैं।

××

उद्भावना– *स्त्री०* (सं०) दे० 'कल्पना, उद्भावना, उपज और सूझ।'

64. उधार मंगनी
Credit Loan

हिन्दी के ये दोनों शब्द उन स्थितियों के सूचक हैं जिनमें दूसरों से कोई चीज या कुछ धन अपना काम चलाने के लिए कुछ समय के लिए लिया जाता है; और अपना काम हो जाने या सुभीता होने पर वह चीज या धन उसी व्यक्ति को लौटा दिया जाता है जिससे वह लिया गया हो। परन्तु बहुत से लोग इन दोनों का सूक्ष्म अन्तर न जानने के कारण प्रायः एक के स्थान पर दूसरे का प्रयोग कर जाते हैं।

'उधार' (सं०) उद्धार से बना है। उद्धार का मुख्य अर्थ है– नीचे से उठाकर ऊपर करना। परन्तु लाक्षणिक रूप में इसका प्रयोग किसी प्रकार के कष्ट या संकट से बचाकर किसी की रक्षा करना है। ऋण या कर्ज, देन आदि की स्थिति में होना भी एक प्रकार के कष्ट या संकट में पड़ना ही है। इसीलिए जब लोग अपना ऋण या देन चुका देते थे तब समझते थे कि हम एक संकट से मुक्त हुए हैं; और इस संकट से होनेवाली मुक्ति को भी 'उद्धार' कहने लगे थे। आशय यह होता था कि ऋण या देन के संकट से हमारा छुटकारा हो गया।

'मंगनी' भी हिन्दी की मांगना क्रिया से बनी हुई भाव वाचक संज्ञा है। इसका प्राथमिक अर्थ है–मांगने की क्रिया या भाव। परन्तु लाक्षणिक रूप में इससे उस स्थिति का भी बोध होता है जिसमें हम अपना काम चलाने के लिए किसी से कोई चीज कुछ समय के लिए मांगकर लाते हैं; और अपना काम हो जाने पर वह चीज उसे लौटा देते हैं। वर और कन्या के विवाह के सम्बन्ध में जो पूर्वनिश्चय होता है उसे भी इसलिए **मंगनी** कहते हैं कि इसमें एक पक्ष दूसरे पक्ष से अपनी कन्या के लिए वर अथवा अपने पुत्र के लिए वधू मांगता है। परन्तु इस प्रसंग में वर या वधू को लौटा देने का इसलिए कोई प्रश्न नहीं होता कि वे दोनों पक्षों के परिवारों के समान अंग बन जाते हैं। अतः **मंगनी** के इस अर्थ को छोड़कर हम उसके मूल अर्थ पर आते हैं।

'उधार' और **'मंगनी'** के सम्बन्ध में मुख्य रूप से ध्यान रखने की एक बात है। **उधार** का प्रयोग तो ऐसी चीजों के सम्बन्ध में होता है जो ज्यों की त्यों और अपने मूल रूप में नहीं लौटाई जातीं बल्कि किसी दूसरे रूप में लौटाई जाती हैं। यदि हम किसी से सौ रुपए **उधार** लेते हैं तो हम वही रुपए नहीं लौटाते बल्कि दूसरे रुपए लौटाते हैं। यदि हमें रुपए नोटों के रूप में **उधार** मिलते हैं तो हम उन्हें रुपयों के रूप में भी लौटा सकते हैं और उन मूल नोटों से भिन्न दूसरे नोटों के रूप में भी। और यदि रुपये **उधार** लेते हैं तो नोटों के रूप में भी लौटा सकते हैं। यदि हम बाजार से कपड़े या दूसरी चीजें **उधार** लाते हैं तो हमें उनका मूल्य ही चुकाना पड़ता है। साधारण स्थिति में हम वे कपड़े या

चीजें नहीं लौटा सकते। परन्तु **मंगनी** के सम्बन्ध में विशेषता यह है कि जो चीज जिस रूप में हमें मांगने पर मिलती है ठीक वही चीज और अपने उसी मूल रूप में लौटानी पड़ती है। हम किसी से जो कलम या किताब **मंगनी** मांगकर लेते हैं वही कलम या किताब उसे लौटाते हैं, उसके बदले में कोई दूसरी कलम या दूसरी किताब नहीं लौटाते। हां, यदि वह हमसे खो जाय या खराब हो जाय, तो बात दूसरी है। इसीलिए यह कहना ठीक नहीं है कि हम महाजन से सौ रुपये **मंगनी** मांगकर लाये हैं, और न यही कहना ठीक है कि हमने यह कलम अपने मित्र मोहन से आज दिन भर के लिए **उधार** मांगकर ली है।

××

65. उन्नति प्रगति विकास

Advancement Progress Evolution Development

इस वर्ग के शब्द किसी काम या बात की ऐसी स्थितियों के वाचक हैं, जिनमें वे अपनी प्राकृतिक, मूल या सामान्य दशा से आगे बढ़ती और सुधार करती हुई कुछ या अधिक दूरी तक पहुंचती हैं।

'उन्नति' *स्त्री०* (सं०) मूलतः 'उन्नत' का भाववाचक रूप है। 'उन्नत' का अर्थ है– ऊंचाई तक या बहुत-कुछ ऊपर उठा या पहुंचा हुआ। यह शब्द ऐसी अवस्था या दशा का सूचक है जो साधारण से बहुत आगे बढ़ी हुई या उठी हुई हो, जैसे (क) वह था तो एक साधारण किसान का लड़का; पर उन्नति करता हुआ अपने प्रदेश का नेता (राजा या सरदार) बन गया था। (ख) इंग्लैंड ने किसी समय इतनी उन्नति की थी कि लगभग आधे संसार पर उसका राज्य हो गया था। (ग) विज्ञान ने अब इतनी उन्नति कर ली है कि लोग चन्द्रमा तक पहुँच चुके हैं।

'प्रगति' संस्कृत 'गति' में 'प्र' उपसर्ग लगाकर बनाया हुआ हाल का शब्द है जो मराठी से हिन्दी में आया है। 'उन्नति' की क्रिया बहुत दूरव्यापी और लम्बी होती है। **प्रगति** यह सूचित करती है कि इस मार्ग में किसी काम या व्यक्ति की गति कितनी और कैसी हुई है और उसमें किस सीमा तक सफलता हुई है; अथवा इस बीच में उसमें कौन सी अच्छी और नई प्राप्तियां हुई हैं, जैसेःआज-कल हमारे देश में औद्योगिक, वैज्ञानिक आदि क्षेत्रों में अच्छी **प्रगति** हो रही है। आशय यह होता है कि हम इन क्षेत्रों में बहुत से नए-नए काम कर रहे हैं और अच्छी बातें समझ और सीख रहे हैं।

'विकास' *पु०* (सं०) का संस्कृत में 'विकाश' रूप में भी प्रयोग हुआ है; और कदाचित् यही उसका मूल और वास्तविक रूप है। इसका पहला और मुख्य अर्थ है– किसी को प्रकाश से युक्त करना अथवा अपने आपको प्रकाश में लाकर व्यक्त करना। इसमें पहली विवक्षा सामने रखकर स्पष्ट करने की है, परन्तु आगे चलकर भारतीय भाषाओं में यह शब्द दो मुख्य अभिप्रायों या आशयों का सूचक हो गया है। पहले इसका प्रयोग यह सूचित करने के लिए होता था कि कोई काम या बात किस प्रकार और किस

रूप में सामने आई थी; और तब उसमें किस प्रकार और कौन-कौन अच्छी या नई बातें या शाखाएं निकलीं और वह काम या बात कैसे-कैसे रूप धारण करती हुई, और फैलती तथा बढ़ती हुई उन्नति तथा पूर्णता तक पहुंची। इसी आधार पर कुछ विद्वानों ने यह मत या सिद्धान्त प्रस्थापित किया कि कोई वस्तु अपनी आरम्भिक और बीज-रूपी अवस्था से अपनी प्रकृति के अनुसार बढ़ती तथा फूलती-फलती हुई पूर्णता तक पहुंचती है। इस प्रकार यह आदि से अब तक की हुई सारी उन्नति के क्रमिक रूप का वाचक है, जैसे काव्य या नाटक का **विकास**, साहित्य का **विकास**, सृष्टि का **विकास** आदि। **विकास** का यह मत या सिद्धान्त सारे संसार में प्रचलित भी है और सर्व-मान्य भी, परन्तु आज-कल इसमें जो एक नया अर्थ लगा है, वह किसी पिछड़ी हुई जाति या देश के उन्नति की ओर अग्रसर होने का भी सूचक है, और इस क्षेत्र में होनेवाली उसकी सामूहिक **प्रगति** का भी। जैसे (क) बीज का अच्छी तरह **विकास** होने पर उससे अच्छे पौधे या वृक्ष निकलते हैं। (ख) गर्भ में नौ मास तक शिशु का **विकास** बहुत-कुछ पूरा हो जाता है। (ग) हमारे देश का जिस प्रकार **विकास** हो रहा है, उसे देखते हुए कहा जा सकता है कि यह जल्दी ही यथेष्ट उन्नत और पूर्ण विकसित हो जायगा। ××

उपकरण- *पु०* (सं०) दे० 'यंत्र, यंत्रावली, उपकरण, औज़ार और संयंत्र'।

उपज- *स्त्री०* (हि० उपजना) दे० 'कल्पना, उद्भावना, उपज और सूझ'।

उपज्ञा - *स्त्री०* (सं०) दे० 'आविष्कार और उपज्ञा'।

उपनाम-*पु०* (सं०) दे० 'नाम, उपनाम, पदनाम, संज्ञा और सुनाम'।

उपबंध- *पु०* (सं०) दे० 'विधि, विधान, प्रविधान और संविधान' के अंतर्गत 'प्रविधान'।

उपभोक्ता- *पु०* (सं०) दे० 'भोग, उपभोग और खपत'।

उपभोग- *पु* (सं०) दे० 'भोग, उपभोग और खपत'।

66. उपयोग प्रयोग व्यवहार

Utilization Application, Use Use

इस वर्ग के शब्द ऐसी स्थितियों के वाचक हैं जिनमें हम कोई चीज या बात किसी विशेष उद्देश्य की सिद्धि के लिए अपने काम में लाते हैं। कुछ अवस्थाओं और क्षेत्रों में इनमें से एक के स्थान पर कोई दूसरा शब्द रखकर भी काम तो चला लेते हैं; फिर भी इनके अर्थों और आशयों में कुछ सूक्ष्म अन्तर हैं।

'उपयोग' संस्कृत के 'योग' में 'उप' उपसर्ग लगाकर बनाया गया है। किसी चीज का काम में लाया जाना ही उसका **'उपयोग'** कहलाता है।

किसी चीज का **उपयोग** उस चीज के गुण और विशेषता के आधार पर तथा अपने

हित के विचार से होता है।* यही इसकी मुख्य विवक्षा है, जैसेःखाने-पीने की कोई अच्छी चीज कभी फेंकनी नहीं चाहिए; क्योंकि किसी-न-किसी के लिए उसका कुछ-न-कुछ **उपयोग** हो सकता है। जब हम कहते हैं, "हमारे लिए आपकी इन बातों का कोई **उपयोग** नहीं है" तब हमारा आशय यही होता है कि हम आपकी ये बातें इसलिए नहीं मान सकते कि इनसे हमारा कोई लाभ या हित नहीं होगा। कुछ अवस्थाओं में इसका **प्रयोग** केवल काम में लाने के लिए ही होता है; जैसे हमें अपने अधिकार या शक्ति का सदा समझ-बूझकर **उपयोग** करना चाहिए।

'प्रयोग' पु० (सं०) भी बहुत कुछ वही है, जो **उपयोग** है; परन्तु इसमें कुछ और मुख्य विवक्षाएं भी मिली हुई हैं। **प्रयोग** का पहला और मुख्य अर्थ है– चीजों को आपस में जोड़ना या मिलाना। दूसरा साधारण अर्थ है - काम में लाना। जब हम कोई चीज किसी विशिष्ट अवसर और किसी विशिष्ट उद्देश्य की सिद्धि के लिए काम में लाते हैं; तब हमारा ऐसा करना उसका **'प्रयोग'** कहलाता है, जैसे (क) जब और किसी प्रकार काम न चला, तब उन्हें अपने विशेषाधिकार का **प्रयोग** करना पड़ा। (ख) हमारे यहां ब्रह्मास्त्र का **प्रयोग** सबके अन्त में किया जाता था। (ग) आज-कल हम लोग अपनी भाषा को अधिक व्यंजक बनाने के लिए बहुत से नए शब्दों का **प्रयोग** करने लगे हैं, और (घ) यदि आपको और दवाओं से कोई लाभ न हुआ हो तो एक बार इस दवा का भी **प्रयोग** कर देखें। उक्त अर्थ में इसके स्थान पर उर्दू की देखा-देखी कुछ लोग अरबी के **इस्तेमाल** का भी **प्रयोग** करते हैं।

'प्रयोग' के दूसरे आर्थी क्षेत्र में ऐसे काम, चीजें या बातें आती हैं जो अपने परिणाम या फल के विचार से अच्छी और लाभदायक सिद्ध हो चुकी हों; और इसीलिए जिनकी कोई परम्परा स्थापित हो चुकी हो या परिपाटी बन गई हो। तंत्रशास्त्र के उच्चारण, मारण, मोहन, वशीकरण आदि इसी दृष्टि से **प्रयोग** कहे जाते हैं। हमारे यहां के वैद्यकशास्त्र में औषधों और परिचर्याओं के अनेक ऐसे **प्रयोग** प्रसिद्ध हैं, जैसे परपटी का **प्रयोग**, रेचन का **प्रयोग**, वस्तिकरण का **प्रयोग** आदि। भाषिक क्षेत्र में भावव्यंजन के कुछ ऐसे पद भी **'प्रयोग'** कहलाते हैं जिनकी शब्द योजना निश्चित और बंधी हुई होती है। प्रत्येक भाषा में अपने-अपने और अलग प्रकार के **प्रयोग** होते हैं; और दूसरी भाषाओं में प्रायः उनका अविकल अनुवाद नहीं हो सकता। उदाहरणार्थ (क) "बातें करते-करते गालियों पर उतर आए।" (ख) "वे खड़े-खड़े आए और चले गए।" और (ग) "बातों ही बातों में सारा मामला बिगड़ गया।" सरीखे वाक्य लीजिए। इनमें के, 'गालियों पर उतर आए', 'खड़े-खड़े' और 'बातों ही बातों में...' विशेष रूप से हिन्दी के **प्रयोग** हैं। यदि कोई कहे– 'इसे चौसठ योगिनियों के मन्दिर के नाम से पुकारा जाता है या इसे अच्छी फसल की संज्ञा दी जा सकती है' तो कहा जाएगा कि इनमें के 'नाम से पुकारा जाता है' और 'संज्ञा दी जा सकती है' **प्रयोग** हिन्दी के नहीं हैं, बल्कि अंग्रेजी के हैं; और इसीलिए

---

* इसी आधार पर इसका भाववाचक रूप 'उपयोगिता' बनता है। इसका अर्थ ही है, किसी चीज का वह गुण या विशेषता जिसके फलस्वरूप वह काम में लाई जाती है।

त्याज्य हैं अथवा शिष्टसम्मत नहीं हैं।

'प्रयोग' का तीसरा आर्थी क्षेत्र वह है जिसमें परीक्षण, प्रशिक्षण आदि से सम्बद्ध कुछ विशिष्ट काम या बातें आती हैं। आज-कल वैज्ञानिक क्षेत्र में अनेक प्रकार के अनुसंधान होते रहते हैं और नई-नई बातें ढूंढ़कर निकाली जाती हैं। इनके लिए जो क्रियाएं या व्यापार किए जाते हैं; उन्हें भी **प्रयोग** ही कहते हैं*, जैसे: आज-कल गेहूं और धान की अच्छी और अधिक उपजाऊ फसलें तैयार करने के लिए सारे देश में अनेक प्रकार के **प्रयोग** हो रहे हैं। ऐसे प्रयोगों के सफल सिद्ध हो चुकने पर नए शिक्षार्थियों को उनकी सारी क्रियाएं बतलाने और समझाने-सिखाने के लिए जो क्रम चलाए जाते हैं उन्हें भी **प्रयोग** ही कहते हैं।

कुछ अवस्थाओं में नई चीजों या बातों का उपयोग और प्रचलन भी **'प्रयोग'** कहलाता है, जैसे: आज-कल बहुत से कल-कारखानों में और यहां तक की रेलों आदि में भी भाप के इंजनों के स्थान पर बिजली का ही **प्रयोग** होने लगा है। इसका विशेषण रूप 'प्रायोगिक' होता है। इस वर्ग में ऊपर **प्रयोग** के जो दो अर्थ बतलाए गए हैं उनके लिए हिन्दी में कभी-कभी उर्दू का तज्रुबा (अ० तज्रिब:) शब्द का भी प्रचलन देखने में आता है।

'व्यवहार' *पु*॰(सं) का मूल अर्थ है-- किसी निश्चय, बात या विचार को कार्य के रूप में घटित या प्रस्तुत करना या कार्य का रूप देना। इसी आधार पर इसका विशेषण रूप 'व्यावहारिक' बना है जिसका अर्थ होता है-- जो किया जा सकता हो या किए जाने के योग्य हो, परन्तु आगे चलकर इसमें कुछ और विवक्षाएं मिल गई हैं। जिनका विवेचन आचरण, आचार और **व्यवहार** की माला में किया जा चुका है। प्रस्तुत प्रसंग में इसका अर्थ होता है किसी चीज को नियम परिपाटी प्रथा सिद्धान्त आदि के रूप में मानकर नित्य उसी काम में लाते रहना या उससे काम लेते रहना। इसमें मुख्य भाव लोक में होनेवाली 'प्रचलन' के पालन का है, जैसे (क) हिन्दी में अधिकतर संस्कृत शब्दों का और उर्दू में अधिकतर अरबी, फारसी शब्दों का **व्यवहार** होता है। (ख) जाड़े में प्रायः सभी लोग गरम कपड़ों का **व्यवहार** करते हैं। 'व्यवहार' में आवश्यकता का भाव होता है, परन्तु उपयोगिता और प्रचलन की तुलना में यह इसलिए गौण रहता है कि वह प्रणाली या प्रथा का रूप धारण कर लेता है। विशेष दे० आचरण, 'आचार और **व्यवहार**'। **'प्रयोग** और **व्यवहार'** में मुख्य अंतर यह है कि **प्रयोग** तो आरम्भिक, तात्कालिक या परीक्षणात्मक होता है; परन्तु **व्यवहार** नित्य अथवा प्रायः अभ्यास, प्रथा, रीति आदि के रूप में होता, चलता या होता रहता है।

××

---

* जिन कक्षों या भवनों में इस प्रकार के **प्रयोग** किए जाते हैं, अथवा दूसरों को सिखाए जा[illegible] हैं उन्हें प्रयोगशाला (Laboratary) कहते हैं।

67. उपयोगिता — उपादेयता

Utility — Usefulness

इस वर्ग के शब्द किसी वस्तु में होनेवाले ऐसे गुणों, विशेषताओं आदि के सूचक हैं, जिनके कारण लोग उसे काम में लाते अथवा ग्रहण करते हैं।

'उपयोगिता' *स्त्री०* (सं०) उपयोग (दे० उपयोग, प्रयोग और व्यवहार') की भाववाचक संज्ञा है। इसका अर्थ है– उपयोग करने या काम में लाने की अवस्था, गुण और भाव। जब हम कोई चीज काम में लाते हैं तब यही देखते हैं कि वह हमारे लिए काम में आने के योग्य है या नहीं। साधारणतः अन्न-जल, भोजन-वस्त्र, वायु आदि ऐसी चीजें हैं जो सभी प्राणियों के उपयोग में आती हैं। यह इन सब चीजों की **उपयोगिता** है। इसमें मुख्य भाव काम में आ सकने के योग्य होना है। कुछ चीजों की **उपयोगिता** हमारी दृष्टि से तो हो सकती है, परन्तु औरों की दृष्टि में नहीं भी हो सकती। खालें और चमड़ा जंगली, पहाड़ी और बर्फीले प्रदेशों में रहनेवालों के ओढ़ने-बिछाने में काम आते हैं; और उनकी दृष्टि में यही इन चीजों की उपयोगिता है, परन्तु सभ्य समाज में इनकी उपयोगिता इस दृष्टि से है कि इन चीजों से जूते, गद्दे, तस्मे, बक्स आदि बनते हैं। इस प्रकार उपयोगिता में आवश्यकतावाले भाव के अतिरिक्त अपेक्षावाला भाव भी सम्मिलित है।

'उपादेयता' *स्त्री०* (सं०) उपादेय का भाववाचक संज्ञा रूप है। उपादेय का पहला अर्थ है– ग्रहण किए जा सकने या लिए जा सकने के योग्य। परन्तु इसके विकसित अर्थ हैं– (क) ग्राह्य या मान्य; (ख) चयन करने या संग्रह करने के योग्य; (ग) उत्तम प्रशंसनीय और श्रेष्ठ आदि आदि। उपयोगिता में तो काम में आ सकने भर का भाव है; परन्तु **उपादेयता** में लाभदायक अथवा हितकर होने का भाव मुख्य है। सुन्दर काव्यों, चित्रों, मूर्तियों, साहित्यिक ग्रन्थों आदि की **उपादेयता** सर्वमान्य ही है; परन्तु इनमें जो हितकर और लाभदायक तत्त्व होते हैं, वे सबकी दृष्टि में समान नहीं होते। इन सब वस्तुओं के गुणियों, ज्ञाताओं और पारखियों की दृष्टि में ही इनकी **उपादेयता** आती है। इस दृष्टि से इनके ये गुण भी आपेक्षिक ही हैं। **उपादेयता** की मुख्य विशेषता यही है कि वस्तु ज्ञानवर्धक, नीति सम्मत और किसी न किसी रूप में हमारे लिए लाभदायक और हितकर हो। ××

उपलब्धि- *स्त्री०* (सं०) 'प्राप्ति, लाभ, उपलब्धि और परिलब्धि'।

उपवास - *पु०* (सं०) दे० 'अनशन, उपवास, प्रायोपवेषन, लंघन और व्रत '।

68. उपस्थित प्रस्तुत वर्तमान विद्यमान

उपस्थित	प्रस्तुत	वर्तमान	विद्यमान
Present	Present	Existing Present	Existing Present

ये विशेषण ऐसी चीजों, विचारों, व्यक्तियों आदि के पहले लगते हैं जो कहीं से चलकर हमारे सामने आए हों या इकट्ठे हुए हों।

'उपस्थित' *वि०* (सं०) का पहला और मूल अर्थ है-- जो कहीं से आकर पहुंचा और किसी के पास स्थित हुआ हो, जैसे (क) सभा में अनेक विद्वान् (या गुरुजी के सामने सभी शिष्य) **उपस्थित** थे। (ख) अभियुक्तों को न्यायालय में **उपस्थित** करने की आज्ञा दी गयी। और (ग) जो सामग्री यहां **उपस्थित** है उसी से काम चलाओ। इससे और आगे बढ़ने पर इसका प्रयोग ऐसी चीजों या बातों के लिए भी होता है जो हमारे सामने विचार आदि के लिए आई हों अथवा जो हमारे इतने पास हों कि हम अनायास उनका उपयोग कर सकते हों; जैसेः सदन के सामने तीन प्रस्ताव **उपस्थित** किए गए थे। 'उपस्थित बुद्धि' का अर्थ होता है– ऐसी बुद्धि जो आवश्यकता होने पर तुरन्त अपना काम कर सके। इसके सिवा इसका प्रयोग ऐसी चीजों या बातों के सम्बन्ध में भी होता है जो हमारी स्मृति में ठीक और पूरी तरह से अंकित हों और आवश्यकता होने पर जिनका तत्काल उपयोग हो सके, जैसेः उन्हें सारी गीता **उपस्थित** है। आशय यही होता है कि उन्हें गीता के सब श्लोक अच्छी तरह कंठस्थ हैं, और वे जब जहां से चाहें, तब वहां से आरम्भ करके गा या सुना सकते हैं।

'प्रस्तुत' *वि०* (सं०) का मूल अर्थ है– जो प्रस्ताव के रूप में सामने आया या रखा गया हो। इसका एक विकारी रूप प्रस्तोता (सं० प्रस्त्रोतृ) भी होता है। जो प्रस्तावक या प्रस्ताव करनेवाले का वाचक है। परन्तु हिन्दी में इसका यह मूल अर्थ छूट गया है, और इसी छाया या विवक्षा से युक्त होकर कुछ भिन्न और विस्तृत क्षेत्र में यह शब्द व्यवहार में आने लगा है। सं० में **प्रस्तुत** का एक और अर्थ होता है– जिसका उल्लेख, चर्चा या विचार हो रहा हो अथवा होने को हो।* अर्थ की छाया या विवक्षा इसमें मुख्य रूप से दिखाई देती है, जैसेः आप जो कुछ कहें, वह **प्रस्तुत** विषय से ही संबद्ध हो, इधर-उधर की बातों में न आ जाएं। अर्थात् इसका सम्बन्ध ऐसी बातों या विषयों से है जो हमारे सामने निर्णय, विचार, विवेचन आदि के लिए आए हों। इसी आधार पर साहित्य में इसका प्रयोग संज्ञा रूप में भी होता

---

* इसके सिवा सं० में **प्रस्तुत** के और भी कई अर्थ होते हैं; जैसे (क) जिसकी स्तुति या प्रशंसा की गयी हो। (ख) जो काम में आने के योग्य हो गया हो। (ग) जो कोई काम करने के लिए सब तरह से तैयार हो। आदि आदि। परन्तु ये सब अर्थ यहां हमारे क्षेत्र या प्रसंग से बाहर के पड़ते हैं।

है। यहां **प्रस्तुत** ऐसी बात, वस्तु या विषय को कहते हैं जिसकी चर्चा प्रत्यक्ष रूप से हो रही हो; और प्रसंगवश जिसके साथ दूसरी बात, वस्तु या विषय का भी (उपमा, तुलना आदि के विचार से) उल्लेख या चर्चा हो जाती या हो सकती हो। जिस वस्तु या विषय की प्रत्यक्ष रूप से चर्चा होती है उसे **'प्रस्तुत'** कहते हैं। पर यदि उसके साथ (उपमा, तुलना आदि के रूप में) कुछ वस्तु या विषयों की चर्चा हो तो ऐसी वस्तुएं या विषय अप्रस्तुत कहलाते हैं। यदि कहा जाए - 'उसका मुख चन्द्रमा के समान है' तो 'मुख' **प्रस्तुत** माना जाएगा और 'चन्द्रमा' अप्रस्तुत। इसी आधार पर साहित्य में विशेषण रूप में एक विशिष्ट अर्थ में इसका प्रयोग होने लगा है। वह अर्थ है - नियमित, प्रत्यक्ष और साधारण रूप में कहा हुआ। **प्रस्तुत** प्रशंसा उसे कहते हैं जो सीधी तरह से और स्पष्ट रूप से की जाए, जैसे:आपकी गणना काशी के प्रसिद्ध विद्वानों में होती है। इसके विपरीत जो बात अप्रत्यक्ष रूप से कुछ घुमा-फिराकर या हेर-फेर से कही जाए तो उसे **अप्रस्तुत** कहते हैं। यदि किसी दुष्ट या धूर्त व्यक्ति के सम्बन्ध में व्यंग्यपूर्वक कहा जाए 'अजी वे बहुत बड़े महात्मा हैं' तो इसे अप्रस्तुत निंदा कहेंगे।

'वर्तमान' *वि०पु०* (सं०) के मूल अर्थ हैं—चलता हुआ, घूमता या चक्कर खाता हुआ आदि। पर इसका प्रचलित और प्रसिद्ध अर्थ है—जो इस समय हो, चल रहा हो, या बीत रहा हो। इसी आधार पर यह काल या समय के तीन मुख्य विभागों में से दूसरा और बीच का विभाग है। जो कुछ भूत और भविष्य के बीच में हो और इस समय चल या बीत रहा हो वही **वर्तमान** हैं, जैसे **वर्तमान** युग, **वर्तमान** साहित्य आदि। यह पुराने और बीते हुए युग या साहित्य से अलग है और आनेवाले उस युग या साहित्य से भी इसका कोई सम्बन्ध नहीं है। हां, यह आज-कल या इस समय चल या बीत रहा है अथवा बनता चलता है। इसका प्रयोग मुख्य रूप से अस्तित्व का सूचक होता है, जैसे:यह प्रथा हमारे यहां अभी तक **वर्तमान** है। इसी बीते हुए उद्दिष्ट या निश्चित काल, पदार्थ आदि के सम्बन्ध में भी इसका प्रयोग होता है, जैसे:उन दिनों यह नगर बहुत ही अच्छी दशा में **वर्तमान** था; अर्थात् उसका अस्तित्व बना हुआ था, नष्ट नहीं हुआ था।

'विद्यमान' (वि० सं०) मुख्य रूप से अस्तित्व का ही सूचक है जिसमें चलते रहने या व्यतीत होनेवाला वह भाव सम्मिलित नहीं है जो **'वर्तमान'** में आरम्भिक और मुख्य रूप से विवक्षित हैं। यदि कहा जाए—'उन दिनों उनके पिता जी भी **विद्यमान** थे' तो इसका अर्थ यही होगा कि उनका अस्तित्व था और वे जीवित थे। इसमें अस्तित्व का भाव ही प्रधान है। प्रायः अनेक अवसरों पर उक्त चारों शब्दों के स्थान पर अ० के **'मौजूद'** का भी प्रयोग होता है। यह शब्द अ० के वजूद (= अस्तित्व) का विकारी रूप है। ××

69. उपहास, खिल्ली ठट्ठा ठठोली
Ridicule Derision Banter

इस वर्ग के शब्द ऐसी बातों के वाचक हैं जो लोगों के हंसने-हंसाने के लिए दूसरों के संबंध में कही जाती हैं। यद्यपि इनका मुख्य उद्देश्य हंसना-हंसाना ही होता है; फिर भी गौण रूप से इन बातों में कुछ ऐसे तत्त्व रहते हैं, जो किसी उद्दिष्ट व्यक्ति को कुछ तुच्छ, मूर्ख या हीन भी सिद्ध करते हैं।

'उपहास' *पु०* (सं०) का प्रयोग उस समय होता है, जब किसी व्यक्ति या व्यक्तियों को ऐसे ढंग से तुच्छ सिद्ध किया जाता है कि लोगों को अनायास हंसी आ जाए*। साधारण बोल-चाल में इसी को 'हंसी या मजाक उड़ाना' कहते हैं। हम कभी अपने मित्र की भद्दी भूल का **उपहास** करते या हंसी उड़ाते हैं, कभी किसी की बेतुकी कविता या बातों की। उद्देश्य यही होता है कि लोग उसकी तुच्छता या भद्दापन समझकर हंस पड़ें। सार्वजनिक रूप से इस प्रकार की जो बातें कही या लिखी जाती हैं, उनका एक गौण उद्देश्य लोगों की दृष्टि में भूल करनेवाले को कुछ नीचा दिखाना भी होता है।

'खिल्ली' *स्त्री०* (हि०) शब्द खिल-खिलाकर हंसनेवाले प्रयोग के अनुकरणात्मक रूप में बना है। **खिल्ली** भी है तो बहुत-कुछ वही जो **उपहास** है; फिर भी दोनों में कुछ सूक्ष्म अन्तर हैं। **उपहास** तो शिष्ट और सभ्य लोगों का तथा साहित्यिक क्षेत्र का शब्द है; परन्तु **खिल्ली** साधारण व्यक्तियों की बोल-चाल का शब्द है। दूसरे, **खिल्ली** में किसी को तुच्छ या हीन सिद्ध करने का ही प्रयत्न होता है; उसकी त्रुटियां दोष या भूलें दूर कराने का भाव प्रायः नहीं के समान होता है। कुछ अवस्थाओं में **खिल्ली** के लिए यह आवश्यक नहीं कि वह किसी की त्रुटि, दोष या भूल पर ही आश्रित हो; वह निराधार भी हो सकती है। किसी के सम्बन्ध में यह कहना–'इनकी नाक क्या है, बासी रोटी पर रखा हुआ करेला है'; उसकी खिल्ली उड़ाना है। इसके साथ सदा "उड़ाना" क्रिया का प्रयोग होता है।

'ठट्ठा' *पु०* (हिं) के "ठठाकर हंसना" वाले प्रयोग से अनुकरणात्मक रूप में बना है। यह उपहास और खिल्ली दोनों की अपेक्षा प्रायः अधिक निर्दोष होता है; और इसमें केवल कुतूहलजनक या विलक्षण बातों के द्वारा हंसना-हंसाना ही उद्दिष्ट होता है। यदि कहीं बीच में कोई ताना या व्यंग्य आ भी जाए तो वह गौण ही रहता है। उसकी कटुता या तीव्रता की ओर जल्दी किसी का ध्यान ही नहीं जाता। इसीलिए इसके योग से हंसी-ठठ्ठा पद बन गया है जो विशुद्ध परिहास का वाचक है।

---

* जिस कृति या उसके कर्ता में कोई ऐसी बेढंगी या भद्दी बात हो जिसे देखकर लोगों को आप ही आप हंसी आती हो, उसे **'उपहासास्पद'** कहते हैं। कुछ लोग इसके स्थान पर 'हास्यास्पद' का भी प्रयोग करते हैं; परन्तु मेरी दृष्टि में विशुद्ध शब्दार्थ के विचार से यह उपयुक्त और युक्ति संगत नहीं है।

'ठठोली' *स्त्री०* भी प्रभाव और व्युत्पत्ति की दृष्टि से बहुत कुछ वही है जो ''ठट्ठा' है; कोई अन्तर है तो यही कि ठठोली का प्रयोग दो-चार व्यक्तियों की आपस की बात-चीत के प्रसंग में ही होता है। इसके सिवा पुरानी शृंगारिक कविताओं और गीतों में इसके प्रयोग मिलते हैं, परन्तु आधुनिक गद्य में यह शब्द बहुत कम आता हुआ और मरता-सा जान पड़ता है। कहीं-कहीं इसे ''ठठोरी'' भी कहते हैं यथा–काहे पिया मोसे तुम करत ठिठोरी रे। –ठुमरी।

इस कोटि के अन्यान्य शब्दों के लिए देखें- (1) हंसी, दिल्लगी, परिहास, चुहुल और फबती। और (2) व्यंग्य, कटाक्ष, चुटकी, ताना और बोली।××

उपादेयता- *स्त्री०* (सं०) दे० 'उपयोगिता और उपादेयता'।

उभय संकट- *पु०* (सं०) दे० 'असमंजस, उभय-संकट, दुविधा और हिचक'।

उमर- *स्त्री०* (अ० उम्र) दे० 'आयु, अवस्था और वय'।

उम्मीद- *स्त्री०* (फा० उम्मीद) दे० 'आशा, प्रत्याशा और प्रतीक्षा'।

70. ऊपर पर

About, Upon At, On

'ऊपर' (सं० उपरि) सम्बन्ध बोधक अव्यय होने **पर** भी प्रायः क्रिया-विशेषण की तरह और कभी-कभी विशेषण की तरह (और फलतः संज्ञा की तरह) भी प्रयुक्त होता है। यों तो यह 'तले' या 'नीचे' का विपर्याय है और किसी तल, विन्दु या विस्तार की तुलना में ऊंचाईवाली दिशा या विस्तार अर्थात् उत्सेध की ओर संकेत करता है; और इसका अर्थ होता है- आकाश या ऊर्ध्व की ओर; जैसे नीचे धरती और **ऊपर** आकाश है। **पर** विस्तृत अर्थ में यह और भी कई प्रकार के आशय या भाव प्रकट करता है, जैसे–

1. ऊंचाई **पर** या ऊंचे स्थान **पर**, जैसेः अब तो वे **ऊपर** (मकान के दूसरे या तीसरे खंड में) चले गए हैं।

2. किसी विस्तार के पूरे तल **पर**, जैसेः वह कमीज के **ऊपर** कोट पहनता है।

3. आधार या सहारे **पर**, जैसेः मेज के नीचे की किताबें भी उठाकर उसके **ऊपर** रख दो।

4. बहुत ही पास के स्थान में या सटा हुआ, जैसेः उसका नया मकान गंगा के ठीक **ऊपर** है।

5. किसी प्रकार के क्रम, कोटि, वर्ग या श्रेणी के विचार से आगे बढ़ा हुआ, जैसेः वह **ऊपर** के दरजे में चला गया है।

6. किसी क्रम के विचार से पहले से पहले आया हुआ, जैसेः **ऊपर** की सब रकमों का जोड़ लगा दो।

7. पद, मर्यादा आदि के विचार से आधिकारिक, उच्च या श्रेष्ठ स्थिति में, जैसेः **ऊपर** की अदालत, **ऊपर** के हाकिम आदि।

8. किसी प्रकार के कार्य के निर्वाह या भार-वहन के विचार से, उत्तरदायित्व के रूप में, जैसेः तुम तो सभी काम हमारे **ऊपर** लादते चलते हो।

9. उपयोगिता, गुण, विशेषता आदि के विचार से किसी की तुलना में आगे बढ़ा हुआ या श्रेष्ठ, जैसेःआपकी सम्मति सबके **ऊपर** है।

10. जिसके आगे सभी दबे रहें या हीन ठहरें, जैसेः तुम तो सदा अपनी ही बात **ऊपर** रखते हो।

11. किसी अंकित, नियत या निर्धारित मात्रा, मान, संख्या आदि से अधिक या ज्यादा, जैसेः (क) यह महीने भर से **ऊपर** की बात है। (ख) इसमें सौ रुपए से **ऊपर** खर्च होंगे।

12. नियत, नियमित आदि के अतिरिक्त या उससे भिन्न, जैसेः उन्हें **ऊपर** की आमदनी भी हो जाती है।

13. अन्दर या भीतर की तुलना में, प्रत्यक्ष, बाहर या सामने, जैसेःइस दवा से अन्दर का बुखार **ऊपर** आ जाएगा।

इस अव्यय की पुनरुक्ति से जो 'ऊपर-ऊपर' पद बनता है, उनके भी कुछ विशिष्ट अर्थ होते हैं जो उक्त सभी अर्थों से प्रायः बहुत कुछ भिन्न होते हैं, यथा–

1. किसी क्षेत्र से अलग या बाहर रहकर, जैसेःवे ऊपर-ऊपर आए और चले गए, हमसे मिले तक नहीं।

2. ऐसे रूप में कि जल्दी किसी को पता न लगने पाए, चुपचाप या चोरी से, जैसेः उसने ऊपर-ऊपर सारी कार्रवाई कर ली और किसी को पता भी न चलने दिया।

इससे 'ऊपर-ऊपर से' पद भी बनता है, जिसका अर्थ होता है - बिना गहराई में या तह तक पहुंचे, अथवा बिना गम्भीर विचार किए, जैसेःऊपर-ऊपर से तो यही जान पड़ता है कि उसका कोई दोष नहीं है। इसके सिवा इससे एक और पद बनता है - 'ऊपर से' जिसका एक अर्थ तो वही होता है जो 'ऊपर-ऊपर से' का बतलाया गया है। इसके सिवा एक और अर्थ भी होता है– केवल औपचारिक रूप से या देखने-दिखाने भर को, जैसेः**ऊपर** से तो वे बहुत मिलनसार जान पड़ते हैं, अन्दर की बात राम जाने।

'पर' विभक्ति या परसर्ग भी इसी **'ऊपर'** का 'ऊ' लुप्त होने से बना है। परन्तु **'पर'** का प्रयोग सदा परसर्ग विभक्ति के रूप में ही होता है, **'ऊपर'** की तरह क्रियाविशेषण या विशेषण के रूप में नहीं। कुछ अवस्थाओं में तो इसका प्रयोग भी **'ऊपर'** की तरह ही होता है, जैसेःकमीज **पर** कोट भी पहन लो; पुस्तकें मेज **पर** रख दो; हम **पर** इतना भार मत रखो; तालाब **पर** एक मन्दिर भी है आदि। **पर** कुछ अवस्थाओं में **'पर'** के कुछ अतिरिक्त आशय या भाव भी होते हैं।

व्याकरण की दृष्टि से **'पर'** सप्तमी या अधिकरण कारक का चिह्न है, जैसेः

(क) **जमीन पर** मत बैठो। (ख) वह घर **पर** नहीं है। परन्तु कुछ ऐसे अर्थ या आशय भी होते हैं जो **'ऊपर'** के अर्थों से भिन्न हैं; यथा

1. किसी कार्य या घटना के तुरन्त उपरान्त, पश्चात, पीछे या बाद, जैसेःइस **पर** मैं और क्या कहता!

2. किसी काम या बात को आधार बना या मानकर, जैसे (क) इसी बात **पर** तो वे नाराज होकर चले गए। (ख) तुम उनकी बातों **पर** मत जाओ।

3. किसी नियत धन या रकम के बदले में, अथवा किसी पदार्थ या वस्तु के बदले में, जैसे (क) उन्होंने किराये **पर** शहर में एक मकान ले लिया। (ख) उन्होंने सौ रुपये **पर** अपनी जेब-घड़ी रेहन रख दी है। (ग) अब इनके स्थान **पर** नये अधिकारी आ गये हैं।

4. किसी अवसर, व्यक्ति आदि के निमित्त, जैसे (क) ब्याह **पर** हजारों रुपये व्यर्थ उड़ गए। (ख) इस लड़के **पर** 20 रुपया महीना खर्च पड़ता है। (ग) वह नौकरी या लड़ाई **पर** गया है।

5. द्वारा या से, जैसे (क) फोन **पर** बातें करना। (ख) रेडियो **पर** गाना।

6. एक के बाद एक, निरन्तर या लगातार, जैसे (क) आदमी **पर** आदमी आते गए। (ख) दिन **पर** दिन बीतते गए।

7. किसी को आधार या पात्र बना या मानकर उसके प्रति, जैसे (क) किसी **पर** बिगड़ना। (ख) किसी **पर** जान देना या मरना।*

उक्त सभी अवसरों **पर** सदा **'पर'** का ही प्रयोग होता है, **'ऊपर'** का नहीं। इसी आधार **पर** यह कहना ठीक नहीं है - (क) उनका (या उन्हें) हमारे **ऊपर** सन्देह है। और (ख) उनके **ऊपर** से हमारा विश्वास हट गया है। क्रमात् होना चाहिए - (क) उन्हें हम **पर** सन्देह है। और (ख) उन **पर** से हमारा विश्वास हट गया है।

'ऊपर' और **'पर'** के प्रयोगों के सम्बन्ध में विचार करने **पर** पता चलता है कि कुछ अवस्थाओं में इनमें बहुत सूक्ष्म अन्तर भी होते हैं। प्रस्तुत प्रसंग में **'पर'** में यह भाव होता है - ऐसे रूप में कि एक चीज के ऊपरी तल के साथ दूसरी चीज का नीचेवाला तल सटा रहे, जैसेःपुस्तक मेज पर रखी है। परन्तु **'ऊपर'** में दोनों चीजों के तलों का सटा रहना न तो अनिवार्य या आवश्यक ही है और न प्रधान ही। **'ऊपर'** में मुख्य भाव उत्सेध या

---

* यहां यह भी ध्यान रखना चाहिए कि 'किसी **पर** जान देना या मरना' और 'किसी के लिए जान देना या मरना' में बहुत अन्तर है। साधारणतः 'किसी **पर** जान देना या मरना' का तो शृंगारिक क्षेत्र है ही जो बहुत अधिक अनुराग का सूचक है। पर 'किसी के लिए जान देना या मरना' कई प्रकार के भिन्न भावों का सूचक है। पहला भाव तो प्राप्ति का सूचक है, जैसेःवे रुपए के लिए मरते हैं; अर्थात् रुपए पाने के लिए बहुत अधिक प्रयत्न करते हैं। पर जब हम कहते हैं - 'वे अपनी इज्जत (या बात) के लिए मरते हैं' तो इसका आशय होता है कि वे अपनी इज्जत नष्ट नहीं होने देना चाहते। इसी प्रकार 'देश पर मरते हैं' और 'देश के लिए मरते हैं' में भी उक्त अन्तर स्पष्ट दिखाई देता है। 'देश पर मरते हैं' तो देश के प्रति उत्कट अनुराग का सूचक है,परन्तु 'देश के लिए मरते हैं' का आशय होता है - स्वयं देश की रक्षा सम्मान के विचार से प्राण तक दे देते या देना चाहते हैं।

ऊंचाई **पर** आश्रित या स्थित रहते का है। 'बन्दर पेड़ **पर** बैठा है' और 'बन्दर उछलकर पेड़ के **ऊपर** आ पहुंचा' सरीखे प्रयोगों में **ऊपर** बतलाया हुआ अन्तर स्पष्ट हो जाता है। इसी प्रकार के कुछ और उदाहरण लीजिए -

1. टोपी सिर **'पर'** पहनी जाती है और पगड़ी उस (टोपी) के **'ऊपर'** बांधी जाती है।

2. रेल की पटरी या लाइन तो पुल **'पर'** बिछी रहती है, परन्तु दोतल्ले पुलों में (जैसे राजघाट वाले पुल में) पुल के **'ऊपर'** (अर्थात् पटरीवाले विस्तार के ऊपरी भाग में या और अधिक ऊंचाई **पर**) वह सड़क होती है जिस **पर** पैदल यात्री, बैल-गाड़ियां, मोटरें आदि चलती हैं।

3. नावें पानी **'पर'** चलती या तैरती हैं, परन्तु मछलियां कभी-कभी उछलकर पानी के **'ऊपर'** भी आ जाती हैं।

इसके सिवा एक और बात है। ऐसी अवस्थाओं में जहां अन्दर की अपेक्षा, तुलना या विपरीतता का प्रसंग होता है वहां **'पर'** के स्थान **पर** भी **'ऊपर'** का ही प्रयोग होता है, जैसे (क) तुम इतना भी नहीं जानते कि गाड़ी पुल के **'ऊपर'** चलती है, नीचे नहीं चलती ! (ख) साधारण नावें या जहाज तो पानी के **'ऊपर'** ही चलते हैं, परन्तु पनडुब्बी पानी के **ऊपर** भी चलती हैं और नीचे (या अन्दर) भी।* ××

ऊर्जा – स्त्री० (सं०) दे० 'शक्ति, 'बल, सामर्थ्य, ऊर्जा और सहनिका'।

ऋणक – वि०, पुं० (सं० ऋण से) दे० 'धनक और ऋणक'।

ऋणात्मक – वि० (सं०) दे० 'धनक और ऋणक'।

एकाधिकार – पुं० (सं०) दे० 'अधिकार, एकाधिकार, परमाधिकार, विशेषाधिकार और स्वत्व'।

---

* यहां 'पर' के सम्बन्ध में एक और बात भी बतला देना आवश्यक जान पड़ता है। इसका एक दूसरा अर्थ 'उपरान्त' या 'बाद' भी होता है। परन्तु जब यह किसी संज्ञा की पुनरावृत्ति होने पर बीच में आता है तब क्रमिकता या निरन्तरता का सूचक हो जाता है, जैसे — काम पर काम लदते चले गये। परन्तु कुछ लोग कभी-कभी भूल से पहलेवाली संज्ञा को बहुवचन कर देते हैं, जो अनेक अवसरों पर अर्थ की दृष्टि से बहुत भ्रामक हो जाता है; जैसे, (क) उधर से गाड़ियों पर गाड़ियां आती रहती हैं। (ख) यहां से नावों पर नावें चली जा रही हैं। आदि आदि। ऐसे अवसरों पर होना चाहिए - (क) उधर से गाड़ियां पर गाड़ियां चली आ रही हैं। (ख) यहां से नावें पर नावें चली जा रही हैं। अर्थात् एक के बाद एक गाड़ियां या नावें आ या जा रही हैं। 'गाड़ियों पर गाड़ियां' या 'नावों पर नावें' का आशय यह भी हो सकता है कि बड़ी गाड़ियों पर लदकर छोटी गाड़ियां या बड़ी नावों पर छोटी नावे लदकर आ और जा रही हैं।

71. एकार्थक Equivalent पर्याय, Synonym समानक Equivalent समार्थक Synonymous

इस वर्ग के शब्द हिन्दी में ऐसे शब्दों के सम्बन्ध में विशेषण और संज्ञा रूप में चलने लगे हैं जिनके अर्थ एक से होते हैं, और जो आपस में एक दूसरे के स्थान पर प्रयुक्त होते अथवा हो सकते हैं। परन्तु इनमें के **एकार्थक** और **समानक** कुछ कारणों से ठीक नहीं हैं, और **पर्याय** तथा **समार्थक** में कुछ सूक्ष्म अन्तर है अथवा होना चाहिए। **'एकार्थक'** के दो अर्थ होते हैं। एक तो यह कि ऐसा शब्द जिसका एक ही अर्थ होता हो, और दूसरा यह कि ऐसे दो या अधिक शब्द जो एक ही अर्थ के सूचक होते हों। इस दृष्टि से यह शब्द भ्रामक सिद्ध होता है। **समानक** का अर्थ तो होता है – ऐसी चीजें जो गुण, धर्म, महत्त्व, मूल्य आदि के विचार से समान या बराबर हों। इसमें शब्द या अर्थ का सूचक कोई तत्त्व नहीं है। इसलिए यह अंग्रेजी के 'इक्विवलेन्ट' (Equivalent) का भाव तो अवश्य सूचित करता है, परन्तु 'सिनॉनिम' (Synonym) के स्थान पर इसका प्रयोग ठीक नहीं ठहरता।

पर्याय और **समार्थक** दोनों ही 'सिनॉनिम' का भाव ठीक तरह से सूचित करनेवाले शब्द हैं। अर्थात् जो शब्द समान अर्थवाले हों और एक दूसरे के स्थान पर प्रयुक्त हो सकते हों, उन्हें हम **पर्याय** या **समार्थक** कहते हैं। इनमें से **पर्याय** हमारे यहां का पुराना शब्द है, और **समार्थक** इधर हाल में गढ़ा गया है। परन्तु हमारी समझ में एक विशिष्ट दृष्टि से इन दोनों के प्रयोग में एक महत्त्वपूर्ण अन्तर होना आवश्यक है। **पर्याय** तो बहुत पहले से ऐसे शब्दों का वाचक चला आ रहा है, जो एक दूसरे के स्थान पर प्रयुक्त हो सकते हों। परन्तु यह स्पष्ट है कि ऐसे शब्द किसी विशिष्ट भाषा के ही होने चाहिए, किसी अन्य भाषा के नहीं। हम अपनी भाषा में चन्द्रमा के स्थान पर सुधाकर का प्रयोग तो कर सकते हैं, परन्तु अंग्रेजी के 'मून' (moon) या फारसी के 'माहताब' का प्रयोग नहीं कर सकते। इसलिए **पर्याय** का प्रयोग एक ही भाषा के उन अनेक शब्दों के लिए हो सकता है जिनके अर्थ समान हों। इसी आधार पर हम यह भी कह सकते हैं कि चन्द्रमा, 'मून' और 'माहताब' एक-दूसरे के **समार्थक** तो अवश्य हैं; परन्तु **पर्याय** नहीं हैं क्योंकि इन तीनों का किसी एक भाषा में एक दूसरे के स्थान पर प्रयोग नहीं हो सकता। हमारे यहां कुछ लोग **'समार्थक'** की जगह 'समानार्थक' का भी प्रयोग करते हैं, परन्तु **'समार्थक'** छोटा और हल्का शब्द है, इसलिए इसी का प्रचलन ठीक होगा। ××

एतबार – *पु०* (अ०) दे० 'विश्वास, प्रतीति, प्रत्यय और भरोसा'।

एहसास – *पु०* (अ०) दे० 'अनुभव और अनुभूति'।

ऐच्छिक – *वि०* (सं०) दे० 'अनुकल्प और विकल्प'।

ओल - *पु०* (सं० ओढ़) दे० 'हरण, अपहरण, आहरण, परिहण और परिहार' ।

औजार - *पु०* (फा०) दे० 'मंत्र, उपकरण, औजार और संयंत्र' ।

औसत - *पु०* (अ०) = माध्य; 'दे० 'मध्यक, माध्य, माध्य और माध्यिका' ।

कटाक्ष - *पु०* (सं०) दे० 'व्यंग्य, कटाक्ष (छींटा), चुटकी, ताना और बोली' ।

कदाचार - *पु०* (सं०) दे० 'अनाचार, कदाचार, दुराचार, भ्रष्टाचार और व्यभिचार' ।

72. कबीला, गण, जन — जनजाति

Tribe — Tribe

'कबीला' अरबी कबील या कबील से बना हुआ पु० शब्द है, जिसका अर्थ है - मनुष्यों का दल या समूह । पर यह दल समूह ऐसे लोगों का होता है जो एक पूर्वज से उत्पन्न हों और साथ मिलकर एक परिवार के रूप में रहते हों ।* **गण** और **जन** दोनों संस्कृत के पुंलिंग शब्द हैं । **'गण'** का प्रयोग तो वस्तुओं के वर्गों के सम्बन्ध में भी होता है और प्राणियों या व्यक्तियों के वर्ग या समूह के सम्बन्ध में भी, जैसे देवगण, पितृगण आदि । परन्तु **'जन'** शब्द का प्रयोग प्राचीन काल में ऐसे लोगों के सम्बन्ध में होता था जो या तो एक ही जनक या पूर्वज से उत्पन्न होते अथवा जिनके आचार-व्यवहार, रीति-रिवाज, धार्मिक विश्वास आदि एक ही प्रकार के होते थे और जो एक विशिष्ट प्रकार की बोली बोलते थे । इस दृष्टि से यह अ० के **कबीला** का पूर्णतः समानार्थक ही है । इसी लिए जहां ऐसे लोग स्थायी रूप से बस जाते थे उसे जनपद कहते थे ।

यहां इन सब बातों के एक मूल तत्त्व का उल्लेख कर देना भी आवश्यक जान पड़ता है । बहुत प्राचीन काल में और सभ्यता के आदिम युग में अधिकतर लोग खानाबदोश या यायावर होते थे । इन्हें जब जहां खान-पान आदि का यथेष्ट सुभीता दिखाई देता था तब ये वहां चले जाते थे । किसी समय मध्य एशिया, भारत के उत्तर-पूर्वी अंचल और दक्षिण-पूर्वी युरोप में ऐसे हजारों दल घूमा करते थे और किसी प्रकार की बाधा या विरोध दिखाई देने पर एक दल के लोग दूसरे दलवालों से लड़-भिड़ भी जाते थे । इनकी सबसे बड़ी विशेषता यह थी कि इनमें कोई वंशानुक्रमिक राजा नहीं होता था । हां, समय-समय पर ये लोग मिलकर अपने दल का एक नेता या सरदार अवश्य चुन लेते थे और यदि आवश्यक समझते थे तो उसे हटाकर उसका स्थान किसी दूसरे को भी दे देते थे । यह नेता या सरदार ही उनका प्रधान शासक होता था । अपनी राजनीतिक, सामाजिक आदि विधियां निश्चित करने में ये लोग पूर्ण स्वतंत्र होते थे और उनमें दूसरों

---

* इसी आधार पर हिन्दी में **कबीला** शब्द ऐसे परिवार का वाचक हो गया है जिसके सब लोग साथ-साथ एक ही घर में रहते और खाते-पीते हों । पूर्वी उत्तर प्रदेश और बिहार में तो यह शब्द स्त्रीलिंग बनकर जोरू या पत्नी तक का वाचक हो गया है ।

का हस्तक्षेप सहन नहीं करते थे। इन्हीं की राजनीतिक और सामाजिक व्यवस्थाओं के आधार पर आगे चलकर अनेक स्थानों में गणराज्य भी स्थापित हुए थे। (दे० 'गणतंत्र, प्रजातंत्र और लोकतंत्र')

अकेला **'जन'** शब्द बहुत से अर्थों में प्रयुक्त होने के कारण बहुत कुछ भ्रामक भी हो सकता था। इसलिए आज-कल ऐसे दलों को **'जनजाति'** कहने लगे हैं, जो ठीक उसी अर्थ में प्रयुक्त होता है जिस अर्थ में अफगानिस्तान, बलोचिस्तान आदि में **कबीला** शब्द प्रयुक्त होता है। हिमालय के खस आदि लोग ऐसी ही आर्य जन-जातियों के अवशिष्ट हैं और असम के कूकी, गारो, नागा आदि लोग मंगोल जन-जातियों के हैं। बिहार में मुण्डा, संथाल आदि भी इन्हीं जन-जातियों में गिने जाते हैं और यह माना जाता है कि इनके पूर्वज आस्ट्रेलिया के आदिम निवासी थे जो बहुत प्रचीनकाल में वहां से चलकर भारत आये थे और यहीं बस गये थे।

कब्जा - *पु०* (अ० कब्जः) दे० 'अधिकार और स्वत्व'।

73. करतब, करनी — करतूत

Feat — Deed

इस वर्ग के शब्द हिन्दी की 'करना' क्रिया के भिन्न-भिन्न विकारी रूप हैं और उनके कुछ विशिष्ट प्रकार के कार्यों के वाचक हैं।

'करतब' *पु०* (हिं० 'करना') से उसी प्रकार बना है, जिस प्रकार 'होना' क्रिया से होत और होतब रूप बने हैं। **करतब** मुख्यतः ऐसे कार्यों का वाचक है जिनमें कर्ता का असाधारण कौशल और कृतित्व स्पष्ट रूप से दिखायी देता है। **करतब** प्रायः अनोखा कुतूहलजनक या विशेष श्रमसाध्य कार्य होता है। यों **करतब** का अर्थ काम या कृत्य भी होता है, जैसे:**करतब** बायस बेस मराला - तुलसी। परन्तु इसका अधिकतर प्रयोग किसी अच्छे और प्रशंसनीय काम के लिए होता है, जैसे घुड़सवारी के **करतब**, तीर चलाने के **करतब**, पहलवानों के **करतब** आदि। कुछ अवस्थाओं में इसका प्रयोग व्यंग्यात्मक रूप में अनुचित या बुरे कामों के सम्बन्ध में भी होता है, जैसे:अब तो कठिन कान्ह के **करतब**, तुम हौ हंसति, कहा कर लीबौ - तुलसी।

'करनी' *स्त्री०* अपने मूल अर्थ में किसी के किए हुए कार्य का ही बोध कराती है। इसमें मुख्यतः उस कार्य पर जोर होता है जिसकी ओर यह संकेत करता है। जैसे (क) असि सब भांति अलौकिक **करनी**। (ख) मुनि सुसीलता आपन **करनी**। (ग) को कहि सकै सचेतन **करनी** - तुलसी। और (घ) देखहु **करनी** कमल की, कीन्हों जल सौं हेतु - सूर। यों भी बोलचाल में कहा जाता है - (क) अब तुम अपनी **करनी** का बखान रहने दो। (ख) जैसी **करनी** करोगे वैसा फल भोगोगे आदि। परन्तु कुछ अवस्थाओं में व्यंग्यात्मक रूप में भी इसका प्रयोग होता है, जैसे:यह तुम्हारी ही **करनी** का फल है। यहां भी विशिष्ट रूप से कार्य के स्वरूप पर ही जोर है, भले ही अनुचित या बुरा होता हो।

'करतूत' *स्त्री०* भी मूलतः किसी के किए हुए काम का ही वाचक है; जैसे — 'ऊंच निवास नीच करतूती - तुलसी । इसमें का 'नीच' विशेषण ही यह सूचित करता है कि **करतूत** अच्छी भी हो सकती है । फिर भी लोक-व्यवहार में **करतब** और **करनी** की अपेक्षा **'करतूत'** का प्रयोग प्रायः अनुचित, दूषित या निन्दनीय कामों के लिए ही होता है । जब कोई आदमी कुछ काम बिगाड़ देता है तब कहा जाता है - 'यह सब आप की ही **करतूत** है ।' यह प्रायः कुत्सित या हेय ही होती है, यथा 'तुम्ह गलानि जिअ जनि करहु समुझि मातु करतूति ।' - तुलसी ।

करतूत - *स्त्री०* दे० 'करतब, **करनी** और **करतूत**' ।

करनी - *स्त्री०* दे० 'करतब, करनी और **करतूत**' ।

कल - *स्त्री०* (सं० कला = यंत्र) दे० 'यंत्र, उपकरण, औजार और यंत्र' ।

कलियुग - *पु०* (सं०) दे० 'कल्प और युग' ।

74. कल्प युग

Era Age, Period

ये शब्द काल या समय के कुछ बहुत बड़े-बड़े विभागों के वाचक हैं । हैं तो ये हमारे यहां के प्राचीन पौराणिक और शास्त्रीय शब्द; परन्तु आज-कल कुछ नई विवक्षाओं से युक्त हो गए हैं ।

'कल्प' संस्कृत में विशेषण और संज्ञा दोनों रूपों में प्रयुक्त होता है; और इन दोनों रूपों में इसके बहुत से अर्थ होते हैं । विशेषण रूप में इसके अर्थ निरोग, स्वस्थ, हृष्ट-पुष्ट, कुशल, चतुर और दक्ष, मांगलिक या शुभ आदि-आदि होते हैं; और संज्ञा रूप में उषःकाल या प्रभात, शुभ कामना, परम कर्तव्य और मुख्य नियम या विधान आदि-आदि अर्थ होते हैं । परन्तु प्रस्तुत प्रसंग में यह पौराणिक पारिभाषिक शब्द है ।

पौराणिक दृष्टि से ब्रह्मा का एक दिन **कल्प** कहलाता है । यह एक हजार युगों अर्थात् 8 अरब 32 करोड़ वर्षों का होता है । ऐसे तीस दिनों का ब्रह्मा का एक महीना होता है; और ऐसे 12 महीनों का एक वर्ष । कहते हैं कि ब्रह्मा के ऐसे 50 वर्ष बीत चुके हैं; और आज-कल 51वें वर्ष के पहले महीने का पहला दिन चल रहा है, जिसका नाम श्वेत वाराह **कल्प** है । प्रत्येक **कल्प** के अन्त में जगत का पूरा विनाश हो जाता है; और तब फिर से नई सृष्टि का आरम्भ होता है । आज-कल पाश्चात्य धारणाओं के अनुसार **कल्प** का कुछ और ही अर्थ लिया जाने लगा है । अब पुराशास्त्र और भूशास्त्र में इसका प्रयोग बड़े-बड़े वैज्ञानिक काल-विभागों के सम्बन्ध में होने लगा है, जैसे 'आदिकल्प, उत्तरकल्प, पुराकल्प, मध्यकल्प और नवकल्प' * । ऐसे प्रसंगों में **कल्प** का प्रयोग सृष्टि की कुछ

---

* A rcheozoic, Proterozoic, Paleozoic, Mesozoic और Cenozoic या Neozoic.

अलग-अलग प्रकार की विकासात्मक स्थितियों का वाचक होता है।

'युग' *पु०* के सं० में तो बहुत से अर्थ हैं, जैसे दो चीजों का जोड़ा, बैलों को जोतने का जुआ, मनुष्यों की जाति या वर्ग आदि-आदि। परन्तु प्रस्तुत प्रसंग में **कल्प** के चार भागों में से प्रत्येक भाग **'युग'** कहलाता है। ये चारों विभाग सत्ययुग, द्वापर, त्रेता और कलियुग कहलाते हैं। पुराणों के अनुसार इन युगों की वर्ष संख्या इस प्रकार है

सत्ययुग या कृत युग	17,28,000	वर्ष
त्रेता	1,29,600	वर्ष
द्वापर	8,64,000	वर्ष
कलियुग	4,32,000	वर्ष

यह भी कहा गया है कि सत्ययुग में सत्य और धर्म की पूरी प्रधानता रहती है और इसीलिए यह सर्वोत्तम माना जाता है। त्रेता में सत्य और धर्म तीन-चौथाई रह जाते हैं और पाप का एक चरण या चौथाई अंश आ जाता है। द्वापर में सत्य और धर्म आधे रह जाते हैं और धर्म तथा पाप का आधा अंश सामने आ जाता है। कलियुग में सत्य और धर्म एक चौथाई रह जाते हैं, अधर्म और असत्य तीन-चौथाई हो जाते हैं। यह भी कहा गया है कि कलियुग में पाप दिन-पर-दिन बढ़ता जाता है, इसी से इस **युग** के अन्त में सृष्टि का पूर्ण विनाश या प्रलय होता है।

प्रत्येक **युग** के भी चार अलग-अलग चरण माने गए हैं। आज-कल कलियुग का पहला चरण ही चल रहा है।

जिस प्रकार पौराणिक क्षेत्रों में **युग** को **कल्प** का अंश या भाग माना गया है उसी प्रकार आधुनिक प्रयोगों और व्यवहारों में भी **कल्प** की नवीन परिभाषा के अन्तर्गत **युग** को भी उसका कुछ छोटा और परिमित अंश या भाग ही माना जाता है।

साधारणतः **युग** भी ऐसे काल-विभाग का सूचक हो गया है, जिसमें कुछ विशिष्ट प्रकार की घटनाओं, रीतियों, रूढ़ियों, व्यवहारों अथवा व्यक्तियों की प्रधानता रही हो अथवा रहती हो, जैसे उपनिषदों का **युग**, शृंगारिक कविताओं का **युग**, भारतेंदु **युग**, गांधी **युग** आदि। हम यह भी कहते हैं- 'आज-कल चोरी और बेईमानी का **युग है**' अथवा 'अब तो परमाणु **युग** आ रहा है।' इसी दृष्टि से कहीं तो इसके कालमान का विस्तार कुछ अधिक होता है और कहीं कुछ कम। ऐसे अवसरों पर **युग** का प्रयोग अपेक्षया बहुत थोड़ी अवधि या कालमान सूचित करने के लिए होता है। कुछ लोग इस अर्थ में जमाना (अ० जमानः) का भी प्रयोग करते हैं।

××

75. कल्पना | **उद्भावना** | **उपज**

Imagination | Fancy

सूझ

Brain wave

इस वर्ग के शब्द ऐसी चिन्तन और मनन शक्ति के वाचक हैं, जो कला, उद्योग, विज्ञान आदि के क्षेत्रों में कोई बिल्कुल नई चीज या बात का मूर्तिमान चित्र या स्वरूप हमारे मस्तिष्क में उत्पन्न करती है और हमें वह चित्र या स्वरूप कार्यक्षेत्र में प्रत्यक्ष रूप से लाने के लिए प्रवृत्त करती है। इसके फलस्वरूप जो चित्र या रूप प्रत्यक्ष होने पर लोगों के देखने-सुनने में आते हैं, उनका भी इसी में अन्तर्भाव होता है।

'कल्पना' *स्त्री०* (सं०) कल्पन का विकारी रूप है जिसका मुख्य अर्थ है प्रस्तुत करना, बनाना या रचना। **कल्पना** वस्तुतः हमारे मन की वह क्रिया और शक्ति है जिससे हम अपनी मानस दृष्टि के सामने अनेक प्रकार के नए रूप और विचार बनाकर खड़े करते हैं। ये रूप और विचार पुराने या देखे-सुने रूपों और विचारों के पुनरावर्त्तन भी हो सकते हैं और हमारी उक्त शक्ति के नये गढ़े हुए भी। जो रूप और विचार हमने कभी देखे-सुने न हों या जिनका कभी अस्तित्व न रहा हो, उनके चित्र भी यह **कल्पना** हमारे सामने लाकर रख सकती है। हम अपनी बीती हुई बाल्यावस्था की भी **कल्पना** कर सकते हैं और आनेवाली वृद्धावस्था की भी। अपने पुराने अनुभव, ज्ञान, स्मृति आदि की सहायता से बहुत-सी बातों के अनेक खण्डों को एक में जोड़ या मिलाकर हम बहुत-सी नई चीजों, बातों या विचारों की भी **कल्पना कर सकते हैं**। चित्रकार और मूर्तिकार अपनी **कल्पना** से ही नए-नए चित्र और मूर्तियां बनाते हैं; और कवि की सुन्दर रचनाएं प्रायः उसकी **कल्पना** से ही प्रसूत होती हैं। औद्योगिक तथा वैज्ञानिक क्षेत्रों में जो नए-नए आविष्कार होते हैं और यंत्र आदि बनते हैं, उन सबका मूल रूप **कल्पना** पर ही आश्रित होता है। विद्वान् **कल्पना** के सहारे ही यह स्थिर करते हैं कि विश्व की उत्पत्ति तथा विकास किस प्रकार हुआ होगा; अथवा पृथ्वी पर मनुष्य तथा अन्य प्राणी और वनस्पतियां कैसे उत्पन्न हुई और फैली या बढ़ी होंगी और आगे चलकर वे कैसे-कैसे नए रूप धारण करती हुई विकसित होंगी। **कल्पना** में या तो वास्तविकता का बहुत कुछ अंश होता है या उसके बहुत-कुछ ठीक होने का आभास होता है। यह बहुत-कुछ सर्वांगपूर्ण होती ही है; प्रायः अनुकरणीय, आदर्श या मान्य भी होती है। बोल-चाल में इसका प्रयोग कुछ ऐसी अवास्तविक निराधार अथवा संभावित बातों के सम्बन्ध में भी होता है, जो केवल तर्क के लिए मान ली जाती हैं; जैसे **कल्पना** कीजिए कि आप घोर जंगल में अकेले खड़े हैं; और अचानक आपको सामने से शेर आता हुआ दिखाई देता है। **'कल्पना'** का वि० रूप 'काल्पनिक' होता है।

'उद्भावना' *स्त्री०* (सं०) उद्भू से व्युत्पन्न है। जिसके आरंभिक अर्थ हैं– अस्तित्व में आना, जन्म लेना, प्रकट होना आदि। इसे हम **'कल्पना'** का कुछ संक्षिप्त और हलका

रूप कह सकते हैं। हमारे यहां इसका प्रयोग साहित्यिक क्षेत्र में और मुख्यतः काव्यों की अनोखी और चमत्कारिक उक्तियों के सम्बन्ध में होता है। इसमें वास्तविकता का तो बहुत-कुछ अभाव होता है; परन्तु अनेक पुरानी बातों अथवा वास्तविकताओं के आधार पर कोई ऐसा नया कथन या विचार प्रस्तुत किया जाता है, जो बहुत ही आकर्षक, मधुर या सुन्दर होता है और जिसे देख या सुनकर उसकी नवीनता पर मन मुग्ध हो जाता है। इस पर परिवेशों और परिस्थितियों अथवा उनकी छाया दिखाई देती है।

'उपज' *स्त्री०* मूलतः हिं० उपजना (सं० उपजन = उपजना) का भाववाचक संज्ञा रूप है। साधारणतः उपज उन सभी चीजों को कहते हैं, जो पैदा करके या बनाकर तैयार की गई हों; जैसे कल-कारखानों या खेतों की उपज। परन्तु प्रस्तुत प्रसंग में तथा बोल-चाल में यह ऐसी नई और विलक्षण बात को कहते हैं, जो किसी के मस्तिष्क से अचानक निकली या सामने आई हो। इसमें **उद्‌भावना** का कुछ अंश तो रहता ही है; पर यह मुख्यतः क्षणिक या तात्कालिक होती है और उतनी प्रभावक नहीं होती, जितनी **उद्‌भावना** होती है।

'सूझ' *स्त्री०* मूलतः हिं० सूझना (= दिखाई देना) का भाववाचक संज्ञा रूप है। **'उपज'** की तुलना में यह और भी क्षणिक या तात्कालिक होती है; और इसका प्रयोग मुख्यतः उपायों, युक्तियों आदि के प्रसंग में होता है। यह अनोखी होने के सिवा कुछ असाधारण भी होती है; और इसमें कुछ चमत्कार रहता ही है, जैसेः उनकी भी सलाह ले लो; उनकी **सूझ** कभी-कभी बहुत काम कर जाती है। इसका प्रयोग कवियों की नई और सुन्दर उक्तियों के सम्बन्ध में भी होता है। जैसेः अच्छे कवियों की **सूझ** भी प्रायः अनोखी होती है।

××

76. कष्ट क्लेश

Distress, Trouble — Torment

ये दोनों शब्द कई प्रकार के दुःखों, पीड़ाओं और विपत्तियों के भिन्न-भिन्न रूपों के वाचक हैं। इनमें से **'कष्ट'** मुख्यतः शारीरिक होने पर भी मानसिक दुःखों का सूचक है; परन्तु **क्लेश** मुख्यतः मानसिक ही है। **कष्ट** संस्कृत कष् धातु से बना है जिसके अर्थ होते हैं - कसना, दबाना, रगड़ना आदि। संस्कृत में यह दुरवस्था, दोष, दरिद्रता, विपत्ति आदि के अर्थ में प्रयुक्त होता है। हिन्दी में यह मुख्यतः नीचे लिखे अर्थों में प्रयुक्त होता है -

1. मन में होनेवाला वह अप्रिय तथा दुःखद अनुभव जो किसी प्रकार के अभाव, असमर्थता, रोग, विपत्ति, संकट आदि के कारण होता है, जैसे अन्न या धन का **कष्ट**, आंखों या पेट का **कष्ट** आदि।

2. किसी प्रकार का बहुत अधिक शारीरिक श्रम करने पर होनेवाली थकावट की अनुभूति, जैसेः मैंने यह काम बहुत **कष्ट** सहकर पूरा किया है।

3. व्यावहारिक क्षेत्र में, कुछ अवसरों पर केवल औपचारिक रूप से भी दूसरों के प्रति आदरभाव सूचित करने तथा अपनी शिष्टता या सौजन्य दिखाने के लिए भी इसका प्रयोग होता है; जैसे: यदि आप आज संध्या को मेरे यहां पधारने का **कष्ट** करें तो मैं आपका बहुत अनुगृहीत होऊंगा। सारांश यह कि **कष्ट** का प्रयोग ऐसी कठिन या विकट परिस्थितियों और प्रसंगों में होता है जो भौतिक, मानसिक और शारीरिक क्षेत्रों से सम्बन्ध रखते हैं। जैसे (क) अन्न या धन के अभाव के कारण होनेवाला **कष्ट,** (ख) संतान के अभाव या दुराचार के कारण होनेवाला **कष्ट,** और (ग) अस्वस्थता या रोग के कारण होनेवाला **कष्ट**। हिन्दी में इसके स्थान पर 'तकलीफ़' (अ० तक्लीफ़) का भी प्रयोग होता है। **कष्ट** और दुःख का अंतर जानने के लिए दे० 'दुःख, दर्द और शोक'।

'क्लेश' सर्वांश में मानसिक है। यह उस मानसिक स्थिति का सूचक है जिसमें मनुष्य चिंताओं, विपत्तियों आदि के कारण बहुत अधिक विकल तथा संतप्त रहता है। बोल-चाल में यह घर-गृहस्थी या आपस में होनेवाली कलह और लड़ाई-झगड़ों का भी वाचक हो गया है, जैसे (क) इधर कई दिन से उनके घर में बहुत **क्लेश** मचा हुआ है; और (ख) आपस में नित्य का **क्लेश** अच्छा नहीं होता। परन्तु ऐसे प्रसंगों में यह वस्तुतः कलह या लड़ाई-झगड़े से होनेवाली मानसिक विकलता या संताप का ही सूचक होता है। ××

कसम- *स्त्री०* (अ०) दे० 'संकल्प, निश्चय, प्रतिज्ञा और शपथ'।

कसौटी- *स्त्री०* (सं० कष् पट्टिका) दे० 'जांच, पड़ताल, कसौटी और परख'।

कानून- *पु०* (अ०) = विधान; दे० 'विधि, विधान और संविधान'।

कातरता- *स्त्री०* (सं०) दे० 'भय, भीति, डर, भीषिका, आतंक और कातरता'।

काफी- *वि०* (अ०) दे० 'पर्याप्त और यथेष्ट'।

कामना- *स्त्री०* (सं०) दे० 'इच्छा, कामना, अभिलाषा, आकांक्षा और स्पृहा'।

77. कायर डरपोक भीरु
Coward Fearful Timid

इस वर्ग के शब्द ऐसे प्राणियों, व्यक्तियों आदि के विशेषण हैं जो अवसर पड़ने पर किसी-न-किसी कारण से संकुचित हो जाते और पीछे हट जाते हैं।

'कायर' *वि०* (सं०) कातर का बिगड़ा हुआ हिन्दी रूप है। यों तो संस्कृत में कातर के अनेक अर्थ हैं, जैसे:कष्ट, संकट आदि के कारण घबराया हुआ; दीन और याचना की भावना से युक्त आदि। परन्तु इसका एक अर्थ पराक्रम, साहस आदि से रहित भी है। इसी अन्तिम अर्थ के आधार पर हिन्दी में इसका मुख्य अर्थ है - जो साहस के अभाव के कारण किसी बड़े या श्रमसाध्य कार्य से घबराता और दूर रहना या बचना चाहता हो, जैसे: जो स्वभाव से **कायर** हो वह भला सेना में क्यों भरती होने लगा, अथवा जंगली जानवरों का शिकार करना कायरों का काम नहीं। इसमें मुख्य भाव साहस न होने का ही है।

'डरपोक' *वि०* (हि०) डर (भय) अथवा डरना (क्रिया) का विकारी रूप है। यों हिन्दी में लोग भले ही **'डरपोक'** का प्रयोग **कायर** और **भीरू** के पर्याय के रूप में करते हों, फिर भी **डरपोक** में मूल आशय उक्त दोनों शब्दों के आशयों से बहुत-कुछ भिन्न है। **डरपोक** वास्तव में वही कहा जाएगा जो अपनी असमर्थता, दुर्बलता आदि के कारण सदा मन में डरता ही रहता हो। उसमें साहस तो प्रायः होता ही नहीं, और इसीलिए आगे बढ़ने की प्रवृत्ति भी नहीं होती। खरगोश, हिरन आदि जानवर वस्तुतः **डरपोक** ही होते हैं, उन्हें **कायर** या **भीरू** नहीं कहा जा सकता। कारण यही है कि ऐसे जानवर (या आदमी) सदा यही समझते रहते हैं कि हमें डरानेवाली कोई चीज या बात हर जगह खड़ी हो सकती या सामने आ सकती है। इसीलिए वे सदा चौकन्ने और सचेत रहते हैं और जरा सी आहट पाते ही अथवा खटका सुनते ही अपनी रक्षा के लिए आश्रय ढूंढ़ने लगते हैं।

'भीरू' *वि०* (सं०) भी उसी धातु से व्युत्पन्न है जिससे भय बना है। इसका शब्दार्थ है - जिसके मन में भय अधिक हो, जो बहुत डरता हो। जिस प्रकार **कायर** में साहस का अभाव होता है, उसी प्रकार **भीरू** में भय की प्रधानता होती है। यह बात दूसरी है कि कार्य के परिणाम या फल के विचार से कायरता और भीरूता में कोई विशेष अन्तर देखने में न आता हो, फिर भी दोनों में मौलिक भेद तो है ही। कुछ अवसरों पर **भीरू** बिना समझे-बूझे या अपना कार्य सिद्ध करने के उद्देश्य से आगे बढ़ जाता है, पर ज्यों ही उसे अपने सामने भय का कोई लक्षण या संकट की कोई सम्भावना दिखाई देती है, त्यों ही वह पीछे हट जाता या भाग खड़ा होता है। गीदड़ों, बन्दरों आदि को हम **कायर** तो नहीं कह सकते, पर वे **भीरू** अवश्य होते हैं। जब कोई डटकर उनके सामने खड़ा हो जाए तब तो वे भागते ही दिखाई देते हैं। पर जब तक उन्हें भय उत्पन्न करनेवाली कोई परिस्थिति न दिखाई दे, तब तक वे अपने झूठे साहस का प्रदर्शन करते हुए आगे बढ़ सकते हैं। ××

78. कारण हेतु

Cause Motive, Reason

इस वर्ग के शब्द ऐसी आधारिक और मौलिक बातों के वाचक हैं जिनके परिणाम या फल के रूप में कोई कार्य या घटना होती है अथवा जिनसे प्रेरित होकर मनुष्य किसी कार्य में प्रवृत्त होता अथवा कोई कार्य सम्पन्न करता है। यद्यपि लोक-व्यवहार में दोनों एक दूसरे के पर्याय समझे जाते हैं; फिर भी दोनों के अर्थों और आशयों में कुछ सूक्ष्म भेद हैं।

'कारण' सं० 'कृ' धातु से बना है और यह उस बात का वाचक है, जिससे किसी कार्य की सृष्टि या फल का प्रादुर्भाव होता है; और इसीलिए इसका 'कार्य' से पहले होना अनिवार्य और अवश्यम्भावी है। यह हमारे तात्त्विक, दार्शनिक तथा नैयायिक क्षेत्रों का बहुत पुराना पारिभाषिक शब्द है और भिन्न-भिन्न शास्त्रों में अनेक दृष्टियों से और कई अर्थों में प्रयुक्त होता है। अपने आप होनेवाली जिस क्रिया, बननेवाली जिस परिस्थिति या

उत्पन होनेवाली जिस शक्ति के फलस्वरूप कोई कार्य या परिणाम होता है वही क्रिया, परिस्थिति या शक्ति उस कार्य या परिणाम का **कारण** कहलाती है, जैसे (क) सृष्टि का **कारण** ब्रह्म है। (ख) धूप का **कारण** सूर्य का तीव्र प्रकाश है; (ग) धुएं का **कारण** आग है आदि। हमारे यहां न्याय दर्शन में **कारण** के तीन मुख्य भेद किए गए हैं - (1) समवायि **कारण** अर्थात् वह चीज जिससे कोई दूसरी चीज बनती है, जैसे कपड़े का समवायि **कारण** डोरा या सूत है और घड़े का समवायि **कारण** मिट्टी है। इसे उपादान **कारण** भी कहते हैं। (2) असमवायि **कारण** अर्थात् वह तत्त्व या बात जो औपचारिक, क्रियात्मक अथवा रचनात्मक रूप में उक्त दोनों में पारस्परिक सम्बन्ध स्थापित करती हो। खाली डोरे या सूत और कपड़े के ताने-बाने या बुनावट का जो मध्यवर्ती सम्बन्ध होता है, वही कपड़े का असमवायि **कारण** है। और (3) निमित्त **कारण**, अर्थात् वह तत्त्व, बात या व्यक्ति जो समवायि **कारण** में किसी प्रकार की क्रिया या गति उत्पन्न करके कोई कार्य सिद्ध करता अथवा अभीष्ट परिणाम उपस्थित करता है, जैसे चरखा, करघा और जुलाहा सभी कपड़े के निमित्त **कारण** हैं, और चाक, आंवां, कुम्हार आदि घड़े के निमित्त **कारण** हैं। मल्लाह तो नाव के चलने का निमित्त **कारण** होता ही है, तेज हवा और पाल भी उसके निमित्त **कारण** ही हैं।

साधारण बोल-चाल में हम प्रायः कहते हैं: (क) मन ही मनुष्य के मोक्ष और बन्धन का **कारण** है। (ख) रोग के फिर से उभरने का **कारण** कुपथ्य अथवा औषध-सेवन न करना है। और (ग) रूस की राज्यक्रांति का **कारण** जारशाही की कुव्यवस्था और देश की दुरवस्था थी। किसी बात का **कारण** कोई विशिष्ट घटना, दशा, शक्ति या स्थिति भी हो सकती है। इसके स्थान पर प्रायः अरबी का **'वजह'** शब्द काफी प्रयोग होता है।

'हेतु' संस्कृत की 'हि' धातु से बना है जिसके अनेक अर्थों में से आरम्भिक अर्थ हैं- बढ़ाना, चलाना, प्रवृत्त करना आदि। इसी आधार पर हम **हेतु** को भी **कारण** का एक प्रकार कह सकते हैं। अन्तर यही है कि **'कारण'** तो प्राकृतिक या स्वाभाविक भी होता या हो सकता है परन्तु **हेतु** सदा किसी प्रकार के अभिप्राय, इच्छा अथवा मनोविकार के फलस्वरूप होता है, इसीलिए इसमें **'कारण'** के साथ-साथ उद्देश्य का भी कुछ भाव सम्मिलित रहता है। **'हेतु'** भी है तो एक प्रकार का **कारण** ही, परन्तु इसका आविर्भाव सदा किसी प्रकार की इच्छा या मनोविकार से होता है। जब हम अनुराग, उत्तेजना, क्रोध, मोह, लोभ आदि के वश में होकर और जानबूझकर किसी उद्देश्य की सिद्धि के लिए कोई काम करते हैं, तब उसके मूल में रहनेवाला और हमें प्रवृत्त या प्रेरित करनेवाला हमारा विचार ही उस कार्य का **हेतु** कहलाता है। यह हमारी इच्छा-शक्ति और क्रियाशीलता का परिचायक और प्रेरक होता है। विद्या पढ़ने में ज्ञानवान् या विद्वान् बनना अथवा धन-संपत्ति प्राप्त करना हमारा **हेतु** होता है। यदि कोई हमें कष्ट पहुंचाए और हम उससे बदला चुकाना चाहें तब हम भी उसे कष्ट पहुंचाते हैं। हमारे उस कष्ट पहुंचाने का **हेतु** हमारे मन में रहनेवाला प्रतिकार का भाव ही होता है। हिंदू लोग अपने पितरों का जो श्राद्ध करते हैं उसका **कारण** पितरों के प्रति उनके मन में रहनेवाली श्रद्धा होती है। श्राद्ध करनेवालों का **हेतु** होता है; पितरों को तृप्त, प्रसन्न तथा संतुष्ट करना। हिन्दी में इसके

स्थान पर प्रायः अरबी के 'सबब'* का भी प्रयोग होता है। ××

कार्यविधि- *स्त्री०* (सं०) क्रिया-विधि; दे० 'विधि, क्रिया-विधि, प्रकम और प्रविधि'।

कार्य-पालिका - *स्त्री०* (सं०) दे० 'विधायिका और सदन'।

कार्रवाई- *स्त्री०* (फा०) दे० 'योजना, परियोजना, प्रायोजना और संयोजना'।

79. काल वेला समय

इस वर्ग के शब्द ऐसी विशिष्ट अवधि या विस्तार के वाचक हैं, जिसके अन्दर कुछ काम, घटनाएं, व्यापार आदि घटित या सम्पन्न होते हैं। यद्यपि कुछ अवसरों पर ये तीनों शब्द एक दूसरे के पर्याय का भी काम दे जाते हैं, फिर भी कुछ विशिष्ट दृष्टियों, प्रसंगों आदि के विचार से इनकी मात्रा, मान, विस्तार आदि में थोड़ा-बहुत अन्तर होता है, जो प्रयोगों आदि के आधार पर ही निरूपित हो सकता है।

'काल' *पु०* (सं०) उस 'कल्' धातु से बना है, जिसका अर्थ है - गिनना, हिसाब लगाना आदि और जिससे गणनावाचक 'कलन' शब्द बना है। इसका यह नाम कदाचित् इसीलिए पड़ा है कि गणना के बिना इसकी कल्पना या ज्ञान हो ही नहीं सकता। यह शब्द, अर्थ और मान दोनों के विचार से बहुत विस्तृत और व्यापक है। तात्त्विक दृष्टि से यह अनादि और अनन्त तो है ही, नित्य भी है। इसकी इन विशेषताओं का ध्यान रखते हुए यदि किसी से इसकी तुलना की जा सकती है, तो ब्रह्म से ही की जा सकती है।** समस्त ब्रह्मांड या सृष्टि का आरम्भ, स्थिति और प्रलय सभी इसके अन्तर्गत होते हैं और इनके समस्त कार्यों की आवृत्तियां भी इसी के अन्तर्गत होती रहती हैं। भूत, वर्तमान और भविष्य सब इसी के अंग और खंड हैं। जो कुछ बीत चुका है, वह सब भूतकाल है और जो अभी आने को है, वह भविष्य **काल**। इन दोनों के बीच का बिन्दु या विभाजक रेखा वर्तमान **काल** है। आनेवाला प्रत्येक क्षण, बीतते ही भूतकाल में चला जाता है। इसका परिमाण स्थिर करने के लिए क्षण, घड़ी, पहर, दिन, रात, मास, वर्ष आदि के मान निश्चित किए गए हैं। ये सब **काल** की अनन्त शृंखला की छोटी-मोटी कड़ियां मात्र हैं। आर्थी दृष्टि से इसके किसी विंदु से दूसरे विन्दु तक सारा अंश **काल** कहलाता है। परन्तु इसकी

---

* उर्दू का एक शेर है :–

सबब किसी ने जो पूछा तो हँसके फरमाया।
वह इब्तदा के लिए था यह इन्तहा के लिए।।

** काल के इसी विराट् और सर्वव्यापक रूप के आधार पर हमारे यहां के प्राचीन ऋषियों और विद्वानों ने इसके 'महाकाल' रूप की कल्पना की थी। प्राचीन भारतीय ज्योतिष में उज्जयिनी नगरी ही केन्द्र मानी गई थी और अक्षांश तथा देशांतर का भी और दिन-मान का भी विचार इसी के आधार पर होता था। इसीलिए आगे चलकर शिव के 'महाकालेश्वर' रूप की कल्पना की गई थी; और उज्जयिनी में उनका मन्दिर बना था जो अभी तक वर्तमान है और जिसके **कारण** उज्जयिनी की गणना भी भारत के मुख्य तीर्थों में होती है। दार्शनिक दृष्टि से यह 'महाकाल' The time कहा जाता है।

व्याप्ति एक ओर तो सैकड़ों, हजारों वर्षों तक और दूसरी ओर किसी क्षण या पल तक भी परिमित हो सकती है; यथा –

1. वैदिक-काल, ब्राह्मण-काल, उपनिषद्-काल आदि।
2. महाभारत-काल, रामायण-काल, बौद्ध-काल, मुस्लिम-काल आदि।
3. जीवन-काल, राज्य-काल, वैधव्य-काल, सेवा-काल आदि।
4. ग्रीष्म-काल, वर्षा-काल, शीत-काल आदि।
5. प्रातःकाल, सायंकाल, पर्वकाल आदि।
6. जन्मकाल, मृत्युकाल, लग्नकाल, संक्रातिकाल आदि।

व्यवहार की दृष्टि से **काल** को हम दार्शनिक और पारिभाषिक शब्द कह सकते हैं परन्तु आगे चलकर यह मृत्यु या यमराज का भी वाचक हो जाता है। कारण यही है कि सभी वस्तुओं का अन्त या विनाश इसी के पेटे में होता है। जब हम कहते हैं - 'उसका **काल** आ गया' तो आशय यही होता है कि उसके अन्त या विनाश का क्षण आ गया। हम यह भी कहते हैं- **काल** परम बलवान् या महाबली है। ऐसे अवसरों पर हमारा आशय यही होता है कि संसार में जितने अच्छे और बुरे उलट-फेर होते रहते हैं, वे सब इसी के अन्तर्गत होने के अतिरिक्त इसी के प्रभाव या फल के रूप में होते हैं।

'वेला' *स्त्री०* (सं०) का पहला अर्थ है - समुद्र और स्थल के बीच की सीमा रेखा; और दूसरा अर्थ है - समुद्र की लहर। परन्तु प्रस्तुत प्रसंग में दिन अथवा रात का कोई विशिष्ट अंश ही **'वेला'** कहलाता है, जैसे सबेरे की वेला, संध्या की **वेला** आदि। इसके सिवा किसी नियत और निश्चित क्षण अथवा बहुत ही परिमित **काल** विभाग को भी **'वेला'** कहते हैं, जैसे मिलन की **वेला**, विवाह की **वेला** आदि। कुछ अवस्थाओं में इसका प्रयोग कोई विशिष्ट अवसर सूचित करने के लिए ही होता है, जैसे (क) **वेला** आने पर सब कुछ आप ही हो जाएगा, और (ख) **वेला** आने पर वृक्ष स्वयं फल देने लगते हैं।

'समय' *पु०* (सं०) के बहुत से अर्थ हैं परन्तु हमारे यहां इसका प्रयोग लौकिक और सार्विक क्षेत्रों में बहुत-कुछ **काल** और **वेला** के पर्याय के रूप में ही होता है। **काल** की अपेक्षा **समय** कुछ अधिक अनिश्चय के भाव से युक्त है और साधारण रूप में इसकी व्याप्ति भी **काल** की तुलना में कुछ अल्प या परिमित ही होती है, जैसे इस **समय**, उस **समय**, किसी **समय** आदि। फिर हम यह भी कहते हैं - 'किसी का **समय** सदा एक-सा नहीं रहता।' ऐसे प्रसंगों में यह दशा, स्थिति आदि का भी वाचक बन जाता है और तब इसकी जगह **काल** का प्रयोग नहीं होता। हां, जब इसमें दशा, स्थिति आदि का भाव नहीं रहता और यह अपने विशुद्ध मूल अर्थ में प्रयुक्त होता है, तब इसके स्थान पर **काल** का भी प्रयोग हो सकता है। **'काल**-यापन' का भी वही अर्थ है जो **'समय** बिताना' का है।

जब हम कहते हैं - **'समय** आने पर सारी व्यवस्था हो जाएगी' तब इसका अर्थ उपयुक्त अवसर अथवा नियत **काल** होता है। कुछ अवसरों पर यह अवकाश के **काल** का भी वाचक होता है; जैसे - अब तुम्हारे काम के लिए भी मुझे **समय** निकालना पड़ेगा।

इससे 'समय-कुसमय' पद भी बनता है, जिसका प्रयोग मुख्यतः दो अर्थों में होता है। एक तो यह पद किसी के अच्छे दिनों और बुरे दिनों का वाचक होता है, जैसे उन्होंने अपने जीवनकाल में अनेक समय-कुसमय देखे हैं, और दूसरे यह उपयुक्त अवसर और अनुपयुक्त अवसर अर्थात् मौके-बेमौके का भी सूचक होता है, जैसे वह समय-कुसमय अपना ही राग अलापता (या रोना रोता) रहता है। अर्थात् वह इस बात का विचार नहीं करता कि यह अवसर या समय इसके लिए उपयुक्त है या नहीं। अनेक अवसरों पर **काल**, **वेला** और **समय** तीनों के स्थान पर कुछ लोग अरबी के **'वक्त'** का भी प्रयोग करते हैं। ××

किताब- *स्त्री०* (फा०) दे० 'ग्रन्थ, पुस्तक और किताब'।

किनारा- *पु०* (फा० कनारः) दे० 'तट और तीर'।

कीमत- *स्त्री०* (अ०) दे० 'मूल्य, दाम और अर्घ'।

80. कीर्ति — यश — श्रेय

कीर्ति	यश	श्रेय
Glory	Renown, Repute	Credit
Memento	Credit	

इस वर्ग के शब्द ऐसी कौशलपूर्ण प्रसिद्धि और सुनाम के वाचक हैं जो कोई बहुत महत्त्वपूर्ण तथा श्रेष्ठ कार्य पूरा करने पर प्राप्त होते हैं।

'कीर्ति' *स्त्री०* (सं०) का मुख्य अर्थ है - अच्छे कामों का उल्लेख या चर्चा करना। 'कीर्तन' इसी से संबद्ध शब्द है जिसमें परमात्मा के उपकारों और गुणों की बार-बार चर्चा होती है। पुराणों में इसे दक्ष प्रजापति की कन्या और धर्म की पत्नी कहा गया है। इसका आशय यह हो सकता है कि जो लोग धर्म या पुण्य का अर्थात् लोक-कल्याण करनेवाले सत्कर्म करते हैं, उन्हीं की संसार में **कीर्ति** होती है। लोग उत्साह, कृतज्ञता और प्रसन्नतापूर्वक उसकी चर्चा करते हैं। ऐसे व्यक्ति के प्रति लोगों के मन में बहुत अधिक श्रद्धा और सम्मान का भाव होता है, जैसे भगवान् रामचन्द्र ने राक्षसों का विनाश करके यथेष्ट **कीर्ति** संपादित की थी। उक्त प्रकार का बहुत बड़ा और महत्त्वपूर्ण कार्य भी **कीर्ति** के अन्तर्गत ही आता है, जैसेःभागीरथ की **कीर्ति** गंगा के रूप में वर्तमान है। इससे कुछ और आगे बढ़ने पर किसी बड़े और महत्त्वपूर्ण कार्य का स्मरण चिह्न या रचना भी **कीर्ति** कहलाती है, जैसे चित्तौड़ का **कीर्ति** स्तम्भ।

'यश' *पु०* (सं०) का मुख्य अर्थ है - सुन्दर आकृति या रूप। पर आगे चलकर यह किसी बहुत बड़े और गौरवपूर्ण कार्य करनेवाले की चारों ओर फैली हुई ख्याति या प्रसिद्धि का वाचक हो गया। **कीर्ति** और **यश** में मुख्य अन्तर यह है कि **कीर्ति** तो मुख्यतः किसी महत्त्वपूर्ण कार्य की ओर संकेत करती है; और **यश** उसके फलस्वरूप लोक में फैली हुई सुख्याति या सुनाम की ओर। इसके सिवा गौरव और महत्त्व की दृष्टि से **कीर्ति** का क्षेत्र बहुत विस्तृत या व्यापक है और **यश** का क्षेत्र अपेक्षया संकुचित और सीमित। **कीर्ति** तो

की जाती और फैलती है, पर **यश** अर्जित किया या कमाया जाता है। इससे **'यश** लूटना' मुहावरा भी बनता है जिसका अर्थ होता है - बिना कोई बहुत बड़ा काम या परिश्रम किए ही और बहुत सहज में **यश** प्राप्त करना। इसके सिवा इसका एक और मुहावरा होता है - 'किसी का **यश** गाना।' इसका अर्थ होता है - चारों ओर या प्रायः किसी की उदारता, परोपकार आदि की चर्चा करते फिरना।

'श्रेय' *वि०, पु०* (सं०) के विशेषण रूप में अर्थ होते हैं - उत्तम, श्रेष्ठ, मंगलकारक, शुभ आदि। संज्ञा रूप में इसके अर्थ होते हैं - उत्तमता, कल्याण, मंगल, शुभ आदि। इसके अतिरिक्त आध्यात्मिक क्षेत्र में इसका अर्थ होता है - ऐसा धार्मिक कृत्य या साधना जिससे मनुष्य मोक्ष प्राप्त कर सके और जीवन-मरण के बन्धन से सदा के लिए मुक्त हो जाए।* परन्तु प्रस्तुत प्रसंग में अर्थ के विचार से यह **यश** का कुछ छोटा या हल्का रूप है; और इसकी व्यापकता बहुत-कुछ मर्यादित है। **यश** तो बहुत बड़े काम के कारण होने-वाले सुनाम का वाचक है; पर श्रेय किसी कम महत्त्व के कार्य के संबंध में समाज में सीमित सुनाम का सूचक है। परन्तु प्रस्तुत प्रसंग में इसका अर्थ होता है - वह स्थिति जिसमें किसी बड़े काम में सफलता प्राप्त करने पर उसके कर्ता के प्रति आस-पास के लोगों में आदर और कृतज्ञता का भाव उत्पन्न होता है, जैसे - इस काम के लिए प्रयत्न तो बहुत से लोगों ने किए पर इसे पूरा करने का श्रेय आपको ही है। अर्थात् यह कार्य सिद्ध करने में आप ही सफल हुए हैं। कुछ लोग ऐसे अवसरों पर श्रेय के बदले **यश** का भी प्रयोग कर जाते हैं; पर उक्त विवेचन को देखते हुए ऐसा करना ठीक नहीं है। ××

कीर्तिमान- *पु०* (सं०) दे० 'उच्चमान, उच्चांक और कीर्तिमान'।

कुंठा - *स्त्री०* (सं०) दे० 'अवसाद, उदासी, कुंठा, विषण्णता और विषाद'।

कुतूहल- *पु०* (सं०) दे० 'आश्चर्य, अचंभा, विस्मय और कुतूहल'।

कूटनीति- *स्त्री०* (सं०) दे० 'राजतंत्र, राजनय और राजनीति'।

कूत- *स्त्री०* (सं० आकूत = आशय, उद्देश्य) दे० 'गणन अनुगणन, आकलन, पारिकलन, परिगणन, संख्यापन या संख्याकन'।

कूतना - सकर्मक (हि० कूत) दे० 'गणन, अनुगणन, आकलन, परिकलन, परिगणन, संख्यापन या संख्याकन'।

कृतयुग - *पु०* (सं०) दे० 'कल्प और युग'।

---

* इसका विपर्याय 'प्रेय' कहा गया है जिसमें मनुष्य केवल इस आशय से धार्मिक कृत्य करता है कि वह स्वर्ग में पहुंचकर वहां के सुखों का उपभोग करे। इसीलिए 'प्रेय' की अपेक्षा यह निम्नकोटि या हलके दर्जे का माना जाता है।

81. केन्द्र — उत्केन्द्र — नाभि

केन्द्र	उत्केन्द्र	नाभि
Centre	Epicentre	Navel Nucleus

इस वर्ग के शब्द किसी गोल या वर्तुल क्षेत्र अथवा वस्तु के बीच में अथवा बीचोबीच में पड़नेवाले अंश, विन्दु या स्थान के वाचक हैं।

'केन्द्र' *पु०* (सं०) का मुख्य अर्थ है - किसी चीज के ठीक बीच में या बीचो बीच पड़नेवाला विन्दु या स्थान। पर आगे चलकर यह शब्द ज्यामिति का एक प्रसिद्ध पारिभाषिक शब्द बन गया था। वहां **केन्द्र** किसी गोल या वर्तुलाकार वस्तु के ठीक बीच में पड़नेवाला वह विन्दु कहलाता है जिससे उसकी परिधि के सभी विन्दु समान दूरी पर पड़ते हों। वहां जब कोई वृत्त बनाना पड़ता है, तब परकार से इसी विन्दु के चारों ओर ऐसी रेखा खींची जाती है जिसका प्रत्येक विन्दु उस **केन्द्र** विन्दु से समान अन्तर या दूरी पर पड़ता है। इससे और आगे बढ़ने पर यह शब्द किसी वस्तु के बीच या मध्य में पड़नेवाले अंश या स्थान का वाचक हो गया (मध्य से सम्बन्ध रखनेवाले अन्यान्य शब्दों के लिए दे० - 'मध्यक, माध्य, माध्यम और माध्यिका') और इसमें से ऊपरी या बाहरी सिरे पर पड़नेवाले विन्दुओं के समान अन्तर या दूरी पर होने का भाव प्रायः निकल सा गया। इसी आधार पर आज-कल यह अपने बहुत विस्तृत अर्थ में प्रचलित है। आज-कल **केन्द्र** किसी क्षेत्र के ऐसे स्थान का वाचक हो गया है जहां से आस-पास के अथवा इधर-उधर दूर तक फैले हुए अंशों, कार्यों, विभागों आदि का प्रबन्ध या संचालन होता है। दिल्ली सारे भारत के ठीक बीचोबीच में नहीं है; बल्कि उत्तर पश्चिमी अंचल में है। फिर भी इसीलिए उसे **केन्द्र** कहते हैं कि वहां से भारत के सभी क्षेत्रों, प्रदेशों, राज्यों आदि की व्यवस्था होती है। किसी व्यापारिक संस्था की अनेक शाखाएं देश में चारों और फैली हुई हो सकती हैं, परन्तु उसका **केन्द्र** वही कहलाता है जहां उसका मुख्य और सर्वप्रधान कार्यालय होता है। यंत्रों आदि में वह विन्दु **केन्द्र** कहलाता है जिसके चारों ओर अनेक कल-पुर्जे घूमते या चक्कर लगाते हों। साभाजिक क्षेत्र में वह बीच का स्थान **केन्द्र** कहलाता है जहां एक ही प्रकार के बहुत से लोग आकर इकट्ठे होते या रहते हों, जैसे गुण्डों, जुआड़ियों, डाकुओं आदि का **केन्द्र**। जिस स्थान पर एक ही प्रकार का कोई बहुत बड़ा या महत्त्वपूर्ण कार्य होता है और जहां से चारों ओर उस कार्य का प्रसार या विस्तार होता है, वह भी **केन्द्र** कहलाता है, जैसेः विद्या, साहित्य आदि का **केन्द्र**।

'उत्केन्द्र' *पु०* (सं०) **केन्द्र** में उत् उपसर्ग लगाकर बनाया हुआ नया शब्द है। विशेषण रूप में इसका अर्थ होता है - अपने **केन्द्र** से अलग, दूर या हटा हुआ। जिस चक्कर या पहिए की धुरी ठीक **केन्द्र** पर न होकर कुछ इधर-उधर या ऊपर-नीचे होती है तो उसे भी **उत्केन्द्र** कहते हैं। जिन वृत्तों के **केन्द्र** एक दूसरे से भिन्न हों उन्हें भी **उत्केन्द्र** (Eccentric) कहते हैं। इसका विपर्याय समकेन्द्र (Concentric) है। परन्तु यहां उत् का अर्थ ऊपर है; और यह **उत्केन्द्र** यहां भूकंपों आदि के संबंध में प्रयुक्त

होने-वाली संज्ञा है। भूकंप का मूल **केन्द्र** पृथ्वी के गर्भ में बहुत गहराई में और नीचे होता है। उसके ठीक ऊपर पृथ्वी का जो अंश होता है वही **उत्केन्द्र** कहलाता है।*

'नाभि' *स्त्री०* (सं०) भी मूलतः **केन्द्र** या मध्य भाग का वाचक है पर आगे चलकर इसमें कुछ नई विवक्षाएं लग गई हैं। अपने परम प्रचलित और प्रसिद्ध अर्थ में यह जरायुज जन्तुओं के पेट के बीच में पड़नेवाले उस गड्ढे का वाचक है जो गर्भकाल में भी और जन्म के समय में भी जरायुज नाल से जुड़ा रहता है। गर्भावस्था में माता के शरीर से सभी पोषक पदार्थ इसी नाल के द्वारा गर्भस्थ जीव के शरीर में पहुंचते और उसका पोषण करते हैं। जन्म के समय यह नली या तो आप से आप कटकर अलग हो जाती है या मनुष्यों, गौओं, भैंसों आदि में काटकर अलग कर दी जाती है। शरीरशास्त्र के अनुसार जरायुज प्राणियों के इसी गड्ढे पर स्नायविक तंत्र का **केन्द्र** होता है। इससे और आगे बढ़ने पर इसका प्रयोग किसी पदार्थ के ठीक बीच में पड़नेवाले उस भौतिक तत्त्व या ठोस अंश के लिए होता है जिसके चारों ओर उसके सब अंग या अंश बने या लगे हुए होते हैं। जैसे गुठलीदार फलों के बीच में पड़नेवाली गुठली ही उनकी **नाभि** होती है। गणित ज्योतिष में किसी धूमकेतु या पुच्छल तारे के अगले भाग या सिरे के बीचोंबीच जो अधिक चमकीला विन्दु होता है, उसे भी उसकी **नाभि** कहते हैं। भौतिक और रसायन-शास्त्रों में परमाणु के ठीक मध्यवाला अंश भी **नाभि** कहलाता है। इसी अंश के चारों ओर मूल तत्त्व का सारा विस्तार होता है। यह अंश बहुत अधिक शक्तिशाली होता है और परमाणु बमों आदि का सारा संहारक परिणाम इसी अंश के विस्फोट पर आश्रित होता है। इसके सिवा आज-कल और भी अनेक ऐसे अस्त्र-शस्त्र तथा यंत्र आदि बनने लगे हैं जो इसकी शक्ति से बहुत बड़े-बड़े और महत्त्वपूर्ण कार्य बिल्कुल नए और विलक्षण ढंग से करते हैं। इसीलिए ऐसे यंत्रों को नाभिक यंत्र या शस्त्र (Nuclear arms) कहते हैं।

××

82. कोटि — वर्ग — श्रेणी

कोटि	वर्ग	श्रेणी
Category	Class	Grade

यह माला ऐसी समूहवाचक सज्ञाओं की है जो किसी विशिष्ट दृष्टि से किए हुए विभाजनों के प्रकार और रूप सूचित करती हैं।

यों तो संस्कृत में **'कोटि'** के कई अर्थ हैं, परन्तु प्रस्तुत प्रसंग में उसका एक विशिष्ट अर्थ है – किसी विचारणीय या विवादग्रस्त बात के पक्ष या विपक्ष में कही जानेवाली हर तरह की बातें या विचार, जैसे 'इन सभी कोटियों में एक बात समान रूप से पाई जाती है'। इसी आधार पर आज-कल इस शब्द में एक नया अर्थ भी जुड़ गया है जो

---

* मानक हिन्दी कोश में मैंने Epicentre के लिए तीन शब्द दिए थे- अधिकेन्द्र, **उत्केन्द्र** और कंप **केन्द्र**। परन्तु मेरी समझ में इन तीनों में उत्केन्द्र ही सबसे अधिक उपयुक्त भी है और सार्थक भी। इसीलिए मैंने इसे यहां वरीयता दी है।

एक विशिष्ट प्रकार के विभाग का सूचक है। जब हम किसी समान गुण, धर्म या रूप के आधार पर चीजों या बातों का कोई अलग विभाग बनाते या मानते हैं तब उस विभाग को **कोटि** कहते हैं, जैसे हिन्दी में अभी तक इस **कोटि** के दो ही चार ग्रन्थ लिखे गए हैं। यहां **कोटि** शब्द एक अलग प्रकार के ऐसे विभाग का सूचक है जो औरों से स्पष्टतया पृथक् दिखाई देता हो।

'वर्ग' को हम **कोटि** का विस्तृत और व्यापक रूप कह सकते हैं। **कोटि** में तो प्रायः थोड़ी सी ही और बहुत ही विशिष्ट प्रकार की चीजों, आदि का अन्तर्भाव होता है, परन्तु **वर्ग** में ऐसी सभी चीजें, बातें और व्यक्ति आ जाते हैं जो साधारण रूप से देखने पर बहुत-कुछ एक ही तरह के जान पड़ते हैं। अर्थात् इस विभाग में विशिष्ट गुणों, धर्मों आदि के स्थान पर सामान्य गुणों, धर्मों आदि का ही विचार होता है। साधारणतः एक ही प्रकार की अथवा बहुत-कुछ मिलती-जुलती या सामान्य धर्मवाली वस्तुओं का समूह **वर्ग** कहलाता है, जैसे औषधि **वर्ग**, धातु **वर्ग**, पशु **वर्ग** आदि। इसी आधार पर व्याकरण में स्वर-नलिका या मुख के एक ही स्थान से उच्चरित होनेवाले स्पर्श व्यंजन वर्णों का समूह भी **वर्ग** कहलाता है, जैसे क **वर्ग**, च **वर्ग**, प **वर्ग** आदि। सामाजिक क्षेत्र में ऐसे लोगों के समूह को भी **वर्ग** कहते हैं जो आर्थिक, व्यावसायिक, आदि दृष्टियों से स्वतंत्र इकाई के रूप में माने जाते हैं, जैसे धनिक **वर्ग**, मध्यम **वर्ग**, श्रमिक **वर्ग** आदि। छोटी और बड़ी जातियों आदि के विचार से समाज के लोगों का जो विभाजन होता है वह भी **वर्ग** कहलाता है, जैसे-ब्राह्मण **वर्ग**, वैश्य **वर्ग** आदि। विद्यालयों आदि में पढ़ाई के स्तर के विचार से विद्यार्थियों के जो विभाग होते हैं, वे भी **वर्ग** कहलाते हैं, जैसे - विद्यालय का पांचवां **वर्ग**, सातवां **वर्ग** आदि।

'श्रेणी' का एक अर्थ है - अवली या पंक्ति। दूसरा अर्थ है - लगातार चलता रहनेवाला क्रम या शृंखला, और तीसरा अर्थ है - ऊपर चढ़ने की सीढ़ी। इसी आधार पर प्रस्तुत प्रसंग में **श्रेणी** से ऐसा विभाजन सूचित होता है जिसमें थोड़े-थोड़े अन्तर पर आगे चढ़ते चलने या ऊपर उठते रहने का भाव प्रधान है। आज-कल कार्यालयों में कार्यों की प्रधानता, गौणता आदि के विचार से कार्यकर्ताओं के जो छोटे-बड़े विभाग होते हैं उन्हें प्रायः **श्रेणी** ही कहते हैं, जैसे प्रथम **श्रेणी** के कर्मचारी, चतुर्थ **श्रेणी** के कर्मचारी आदि। कई दृष्टियों से यह **वर्ग** का पर्याय भी है। विद्यालयों आदि के वर्गों को **श्रेणी** भी कहते हैं, जैसे—चौथी **श्रेणी** का विद्यार्थी, पांचवीं **श्रेणी** का विद्यार्थी। **वर्ग** और **श्रेणी** के इन अर्थों में उर्दू का **दरजा** (*अ० दरजः*) भी प्रचलित है।

प्राचीन भारत में, एक ही प्रकार के व्यवसाय करनेवाले व्यापारियों का संगठन भी **श्रेणी** कहलाता था, परन्तु आज-कल इस अर्थ में इसका प्रयोग बिल्कुल उठ गया है।

सूक्ष्म दृष्टि से विचार करने पर पता चलता है कि **वर्ग** की तुलना में **कोटि** का विस्तार बहुत ही संकुचित और सीमित होता है। **कोटि** को हम **वर्ग** का कोई छोटा विभाग या शाखा ही कह सकते हैं। पुस्तकों के **वर्ग** में तो सभी प्रकार की पुस्तकें आ जाती हैं परन्तु जब हम उच्च **कोटि** अथवा मध्यम **कोटि** की पुस्तकों की चर्चा करते हैं तो हम

उनका क्षेत्र बहुत ही सीमित कर देते हैं। यही बात 'देववर्ग' के सम्बन्ध में भी है। देवताओं के **वर्ग** में तो संसार भर की जातियों, देशों और धर्मों के देवता आ जाते हैं, परन्तु पौराणिक अथवा वैदिक देवताओं की **कोटि** ही होती है। प्रायः लोग **कोटि** और **वर्ग** दोनों के स्थान पर **श्रेणी** का प्रयोग करते हुए भी देखे जाते हैं। ××

कोशिश - *स्त्री०* (फा०) दे० 'चेष्टा, प्रयत्न और प्रयास'।

कौतूहल - दे० 'आश्चर्य, अचम्भा, विस्मय और कुतूहल'।

क्रियाविधि- *स्त्री०* (सं०) दे० 'विधि, क्रियाविधि, प्रक्रम और प्रविधि'।

क्लेश- *पु०* (सं०) दे० 'कष्ट और क्लेश'।

क्षेप्यास्त्र - *पु०* (सं०) दे० 'अस्त्र, आयुध और शस्त्र'।

खपत- *स्त्री०* (हिं० खपना) दे० 'योग, उपयोग और खपत'।

खबर- *स्त्री०* (अ०) दे० 'संदेश, संवाद और समाचार'।

खलबली- *स्त्री०* (हिं खलबल) दे० 'हलचल, खलबली, सनसनी और हड़कंप'।

खंडप्रलय- *पु०* (सं०) दे० 'लय, प्रलय और विलय'।

खिलाफ- *वि०* (फा०) दे० 'प्रतिकूल, विपरीत और विरुद्ध'।

खिल्ली- *स्त्री०* (हिं०) दे० 'उपहास, खिल्ली, ठट्ठा और ठठोली'।

खून- *पु०* (फा०) दे० 'हत्या, हनन, मारण, वध और संहार'।

खेद- *पु०* (सं०) 'दुःख, खेद और शोक'।

खैर- *अव्य०* (अ०) दे० 'अच्छा और खैर'।

खैरात- *स्त्री०* (अ०) दे० 'दान, अंशदान, अधिदान, अनुदान, परिदान और प्रदान'।

83. खोज / अनुसंधान / अन्वेषण / शोध

खोज	अनुसंधान	अन्वेषण
Search	Investigation Inquiry	Exploration
		शोध Research

इस **वर्ग** के शब्द कोई आदमी या चीज ढूंढ़ने या तलाश करने के अथवा किसी बात का पता लगाने के वाचक हैं।

'खोज' *स्त्री०* (हि०) 'खोजना' क्रिया से बनी हुई भाववाचक संज्ञा है। खोजना का मूल सम्बन्ध सं० खुज् धातु से है, जिसके अर्थ हैं चुराना, छीनना और लूटना। इसी आधार पर खोजना का अर्थ होता है - खोई या चोरी गई हुई चीज ढूंढ़ना या तलाश

करना। **खोज** इसी का भाववाचक रूप है। अर्थ की दृष्टि से यह इतना व्यापक है कि इस **वर्ग** के प्रायः और सभी शब्दों के अर्थ इसके अन्तर्गत आ जाते हैं; और इस प्रकार के प्रायः सभी दूसरे शब्दों के स्थान पर इसका प्रयोग होता या हो सकता है। आदमियों और चीजों को ढूंढ़ने का काम तो **खोज** है ही; अधिक विस्तृत क्षेत्र में यह भागे हुए ऐसे पशुओं और व्यक्तियों के पैरों के निशानों का भी वाचक हो गया है जिन्हें देखकर कोई उन्हें ढूंढ़ने या उनका पता लगाने के लिए आगे बढ़ता है। इससे भी और आगे विकसित होने पर इसका अर्थ होता है - किसी प्रकार के चिह्नों या निशानों के आधार पर कुछ ढूंढ़ने या किसी बात का पता लगाने का काम, जैसे (क) पुलिस चोरों (या डाकुओं) की **खोज** में लगी है। (ख) बहुत **खोज** करने पर भी चोरी गई हुई चीजों का पता नहीं लग सका। उर्दू के अनुकरण पर हिन्दी में इसके स्थान पर 'तलाश' का प्रयोग होता है जो मूलतः तुर्की भाषा का शब्द है। साधारणतः चुराई-छिपाई हुई चीजों का पता लगाने के लिए किसी के घर की सब चीजों की अच्छी तरह छान-बीन की जाती है। उसे 'तलाशी' कहते हैं। इसके साथ प्रायः लेना क्रिया का प्रयोग होता है। एक दूसरे प्रसंग में **खोज** का जो अर्थ होता है, उसके लिए दे० 'आविष्कार और उपज्ञा (या **खोज**)'।

'अनुसंधान' *पु०* (सं० अनु+संधान) का मूल अर्थ है - किसी बात पर ध्यान या लक्ष्य रखकर उसके सम्बन्ध में ज्ञान प्राप्त करने के लिए पीछे-पीछे चलना या आगे बढ़ना। परन्तु आज-कल हिन्दी में इसका विशिष्ट अर्थ होता है- किसी बात या विषय के मूल कारण, तथ्य, रूप या स्थिति का ठीक और पूरा ज्ञान प्राप्त करने के लिए ब्योरे की सभी बातों पर ध्यानपूर्वक और व्यवस्थित रूप में छान-बीन और जांच-पड़ताल करना। यह मुख्यतः आधिकारिक या प्रशासनिक होता है, जैसे - पुलिस इस रहस्यमय हत्याकांड का **अनुसंधान** कर रही है। आशय यही होता है कि वह सभी परिस्थितियों की व्यवस्थित रूप से जांच करके वास्तविकता का पता लगाने में लगी हुई है।

'अन्वेषण' *पु०* (सं० अनु+ऐषण) का शब्दार्थ है पीछे या बाद में अच्छी तरह देखना या ढूंढ़ना। इसके आरम्भिक अर्थ तो बहुत कुछ वही हैं, जो ऊपर खोज और **अनुसंधान** के बतलाए गए हैं, परन्तु आज-कल इसका विशिष्ट अर्थ होता है - किसी ऐसी पुरानी या बीती हुई घटना, वस्तु, विषय आदि का पता लगाना जो या तो लोगों के ध्यान से उतर गयी हो या जिसकी ओर अभी तक किसी का ध्यान ही न गया हो। इसके सिवा इसका प्रयोग ऐसी वस्तुओं, स्थानों आदि का नए सिरे से पता लगाने का प्रयत्न करना है, जिन्हें लोग या तो जानते ही न हों, या बहुत कम जानते हों, जैसे- (क) मिट्टी के तेल या लोहे की खान का पता लगाने के लिए होनेवाला **अन्वेषण**। (ख) अफ्रीका के घने जंगलों में रहनेवाली आदिम जातियों अथवा उत्तरी ध्रुव के सम्बन्ध में होनेवाला **अन्वेषण**। और (ग) किसी की आय और व्यापार बढ़ाने के उपायों और साधनों को बढ़ाने के लिए होनेवाला **अन्वेषण**।

'शोध' *पु०* (सं०) के आरम्भिक और मूल अर्थ हैं - किसी वस्तु के दोष या विकार दूर करके उसे शुद्ध करना; कमी, त्रुटि या भूल दूर करके अच्छा, ठीक या पूर्ण बनाना; ऋण या देन चुकाकर उसके भार से मुक्त होना आदि। इसके सिवा इसका एक और अर्थ

छान-बीन या जांच-पड़ताल करना भी है। प्रस्तुत प्रसंग में यह अपने इसी अन्तिम अर्थ के कुछ विकसित रूप में प्रयुक्त होता है। इसका प्रयोग मुख्यतः ऐतिहासिक, वैज्ञानिक साहित्यिक आदि क्षेत्रों में किसी नई बात का पता लगाने के सम्बन्ध में होता है। प्रायः ऐसे कामों या बातों की खोज में अनेक विचारशील विद्वान् लगे रहते हैं, और अपने-अपने ज्ञान तथा दृष्टिकोण के अनुसार अलग-अलग निष्कर्ष निकालते और अपना मत निरूपित करते हैं। मुख्य रूप से इसी प्रकार के काम **शोध** कहलाते हैं। फिर ऐसा भी होता है कि कुछ नए विद्वान् पुराने लोगों के निकाले हुए निष्कर्षों या स्थिर किए हुए मतों की भी छान-बीन करके कुछ नए निष्कर्ष निकालते अथवा मत स्थिर करते हैं। इस प्रकार के सभी कामों का अन्तर्भाव **शोध** में होता है। ××

खोज- *स्त्री०* (हि० खोजना) दे० 'आविष्कार और उपज्ञा'।

84. गंध — बू — महक — वास

गंध	बू	महक	वास
Smell	1.Smell, Scent 2. Odour	Scent	Odour

इस वर्ग के शब्द वस्तुओं के उस गुण या विशेषता के वाचक हैं जिसका ज्ञान हमें नाक के द्वारा अर्थात् हमारी घ्राण-शक्ति से होता है। अनेक अवसरों पर कुछ वस्तुओं के दूर रहने पर भी उनके संसर्ग से युक्त वायु के द्वारा ही हमें उनके इस गुण या विशेषता का ध्यान घ्राणेन्द्रिय के द्वारा होता है। 'गंध' इस वर्ग का बहुत अधिक प्रचलित और प्रसिद्ध शब्द है। हमारे यहां इसके कटु, मधुर, रुक्ष, स्निग्ध आदि नव प्रकार कहे गए हैं। परन्तु लोक में साधारणतः इसके अप्रिय या प्रिय होने के आधार पर दुर्गन्ध और सुगंध नाम के दो भेद ही अधिक प्रचलित हैं। अनेक अवसरों पर अच्छी और प्रिय अर्थात् सुगंध के लिए ही गंध का प्रयोग होता है। उदाहरणार्थ देवताओं पर सुगन्धित द्रव्य चढ़ाने के समय कहा जाता है; 'गंधाः पान्तु', परन्तु परियों आदि की कहानियों में बच्चों को सुनाया जाता है कि जब उनके आस-पास मृत्यु-लोक का कोई आदमी पहुंच जाता है, तब वे आपस में 'मानस-गंध, मानस-गंध' कहकर नाक-भौं सिकोड़ने लगती हैं, अर्थात् ऐसे अवसरों पर यह अप्रिय दुर्गन्ध का भी वाचक हो जाता है। शिकारी कुत्ते शिकार की गन्ध के आधार पर ही उसका पीछा करते हैं; और यह गंध अप्रिय भी हो सकती है और प्रिय भी। जंगल में जब गौओं-भैंसों आदि को अपने आस-पास से चीते या बाघ की गन्ध (दुर्गन्ध) आती है, तब वे घबराकर इधर-उधर भागने लगती हैं। हमारे यहां जड़ायंध, सड़ायंध आदि जो अनेक शब्द प्रचलित हैं, उनमें का 'यंध' प्रत्यय इसी गंध से बना है।

'**बू**' *स्त्री०* (फा०) भी बहुत-कुछ वही है जो गन्ध है। उर्दूवालों ने इसका प्रयोग अच्छे और बुरे दोनों अर्थों में किया है। अच्छे अर्थ के प्रयोग का उदाहरण है -

गुलिस्तां में जा के हर एक गुल को देखा।
न तेरी सी रंगत, न तेरी सी **बू** है॥

इसके विपरीत बुरे अर्थ के प्रयोग का उदाहरण है-

रुकाव ठीक नहीं तबऽ की रवानी में।
कि **बू** फसाद की आती है बन्द पानी में ।।

दुर्गन्ध और सुगन्ध की तरह **'बू'** के भी दो रूप होते हैं- बदबू और खुशबू।

'महक' *स्त्री०* (सं० महक्क) मूलतः सुगन्ध या खुशबू का ही वाचक है।* कभी-कभी कुछ लोग भूल से कह जाते हैं - न जाने कहां से यह बुरी **महक** आ रही है। परन्तु हमारी समझ में ऐसे प्रयोग ठीक नहीं माने जाने चाहिए, और **'महक'** का प्रयोग सदा खुशबू या सुगन्ध के अर्थ में ही होना चाहिए।

'वास' *स्त्री०* (सं०) भी बहुत कुछ वही है जो **महक** (खुशबू या सुगंध) है। फिर भी कुछ अवसरों पर इसके पहले 'सु' उपसर्ग लगाकर लोग इसका रूप 'सुवास' बना लेते हैं। परन्तु इसके पहले 'कु' उपसर्ग का प्रयोग अथवा 'कुवास' रूप कहीं देखने में नहीं आता। **वास** शब्द के अर्थ में एक और भाव भी लग गया है और वह है किसी चीज को किसी दूसरी चीज की गंध या **महक** से युक्त करने का। इसी आधार पर **'वास'** से हिन्दी में 'बसाना' या 'बासना' क्रिया बनी है; जिसका अर्थ है - किसी अच्छी चीज को सुवास या सुगंध से युक्त करना, जैसे-अतरों या फूलों से कपड़े बसाना या बासना।

प्राचीन काल में रानी-महारानियां अपने सिर के बाल अगरू आदि के धुएं से सुवासित ही करती थीं, सुगंधित नहीं। आशय यही है कि सुगंध तो पदार्थों में स्वयं ही होती है, परन्तु सुवास उनमें हो सकती है और बाहर से लाकर युक्त भी की जा सकती है।

इस कोटि के और शब्दों के लिए दे० 'परिमल, सुरभि, और सौरभ'। ××

गगन- *पु०* (सं०) दे० 'अंतरिक्ष, आकाश, व्योम और महाव्योम'।

गज- *पु०* (फ़ा० गज) दे० 'आदर्श, प्रतिमान, प्रतिरूप, मानक और मानदंड'।

गजबाग- *स्त्री०* (सं० गज+हि० बाग = लगाम) दे० 'अंकुश और नियंत्रण'।

गण- *पु०* (सं०) दे० 'कबीला, गण, जन और जन-जाति'।

85. गणतंत्र जनतंत्र प्रजातंत्र लोकतंत्र

Republic Democracy Democracy Democracy

संसार में आरम्भ से अब तक जो अनेक प्रकार की शासन प्रणालियां स्थापित हुई हैं, उन्हीं में **गणतंत्र** और **प्रजातंत्र** या **लोकतंत्र** भी हैं। प्राचीन काल में अनेक देशों में

---

* इसी महक से 'महकना' क्रिया बनती है जिसका अर्थ होता है- सुगन्ध देना या फैलाना। ऐसे ही अर्थ से युक्त उर्दू का एक शेर है–

हम व' कमजर्फ नहीं हैं जो बहकते जाएँ।
मिस्ले गुल जाएँ, जिधर जाएँ, महकते जाएँ ।।

कबीलों या गणों* के बहुत से छोटे-बड़े राज्य बन गए थे, वही गणराज्य कहलाते थे। पंजाब, सिन्ध, अफगानिस्तान, यूनान आदि में ऐसे अनेक गणराज्य थे। इनकी सबसे बड़ी विशेषता यही होती थी कि इनमें कोई वंशानुक्रमिक राजा या बादशाह नहीं होता था और ये अपना नेता, प्रधान या सरदार स्वयं चुनते थे और आवश्यकता पड़ने पर उन्हें बदल भी देते थे। ऐसे ही राज्यों की शासन-प्रणाली को **गणतंत्र** कहते थे। आधुनिक राजनीति में भी अनेक ऐसे देश और महादेश हैं जिनमें बहुत-कुछ इसी प्रकार की शासन प्रणाली प्रचलित है। उनमें कुछ नियत या निश्चित समय पर प्रधान शासक बदलते रहते हैं जो साधारणतः राष्ट्रपति कहलाते हैं। इनकी गिनती **गणतंत्र** में इसीलिए होती है कि इनके अन्तर्गत बहुत से ऐसे छोटे-छोटे देश या राज्य होते हैं जो बहुत सी आन्तरिक बातों में त बहुत-कुछ स्वतंत्र या स्वाधीन होते हैं परन्तु कुछ अन्तर्देशीय विषयों में एक केन्द्रीय शासन या सर्वोपरि सत्ता के अधीन होते हैं। इन्हीं देशों या राज्यों के प्रतिनिधि राष्ट्रपति का चुनाव करते हैं। परन्तु राष्ट्रपतियों के अधिकार भी बहुत कुछ परिमित तथा मर्यादित ही होते हैं। अमेरिका, भारत आदि महादेशों का शासन इसलिए **गणतंत्र** कहलाता है।

'लोकतंत्र' एक आधुनिक प्रकार की शासन-प्रणाली है जिसमें सभी वयस्क पुरुषों और स्त्रियों को अपने प्रतिनिधि चुनने का अधिकार होता है। इन्हीं प्रतिनिधियों की सभा (जिसे संसद, लोकसभा कहते हैं) देश या राज्य के लिए सब प्रकार के कानून या विधान बनाती है; आवश्यकता होने पर उनमें परिवर्तन संशोधन करती है और शासन के सभी अंगों या विभागों की देख-भाल और व्यवस्था करती है। आज-कल अधिकतर लोकतंत्रीय शासनों में कई ऐसी विशेषताएं होती हैं, जो साधारणतः ऐसे देशों या राज्यों में नहीं होती जिनमें किसी स्वच्छन्द राजा, बादशाह अथवा अधिनायक का शासन होता है। **लोकतंत्र** शासन-प्रणाली में साधारणतः बहुमत का निर्णय ही सर्वमान्य होता है। अल्पमतों तथा अल्पसंख्यकों के हितों की रक्षा का पूरा ध्यान रखा जाता है। सभी लोगों को समान नागरिकता के अधिकार प्राप्त होते हैं। अपने विश्वास के अनुसार धर्म का पालन करने और भाषणों, लेखों आदि के द्वारा अपने विचार प्रकट करने की स्वतंत्रता होती है। **गणतंत्र** से इसमें एक ही अन्तर है। इसका प्रधान शासक या सर्वोपरि सत्ताधारी किसी वंशानुक्रम का राजा, महाराजा या बादशाह भी हो सकता है और उसके हटा दिए जाने पर जनता अथवा उसके प्रतिनिधियों को अपना प्रधान शासक या राष्ट्रपति चुनने का अधिकार भी हो सकता है। इंगलैंड में ऐसा **लोकतंत्र** है जिसमें वंशानुक्रमिक महाराजा या बादशाह होते हैं परन्तु उनके अधिकार बहुत ही परिमित होते हैं। और फ्रांस में ऐसा **लोकतंत्र** है, जिसमें समय-समय पर राष्ट्रपति का चुनाव होता रहता है। उक्त दोनों प्रकार के और भी अनेक राज्य संसार में वर्तमान हैं।

आज-कल जिसे **लोकतंत्र** कहते हैं वही कुछ दिन पहले तक **'प्रजातंत्र'** कहलाता था। परन्तु प्रजा शब्द में किसी राजा के अधीनस्थ होने का भाव निहित है, इसलिए जहां कोई राजा, महाराजा या बादशाह नहीं होता वहां के लोग अपने आपको

---

* कबीले या गण की विस्तृत व्याख्या के लिए दे० – 'कबीला, गण जन-जाति शीर्षकमाला'।

किसी की 'प्रजा' भी नहीं समझते और न प्रजा कहलाना ही पसन्द करते हैं। इसीलिए आज-कल **प्रजातंत्र** का प्रयोग प्रायः उठ सा गया है और उसके स्थान पर **लोकतंत्र** ही चल पड़ा है। अर्थ, आशय और भाव की दृष्टि से **जनतंत्र** भी ठीक वही है जो **लोकतंत्र** है। परन्तु 'जन' शब्द में और भी कई प्रकार के अर्थ तथा भाव लगे हुए हैं और अनेक क्षेत्रों में उसके स्थान पर 'लोक' का व्यवहार होने लगा है, जैसे - लोककथा, लोकगीत, लोकनृत्य आदि। और सम्भवतः इसी आधार पर **लोकतंत्र** अधिक प्रचलित तथा प्रसिद्ध है।

86.	**गणन**	**अनुगणन**	**अभिकलन**
	Counting	Reckoning	Computation
	आकलन	**परिकलन**	**परिगणन**
	Estimation	Calculation	Enumeration
	Estimate		
		संख्यापन और संगणन	
		Numbering	

इस वर्ग के शब्द गणित की कुछ विशिष्ट प्रकार की क्रियाओं और प्रक्रियाओं के वाचक हैं।

'गणन' *पु०* (सं०) यह जानने की क्रिया है कि हमारे सामने जो चीजें हैं, वे संख्या के विचार से कितनी हैं - दो हैं, चार हैं, दस हैं या सौ हैं। यह काम 1, 2, 3, 4 की गिनतीवाली साधारण और सीधी क्रिया से होता है। मान या संख्या जानने के लिए गिनती करना या गिनना ही **गणन** है। घड़ी देखने पर घण्टे, मिनट आदि गिनकर ही ठीक समय जाना जाता है; और महीने की तिथियां या तारीखें भी **गणन** से या गिनकर ही निश्चित की जाती हैं। इसी **गणन** से हम बतलाते हैं कि आज हमारे पास चार चिट्ठियां आईं या हमारी मेज पर दो कलमें और पांच पुस्तकें पड़ी हैं।

'अनुगणन' *पु०* (सं०) भी है तो **गणन** का ही एक प्रकार, परन्तु इसमें साधारण गिनती गिनने से काम नहीं चलता, मन ही मन जोड़, बाकी, गुणा और भाग की भी कुछ छोटी और साधारण क्रियाएं करनी पड़ती हैं। छोटे बालकों को पाठशालाओं में मौखिक गणित के नाम से जो बातें सिखाई जाती हैं या नित्यप्रति के लौकिक और सामाजिक व्यवहारों का जो बहुत सा हिसाब, बिना कागज पर लिखे, यों ही जबानी लगाया जाता है, वही **अनुगणन** है। बहुत से छोटे-मोटे काम ऐसे भी होते हैं जिनके सम्बन्ध में हिसाब से हमें मन ही मन कुछ साधारण **'परिकलन'** भी करना पड़ता है, जैसे धोबी को देने के लिए कपड़ों की धुलाई या ग्वाले को देने के लिए महीने भर के दूध का या खरीदी हुई तरकारियों और मिठाइयों के दाम का। ऐसी साधारण बातों का हिसाब जबानी या मन ही

मन लगा लिया जाता है। **'गणन'** और **'परिकलन'** के ऐसे छोटे-मोटे और मन ही मन किए जानेवाले काम **अनुगणन** कहलाते हैं। आज-कल के बढ़ते और बदलते हुए आर्थिक तथा व्यापारिक व्यवहारों और लेन-देन की प्रणालियों के कारण **अनुगणन** के बहुत से काम भी इतने श्रमसाध्य और जटिल हो गए हैं कि वे तुरन्त जबानी या मन ही मन नहीं लगाए जा सकते और उनमें विशेष **'परिकलन'** से सहायता लेनी पड़ती है। इसीलिए अब यंत्रों के रूप में प्रस्तुत अनुगणक (Ready Reckoners) बनने लगे हैं, जिनमें कठिन अनुगणनों के फल दिए रहते हैं, जैसे यदि हम जानना चाहें कि 90 पैसे प्रति सैकड़े के हिसाब से 165 रुपये का 42 दिनों का कितना सूद होगा* या 170 रुपये मासिक वेतन पानेवाले कर्मचारी का 23 दिनों का वेतन उन दशाओं में अलग-अलग कितना होगा जबकि महीना 28 दिनों का हो, 29 दिनों का हो, 30 दिनों का हो और 31 दिनों का हो, तो **परिकलन** की सहायता से ऐसे प्रश्नों का निकाला हुआ ठीक फल हमें ऐसे अनुगणकों में सहज में मिल जाएगा। यद्यपि ऐसे जटिल प्रश्नों के उत्तर बहुत पेचीले परिकलनों के द्वारा ही निकाले जाते हैं, तो भी चली आई हुई प्रथा के अनुसार इनकी गणना **अनुगणन** में ही होती है *।

'अभिकलन' *पु०* (सं०) हमारे यहां के ज्योतिष शास्त्र का पुराना पारिभाषिक शब्द है। प्रायः ग्रहों आदि की स्थिति का ध्यान रखकर और पहले के निश्चित किए हुए मतों और सिद्धान्तों के आधार पर यह भविष्यद्वाणी की जाती है कि अमुक समय पर आंधियां आएंगी या भूकम्प होगा अथवा इस वर्ष अधिक वर्षा होगी या कम। मुख्यतः यही **अभिकलन** है। अब इसके स्थान पर **'संगणन'** का भी प्रयोग होने लगा है। परन्तु आजकल इसके अर्थ का कुछ ऐसा विकास हुआ है कि वह **परिकलन** के अर्थ से बहुत-कुछ मिलता-जुलता हो गया है**। देखें नीचे **'परिकलन'**।

'आकलन' *पु०* (सं०) भी है तो बहुत-कुछ वही जो **अभिकलन** है, फिर भी इसमें अपेक्षया कुछ विशेषता है। कुछ अवस्थाओं में सम्भावनाओं आदि का ध्यान रखते हुए और प्रायः अनुमानों के आधार पर किसी भावी काम या बात के सम्बन्ध में पहले से ही जो आनुमानिक गणना करनी पड़ती है, उसे **आकलन** कहते हैं। यदि नया घर बनवाने से पहले हम यह जानना चाहें कि इतना लम्बा, इतना चौड़ा और इतना ऊंचा घर बनवाने में कितनी ईंटें, कितने पत्थर और कितनी कड़ियां या धरनें लगेंगी, कितने राज-मजदूर

---

* भारतीय महाजनी प्रणाली से बहीखाते का काम करनेवाले मुनीम सूद या ब्याज के ऐसे पेचीले हिसाब अब भी जबानी लगाते हैं।

** आज-कल के वैज्ञानिकों ने कुछ ऐसे यंत्र बनाए है जो गणना के सभी प्रकार के बड़े-बड़े काम कुछ ही क्षणों में पूरा कर देते हैं। इनमें लाखों, करोड़ों संख्याओं के जोड़, बाकी, गुणा और भाग के फल तो तुरन्त निकल ही जाते हैं, वर्गमूल, धनमूल आदि भी सहज में निकल आते हैं। ऐसे यंत्रों को संगणक (Computer) कहते हैं। इसके सिवा बहुत दिनों से भूमापक विभाग में जो कर्मचारी खेतों, जंगलों, पहाड़ों आदि की नाप-जोख करके उनके नक्शे बनाने में सहायक होते हैं, उन्हें भी (Computer) कहा जाता है। अब ऐसे कर्मचारियो के लिए भी 'संगणक' का प्रयोग हो सकता है और होना चाहिए।

रखने पड़ेंगे, और इन सब कामों में कितनी-कितनी लागत आएगी, या घर में लड़के या लड़की का ब्याह निश्चित होने पर यदि हम यह जानना चाहें कि हमें कितने रुपयों के कपड़े और गहने बनवाने पड़ेंगे और मित्रों तथा बिरादरीवालों के भोज में कितना व्यय करना पड़ेगा तो इसके लिए भी हमें **परिकलन** तो करना पड़ेगा, पर वह बहुत-कुछ अनुमान से ही होगा। इसी आनुमानिक **परिकलन** का पारिभाषिक नाम **आकलन** है। इसके स्थान पर हि० अटकल, अन्दाजा (*फ़ा० अन्दाज़*), कूत तथा तखमीना (*अ० तख्मीनः*) का भी कुछ लोग प्रयोग करते हैं।

'परिकलन' *पु०* (सं०) को हम **अभिकलन** का ही अधिक विकसित रूप कह सकते हैं। **अभिकलन** तो ज्योतिष शास्त्र की वह क्रिया है जिसमें गणना के सिवा प्राचीन आचार्यों के अनुमानों और उनके निरूपित मतों तथा सिद्धांतों की भी सहायता ली जाती है, और इसीलिए उनके निकाले हुए निष्कर्षों अथवा भावी फलों का निर्देश होता है। परन्तु ऐसे निष्कर्षों या फलों के घटित होने में थोड़ा बहुंत अन्तर भी हो सकता है, अथवा कोई त्रुटि भी हो सकती है। परन्तु **परिकलन** की मुख्य विशेषता यह है कि उसमें केवल विशुद्ध गणित का ही सहारा लिया जाता है। अनुमान, कल्पना अथवा रूढ़िगत मतों का कभी आश्रय नहीं लिया जाता।

'परिगणन' *पु०* (सं०) गणन की बिल्कुल सीधी-सादी क्रिया है। जितनी चीजें सामने हों, उन सबको अलग-अलग और एक-एक करके गिनना-गिनाना या लिखना-लिखाना **परिगणन** कहलाता है। पुस्तकालयों में पुस्तकों का **परिगणन** होता है, और देश की जनसंख्या जानने के लिए स्त्रियों, पुरुषों, बच्चों, बूढ़ों आदि का और पशु-संख्या जानने के लिए गौओं, घोड़ों, बैलों आदि का **परिगणन** कराते हैं। जनसंख्या के **परिगणन** में लोगों की अवस्था, जाति, भाषा, व्यवसाय आदि का भी ब्योरा रहता है। इस प्रकार का **परिगणन** करने के लिए जो लोग नियुक्त होते हैं, उन्हें परिगणक (Enumerator) कहते हैं।

'संख्यापन' *पु०* (सं०) मेरी समझ में अंग्रेजी के (Numbering) का सबसे अच्छा समार्थक होगा।*

वस्तुओं पर उनकी क्रमसंख्या अंकित करना **संख्यापन** कहलाता है। अकबर के समय में सेना के घोड़ों का ऐसा **संख्यापन** हुआ था। बड़े-बड़े विद्यालयों की मेज-कुरसियों और अलमारियों का भी **संख्यापन** होता है- उनपर 1, 2 गिनकर क्रमात् अंक लगाए जाते हैं। इस क्रिया से पता चलता है कि कौन-कौन सी चीजें गिनती में अलग-अलग कितनी

---

* कोई पन्द्रह वर्ष पहले 'शब्द-साधना' प्रस्तुत करने के समय (Numbering) के लिए 'संख्यान' शब्द रखा था, पर बाद में विचार करने पर यह शब्द मुझे कई दृष्टियों से ठीक नहीं जंचा। इसीलिए मानक हिन्दी कोश में मैंने इसके स्थान पर **'संख्यापन'** रखा था। पर अब मेरी समझ में यह आ रहा है कि अर्थापन, सत्यापन आदि के अनुकरण पर इसके लिए **'संख्यापन'** ही अधिक उपयुक्त और सार्थक होगा, तिस पर यह 'संख्यान' की तुलना में उच्चारण की दृष्टि से सुगम और हलका भी है।

हैं अथवा कहां हैं ।

अंग्रेजी के counting, calculation, computation और reckoning का गणित के क्षेत्र के सिवा लाक्षणिक रूप में साधारण लौकिक व्यवहारों और नित्य की बोलचाल में भी प्रायः प्रयोग होता है, जैसे– To count a person for nothing. To calculate on an undertaking or enterprise. To compute the amount of any mischief done. To reckon on a promised pleasure, आदि । हिन्दी में भी **आकलन**, **अभिकलन**, **परिकलन**, **अनुगणन** आदि का ऐसा ही प्रयोग हो सकता है । हम यह तो कहते ही हैं- वह किसी को कुछ नहीं गिनता (अर्थात् किसी का महत्त्व नहीं मानता), पर हम यह भी कह सकते हैं- इस दुर्घटना से होनेवाली हानि का **अभिकलन** नहीं हो सकता; जीवन की नश्वरता पर विश्वास रखनेवाले कभी यह **परिकलन** नहीं करते कि कल या महीने भर बाद क्या होगा; ना-समझ लोग ऐसे लाभों का भी अनुगणन करने लगते हैं, जिनका घटित होना बहुत-कुछ अनिश्चित होता है, आदि । और इस प्रकार हम हिन्दी को भी अंग्रेजी की भावव्यंजन प्रणाली के बहुत-कुछ पास पहुंचा सकते हैं ।

गण-संख्या- *स्त्री०* (सं०) दे० 'अंक, आंकड़े और संख्या' ।

गत्यवरोध- *पु०* (सं० गति+अवरोध) दे० 'रोध, अवरोध, गत्यवरोध, निरोध, प्रतिरोध और विरोध' ।

गरिमा- *स्त्री०* (सं०) दे० 'गुरुता, गुरुत्व, गौरव और गरिमा' ।

गरिष्ठ- *वि०* (सं०) दे० 'गुरुता, गुरुत्व, गौरव और गरिमा' ।

गरूर- *पु०* (अ० गुरुर) दे० 'अभिमान, गर्व, घमंड और शेखी' ।

87. गर्भनिरोध — गर्भपात — गर्भस्राव — भ्रूणहत्या

गर्भनिरोध	**गर्भपात**
Birth-control	Abortion
गर्भस्राव	**भ्रूणहत्या**
Miscarriage	Abortion

इस वर्ग के शब्द ऐसी क्रियाओं के वाचक हैं जिनके द्वारा या तो स्त्रियों को सन्तान उत्पन्न करने के योग्य ही नहीं रहने दिया जाता और या उनके गर्भवती होने पर नियमित रूप से संतान प्रसव करने में असमर्थ कर दिया जाता है ।

'गर्भनिरोध' *पु०* (सं०) का शब्दार्थ है- ऐसी क्रिया करना जिससे स्त्री का गर्भ धारण करना बन्द हो जाए या रुक जाए ।* हमारे यहां प्राचीन काल में भी कुछ स्त्रियां

---

* कुछ लोग इसके स्थान पर संतान-निरोध का प्रयोग करते हैं जो ठीक नहीं है । बच्चों को संतान की संज्ञा तभी मिलती है, जब वे प्रसव के उपरांत माता के गर्भ से निकलकर धरती पर आ जाते हैं । अतः संतानरोध का अर्थ होता है - जो बच्चे जन्म ले चुके हों उनका निरोध या रुकावट, और यह स्थिति प्रस्तुत प्रसंग से बिल्कुल भिन्न है ।

(जैसे विधवाएं, वेश्याएं आदि) कई प्रकार के उपचार और चिकित्साएं करके अपनी शारीरिक स्थिति ऐसी बना लेती थीं, जिनसे वे भविष्य में संतान उत्पन्न करने के योग्य नहीं रह जाती थीं। परन्तु आज-कल की बदली हुई परिस्थितियों में, जबकि संसार की आबादी बहुत ही असाधारण और विकट रूप से बढ़ती जा रही है, अनेक विचारशीलों ने आबादी की इस बाढ़ को यथासाध्य रोकने के अनेक नए उपाय ढूंढ़ निकाले हैं; और उन उपायों के अनुसार अनेक देशों में बहुत से प्रयत्न भी होने लगे हैं। ऐसे प्रयत्नों ने परिवार-नियोजन (Family Planning) नाम का एक नया आंदोलन ही जोरों से चलाया है। इसके लिए खाने की अनेक प्रकार की दवाएं तो बनाई ही हैं, इसके सिवा नसबन्दी (Vasectomy) की क्रिया भी चलाई है जिससे पुरुष की एक विशिष्ट नस शल्यक्रिया से काट दी जाती है, जिससे पुरुष की गर्भधारण कराने की शक्ति ही सदा के लिए नष्ट हो जाती है, परन्तु अब नसबन्दी की एक ऐसी विधि भी निकली है जिससे इच्छानुसार उसका प्रभाव अकृत किया जा सकता है, और पुरुष फिर से संतान उत्पन्न करने के योग्य हो जाता है। इसके सिवा स्त्रियों के लिए एक प्रकार का छल्ला (Loop) भी बना है जो स्त्री के गर्भाशय के अगले भाग में पहना दिया जाता है। यह छल्ला जब तक अपने स्थान पर रहता है तब तक स्त्री गर्भ नहीं धारण कर सकती। गर्भधारण करने की आवश्यकता या इच्छा होने पर यह छल्ला निकलवाया भी जा सकता है। अब तो स्त्रियों की भी नसबंदी करने की विधि निकल आई है।

'गर्भपात' *पु०* (सं०) का अर्थ है - स्वाभाविक रूप से गर्भ (मां के पेट में स्थित बच्चे) का जन्म लेने से पहले ही बिना परिपक्व हुए गर्भाशय में से गिरकर या निकलकर बाहर आ जाना, अर्थात् उसका स्वतंत्र रूप से जीवित रहने के योग्य न रह जाना। यह क्रिया माता के शारीरिक दोष अथवा संयमपूर्वक न रहने के कारण भी होती है और कुछ अवस्थाओं में मुख्यतः विशिष्ट उद्देश्य से जान-बूझकर विरुद्ध उपचारों अथवा औषधियों से कराई जाती है। परन्तु विधिक क्षेत्रों में **गर्भपात** वही कहलाता है जो जान-बूझकर और किसी विशिष्ट उद्देश्य से कराया जाता है।

'गर्भस्राव' *पु०* (सं०) कुछ लोग **गर्भस्राव** से इसका अंतर न जानने के कारण उसके स्थान पर **'गर्भपात'** का प्रयोग करते हैं। इसका शब्दार्थ है- गर्भ का बह जाना। यह क्रिया प्रायः प्राकृतिक रूप से ही होती है, पर कभी-कभी **गर्भपात** की तरह जान-बूझकर भी की या कराई जाती है। चिकित्सा-शास्त्र के क्षेत्र में गर्भ-स्राव वह

---

*इसके सिवा अनेक देशों में घोड़ों, बैलों, नर-भैंसों आदि के अंडकोश काटकर ऐसा बना देते हैं कि वे न तो संतान ही उत्पन्न कर सकें और न अपने वर्ग के मादा पशुओं को देखकर विचलित हों और न गाड़ियों, सवारियों, हलों आदि से अपना बन्धन छुड़ाकर उछलने-कूदने लगें। मध्य युग में विशेषतः मुसलमान शासकों के समय में कुछ पुरुषों की भी ऐसी क्रिया की जाती थी, और तब उन्हें अन्तःपुर में पहरे, सेवा आदि के कामों पर नियुक्त किया जाता था। इस क्रिया को अंडोच्छेद (न) या बधिया करना (Castration) कहते हैं। हमारे यहां इसके लिए पुराना शब्द **'निर्बीजन'** है जिसका प्रयोग मूलतः वनस्पतियों के लिए और विस्तृत रूप में जीव-जन्तुओं या प्राणियों के संबंध में भी होता है।

कहलाता है जो उस आरम्भिक अवस्था में होता है जबकि गर्भ कलल के रूप में रहता है, पिंड का रूप धारण नहीं करता। कलल में विशेष घनता नहीं होती और कभी-कभी वह गलकर पानी की तरह बह जाता है। इसीलिए इसे **गर्भस्राव** कहते हैं। **गर्भपात** और **गर्भस्राव** में एक और अंतर यह भी है कि गर्भधारण करने के 25 व 16 सप्ताह के अंदर गर्भ का गिर जाना **गर्भस्राव** कहलाता है। इसके उपरांत जब वह घनपिंड का रूप धारण कर लेता है और उसमें प्राणों का संचार हो जाता है तब उसका गिरना **गर्भपात** कहलाता है।

'भ्रूणहत्या' *स्त्री०* (सं०) हमारे यहां का बहुत पुराना शब्द है; और इसमें **गर्भपात** तथा **गर्भस्राव** दोनों का अंतर्भाव होता है। इसीलिए हमारे प्राचीन शास्त्रकारों ने इसकी गिनती महापातकों में की है। यह भी विधिक दृष्टि से है तो वस्तुतः दंडनीय ही, फिर भी आज-कल की बदली हुई परिस्थितियों तथा कुछ विशिष्ट विधिक क्षेत्रों में यह क्षम्य मान लिया गया है, जैसे– यदि स्त्री का स्वास्थ्य बहुत ही गिर गया हो और प्रसव के समय उसके प्राणों पर संकट होने की संभावना हो तो **गर्भपात** कराया भी जा सकता है। भारत में भी आज-कल कुछ लोग प्रयत्न कर रहे हैं कि उक्त प्रकार की विशिष्ट परिस्थितियों में **गर्भपात** करना-कराना क्षम्य मान लिया जाए। परन्तु **भ्रूणहत्या** में उत्तर पद 'हत्या' है, अतः इसका प्रयोग दुष्ट उद्देश्यों से और जान-बूझकर किए या कराए हुए **गर्भपात** का ही सूचक है, प्राकृतिक रूप से होनेवाले **गर्भपात** या **गर्भस्राव** का इसमें अंतर्भाव नहीं हो सकता।

गर्भपात- *पु०* (सं०) दे० 'गर्भ-निरोध, गर्भपात, गर्भस्राव और भ्रूणहत्या'।

गर्भस्राव- *पु०* (सं०) दे० 'गर्भ-निरोध, गर्भपात, गर्भस्राव और भ्रूणहत्या'।

गर्व- *पु०* (सं०) दे० 'अभिमान, गर्व, घमंड, मद और शेखी'।

88. गलना घुलना पिघलना

Melt Dissolve Melt

इस वर्ग के शब्द किसी ठोस पदार्थ के कारणवश तरल रूप धारण करने के वाचक हैं। **'गलना'** संस्कृत गलन का हिन्दी रूप है। इसका मुख्य अर्थ है- किसी ठोस पदार्थ का किसी प्रकार के ताप के प्रभाव के कारण तरल रूप धारण करना, जैसे- चांदी या सोना **गलना**। रसोई बनाने के समय आग पर चढ़ाया हुआ चावल या दाल भी गलती तो है, परन्तु वह तरल रूप धारण नहीं करती, बल्कि अपनी कठोरता या ठोसपन छोड़कर बहुत मुलायम अवश्य हो जाती है। कुछ अवस्थाओं में ताप के अभाव में केवल वातावरण के हल्के तापक्रम के फलस्वरूप भी कुछ चीजें (जैसे- नमक, बरफ, मक्खन आदि) गलती हैं। कुछ अवस्थाओं में कई-कई प्रकार की चीजें अधिक समय तक पड़ी या रखी रहने के कारण बहुत-कुछ जीर्ण-शीर्ण हो जाती हैं, उन्हें भी उन चीजों का **गलना** ही कहते हैं, जैसे– कागज-पत्र बहुत दिनों तक पड़े रहने के कारण बिल्कुल गल गए हैं। कुष्ठ आदि रोगों के कारण शरीर के कुछ अंग जब परम विषाक्त होकर धीरे-धीरे नष्ट

होने लगते हैं, तब भी कहा जाता है – उनके पैरों (या हाथों) की कई उंगलियां गल गई हैं। कुछ अवस्थाओं में इस क्रिया का प्रयोग केवल लाक्षणिक रूप में बहुत बढ़ी हुई क्षीणता, निश्चेष्टता आदि सूचित करने के लिए भी होता है; जैसे (क) चिन्ता करते-करते (या दुख भोगते-भोगते) उनका सारा शरीर गल गया है, और (ख) आज तो इतनी अधिक सर्दी है कि हाथ-पैर गल रहे हैं।

'घुलना' का सम्बन्ध सं० घूर्णन से जान पड़ता है जिसका प्राकृत रूप घुलन होता है। इसका प्रयोग ऐसी ठोस चीजों के सम्बन्ध में होता है जो किसी तरल पदार्थ में पड़कर अपना ठोसपन खो देती और उसी तरल पदार्थ में मिलकर एक हो जाती हैं, जैसे दूध या पानी में गुड़ या चीनी **घुलना**। इसमें ठोस पदार्थ के संयोजक कण बिल्कुल अलग-अलग होकर तरल पदार्थ में इस प्रकार अच्छी तरह मिल जाते हैं कि उन्हें सहज में देखा या निकाला नहीं जा सकता। इसके सिवा दो प्रसंगों में इसका लाक्षणिक अर्थों में भी प्रयोग होता है। एक तो सामाजिक प्रसंग में जहां इसके साथ 'मिलना' का संयुक्त क्रिया के रूप में योग होता है, और घुलना-मिलना, घुल-मिलकर आदि रूप बनते हैं। जब कोई दल या व्यक्ति किसी दूसरे दल या व्यक्ति के साथ बहुत अधिक आत्मीयता या मित्रता स्थापित करके प्रायः सभी बातों में दोनों मिलकर बहुत-कुछ साथ रहते लगते हैं तब कहा जाता है- वे लोग आपस में खूब घुल-मिल गए हैं। दूसरे कष्ट, चिंता, रोग आदि के प्रसंग में **'घुलना'** का प्रयोग बहुत-कुछ उसी प्रकार होता है जिस प्रकार उक्त प्रसंग में **'गलना'** का होता है; जैसे – वे दरिद्रता और बाल-बच्चों की चिंता में ही घुल-घुलकर मरे जाते हैं।

'पिघलना' सं० प्रगलन से बना है और इसीलिए इसका प्राथमिक अर्थ भी बहुत कुछ वही है जो **गलना** का है। चांदी, सोना आदि धातुएं और बरफ, मक्खन आदि पदार्थ ताप के संयोग से गलते हैं, और पिघलते भी हैं। परन्तु नमक आदि के सम्बन्ध में **गलना** का ही प्रयोग होता है, **पिघलना** का नहीं। कारण शायद यही है कि ताप के अभाव में भी और केवल जलीय वातावरण के प्रभाव से भी वह वस्तुतः पसीजता ही है। हां, लाक्षणिक क्षेत्र में इसका स्वतंत्र प्रयोग अवश्य होता है। जब हम किसी बहुत कठोर हृदयवाले व्यक्ति को भी किसी कारणवश उदारता, कोमलता, सौजन्य आदि का व्यवहार करते हुए देखते हैं, तब कहते हैं- उस गरीब के रोने-धोने से उनका हृदय भी पिघल गया। ऐसे अवसरों पर **पिघलना** का अर्थ होता है – हृदय का द्रवित होना या दया आदि से युक्त होना।

××

89. गुरुता — गुरुत्व

Heaviness, Weight — Gravity

गौरव — **गरिमा**

Eminence

ये चारों शब्द संस्कृत 'गुरु' के भाववाचक संज्ञा रूप हैं; जो संस्कृत व्याकरण के भिन्न-भिन्न नियमों के अनुसार बने हैं,* परन्तु इनके प्रचलित अर्थों और मुख्य विवक्षाओं में कुछ विशिष्ट अन्तर हैं, जिन्हें ध्यान में रखना आवश्यक है।

संस्कृत में 'गुरु' के अनेक अर्थ हैं जिनमें से कुछ विशेषण हैं, कुछ संज्ञावाचक विशेषण रूप में इसके अर्थ होते हैं- भारी या वजनी, दीर्घ या बड़ा, लम्बा-चौड़ा या विस्तृत; कठिन या कठोर; कठिनता से या देर में पचनेवाला; पूज्य, प्रतिष्ठत या मान्य आदि-आदि। संज्ञा रूप में आध्यात्मिक विषयों का ज्ञान करानेवाले, मंत्रों आदि की दीक्षा देनेवाले, लौकिक विधाओं या विषयों की शिक्षा-दीक्षा देनेवाले, कला-कौशल सिखानेवाले तथा इसी प्रकार के और काम करनेवाले लोग भी गुरु कहे गए हैं। **गुरुता** इन सभी अर्थों के विचार से गुरु का भाववाचक शब्द है। इसके अर्थ होते हैं -भारीपन, बड़प्पन आदि और गुरु का कार्य, पद या स्थिति। इस दृष्टि से यह विशुद्ध साधारण भाववाचक संज्ञा है। अर्थ की दृष्टि से इसमें कोई विशिष्ट छटा या रंगत नहीं है।

'गुरुत्व' भी प्रायः बहुत-कुछ वही है जो **'गुरुता'** है; परन्तु आज-कल आधुनिक भौतिक विज्ञान के एक प्रसिद्ध सिद्धांत के आधार पर **गुरुत्व** के 'भारीपन' वाले अर्थ में एक विशिष्ट आशय या विवक्षा सम्मिलित हो गई है। भौतिक शास्त्र का सिद्धांत यह है कि **गुरुत्व** में आकर्षण की शक्ति होती है जिसे गुरुत्वाकर्षण कहते हैं; और जो सारे विश्व में व्याप्त है। सभी प्रकार के पिण्डों, यहां तक कि कणों आदि में भी एक दूसरे को अपनी ओर आकृष्ट करने की प्राकृतिक शक्ति होती है। इसके अनुसार अधिक गुरुत्ववाला पिण्ड या कण अपने से कम **गुरुत्व** वाले पिण्ड को अपनी ओर आकृष्ट करता है। समस्त अन्तरिक्ष में जो लाखों-करोड़ों बड़े-बड़े पिण्ड बिना किसी आधार के अपने स्थान पर खड़े रहते अथवा अपनी कक्षा में नियमित रूप से चक्कर लगाते रहते हैं, उसका मूल कारण यह गुरुत्वाकर्षणवाला सिद्धांत ही है। यह भी माना गया है कि हमारी इस पृथ्वी की उक्त प्रकार की आकर्षण-शक्ति का केन्द्र भूगर्भ में स्थित पृथ्वी की नाभि में है**।

---

* इसी गुरु से बना हुआ एक और विकारी विशेषण रूप 'गरिष्ठ' होता है, जिसका अर्थ है - बहुत अधिक या सबसे अधिक भारी। इसका व्यवहार मुख्यतः ऐसे खाद्य पदार्थों के सम्बन्ध में होता है, जो बहुत ही कठिनता से और देर में पचते हैं।

** परन्तु यह सिद्धांत भी अब पुराना पड़ गया है। इधर अनेक बड़े-बड़े वैज्ञानिकों ने कुछ नई खोजों के आधार पर कई नये मत या सिद्धांत निरूपित किए हैं; और यह विषय कुछ विवादास्पद हो चला है।

इसी आकर्षण-शक्ति के फलस्वरूप ऊपर से गिरनेवाली सभी चीजें पृथ्वी पर आती हैं। **'गुरुत्व'** इसी प्रकार के भारीपन का सूचक है जिसमें हल्की चीजों को अपनी ओर आकृष्ट करने का गुण या शक्ति होती है।

'गौरव' अर्थ के विचार से उक्त दोनों शब्दों से बहुत-कुछ भिन्न है। **गौरव** का एक अर्थ 'भारीपन' अवश्य है, परन्तु इसमें कुछ और विवक्षाएं आ लगी हैं। अर्थ का **गौरव**, मत का **गौरव**, विचार का **गौरव**, आदि पदों में **गौरव** ऐसी उच्चता, गम्भीरता, श्रेष्ठता आदि का सूचक है जो दूसरे अर्थों, मतों, विचारों आदि को अपने सामने दबा देता हो या दबा सकता हो। इसी से आगे बढ़कर यह शब्द प्रतिष्ठा, महत्त्व, सम्मान आदि का भी सूचक हो गया है। जब हम कहते हैं - 'भारत अपने बहुतेरे गुणों, विद्याओं, विशेषताओं आदि के विचार से सदा **गौरव** के शिखर पर आसीन रहा है, तब हमारा आशय यही होता है कि वह सदा से प्रतिष्ठित और सम्मानित रहता आया है। इसी प्रकार जब हम कहते हैं- 'उन्हें अपनी अनुपम देश-सेवा के कारण ही इतना **गौरव** प्राप्त हुआ था' अथवा 'मैं हिन्दी की सेवा में ही अपना **गौरव** समझता हूं', तब ऐसे अवसरों पर भी **गौरव** ऐसी प्रतिष्ठा या सम्मान का वाचक होता है, जिसके सामने और सब प्रकार की प्रतिष्ठाएं या सम्मान कम महत्त्व के ठहरते और इसीलिए दब जाते हैं।

'गरिमा' के आरम्भिक अर्थ भी बहुत-कुछ वही हैं जो ऊपर **'गौरव'** के बतलाए गए हैं। यह भी भारीपन के सिवा महत्त्व, सम्मान आदि का सूचक शब्द है परन्तु इसमें एक विशिष्ट प्रकार का अर्थ इसलिए लग गया है कि इसे हमारे यहां आठ प्रकार की सिद्धियों में से एक प्रकार की सिद्धि मान लिया गया है। यह सिद्धि प्राप्त हो जाने पर साधक जब चाहे तब अपने शरीर का भार जितना चाहे उतना बढ़ा सकता है। अर्थात् जिसे यह सिद्धि प्राप्त हो वह अपने स्थान से न उठना चाहे तब कोई शक्ति उसे किसी प्रकार वहां से उठा नहीं सकती; क्योंकि वह अपना भार या वजन बराबर बढ़ाता चलता है अथवा बढ़ा सकता है। उक्त शब्दों के विपर्यायों के लिए दे० 'लघुता, लघुत्तम, लाघव और लघिमा'।

गुरुत्व- *पु०* (सं०) दे० 'गुरुता, गुरुत्व, गौरव और गरिमा'।
गोलक- *पु०* (सं०) 'निधि, न्यास और गोलक'।
गौरव- *पु०* (सं०) दे० 'गुरुता, गुरुत्व, गौरव और गरिमा'।

90. ग्रन्थ किताब पुस्तक

'ग्रन्थ' का पहला अर्थ है - किसी चीज में गांठ लगाना; और दूसरा विकसित अर्थ है - ठीक क्रम से लगाना अथवा व्यवस्थित रूप देना। इसके अनेक अर्थों में पहला और मुख्य अर्थ है - **किताब** या **पुस्तक**। इस अर्थ में इसका प्रचलन इसलिए होने लगा था कि प्राचीन भारत में कागज के अभाव और भोज-पत्र की दुर्लभता के कारण पुस्तकें प्रायः ताड़ के पत्तों पर लोहे की नुकीली कलम से लिखी जाती थीं। ऐसे पत्तों को क्रम से लगाकर सुरक्षित रखने के लिए उनके एक सिरे पर छेद करके उन सबको डोरी आदि से

बांधकर रखते थे। परन्तु आज-कल **'किताब'** या **'पुस्तक'** की तुलना में **ग्रन्थ** ऐसी साहित्यिक कृति या रचना को कहते हैं जिसमें आध्यात्मिक, दार्शनिक, धार्मिक या वैज्ञानिक विषयों का उत्कृष्ट और विचारपूर्ण विवेचन हुआ हो। **किताब** या **पुस्तक** का प्रयोग सभी प्रकार की अच्छी-बुरी, छोटी-बड़ी तथा सभी विषयों की साहित्यिक कृतियों अथवा रचनाओं के लिए होता है। **ग्रन्थ** में आदर और महत्त्व का जो विशिष्ट भाव है वह साधारणतः **किताब** या **पुस्तक** में नहीं है। ××

91. घटक परिघटक संघटक

Component Constituent

इस वर्ग के शब्द ऐसे तत्त्वों, पदार्थों, भावनाओं, सिद्धांतों आदि के वाचक हैं जिनके योग अथवा सम्मिलन से कोई दूसरा मिश्र पदार्थ या भाव अपने पूर्ण रूप में प्रस्तुत होता है।

'घटक' *पु०* (सं०) किसी चीज या बात के ऐसे अंग, अंश या तत्त्व को कहते हैं जो कुछ और अंगों, अंशों आदि के साथ मिलकर किसी चीज या बात को पूर्ण रूप प्रदान करता है।* कोई काम, चीज या बात तभी पूरी होती है जब उसे घटित करनेवाले सभी अंग या तत्त्व वर्तमान हों और ठीक तरह से अपने काम करते आए हों या कर रहे हों, जैसे- प्रत्यक्ष युद्ध छेड़ने में वह शीत युद्ध मुख्य रूप से **घटक** था जो बहुत दिनों से दोनों पक्षों में होता चला आ रहा था।

हमारे शरीर के सभी अंगों या अवयवों के फलस्वरूप हमारी नसें, मांस-पेशियां, हड्डियां आदि हमारे शरीर की **घटक** तो हैं ही; हमारे शरीर का प्रत्येक कण और हमारे लहू की हर बूंद हमारे शरीर की **घटक** है; क्योंकि इन सभी के योग से हमारा शरीर घटित हुआ या बना है। धातु का प्रत्येक कण उसका **घटक** होता है और प्रत्येक व्यक्ति अपने दल या समाज का **घटक** कहा जाता है। यंत्र के **घटक** उसके कल-पुर्जे और शासन के **घटक** उसके कार्य-कर्ताओं के अतिरिक्त सब कार्यालय या विभाग भी होते हैं। यह भी है तो अंग की तरह व्यापक अर्थोंवाला शब्द; परन्तु अन्तर यही है कि अंग केवल अंश या भाग का भाव सूचित करता है, और **घटक** यह सूचित करता है कि वह बनाने और रूप देनेवाला तत्व है।

'परिघटक' *पु०* (सं०) मेरी समझ में अं० के Component का भाव सूचित करने के लिए बहुत उपयुक्त सिद्ध होगा। इसका प्रयोग मुख्यतः ऐसी चीजों के संबंध में होता है

---

* वि० रूप में यह सं० के घटन से बना है, जिसका अर्थ होता है - घटित होना अर्थात् तैयार या प्रस्तुत होना, बनना आदि। हिन्दी में इससे 'घटना' क्रिया भी बनती है। गोस्वामी तुलसीदास जी ने रामायण में रामचंद्र के वनवास के उपरांत भरत की दशा का वर्णन करते हुए लिखा है। –देह दिनादिन दूबर होई। घटत तेज, बल, मुख छवि सोई। यहां घटत का अर्थ कम होना नहीं, बल्कि घटित होना अर्थात् बढ़ना या बनना ही है।

जो कई प्रकार के तत्त्वों योग से बने होते हैं; जैसे- (क) पीतल शुद्ध धातु नहीं बल्कि मिश्रधातु है और इसमें दूसरी कई धातुएं **परिघटक** के रूप में सम्मिलित हैं। (ख) जल के **परिघटक** आक्सीजन (Oxygen) और उद्जन (Hydrogen) हैं। (ग) रासायनिक विश्लेषण से सहज में यह पता चल जाता है कि अमुक पदार्थ के कौन-कौन से तत्त्व **परिघटक** हैं।

'संघटक' *पु०*(सं०) का मुख्य अर्थ है संघटन करने अर्थात् भिन्न-भिन्न अंगों या तत्त्वों को एक साथ जोड़ या मिलाकर ऐसा रूप देना कि वह कोई नया अथवा विशिष्ट कार्य कर सके। यों **परिघटक** और **संघटक** में कोई बहुत बड़ा अंतर नहीं है। फिर भी कहा जा सकता है कि **परिघटक** किसी स्वतंत्र इकाई या सत्ता का सूचक होता है; और **संघटक** किसी प्रकार के रचनात्मक और विशिष्ट परिणाम या रूप का परिचायक होता है। **परिघटक** मुख्यतः मिश्रण की क्रिया का सूचक होता है; और **संघटक** मिश्रित रूप या स्थिति का। अं० के Constituent के समार्थक के रूप में मैंने **'संघटक'** इसीलिए चुना कि Constitution का आरंभिक और मौलिक समार्थक संघटन ही है। संविधान तो दूसरे परवर्ती अर्थ का वाचक है।

92. घात ताक

ये शब्द ऐसी स्थितियों के वाचक हैं जिनमें रहकर किसी उपयुक्त अवसर अथवा कार्य-साधन के समय की प्रतीक्षा की जाती है।

'घात' *स्त्री०* (हि०) ठेठ शब्द की भांति प्रयुक्त होने पर भी है मूलतः संस्कृत का **घात** ही; परन्तु प्रस्तुत 'प्रसंग में इसका प्रयोग पु० रूप में नहीं, बल्कि स्त्री० में होता है। **घात** वस्तुतः वह स्थिति है जिसमें अपना कोई दुष्ट उद्देश्य सिद्ध करने के अवसर की प्रतीक्षा की जाती है। ऐसे दुष्ट उद्देश्य में किसी पर आघात या प्रहार करने अथवा किसी को बहुत-कुछ क्षति या हानि पहुंचाने का भाव प्रधान होता है। चोर और डाकू चोरी करने या डाका डालने की **घात** में लगे रहते हैं; बाघ, भालू और शेर भैंसों, हिरनों आदि को धर दबोचने की **घात** में रहते हैं; और, लोग अपने विरोधी या शत्रु को अपमानित करने, नीचा दिखाने अथवा और अनेक प्रकार से उसे हानि पहुंचाने की **घात** में रहते हैं। इसमें दूसरों को हानि पहुंचाने का भाव तो प्रधान है ही, गौण रूप से आड़ में या छिपकर रहने का भाव भी सम्मिलित है।

'ताक' *स्त्री०* (हि० ताकना = ध्यानपूर्वक देखना) है तो वस्तुतः ताकने की क्रिया, ढंग या भाव ही; परन्तु प्रस्तुत प्रसंग में यह कार्य-साधन के लिए उपयुक्त अवसर की प्रतीक्षा में रहने का वाचक है। **'घात'** में तो मुख्य आशय चोट करना या हानि पहुंचाना होता है, परन्तु **ताक** में तात्त्विक दृष्टि से इस प्रकार के उद्देश्य का प्रायः अभाव ही होता है। इसमें मुख्य भाव अपना उद्देश्य या कार्य सिद्ध करना होता है - फिर वह काम नैतिक, सामाजिक आदि दृष्टियों से चाहे अच्छा हो या बुरा। अपना काम निकालने के लिए उपयुक्त अवसर या सुयोग की प्रतीक्षा में रहना ही **'ताक में रहना'** है। खुशामदी, दरबारी

अमीरों और रईसों को खुश करके इनाम पाने या वाह-वाही लूटने की **ताक** में रहते हैं; अधीनस्थ कर्मचारी अपने पद, वेतन आदि की वृद्धि के लिए उच्च अधिकारियों को प्रसन्न और सन्तुष्ट करने की **ताक** में रहते हैं और छोटे बालक माता-पिता अथवा शिक्षक के नियंत्रण से किसी न किसी बहाने निकल भागने की **ताक** में रहते हैं। यों साधारणतः लोक-व्यवहार में **घात** और **ताक** में कोई विशेष अन्तर नहीं समझा जाता, फिर भी अच्छी तरह विचार करने पर दोनों का वह सूक्ष्म अन्तर स्पष्ट हो जाता है जिसका उल्लेख ऊपर किया गया है।

घुलना- *अ०* (प्रा० घुलन) दे० 'गलना, घुलना और पिघलना'।

घूरना- *स०* (हि०) दे० 'देखना, घूरना, झांकना, ताकना, निरखना और निहारना'।

93. घेरा — घेराव
Enclosure — Siege

ये दोनों शब्द हैं तो हिन्दी 'घेरना' क्रिया के भाववाचक संज्ञा रूप ही; परन्तु इनमें का घेराव शब्द अभी हाल में एक विशिष्ट प्रकार का आशय व्यक्त करने लगा है।

'घेरा' किसी चीज, जगह या व्यक्ति को चारों ओर से घेरने की अवस्था, क्रिया और भाव का सूचक बहुत पुराना शब्द है। चारों ओर से घेरी हुई जगह भी **घेरा** कहलाती है और वह जगह जिस चीज या जिन चीजों से घेरी जाती है, उसे भी **'घेरा'** कहते हैं, जैसे– दीवार, बांसों या लट्ठों का **घेरा**। कुछ अवस्थाओं में जब लोग मण्डलाकार रूप में गाते-नाचते हैं; तब उसे भी **घेरा** ही कहते हैं, जैसे- गोपियों और गोपों के घेरे में कृष्ण बांसुरी बजाते थे। ऐसे अवसरों पर इसके साथ 'बांधना' क्रिया का प्रयोग होता है। युद्ध आदि के समय प्रायः ऐसा होता है कि शत्रु के किले, नगर या शिविर को आक्रमणकारी सैनिक इस प्रकार चारों ओर से घेर लेते हैं कि न तो अन्दर से कोई निकलकर भागने पाए और न बाहर से उस तक किसी प्रकार की सहायता ही पहुंच सके। ऐसे प्रसंगों में इसके साथ 'डालना' क्रिया का प्रयोग होता है, जैसे- मुगलों की सेना कई दिनों तक राजपूतों के गढ़ के चारों ओर **घेरा** डाले पड़ी रही।

'घेराव' आज-कल के औद्योगिक और श्रमिक क्षेत्रों में प्रचलित बहुत-कुछ नया शब्द है। आज-कल कुछ उग्र समाजवादी श्रमिक अपनी मांगें पूरी कराने अथवा कर्मचारी, विद्यार्थी आदि कुछ नए सुभीते प्राप्त करने के लिए किसी कल-कारखाने, कार्यालय, विद्यालय आदि के वरिष्ठ अधिकारियों को चारों ओर से घेर लेते हैं, और न किसी को अन्दर से बाहर निकलने देते हैं और न किसी को बाहर से अन्दर जाने देते हैं। इस प्रकार वे लोग बलपूर्वक अधिकारियों को सब प्रकार से विवश करके उनसे अपनी बातें मनवाना चाहते हैं और प्रायः मनवा भी लेते हैं। यह नई स्थिति ही **'घेराव'** कहलाती है।

××

घोड़ा-नस- *स्त्री०* (हि०) दे० 'धमनी, नाड़ी, शिरा और स्नायु'।

घोष- *पु०* (सं०) दे० 'नाद, घोष और ध्वनि'।

94. घोषणा / प्रख्यापन / परिज्ञापन / प्रवर्तन

घोषणा	**प्रख्यापन**	**परिज्ञापन**
Proclamation	Anouncement	Declaration
	प्रवर्तन	
	Promulgation	

इस वर्ग के शब्द ऐसी बातों के वाचक हैं जो जन-साधारण के सामने खुलेआम और स्पष्ट रूप से अपना कोई निर्णय, निश्चय या मत व्यक्त करने के लिए कही जाती हैं।

'घोषणा' *स्त्री०* (सं०) घोष का विकारी रूप है, इसका प्रारम्भिक अर्थ है - कोई बात सब लोगों को सुनाने के लिए चिल्लाकर या जोर-जोर से कहना। आगे चलकर इसका प्रयोग राजा या राज्य की ऐसी आज्ञाओं के सम्बन्ध में होने लगा था जो ढिंढोरा या ढोल पीटकर जन-साधारण को नगरों की चौमुहानियों और राजमार्गों पर इसलिए सुनाई जाती थीं कि वे इनसे परिचित होकर उचित रूप में इनका पालन करें - कोई इनके विरुद्ध आचरण न करे। इसी आधार पर इसका प्रयोग इधर बहुत दिनों से शासन अथवा शासकों के द्वारा आधिकारिक रूप से जनता को सूचित की जानेवाली बातों के सम्बन्ध में होता है। यह शब्द इस अर्थ में बहुत अधिक प्रचलित भी है और प्रसिद्ध भी; और मेरी समझ में इसे इसी रूप में चलने देना ठीक होगा। भारत सरकार की विधि शब्दावली में, इसके स्थान पर 'उद्घोषणा' शब्द रखा गया है जो कुछ उपयुक्त नहीं जान पड़ता। **घोषणा** को उक्त शब्दावली में Declaration का समार्थक माना गया है। परन्तु मेरी समझ में अर्थ के विचार से परिज्ञापन अधिक उपयुक्त होगा। इसी प्रकार मैं Anouncement के लिए **प्रख्यापन** और Promulgation के लिए **प्रवर्तन** का प्रयोग अधिक उचित समझता हूं। नीचे इन शब्दों का जो विवेचन किया गया है, उनसे मेरे सुझाए हुए नए शब्दों की सार्थकता अधिक स्पष्ट हो जाएगी।

'प्रख्यापन' *पु०* (सं०) का मुख्य अर्थ है - लोगों को जतलाने के लिए कोई बात औपचारिक, निश्चित और स्पष्ट रूप से कहना। इस दृष्टि से यह भी बहुत-कुछ वही है, जो 'घोषणा' है; पर हां इसमें जोर से या चिल्लाकर कहनेवाला भाव नहीं है। अतः महत्त्व के विचार से इसे **घोषणा** के बाद दूसरा स्थान दिया जा सकता है। इसमें मुख्य भाव सम्बद्ध लोगों को जतलाने या बतलाने भर का है। आज-कल राज्य या शासन जो नए नियम, विधान आदि बनाता है, उसका **प्रख्यापन** इसी विचार से किया जाता है कि सम्बद्ध लोग ठीक तरह से उनका पालन करें, उसके विरुद्ध आचरण या व्यवहार न करें, जैसे- (क) राष्ट्रपति के कार्य-क्रम (या विदेश-यात्रा) का **प्रख्यापन**। (ख) संसद के अधिवेशन को स्थगित करने का **प्रख्यापन**।

'परिज्ञापन' *पु०* (सं०) का मुख्य अर्थ है--कोई बात या स्थिति पूरी और स्पष्ट रीति

से बतलाना। इसमें मुख्य भाव सम्बद्ध व्यक्ति या व्यक्तियों को जतलाने या बतलाने भर का है। इसे हम वक्तव्य का ऐसा रूप कह सकते हैं जो मूलतः निश्चयात्मक भी होता है और जिसकी प्रामाणिकता का उत्तरदायित्व भी अपने ऊपर लिया जाता है। जब शासन अपने किसी निर्णय, नीति, मत या सिद्धांत का **परिज्ञापन** करता है, तब आशय यही होता है कि इस सम्बन्ध में किसी को कोई भ्रम या सन्देह न रह जाए। आयकर से बचने के लिए बहुत से लोग अपनी वास्तविक आय बही-खातों में नहीं दिखलाते और चोर-बाजारी करनेवाले व्यापारी अपने अनाज, सोने, चांदी आदि की पूरी सूची अधिकारियों को नहीं देते। कुछ अवस्थाओं में शासन को जब इस तरह की दबी-दबाई चीजों या धन का किसी तरह पता नहीं चलता तब वह कहता है कि यदि लोग अमुक अवधि के अन्दर सब चीजों का ठीक-ठीक **परिज्ञापन** कर देंगे तो उनसे उचित कर या शुल्क ही लिया जाएगा और किसी प्रकार का दण्ड नहीं दिया जाएगा। प्रायः अधिकारियों और न्यायालय के समक्ष भी लोगों को कुछ अवस्थाओं में **परिज्ञापन** उपस्थित करने पड़ते हैं। उस दशा में यही माना और समझा जाता है कि कोई बात इस **परिज्ञापन** से अन्यथा या भिन्न नहीं है; और यदि होगी तो **परिज्ञापन** करनेवाला उचित दंड का भागी होगा।

'प्रवर्तन' *पु०* (सं०) का मूल अर्थ है - कोई नया काम या बात निकालकर उसका आरम्भ और प्रचलन करना; अर्थात् उसके सम्बन्ध में ऐसी क्रिया करना कि वह प्रयोग या व्यवहार में आने लग जाए। महात्मा गौतम बुद्ध ने धर्मचक्र का जो **प्रवर्तन** किया था उसका आशय यही है कि उन्होंने एक नए धर्म की स्थापना करके लोगों को उसके अनुसार आचरण करने के लिए प्रवृत्त और प्रोत्साहित किया था। इसमें मूल भाव यही है कि लोग ऐसी नई बातों से अपने आपको बंधा हुआ समझें और उनके अनुगामी या अनुयायी बनें। इससे और आगे बढ़ने पर प्राचीन और मध्ययुगों में ही इसमें एक और विवक्षा लग गई थी। जब जनता के लिए कोई नया नियम या विधान बनाया जाता था तब उसके साथ यह भी निश्चित कर दिया जाता था कि इसका **प्रवर्तन** अमुक तिथि या समय से होगा। अर्थात् यह अमुक समय से कार्यान्वित और बलवत् होगा। आज-कल भी प्रायः ऐसा ही होता है। प्रायः विधायिका या संसद में जब कोई नया विधान पारित तथा स्वीकृत हो जाता है तब उसके साथ ही यह भी निश्चित होता है कि अमुक तिथि से इसके अनुसार कार्य होने लगेगा। बीच-बीच में कुछ नियम या विधान आवश्यकतानुसार स्थगित भी कर दिए जाते हैं; और फिर आवश्यकता होने पर किसी निश्चित तिथि से फिर नए सिरे से उनका **प्रवर्तन** किया जाता है।

इस कोटि के और शब्दों के विवेचन के लिए दे० 'विज्ञप्ति, अधिसूचना, ज्ञापन, ध्येय-पत्र और श्वेत-पत्र'।

95. चन्दा उगाही बेहरी

Subscription Levy Realisation

इस वर्ग के शब्द ऐसी धन-राशियों और कुछ विशिष्ट वस्तुओं के सम्बन्ध की उस स्थिति के वाचक हैं जिसमें वे थोड़ा-थोड़ा करके बहुत से लोगों से इकट्ठी या प्राप्त की जाती हैं।

'चन्दा' *पु०* (फा० चन्दः) का हिन्दी रूप है। फा० चन्दः का अर्थ है - कतिपय, कुछ या थोड़े से। पहले किसी लोकोपयोगी या सार्वजनिक काम के लिए बहुत से लोगों से मांगकर जो थोड़ा-थोड़ा धन लिया जाता था, वही चन्दा कहलाता था। आज भी यह शब्द मुख्यतः इसी अर्थ में प्रयुक्त होता है। मुहल्ले में यदि किसी गरीब के यहां विवाह आ पड़े, किसी की मृत्यु हो जाय या ऐसा ही अन्य कोई व्यय-साध्य काम आ पड़े तो उसे निपटाने के लिए आस-पास के लोगों से थोड़ा-थोड़ा धन मांगकर काम चलाया जाता है। हर आदमी जो धन देता है, वह चन्दा कहलाता है। इस प्रकार जो धन एकत्र होता है उसे भी चन्दा कहते हैं, जैसे इस काम के लिए 200 रुपये चन्दे में आए हैं। इस अर्थ में इसके साथ उतरना या मांगना क्रियाओं का प्रयोग होता है।

परन्तु आज-कल इसके अर्थ का कुछ नए क्षेत्रों और रूपों में विकास हुआ है। आज-कल सार्वजनिक कार्यों के लिए जो चन्दा होता है उसके प्रायः दो रूप होते हैं-- एक तो एक-कालीन या अनावर्तक; और दूसरा नियतकालीन या आवर्तक। जब लोग एक साथ ही एक बार कुछ धन दे देते हैं, वह एक-कालीन या अनावर्तक कहलाता है। बड़े या बहुत दिनों तक चलनेवाले उपयोगी सार्वजनिक कार्यों के लिए प्रायः लोग कुछ मासिक या वार्षिक चन्दा बांध देते हैं। इसे नियतकालीन या आवर्तक चन्दा कहते हैं। सभा-संस्थाएं प्रायः अपने सदस्यों से इसी प्रकार का चन्दा लेती हैं। इससे और आगे बढ़ने पर चन्दे में उस मूल्य का भी समावेश हो गया है जो सामायिक पत्र-पत्रिकाएं अपने स्थायी ग्राहकों से प्रति वर्ष, प्रति छमाही या प्रतिमास लिया करती हैं।

'बेहरी' हमारे यहां का बहुत पुराना शब्द है जो पूर्वी उत्तर प्रदेश और पश्चिमी बिहार के देहातों में अब तक बोला जाता है। यह सं० 'बिहृत' से व्युत्पन्न है जिसका अर्थ है–किसी से ज़बरदस्ती कुछ ले लेना। ऊपर चन्दा का जो पहला अर्थ बतलाया गया है उसी अर्थ में यह अब तक प्रयुक्त होता है। होली आदि के अवसरों पर अथवा किसी गरीब के यहां मृत्यु, विवाह आदि के समय बहुत से लोगों से मांगकर जो थोड़ा-थोड़ा धन एकत्र किया जाता है उसे भी और धन मांगने की इस प्रकार की क्रिया को भी **बेहरी** कहते हैं। चन्दे में जो नए अर्थ या विवक्षाएं लगी हैं, उनका **बेहरी** में अन्तर्भाव नहीं होता।

'उगाही' हिंदी की उगाहना क्रिया का भाववाचक संज्ञा रूप है। उगाहना संस्कृत उद्ग्रहण, प्रा० उगाहन से व्युत्पन्न है। उगाहना और **उगाही** दोनों हमारे यहां के व्यापारिक क्षेत्रों के बहुत पुराने शब्द हैं। बड़े व्यापारी छोटे व्यापारियों के हाथ जो माल उधार बेचते हैं उसका दाम थोड़ा-थोड़ा करके वसूल करने को उगाहना या **उगाही** कहते

हैं। मध्ययुग में बड़े ज़मींदारों के कर्मचारी छोटे किसानों से कर या मालगुज़ारी उगाहने जाया करते थे। प्रायः चन्दे या **बेहरी** की रकम घर-घर घूमकर वसूल करने को भी 'उगाहना' ही कहते थे। कुछ पुराने कवियों ने इसका प्रयोग कहीं से कुछ मांगकर प्राप्त करने के अर्थ में भी किया है, यथा–कोउ वेद वेदांत मथत रस सांत उगाहत। -रत्नाकर। कुछ स्थानों में भूमिकर को भी **उगाही** कहते थे।

परन्तु आज-कल **'उगाही'** का प्रयोग एक नए और विशिष्ट अर्थ में होने लगा है। कभी-कभी आवश्यकता पड़ने पर राज्य को यह निर्धारित करना पड़ता है कि सब लोगों से अथवा अमुक क्षेत्र के निवासियों से कुछ धन या वस्तुएं विशेष कर के रूप में ली जाएंगी। इस प्रकार का धन या वस्तुएं एकत्र करने की क्रिया को भी अब **उगाही** कहने लगे हैं। इधर (सन् 1967 में) भारत में निरन्तर अवर्षा के कारण अन्न का जो भीषण संकट उपस्थित हुआ था, उसे देखते हुए केन्द्रीय तथा राज्य सरकारों ने भविष्य के लिए अन्न का सुरक्षित भण्डार बनाने के उद्देश्य से यह निश्चय किया था कि अधिक अनाज उत्पन्न करनेवाले किसानों से कुछ निश्चित मात्रा में मूल्य देकर अनाज लिया जाए और किसानों के लिए इस प्रकार सरकार के हाथ अनाज बेचना अनिवार्य कर दिया था। अब इस प्रकार के निश्चय के लिए भी और इसके अनुसार अनाज एकत्र करने की क्रिया को भी **'उगाही'** कहने लगे हैं। इसके पर्याय के रूप में उर्दू का **वसूली** (अ० वुसूल से) शब्द भी प्रयुक्त होता है।

चढ़जोरी– *स्त्री०* (हिं०) दे० 'अग्र-घर्षण और चढ़जोरी'।

चढ़त– *स्त्री०* (हि० चढ़ना) दे० 'चढ़ाई, चढ़ान, चढ़ाव और चढ़ावा (या चढ़त)'।

96. चढ़ाई चढ़त चढ़ान चढ़ाव चढ़ावा

यद्यपि इस वर्ग के सभी शब्द हिन्दी चढ़ना और चढ़ाना के भाव-वाचक संज्ञा रूप हैं; फिर भी इनके आशयों और विवक्षाओं में परस्पर कुछ सूक्ष्म अन्तर है।

'चढ़ाई' शब्द हिन्दी 'चढ़ना' से बना है और यह चढ़ने की अवस्था, क्रिया, ढंग और भाव का सूचक है। मूलतः ऊपर की ओर चढ़ने अर्थात् क्रमशः ऊंचाई पर पहुंचने की अवस्था या क्रिया ही **चढ़ाई** है। परन्तु इससे यह नहीं समझना चाहिए कि इससे किसी प्रकार के उत्कर्ष या उन्नति का भाव सूचित होता है। इसका सम्बन्ध किसी प्रकार के तल या भौतिक विस्तार से ही है। पहाड़ों आदि पर जब लोग ऊपर की ओर चढ़ते हैं तब चढ़ने की वह क्रिया **'चढ़ाई'** कहलाती है। जिस तल या विस्तार पर से होकर लोग ऊपर की ओर चढ़ते या जाते हैं उसे भी **चढ़ाई** कहते हैं। नदियों आदि का बहाव सदा निम्न तल की ओर होता है; इसलिए जिधर से बहाव आ रहा हो, उस ऊंचे तल की ओर नावें आदि ले जाने के सम्बन्ध में भी कहा जाता है कि नाव **चढ़ाई** या **चढ़ान** की ओर जा रही है।

चढ़ना के अनेक अर्थों में एक अर्थ किसी के ऊपर सवार होना और दूसरा अर्थ

किसी को दबाकर उसे अपने वश में करना भी है। इसी आधार पर 'चढ़ दौड़ना' मुहावरा बना है, जिसका अर्थ है– किसी को दबाने, मारने आदि के लिए आगे बढ़ना। इसी आधार पर **चढ़ाई** का एक और अर्थ होता है– शत्रु के देश या सेना पर आक्रमण करने के लिए तेज़ी से आगे बढ़ना। इसमें आगे बढ़कर किसी को दबाने का भाव प्रधान है।

इसके सिवाय चढ़ाना क्रिया से सम्बद्ध इसका एक और अर्थ भी होता है–चढ़ाने की क्रिया, भाव या मज़दूरी, जैसे- (क) वह धातुओं पर मलम्मे की **चढ़ाई** का काम सिखाता है। और (ख) चांदी की सिकड़ी पर सोने की **चढ़ाई** 10 रु० में होगी।

'चढ़ान' मुख्यतः चढ़ने की उसी अवस्था या क्रिया की सूचक है जिसका उल्लेख ऊपर **'चढ़ाई'** के अन्तर्गत पहाड़ों और नदियों के सम्बन्ध में हुआ है। इसके सिवाय **'चढ़ाई'** का और कोई अर्थ या विवक्षा **'चढ़ान'** में नहीं है।

'चढ़ाव' अपने आरम्भिक अर्थों में बिल्कुल वही है जो **'चढ़ान'** है, पर इसमें कई और आशय या विवक्षाएं भी सम्मिलित हैं। इसमें एक ओर तो उत्कर्ष या उन्नतिवाला भाव सम्मिलित है; और दूसरी ओर साधारण स्थिति से उस ऊंचे या बढ़े हुए होने की विवक्षा भी लगी है।

इसी आधार पर एक तो यह नदियों में आनेवाली 'बाढ़' का भी वाचक हो गया है, और दूसरे इससे चढ़ाव-उतार (या उतार-चढ़ाव) पद भी बना है जिसके अनेक अर्थों में कुछ मुख्य अर्थ ये हैं –

(क) ऐसा तल या विस्तार जो बीच-बीच में ऊंचा और नीचा होता गया हो, जैसे- केदारनाथ और बदरीनाथ के यात्रियों को पहाड़ों पर अनेक चढ़ाव-उतार मिलते हैं।

(ख) बीच-बीच या रह-रह कर होती रहनेवाली उन्नति और अवनति अथवा सम्पन्नता और दरिद्रता आदि, जैसे- जातियों और राष्ट्रों के जीवन में प्रायः चढ़ाव-उतार होते रहते हैं।

(ग) चीज़ों की दरों या भावों में होती रहनेवाली तेज़ी और मन्दी, जैसे- बाज़ारों में चीज़ों के दामों में बराबर चढ़ाव-उतार तो होता ही रहता है।

(घ) मुनष्य के जीवन में बराबर आते रहनेवाले सुख-दुःख आदि, जैसे- उन्होंने अपने जीवन में बहुत से चढ़ाव-उतार देखे हैं।

इनके सिवाय संगीत के अन्तर्गत स्वरों के आरोह और अवरोह तथा वर्तुलाकार लम्बी चीज़ों के किसी ओर मोटे और पतले होने का भाव भी सम्मिलित है।

'चढ़ावा' मुख्यतः सकर्मक क्रिया 'चढ़ाना' से सम्बद्ध है। देवी-देवताओं पर शक्ति और श्रद्धापूर्वक जो चीज़ें **चढ़ाई** अर्थात् उन्हें अर्पित की जाती हैं वे सब **चढ़ावा** कहलाती हैं, जैसे- उन्होंने विश्वनाथ जी पर 100 रू० का **चढ़ावा** चढ़ाया था। आशय यही होता है कि या तो उनकी **चढ़ाई** हुई सारी सामग्री का मूल्य 100 रू० था अथवा उन्होंने 100 रू० नगद चढ़ाए थे।

'चढ़त' भी है तो बहुत कुछ वही जो **'चढ़ावा'** है, फिर भी दोनों में पहली बात तो यह है कि **'चढ़त'** सकर्मक क्रिया 'चढ़ाना' से नहीं, बल्कि अकर्मक क्रिया 'चढ़ना' से बनी है। दूसरे यह कि **'चढ़ावा'** मुख्यतः पूर्वी क्षेत्रों में और **'चढ़त'** पश्चिमी क्षेत्रों में प्रचलित है। और तीसरे, यह सामान्यतः पण्डों, पुजारियों आदि के दृष्टिकोण में होती है। वे प्रायः कहते हैं- आज दिन भर में **चढ़त** बहुत कम हुई है। परन्तु पश्चिम में भक्त कहते हैं—हम 10 रू० से अधिक की **चढ़त** नहीं चढ़ा सकते।

चढ़ान- *स्त्री०* (हिं० चढ़ना) दे० 'चढ़ाई, चढ़ान, चढ़ाव और चढ़ावा (या चढ़त)'।

चढ़ाव- *पु०* (हि० चढ़ना) दे० 'चढ़ाई, चढ़ान, चढ़ाव और चढ़ावा (या चढ़त)'।

चढ़ाव-उतार - *पु०* (हिं० चढ़ना+उतरना) दे० 'चढ़ाई, चढ़ान, चढ़ाव और चढ़ावा (या चढ़त)'।

चढ़ावा- *पु०* (हिं० चढ़ना+उतरना) दे० 'चढ़ाई, चढ़ान, चढ़ाव और चढ़ावा (या चढ़त)'।

चाल-चलन- *पु०* (हिं०) दे० 'आचरण, आचार और व्यवहार'।

97. चाह चाव चाहत साध

Wish Longing

इस वर्ग के शब्द हैं तो इच्छा या कामना के वर्ग के ही, परन्तु इनके अर्थों में कुछ विशेषताएं हैं; जिनके कारण इनका स्वतंत्र विवेचन आवश्यक है।

'चाह' *स्त्री०* (सं०) इच्छा से व्युत्पन्न है और हिं० की 'चाहना'* क्रिया का भाववाचक संज्ञा रूप है। **चाह** मूलतः वह मनोवृत्ति है जो मनुष्य को कोई ऐसी वस्तु प्राप्त करने के लिए प्रेरित करती है जिससे उसे संतोष या सुख मिल सकता हो। यह साधारण इच्छा से कुछ और आगे बढ़ी हुई आकांक्षा या उत्सुकता के भाव से युक्त है, जैसे- मुझे आप के दर्शनों की बहुत दिनों से **चाह** थी, जो आज पूरी हुई। कुछ अवस्थाओं में इसमें अनुराग, प्रेम या स्नेह की प्रबलता का भाव भी सम्मिलित रहता है, जैसे मुझे तो बस तुम्हारी ही **चाह** है। कुछ प्राचीन कवियों ने इसका प्रयोग विशेष आवश्यकता सूचित करने के लिए भी किया है, यथा- सबकी **चाह** लेई दिन राती। -जायसी। ऐसी अवस्था में यह बहुत-कुछ **'चाव'** या **'साध'** का भी समार्थक हो जाता है, परन्तु इस अर्थ में इसका प्रयोग अब कम होने लगा है।

'चाव' *पु०* भी है तो हिं० **'चाह'** का ही विकृत रूप; परन्तु इसका अर्थ कुछ और ही हो गया है। **चाह** तो साधारणतः भौतिक या सामाजिक ही होती है, परन्तु **चाव** विशिष्ट

---

* 'चाहना' हिन्दी की सकर्मक क्रिया तो है ही, पर कभी-कभी इसका प्रयोग स्त्रीलिंग संज्ञा रूप में भी होता है, जैसे- 'हमारी बहुत दिनों की चाहना आज पूरी हुई।' किसी कवि ने कहा भी है - 'जाकी यहां चाहना है वाकी वहां चाहना है।'

रूप से हार्दिक होता है। यह ऐसी प्रबल अभिलाषा और लालसा के भावों से युक्त है, जो यथेष्ट आतुरता और उत्सुकता से युक्त होती है। **चाव** प्रायः ऐसी बातों का ही होता है जिनके हो जाने से मनुष्य बहुत-कुछ निश्चिंत होने के सिवा परम प्रसन्न होकर अपने आपको कृतकृत्य समझने लगता है। इसके सिवा इसका प्रयोग प्रायः अपने से छोटों के प्रति उनकी सुख कामना के लिए और मांगलिक कार्यों के सम्बन्ध में होता है, जैसे- वृद्धा माता के मन में बहुत दिनों से यह **चाव** था कि उसके पुत्र का विवाह जल्दी हो जाए और बहू आकर घर की शोभा बढ़ाए। सूरदास ने भी कहा है- चित्र केतु पृथ्वी पति राव। सुत हित भयो तासु हिय **चाव**।

'चाहत' *स्त्री०* (हिं०) **'चाह'** में त प्रत्यय लगने से बना है। यह विशेष रूप से किसी विशिष्ट व्यक्ति से मिलने की ऐसी इच्छा का वाचक है जो मूलतः अनुराग, प्रेम या स्नेह से उद्भूत है। अर्थात् यह मुख्य रूप से शृंगारिक क्षेत्र का ही शब्द है, लौकिक या सामाजिक क्षेत्रों का नहीं; यथा- खींच लाई मुझे तेरी **चाहत** सांवलिया। -कोई गीतकार।

'साध' *स्त्री०* (सं०) साधन (संज्ञा) और हि० साधना (सकर्मक क्रिया) से व्युत्पन्न है। यह भी है तो बहुत कुछ **चाव** के समान, फिर भी इसमें अपनी एक नई रंगत है। इसमें मुख्य भाव कार्य की सिद्धि का है। इसे हम ऐसी उत्कट लालसा कह सकते हैं, जो तब तक पूरी नहीं होती जब तक कार्य पूरा न हो जाए। यह मनुष्य को उत्सुक रखने के सिवा कुछ बेचैन या विकल भी रखती है। जब हम कहते हैं- 'आज हमारी बहुत दिनों की **साध** पूरी हुई' तब आशय यही होता है कि जो काम पूरा करने की उत्कट लालसा हमारे मन में बहुत दिनों से थी वह आज जाकर पूरी हुई। यह अपेक्षया अधिक हार्दिक होती है और प्रायः विशेष कठिन, दुष्कर या दुष्प्राप्य कामों या बातों के सम्बन्ध में होती है। मनुष्य अपनी **साध** पूरी करने का या तो सदा प्रयत्न करता रहता है या उसकी पूर्ति के अवसर की ताक में लगा रहता है; यथा- (क) 'ब्याध अपराध की **साध** राखी कहा, पिंगले कौन मति भगति भेई।' —तुलसी। (ख) 'जब जीवन में **साध** भरी थी, उच्छृखंल अनुरोध भरा'। —प्रसाद।

इस कोटि के अन्यान्य शब्दों के लिए देखें - (1) 'इच्छा, कामना, अभिलाषा, आकांक्षा और स्पृहा'। (2) 'वासना, तृष्णा, लालसा और लिप्सा'। ××

चाहत- *स्त्री०* (हिं० चाह) दे० 'चाह, चाहत, चाव और साध'।

98. चाहना चितवना जोवना जोहना पेखना

इस वर्ग के शब्द हैं तो 'देखना' के भिन्न-भिन्न प्रकारों और रूपों के वाचक ही, परन्तु हैं ये स्थानिक बोलियों के ही शब्द और इनका प्रयोग अवधी, बुन्देली, मैथिली, ब्रज आदि भाषाओं की कविताओं में होता है। **'चाहना'** हिन्दी के चाह शब्द से बना है जो उमंग भरी अभिलाषा या इच्छा का वाचक है। जब हम किसी प्रिय और मनोहर वस्तु को तृष्णा या लालसा की दृष्टि से देखते हैं तब हमारा वह देखना **'चाहना'** कहलाता है, जैसे-

(क) 'सखी सीप मुख पुनि-पुनि चाहीं; और (ख) 'मिलन भरत जननी, गुरुजन चाहत राम अनंद भरे।' - तुलसी।

'चितवना' *हिं०* चितवन (सं० चित् = ध्यानपूर्वक देखना) से बना है। चितवन ऐसी दृष्टि को कहते हैं जिसमें व्यक्ति दाहिनी अथवा बाईं ओर जरा-सा घूमकर और कुछ तिरछी नज़र परन्तु अनुराग, प्रेम, स्नेह आदि के भावों से युक्त होकर देखता है, जैसे (क) बिहंसे करुनाऐन, चितै जानकी लखन तनु। –तुलसी। और (ख) जियत मरत झुकि-झुकि परत जेहि चितवति एक बार। –बिहारी। पर कहीं-कहीं इसका प्रयोग किसी की ओर टक लगाकर प्रेमपूर्वक देखते रहने के अर्थ में भी होता है, यथा सरद ससिहिं जनु चितव चकोरी। - तुलसी। कहीं-कहीं इसका प्रयोग एक बार यों ही किसी तरफ सरसरी नज़र से देख लेने के संबंध में भी होता है यथा 'फिर चितवा पाछें प्रभु देखा' - तुलसी। इसका आशय यही है कि जब उसने पीछे की ओर मुड़कर देखा तब उसे प्रभु दिखाई दिए।

'जोवना' (सं० जुष् या युज्) से व्युत्पन्न जान पड़ता है। इसमें किसी प्रिय या सुन्दर वस्तु को चकित होकर कुछ समय तक बराबर देखते रहने का भाव प्रधान है, यथा मनसिज मनोहर मधुर मूरति कस न सादर जोवहू।- तुलसी। इसी **जोवना** का एक दूसरा स्थानिक रूप **'जोहना'** भी है जिसका पहला अर्थ तो वही है जो ऊपर **जोवना** का बताया गया है। परन्तु कुछ स्थानों में यह किसी की प्रतीक्षा करने या रास्ता देखने के अर्थ में भी प्रचलित है, यथा कब की मैं ठाढ़ी तोरी जोहत डगरिया। - लोकगीत।

'पेखना' सं० प्रेक्षण से व्युत्पन्न है। इसका मुख्य अर्थ है –किसी आकर्षक या मनोरंजक वस्तु को कुतूहलपूर्वक कुछ समय तक बराबर ध्यानपूर्वक देखते रहना। प्राचीन भारत में अभिनय या नाटक देखनेवालों के लिए जो स्थान बनता था वह प्रेक्षागृह कहलाता था और उसमें बैठनेवाले दर्शक प्रेक्षक कहलाते थे, यथा (क) भूमि बिबर एक कौतुक पेखा; और (ख) पेखनो सो पेखन चले हैं पुर से नर नारि।* कुछ स्थानों में इसका प्रयोग साधारण देखना के अर्थ में भी होता है, परन्तु वहां भी आश्चर्य, कुतूहल आदि के भाव विवक्षित रहते हैं; यथा (क) मज्जन फल पेखहु तत्काला। काक होहिं पिक बकउ मराला। - तुलसी। और (ख) पेखत प्रकट प्रभाउ प्रतीति न आवइ। इनमें से पहले उदाहरण में विलक्षणता यह बतलाई गई है कि काक तो पिक हो जाता है और बक बदलकर मराल हो जाता है। और दूसरे उदाहरण में प्रभाव के अद्भुत फल की ओर संकेत है।

इस माला के खड़ी बोली के शब्दों के लिए दे० 'देखना, घूरना, झांकना, ताकना, निरखना और निहारना'। ××

* इसी आधार पर तमाशे आदि को पेखना भी कहने लगे थे जिसका उपयोग उक्त उदाहरण में हुआ है।

चितवना- सं० (*हिं० चितवन*) दे० 'चाहना, चितवना, जोवना, जोहना और पेखना' ।

चिपकना- अ० दे० 'जुड़ना, चिपकना, मिलना, लगना और सटना' ।

चुटकी- *स्त्री० (सं०)* दे० व्यंग्य, कटाक्ष (छींटा) चुटकी, ताना और बोली' ।

चुनाव याचिका - *स्त्री०* दे० 'विनति, प्रार्थना, याचना, निवेदन, आवेदन, अभिवेदन और प्रतिवेदन ' ।

चुनाव- *पु०* (*हिं० चुनना*) दे० 'निर्वाचन और प्रवरण' ।

चुहल (या चुहुल)- *स्त्री०* (*हिं०*) दे० 'हंसी, दिल्लगी, परिहास, चुहल और फबती' ।

99. चूक छूट भूल

चूक	छूट	भूल
Slip	Omission	Mistake
	Exemption	Error

'चूक' हिंदी 'चूकना' क्रिया का भाववाचक रूप है । 'चूकना' मुख्यतः निशानेबाज़ी या लक्ष्य-संधान के क्षेत्र का शब्द है । हम निशाने पर गोली या तीर चलाते हैं पर जब लक्ष्य पर वार नहीं होता तब कहते हैं कि निशाना **चूक** गया । यह ठीक और सीधे मार्ग पर चलते समय बहुत ही थोड़ा इधर या उधर हो जाने का परिणाम होता है । **चूक** के अधिकतर अर्थों में विचलित हो जाने का भाव पाया जाता है और यह विचलन बहुत अनजान में ही होता है । कभी-कभी हमारी कुछ असावधानी भी हमसे **चूक** करा देती है; पर वह इतनी सूक्ष्म होती है कि हमें सहसा उसका पता भी नहीं चलता । इसलिए हम कहते हैं --न जाने हमसे कौन-सी ऐसी **चूक** हुई कि वे हमसे रुष्ट हो गए।आशय यही होता है कि हम तो अपनी समझ से बराबर ठीक व्यवहार करते रहे; न जाने कब कहां और कैसे हमसे कोई त्रुटि हो गई । कोई काम करते समय बीच में जो बात रह जाती है उसी को हम **'छूट'** कहते हैं । यह मुख्यतः हमारे अनवधान या असावधानी के कारण होती है । पत्र की प्रतिलिपि करने में किसी पद या वाक्य की **छूट** हो सकती है और जोड़ लगाने में किसी रकम की **छूट** हो सकती है । इसकी गणना साधारण त्रुटियों या दोषों में होती है । **छूट** का प्रयोग कुछ ऐसे क्षेत्रों में भी होता है जिनमें उसका सम्बन्ध अकर्मक 'छूटना' क्रिया से नहीं बल्कि सकर्मक 'छोड़ना' क्रिया से होता है । जब हम किसी को काम करने की **छूट** देते हैं तब मानो किसी बन्धन से मुक्त करके स्वतन्त्र रूप से आचरण करने के लिए छोड़ देते हैं । कोई चीज़ बेचने के समय या किसी से प्राप्य धन लेने के समय हम उसे जो **छूट** देते हैं उसमें भी कुछ अंश छोड़ देने का भाव ही प्रधान है । **'भूल'** का मुख्य और मूल सम्बन्ध स्मरण-शक्ति के ठीक तरह से काम न करनेवाली बात से है । जब हम कोई काम करना **भूल** जाते हैं तब यही माना और समझा जाता है कि हमारी स्मरण-शक्ति ने ठीक या पूरा काम नहीं किया । यों तो यह बात बहुत ही सामान्य कही जा सकती है, पर लोक-व्यवहार में **भूल** प्रायः अक्षम्य अथवा दण्डनीय ही मानी जाती है ।

कारण कदाचित् यही है कि छोटी-सी **भूल** का भी हमारे लिए अथवा औरों के लिए आपद्जनक अथवा विकट परिणाम हो सकता है। **चूक** और **छूट** की गिनती तो साधारण त्रुटियों या दोषों में होकर रह जाती है; पर **भूल** कुछ अवस्थाओं में अपराध या पाप तक के क्षेत्र में जा पहुंचती हैं।

100. चेष्टा | प्रयत्न | प्रयास

Try, Attempt | Effort | Endeavour

ये तीनों शब्द हमारी उन बौद्धिक, मानसिक अथवा शारीरिक क्रियाओं के सूचक हैं जो हमें कोई कार्य आरम्भ करके उसे सफलतापूर्वक समाप्ति तक पहुंचाने के उद्देश्य से करनी पड़ती हैं। हिन्दी में इन तीनों शब्दों के प्रयोगों में किसी प्रकार के अन्तर या भेदभाव का विचार नहीं होता, परन्तु यदि सूक्ष्म दृष्टि से देखा जाए तो इन शब्दों के मूल में कुछ ऐसी विवक्षाएं दिखाई देती हैं जिनके आधार पर हम उनके अर्थों का अन्तर समझ या स्थिर कर सकते हैं। **'चेष्टा'** का मूल अर्थ है –शारीरिक अंगों का संचालन। इसीलिए 'निश्चेष्ट' उसे कहते हैं जो हाथ-पैर बिल्कुल न हिला रहा हो। हमारे मन में जब कोई भाव, विकार या विचार उत्पन्न होता है तब हमारी आकृति या शारीरिक अंगों में कई प्रकार की प्रतिक्रियाएं होती हैं। इसी आधार पर कहा जाता है– उनकी **चेष्टा** ही इस बात की सूचक थी कि वे हमारे प्रस्ताव से सहमत नहीं थे। मरणासन्न व्यक्ति की आकृति आदि में होनेवाले विकार देखकर ही कहा जाता है – इसकी **चेष्टा** बिगड़ती जा रही है। इसी आधार पर कहा जा सकता है कि जब कोई काम करते समय शारीरिक अंगों, उपांगों आदि का आवश्यकता से अधिक अथवा असाधारण रूप से संचालन किया जाय तो उसकी गिनती हमारी **'चेष्टा'** में होगी। यदि हम कहें – उसने वह भारी पत्थर उठाने के लिए अपनी ओर से बहुत **चेष्टा** की पर उसे सफलता नहीं हुई तो यह मानो **चेष्टा** का ठीक प्रयोग होगा।

'प्रयत्न' सं० के 'यत्न' शब्द में प्र उपसर्ग लगने से बना है। 'यत्न' का मूल अर्थ है – इच्छा शक्ति का क्रियाशील होना। इसीलिए **प्रयत्न** हमारी आकांक्षा या इच्छा का सूचक तो है ही, पर उसमें हमारी बौद्धिक या मानसिक क्रियाशीलता का भाव भी सम्मिलित है। **'प्रयत्न'** का प्रयोग मुख्यतः ऐसे अवसरों पर और ऐसे क्षेत्रों में देखने में आता है जहां हम अपनी इच्छा पूरी करने के लिए अपनी बुद्धि अथवा मनोबल से काम लेते हों। हम कहते हैं – मैं यथासाध्य इस बात का **प्रयत्न** करूंगा कि अपना काम पूरा हो जाए। अपने **प्रयत्न** में सफल होने के लिए अनेक प्रकार के उपाय करने पड़ते हैं और युक्तियां सोचनी पड़ती हैं और ये सब बातें मुख्यतः हमारे बौद्धिक और मानसिक क्षेत्र की होती हैं।

'प्रयास' शब्द संस्कृत की यस् धातु से बना है, जिसका मुख्य अर्थ है – परिश्रम अथवा श्रम करना। इसी से 'आयास' शब्द बनता है जिसका अर्थ होता है – शारीरिक श्रम। इसी में अन् उपसर्ग लगने से 'अनायास' शब्द बनता है, जिसका अर्थ होता है – बिना कुछ भी परिश्रम या श्रम किए। इसी आधार पर कहा जा सकता है कि **प्रयास**

साधारण **चेष्टा या प्रयत्न** का ऐसा बढ़ा हुआ रूप है, जिसमें हमें विशेष रूप से श्रम करना पड़ता हो अर्थात् हमें निरन्तर ऐसे उद्योग या कार्य करने पड़ते हैं जो थका देते या थका सकते हों। इसीलिए कहा जाता है – इस सामाजिक सुधार के लिए उन्हें जीवन भर **प्रयास** करना पड़ता था।

हिन्दी में इन तीनों शब्दों के लिए **'कोशिश'** शब्द का प्रयोग देखने में आता है।

××

चौधरी - *पु०* = पंच दे० 'पंचायत, मध्यस्थता और संराधन'।

101. छतरी सैनिक — छापामार

Paratrooper — Guerrilla

इस वर्ग के शब्द सैनिकों के ऐसे दल या वर्ग के वाचक हैं जो शत्रु सेना के बीच में पहुंचकर अथवा उसके पीछे से आकर आक्रमण या मार-काट करके लूट-पाट आदि करते हैं।

'छतरी सैनिक' *पु०* (हिं०) इधर हाल में हवाई जहाज़ों का युद्ध आरम्भ होने के बाद से प्रशिक्षित होने लगे हैं। ऐसे सैनिकों के पास रेशम की एक ऐसी छतरी लिपटी हुई रहती है जो आकाश में पहुंचकर आप से आप खुल जाती है और उसी के सहारे सैनिक धीरे-धीरे उतरकर शत्रु सेना के मध्य भाग में पहुंच जाते और मार-काट आरम्भ कर देते हैं। इससे आगे बढ़ते हुए शत्रु सैनिकों की गति में बाधा पड़ती है और उन्हें पीछे की ओर ऐसे सैनिकों से लड़ना पड़ता है। यह युद्ध-कला का बिल्कुल आधुनिक और नया रूप है।

'छापामार' *पु०* (हिं०) का साधारण अर्थ ही है छापा मारनेवाला। सैनिकों का यह दल या वर्ग होता तो प्राचीन या मध्य युग में भी था; परन्तु इधर हाल में नए साम्यवादी चीन ने इसे आधुनिक युद्ध की विशिष्ट कला या कौशल का रूप दे दिया है; और इसकी व्यवस्थित शिक्षा दे दी है और इसकी योजना भी बना दी है। छत्रपति महाराज शिवाजी के समय में उनके सैनिकों की टुकड़ियां जंगलों और पहाड़ों में छिपी रहा करती थीं। जब उस ओर से शत्रु सेना जाने लगती थी, तब ये टुकड़ियां उपयुक्त अवसर देखकर उन पर छापा मारती थीं और सैनिकों की हत्या करके उनका गोला, बारूद और रसद छीन लेती या नष्ट कर देती थीं। ऐसा संसार के अन्य कालों या देशों में भी प्रायः होता था। यही बात आज-कल नए और व्यवस्थित रूप में होने लगी है।*

छल्ला- *पु०* (हिं०) दे० 'गर्भ-निरोध, गर्भ-पात, गर्भ-स्राव और भ्रूणहत्या'।

---

* कुछ लोग इसके अंग्रेज़ी रूप Guerrilla को देखकर भ्रम से इसे गोरिल्ला (Gorilla) नामक वन-मानुष से सम्बद्ध समझते हैं। परन्तु वास्तव में ये दोनों शब्द एक दूसरे से बिल्कुल अलग हैं, और इनका आपस में कोई सम्बन्ध नहीं है।

छापामार- *पु०* (हिं०) दे० 'छतरी-सैनिक और छापामार'।

102. छायावाद — रहस्यवाद

Romanticism — Mysticism

आधुनिक साहित्य के दो प्रमुख मत जिनके स्पष्ट स्वरूप कुछ दिनों पहले तक लोगों के ध्यान में पूरी तरह से नहीं आए थे और इसीलिए जिन्हें कुछ लोग एक दूसरे का पर्याय समझते थे। परन्तु इधर हाल के विवेचनों में इनके स्पष्ट स्वरूप बहुत-कुछ निर्धारित हो चुके हैं। इन दोनों का प्रयोग मुख्यतः आधुनिक कविताओं के क्षेत्र में होता है। साहित्यिक क्षेत्र में **'छायावाद'** आत्माभिव्यक्ति का वह ढंग या प्रकार माना जाता है जिसके अनुसार किसी शुभ और सौन्दर्यमय प्रतीक की कल्पना करके लक्षणा, व्यंजना आदि के द्वारा उस प्रतीक के सम्बन्ध में अपनी अनुभूति या आंतरिक भाव प्रकट किए जाते हैं। यद्यपि हिन्दी काव्य साहित्य में इसका प्रवर्तन कविवर रवीन्द्रनाथ टैगोर की 'गीतांजलि' से माना जाता है, फिर भी इसका मूल स्रोत प्राचीन भारतीय साहित्य में भी और कबीर-साहित्य तथा सूफी मत की रचनाओं में भी बहुत दिनों से चला आ रहा था। अब पाश्चात्य साहित्य से संपर्क होने के उपरांत उसका यह नया नाम और नया रूप स्थिर हुआ है। श्री मुकुटधर पांडेय हिन्दी के पहले छायावादी कवि माने जाते हैं। **'रहस्यवाद'** ईश्वर तथा सृष्टि के परम तत्त्व या सत्य पर आश्रित और सात्विक आत्मानुभूति से सम्बन्ध रखनेवाला एक वाद या सिद्धांत है। यह आध्यात्मिक तथा साहित्यिक क्षेत्रों में जीवात्मा के उस अनुराग या प्रेम का सूचक है जो परमात्मा के प्रति उत्पन्न होता है। मनुष्य के मन में परम सत्य या परमात्मा का साक्षात् करने के लिए जो आंतरिक अनुभूति या स्फूर्ति होती है वही **रहस्यवाद** का मूल है। आत्मा में होनेवाली यह अनुभूति या प्रवृत्ति बिल्कुल प्राकृतिक और स्वाभाविक मानी गई है, और सभी कालों, सभी जातियों और सभी देशों में बराबर पाई जाती है। परन्तु इसका विकास या सिद्धि लौकिक या सांसारिक आचार-व्यवहारों के द्वारा नहीं, बल्कि अंतःकरण में स्थित आत्मा की शक्ति से ही होती है। इसकी साधना करनेवाले लोग संसार से विरक्त और विमुख होकर जिस प्रकार अथवा जिस सिद्धांत के आश्रित होकर परम सत्य का प्रत्यक्ष साक्षात्कार करते अथवा उससे तादात्म्य स्थापित करते और लोक में उसका अभिव्यंजन करते हैं, वही साहित्य में **रहस्यवाद** कहलाता है। ××

छींटा - (हिं०) 1.= अभिक्षेप; दे० 'आक्षेप, अभिक्षेप और भर्त्सना'।
और 2. = कटाक्ष; दे० 'व्यंग्य, कटाक्ष (छींटा), चुटकी, ताना और बोली'।
छूट - स्त्री० (*हिं०*) दे० 'चूक, छूट और भूल'।

103. छेड़ पहल

Initiative

'छेड़' शब्द हिन्दी की 'छेड़ना' क्रिया का भाववाचक संज्ञा रूप है । हिंदी शब्दसागर में 'छेड़' और छेड़ना' को 'छेद' और 'छेदना' से व्युत्पन्न माना गया है; और मानक हिंदी कोश में भी बहुत-कुछ उसी के अनुकरण पर इनका सम्बन्ध सं० छिर्दन से स्थापित किया गया है । परन्तु इन शब्दों के अर्थों को ध्यान रखते हुए यह व्युत्पत्ति कुछ ठीक नहीं जान पड़ती । हो सकता है कि आगे चलकर इनकी कोई और अच्छी व्युत्पत्ति सामने आए । 'छेड़ना' का प्राथमिक अर्थ है – किसी कार्य का आरम्भ करना, जैसे– इमारत का काम छेड़ना; गाने-बजाने में कोई धुन या राग छेड़ना आदि । परन्तु आगे चलकर इसमें कुछ और नए अर्थ लग जाते हैं, जैसे:–

1- किसी को चिढ़ाने या तंग करने के उद्देश्य से कोई ऐसा काम करना जिससे वह क्षुब्ध होकर बिगड़े और प्रतिकार या लड़ाई-झगड़ा करने के लिए तैयार हो, जैसेःविरोधी या शत्रु को छेड़ना ।

2- किसी चीज़ को इस प्रकार खींचना, छूना या दबाना कि उसमें किसी प्रकार का विकारात्मक परिवर्तन उत्पन्न हो, जैसेःफोड़े या बुखार को छेड़ना ।

3- केवल परिहास या हंसी-मज़ाक के लिए किसी के प्रति कोई तीखी और लगती हुई बात कहना, जैसेःप्रियतमा को छेड़ना ।

'छेड़' इन्हीं सब बातों की ओर संकेत करनेवाली भाववाचक संज्ञा है । इसका मुख्य उद्देश्य किसी को चिढ़ाना या तंग करना होता है । इसी आधार पर इससे छेड़खानी और छेड़छाड़ आदि यौगिक पद बने हैं और आगे चलकर यह शब्द ऐसी बात का वाचक भी बन गया है जो किसी को क्षुब्ध करने के उद्देश्य से कही या की जाती हो ।

हिंदी में विशेषण 'पहला' तो है ही और उससे बना हुआ क्रिया-विशेषण 'पहले' भी प्रचलित है । इन्हीं दोनों के आधार पर हिंदी में भाववाचक स्त्रीलिंग संज्ञा **'पहल'** प्रचलित है । यों साधारणतः इसका प्राथमिक अर्थ है तो बहुत-कुछ वही जो 'आरंभ' या 'प्रारंभ' का है; परन्तु यह अर्थ मानों छूट गया है या छूटता जा रहा है । अब इसका बहुत-कुछ मुख्य अर्थ हो गया है– औरों से आगे बढ़कर या पहली बार कोई नया काम करना या नई बात कहना या निकालना अर्थात् अग्रसर होकर किसी काम या बात का सूत्रपात करना । प्रायः इसके साथ एक और आशय या भाव भी विवक्षित रहता है । **'पहल'** का प्रयोग प्रायः ऐसे प्रसंगों में होता है जिनमें कोई दूसरा पक्ष भी (चाहे वह अनुकूल हो या प्रतिकूल) सामने उपस्थित या वर्तमान हो और उस दूसरे पक्ष से किसी प्रकार की प्रतिक्रिया या तो अपेक्षित हो या संभाव्य । इस दृष्टि से इसमें होनेवाले काम के लिए उत्तरदायी ठहराए जाने अथवा अपने आप पर उसका भार लेने का भाव मुख्य है, जैसे (क) भारत और पाकिस्तान में जो कई बार छोटी या बड़ी लड़ाइयां हुई हैं उनकी पहल सदा पाकिस्तान ने ही की है । (ख) वियतनाम के युद्ध का अन्त तो सभी पक्ष करना चाहते हैं, पर उनमें से

कोई पक्ष शांतिवार्ता के लिए पहल करने को तैयार नहीं। (ग) यदि तुम्हारे भाई ने तुमसे बोलना और तुम्हारे यहां आना छोड़ दिया है तो तुम्हीं पहल करके उनके यहां चले जाओ और उनसे बातचीत करो।

जिस प्रकार 'आरम्भ' और 'प्रारम्भ' के साथ 'अन्त' और समाप्ति' का भाव भी लगा हुआ है उस प्रकार 'छेड़' या 'पहल' के साथ 'अन्त' या 'समाप्ति' वाला कोई भाव नहीं लगा है। ××

जंतु- *पु०* (सं०) दे० 'प्राणी, जीव और जंतु'।

जन- *पु०* (सं०) दे० 'कबीला, गण, जन और जन-जाति'।

जन-जाति - *स्त्री०* (सं०) दे० 'कबीला, गण, जन और जन-जाति'।

जन-तंत्र- *पु०* (सं०) दे० 'गण-तंत्र, जनतंत्र और लोकतंत्र'।

104. जननिर्देश — जनमत गणना (या संग्रह)

Referendum — Plebiscite

इस वर्ग के शब्द ऐसी कार्यविधि के वाचक हैं, जो किसी विधान या महत्वपूर्ण राजनीतिक व्यवस्था के सम्बन्ध में चुनाव-क्षेत्रों और मतदाताओं का मत या विचार जानने के लिए की जाती है।

'जननिर्देश' *पु०* (सं०) ऐसी व्यवस्था है जिसमें विधान-सभा या संसद के निर्णयों, निश्चयों, प्रस्तावों आदि के सम्बन्ध में मतभेद या विवाद उपस्थित होने पर यह जाना जाता है कि मतदाता इसके सम्बन्ध में क्या कहते अथवा क्या चाहते हैं। इस व्यवस्था के अनुसार मतदाताओं का विचार जान लेने पर ही विधानों, विधेयकों आदि के सम्बन्ध में अनुरूप कार्रवाई की जाती है। **'जननिर्देश'** में का 'जन' शब्द कुछ अनुपयुक्त और भ्रामक है; क्योंकि यह निर्देश सारी जनता से नहीं, बल्कि केवल मतदाताओं से प्राप्त किया जाता है।

'जनमत गणना' (या संग्रह) भी है तो उक्त प्रकार की व्यवस्था; परन्तु इसका उद्देश्य भिन्न होता है। जब दो राष्ट्रों में किसी प्रदेश के सम्बन्ध में कोई विवाद होता है, तब वहां के सभी वयस्क मतदाताओं का विचार जानने की जो व्यवस्था की जाती है, वही **जनमत गणना (या संग्रह)** कहलाती है। इस व्यवस्था के अनुसार यह जाना जाता है कि विवादग्रस्त प्रदेश के निवासी अपने यहां कैसी शासन व्यवस्था स्थापित करना चाहते हैं अथवा दोनों विवादी राष्ट्रों में से किस राष्ट्र के अन्तर्गत या अधीन रहना चाहते हैं। मतदाताओं का ऐसा निर्णय ही दोनों पक्षों के लिए मान्य होता है।

जनमत गणना (या संग्रह)- दे० 'जननिर्देश, और जनमत गणना (या संग्रह)'।

जनहत्या- *पु०* (सं०) दे० 'हत्या, हनन, मारण, वध और संहार'।

ज़माना- *पु०* (अ० ज़मान:) दे० 'कल्प और युग'।

ज़रूरत- *स्त्री०* (अ० ज़रूरत) दे० 'अपेक्षा और आवश्यकता' के अन्तर्गत 'आवश्यकता'।

105. जांच कसौटी पड़ताल परख

जांच	कसौटी	पड़ताल	परख
Test	Scrutiny		Touchstone Criterion

इस वर्ग के शब्द ऐसी क्रियाओं के वाचक हैं जो यह जानने या देखने के लिए की जाती हैं कि सामने आई हुई चीज़ या बात जैसी कही जाती है या जैसी होनी चाहिए वैसी है या नहीं।

'जांच' हि० जांचना* क्रिया का भाववाचक रूप है। जब हमारे सामने कोई चीज़ आती है, तब हम अनुभव, तुलना, प्रयोग, व्यवहार आदि के द्वारा यह जानना चाहते हैं कि (क) यह चीज़ कैसी है अथवा (ख) ऊपर से देखने में यह जैसी जान पड़ती है, वास्तव में वैसे ही है या नहीं। यह मानो एक प्रकार का परीक्षण ही है। **जांच** में यही देखा जाता है कि जो कुछ सामने है, वह अच्छा उपयुक्त, ठीक या पूरा है अथवा उसमें कोई कमी, दोष या भूल है। पदार्थों के सिवा, व्यक्तियों के गुण, योग्यता आदि की भी **जांच** की जाती है; और कुछ अवस्थाओं में यह भी देखा जाता है कि किसी व्यक्ति के सम्बन्ध में जो अच्छी या बुरी बातें कही गई हैं, वे ठीक हैं या नहीं। किसी को नौकर रखने से पहले इस बात की **जांच** की जाती है कि वह काम कर सकने के योग्य है या नहीं, अथवा उसका चरित्र ठीक है या नहीं। जब किसी व्यक्ति पर कोई अभियोग या दोष लगाया जाता है, तब इस बात की **जांच** की जाती है कि उस अभियोग या दोषारोपण में सत्यता है या नहीं।

'पड़ताल' *स्त्री०* की व्युत्पत्ति अनिश्चित और संदिग्ध है**। यह हमारे यहां का महाजनी शब्द है। **पड़ताल** में मुख्य भाव लेखे, विवरण आदि को फिर से इसलिए दोहराकर देखने का है कि उसमें कोई छूट, दोष या भूल तो नहीं है। पुराना हिसाब फिर से देखने, लिखे हुए बहीखातों को जांचने और पटवारी की पंजियों की शुद्धता जानने के लिए उनकी **पड़ताल** की जाती है। कुछ अवसरों पर इसका प्रयोग **जांच** के साथ यौगिक पद 'जांच-पड़ताल' के रूप में भी होता है; ऐसी अवस्था में इसमें दोनों शब्दों का आशय या भाव आ जाता है।

---

* जांचना सं० याचना से व्युत्पन्न है, जिसका अर्थ है – किसी से प्रार्थनापूर्वक कुछ मांगना। पुरानी हिन्दी में जांचना का प्रयोग इसी अर्थ में हुआ है। प्रस्तुत प्रसंग में इसका जो अर्थ है, वह इसी मूल अर्थ का विकसित रूप है। आशय यह है कि देख, पूछ या मांगकर यह परीक्षा करना कि यह खरा है या खोटा।

** हिन्दी कोशों में इसे परितोलन (अच्छी तरह तोलना) से व्युत्पन्न बतलाया गया है। सम्भव है, इस शब्द का सम्बन्ध उस पड़ता शब्द से हो जिसका एक अर्थ है – लागत, व्यय आदि का लगाया जानेवाला वह हिसाब जिसके आधार पर किसी वस्तु का मूल्य स्थिर किया जाता है।

'कसौटी' *स्त्री०* (सं० कष्-पट्टिका) मूलतः विशिष्ट प्रकार के उस काले पत्थर की वाचक है, जिस पर कस (या रगड़) कर सोने या उसके आभूषणों आदि के खरे-खोटे होने की परीक्षा की जाती है। और यह जाना जाता है कि यदि इसमें किसी अन्य धातु का मेल है, तो वह कितना है अथवा उसका अनुपात क्या है। लाक्षणिक रूप में व्यावहारिक दृष्टि से **कसौटी** में मुख्य भाव गुण-दोषों की **जांच** या **परख** का है, और इसका प्रयोग यही जानने या सूचित करने के लिए होता है कि कोई चीज़ किसी नियम, सिद्धांत आदि के विचार से कहां तक पूरी या अधूरी है। ऐसी **जांच** या **परख** वस्तुओं की भी हो सकती है, विचारों की भी और व्यक्तियों की भी। इससे उनके गुण, प्रकार, रूप और विशेषता का पता चलता है। हर चीज़ या बात की **कसौटी** हमें उसके संबंध में उचित या ठीक निर्णय करने में सहायता देती हैं। हम कहते हैं – 'सभ्यता (या सौजन्य) मनुष्य की सबसे बड़ी **कसौटी** है'। आशय यही होता है कि जिसमें पूरी-पूरी सभ्यता (या सौजन्य) न हो, वह वास्तविक दृष्टि से मनुष्य नहीं है। इसी प्रकार हम यह भी कहते हैं – हम तो वचन-पालन और विशुद्ध आचार-व्यवहार को ही उनकी सत्य-परायणता की **कसौटी** समझते हैं।

'परख' हिं० परखना* क्रिया का भाव वाचक संज्ञा रूप है– किसी चीज को अच्छी तरह ठोक-बजाकर उसके गुणदोषों की जांच-पड़ताल करके अथवा अन्य प्रकार की परीक्षाएं करके देखना ही उस चीज़ का 'परखना' कहलाता है; और इस सम्बन्ध में की जानेवाली क्रियाएं **'परख'** कहलाती हैं। इस प्रकार किसी पदार्थ के खरे-खोटे की पहचान करना अथवा किसी व्यक्ति के कार्य, व्यवहार आदि देखकर उसकी वास्तविकता का पता लगाना ही **परख** है। इससे और आगे बढ़ने पर **परख** का प्रयोग किसी व्यक्ति की उस योग्यता, शक्ति या सूक्ष्म दृष्टि की भी सूचक होता है जिसके द्वारा मनुष्य किसी पदार्थ के गुण-दोष या किसी व्यक्ति की योग्यता-अयोग्यता आदि सहज में जान या समझ लेने में समर्थ होता है। ××

जागतिक– *वि०* (सं०) दे० 'भौतिक, पार्थिव, लौकिक और सांसारिक'।

जान– *स्त्री०* (फ़ा०) दे० 'जीवन, प्राण, जान और ज़िन्दगी'।

जानकारी– *स्त्री०* (हि० *जानना=फ़ा० कारी*) दे० 'प्रविधि और परिज्ञान'।

जानवर– *पु०* (फ़ा०) दे० 'प्राणी, जीव और जन्तु'।

जायदाद– *स्त्री०* (फ़ा० *जाएदाद*) = सम्पत्ति; दे० 'धन, वित्त, संपत्ति और परिसम्पत्ति'।

ज़िंदगी– *स्त्री०* (फ़ा० *ज़िन्दगी*) दे० 'जीवन, प्राण, जान और ज़िन्दगी'।

जिच– *स्त्री०* (फ़ा० *जिच*)=गत्यवरोध; दे० 'रोध, अवरोध, गत्यवरोध, निरोध, प्रतिरोध और विरोध'।

---

* परखना सं० परीक्षण से व्युत्पन्न है जिसका एक अर्थ है–गुण, दोष आदि जानने के लिए किसी चीज़ या बात की जांच या छान-बीन करना।

ज़िद- *स्त्री०* (अ० *ज़िद्द*) दे० 'हठ, टेक और ज़िद'।

जीव- *पु०* (सं०) दे० 'प्राणी, जीव और जन्तु' ।

106. जीवन जान ज़िंदगी प्राण

Life Life Life

ये शब्द उन तत्त्वों और स्थितियों के वाचक हैं जिनके आधार पर और जिनमें जीव, जन्तु या प्राणी चलते-फिरते, खाते-पीते, जन्म लेते, बढ़ते और अपना परिवार, वंश या वर्ग बढ़ाते रहते हैं । इनमें का पहला शब्द **'जीवन'** प्रयोग और व्यवहार की दृष्टि से सबसे अधिक व्यापक है । मुख्य रूप से जीते रहने की अवस्था या भाव ही **'जीवन'** है । तात्त्विक दृष्टि से **जीवन** वह प्राकृतिक शक्ति है, जो प्राणियों, वनस्पतियों आदि को अंगों और उपांगों से युक्त करके अथवा उन्हें सेन्द्रिय बनाकर सक्रिय और सचेष्ट रखती है और जिसके फलस्वरूप वे परिस्थितियों के अनुकूल रहकर और कुछ खा-पीकर या कुछ पकाकर अपना अस्तित्व बनाए रखते और अपने वंश या वर्ग की वृद्धि करते रहते हैं । सारांश यह कि जीवित रूप में अस्तित्व बने रहने की अवस्था या भाव ही **जीवन** है । वैज्ञानिकों ने गतिशीलता, अनुभूति (या संवेदन), आत्मपोषण, आत्मवर्धन और प्रजनन यही पांच इसके मुख्य लक्षण माने हैं । ये सब काम करने-करवानेवाली शक्ति का अन्त या नाश ही मृत्यु है । इसीलिए **जीवन** का विपर्याय मृत्यु है ।

परन्तु भावव्यंजन तथा लोक-व्यवहार की दृष्टि से **जीवन** का प्रयोग अनेक विकसित तथा विवर्धित अर्थों में होता है, जिनमें से कुछ इस प्रकार हैं –

1- शरीर में किसी विशिष्ट रूप या स्थिति में आत्मा के अस्तित्व की सारी अवधि या काल; जैसे:(क) पार्थिव या भौतिक **जीवन**; (ख) अमर या शाश्वत **जीवन** ।

2- किसी आधार अथवा शरीर में उक्त शक्ति या प्राणों के बने रहने की अवधि, अवस्था या भाव; जैसे:पशु-पक्षियों, मनुष्यों या वृक्षों का **जीवन** ।

3- मनुष्यों में उक्त अवधि का किसी विशिष्ट प्रकार, रूप या स्थिति का कोई अंग, अंश या पक्ष; जैसे:आध्यात्मिक, एकान्तिक या वैवाहिक **जीवन** ।

4- उक्त अवधि या समय के किसी विशिष्ट प्रकार से या किसी विशिष्ट रूप में बिताये जाने या बीतने की दशा या स्थिति; जैसे:(क) दरिद्रता या पराधीनता का **जीवन**; (ख) ग्राम्य, नागरिक या सभ्य **जीवन** ।

5- किसी विशिष्ट प्रकार के कर्तृत्व या क्रिया-कलाप के विचार से बिताई जानेवाली उक्त अवधि या उसका कोई अंश; जैसे:(क) आमोद-प्रमोद या भोग-विलास का **जीवन**, (ख) बढ़इयों, लोहारों या सैनिकों का **जीवन** ।

यह तो हुआ काल और दशा के विचार से **जीवन** का विवेचन । इसके सिवा स्वयं उस तत्त्व या शक्ति के विचार से भी इसके कुछ विशिष्ट अर्थ, आशय या भाव होते हैं; यथा–

1- वह (तत्त्व या व्यक्ति) जिससे किसी को कुछ करने की पूरी प्रेरणा, योग्यता या शक्ति प्राप्त होती है; जैसेः आप ही इस संस्था के **जीवन** हैं।

2- वह तत्त्व जिससे कोई चीज़ या बात यथेष्ट ऊर्जा, ओज, प्राणों आदि से युक्त जान पड़ती है; जैसेः – किसी कविता, चित्र या मूर्ति में दिखाई पड़नेवाला **जीवन**।

3- वह तत्त्व या बात जो किसी वस्तु या व्यक्ति का अस्तित्व बनाए रखने के लिए अनिवार्य या परम आवश्यक होती है; जैसेः जल (या वायु) ही सब प्राणियों का **जीवन** है।

4- उक्त के आधार पर कोई ऐसी परम प्रिय वस्तु या व्यक्ति जिसके बिना रह सकना बहुत ही कठिन या दुष्कर हो, जैसेः (क) हमारे अराध्य देव ही हमारे **जीवन** हैं; (ख) साहित्य-सेवा ही उसका **जीवन** है।

'प्राण' (सं०) का पहला अर्थ है–सांस लेने में नथनों के द्वारा आने-जानेवाली वायु। मुख्य रूप से यह हमारी जीवनीशक्ति का ही वाचक है। हमारे शास्त्रों ने इसके दस भेद या रूप कहे हैं; यथाः **प्राण**, अपान, व्यान, उदान, समान, नाग, कुर्म, कृकल, देवदत्त और धनंजय। शरीर में इनके निवास के भिन्न-भिन्न स्थान माने गए हैं और इनके कुछ विशिष्ट शारीरिक व्यापार भी स्थिर किए गए हैं। इनमें से पहलेवाले 5 प्रधान कहे गए हैं, और उनके समाहार को पंचप्राण कहते हैं। इसी आधार पर संस्कृत व्याकरण में प्राण के बहुवचनात्मक प्रयोग का विधान है। इसलिए पुराने हिन्दी लेखक भी प्रायः बहुवचन में ही इसका प्रयोग करते थे; जैसेः उनके **प्राण** निकल गए। पर आज-कल के बहुतेरे लेखक इस तत्त्व से अनभिज्ञ होने के कारण प्रायः एकवचन में ही इसका प्रयोग करने लगे हैं। अरविन्द दर्शन के अनुसार **प्राण** ही चेतना की वह भूमि है जिससे उर्जा या शक्ति भी उत्पन्न होती है और इच्छाएं, कामनाएं, वासनाएं, क्रोध, मद, मत्सर आदि मनोविकार भी उद्‌भूत होते हैं। **प्राण ही जीवन** का मुख्य आधार है, इसीलिए जीवों को प्राणी कहते हैं। प्राणों का अन्त ही मृत्यु है। आर्थी क्षेत्र में कुछ अवस्थाओं में **प्राण** का प्रयोग भी **जीवन** तत्ववाले अर्थों में **जीवन** की तरह ही होता है; जैसेः वही इस संस्था के **प्राण** (या जीवन) हैं। हां, जीवन के लौकिक क्रियाकलाप या व्यवहारवाले तत्त्व का प्राण में अभाव है। इसीलिए देवी-देवताओं की मूर्ति में प्राण-प्रतिष्ठा तो की जाती है, पर जीवन-प्रतिष्ठा नहीं की जाती या नहीं की जा सकती। हम उन्हें जीवन तत्त्व से युक्त तो कर और मान सकते हैं, पर जीवन-क्रिया से युक्त कर या मान नहीं सकते। परन्तु डूबे हुए, बेहोश या मृतप्राय आदमी को जल से निकालने पर उसमें जीवन का संचार करना भी कहा जाता है और प्राणों का संचार करना भी क्योंकि ऐसे अवसरों पर जीवन का तत्त्व ही अभिप्रेत होता है, क्रिया-कलाप का नहीं।

'जान' फ़ारसी का शब्द होने पर भी मूलतः संस्कृत 'ज्ञान' से व्युत्पन्न है। अपने मूल अर्थ के विचार से जान और प्राण दोनों समानक ही हैं। परन्तु अपने परवर्ती और विवर्धित अर्थों में यह बल-बूते या शक्ति और मूल तत्त्व या सार भाग के लिए भी प्रयुक्त होता है; जैसे (क) यह बैल हल में क्या चलेगा, इसमें जान तो है ही नहीं और (ख) अब यह मकान बहुत पुराना हो गया है, इसकी दीवारों में जान नहीं रह गई है। किसी चीज़ की उत्कृष्टता, उपयोगिता, सौन्दर्य आदि बढ़ानेवाला तत्त्व भी जान कहलाता है, जैसेः यही

शब्द तो इस चरण (पद या शेर) की जान है। कुछ अवस्थाओं में यह कई ऐसे अर्थों से भी युक्त रहता है जो ऊपर जीवन के अन्तर्गत बतलाए गए हैं, जैसे वही तो इस मजलिस की जान है। जीवन की ही तरह यह परम प्रिय पदार्थ या व्यक्ति के सम्बन्ध में भी प्रयुक्त होता है। मुसलमानों में इसका प्रयोग बड़े या पूज्य व्यक्तियों के सम्बन्धवाचक शब्दों के साथ भी होता है, जैसे अम्मा जान और भाई जान आदि। उर्दू कविताओं में यह प्रियतम या प्रियतमा के लिए बहुत अधिकता से प्रयुक्त होता है। इसके सिवा उर्दूवालों ने इसके योग से अनेक पद और मुहावरे भी बना लिए हैं; जैसे जान जोखिम होना, जान का जंजाल, जान खोना, जान चुराना, जान हलकान करना आदि। ऐसे प्रयोगों में जान के स्थान पर जीवन या प्राण का प्रयोग नहीं हो सकता।

'ज़िन्दगी' फ़ारसी 'ज़िन्दः' का भाववाचक रूप है और 'ज़िन्दः' का व्युत्पत्तिक सम्बन्ध संस्कृत जीवन्त (जीवित) से जान पड़ता है। कई बातों में यह बहुत-कुछ जीवन का भी समानक है। ऊपर काल, क्रिया, दशा आदि के विचार से जीवन के जो विशिष्ट अर्थ और प्रयोग बतलाए गए हैं, बहुत-कुछ वही और उसी प्रकार के अर्थ और प्रयोग ज़िन्दगी के भी होते हैं; जैसे गरीबी या फकीरी की ज़िन्दगी, ऐश-आराम की ज़िन्दगी आदि। हां, जीवन-तत्व और जीवन-शक्तिवाले क्षेत्र में जीवन के जो अर्थ बतलाए गए हैं उन अर्थों में बहुधा जान का ही प्रयोग होता है, ज़िन्दगी का नहीं और इसके कुछ उदाहरण ऊपर जान के प्रसंग में दिए जा चुके हैं। ××

107. जुटना जुतना

प्रस्तुत प्रसंग में ये दोनों शब्द किसी काम में लगने के वाचक हैं—परन्तु दोनों के अर्थों में कुछ सूक्ष्म अन्तर है।

'जुटना' (अ०) उस संस्कृत जुट् से बना है जिससे हिन्दी 'जुड़ना' बना है। जुट का अर्थ है—बंधना या बांधना। इसीलिए यह कई अर्थों में 'जुड़ना' का पर्याय है। परन्तु इसका एक विशेष अर्थ है जो 'जुड़ना' का नहीं है। वह अर्थ है—किसी काम में अध्यवसाय और परिश्रमपूर्वक लगना। जब लोग अपनी इच्छा और उत्साह से किसी काम को पूरा करने के लिए बराबर कुछ समय तक उसमें लगे रहते हैं तब कहा जाता है—सभी लोग अपने-अपने काम में जुटे हैं। भले ही ऐसे लोग पारिश्रमिक या वेतन लेकर काम करते हों। फिर भी जब उनके सम्बन्ध में **'जुटना'** का प्रयोग होता है, तब यही माना और समझा जाता है कि वे उस काम को आवश्यक अथवा कर्तव्य समझकर करते हैं, उसे भार समझकर या विवश होकर नहीं।

'जुतना' सं० युज् से बना है जिसके अनेक अर्थों में से एक अर्थ 'काम में लगना' भी है। यह उसी 'जोतना' का अकर्मक रूप है, जिसका प्रयोग गाड़ियों आदि में घोड़े या बैल जोतने के प्रसंग में होता है। **'जुतना'** भी है तो परिश्रमपूर्वक कार्य में लगना, परन्तु इसका प्रयोग ऐसे ही अवसरों पर होता है, जब लोग काम को भार समझकर और विवशतापूर्वक करते हैं; जैसे बड़े-बड़े अधिकारी तो कार्यालयों में प्रायः सुख से बैठे रहते

हैं, परन्तु हमारे जैसे छोटे कर्मचारियों को दिन भर काम में जुते रहना पड़ता है। ××

108. जुड़ना चिपकना मिलना लगना सटना

इस वर्ग के शब्द ऐसी स्थितियों के वाचक हैं जिनमें दो या अधिक चीज़ें आपस में एक दूसरी से सम्बद्ध या संलग्न होती हैं; और देखने में बहुत-कुछ या तो एक जान पड़ती हैं या उनके अन्तर अथवा भेद का जल्दी पता नहीं लगता है।

'जुड़ना' भी उसी संस्कृत ञ्जुट् से बना है जिससे **जुटना** (दे० **'जुटना और जुतना'**) बना है। **जुड़ना** का मुख्य अर्थ है—दो या अधिक वस्तुओं का इस रूप में एक साथ और दृढ़तापूर्वक एक होना कि वे सहसा अलग न हो सकें। यह क्रिया कांटे, मेख आदि जड़ने, रस्सियों आदि से बंधने, सुई-धागे से सिलने अथवा ऐसी ही और बातों के फलस्वरूप होती है। कुछ अवस्थाओं में यह क्रिया गोंद, लेई आदि रसीले पदार्थों के योग से भी होती है; और ऐसी अवस्था में उसे **चिपकना** और सटना भी कहते हैं, जैसे कील या कांटे से दो लकड़ियों का आपस में **जुड़ना** आदि। अपने परवर्ती अर्थों में यह क्रिया कई और अर्थों की भी वाचक होती है; जैसे-

(क) बहुत कठिनता से या कष्टपूर्वक प्राप्त होना, जैसे दिन भर बैलों की तरह काम करो तब कहीं जाकर रोटी-कपड़ा जुड़ता है।

(ख) इकट्ठा या एकत्र होना; जैसेः देखते-देखते वहां सैकड़ों आदमियों की भीड़ जुड़ गई। इस अर्थ में इसका प्रयोग धन या रुपए-पैसे के सम्बन्ध में भी होता है, जैसे जब आदमी कंजूसी भी करे और मेहनत भी करे तभी धन जुड़ता है।

(ग) लाक्षणिक रूप में इसका प्रयोग औचित्य, समानता आदि के विचार से अनुकूलता, सम्बन्ध आदि स्थापित होने के प्रसंगों में भी होता है; जैसे किसी के साथ प्रीति **जुड़ना** अथवा विवाह के समय वर और कन्या की कुंडलियां या जन्मपत्रियां **जुड़ना**।

कुछ क्षेत्रों में इसका प्रयोग **'जुतना'** के अर्थ में होता है; जैसे गाड़ियां, घोड़े या बैल **जुड़ना**।

'चिपकना' हिंदी 'चिपचिप' या 'चेप' से बना है। जब कोई लसीला पदार्थ अंगुलियों में लग जाता है तब उस पर बार-बार अंगूठा रखने और उठाने से चिपचिप का सा शब्द होता है। इसी से यह क्रिया बनी है। इसका मुख्य अर्थ है--किसी लसीले पदार्थ के योग से दो वस्तुओं के तलों का आपस में एक दूसरे के साथ इस तरह मिल या लग जाना कि उन्हें सहसा एक दूसरी से अलग न किया जा सके, जैसे पुस्तक की जिल्द में दफ्ती के ऊपर कपड़ा चिपकाना। कुछ अवस्थाओं में लेसदार वस्तुओं के अभाव में भी और केवल नमी आदि के कारण पतली चीजें प्रायः एक दूसरी से अथवा किसी बड़ी चीज़ के साथ चिपकती हैं; जैसे पसीने के कारण कपड़े का बदन से **चिपकना**; या सीड़ में पड़ी रहने के

कारण किताब के पन्नों का आपस में **चिपकना**, इन अर्थों में इनके स्थान पर प्रायः 'सटना' का भी प्रयोग होता है, परन्तु जो कई दृष्टियों से ठीक नहीं।

लाक्षणिक रूप में कुछ अवस्थाओं में इसका प्रयोग ज़बरदस्ती या हठपूर्वक किसी ऐसे काम में लगे रहने के सम्बन्ध में भी होता है जिसमें धन, प्रतिष्ठा, महत्व आदि की विशेष रूप से प्राप्ति होती हो, जैसे आज-कल बहुत से अधिकारी अपनी कुर्सी (या पद)से चिपके रहना चाहते हैं। आशय यही होता है कि वे जल्दी अपनी कुर्सी (या पद) छोड़ना नहीं चाहते; और उसके मोह में उचित, अनुचित आदि का ध्यान नहीं रखते।

'मिलना'(सं० मिलन) हिन्दी का बहुत ही प्रसिद्ध शब्द है और इसका प्रयोग बहुत से अर्थों में होता है। परन्तु इसका मुख्य अर्थ है—पदार्थों का एक दूसरे में पड़कर इस प्रकार मिश्रित या सम्मिलित होना कि वे बहुत-कुछ एकाकार हो जाएं और सहज में एक दूसरे से अलग न किए जा सकें; जैसे (क) दूध में चीनी या पानी **मिलना**; (ख) किसी नदी का दूसरी नदी या समुद्र में **मिलना** आदि। इससे और आगे बढ़ने पर इसका दूसरा अर्थ होता है—पदार्थों, व्यक्तियों आदि का किसी समूह में पहुंचकर इस प्रकार एक साथ होना कि उन सबका पृथक् अस्तित्व तो बना रहे; परन्तु उन्हें पहचानना या पृथक् करना कुछ कठिन हो; जैसे एक प्रकार के अनाज या कपड़ों में दूसरे प्रकार के अनाज या कपड़े **मिलना**; एक झुण्ड या दल का दूसरे झुण्ड या दल में **मिलना**। जब किसी रेखा के साथ किसी दूसरी रेखा अथवा कई रेखाओं का किसी बिन्दु पर संयोग होता है, तब उसे भी उनका **मिलना** ही कहा जाता है; जैसे चौराहे पर चार सड़कों का **मिलना**। जब दो रेखाएं कुछ दूर तक आमने-सामने या साथ ही साथ चलती हैं तब उन्हें भी उनका **मिलना** ही कहते हैं; जैसे गांवों, देशों, राज्यों की सीमाएं **मिलना**। इससे भी और आगे बढ़ने पर प्राणियों, व्यक्तियों आदि का सामना, भेंट, साक्षात्कार आदि होने को भी **मिलना** ही कहते हैं। इसी आधार पर किसी पदार्थ के सामने आने की स्थिति को भी **मिलना** कहते हैं, जैसे रास्ते में नदी, पहाड़ या शेर **मिलना**, किसी से नज़र **मिलना**। किसी प्रकार की अनुभूति, प्राप्ति आदि होने को भी **मिलना** कहते हैं; जैसे अनुमति, आज्ञा, कष्ट, धन या सम्मान **मिलना** आदि। नए होनेवाले ज्ञान या परिचय के सम्बन्ध में भी **मिलना** ही कहते हैं; जैसे अनुसंधान करने पर कोई नया तत्त्व या प्रयोग **मिलना**। किसी प्रकार की अनुरूपता, एकरूपता या सामंजस्य स्थापित होने की स्थिति भी **'मिलना'** कहलाती है। जैसे दो व्यक्तियों की आकृति आपस में **मिलना**; संगीत के समय बाजों के स्वर **मिलना** आदि।

'लगना' (सं० लग्न) भी **'मिलना'** की ही तरह हिन्दी की बहुत प्रचलित और प्रसिद्ध क्रिया है। इसका पहला और मुख्य अर्थ है—एक पदार्थ के तल या पार्श्व का दूसरे पदार्थ के तल या पार्श्व के साथ आंशिक या पूर्ण रूप से **मिलना या सटना**; जैसे पुस्तक के ऊपर कपड़ा या कागज़ लगाना, दीवार पर घड़ी लगाना आदि। इसका दूसरा अर्थ है—एक चीज़ का दूसरी चीज़ पर (या में) जड़ा, जोड़ा, टांका, बैठाया, रखा या सटाया जाना, जैसे खिड़कियों में जंगला या पल्ला **लगना**, नाव में पाल **लगना**, धोती या साड़ी में गोट या झालर **लगना** आदि। किसी पदार्थ के तल पर किसी गाढ़े या तरल पदार्थ के द्वारा किसी प्रकार का अंकन, लेप आदि **लगना**; जैसे सूची में नामों पर निशान **लगना**, दीवार पर

चूना या रंग **लगना**, हाथ-पैर में मेहंदी **लगना** आदि। कुछ अवस्थाओं में एक पदार्थ के तल के दूसरे पदार्थ के तल के साथ रगड़ होने को भी **'लगना'** कहते हैं; जैसे यंत्र के पहिए का किसी दूसरे पुरज़े से **लगना**, चलने में घोड़े या बैल का पैर **लगना**, जांघें **लगना** आदि। किसी को पकड़ने अथवा उसका भेद या रहस्य जानने अथवा ऐसे ही किसी और कार्य के लिए किसी का पीछा करना भी **लगना** ही कहलाता है, जैसे अब तो प्रायः उनके साथ पुलिस लगी रहती है। कुछ विशिष्ट प्रकार की विपत्तियों, कष्टों, रोगों आदि का कुछ अधिक समय तक बना रहना अथवा उनका आकस्मिक आक्रमण अथवा प्रभाव होना भी **लगना** कहलाता है, जैसे भूत-प्रेत या रोग **लगना**; कोई झंझट या बखेड़ा **लगना** आदि। अभीष्ट या उद्दिष्ट रूप में किसी स्थान पर पहुंचना अथवा सार्थक रूप से उपयोग में आना भी **लगना** कहलाता है, जैसे जहाज़ या नाव किनारे **लगना**; खाई हुई चीज़ अंग **लगना** आदि। इसके सिवा अनेक विशेषणों और संज्ञाओं के साथ लगकर यह शब्द उनकी अनुभूति, पूर्णता, सार्थकता, सिद्धि आदि का भी सूचक होता है, जैसेः अच्छा या बुरा **लगना**; कड़ुआ या मीठा **लगना**; गर्मी या सर्दी **लगना**, रिश्ते में चाचा या भाई **लगना**, दरबार, दुकान, प्रदर्शनी या बाज़ार **लगना**, रोज़गार या ब्याह शादी में रुपए **लगना**, किसी काम में चिंता, ध्यान या मन **लगना**, नौकरी **लगना**, चौकी या पहरा **लगना**, तलवार, थप्पड़ या मुक्का **लगना**, ग्रहण **लगना**, देर **लगना**, सेंध **लगना**, समाधि **लगना**, बाजी या शर्त **लगना**, किसी वाक्य या श्लोक का अर्थ **लगना**, हिसाब **लगना**, कर, महसूल या शुल्क **लगना** आदि-आदि। मन या शरीर पर किसी प्रकार का प्रभाव उत्पन्न होना या पड़ना भी **लगना** कहलाता है, जैसे किसी की बात **लगना**। किसी कार्य के आरम्भ अथवा किसी-किसी बात के आरोप के सम्बन्ध में भी **'लगना'** शब्द का प्रयोग होता है; जैसे काम में हाथ **लगना**, किसी पर अपराध, दोष या पाप **लगना**। इसी प्रकार के और भी अनेक अवसरों पर इस क्रिया का प्रयोग या व्यवहार होता है।

'सटना' की व्युत्पत्ति अभी तक निश्चित नहीं हुई है। परन्तु अर्थ की दृष्टि से हम कह सकते हैं कि इसमें मुख्य और मूलभूत भाव बहुत-कुछ वही है जो ऊपर चिपकना और **मिलना** के आरम्भिक अर्थों में बतलाए गए हैं। इसमें मुख्य आशय दो पदार्थों के विस्तृत दलों का एक दूसरे के या तो बहुत ही समीप हो जाता है या इस प्रकार मिलकर एक हो जाता है कि सहज में एक दूसरे से अलग न हो सके, जैसे दीवार से आलमारी **सटना**, या दफ्ती पर कागज़ **सटना** (चिपकना)। हम यह भी कहते हैं–(क) दोनों मकान या उनकी दीवारें आपस में सटी हुई हैं। (ख) जगह कम होने के कारण सब लोग एक दूसरे से बहुत सटकर बैठे हुए थे आदि-आदि। आशय यही होता है कि दोनों ओर के पार्श्व या तो बिल्कुल मिले हुए हैं या उनके बीच बहुत ही कम अन्तर या अवकाश है।

XX

जुतना- *अ०* (सं० युत्) = दे० 'जुटना और जुतना'।

ज़ोर - *पु०* (फ़ा० ज़ोर) = 'बल, शक्ति और ऊर्जा'।

जोवना, जोहना- सं० (हिं०) दे० 'चाहना, चितवना, जोवना, जोहना और देखना'।

109. ज्ञान परिज्ञान प्रज्ञान

Knowledge All-round knowledge Know-how

इस वर्ग के शब्द मनुष्यों को किसी बात या विषय की विविध प्रकार की होनेवाली जानकारी या परिचय के वाचक हैं।

'ज्ञान' *पु०* (सं०) मुख्यतः वह जानकारी परिचय, या बोध है जो चेतन अवस्था में इन्द्रियों के द्वारा हमें प्राप्त होता है। यह मन में होनेवाली वह धारणा या भावना है जो चीज़ों को देखने और बातों को समझने पर उत्पन्न होती है, इसके सिवा अनुभव, अध्ययन, छान-बीन, निरीक्षण, प्रयोग आदि से भी हम जितनी नई बातें जानते हैं, उनसे हमारे ज्ञान-भण्डार की वृद्धि होती है। आगे चलकर इसका अर्थ और भी कई क्षेत्रों तथा प्रसंगों में पल्लवित और विकसित हुआ है। लोक-व्यवहार में शरीर की उस चेतना-शक्ति को भी **ज्ञान** कहते हैं, जिसके अनुसार जीवों या प्राणियों को अपनी आवश्यकताओं और परिस्थितियों के अनुसार अनेक प्रकार की अनुभूतियां होती हैं, जैसे वनस्पतियों और पशु-पक्षियों को भी इतना **ज्ञान** होता है कि वे गरमी, सरदी और दिन-रात का **ज्ञान** करते हैं। इस प्रकार का **ज्ञान** सारे शरीर में फैले हुए उस स्नायु-तन्त्र के द्वारा होता है जिसका केन्द्र मस्तिष्क या सिर में होता है। आध्यात्मिक और धार्मिक क्षेत्रों में आत्मा और ईश्वर के स्वरूप और दोनों के पारस्परिक सम्बन्धों की ऐसी जानकारी या बोध को भी **ज्ञान** कहते हैं जिनसे हमारी दृष्टि में सभी भौतिक और सांसारिक चीज़ें या बातें बिल्कुल असार, तुच्छ और नश्वर जंचने लगती हैं। इस प्रकार का **ज्ञान** मनुष्य को आवागमन के बन्धनों से छुड़ाकर मुक्ति या मोक्ष दिलानेवाला माना जाता है। ऐसे **ज्ञान** को तत्वज्ञान और ब्रह्मज्ञान भी कहते हैं।

'परिज्ञान' *पु०* (सं०) का मुख्य अर्थ है–किसी बात का अच्छा, ठीक और पूरा ज्ञान। परन्तु आज-कल इसका अर्थ कुछ और विस्तृत हो गया है। किसी बात के सभी अंगों और पक्षों की बहुत-सी बातों की जानकारी को भी **'परिज्ञान'** कहते हैं; और बहुत सी बातों या विषयों की अच्छी जानकारी भी इसके अन्तर्गत आ जाती है। ऐसी जानकारी को लोक में **'बहुज्ञता'** भी कहते हैं।

'प्रज्ञान' *पु०* (सं०) एक प्रकार से बिल्कुल नया शब्द कहा जा सकता है क्योंकि मैंने यह रूप अंग्रेज़ी Know-how का भाव सूचित करने के लिए स्थिर किया है। यह मुख्य रूप से उस अच्छी और पूरी जानकारी या परिचय के लिए प्रयुक्त होना चाहिए जो हमें किसी प्रकार के प्राविधिक कार्य में दक्ष होने पर प्राप्त होता है। इस प्रकार का ज्ञान किसी प्रविधि के सब अंगों और कामों को बहुत दिनों तक करते रहने और उनकी सभी क्रिया-विधियां तथा संचालन आदि का यथेष्ट अनुभव होने पर ही प्राप्त होता है। जिन्हें किसी प्रविधि का पूरा ज्ञान होता है वही दूसरों को उसकी शिक्षा देने के योग्य समझे जाते हैं, जैसे भारत के अनेक प्राविधिज्ञ लोहे की ढलाई आदि का **प्रज्ञान** कराने के लिए विदेशों

में जाने लगे हैं। हिन्दी में इसे जानकारी भी कह सकते हैं। परन्तु जानकारी बहुत ही छोटे और साधारण कामों या बातों की भी हो सकती है परन्तु **परिज्ञान** किसी गम्भीर और गूढ़ विषय की पक्की और पूरी जानकारी है। ××

ज्ञापन- *पु०* (सं०) दे० 'विज्ञप्ति, अधिसूचना, ज्ञापन, ध्येय-पत्र, परिपत्र और श्वेत-पत्र'।

झांकना- *अ०* (हिं०) दे० 'देखना, घूरना, झांकना, ताकना, निरखना और निहारना'।

झुकाव- *पु०* (हिं० झुकना) दे० 'वृत्ति, अभिवृत्ति, प्रवृत्ति, मनोवृत्ति और रुचि'।

110. झेलना — भोगना — सहना
Endure — Suffer — Forbear Tolerate

ये तीनों क्रियाएं ऐसी स्थितियों की वाचक हैं जिनमें मनुष्य को कोई कठिन, कष्टप्रद या विकट प्रसंग आने पर जैसे-तैसे उनका सामना करते हुए आगे बढ़कर उनसे पार होना पड़ता है। **'झेलना'** हमारे यहां का पुराना शब्द है जिसका प्रयोग मध्य युग के कवियों ने स्वच्छन्दतापूर्वक किया है। 'हिन्दी शब्दसागर' में इसे सं० क्ष्वेल् (हिलाना-डुलाना) से व्युत्पन्न माना है, पर हो सकता है कि यह सं० जल् से व्युत्पन्न हो जिसके अर्थ हैं--ढकना, घेरना, फंसना आदि। क्ष्वेल् के भी कई अर्थ है; जैसे कूदना, चलना, कांपना आदि। जो हो, **झेलना** का प्रयोग मुख्यतः ऐसी विकट परिस्थितियों के प्रसंग में होता है जिनमें मनुष्य के अध्यवसाय, धैर्य और साहस की परीक्षा होती है, और वह विपत्तियों, संकटों आदि की परवाह न करते हुए आगे बढ़ता चलता है, जैसे (क) जंगलों और पहाड़ों के भीषण कष्ट झेलते हुए लोग महीनों बाद घर पहुंचे थे। (ख) विधवा माता ने बड़े-बड़े कष्ट झेलकर उन्हें पाला-पोसा और पढ़ाया-लिखाया था। बोल-चाल में घर-गृहस्थी की स्त्रियां इसका प्रयोग प्रायः 'पानी' के साथ भी करती हैं, जैसे वह दिन भर पानी झेलती रहती है अर्थात् ऐसा काम-धन्धा करती रहती है जिसमें हाथ, पैरों या शरीर के दूसरे अंगों में पानी लगता रहता है। आशय यही होता है कि शरीर में पानी लगने के दुष्परिणामों की वह कोई चिन्ता नहीं करती। उर्दू का एक शेर भी है –

निस्फ शब को यार बुलाए
अगर बरसात में
झेलकर हम जाएं पानी
ता कमर बरसात में

यहां भी कष्ट की परवाह न करने का भाव ही प्रधान है। परन्तु सूरदास ने पानी के प्रसंग में सुखद भाव के साथ भी **झेलना** का प्रयोग किया है, यथा-बाल केलि को बिसद परम सुख, सुख समुद्र नृप झेलत। साधारणतः समुद्र **झेलना** सहज नहीं होता, इसीलिए

सुख-समुद्र के साथ भी उक्त पद में **झेलना** का प्रयोग किया गया है।*

अपने विकसित और विवर्धित अर्थ में **झेलना** का प्रयोग ऐसी बात ग्राह्य या मान्य करने के प्रसंग में भी होता है जो उचित या ठीक होने पर भी किसी कारण से अभीष्ट या प्रिय न हो, यथा-पायंनि आनि परे तो परे रहे, केती करी मनुहार न झेली। –मतिराम। कभी-कभी कोई चीज़ पचा जाने या कोई बात उपेक्षापूर्वक टालने के प्रसंग में भी इसका प्रयोग होता है, जैसे यह रकम (या बात) भी वह झेल ही गए।

'भोगना' (सं० *भोग*) का प्रयोग साधारण अच्छे और बुरे दोनों प्रकार के प्रसंगों में होता है। हम सुख भी भोगते हैं और दुःख भी। वस्तुतः किसी प्रकार का भोग करना ही **भोगना** है। परन्तु प्रस्तुत अर्थात् कष्टप्रद या दुःखप्रद बातों के प्रसंग में **भोगना** के मूल में मुख्य भाव यह रहता है कि आया हुआ कष्ट या दुःख दूर करने में हम असमर्थ हैं और इसीलिए हम चुपचाप उसके आगे सिर झुकाकर चले चलते हैं। इसीलिए कहा जाता है – जो कुछ हमारे भाग्य में बदा होगा, वह **भोगना** ही पड़ेगा–वह हमारे वश के बाहर की बात है। इस प्रकार **भोगना** में विवशता का भाव प्रधान है।

'सहना' (सं० *सहन*) का प्रयोग प्रायः अनुचित, अप्रिय और विशेषतः कष्टप्रद या हानिकारक बातों के सम्बन्ध में होता है। इसका मुख्य आधार मनुष्य की शक्ति या सामर्थ्य पर होता है; इसीलिए लोक में सहन-शक्ति पद प्रचलित है। प्रायः कहा जाता है– (क) सौ रुपए का घाटा तो हम खुशी से सह लेंगे। कुछ अवसरों पर **सहना** का प्रयोग इस भाव का भी सूचक होता है कि मनुष्य व्यर्थ की झंझट नहीं बढ़ाना चाहता, मन की शांति नष्ट नहीं होने देना चाहता, अथवा जान-बूझकर किसी बात की उपेक्षा करता है, जैसे अभी तक तो मैं उनके व्यवहार चुपचाप सहता चलता था, पर अब मुझसे नहीं सहा जाता। आशय यही होता है कि मैं जैसे-तैसे दुर्व्यवहारों की उपेक्षा करता था, पर अब मुझमें और अधिक उपेक्षा करने की शक्ति नहीं रह गई है अथवा मैं किसी कारण और अधिक **सहना** नहीं चाहता। इस प्रकार **'सहना'** कभी तो अपनी इच्छा पर और कभी अपने सामर्थ्य पर आश्रित होता है। अथवा कुछ अवस्थाओं में सहने के ऐसे ही कुछ और कारण भी होते या हो सकते हैं।

यदि हम उक्त सारे विवेचन का सारांश थोड़े से शब्दों में बतलाना चाहें तो हम कह सकते हैं कि (क) मनुष्य कष्ट झेलता है तो अपने अध्यवसाय तथा धैर्य के बल से;

---

* इसी झेलना से स्त्रियों की बोलचाल में 'झेली' शब्द बना है। 'झेली' एक विशेष प्रकार से प्रसविणी स्त्री को झटका देने या झकझोरने की क्रिया है, जिससे प्रसव जल्दी और अपेक्षया सहज में हो जाता है। फिर भी झटका या झकझोरा कुछ न कुछ कष्टप्रद तो होता ही है। नाजनीन का एक शेर है –

खूब झेली बी तेरे सदके गई।
अबके आसानी से बच्चा हो गया॥

इस 'झेली' में भी कष्ट का भाव ही प्रधान है, सुख का नहीं; भले ही उसका परिणाम सुखद हुआ हो।

(ख) दुःख भोगता है तो अपनी अक्षमता या विवशता के कारण और (ग) अत्याचार या कष्ट सहता है तो अपनी उदारता, उपेक्षा, धीरता और शक्ति के आधार पर । यही इन तीनों के पारस्परिक अन्तरों का स्पष्ट रूप है । ××

टाँग- *स्त्री०* (हिं०) दे० 'पाँव, पैर और टाँग' ।

111. टाँगना — लटकाना

Hang — Suspend

ये दोनों क्रियाएं ऐसे व्यापार की सूचक हैं जिसके द्वारा कोई चीज़ किसी ऊंची जगह पर ठहराकर रखने के लिए जड़ी, बैठाई या लगाई जाती है ।

'टाँगना' हिन्दी के 'टांकना' और संस्कृत के 'टंकण' का ही विकृत रूप जान पड़ता है । जब हम कोई चीज़ किसी ऊंची जगह पर इस प्रकार अटकाते, फंसाते या बांधते हैं कि उसका ऊपरी भाग तो वहीं टिका या ठहरा रहे और शेष भाग नीचे की ओर स्थिर रहे उसे 'टांगना' कहते हैं, जैसे खूंटी पर कपड़े टांगना, दीवार पर तस्वीरें टांगना आदि । **'लटकाना'** संस्कृत की लड् धातु से सम्बद्ध है, जिसके अर्थ हैं–निकालना, फेंकना आदि । **'लटकाना'** भी है तो बहुत-कुछ वही क्रिया जो 'टांगना' है फिर भी परिणाम या स्थिति के विचार से दोनों में कुछ सूक्ष्म अंतर हैं । 'टांगना' में मुख्य भाव यह है कि टांगी जानेवाली चीज़ किसी आधार पर स्थिर भाव से जमी या टिकी रहे । उस चीज़ के नीचेवाले अंश या भाग से इस क्रिया का कोई विशेष लगाव ध्यान में नहीं रखा जाता । परन्तु **'लटकाना'** में मुख्य भाव यह होता है कि लटकाई जानेवाली चीज़ का बहुत-सा निचला अंश या भाग कुछ या बहुत दूर तंक अधर में झूलता रहे । जहां 'टांगना' में टांगी जानेवाली चीज़ का अधिकांश अपने आधार पर स्थिर रहता है, वहां **'लटकाना'** में उस चीज़ का केवल ऊपरी सिरा आधार से सम्बद्ध रहता है, और शेष अंश आधार पर टिका या ठहरा हुआ नहीं रहता, बल्कि उसके सहारे पर रहकर भी उससे अलग या दूर हटा हुआ होता है, जैसे कुएं में घड़ा या छत में झाड़ और फानूस लटकाना । प्राचीन काल में प्राणदंड पानेवाले अपराधी सूली पर टांगे जाते थे, और आज-कल फांसी पर लटकाए जाते हैं । इस प्रकार 'टांगना' की तुलना में **'लटकाना'** ऐसे भाव का सूचक है जिसमें नीचेवाले विस्तार का अधिक ध्यान रहता है ।

112. टिकना — ठहरना — थमना — रुकना

Halt, Stay — Stop

हिन्दी की ये चारों क्रियाएं किसी चलते या होते हुए काम या बात के क्रम, गति, प्रवाह आदि के थोड़े या बहुत समय के लिए बंद अथवा स्थगित हो जाने की वाचक हैं । इनमें से कुछ क्रियाओं का कुछ विशिष्ट अर्थों में और कुछ विशिष्ट अवसरों पर एक दूसरे के स्थान पर प्रयोग होता हुआ भी देखा जाता है । सूक्ष्म दृष्टि से विचार करने पर

'टिकना'और **'ठहरना'** तो एक वर्ग की क्रियाएं हैं क्योंकि ये किसी आधार या स्थान पर स्थित होने की सूचक हैं, और **'थमना'** तथा **'रुकना'** क्रियाएं इस दृष्टि से दूसरे वर्ग में आती हैं कि इनमें गति या प्रवाह के अस्थायी अथवा स्थायी रूप में बन्द होने या आगे न बढ़ने का भाव प्रधान है।

व्युत्पत्तिक दृष्टि से **'टिकना'** का संबंध हिं० टेक से है जो किसी ऐसे आधार की सूचक है जिस पर कोई चीज़ स्थित रहती है और नीचे गिरने नहीं पाती। इसी टेक से स० क्रि० टेकना बनी है जिसका अ० रूप **टिकना** है। इसका प्राथमिक अर्थ है–किसी चीज़ का ऐसे आधार पर स्थित रहना जो उसे नीचे आने या गिरने से रोकता हो, जैसे यह दीवार इसी चांड़ पर टिकी है, चांड़ न हो तो दीवार गिर जाए। इससे आगे बढ़ने पर इसका दूसरा अर्थ होता है–कोई आधार या आश्रय मिल जाने पर आगे न बढ़ना या न बढ़ सकना। नदी में चलते समय जब पानी के नीचे कहीं रेत का कोई टीला आ जाता है और नाव की गति में बाधक होता है तब कहा जाता है–नाव टिक गई। आशय यही होता है कि इसे कोई ऐसा आधार या आश्रय मिल गया है जो इसे आगे नहीं बढ़ने देता। इससे भी और आगे बढ़ने पर इसका तीसरा अर्थ होता है–कोई सुभीते का स्थान मिलने पर थोड़े-बहुत समय के लिए वहीं निवास अथवा विश्राम करना। इसीलिए कहते हैं (क) गाड़ी रात को बहुत देर से आई थी, इसलिए हम सबेरे तक वहीं टिक गए; और (ख) आपका नया मकान मुझे नहीं मालूम था, इसलिए कल धर्मशाला में ही मुझे टिक जाना पड़ा। आज मकान का पता लगाकर आपके यहां आ गया हूं। प्रायः बच्चों से कहा जाता है–तुम टिक कर बैठना जानते ही नहीं। आशय यही होता है कि तुम चंचलतापूर्वक इधर-उधर घूमते हो। 'कहीं टिक कर रहना' का अर्थ होता है–कुछ समय तक कहीं निवास करना यथाः इस पथ का उद्देश्य नहीं है श्रांत पथिक का टिक रहना–प्रसाद।

'ठहरना' का मौलिक सम्बन्ध सं० स्था, स्थिर आदि से है जिसका अर्थ है–कुछ समय तक एक ही अवस्था में बने या स्थिर रहना। यों तो हिन्दी में **ठहरना** के अनेक अर्थ हैं, पर इसका पहला और मूल अर्थ है–चलते-चलते बीच में गति से रहित होकर किसी स्थान पर स्थित होना, जैसे (क) यात्री का विश्राम करने के लिए मार्ग में कहीं **ठहरना**। (ख) गाड़ी (या सवारी) का कहीं **ठहरना**। यह क्रिया मुख्यतः किसी आशय या उद्देश्य से अथवा नियत या नियमित रूप से कुछ समय के लिए किसी स्थान पर स्थिर या स्थित होने और आगे न बढ़ने की सूचक होती है। आगे चलकर यह विश्राम की इच्छा से स्थित होने की भी सूचक होती है, जैसे पैदल यात्री दूर की यात्रा के समय बीच में कुछ स्थानों पर ठहर जाते हैं। इस अर्थ में यह क्रिया बहुत-कुछ **'टिकना'** की समानार्थक होती है। कुछ अवसरों पर किसी प्रकार की प्रतीक्षा में भी हमें **'ठहरना'** पड़ता है, जैसे उनके आने तक मुझे यहीं **ठहरना** पड़ेगा। यह किसी गिरती हुई चीज़ के बीच में ही स्थित हो जाने की भी सूचक है। इसके सिवा इसके कुछ और अर्थ भी हैं, परन्तु उनका सम्बन्ध

हमारे प्रस्तुत प्रसंग से प्रायः नहीं के समान है।*

'थमना' सं० स्तंभन से व्युत्पन्न है, और इसीलिए इसमें मुख्यतः किसी गति या प्रवाह के या तो कुछ समय तक बंद होने अथवा मंद पड़ने का भाव प्रधान है। हम कहते हैं–पानी अब थम गया है। वर्षा के प्रसंग में इसका अर्थ होता है–बूंदों का धीमा पड़ना या बंद हो जाना, और नदियों के प्रवाह आदि के सम्बन्ध में इसका अर्थ होता है–प्रस्तुत स्थान पर स्थिर हो जाना और बढ़ाव बन्द हो जाना। उर्दू का एक प्रसिद्ध शेर है -

थमते थमते थमेंगे आंसू
रोना है, कुछ हंसी नहीं है

यहां भी प्रवाह बन्द होने या मन्द पड़ने का भाव प्रधान है। इस अर्थ के विचार से यह बहुत-कुछ **'ठहरना'** के समान है। अपने एक परवर्ती अर्थ में यह बहुत-कुछ **टिकना** की तरह भी प्रयुक्त होता है, जैसे यह दीवार इसी चांड़ पर थमी है, अर्थात् यह चांड़ ही दीवार को गिरने से रोके हुए है। दूसरे परवर्ती अर्थ में इसका प्रयोग बहुत-कुछ **ठहरना** की तरह भी होता है; जैसे अभी ज़रा थमे रहो, वह आ जाएं तब जाना।

'रुकना' का व्युत्पत्तिक सम्बन्ध सं० रोध से है, और इससे रुकावट, रोक आदि भाववाचक संज्ञाएं भी बनती हैं। यह क्रिया मुख्यतः इस बात की सूचक है कि किसी चलते या होते हुए काम के रास्ते में कोई ऐसी अड़चन या बाधा आ पड़ी है जिससे वह काम थोड़े या बहुत समय के लिए बन्द या स्थगित हो गया है। आती हुई रेलगाड़ी सिकन्दरे के पास इसलिए रुक जाती कि उसे रास्ता साफ होने का संकेत नहीं मिलता। फिर ऐसा संकेत मिलने पर वह आगे बढ़कर स्टेशन पर ठहरती है जो उसके ठहरने का नियत और नियमित स्थान है। हम कहते हैं–हम तो कलकत्ता से सीधे यहां आना चाहते थे पर पटना में हमें एक दिन के लिए **रुकना** पड़ा। आशय यही होता है कि बीच में कोई ऐसी बाधक बात आ गई जिसने हमें आगे नहीं बढ़ने दिया।

यों साधारण बोल-चाल में ये चारों क्रियाएं एक दूसरी की जगह प्रयुक्त होती हुई

---

* हिन्दी में इस क्रिया के दो भाववाचक संज्ञा रूप बनते हैं–ठहराव और ठहराई। परन्तु इन दोनों रूपों के अर्थों में एक विशिष्ट सूक्ष्म अंतर है। 'ठहराव' तो केवल ठहरने की क्रिया, गुण, भाव या रूप का वाचक है; परन्तु 'ठहराई' में इन सब बातों के सिवा ठहरने या ठहराने के बदले में दिये या लिये जाने का अर्थ भी सम्मिलित हैं; जैसे (क) यहां गाड़ी का ठहराव केवल 5 मिनट होता है। और (ख) रेल के इस डब्बे के लिए प्रतिदिन 900 रु. ठहराई ली जाती है। इस दृष्टि से इन दोनों अर्थों में ये रूप अं० के Halt के समार्थक हैं। इसके अतिरिक्त उत्तर प्रदेश और बिहार के गांव-देहातों में इसका एक और संज्ञा रूप 'ठहर' भी होता है, जिसका अर्थ है–रास्ते में ठहरने के लिए कोई उपयुक्त अथवा नियत स्थान; जैसे रास्तेभर कोई ठहर न मिलने के कारण मुझे लाचार होकर तुम्हारे यहां आना पड़ा। इसके दो और परवर्ती अर्थ भी होते हैं पहला अर्थ तो साधारण जगह या स्थान ही है; और दूसरा अर्थ है–हिन्दुओं में रसोई के लिए बना हुआ विशिष्ट स्थान। इसी आधार पर मज़दूरनियों आदि में एक मुहावरा भी बन गया है - ठहर, चौका करना अर्थात् रसोई के चूल्हे और चौके को लीप-पोतकर साफ-सुथरा करना और जूठे बर्तन आदि मांज-धोकर यथास्थान रखना।

देखी जाती हैं परन्तु हमारे मत से इनका ठीक-ठीक प्रयोग ऐसे ही अर्थों में होना चाहिए, जिन्हें पुष्ट व्युत्पत्तिक आधार प्राप्त हो। ××

टोह- *स्त्री०* (हिं० *टोहना*) दे० 'थाह और टोह'।

टेक- *स्त्री०* (हिं० *टिकना या टेकना*) दे० 'हठ, टेक और ज़िद')

113. ठंड — ठंडक*

Cold — Cool

'हिन्दी शब्दसागर' में ठंडा को संस्कृत स्तब्ध, प्राकृत बद्ध और टढ्ढ से उत्पन्न माना है जो बहुत-कुछ विचारणीय है। जो हो **'ठंड'** में उसी प्रकार अल्पार्थक प्रत्यय 'क' लगने से '**ठंडक**' शब्द बना है, जिस प्रकार मानव में 'क' प्रत्यय लगने से माणवक शब्द बना है। अर्थात् **ठंड** का कम तीव्र और हल्का रूप ही **ठंडक** है। जाड़े के दिनों में शीतल वायु के संयोग से **ठंड** पड़ती है जो अप्रिय भी होती है और कष्टदायक भी। जहां तक हो सकता है मनुष्य **ठंड** से बचना चाहता है। संध्या समय खुली जगह में बैठे रहने पर यदि अधिक '**ठंड**' लगे तो मनुष्य कमरे में या किसी छायादार जगह जा बैठता है अथवा कपड़े ओढ़ या पहन लेता है। परन्तु इसके विपरीत **'ठंडक'** हल्की तो होती ही है, प्रिय और सुखद भी होती है। जब बहुत अधिक गरमी पड़ने के बाद कुछ वर्षा हो जाती है तो कहा जाता है–'चलो, कुछ **ठंडक** तो आई।' बन्द कमरे में जब अधिक गरमी लगती है तब कहा जाता है–'चलो, बाहर चलकर बैठें, वहां **ठंडक** होगी।' शरीर में किसी प्रकार की जलन होने पर जब कोई उचित उपचार किया जाता है तो जलन कम हो जाती है। तब भी कहा जाता है–'अब कुछ **ठंडक** पड़ी है।' सारांश यह कि **ठंड** प्रायः अनिष्ट और **ठंडक**, प्रायः इष्ट होती है। ××

ठंढक- *स्त्री०* दे० 'ठंड और ठंडक'।

ठट्ठा - *पु०* (हिं०) दे० 'उपहास, खिल्ली, ठट्ठा और ठठोली'।

ठठोली- *स्त्री०* (हिं०) दे० 'उपहास, खिल्ली, ठट्ठा और ठठोली'।

ठहर- *पु०* दे० 'टिकना, ठहरना, थमना और रुकना'।

ठहरना - *अ०* (हिं०) दे० 'टिकना, ठहरना, थमना और रुकना'।

ठहराई- *स्त्री०* दे० 'टिकना, ठहरना, थमना और रुकना'।

ठहराव- *पु०* दे० 'टिकना, ठहरना, थमना और रुकना'।

ठिठोली- *स्त्री०* (हिं०) दे० 'उपहास, खिल्ली, ठट्ठा और ठिठोली'।

डर- *पु०* (सं० दर) दे० 'भय (भीति), डर, भीषिका, आतंक और कातरता'।

डरपोक- *वि०* (हिं० *डरना*) दे० 'कायर, भीरू और डरपोक'।

---

* पूर्वी प्रदेशों में ठंड और ठंडक के 'ठंढ' और 'ठंढक' उच्चारण भी होते हैं।

ढंग- *पु०* (हिं०) दे० 'पाखंड, आडंबर, ढकोसला और ढोंग'।

ढकोसला- *पु०* दे० 'पाखंड, आडंबर, ढकोसला और ढोंग '।

ढारस- *पु०* = दे० 'आश्वासन, ढारस, तसल्ली, दिलासा और सांत्वना'।

ढोंग- *पु०* दे० 'पाखंड, आडंबर, ढकोसला और ढोंग'।

तंत्रिका- *स्त्री०* (सं०) दे० 'धमनी, नाडी, शिरा और स्नायु'।

तकनीक- *स्त्री०* दे० 'प्रविधि और परिज्ञान'।

तकनीकी- *वि०* दे० 'प्रविधि और परिज्ञान'।

तकलीफ़- *स्त्री०* (अ० *तकलीफ़*) दे० 'कष्ट और क्लेश'।

तजरुबा- *पु०* (अ०) दे० 'अनुभव और अनुभूति'।

तखमीना- *पु०* (अ० *तख्मीनः*) दे० 'गणन, अनुगणन, अभिकलन, आकलन, परिकलन, परिगणन और संख्यापन'।

114. तट — तीर

Shore — Bank

ये दोनों शब्द झीलों, नदियों, समुद्रों आदि के छोर या सिरे पर की भूमि और उसके विस्तार के वाचक हैं। साधारणतः लोक में ये दोनों शब्द समानार्थक ही माने जाते हैं; परन्तु दोनों में उसी प्रकार का सूक्ष्म अन्तर है जिस प्रकार का अन्तर अंग्रेज़ी के 'शोर' (Shore) और 'बैंक' (Bank) में है। **'तट'** ठीक वह स्थान है जहां जल के विस्तार का छोर या सिरा समाप्त होता है और जहां से भूमि का विस्तार आरम्भ होता है। अर्थात् स्थल का जो अंश किसी जलीय विस्तार के बहुत पास होता है वही **तट** है। परन्तु **'तीर'** का अर्थ **तट** की अपेक्षा कुछ और अधिक विस्तृत या व्यापक होता है। **'तट'** की तुलना में **'तीर'** कुछ अधिक चौड़ा और लम्बा होता है। तुलसी ने रामचरितमानस में कहा है कि हनुमान जी जब सीता को ढूंढने चले, तब एक गुफा में एक तपस्विनी नारी मिली। उसकी कृपा से–

नयन मूंदि पुनि देखहिं बीरा।
ठाढ़े सकल सिंधु के तीरा॥

वहां पहुंचने पर जब बानरों को चिन्ता हुई, तब थोड़ी सी बातचीत के बाद ही–

अस कहि लवन सिन्धु तट जाई।
बैठे कपि सब दरभ डसाई॥

इन उद्धरणों से 'तट' और 'तीर' का उक्त अंतर स्पष्ट हो जाता है।

हिन्दी में 'तट' और 'तीर' दोनों के लिए अ० का **किनारा** शब्द प्रायः समान रूप से देखने में आता है। ××

तटस्थ- *वि०* (सं०) दे० 'उदासीन, तटस्थ और निष्पक्ष' ।

तत्वज्ञान - *पु०* (सं०) दे० 'ज्ञान, परिज्ञान और प्रज्ञान' ।

तबीयत - *स्त्री०* (अ०) दे० 'प्रकृति, शील, स्वभाव और मिज़ाज' ।

115. तरंग लहर वीचि

Wave Billow Ripple

ये तीनों शब्द ऐसे विक्षोभों के सूचक हैं जो हवा चलने पर बड़े जलाशयों, विशेषतः नदियों, खाड़ियों, समुद्रों आदि के जल के ऊपरी तल पर उत्पन्न होते हैं । साधारणतः लोक-व्यवहार में **'तरंग'** और **'लहर'** (*सं० लहरिः, लहरी*) में कोई विशेष अन्तर नहीं माना जाता । परन्तु कुछ कोशकारों और साहित्यकारों का मत है कि बहुत तेज़ हवा चलने पर समुद्रों के ऊपरी पानी के जो अंश बहुत ऊंचे-ऊंचे उठकर आगे बढ़ते; किनारों, चट्टानों, पहाड़ों आदि से टकराते और उन्हें तोड़ते-फोड़ते हैं उन्हीं को 'लहरें' कहते हैं । 'तरंगें' वे हैं जो साधारण हवा चलने पर उक्त रूप में नदियों, बड़ी झीलों आदि में उठती हैं । आज-कल **तरंग** का प्रयोग जल के सिवा इसी प्रकार की कुछ और वस्तुओं की लहराती हुई गति के सम्बन्ध में होने लगा है, जैसे ध्वनि-तरंग, प्रकाश-तरंग, वायु-तरंग आदि । **'वीचि'** इस **तरंग** का वह बहुत छोटा, धीमा और हलका रूप है जो वायु के बहुत ही मंद प्रवाह के कारण तालाबों, नदियों आदि के ऊपरी तल में दिखाई पड़ता है ।* ××

तर्कणावाद- पु० (*सं०*) दे० 'तर्क संगतिवाद' ।

116. तर्कसंगत युक्तिसंगत

Rational Reasonable

इस वर्ग के विशेषण ऐसे व्यक्तियों, कार्यों, मतों, विचारों आदि के संबंध में प्रयुक्त होते हैं जो या तो तर्क-वितर्क करने पर ठीक सिद्ध होते या हो सकते हों अथवा जो बुद्धि या युक्ति के आधार पर ठीक और मान्य सिद्ध होते हैं अथवा सिद्ध किए जा सकते हैं । यहां यह भी ध्यान रखना चाहिए कि तर्क करने और युक्ति लगाने की योग्यता या शक्ति मनुष्यों में ही होती है; अन्यान्य जीव-जन्तुओं, पशु-पक्षियों आदि में नहीं होती ।

'तर्कसंगत' *वि०* (सं०) ऐसी बातें कहलाती हैं जो तर्क-वितर्क के उपरांत ठीक

---

* जिस प्रकार हमारे यहां उक्त प्रकार के तीनों जलीय विक्षोभों में कोई विशेष अन्तर नहीं माना जाता उसी प्रकार अंग्रेजी में प्रायः वेव (Wave) शब्द का उक्त तीनों अर्थों में प्रचलन देखने में आता है । फिर भी आप्टे और मानियर विलियम्स के संस्कृत-अंग्रेजी कोशों में इन तीनों शब्दों का अंग्रेज़ी समानार्थक Wave तो दिया ही है; परन्तु लहर के आगे उसके साथ **'बिल्लो'** (Billow) भी दिया गया है; और **'वीचि'** के आगे 'रिप्पल' (Ripple) भी मिलता है । इससे भी उक्त विश्लेषण का समर्थन होता है ।

और सर्वमान्य निष्कर्ष के रूप में निकलती हैं और या तो मनुष्य का ज्ञान बढ़ाती हैं या अपने पुराने और भ्रामक विचार छोड़ने के लिए विवश करती हैं। ऐसी बातों से कोरी काल्पनिक अथवा भावुकतापूर्ण बातों और विचारों का पूरी तरह खंडन और परिहार होता है। ऐसी बातें न्याय, बुद्धि, समता आदि के विचार से खरी भी होती हैं और सबके लिए सन्तोषप्रद भी। जब इस विशेषण का प्रयोग व्यक्तियों के सम्बन्ध में होता है, तब आशय यही होता है कि उसमें आचरण, व्यवहार आदि ऐसे होते हैं जिनके सम्बन्ध में न तो कभी कोई आपत्ति ही की जा सकती है और न उंगली ही उठाई जा सकती है।

'युक्तिसंगत' *वि०* (सं०) वस्तुतः **तर्कसंगत** की तुलना में विवक्षा के विचार से बहुत कुछ हल्का जान पड़ता है। इसका प्रयोग प्रायः ऐसी ही बातों और व्यक्तियों के सम्बन्ध में होता है, जिनके पक्ष या समर्थन में कोई अच्छी युक्ति उपस्थित की जा सकती है; अर्थात् यह कहा जा सकता है कि अमुक कारणों या हेतुओं अथवा युक्तियों के आधार पर इस प्रकार का आचरण या व्यवहार करना ठीक और समयानुकूल होगा। इस प्रकार की बातों का उपयोग भावी मार्गदर्शन, सुरक्षा आदि के विचार से किए जानेवाले कामों और बातों के सम्बन्ध में होता है। बच्चों को नैतिक शिक्षाएं देने के लिए प्रायः कल्पित कथाएं या कहानियां सुनाई जाती हैं, परन्तु वे वस्तुतः **युक्तिसंगत** नहीं होतीं, क्योंकि अधिक समझदार बच्चे उनके सम्बन्ध में यह युक्ति लगाते हैं कि एक पशु या पक्षी न तो दूसरे पशु या पक्षी को कोई बात बतला या समझा सकता है और न दूसरे पशु या पक्षी उसे समझकर उसके अनुसार आचरण या व्यवहार ही कर सकते हैं। हां जब कोई व्यक्ति कोई बात कहता या व्यवहार करता है तब दूसरा समझदार आदमी यह अवश्य जान या समझ सकता है कि वह बात या व्यवहार कहां तक **युक्तिसंगत** अर्थात् कहां तक उचित और ग्राह्य है।

इसीलिए कहा जाता है—सभा, समाजों आदि में समझदार आदमियों को सदा युक्तिसंगत बातें ही कहनी चाहिए, कभी कोई ऊटपटांग या बे सिर-पैर की बात नहीं कहनी चाहिए। ××

तलाश- *स्त्री०* दे० 'खोज, अनुसन्धान, अन्वेषण और शोध'।

तलाशी- *स्त्री०* (सं०) दे० 'खोज, अनुसन्धान, अन्वेषण और शोध'।

तसल्ली- *स्त्री०* (फ़ा०) दे० 'आश्वासन, ढारस, तसल्ली, दिलासा और सांत्वना'।

तहलका - (अ० *तहल्लकः*) दे० **'हलचल**, खलबली, तहलका, सनसनी और हड़कंप'।

ताक - *स्त्री०* (हिं० *ताकना*) दे० 'घात और ताक'।

ताक़त- *स्त्री०* (अ० *ताक़त*) दे० 'बल, शक्ति और ऊर्जा'।

ताकना- स० (हिं०) दे० 'देखना, घूरना, झांकना, ताकना, निरखना और निहारना'।

ताज्जुब- *पु०* (अ० *तअज्जुब*) दे० 'आश्चर्य, अचम्भा, विस्मय और कुतूहल'।

ताना- *पु०* (अ०) दे० 'व्यंग्य, कटाक्ष (छींटा), चुटकी, ताना और बोली'।

117. ताप परिताप पश्चात्ताप मनस्ताप संताप

Sorrow Remorse Repentance Anguish

'ताप' का प्राथमिक अर्थ है–गरमी; और परवर्ती अर्थ है–गरमी के कारण होनेवाली कष्टप्रद अनुभूति या जलन। इसी आधार पर यह ज्वर या बुखार का भी वाचक हो गया है। परन्तु प्रस्तुत प्रसंग में **ताप** सभी प्रकार के मानसिक तथा शारीरिक कष्टों, दुःखों, वेदनाओं आदि का सूचक और समूह-वाचक शब्द है। हमारे यहां आध्यात्मिक तथा दार्शनिक क्षेत्रों में **ताप** के ये तीन प्रकार या भेद कहे गए हैं–आध्यात्मिक, आधिदैविक और आधिभौतिक। आध्यात्मिक **ताप** के अन्तर्गत सभी प्रकार के मानसिक और शारीरिक कष्ट तथा दुःख आते हैं। क्रोध, लोभ आदि मानसिक कष्ट भी और रोग, व्याधि आदि शारीरिक कष्ट भी आध्यात्मिक **ताप** के अन्तर्गत कहे गए हैं। आधिदैविक **ताप** के अन्तर्गत वे कष्ट आते हैं, जो हमें दैविक अथवा प्राकृतिक शक्तियों के द्वारा प्राप्त होते हैं, जैसे - अग्निकांड, अतिवृष्टि, अनावृष्टि, आंधी, भूकम्प, वज्रपात आदि के कारण होनेवाले कष्ट या दुःख। आधिभौतिक **ताप** में उन कष्टों या दुःखों की गणना होती है जो हमें चीतों, शेरों, सांपों आदि पशुओं अथवा अन्य प्रकार के कीड़ों आदि के द्वारा प्राप्त होते हैं। इन्हें लोक में क्रमात् दैहिक, दैविक और भौतिक **ताप** भी कहते हैं, यथा दैहिक, दैविक, भौतिक तापा। रामराज काहुहि नहिं व्यापा॥–तुलसी।

'परिताप' का प्राथमिक अर्थ भी है तो बहुत-कुछ वही जो ऊपर **'ताप'** का बतलाया गया है, परन्तु लोक-व्यवहार में यह प्रायः ऐसे साधारण या हल्के दुःख का वाचक है जो मनुष्य को चिन्तित करता है। इस दृष्टि से यह साधारण खेद का कुछ बढ़ा हुआ रूप है, यथा-उठहु राम भंजहु शिव चापू। मेटहु तात जनक परितापू॥–तुलसी।

'पश्चात्ताप' का शब्दार्थ है–पीछे से होनेवाला **ताप** या दुःख। परन्तु व्यावहारिक क्षेत्र में इसका अर्थ कुछ और विकसित हो गया है। जब हम कोई अनुचित या अनुपयुक्त काम कर बैठते हैं अथवा किसी अच्छे अवसर से लाभ उठाने में चूक जाते हैं तब बाद में सोचने या समझने पर हमारे मन में जो कष्टप्रद या दुःखद अनुभूति होती है, वही हमारा पश्चात्ताप कहलाता है। संस्कृत का **'अनुताप'** इसका पर्याय और हिन्दी का **'पछतावा'** इसी का विकृत रूप है।

'मनस्ताप' इसी **'पश्चात्ताप'** का वह बहुत तीव्र और बढ़ा हुआ रूप है जिसकी हमारे मन पर बहुत गहरी और कुछ स्थायी छाप पड़ती है। अपने साधारण दोषों या भूलों के कारण तो हमें **'पश्चात्ताप'** होता है। जब हम कोई ऐसा बहुत बड़ा अपकृत्य या अपराध करते हैं, अथवा धार्मिक, नैतिक आदि दृष्टियों से अपने आपको बहुत नीचे गिरा हुआ समझते हैं, अथवा ऐसे ही किसी और कारण से बहुत दुःखी होते हैं तब हमारा वह दुःख **मनस्ताप** कहलाता है। इसके फलस्वरूप हमारे आचरण, विचार या हृदय में बहुत-कुछ

शुभ परिवर्तन भी होता या हो सकता है। इसे हम मन को तपाकर उसका कलुष दूर करनेवाला ताप कह सकते हैं।

'संताप' का मूल अर्थ है– बहुत अधिक ताप, और इसी आधार पर प्रस्तुत प्रसंग में यह मन में होनेवाले बहुत अधिक कष्ट या दुःख का वाचक है। इसका प्रयोग मुख्यतः लौकिक क्षेत्रों में ऐसे बहुत अधिक मानसिक दुःख की अवस्था में होता है जिसमें मनुष्य बराबर बहुत चिन्तित और विकल रहता है, और जिससे छुटकारा पाने का उसे कोई रास्ता नहीं मिलता। मान लीजिए कि किसी वृद्ध के घर में कमानेवाले तो नहीं रह गए पर खानेवाले कई छोटे-छोटे बच्चे हैं। वह जैसे-तैसे स्वयं तो सब कष्ट सह सकता है, पर उन छोटे-छोटे बच्चों का कष्ट न तो वह देख ही सकता है, और न दूर ही कर सकता है। इसीलिए वह कहता है– मैं तो इन बच्चों की दशा देखकर **संताप** से मरा जा रहा हूं। किसी परम प्रिय वस्तु या व्यक्ति का सदा के लिए होनेवाला वियोग भी मनुष्य के **संताप** का कारण होता है। ××

तारीफ– *स्त्री०* [अ० तअरीफ] दे० 'आशंसा, अनुशंसा, अभिशंसा और प्रशंसा'।

ताल-मेल– *पु०* (i) समन्वय; (ii) सामञ्जस्य; दे० 'संतुलन, समन्वय, और सामञ्जस्य'।

तालिका– *स्त्री०* (सं०) दे० 'सूची, अनुसूची, तालिका, अनुक्रमणिका और सारणी'।

तालीम– *स्त्री०* (अ० *तअलीम*) दे० 'शिक्षण, शिक्षा और प्रशिक्षा'।

तीर– *पु०* (सं०) दे० 'तट और तीर'।

तावान– *पु०* (अ०) = प्रतिपूर्ति दे० 'पूर्ति'।

तालीम–'अनुपूर्ति, आपूर्ति और प्रतिपूर्ति'।

तासीर– *स्त्री०* (अ०) दे० 'प्रकृति, शील, स्वभाव और मिज़ाज'।

तृष्णा– *स्त्री* (सं०) दे० 'वासना, तृष्णा, लालसा और लिप्सा'।

त्रेता– *पु०* (सं० *स्तम्भन*) दे० 'टिकना, ठहराना, थमना और रुकना'।

118. थाह टोह

इस वर्ग के शब्दों का प्रयोग किसी अज्ञात, अदृश्य, गुप्त अथवा रहस्यमय बात या स्थिति का पता लगाने के लिए होता है। **'थाह'** सं० स्था से व्युत्पन्न जान पड़ता है। इसका पहला और मुख्य अर्थ है–जलाशय (झील, नदी, समुद्र आदि) में पानी के नीचे की ज़मीन या तल। इसी आधार पर इसका विकसित अर्थ होता है– किसी चीज़ या बात की ऐसी अधिकता, गहराई, ज्ञान, महत्त्व आदि की चरम सीमा जिसका पता लगाने के लिए विशेष प्रयत्न करना पड़ता हो, जैसे उनके धन (मन या विद्या) का **थाह** पाना सहज नहीं है। आशय यही होता है कि उसकी अधिकता या गहनता इतनी बढ़ी-चढ़ी है कि पूरा ज्ञान प्राप्त करना बहुत कठिन है। इसके सिवा उक्त के आधार पर इसका एक और अर्थ है– वह ज्ञान या परिचय जो किसी चीज़ या बात की अधिकता, महत्त्व, रहस्य आदि के

सम्बन्ध में होता है, जैसे वह कई बार मेरे मन की **थाह** लेने आए थे। अर्थात् वे यह जानने के लिए आए थे कि इस सम्बन्ध में मेरे विचार क्या हैं। इसके साथ साधारणतः पाना, लगाना और लेना क्रियाओं का प्रयोग होता है।

'टोह' हिन्दी की टोहना क्रिया का भाव वाचक संज्ञा रूप है। टोहना का मुख्य अर्थ है– अन्धकार में टटोलकर यह पता लगाना कि यहां क्या है, अथवा कौन-सी चीज़ कहां है। परन्तु प्रस्तुत प्रसंग में **टोह** का प्रयोग विरोधी या शत्रु की गुप्त और रहस्यमयी बातों का पता लगाने के सम्बन्ध में होता है। उदाहरणार्थ शत्रु देश की राजनीतिक, सैनिक आदि स्थितियों का पता लगाने के लिए वहां जासूस भेजे जाते हैं। जहां तक हो सकता है **टोह** बहुत छिपकर या शत्रुओं की दृष्टि बचाकर ही ली जाती है। आज-कल जो हवाई-जहाज़ दूसरे देशों की सैनिक स्थिति की **टोह** लेने के लिए जाते हैं वे दूसरों की दृष्टि से बच तो सकते नहीं; फिर भी यदि शत्रुओं की दृष्टि उन पर पड़ ही जाए तो वे झटपट भाग निकलने का प्रयत्न करते हैं। इसके साथ मुख्यतः 'लेना' क्रिया का ही प्रयोग होता है।

119. दबाव — दाब

Pressure — Impression

साधारणतः यही समझा जाता है कि ये दोनों शब्द पूरी तरह समानार्थक हैं। कदाचित् इसीलिए भारत सरकार की शब्दावली में अं० के प्रेशर (Pressure) के लिए ये दोनों शब्द साथ-साथ दिए गए हैं। यों मूलतः ये दोनों शब्द हैं भी एक ही भाव के सूचक। आधुनिक हिन्दी में 'दबाना' बना है। पुरानी हिन्दी में प्रायः 'दबाना' की जगह 'दाबाना'* रूप प्रचलित था। उसी 'दाबाना' से भाववाचक संज्ञा-रूप **'दाब'** बना था जो अनेक क्षेत्रों में अब भी प्रचलित है।

इन दोनों शब्दों के सम्बन्ध में मुख्य रूप से एक बात ध्यान देने योग्य है। अं० का प्रेशर अमूर्त प्रसंगों में भी और मूर्त प्रसंगों में भी समान रूप से व्यवहृत होता है, परन्तु हिन्दी में लोक-व्यवहार में **'दबाव'** का प्रयोग अधिकतर अवसरों पर अमूर्त भावों या विचारों के प्रसंग में ही देखने में आता है; जैसे (क) वह तो पूरी तरह से तुम्हारे **दबाव** में है; तुम सहज में यह काम उससे करा सकते हो। (ख) मैं इस विषय में किसी का **दबाव** मानने के लिए तैयार नहीं हूं। और (ग) नौकरों (या लड़कों) को सदा **दबाव** में रखना चाहिए। उक्त सभी अवसरों पर **'दबाव'** का प्रयोग नैतिक दृष्टि से अपने प्रभाव या बड़प्पन का उपयोग करते हुए वश में रखने (या होने) का ही सूचक है। परन्तु

---

*हजरत गालिब के सम्बन्ध का एक परिहास प्रसिद्ध है। वृद्धावस्था में बहुत शिथिल हो जाने पर एक बार उन्होंने कुछ पैसे देने का वादा करके अपने एक शिष्य से पैर दबवाए थे। पैर दबा चुकने पर जब उसने हँसी-हँसी में पैसे माँगे, तब गालिब ने उत्तर दिया– 'तुमने मेरे पैर दाबे, मैंने तुम्हारे पैसे दाबे– चलो हिसाब बराबर हो गया।'

लोक-व्यवहार में हम देखते हैं कि **'दाब'** का प्रयोग अधिकतर मूर्त वस्तुओं के सम्बन्ध में ही होता है अमूर्त भावों या विचारों के सम्बन्ध में नहीं। छापेखानेवाले छपाई के सम्बन्ध में प्रायः कहते हैं– इस कागज़ पर **दाब** अधिक (या कम) है, वह कम (या अधिक) होनी चाहिए। पहलवान लोग प्रायः कहते हैं कि प्रतिद्वंद्वी को पहले **दाब** में लाना चाहिए। आशय यही होता है कि उसे गिरा या नीचे लाकर स्वयं उसके ऊपर होना चाहिए। मिस्त्री लोग कहते हैं– इस पत्थर (या लकड़ी) पर **दाब** कम है, इसे कुछ और अन्दर करो जिससे यह पूरी तरह से दीवार की **दाब** में रहे। इन सब उदाहरणों को देखते हुए समुचित यही जान पड़ता है कि **दबाव** का प्रयोग मुख्यतः अमूर्त प्रसंगों में, और **दाब** का प्रयोग मूर्त प्रसंगों में ही हो। यों भले ही अनजान में साधारण लोग एक की जगह दूसरे का प्रयोग करते हों परन्तु वैज्ञानिक और साहित्यिक क्षेत्रों में भावव्यंजन की सूक्ष्मता की दृष्टि से उक्त अन्तर रखना श्रेयस्कर होगा। ××

दरकार–*स्त्री०* [फ़ा०] दे० 'अपेक्षा और आवश्यकता'।

दरजा–*पु०* [अ० दरजः] दे० 'कोटि, वर्ग और श्रेणी'।

दर्द–*पु०* [फ़ा०] दे० 'पीड़ा, यंत्रणा और यातना'।

120. दर्शक — दर्शपति — दर्शाधिकारी

Visitor — Visitor — Visitor

'दर्शक' हमारे यहां का पुराना शब्द है जिसके विशेषण रूप में दो अर्थ हैं– (क) दिखानेवाला; जैसे– दिग्दर्शक, योगदर्शक आदि। और (ख) देखनेवाला। संज्ञा रूप में यह ऐसे व्यक्ति या व्यक्तियों का वाचक है जो कोई खेल-तमाशा या ऐसी ही और कोई मनोरंजक चीज़, रम्य स्थान अथवा महत्त्वपूर्ण संस्था देखने के लिए आए हों या आते हों।* परन्तु अंग्रेजी के विजिटर (Visitor) शब्द के आधार पर कुछ कोशों ने '**दर्शपति**' और दर्शाधिकारी ये दो नए शब्द दिए हैं, परन्तु यह नहीं बतलाया गया है कि इन नए शब्दों का किन क्षेत्रों और प्रसंगों में प्रयोग होना चाहिए।

आज कल यह प्रथा है कि विश्वविद्यालयों या ऐसी ही उच्च कोटि की संस्थाओं में किसी बहुत बड़े और विशिष्ट मान्य पुरुष को सर्वोच्च पद दिया जाता है और उसे देख-रेख, नियंत्रण आदि का पूरा अधिकार भी होता है। विश्वविद्यालयों में यह पद कुलपति के पद से भी ऊँचा माना जाता है। भारत में विश्वविद्यालय के **दर्शपति** प्रायः राज्यपाल या राष्ट्रपति ही होते हैं। इसे अंग्रेज़ी में 'विजिटर' कहते हैं। हमारी सम्मति में **दर्शपति** का प्रयोग इसी अर्थ में प्रचलित होना चाहिए।

---

* प्रायः बड़े-बड़े पुस्तकालयों, संग्रहालयों, संस्थाओं आदि में जो प्रतिष्ठित और मान्य व्यक्ति वहां की गतिविधि देखने के लिए आते हैं वे उनके सम्बन्ध में जिस पुस्तिका पर अपने विचार या सम्मति लिखते हैं उसे इसी आधार पर Visitor Book कहते हैं।

इसके अतिरिक्त कुछ राजकीय संस्थाओं में भी राज्य की ओर से कुछ ऐसे व्यक्ति नियुक्त किए जाते हैं, जिन्हें समय-समय पर उस संस्था में जाकर वहां की कार्यविधि देखने और उसकी त्रुटियां आदि दूर करने के लिए सुझाव देने का अधिकार प्राप्त होता है। उदाहरणार्थ आज कल जेलों की देख रेख के लिए जन साधारण में से कुछ प्रतिष्ठित व्यक्तियों को उस कार्य और पद पर नियुक्त किया जाता है। ऐसे लोगों को भी अंग्रेज़ी में 'विजिटर' ही कहते हैं। हमारी समझ में **दर्शाधिकारी** का प्रयोग ऐसे ही मान्य व्यक्तियों के लिए होना चाहिए।

दर्शक पंजी–*स्त्री०* (सं०) दे० 'दर्शक, दर्शपति और दर्शाधिकारी'।

121. दर्शन विज्ञान शास्त्र

Philosophy Science Science

हमारे यहां के तीनों प्राचीन शब्द अनेक अर्थों में प्रयुक्त होते आए हैं, जिनमें से कुछ अर्थ बहुत अधिक प्रचलित रह चुके हैं और हमारी आध्यात्मिक, धार्मिक तथा सांस्कृतिक दृष्टियों से बहुत महत्त्व के हैं। परन्तु आज-कल ये तीनों शब्द कुछ नए अर्थों में प्रचलित होने लगे हैं। अतः यहां इनके वास्तविक आशयों और स्वरूपों का स्पष्टीकरण किया जा रहा है।

'दर्शन' सं० दृश् धातु से बना है जिसका मूल अर्थ है– दिखाई देना या देखना। पर लोक-व्यवहार में **दर्शन** उस ज्ञान या बोध का वाचक है जो हमें आंखों से देखने पर प्राप्त होता है। परन्तु हिन्दी में इसका प्रयोग देवी-देवताओं और आदरणीय तथा माननीय व्यक्तियों के सामने जाकर श्रद्धापूर्वक उनका साक्षात्कार करने के अर्थ में और प्रायः बहुवचन रूप में होता है; जैसे (क) तीर्थों और देव मन्दिरों में लोग देवताओं के दर्शनों के लिए जाते हैं। और (ख) मैं कई दिनों से आपके दर्शनों के लिए आने का विचार कर रहा था। परन्तु हमारे यहां इसका प्रयोग मुख्य रूप से ऐसे व्यवस्थित और शास्त्रीय विचारों के लिए होता है, जिनमें आत्मा, परमात्मा और सृष्टि के पदार्थों और उनके रचना आदि के सम्बन्ध में तात्त्विक दृष्टि से और गहन विवेचन हुआ हो। इसमें किसी विशिष्ट और महत्त्वपूर्ण तत्त्व की वास्तविकता, प्रकृति और स्वरूप जानने का प्रयत्न होता है। हमारे यहां वैदिक काल से ही इस बात का विचार होने लगा था कि इस सृष्टि का मूल कारण क्या है, और इसकी रचना किन कारणों और तत्त्वों से किस प्रकार हुई है। उपनिषद् काल में इस प्रकार का विवेचन और भी अधिक विकसित हुआ। फिर आगे चलकर हमारे यहां सांख्य, योग, वैशेषिक, न्याय, मीमांसा और वेदांत नामक 6 प्रसिद्ध दर्शनों की प्रस्थापना और रचना हुई। इसमें से सांख्य में सृष्टि की उत्पत्ति और विकास पर विचार किया गया है और उसका मूल कारण ईश्वर को नहीं बल्कि प्रकृति को माना गया है। योग में ईश्वर या परमात्मा की सत्ता मानकर अपनी आत्मा को उसके साथ मिलाने या उसमें लीन करने के उपाय या विधान बतलाए गए हैं। न्याय **दर्शन** मुख्यतः तर्कशास्त्र का मूल आधार है। वैशेषिक में द्रव्यों या पदार्थों के गुणों का विवेचन है। न्याय और

वैशेषिक दोनों में सृष्टि की उत्पत्ति परमाणुओं के योग से मानी गई है। मीमांसा में मुख्यतः वैदिक कर्मकांड का विवेचन है। वेदांत में ब्रह्म को ही इस सृष्टि का सर्वस्व माना गया है और सब कुछ उसी का अंश तथा रूपांतर मात्र सिद्ध किया गया है। इनके सिवा हमारे यहां चारवाक, जैन, बौद्ध, पाशुपत, शैव आदि अनेक आस्तिक तथा नास्तिक दर्शनों की भी रचना हुई है।

सारांश यह कि **दर्शन** वह विज्ञान या शास्त्र है जिसमें मनुष्यों को होनेवाले ज्ञान या बोध, सब तत्त्वों या पदार्थों के मूल, आत्मा, परमात्मा, प्रकृति, विश्व, सृष्टि आदि से सम्बन्ध रखनेवाले नियमों, सिद्धांतों आदि का गंभीर अध्ययन, निरूपण तथा विवेचन होता है। सभी जातियों, देशों, धर्मों और मान्यताओंवाले लोग अपनी-अपनी बुद्धि के अनुसार सब बातों के मौलिक नियम ढूंढनेवाले जो शास्त्र बनाते हैं वे सभी **दर्शन** कहलाते हैं। पाश्चात्य देशों में इसका आरम्भ प्रायः ढाई हज़ार वर्ष पहले यूनान में हुआ था और वर्तमान युग में यूरोप और अमेरिका के अनेक विद्वानों ने इस विषय का बहुत अधिक तथा सूक्ष्म विवेचन करके इसे बहुत अधिक आगे बढ़ा दिया है।

अपने परिवर्तित और विकसित अर्थ में यह शब्द कई और प्रकार के ऐसे लौकिक विवेचनों के सम्बन्ध में भी प्रयुक्त होने लगा है जिनका आधार कोई विशिष्ट कार्यक्षेत्र, विचारधारा या विचारवान् व्यक्ति के कार्य, विचार तथा सिद्धान्त होते हैं; जीवन **दर्शन**, मनोविज्ञान **दर्शन**, राजनीति **दर्शन**, गान्धी **दर्शन** आदि आदि।

'विज्ञान' का पहला अर्थ है-- किसी चीज़ का स्वरूप जानना या उसे पहचानना। परन्तु अपने विस्तृत अर्थ में यह किसी गूढ़ विषय के सब अंगों के उत्कृष्ट, ठीक और पूरे ज्ञान का वाचक है। हिन्दुओं में मुख्य रूप से यह ऐसे लौकिक या सांसारिक ज्ञान का वाचक है जो आध्यात्मिक और पारमार्थिक ज्ञान से बिल्कुल भिन्न हो। बौद्धों में यह पांच स्कन्धों में से एक है और वे इसे चिंतन या मनन की शक्ति और चेतना का लक्षण मानते हैं। पर आज-कल इसके ये सभी अर्थ लुप्त-प्राय हो चुके हैं; और अब यह अंग्रेज़ी के सायन्स (Science) के पर्याय के रूप में प्रचलित है। अर्थात् यह बाह्य जगत् की बातों या विषयों से सम्बद्ध ऐसे विशिष्ट ज्ञान का वाचक हो गया है जो घटनाओं, तथ्यों, नियमों आदि के अध्ययन और विवेचन पर आश्रित होता है। इस प्रकार की संकलित और संगृहीत सभी बातों का सामूहिक रूप भी **विज्ञान** ही कहलाता है, जैसे भूगर्भ **विज्ञान**, भौतिक **विज्ञान**, शिक्षा **विज्ञान** आदि।

'शास्त्र' का पहला और शाब्दिक अर्थ है–आज्ञा या आदेश, और दूसरा अर्थ है - अच्छे आचरण और व्यवहार के सम्बन्ध में दिया जानेवाला हितावह उपदेश या शिक्षा। इस प्रकार के उपदेशों और शिक्षाओं का संगृहीत रूप भी **शास्त्र** कहलाता था। परन्तु आगे चलकर हमारे धार्मिक क्षेत्र में इसका विशिष्ट स्वरूप निश्चित कर दिया गया, और उसके लक्षण आदि भी स्थिर कर दिए गए। अभी तक हिन्दुओं में यह शब्द अपने इसी अन्तिम अर्थ मे प्रचलित और प्रसिद्ध है। हमारे यहां ऋषियों और मुनियों के बनाए हुए ऐसे सभी प्राचीन धर्मग्रन्थों को **शास्त्र** कहते हैं जिनमें भारतीय आर्यों के वैदिक आदर्शों

और सिद्धान्तों के अनुसार लौकिक आचार-व्यवहार आदि के नियम निरूपित हों। ऐसे ग्रन्थों में लोकहित के विचार से धार्मिक कर्तव्य आदि बतलाए गए हैं और अनुचित तथा दूषित कामों और बातों का निषेध किया गया है। आगे चलकर इनकी संख्या भी स्थिर कर दी गई थी और चारों वेदों, उनके उपवेदों तथा शिक्षा, कल्प, व्याकरण, निरुक्त, मीमांसा, न्याय आदि का शास्त्रों के वर्ग में समावेश हो गया था। इनके सिवा धर्मशास्त्रों, पुराणों आदि की भी शास्त्रों में गिनती होने लगी थी। परन्तु इधर हाल में यह भी अंग्रेज़ी के सायन्स (Science) के पर्याय के रूप में प्रचलित हो गया है। इसका कारण कदाचित् यह है कि हमारे यहां के शास्त्रों में अर्थशास्त्र, छंदशास्त्र, ज्योतिष आदि की भी गणना होने लगी थी। इसके सिवा हमारे यहां कामशास्त्र, नीतिशास्त्र, साहित्यशास्त्र आदि भी थे ही जिनसे इसे **विज्ञान** का पर्याय मानने का औचित्य सिद्ध होता है। फिर भी आधुनिक विवेचन की दृष्टि से **विज्ञान** और **शास्त्र** में कुछ सूक्ष्म अन्तर या भेद हैं। **विज्ञान** मुख्यतः ऐसे तथ्यों पर आश्रित होता है जो हमें अपने अनुभवों, निरीक्षणों, प्रयोगों आदि के द्वारा प्राप्त होते हैं। परन्तु **शास्त्र** मुख्यतः ऐसे ज्ञानात्मक तथ्यों का विवेचनात्मक स्वरूप है जो हमें उक्त प्रकार के अनुभवों, निरीक्षणों, प्रयोगों आदि का अध्ययन, अनुशीलन और मनन करने पर विदित होता है। **विज्ञान** का क्षेत्र तो वहीं तक परिमित रहता है, जहां तक वस्तुओं का सम्बन्ध जड़ प्रकृति से होता है। परन्तु **शास्त्र** का क्षेत्र इसके उपरांत और आगे चलकर उस सीमा की ओर बढ़ता है जहां उसका सम्बन्ध हमारी आत्मा और मनोभावों से स्थापित होता है। अर्थात् **विज्ञान** तो विशुद्ध पार्थिव होता है, परन्तु **शास्त्र** पार्थिव होने के साथ ही साथ अध्यात्म और धर्म की भावना से भी युक्त होता है; और इसीलिए शास्त्रों के प्रति हमारे यहां जो पूज्य बुद्धि और श्रद्धा का भाव देखने में आता है वह साधारण **विज्ञान** के प्रति नहीं होता। ××

दर्शपति- *पु०* (सं०) दे० 'दर्शक, दर्शपति और दर्शाधिकारी'।

दर्शाधिकारी- *पु०* (सं०) दे० 'दर्शक, दर्शपति और दर्शाधिकारी'।

दशा- *स्त्री०* (सं०) दे० 'अवस्था, दशा और स्थिति'।

122.	**दान**	**अंशदान**	**अधिदान**
	Giving Charity	Contribution	Bounty
	अनुदान	**परिदान**	**प्रदान**
	Grant	Subsidy	Bestowing

इस वर्ग के शब्द ऐसे धन (या पदार्थों) के वाचक हैं जो प्रायः बड़े लोग प्रसन्न होकर उदारतापूर्वक दूसरों को प्रोत्साहन, सहायता आदि के रूप में देते हैं। इनमें से **दान** और प्रदान तो हमारे यहां के बहुत पुराने प्रचलित और प्रसिद्ध शब्द हैं, परन्तु शेष चारों शब्द आधुनिक नई परिस्थितियों के कारण और अंग्रेज़ी शब्दों के भाव सूचित करने के लिए गढ़े गए हैं।

'दान' (सं०) का पहला और मुख्य अर्थ है—किसी को कुछ देना। परन्तु आगे चलकर इसमें उदारता, प्रसन्नता आदि सूचित करनेवाले भाव भी सम्मिलित हो गए हैं, जैसे अभयदान, वरदान, विद्यादान आदि। बहुत प्राचीन काल से ही यह शब्द विशेष रूप से धार्मिक क्षेत्र में प्रयुक्त होने लगा था। बड़े-बड़े राजा-महाराजा यज्ञों के समय तथा अन्य अवसरों पर याज्ञिक ब्राह्मणों तथा दीन-दुखियों को अन्न-वस्त्र, सोने-चांदी आदि के सिक्के **दान** के रूप में दिया करते थे। आज-कल भी आस्तिक हिन्दू ब्राह्मणों और दरिद्रों को अनेक प्रकार के **दान** देते हैं। आज-कल लोकोपकारी कार्यों के लिए सार्वजनिक संस्थाओं आदि को अनेक प्रकार के **दान** दिए जाते हैं। विधिक दृष्टि से **दान** वह धन या पदार्थ है, जो उदारतापूर्वक और धर्म या सेवा सहायता के विचार से स्वेच्छापूर्वक तथा किसी प्रतिफल की आशा से दिया जाए। आज-कल जीवनदान, भूदान, श्रमदान आदि अनेक प्रकार के **दान** प्रचलित तथा प्रसिद्ध हो गए हैं। ऐसे अवसरों पर **दान** का अर्थ होता है—दूसरों के भले के लिए उदारतापूर्वक कुछ देना या कोई काम कर देना। विशुद्ध धार्मिक दृष्टि से गरीबों को उनके भरण-पोषण आदि के लिए दयापूर्वक जो कुछ दिया जाता है उसे उर्दू के अनुकरण पर **खैरात** (*अ०*) भी कहते हैं।

'अंशदान' का प्रयोग ऐसे अवसरों पर होता है जब किसी बड़े काम के लिए बहुत से लोग मिलकर अपनी इच्छा अथवा स्थिति के अनुसार थोड़ा या बहुत **दान** देते हैं। यदि सौ आदमी मिलकर दस-बीस हज़ार रुपए इकट्ठे करके किसी काम के लिए देते हैं तब उनमें से प्रत्येक व्यक्ति का दिया हुआ धन उसका **अंशदान** कहलाता है। इसके सिवा यदि किसी महत्त्वपूर्ण मानसिक या शारीरिक बड़े काम में बहुत से लोग मिलकर कुछ सहायता करते हैं तो उनमें से प्रत्येक का किया हुआ काम भी उसका **अंशदान** ही कहलाता है।

'अधिदान' मुख्यतः वह धन है जो राज्य या शासन की ओर से कुछ लोगों को किसी कठिन या नये काम में लगाने से पहले उन्हें प्रोत्साहित करने के लिए दिया जाता है। मध्य युग में कुछ पाश्चात्य देश जब नौ-सेना अथवा सेना में नये सैनिक भरती करना चाहते थे अथवा किसी दूर देश में कोई नया उपनिवेश बसाने के लिए लोगों को भेजना चाहते थे तब प्रलोभन के रूप में पहले उन्हें कुछ दिया करते थे। आज-कल अनेक विकासशील देश अपने यहां कोई नया उद्योग या कल-कारखाना स्थापित करने के लिए अथवा नई तरह के माल तैयार करने के लिए प्रायः उद्योगपतियों आदि को इन नए कार्यों में प्रवृत्त करने के लिए पहले कुछ देते हैं। इस प्रकार का दिया जानेवाला धन ही **अधिदान** कहलाता है। यहां यह ध्यान रखना चाहिए कि **अधिदान** सदा कार्य आरम्भ कराने के लिए और पहले ही दिया जाता है।

'अनुदान' वह धन है जो किसी राजकीय विभाग या बड़ी संस्था की ओर से किसी व्यक्ति अथवा छोटी संस्था को विशिष्ट, आवश्यक तथा उपयोगी कार्य आगे बढ़ाने या चलता रखने के लिए प्रोत्साहन के विचार से और सहायता के रूप में दिया जाता है। इसमें धनराशि के कुछ अधिक होने का भाव प्रधान है, जैसे (क) इस वर्ष सरकार ने

अमुक पुस्तकालय को नई पुस्तकें खरीदने के लिए दस हज़ार रूपयों का **अनुदान** दिया है। मध्ययुग में राजा-महाराजाओं की ओर से पुरस्कार आदि के रूप में अथवा भरण-पोषण आदि के लिए जो भूमि दी जाती थी उसका अन्तर्भाव भी इसी **अनुदान** में होता है, जैसेःमुगलों के समय में उनके पूर्वजों को सात गांव **अनुदान** के रूप में मिले थे।

'परिदान' वह आर्थिक सहायता है जो राज्य की ओर से घाटे में चलनेवाले किसी उद्योग-धन्धे या व्यापार को संभाले रखने के लिए मिलती है। कभी-कभी ऐसा होता है कि कुछ उद्योग-धन्धे या व्यवसाय आर्थिक दृष्टि से देश के लिए आवश्यक और उपयोगी तो होते हैं; परन्तु आरम्भ में उनमें आर्थिक लाभ होता हुआ नहीं दिखाई देता फिर भी आशा अवश्य होती है कि आगे चलकर जब वे पुष्ट हो जाएंगे तब उनसे बहुत-कुछ आर्थिक लाभ होने लगेगा। ऐसी अवस्था में उसे तब तक समय-समय पर राज्य की ओर से कुछ धन दिया जाता है। इसका उद्देश्य यही होता है कि केवल घाटे के डर से वह उद्योग या व्यापार बन्द न हो जाए। आगे चलकर जब वह आत्मनिर्भर हो जाता और आर्थिक लाभ करने लगता है तब उसे मिलनेवाला **परिदान** भी बन्द हो जाता है।

'प्रदान' भी है तो बहुत-कुछ दान ही; फिर भी आशय, उद्देश्य, स्थिति आदि के विचार से दोनों के अर्थों में कुछ अन्तर हैं। पहली बात तो यह है कि **प्रदान** में वह धर्मवाली भावना नहीं है जो दान में है। दूसरे यह कि **प्रदान** सदा दाता के अनुग्रह या प्रसन्नता का सूचक होता है; दान की तरह उसमें दया का भाव नहीं होता। तीसरे यह कि **प्रदान** का उद्देश्य प्रोत्साहित अथवा सम्मानित करना भी हो सकता है। इसमें एक और मुख्य भाव दाता के बड़प्पन, महत्त्व या श्रेष्ठ स्थिति का भी निहित रहता है। बड़ों की ओर से छोटों को मिलनेवाले धन या वस्तुओं के सम्बन्ध में ही इसका प्रयोग होता है। हम यह तो कहते हैं - (क) सरकार अच्छे कलाकारों और साहित्यकारों को पुरस्कार, प्रमाणपत्र आदि **प्रदान** करती है; और (ख) बड़े अधिकारी अपने किसी अधीनस्थ कर्मचारी को किसी विशिष्ट कार्य के लिए अनुज्ञा **प्रदान** करते हैं। परन्तु यह कहना ठीक नहीं होगा कि (क) हमारी संस्था ने राज्यपाल महोदय को मानपत्र **प्रदान** किया; अथवा (ख) आज मैंने एक नई पुस्तक अपने बड़े भाई साहब को **प्रदान** की। ऐसे अवसरों पर **प्रदान** के स्थान पर अर्पण, भेंट आदि ऐसे शब्दों का ही प्रयोग होना चाहिए जो अधीनता या नम्रता के सूचक हों। ××

दाब- *स्त्री०* (हिं०) दे० 'दबाव और दाब'।

दायाँ- *वि०* = दाहिना। दे० 'दाहिना और बायां'।

दाम- *पु०* (सं० *दम्भ*) दे० 'मूल्य, दाम और अर्घ'।

दावा- *पु०* (अ०) दे० 'अधिकार और स्वत्व'।

123. दाहिना बायां
Right Left

ये दोनों विशेषण दो विशिष्ट और परस्पर विपरीत दिशाओं और उन दिशाओं में पड़नेवाले अंगों, पदार्थों आदि के सूचक तो हैं ही; परन्तु लाक्षणिक रूप में ये कुछ विशिष्ट पक्षों, स्थितियों आदि के भी वाचक हो गए हैं।

'दाहिना' सं० दक्षिण से बना है और इसी आधार पर यह हमारे उन अंगों, पक्षों, पार्श्वों आदि का वाचक हो गया है जो सूर्योदय की दिशा अर्थात् पूर्व की ओर मुंह करके खड़े होने पर दक्षिण दिशा की ओर पड़ते हैं; परन्तु जब हम पूर्व को छोड़कर किसी और दिशा की ओर मुंह करके खड़े होते, बैठते या लेटते-सोते हैं, तब भी हमारे वही अंग या पार्श्व दाहिने कहलाते हैं जो पूर्व की ओर मुंह करके खड़े होने पर दक्षिण दिशा की ओर होते हैं। साधारणतः लोग अपने अधिकतर काम (जैसे खाना, पीना, काटना, पकड़ना, लिखना आदि) दाहिने हाथ से ही करते हैं। शरीर शास्त्र के वेत्ताओं का मत है कि हमारे शरीर के दाहिने अंगों की पेशियां आदि अपेक्षया अधिक सक्रिय और सबल होती हैं और इसीलिए दाहिने अंग या पार्श्व भी अधिक पुष्ट और प्रौढ़ होते हैं। पहनने के कपड़ों आदि में भी उनके वही अंश दाहिने कहे जाते हैं; जो हमारे दाहिने अंगों को आवृत करते हैं, जैसे कमीज़, कुरते आदि में दाहिनी बांह; पायजामे का **दाहिना** पायंचा; या जूते का **दाहिना** पैर आदि। इसी आधार पर हम सड़क पर चलते समय अपने दाहिने हाथ के विचार से ही दाहिनी गली, दाहिनी दुकान और दाहिनी पटरी का निर्देश करते हैं। पर जब हम उसी सड़क पर से लौटकर वापस आने लगते हैं तब जिस गली, दुकान, या पटरी को पहले हमने 'दाहिनी' कहा था, वही अब हमारे लिए 'बाईं' हो जाती है और जो चीज़ें पहले 'बाईं' थीं वही अब हमारी दृष्टि में दाहिनी हो जाती हैं। परन्तु जो चीज़ें एक ही स्थान पर स्थित या स्थिर रहती हैं उनके सम्बन्ध में यह विपर्यय नहीं होता। कारण यह है कि उनका आगे या सामनेवाला पार्श्व या भाग ही उनका मुंह मान लिया जाता है; और इसी आधार पर उनकी दाहिनी और बाईं दिशाओं का निरूपण होता है, जैसे (क) पण्डित जी का मकान हमारे मकान की दाहिनी तरफ है। (ख) बगीचे के बाईं ओर बहुत बड़ा मैदान है। इसी आधार पर चित्रों; पुस्तकों आदि का जो तल हमारे सामने होता है, उसका **दाहिना** पार्श्व हमारे विचार से **बायां** हो जाता है और **बायां** पार्श्व हमारे लिए **दाहिना** हो जाता है, जैसे:अंग्रेज़ी और देवनागरी लिपियां बाईं ओर से दाहिनी ओर लिखी जाती हैं; और अरबी, उर्दू आदि लिपियां दाहिनी ओर से बाईं ओर लिखी जाती हैं। ऐसे अवसरों पर कागज़ का मुंह अपने सामने माना जाता है और उसी के दाहिने और बाएं पार्श्वों का ध्यान रखा जाता है।

दाहिने अंशों या पार्श्वों के अधिक सक्रिय और सबल होने के विचार से इसमें कुछ और आशय या विवक्षाएं भी मिल गई हैं। जब हम कहते हैं–'इस काम में वही तो हमारे दाहिने हाथ हैं। तो हमारा आशय होता है कि वही हमारे सबसे अधिक सहायक हैं। इससे और आगे बढ़ने पर किसी का हमारे दाहिने होना भी हमें सूचित करता है कि वह हमारे

अनुकूल है और उससे हमें सब कामों में यथेष्ट सहायता मिलती है, यथा:सदा भवानी दाहिने गौरी पुत्र गणेश। यहां भवानी और गणेश के दाहिने होने का आशय यही है कि उनसे हमारी कार्यसिद्धि में पूरी या बहुत सहायता मिलती है। इसी आधार पर दलों, वर्गों आदि का **दाहिना** पक्ष अनुकूल और **बायां** पक्ष प्रतिकूल माना जाता है। कुछ लोग 'बायाँ' के अनुकरण पर इसका दूसरा रूप 'दायाँ' भी बोलते और लिखते हैं।

'बायाँ' (सं० वाम) उक्त **दाहिना** का विपर्याय है; और इसीलिए ऊपर **दाहिना** के जो अर्थ बतलाए गए हैं, यह उन सबके प्रतिकूल या विपरीत अर्थों या भावों का सूचक है। हां, ऊपर 'दाहिना हाथ' पद का जो उल्लेख हुआ है उसका विपरीत भाव सूचित करनेवाला 'बायाँ हाथ' या ऐसा और कोई पद प्रचलित नहीं है। हां, बाएं का विपक्षी या विरुद्ध होने का अर्थ अवश्य प्रचलित है; परन्तु ऐसे अवसरों पर भी हिन्दी के 'बायाँ' का प्रयोग बहुत ही कम और संस्कृत वाम का ही प्रयोग होता है, यथा 'भये विधाता बाम'। अर्थात् विधाता इस समय हमारे प्रतिकूल या विरुद्ध हैं।

उक्त दोनों शब्दों के योग से हिन्दी में 'दाहिने-बाएं' पद भी प्रचलित हैं। इसके मुख्यतः तीन अर्थ हैं। एक तो दाहिने और बाएं दोनों पार्श्वों का वाचक है, जैसेःमहाराज के दाहिने-बाएं उनके सब अधिकारी और पार्षद खड़े थे। दूसरे आस-पास इधर-उधर अथवा चारों ओर, जैसेःरास्ते में दाहिने-बाएं देखकर चलना चाहिए। और तीसरा प्रयोग है किसी के दाहिने बाएं रहना या होना, जिसका अर्थ है—किसी के छिद्र या दोष ढूंढ़ते रहना या उसको तंग या परेशान करने का अवसर ढूंढ़ते रहना, यथा—

बहुरि बंदि खल-गन सति भाएं।
जो बिनु काज दाहिनेहु बाएं॥

दिलासा- *पुं०* (फ़ा०) दे० 'आश्वासन, ढारस, तसल्ली, दिलासा और सांत्वना'।

दिल्लगी- *स्त्री०* (फ़ा० *दिल*+हि० *लगना*) दे० 'हंसी, दिल्लगी, परिहास, चुहल (या चुहुल) और फबती'।

दीर्घसूत्री- *वि०* (सं०) दे० 'अहदी, आलसी, आस्कती, दीर्घसूत्री और सुस्त'।

124. दुःख — खेद — शोक

Grief — Sorrow, Regret — Dejection, Mourning

इस वर्ग के शब्द मन की ऐसी स्थितियों के वाचक हैं जो हमें प्रिय या अभीष्ट नहीं होतीं और जिनसे हम दूर रहना, पीछा छुड़ाना या बचना चाहते हैं।

'दुःख' पुं० (सं०) बहुत ही व्यापक अर्थोंवाला शब्द है और यह कई प्रकार के भौतिक, मानसिक और शारीरिक कष्टों, पीड़ाओं और यातनाओं के परिणाम या

फलस्वरूप उत्पन्न होता है। यह सुख के अभाव का सूचक और विपर्याय है।* इसका प्रयोग अपने वर्ग के सब शब्दों के सिवा इसी प्रकार के और अनेक शब्दों के स्थान पर भी व्यापक रूप से होता है। यह एक प्रकार का ऐसा मानसिक विक्षोभ है जो अप्रिय, प्रतिकूल अथवा हानिकारक होता है। है तो यह मुख्यतः मानसिक ही, पर कभी-कभी ऐसे भौतिक और शारीरिक प्रसंगों में भी इसका प्रयोग होता है, जहां वस्तुतः कष्ट या यातना का प्रयोग होना चाहिए। यह ऐसी अप्रिय, अवांछनीय और कष्टप्रद अनुभूति है जो किसी प्रकार के अपकार, आघात, दुर्घटना, दुष्कर्म, निराशा, व्याधि, हानि आदि के फलस्वरूप उत्पन्न होती है। इसे हम अनिष्ट, बुरी या विरोधी मानी जानेवाली बातों के कारण उत्पन्न विकृत मानसिक स्थिति कह सकते हैं। इसका व्यापक प्रयोग सूचित करनेवाले कुछ उदाहरण इस प्रकार हैं –

1- यह संसार अनेक प्रकार के दुःखों का घर है।

2- देश की वर्तमान दुःखावस्था देखकर सभी विचारशीलों को **दुःख** होता है।

3- मुझे **दुःख** तो इस बात का है कि आप भी उन दुष्टों की बातों में आ गये।

4- जो हो गया सो हो गया, अब उसके लिए **दुःख** करना व्यर्थ है।

5- किसी को अन्न-वस्त्र के अभाव का **दुःख** है, तो किसी को सन्तान के अभाव का।

इसके सम्बन्ध में ध्यान रखने की दो बातें और हैं। एक तो यह कि किसी को **दुःख** में देखकर और लोगों को भी **दुःख** होता या हो सकता है; दूसरे यह कि **दुःख** से हिन्दी में जो 'दुखना' क्रिया बनती है, उसमें दर्द या पीड़ा की विवक्षा ही प्रधान होती है; जैसे आंखें, पेट या सिर दुखना। लाक्षणिक रूप से इस 'दुखना' में कष्ट या व्यथा का भाव भी सम्मिलित है; जैसे किसी की अनुचित बातों से जी दुखना।

'खेद' *पु०* (सं०) को हम **दुःख** का बहुत हल्का रूप कह सकते हैं। किसी साधारण अप्रिय घटना या बात के फलस्वरूप हमारे मन में जो उदासी या थोड़ा बहुत कष्ट होता है उसी का सूचक **'खेद'** है। यह मुख्यतः व्यावहारिक और सामाजिक क्षेत्रों का शब्द है। कोई साधारण सी अनुचित बात या छोटी-मोटी भूल होने पर मन में **खेद** होता है। यदि हमसे कोई छोटी-मोटी अनुचित बात हो जाय तो हमें प्रकाश्य रूप से अपना **खेद** प्रकट भी करना पड़ता है, जैसे:मुझे इस बात का **खेद** है कि मेरी उस दिन की बातें आपको बुरी लगीं। कुछ अवसरों पर केवल औपचारिक रूप से भी **खेद** प्रकट करने की प्रथा चल पड़ी है, जैसे:मुझे इस बात का **खेद** है कि मैं आपके पत्र का उत्तर ठीक समय पर नहीं दे सका। हिन्दी में इसके स्थान पर फ़ारसी का 'अफ़सोस' भी चलता है।

---

* हमारे यहां शास्त्रकारों ने कष्ट और **दुःख** में अंतर तो माना है पर उसका निरूपण किसी और दृष्टि से किया है। उनका मत है कि कष्ट तो विशुद्ध शारीरिक है और यह ज्ञानी तथा अज्ञानी दोनों को होता है पर **दुःख** विशुद्ध मानसिक है; और अज्ञानियों को ही होता है, ज्ञानियों को नहीं होता। उन्होंने कष्ट को व्याधि के अन्तर्गत और **दुःख** को आधि के अंतर्गत रखा है।

'शोक' *पु०* (सं०) यों तो प्राचीन साहित्य में उन्हीं मानसिक स्थितियों का वाचक माना गया है जो कष्ट, पीड़ा, वेदना, व्यथा आदि से सूचित होती है। परन्तु हिन्दी में इसका प्रयोग मुख्य रूप से उस बहुत ही तीव्र **दुःख** का भाव सूचित करने के लिए होता है जो किसी परम आत्मीय, प्रिय मित्र अथवा महापुरुष की मृत्यु से होता है। इसका हिन्दी रूप 'शोग' हिन्दुओं में भी और मुसलमानों में भी उस उदासी और **दुःख** का सूचक होता है जो किसी आत्मीय के मरने पर कुछ समय तक बना रहता है और जिसमें कोई आनंद या प्रसन्नता का सूचक कोई काम नहीं होता। हिन्दी में **शोक** के स्थान पर कुछ लोग फ़ारसी के 'मातम' का भी प्रयोग करते हैं। इसीलिए पुराणों में इसे मृत्यु का पुत्र कहा गया है।

परन्तु हिन्दी में प्रायः लोग उक्त तीनों शब्दों की मुख्य विवक्षाओं का ध्यान न रखकर एक की जगह दूसरे शब्द का प्रयोग कर जाते हैं जो ठीक नहीं है। कोई लिखता है—आपके भाई की मृत्यु का समाचार सुनकर मुझे बहुत **खेद** हुआ। ऐसे अवसरों पर **'दुःख'** का प्रयोग होना चाहिए। कोई लिखता है—**शोक** का विषय है कि इधर कई महीनों से आपका कुशल समाचार नहीं मिला! ऐसे अवसरों पर **खेद** या **दुःख** का प्रयोग होना चाहिए। मुझे **दुःख** है कि मैं आपके पत्र का उत्तर कुछ देर से दे रहा हूं। ऐसे अवसरों पर **खेद** का प्रयोग होना चाहिए। कोई कहता है कि आपको इस कथन के लिए **दुःख** प्रगट करना चाहिए और अपना कथन वापस लेना चाहिए। यहां भी **खेद** का प्रयोग ही अधिक ठीक होगा; **दुःख** का नहीं।

इस वर्ग के अन्यान्य शब्दों के लिए दे० अमुक-अमुक मालाएं -1- 'कष्ट और क्लेश' 2- 'पीड़ा, यंत्रणा और यातना' 3- 'वेदना और व्यथा और' 4- 'अवसाद, उदासी, कुंठा और विषण्णता और विषाद'।

125. दुःखवाद — सुखवाद

Pessimism — Optimism

ये दोनों सांसारिक जीवन के प्रति विचारशीलों के दो विभिन्न प्रकार के और परस्पर-विरोधी दृष्टिकोणों के वाचक हैं। इनके सम्बन्ध में ध्यान रखने की मुख्य बात यह है कि ये दोनों शब्द प्राचीन भारतीय साहित्य में अथवा संस्कृत कोशों में नहीं आए हैं; इसलिए ऐसा जान पड़ता है कि ये आधुनिक आशावाद और निराशावाद (दे०) के अनुकरण पर इधर हाल में ही गढ़े गए हैं। **दुःखवाद** को हम निराशावाद का, तथा **सुखवाद** को आशावाद का विस्तृत रूप ही कह सकते हैं। हां, **दुःखवाद** और **सुखवाद** का विवेचन करते समय लोग इनका मूल प्राचीन भारतीय साहित्य तक पहुंचा देते हैं।

मनुष्य स्वभावतः दुःखों से बचना और सुख पाना चाहता है। इस जीवन में हमें कहीं बहुत अधिक दुःख और कहीं बहुत अधिक सुख दिखाई देता है। इसीलिए विचारशील यह सोचने के लिए विवश होते हैं कि दुःख क्या है और सुख क्या है, तथा

दुःखों से बचकर सुख किस प्रकार प्राप्त किया जा सकता है। उपनिषदों में कहा गया है कि जो कुछ अनित्य और नश्वर है वह सब दुःख ही है, और केवल नित्य तथा शाश्वत ही सुख है। इस प्रकार यह सारा संसार और सांसारिक जीवन दुःखमय सिद्ध होता है। गौतम बुद्ध ने यही दृष्टिकोण ठीक मानकर विरक्ति और वैराग्य का विधान किया था। परन्तु चार्वाक सरीखे अनेक प्राचीन नास्तिक विचारशीलों ने यह प्रतिपादित किया कि हमें इस संसार में आकर अधिक से अधिक सुख भोगने का ही प्रयत्न करना चाहिए। उनका यह भी मत था कि ईश्वर, परलोक आदि सब कल्पित और मिथ्या हैं; और उनके फेर में पड़कर हमें लौकिक सुखों का परित्याग नहीं करना चाहिए। यों साधारणतः देखने पर त्याग और वैराग्य में अनेक प्रकार के शारीरिक दुःख भोगने ही पड़ते हैं, इसलिए उन्होंने इन सबका तिरस्कार करना ही उचित समझा था।

परन्तु आस्तिक विचारशीलों ने यह स्थिर किया था कि दुःखों से छुटकारा पाने के लिए हमें ऐसा सादा जीवन व्यतीत करना चाहिए जिससे हम परब्रह्म या परमसत्ता में लीन हो जाएं और हमें बार-बार इस संसार में आकर अनेक प्रकार के दुःख न भोगने पड़ें। ऐसे बहुत से त्यागी और विरक्त महापुरुष अपने ऐसे ही विचारों में लीन रहकर सुख मानते थे। कुछ लोगों ने इस पर यह आपत्ति की कि त्याग और वैराग्य में जो सुख मिलता है वह वस्तुतः सुख नहीं बल्कि आनन्द है। उनका यह भी मत था कि सांसारिक सुख तो अर्थ और काम की साधना से ही प्राप्त होता है। इस प्रकार सांसारिक सुखभोग की इच्छा रखनेवाले लोग धर्म और मोक्ष की ओर से उदासीन रहते हैं। परन्तु जिन लोगों को संसार दुःखमय प्रतीत होता है वे अर्थ और काम को छोड़कर धर्म और मोक्ष की साधना में प्रवृत्त होते हैं। इस प्रकार दुःख और सुख के सम्बन्ध में जो अलग-अलग दृष्टिकोण हैं वे व्यक्तियों की अपनी निजी प्रवृत्ति और रुचि पर आश्रित होते हैं।

आधुनिक समाजवाद के प्रवर्तक मार्क्स ने जब अपने समय में यह देखा कि थोड़े से शक्तिशाली लोग अपने सुखभोग के लिए बहुत से लोगों का सांसारिक जीवन दुःखमय बना देते हैं, तब उसने सुखियों का सुख यथासाध्य कम करके दुखियों का दुःख भी कम करने का आन्दोलन चलाया था। फिर भी सुख तो सभी लोग स्वभावतः चाहते हैं, और इसीलिए वे दूसरों के दुःखों की ओर ध्यान नहीं देते। इसीलिए दुःख और सुख दोनों के उपासकों में बराबर विरोध और संघर्ष चलता रहता है। इसी आधार पर अधिक विचारशील लोग ईश्वर और धर्म की शरण लेकर शाश्वत सुख प्राप्त करना चाहते हैं। पर जब कुछ लोग ईश्वर की सत्ता ही न मानते हों तब उनके लिए लौकिक संघर्ष के अतिरिक्त और कोई उपाय नहीं रह जाता। फिर भी विचारशीलों का मत यही है कि दूसरों के दुःख कम करने के लिए हमें अपने सुखों का परित्याग करना चाहिए। ××

दुबिधा- *स्त्री०* (हिं०) दे० 'असमंजस, उभय-संकट, दुबिधा और हिचक'।

दुराचार- *पु०* (सं०) दे० 'अनाचार, कदाचार, दुराचार, भ्रष्टाचार और व्यभिचार'।

दुर्नाम- *पु०* (सं०) दे० 'अपयश, अपकीर्ति, अपवाद और कुख्याति'

दुश्मनी- *स्त्री०* (फ़ा०) 1=वैर; 2=शत्रुता, दे० 'वैमनस्य, द्वेष, शत्रुता, वैर और रिपुता'।

दूर-संचार- *पु०* (सं०) दे० 'परिवहन, यातायात, संचार, पारेषण, दूर-संचार और भू-संचार'।

दृष्टांत- *पु०* (सं०) दे० 'उदाहरण और दृष्टान्त'।

126. देखना घूरना झांकना ताकना निरखना निहारना

इस वर्ग के शब्द ऐसी क्रियाओं के वाचक हैं जो हम अपनी आंखों या दृष्टि (शारीरिक और मानसिक दोनों) से (क) किसी कार्य, घटना, वस्तु आदि का ज्ञान अथवा परिचय प्राप्त करने के लिए, (ख) अपनी जिज्ञासा या लालसा पूरी करने के लिए, अथवा (ग) किसी विशिष्ट प्रकार की मानसिक भावना से प्रेरित होकर करते हैं। यद्यपि अनेक अवसरों पर इस वर्ग से अधिकतर शब्दों का प्रयोग साधारणतः **देखना** के अर्थ में ही होता है, तथापि इन सभी शब्दों में कई प्रकार के सूक्ष्म अन्तर या भेद हैं ही।

'देखना' (सं० दृश्) सबसे अधिक प्रचलित और अर्थ की दृष्टि से बहुत व्यापक है और प्रायः अपने वर्ग के अनेक दूसरे शब्दों के समार्थक रूप में प्रयुक्त होता है। **'देखना'** का मुख्य सम्बन्ध आंखों अर्थात् देखने की इन्द्रिय से है; जैसेः उसकी आंखें खराब हो गई हैं, इसलिए वह देख नहीं सकता; अथवा (क) 'देखी राम सकल कपि सेना'; (ख) 'जहं-तहं देख धरे धनुबाना'। –तुलसी। परन्तु कुछ अवसरों पर इसका प्रयोग मानसिक रूप से ज्ञान प्राप्त करने के सम्बन्ध में अर्थात् जानने या समझने के अर्थ में भी होता है, जैसे (क) आपने देख लिया न कि वह कितना धूर्त है; अथवा (ख) जरा उनसे भी बातें करके देख लो कि वे क्या चाहते हैं। कुछ प्रसंगों में यह काल्पनिक दृष्टि के सम्बन्ध में भी प्रयुक्त होता है, जैसेः मैं अभी से देख रहा हूं कि इसका परिणाम (या भविष्य) क्या होगा। कुछ अवसरों पर यह किसी बैरी या शत्रु की कार्रवाइयों के प्रति अवज्ञा या उपेक्षा भी सूचित करता है, और इसमें उनका बदला चुकाने का भाव भी निहित होता है, जैसेः अच्छा, मैं भी देख लूंगा कि उनमें कितनी शक्ति है। इसके सिवा यह किसी बात के गुण, दोष आदि ध्यानपूर्वक समझने का भी सूचक होता है; जैसे (क) मैंने आपका लेख देख लिया है; वह ठीक है, अब छपने के योग्य हो गया है; (ख) जब तक वैद्य जी न देख लें, तब तक उसे पथ्य देना ठीक नहीं। केवल मनोरंजन के लिए और बिल्कुल तटस्थ होकर भी हम लोग बहुत-कुछ देखते हैं; जैसे तमाशा या दृश्य **देखना**। कुछ अवस्थाओं में यह किसी विशिष्ट अवस्था या दशा में रहकर उसके सुख-दुःख आदि के भोग का भी परिचायक होता है; और इस अर्थ में वह प्राणियों के अतिरिक्त निर्जीव पदार्थों के सम्बन्ध में भी प्रयुक्त होता है, जैसे (क) हमने वे दिन भी देखे हैं, जब उनके पास खाने तक का ठिकाना नहीं था। (ख) इस नगर ने कई बार अच्छे और बुरे सभी प्रकार के दिन देखे हैं। कुछ अवस्थाओं में यह नकारात्मक कथन के रूप में सहन करने के भाव का भी सूचक होता है, जैसेःहम उनके ये अत्याचार (या अनाचार) नहीं देख सकते।

'घूरना' को हिन्दी शब्द सागर में सं० घूर्णन से व्युत्पन्न बतलाया गया है। परन्तु मेरी समझ में इसका सम्बन्ध उस स्थानिक क्रिया 'हूरना' से होना चाहिए जो कदाचित्

सं० 'हू' या 'ह्वे' से व्युत्पन्न होगी। कारण यह है कि 'हूरना' और 'घूरना' में स्वर-साम्य के सिवा बहुत-कुछ अर्थसाम्य भी है। पूर्वी हिन्दी की एक कहावत है –हारे तो हूरे और जीते तो थूरे। अर्थात् जब वह हार जाता है तब भी अपना क्रोध दिखलाने के लिए गुर्राता है और जब जीत जाता है तो खूब अच्छी तरह मारता-पीटता है। 'घूरना' का पहला अर्थ है–क्रोधपूर्वक और आंखें तरेर कर इस प्रकार किसी की ओर देखना कि वह डर जाए, जैसेःवह इस तरह मुझे घूर रहा था कि मानो खा ही जाएगा। इसमें मुख्य तत्त्व किसी बुरे उद्देश्य या कुछ दूषित भाव से किसी की ओर लगातार कुछ समय तक देखते रहने का है। कदाचित् इसी से कुछ विकसित होकर इसमें दूसरा अर्थ लगा है–किसी सुन्दर स्त्री की ओर बुरी दृष्टि से बार-बार लगातार कुछ देर तक देखते रहना। इसमें मुख्य भाव आपत्तिजनक रूप में किसी की ओर देखने का है।

'झांकना' सं० अध्यक्ष (प्रा० *अज्झक्ख*) से व्युत्पन्न जान पड़ता है, जिसका अर्थ है–आंखों के सामने आना (अधिगतः अक्षं)। **'झांकना'** का प्रयोग मुख्यतः ऐसी चीज़ें देखने के सम्बन्ध में होता है, जो या तो हमारी प्रत्यक्ष या सीधी दृष्टि से किसी प्रकार ओझल हों या नीचे की ओर हों। ऐसी चीजें देखनेवाले को किसी बीचवाले अवकाश की ओर झुककर अथवा नीचे की ओर झुककर देखनी पड़ती हैं। इसी को **झांकना** कहते हैं।* जब बगल के कमरे में कुछ लोग बातें करते हैं, तब हम दरवाज़े की आड़ में से झांककर देखते हैं कि वे कौन-कौन लोग हैं। जब हमें गली में से कोई बुलाता है तब हम खिड़की से या छत पर से झांककर देखते हैं कि वह कौन है और क्या कहता है. जिसे कुत्ता काटता है, उसे लोग सात कुएं झांकने के लिए कहते हैं। उदाहरण रूप में एक पारम्परिक पूर्वी गीत भी है–'उझकि झरोखे झांके नन्दिनी जनक की'।

'ताकना' संभवतः सं० तर्कण से व्युत्पन्न है, जिसका अर्थ है–तर्क या बुद्धि के द्वारा कोई बात जानना या समझना। परन्तु हिन्दी में **'ताकना'** जिन अर्थों में प्रचलित है, वे उक्त मूल अर्थ से बहुत दूर हो गए हैं। **ताकना** में मुख्य भाव अच्छी तरह और ध्यानपूर्वक देखने का है, यथाःतमकि ताकि ताकि सिव धनु धरहीं –तुलसी। इसमें एक विशिष्ट अर्थ किसी अच्छे या बुरे भाव से देखने का भी है। पर उसमें भी ध्यान रखने का भाव ही प्रधान है, यथा 'जस कौसिला मोर भल ताका' –तुलसी। परन्तु मुख्य रूप से यह किसी की ओर बुरे उद्देश्य या दृष्टि से **देखना** ही होता है, यथाःजे ताकिहिं पर धन पर दारा। –तुलसी। बुन्देलखंड आदि कुछ स्थानों में यह रखवाली करने के अर्थ में भी प्रयुक्त होता है, जैसेःहम अभी आते हैं, तब तक हमारा सामान ताकते रहना। अर्थात् ध्यान रखना कि इसे कोई उठा न ले जाए।

'निरखना' सं० निरीक्षण के और **निहारना** सं० निभालन से बना है; फिर भी अर्थ के विचार से दोनों बहुत-कुछ एक ही हैं। साधारणतः किसी अद्भुत, मनोहर या सुखद दृश्य, वस्तु अथवा व्यक्ति की ओर टक लगाकर या ध्यानपूर्वक और प्रशंसात्मक दृष्टि से

---

* हो सकता है कि 'झांकना' का व्युत्पत्तिक सम्बन्ध इसी 'झुकना' से हो क्योंकि झांकने में मुख्य भाव कुछ झुककर देखने का ही है।

अथवा मुग्ध होकर कुछ समय तक देखते रहना ही उसे **निरखना** या **निहारना** है, यथा (क) 'पुरुष मनोहर निरखत नारी; (ख) 'निरखहिं छबि जननी तृन-तोरी' । बहुत-कुछ यही बात '**निहारना**' में भी है, जैसे (क) 'भरि-लोचन छवि-सिंधु निहारो' (ख) 'बड़ी बारि लगि रहे निहारी' । फिर भी **निरखना** और **निहारना** में कुछ सूक्ष्म अन्तर हैं । एक तो यह कि **निरखना** का प्रयोग मूर्त पदार्थों के सिवा अमूर्त तत्त्वों तथा भावनाओं आदि के सम्बन्ध में भी होता है, अर्थात यह शारीरिक और मानसिक दोनों प्रकार का होता है, यथा 'ज्ञान नयन निरखत मनमाना', परन्तु '**निहारना**' का प्रयोग केवल मूर्त पदार्थों के सम्बन्ध में और शारीरिक ही होता है, मानसिक नहीं होता । दूसरे, **निरखना** का प्रयोग तो केवल अच्छे या सरल प्रसंगों में होता है, परन्तु **निहारना** का प्रयोग इसके विपरीत या साधारण प्रसंगों मे भी होता है, यथा (क) 'आंखड़ियां झांई परी पंथ निहारि निहारि ।' –कबीर । (ख) घसि कै गरल लराइ उरोजन कपट न कोउ निहारयो ।' –सूर । (ग) 'मनहु सदोषभुजंग भामिनि विषम भांति निहारई ।' –तुलसी । (घ) 'नैनन फारि निहारती क्यों, भल देखि ले बीर खर्र अबला है ।' –बलबीर । ऐसे प्रसंगों में **निहारना** का अर्थ आंखें गड़ाकर या ध्यानपूर्वव देखना ही होता है । परन्तु प्रस्तुत प्रसंग में और विशेषतः कविताओं में इसका अर्थ होत है–कोई चीज़ अच्छी तरह देखकर उससे अवगत होना ।

इस वर्ग के अवधी, पूरबी और ब्रजभाषा के शब्दों के लिए दे० 'चाहना, चितवना, जोवना, जोहना और पेखना' ।

देह-स्वभाव- *पु०* (सं०) दे० 'प्रकृति, शील, स्वभाव और मिज़ाज' ।

127.	**दौड़ना**	**भागना**	**पलायन**
	Run	Runaway	1.Desertion 2.Escapism

इस वर्ग के शब्द साधारण से अधिक तीव्र गति या वेग से किसी ओर चलने या बढ़ने के वाचक हैं ।

'दौड़ना' हिन्दी की अकर्मक क्रिया है, जो संस्कृत 'धोरण' से व्युत्पन्न है । 'धोरण का अर्थ है–तीव्र या द्रुत गति से आगे बढ़ना । पुरानी हिन्दी और कुछ स्थानिक बोलियं में यह क्रमात् धौरना और धौड़ना रूप में प्रचलित है । हिन्दी में **'दौड़ना'** का साधारण अर्थ है–बहुत ही जल्दी-जल्दी पैर उठाते हुए और लम्बे-लम्बे डग भरते हुए तेज़ी से आगे बढ़ना । इसका प्रयोग मुख्यतः मनुष्यों और पशुओं के सम्बन्ध में होता है, जैसे (क) लड़के मैदान में दौड़ रहे हैं । (ख) बन्दर छतों पर (या हिरन जंगल में) दौड़ते फिरते हैं । इसमें अभी पहले उठाया हुआ पैर अच्छी तरह आगे की ज़मीन पर जमने नहीं पाता कि दूसरा पैर आगे बढ़ाने के लिए उठा लिया जाता है और बार-बार बहुत तेज़ी से ऐसा ही किया जाता है । इसमें मुख्य भाव आग्रह, आतुरता, उत्साह आदि से प्रेरित होकर बहुत जल्दी कहीं पहुंचने का होता है; और कुछ अवस्थाओं में किसी प्रकार की आशा या

उद्देश्य की सिद्धि अथवा प्राप्ति या लाभ का लोभ भी सम्मिलित रहता है; जैसे:यह नया तमाशा देखने के लिए लोग कोसों दूर से चलकर दौड़े आ रहे थे । इस उदाहरण में चलकर तो है ही पर साथ ही दौड़े हुए भी है जो इस बात का सूचक है कि लोग नया तमाशा देखने के लिए कितने अधीर और लालायित थे ।

इससे आगे बढ़ने पर लाक्षणिक रूप में इसका प्रयोग कुछ ऐसे जीवों, बातों और वस्तुओं के सम्बन्ध में भी होता है, जिनमें पैर होते ही नहीं; जैसे (क) मछलियां पानी में इधर-उधर दौड़ती फिरती हैं । (ख) हवाई ज़हाज बराबर हवा में दौड़ते फिरते हैं । फिर अमूर्त तत्त्वों, वस्तुओं आदि के सम्बन्ध में भी इसका प्रयोग होता है, जैसे:निगाह **दौड़ना**, मन **दौड़ना** आदि । ऐसे अवसरों पर इसका मुख्य आशय होता है– बहुत ही जल्दी किसी दूर की जगह या बात पर चट-पट जा पहुंचना ।

'भागना' संस्कृत 'भज' धातु से व्युत्पन्न है जिसके कई अर्थों में से एक है – भयभीत होकर इधर-उधर हटना या विचलित होना । है तो यह **दौड़ना** का एक प्रकार या रूप ही; परन्तु इसमें मुख्य भाव हैं–किसी तरह की आशंका या भय के कारण अथवा किसी बात से अपना पीछा छुड़ाने या बचाव करने के लिए हट कर दूर या आंखों से ओझल हो जाना; अथवा ऐसा करने का प्रयत्न करना, जैसे (क) मार के डर से लड़का घर से (या विद्यालय से) भाग गया । (ख) सिपाहियों को देखते ही चोर (डाकू) भाग खड़े हुए । ऐसे अवसरों पर कभी **'दौड़ना'** का प्रयोग न तो होता ही है और न होना ही चाहिए; हां यह अवश्य कहा जाता है–सिपाही ने चोर को दौड़ाकर पकड़ लिया । ऐसे अवसरों पर 'दौड़ाकर' की जगह 'भगाकर' का प्रयोग नहीं होता । कारण यह है कि सिपाही स्वयं दौड़कर चोर को पकड़ने के लिए आगे बढ़ा और उसे आते देखकर चोर भी बचने के लिए दौड़ा । यदि उक्त उदाहरण में 'दौड़ाकर' की जगह 'भगाकर' हो तो वाक्य का सारा अर्थ ही गड़बड़ा जाएगा । जब किसी को भगाया जाएगा तो आशय यही होगा कि उसे दूर निकाल दिया और वह पहुंच के बाहर हो गया । हां 'गांववालों ने डाकुओं को मार भगाया' प्रयोग अवश्य ठीक है क्योंकि गांववालों ने डाकुओं को पकड़ा नहीं बल्कि सीमा से बाहर कर दिया । इसी आधार पर **'भागना'** का एक और अर्थ होता है–काम से जी चुराना या उसमें मन न लगाना, जैसे:यह नया नौकर परिश्रम करने से भागता है । आशय यही होता है कि वह परिश्रम नहीं करना चाहता, परिश्रम करने से डरता है, और इसीलिए परिश्रम के कामों से दूर रहना चाहता है । इसीलिए यह कहना ठीक नहीं है– 'मुझे सामान लाने के लिए घर से चौक भगाया गया' । ऐसे अवसरों पर 'भगाया गया' की जगह 'दौड़ाया गया' का प्रयोग ही ठीक होगा । 'वह दौड़ा हुआ मेरे पास आया' और 'वह भागा हुआ मेरे पास आया' के आशयों में बहुत अन्तर है । पहले वाक्य का आशय होगा–वह अपने कार्य की आवश्यकता या तात्कालिकता समझकर बहुत तेज़ी से चलता हुआ मेरे पास आया; पर दूसरे वाक्य का अर्थ होगा कि खतरे, संकट आदि से बचने के लिए जल्दी-जल्दी और बिना कहीं रुके मेरे पास आया ।

'पलायन' *पु०* (सं०) का मूल अर्थ है–कहीं दूर जा पहुंचने के लिए बहुत तेज़ी से

दौड़ना या **भागना** । विवक्षा के विचार से यह भी है तो **'भागना'** से बहुत कुछ मिलता-जुलता शब्द; फिर भी यह एक विशिष्ट प्रकार की प्रवृत्ति या भावना से युक्त शब्द है । यह मुख्यतः लौकिक या सामाजिक व्यवहार के क्षेत्र का शब्द है । कुछ लोग अपने दैनिक जीवन के कार्यों और व्यवहारों से प्रायः बहुत अधिक उद्विग्न रहते हैं और घबराकर जैसे-तैसे उनसे बचने के लिए दूर हो जाते या भाग निकलते हैं मुख्यतः यही **पलायन** है । प्रायः लोग कारागार, सैनिक-सेवा अथवा घर-गृहस्थी की झंझटों से बचने के लिए सब कुछ छोड़-छाड़कर किसी ऐसी जगह चले जाते हैं जहां वे अपने आपको निरापद और लोगों की पहुंच के बाहर समझते हैं । उनका इस प्रकार निकल **भागना** भी **पलायन** कहलाता है । ××

दौलत- *स्त्री०* (अ०)=धन; दे० 'धन, वित्त, वैभव, सम्पत्ति और परिसंपत्ति' ।

द्वापर- *पु०* (सं०) दे० 'कल्प और युग' ।

द्विविधा- *स्त्री०* (सं०) दे० 'असमंजस, उभयसंकट, दुविधा और स्थिति' ।

द्वेष- *पु०* (सं०) दे० 'वैमनस्य, ईर्ष्या, द्वेष, शत्रुता, वैर और रिपुता' ।

128. धन / परिसंपत्ति / वित्त / वैभव / संपत्ति

Wealth / Assets / Finance / Grandeur, Splendour / Property

'धन' के संस्कृत में यों तो कई अर्थ हैं परन्तु प्रस्तुत प्रसंग में उसका मुख्य अर्थ है–मूल्यवान् पदार्थ या ऐसी चीज़ जिसका अच्छा दाम (रुपये पैसे आदि के रूप में) मिल सकता हो । तुलसीदास ने निम्नलिखित दोहे में **धन** का इसी अर्थ में इस प्रकार प्रयोग किया है –

गोधन, गजधन, बाजिधन और रतनधन खान ।
जब आवै संतोष **धन**, सब **धन** धूरि समान ।।

यहां गौओं, घोड़ों, हाथियों को तो **धन** माना ही है; संतोष तक को इसलिए **धन** कहा है कि वह मनुष्य की मानसिक शान्ति और सुख के लिए सबसे अधिक मूल्यवान् है ।

यों बोलचाल में भी लोग कहते हैं–इस गई-बीती हालत में यह मकान दस हज़ार का **धन** है । आशय यही होता है कि आज भी इसे बेचने पर दस हज़ार रुपए मिल सकते हैं । परन्तु आज-कल बोल-चाल में यह शब्द मुख्य रूप से रुपयों या सिक्कों का ही, बल्कि यों कहना चाहिए कि उनकी बहुतायत का वाचक हो गया है । जब हम कहते हैं कि उसके पास बहुत **धन** है, तो आशय यही होता है कि उसके पास हज़ारों-लाखों रुपए हैं । हिन्दी

में इसके स्थान पर अरबी के **'दौलत'** शब्द का भी प्रयोग होता है और **धन-दौलत** रूप भी प्रचलित है ।

'परिसम्पत्ति' इसी 'सम्पत्ति' में 'परि' उपसर्ग लगाकर बनाया हुआ बिल्कुल नया और हाल का शब्द है । इसकी आवश्यकता अंग्रेज़ी के एसेट्स (Assets) का समार्थक निश्चित करने के लिए हुई है । यह मुख्यतः महाजनी और लेन-देन के क्षेत्र का शब्द है । महाजनी और सरकारी चिट्ठों आदि में एक अंश या विभाग ऐसा भी होता है जिसमें यह दिखाया जाता है कि सब मिलाकर उसके पास कितने नगद रुपए हैं, दूसरी कोठियों या बैंकों में उसके कितने रुपए जमा हैं, कुल जमीन-जायदाद कितनी है, दूसरों के यहां से कितने रुपयों का पावना है आदि आदि । इन्हीं सब बातों की समूहवाचक संज्ञा **'परिसंपत्ति'** मानी गई है । यह इस बात की सूचक होती है कि आर्थिक दृष्टि से व्यक्ति, शासन या संस्था की दृढ़ता और संपन्नता कितनी है । और इसी आधार पर बाजार में उसकी साख आंकी जाती है ।

'वित्त' का मूल अर्थ है - ऐसी मूल्यवान् वस्तु जो किसी प्रकार प्राप्त की गई हो या हाथ लगी हो । परन्तु साधारण बोल-चाल में यह धन, मूल्यवान् पदार्थ और सम्पत्ति का वाचक है । परन्तु आज-कल आर्थिक और राजनीतिक क्षेत्रों में यह शब्द कुछ नया अर्थ या आशय व्यक्त करने के लिए प्रयुक्त होने लगा है । आज-कल वित्त का अर्थ माना जाने लगा है - वह साधन या स्रोत जिससे किसी राष्ट्र, व्यक्ति या संस्था को धन प्राप्त होता हो । अर्थात् यह शब्द उन सभी साधनों का सामूहिक रूप से वाचक हो गया है जिनसे आमदनी या आय होती है । इसी के साथ-साथ इसमें आय और व्यय दोनों की उचित व्यवस्था का भाव भी सम्मिलित हो गया है । किसी राज्य या शासन में जिस मंत्री के हाथ में आय-व्यय आदि के सब विभाग और व्यवस्थाएं होती हैं उन्हें इसी आधार पर वित्तमंत्री कहते हैं । जब हम कहते हैं, 'अमुक संस्था की वित्तीय अवस्था ठीक नहीं है', तो हमारा आशय यही होता है कि उसमें या तो आय और व्यय की उचित व्यवस्था नहीं होती और या यह कि उसकी स्थिति बहुत डावांडोल है और फलतः उसके बन्द हो जाने या बैठ जाने की सम्भावना है ।

'वैभव' सं० विभू से व्युत्पन्न है जिसका अर्थ है - उदित या प्रकट होना अथवा सामने आना । इसी विभू से विभव बना है जिसके अनेक अर्थों में से कुछ मुख्य अर्थ इस प्रकार हैं - बल या शक्ति, महत्ता, उच्च पद या मर्यादा धन, संपत्ति, सुख-सौभाग्य आदि । इसी विभव का भाववाचक संज्ञा रूप **वैभव** है । **वैभव** के भी बहुत कुछ वही अर्थ हैं जो विभव के हैं, और इसी लिए हिन्दी में विभव और **वैभव** एक दूसरे के पर्याय माने जाते हैं । परन्तु हिन्दी में इन शब्दों में एक विशिष्ट आशय या भाव भी लग गया है । हमारे यहां यह मुख्य रूप से व्यक्ति की ऐसी स्थिति का सूचक हो गया है जिसमें उसके पास यथेष्ट धन और सम्पत्ति दोनों हों, और साथ ही उन दोनों के उपयुक्त उसका ठाट-बाट या शान-शौकत भी स्पष्ट रूप से सबको दिखाई देती हो । अर्थात् इसमें मुख्य भाव ठाट-बाट का ही है । इसलिए इसका प्रयोग धनी-मानी व्यक्तियों और राजा-महाराजाओं के ठाट-बाट का सूचक होता है । जैसेःमहाराज का **वैभव** देखकर लोग दंग रह जाते थे ।

व्यक्तियों के सिवा इसका प्रयोग वस्तुओं के सम्बन्ध में भी होता है। ऐसे प्रसंगों में यह वस्तु की ऐसी उच्च और सम्मानित स्थिति सूचित करता है जिसका देखने सुननेवालों पर बहुत अच्छा और अधिक प्रभाव पड़ता है और जिसके फलस्वरूप वे उसे आदरणीय, आदर्श अथवा मान्य समझते हैं। जैसे भाषा या साहित्य का **वैभव**।

'संपत्ति' का मुख्य अर्थ है - किसी काम या बात का ठीक और अच्छी तरह से पूरा या संपन्न होना। इसी आधार पर इसका एक और अर्थ हो गया है - सुख सौभाग्य। परन्तु प्रस्तुत प्रसंग में और लोक-व्यवहार की दृष्टि से इसका मुख्य अर्थ है - ऐसी सभी मूल्यवान् वस्तुएं जो किसी विशिष्ट व्यक्ति के हाथ में हों और जिन पर उसे स्वामित्त्व का पूरा अधिकार प्राप्त हो। जमीन, मकान, बाग-बगीचे, कल-कारखाने या ऐसी ही जो मूल्यवान् वस्तुएं किसी एक व्यक्ति के हाथ में होती हैं वे सब उसकी सम्पत्ति कहलाती हैं। यदि किसी गरीब के पास थोड़े बहुत कपड़े, गहने, बर्तन, या रुपए हों तो भी वे सब उस गरीब की सम्पत्ति में ही गिने जाएंगे। इसीलिए कहते हैं - उस गरीब के पास सब मिलाकर चार पांच सौ रुपयों की सम्पत्ति थी। हिन्दी में इसके लिए फारसी का **'जायदाद'** शब्द भी प्रयुक्त होता है। ××

129. धनक* ऋणक
Positive Negative

इन शब्दों के विवरण और व्याख्या से सम्बन्ध रखनेवाली कुछ मुख्य बातों का उल्लेख कर देना उचित है। धन और ऋण हमारे यहां के प्राचीन गणितशास्त्र के बहुत

---

* अंग्रेज़ी के दो बहुत प्रचलित और प्रसिद्ध शब्द हैं–पॉजिटिव (Positive) और नेगेटिव (Negative)। कोई बीस वर्ष पूर्व मैंने देखा था कि हिंदी में इन दोनों शब्दों के वाचक कोई 15-16 शब्द-युग्म प्रचलित हैं। और इनकी चर्चा मैंने 'अच्छी हिंदी' में करते हुए लिखा था कि इनके लिए कोई ऐसा शब्द युग्म स्थिर होना चाहिए जो सब जगह समान रूप से काम दे सके। कोई 15 वर्ष पूर्व 'प्रामाणिक हिंदी कोश' तैयार करते समय मैंने इनके लिए 'सहिक' और 'नहिक' निरूपित किए थे, और 'शब्द साधना' तथा 'मानक हिंदी कोश' में मैंने इन्हीं को स्थान दिया था। भारत सरकार ने 1962 में जो 'वैज्ञानिक शब्दावली' प्रकाशित की थी इसमें 'पाजिटिव' के लिए–अनुकूल, अनुलोम, निश्चयात्मक, निश्चयी, प्रभावयुक्त, सकारात्मक, स्पष्ट आदि विशेषण, और 'नेगेटिव' के लिए - अभावात्मक, नकारी, निषेधात्मक, प्रतिकूल, प्रभावहीन, विलोम आदि विशेषण दिए थे। परन्तु संज्ञा रूप में केवल 'धन' और 'ऋण' का ही उल्लेख था। 1964 में उसने जो संशोधित 'विज्ञान शब्दावली' प्रकाशित की थी उसमें 'पॉजिटिव' के लिए–विशेषण रूप में 'धनात्मक' और 'सकारात्मक', तथा संज्ञा रूप में केवल 'धन' शब्द दिया है। और 'नेगेटिव' में विशेषण रूप में 'ऋणात्मक' और संज्ञा रूप में 'ऋण' ही दिया है। इसमें 'पॉजिटिव' वाले विशेषण 'सकारात्मक' का विपर्याय 'नकारात्मक' कदाचित् भूल से ही छूट गया है। परन्तु अंग्रेज़ी के उक्त दोनों शब्द अंग्रेज़ी में विशेषण और संज्ञा दोनों रूपों में एक से ही चलते हैं, और मैं भी आरम्भ से यही चाहता था कि इनके लिए जो हिंदी शब्द बनें वे विशेषण और संज्ञा दोनों रूपों में एक से रहें। विचार करने पर 'सहिक' और 'नहिक' में मुझे कई अभाव और त्रुटियां दिखाई दीं। इसलिए अब मेरा सुझाव है कि हिंदी में 'पाजिटिव' के लिए **'धनक'** का, और 'नेगेटिव' के लिए **'ऋणक'** का प्रचलन होना चाहिए। ये रूप विशेषण में भी और संज्ञा रूप में भी बराबर-बराबर चल सकते हैं, और पाठकों के लिए भी तथा लेखकों के लिए भी बहुत-कुछ सुभीते के हो सकते हैं। विद्वानों को इस विषय पर विचार करना चाहिए।

प्रसिद्ध पारिभाषिक शब्द हैं । इसमें 'पॉजिटिव' और 'नेगेटिव' के कुछ भाव तो पहले से वर्तमान हैं, और कुछ नए भावों का इनमें सहज में आरोप और समावेश किया जा सकता है।

अंग्रेज़ी के 'पॉजिटिव' (Positive) के आधार पर विशेषण रूप में **'धनक'** नीचे लिखे भावों का सूचक होगा :-

1- जो सचमुच सत्ता से युक्त हो, वर्तमान, भावयुक्त, भावात्मक।

2- जो स्पष्ट रूप से अथवा प्रमाणों के आधार पर निरूपित या स्थिर किया गया हो, जिसकी सत्यता के सम्बन्ध में कोई आपत्ति, बाधा या सन्देह न हो, ठीक और निश्चित, निश्चयात्मक।

3- (कथन या मत) जो निश्चित स्पष्ट रूप से प्रतिपादित किया गया हो, ठीक मानकर और साफ-साफ कहा हुआ।

4- दृढ़तापूर्वक माना या स्वीकृत किया हुआ, सकारात्मक।

5- गणित में शून्य की अपेक्षा अधिक जो 'धन' कहलाता है।

6- क्रमशः आगे की ओर बढ़ता या ऊपर की ओर उठता हुआ, अनुलोम।

7- जो सद्भावपूर्वक या सुधार आदि के विचार से अथवा उन्नति करने की दृष्टि से किया गया हो, रचनात्मक।

8- जो और सब बातों से अलग और पृथक् या स्वतंत्र हो, जिसमें किसी प्रकार के तारतम्य अथवा तुलना आदि का विचार न हो।

9- (प्रतिकृति या मूर्ति) जिसमें मूल के समान ही छाया या प्रकाश हो, जो उलटा न जान पड़े।

संज्ञा रूप में **'धनक'** मुख्यतः नीचे लिखे अर्थों का सूचक होगा :-

1- ऐसा कथन या बात जिसमें किसी तत्त्व, मत या सिद्धांत का निश्चित रूप से निरूपण या प्रस्थापन किया गया हो। ठीक मानकर दृढ़तापूर्वक कही हुई बात।

2- किसी विषय, निश्चय आदि का वह अंश या पक्ष जिसमें उक्त प्रकार का निरूपण या प्रस्थापन हो।

3- ऐसी प्रतिकृति या मूर्ति जिसमें मूल की छाया के स्थान पर छाया और प्रकाश के स्थान पर प्रकाश हो। ऐसी नकल जो देखने में सीधी जान पड़े, उल्टी नहीं।

4- छायाचित्र में, **ऋणक** शीशे या कागज़ पर छापी हुई वह प्रति जो मूल के ठीक अनुरूप होती है, **ऋणक** का विपर्याय।

'ऋणक', विशेषण और संज्ञा दोनों रूपों में **'धनक'** का विपर्याय है। विशेषण रूप में यह नीचे लिखी अवस्थाओं का सूचक होता है–

1- जिसमें किसी अपेक्षित या विशेष वस्तु का अभाव हो, किसी विशिष्ट तत्त्व या बात से रहित, अभावात्मक।

2- जो आधार या प्रमाण से रहित हो, जो ठीक या सत्य न माना जा सकता हो, अनिश्चयात्मक।

3- (कथन या मत) जो निश्चित रूप से प्रतिपादित या प्रस्थापित न हो सकता हो।

4- जो दृढ़तापूर्वक माना या स्वीकृत किया हुआ न हो, जिसमें 'नहीं' का भाव हो, नकारात्मक।

5- गणित में, शून्य की अपेक्षा कम, जो 'ऋण' कहलाता है।

6- जो क्रमशः पीछे की ओर हटता या नीचे की ओर गिरता या चलता हो, उसकी गति सीधी न होकर उलटी हो, विलोम।

7- जो केवल खंडन या तोड़-फोड़ आदि के विचार से कहा या किया गया हो, ध्वंसात्मक।

8- (प्रतिकृति या मूर्ति) जिसमें मूल की छाया के स्थान पर प्रकाश और प्रकाश के स्थान पर छाया हो।

संज्ञा रूप में **'ऋणक'** नीचे लिखे अर्थों का वाचक होगा–

1- ऐसा कथन जिसमें दूसरे की बात न मानी गई हो या उससे इनकार किया गया हो।

2- किसी विषय, निश्चय आदि का वह अंश, अंग या पक्ष जिसमें उसके **धनक** या सकारात्मक पक्ष का खंडन या विरोध किया गया हो।

3- ऐसी प्रतिकृति या मूर्ति जिसमें मूल की छाया के स्थान पर प्रकाश और प्रकाश के स्थान पर छाया हो।

4- छायाचित्र में, वह शीशा जिस पर किसी वस्तु का उलटा प्रतिबिम्ब या आकृति अंकित होती है और जिससे कागज़ पर उसकी सही प्रतियां छापी जाती हैं, **'धनक'** का विपर्याय।

××

130. धमनी नाड़ी शिरा स्नायु

Artery Pulse Vein Nerve

संस्कृत की ये चारों संज्ञाएं प्राणियों के सारे शरीर में फैली हुई उन छोटी-बड़ी नलियों या नालियों के जाल की वाचक हैं जिनके द्वारा रक्त का संचार होता है।

'धमनी' मुख्यतः ऐसी नलियों या नालियों की वाचक है जो अपेक्षया कुछ मोटी

होती हैं और जिनमें से फूटकर निकली हुई दूसरी छोटी और पतली नलियां या नालियां इधर-उधर फैली हुई होती हैं। हृदय की गति के फलस्वरूप शुद्ध होनेवाला रक्त इन्हीं धमनियों से शरीर के सब अंगों में पहुंचता है। पारिभाषिक दृष्टि से **'नाड़ी'** भी है तो बहुत-कुछ वही जो **धमनी** है। परन्तु लोक-व्यवहार में **नाड़ी** के साथ कई और अर्थ तथा कुछ मुहावरे भी लग गए हैं। वैद्यक में मुख्य रूप से **नाड़ी** उन नलियों की वाचक मानी जाती हैं जिनका एक सिरा दोनों कलाइयों पर और दूसरा सिरा विपरीत दिशाओं की एड़ियों के ऊपर और पैरों के पिछले भाग में होता है। वैद्यक में, कलाई पर की **नाड़ी** देखकर रोगों का निदान करने का विधान है। परन्तु पाश्चात्य शिक्षा प्रणाली में इसकी गति से होनेवाले स्पंदनों की संख्या मात्र गिनी जाती है और इन्हीं के आधार पर रोगी की शारीरिक शक्ति का पता लगाया जाता है। एड़ी के ऊपर जो मोटी **नाड़ी** होती है उसकी गति से भी वैद्य लोग यह पता लगाते हैं कि प्राण-शक्ति कितनी घट रही है। एड़ी के ऊपर की इन दोनों नाड़ियों को 'घोड़ा-नस' भी कहते हैं। मध्ययुग में भागते हुए शत्रुओं के ऊंटों, घोड़ों आदि की यह नस किसी धारदार हथियार से काट देते थे जिससे उनके शरीर का सारा रक्त बहकर निकल जाता था और वे कुछ ही देर में मर जाते थे।

अब **नाड़ी** के मुहावरे लीजिए। 'नाड़ी चलना' का अर्थ होता है—शरीर में प्राणशक्ति का वर्तमान रहना। 'नाड़ी छूटना' का अर्थ होता है शरीर से प्राण निकल जाना। 'नाड़ी देखना' का अर्थ होता है—**नाड़ी** की गति या स्पंदन देखकर रोगों का निदान करना।

हिंदी में **धमनी** और **नाड़ी** दोनों के लिए **'नस'** शब्द भी प्रचलित है। (दे० *'नस और रग'*)

धमनी या **नाड़ी** तो हृदय से शुद्ध रक्त लेकर शरीर के भिन्न-भिन्न भागों में पहुंचाती हैं; परन्तु रक्त के इस संचार के कारण जब रक्त दूषित हो जाता है तब जिन नलियों या नालियों के द्वारा वह दूषित रक्त शुद्ध होने के लिए फिर हृदय तक पहुंचता है उन्हें **'शिरा'** कहते हैं। इस अर्थ में भारत सरकार ने इसके लिए नया शब्द **'रुधिर-वाहिका'** स्थिर किया है।

इसके सिवा हमारे सारे शरीर में बहुत अधिक पतले और महीन तंतुओं का बहुत बड़ा जाल बिछा हुआ है जो एक ओर तो हमारे मस्तिष्क और मेरु-रज्जु* से संबद्ध है और दूसरी ओर हमारे शरीर के भिन्न-भिन्न अंगों से। इन्हीं तंतुओं को **स्नायु** कहते हैं। आधुनिक शरीर शास्त्र में इन तंतुओं के दो भेद कहे गए हैं - संवेदक **स्नायु** और प्रेरक **स्नायु**। ज्ञानेन्द्रियों के द्वारा होनेवाले संवेदनों का ज्ञान इन्हीं तन्तुओं के सहारे हमारे शरीर तक पहुंचता है। फिर उस ज्ञान की प्रतिक्रियाओं के रूप में मस्तिष्क जो कुछ करने का आदेश देता है वह आदेश जिन तंतुओं के द्वारा हमारी मांसपेशियों और कर्मेन्द्रियों तक पहुंचता है उन्हें 'प्रेरक स्नायु' कहते हैं। हम जितने शारीरिक व्यापार

---

* रीढ़वाले प्राणियों में पीठ की ओर गरदन से कमर तक जो एक मोटी नाड़ी होती है उसी को मेरु-रज्जु कहते हैं। स्नायु के तन्तुओं के सिरे या तो मस्तिष्क से सम्बद्ध होते हैं या इसी मेरु-रज्जु से।

करते हैं उनकी प्रेरणा हमें इन्हीं तंतुओं से मिलती है। भारत सरकार ने इसके लिए नया शब्द 'तन्त्रिका' स्थिर किया है। **स्नायु** के लिए हिन्दी में फ़ारसी का **'रग'** शब्द भी प्रचलित है। (दे० *'नस और रग'*) ××

धावा- *पु०* (हिं० *धाना=तेज़ चलना या दौड़ना*) दे० 'अभियान, आक्रमण, धावा, लाम और लामबन्दी'।

धोखा- *पु०* (सं० *द्रोध:*) दे० 'भ्रम, भ्रांति, मतिभ्रम, विभ्रम और मरीचिका'।

ध्येय- *पु०* (सं०) दे० 'उद्देश्य, ध्येय, प्रयोजन, और लक्ष्य'।

ध्येय-पत्र- *पु०* (सं०) दे० 'विज्ञप्ति, अधिसूचना, ज्ञापन, ध्येय-पत्र, परिपत्र और श्वेत-पत्र'।

ध्वनि- *स्त्री०* (सं०) दे० 'अर्थ, विवक्षा, आशय, भाव और ध्वनि'। (*दे० 'नाद, घोष और ध्वनि'*)

नजीर- *स्त्री०* (अ०) दे० 'उदाहरण और दृष्टांत'।

नतीजा- *पु०* (अ० *नतीज:*) दे० 'परिणाम और फल'।

नपना- *पु०* (हिं०) दे० 'आदर्श, प्रतिमान, प्रतिरूप, मानक और मानदंड'।

नफा- *पु०* (अ० *नफ़अ*) = लाभ; दे० 'प्राप्ति, लाभ और उपलब्धि'।

नभ- *पु०* (सं०) दे० 'अन्तरिक्ष, आकाश, व्योम और महाव्योम'।

131. नमूना बानगी
Specimen Sample

यद्यपि हमारे यहां **नमूना** और **बानगी** में अर्थ के विचार से कोई विशेष अन्तर नहीं माना जाता, पर प्रयोग के विचार से इतना ही अन्तर कहा जा सकता है कि **'नमूना'** तो लोक-व्यवहार का बहुत प्रचलित और इधर हाल का शब्द है; और **बानगी** हमारे यहां का पुराना और महाजनी बोल-चाल का शब्द है, जो बहुत-कुछ मरता हुआ सा जान पड़ता है। अंग्रेज़ी में इस वर्ग के दो मुख्य शब्द हैं - स्पेसिमेन (Specimen) और सैम्प्ल (Sample) जिनके अर्थों और प्रयोगों में कुछ सूक्ष्म अन्तर हैं। उन्हीं अन्तरों के अनुरूप अन्तर क्रमानुसार **नमूना** और **बानगी** में भी देखने में आते हैं।

'नमूना' फ़ा० नमून: का हिन्दी रूप है। फ़ारसी का नमून: 'नमू' शब्द से बना है; जिसका अर्थ है - उठ या उभरकर सामने आना। इसी नमू से फ़ारसी के नमूद (उठान, उभार) और नमूदार (उदित, दृष्टिगत, प्रकट) शब्द बने हैं। **नमूना** प्राय: एक ही प्रकार की बहुत सी चीज़ों में से निकाला हुआ एक पूरी इकाई के रूप में होता है और यह जिस राशि या वर्ग में से निकाला हुआ होता है उसके गुण, रूप-रंग, विशेषता आदि का पूरा परिचायक और प्रतिनिधि होता है। हम बंक में अपने हस्ताक्षर का जो **नमूना** भेजते हैं, वह हमारे हस्ताक्षर का कोई अंश या खंड नहीं होता। उसके प्रकार मात्र का सूचक एक

रूप होता है । प्रकाशक लोग पुस्तक-विक्रेताओं के पास अपने नए प्रकाशन की नमूने की जो प्रति भेजते हैं उसके सम्बन्ध में भी यही बात है, **'नमूना'** के अन्यान्य अर्थों के लिए दे० 'आदर्श, प्रतिमान, प्रतिरूप और मानक' ।

'बानगी' हिंदी के उस बाना (सं० वर्णः) से बना है, जिसके अर्थ हैं–(क) कुछ विशिष्ट प्रकार का पहनावा, (ख) पद, मर्यादा आदि के अनुरूप अवस्था या स्थिति, और (ग) रंग-ढंग, रीति आदि । हमारे यहां महाजनी बोलचाल में **बानगी** वह थोड़ी–सी चीज़ कहलाती है जो किसी बड़ी राशि में से निकालकर ग्राहकों को दिखाई जाती है । अनाज बेचनेवाले गेहूं , चावल आदि के बोरों में से थोड़ा-सा गेहूं या चावल निकालकर उसकी **बानगी** दिखाते हैं, और घी, तेल आदि बेचनेवाले कनस्तरों में से इन चीज़ों की **बानगी** दिखाते हैं । हम कहते हैं – 'अब ज़रा उनकी कविताओं की **बानगी** देखिए' । आशय यह होता है कि जो अंश **बानगी** के रूप में आप सामने देखते हैं उस अंश के अनुरूप ही उनकी और सब कविताएं भी हैं । इसी आधार पर हम तरह-तरह के कपड़ों के उन छोटे टुकड़ों को भी **बानगी** ही कहेंगे, जो कपड़ों के कल-कारखानेवाले अपने बड़े-बड़े ग्राहक व्यापारियों के पास उन्हें अपने यहां तैयार माल का रूप-रंग आदि दिखाने के लिए भेजते हैं । भले ही बोलचाल में ऐसे टुकड़ों को **'नमूना'** कह लेते हों, परन्तु आर्थी स्पष्टता और पार्थक्य के विचार से उन्हें **बानगी** कहना ही ठीक होगा ।

बानगी तो सदा किसी राशि का अंश या खंड होती है, इसलिए **बानगी** और मूल राशि में किसी प्रकार के अन्तर की सम्भावना नहीं होती, और इसी लिए **बानगी** देखकर चीज़ खरीदने में साधारणतः धोखे की गुंजाइश नहीं होती क्योंकि यह बात प्रायः निश्चित होती है कि किसी चीज़ की जैसी **बानगी** होगी, वैसी ही वह चीज़ भी होगी । परन्तु नमूने के सम्बन्ध में कभी-कभी धोखे की गुंजाइश हो सकती है । व्यापारी जो **नमूना** दिखलाता है, हो सकता है कि बाकी सब या कुछ चीज़ें उस नमूने के अनुरूप न हों । ××

नर-हत्या- *पु०* (सं०) दे० 'हत्या, हनन, मारण, वध और संहार' ।

नव-कल्प- *पु०* (सं०) दे० 'कल्प और युग' ।

132. नस — रग

Vein — Artery

'नस' हिन्दी की *स्त्री०* संज्ञा है जिसकी व्युत्पत्ति हिन्दी शब्दसागर में सं० 'स्नायु' से मानी गई है और जब तक कोई दूसरी समीचीन व्युत्पत्ति सामने न हो तब तक इसी को मानकर काम चलाना पड़ेगा । अर्थ की दृष्टि से यह बहुत-कुछ वही है जो हमारे शरीर की धमनी या नाड़ी है । दे० 'धमनी, नाड़ी, शिरा और स्नायु' । हिन्दी में **नस** चढ़ना, **नस** फड़कना, नस-नस भड़कना आदि जो मुहावरे प्रचलित हैं वे **'नस'** के इसी अर्थ से सम्बद्ध हैं ।

परन्तु लोक-व्यवहार में यह शब्द कुछ अवस्थाओं में हमारी क्रियात्मक और

शारीरिक शक्तियों का भी वाचक बन जाता है। जब हम कहते हैं– (क) हम तुम्हारी **नस** ढीली कर देंगे; अथवा (ख) दिन भर दौड़ते-दौड़ते इसकी **नस** ढीली हो गई; तो ऐसी अवस्थाओं में **नस** ढीली होने का आशय यही होता है कि मन का सारा आवेग या आवेश कम हो गया; अथवा कार्य करनेवाली सारी शारीरिक शक्ति मन्द पड़ गई अथवा शिथिल हो गई। इसके सिवा हम यह भी कहते हैं–हम तुम्हारी **नस** खूब पहचानते हैं। ऐसे प्रयोगों में यह शब्द मनुष्य की प्रकृति, प्रवृत्ति, मनोवृत्ति आदि का सूचक होता है।

पत्तों, पत्तियों आदि में जो कुछ मोटी, लम्बी धारियां या रेशे उभरे हुए दिखाई देते हैं उन्हें भी **नस** ही कहते हैं। इसका मूल कारण यही है कि वनस्पतियों आदि में ऐसी धारियां या रेशे भी बहुत-कुछ उसी प्रकार के काम करते हैं जिस प्रकार के काम हमारी नाड़ियां आदि करती हैं।

'रग' फ़ारसी का *स्त्री०* शब्द है जो हिन्दी में मुख्यतः स्नायु के अर्थ में बहुत प्रचलित हैं। उर्दू-फ़ारसी के कोशों में इसे धमनी या नाड़ी का भी पर्याय माना गया है। (दे० *'धमनी, नाड़ी, शिरा और स्नायु'*)

'नस' की तरह **रग** में भी कई मुहावरे लग गए हैं। जिन अवसरों पर हम 'नस-नस फड़कना' या 'नस-नस में' सरीखे प्रयोग करते हैं उन अवसरों पर **नस** के स्थान पर **रग** का भी प्रयोग होता है। परन्तु जिस प्रकार के अर्थ 'नस ढीली होना' और 'नस पहचानना' सरीखे मुहावरों में लगे हैं बहुत-कुछ उसी प्रकार के अर्थ **'रग'** में भी लग गए हैं। लाक्षणिक रूप में यह उस विशिष्ट कल्पित नाड़ी की भी वाचक है जो लोक में मनुष्य की सभी प्रकार की अनुभूतियों, चेतनाओं, संवेदनाओं आदि का आधार या केन्द्र मानी जाती है और जिसके क्षुब्ध या विकारग्रस्त होने पर मनुष्य में आवेश, क्रोध, हठ आदि का आविर्भूत होना माना जाता है। (किसी की) **रग** उतरना का अर्थ होता है–आवेश, क्रोध, हठ आदि दूर होना। और (किसी की) **रग** चढ़ना का अर्थ होता है–मन में क्रोध, हठ आदि का आवेश होना। (किसी काम या बात की) **रग** जागना का अर्थ होता है–किसी प्रकार की चेतना या स्फूर्ति उत्पन्न होना; जैसेःआपके देश प्रेम की **रग** तब जागी थी जब चारों ओर से आपका तिरस्कार होने लगा। (किसी से) **रग** दबना का अर्थ होता है–ऐसी स्थिति में होना कि बराबर किसी के दबाव या प्रभाव में अर्थात् किसी से दबकर रहना पड़े, जैसे तुम्हीं से उसकी **रग** दबती है; औरों को तो वह कुछ समझता नहीं। (किसी की) दुखती **रग** छूना का अर्थ होता है–किसी से ऐसी लगती हुई बात कहना जो उसे मार्मिक कष्ट पहुंचाती हो; जैसेःउस दिन आपने उनके अपमान की चर्चा करके तो मानो उनकी दुखती **रग** ही छू दी।

××

नसबंदी- *स्त्री०* (हिं०) दे० 'गर्भ-निरोध, गर्भ-स्राव, गर्भपात और भ्रूणहत्या'।

नहिक- *वि० पु०* (सं० *'नहि से')*= *ऋणक; दे० 'धनक और ऋणक'*।

नाड़ी- *स्त्री०* (सं०) दे० 'धमनी, नाड़ी, शिरा और स्नायु'।

133. नाद घोष ध्वनि

नाद	घोष	ध्वनि
Sound	Noise	
Voice	Slogan	

'नाद' *पु०* (सं०) का मुख्य अर्थ है – आवाज़ या शब्द । परन्तु हमारे यहां के आध्यात्मिक और दार्शनिक क्षेत्रों में इसे ब्रह्म का स्वरूप और सृष्टि का मूल प्रवर्तक माना गया है । कहा गया है कि आरम्भिक शून्य में एक प्रबल विस्फोट हुआ जिसके **नाद** से सृष्टि के आरम्भिक रूप की रचना हुई । हठ योग में कहा गया है कि मनुष्य की अन्तरात्मा में निरन्तर एक प्रकार का सूक्ष्म शब्द होता रहता है जो वस्तुतः ब्रह्म का अंश है; यह भी कहा गया है कि एकाग्रचित्त होकर बराबर अभ्यास करते रहने पर जब यह **नाद** सुनाई पड़ने लगता है, तब मनुष्य का ब्रह्म से साक्षात्कार होता है । परन्तु लौकिक व्यवहार में **नाद** का साधारण अर्थ है – ज़ोर से होनेवाली आवाज़ या शब्द; फिर चाहे वह प्रकृत कारणों से उत्पन्न हो, चाहे प्राणियों के कण्ठ से निकले; जैसे मेघनाद, शंखनाद आदि । संगीत शास्त्र में यह स्वरों का मूल आधार माना गया है । कहते हैं कि इसके चढ़ाव-उतार के विचार से इसके 22 खण्ड होते हैं; जिनमें से प्रत्येक को 'श्रुति' कहते हैं । कई-कई श्रुतियों के योग से सा, रे, ग, म आदि सात स्वर बनते हैं । फिर भी इसका प्रचलित और साधारण अर्थ ज़ोर से होनेवाली आवाज़ या शब्द ही है ।

'घोष' *पु०* (सं०) का मूल अर्थ है – बहुत से कंठों से निकलनेवाली ज़ोरों की आवाज़ या शब्द;जैसे युद्ध में होनेवाला वीरों का **घोष** । किसी शुभ अवसर पर अथवा विजय या सफलता मिलने पर होनेवाला जयघोष । यह प्रायः कठोर, कर्कश और तीव्र होता है । इसके स्थान पर प्रायः फ़ा० **शोर** का भी प्रयोग होता है ।

आज-कल इसका प्रयोग एक नए अर्थ में भी होने लगा है । प्रायः किसी दल या वर्ग के लोग अपने मत या विचार का जन-साधारण में प्रचलन या प्रचार करने के लिए एक दो छोटे-मोटे पद या वाक्य बना लेते हैं और चारों ओर ज़ोर-ज़ोर से उन्हीं की पुकार मचाते हुए घूमते भी हैं और सभा-समाजों में उन्हीं की पुनरावृत्ति भी करते हैं । उद्देश्य होता है लोगों का ध्यान अपने आन्दोलन की ओर आकृष्ट करना और उनकी सहानुभूति प्राप्त करना । ऐसे पदों या वाक्यों को भी अब **घोष** कहने लगे हैं । इसके स्थान पर **नारा** (*अ० नऽरः*) का भी विशेष रूप से प्रयोग होता है ।

'ध्वनि' *स्त्री०* (सं०) का व्याकरण की दृष्टि से भी मूल अर्थ आवाज़ या शब्द ही है, परन्तु प्रयोग की दृष्टि से यह **नाद** और **घोष** दोनों से बहुत भिन्न है । **ध्वनि** ऐसे अव्यक्त शब्द को कहते हैं जो कोमल, मधुर तथा सुस्वर हो– उसका रूप संगीतात्मक हो, जैसेः समीर चलने पर नदी के प्रवाह की कल-कल **ध्वनि**; बीन, सितार आदि बाजों के तारों से झंकार के रूप में निकलनेवाली **ध्वनि** आदि । यों साधारण हलकी आवाज़ या शब्द को भी **ध्वनि** शब्द कहते हैं; जैसे- वह पद-ध्वनि मेरी पहचानी । ऐसे अवसरों पर **ध्वनि** के स्थान पर **'नाद'** या **'घोष'** का प्रयोग नहीं हो सकता । तुरही, नरसिंघे आदि का **नाद** होता है,

मृदंग आदि का **घोष** और मुरली, वीणा आदि की **ध्वनि**। साहित्यिक क्षेत्र में **ध्वनि** का जो विशिष्ट अर्थ है, उसके लिए दे० – 'अर्थ, आशय, **ध्वनि** और विवक्षा'। ××

नाभि- *स्त्री०* (सं०) दे० 'केन्द्र, उत्केन्द्र और नाभि'।

नाभिक अस्त्र- *पु०* (सं०) दे० 'केन्द्र, उत्क्रेन्द्र और नाभि'।

134. नाम उपनाम पदनाम संज्ञा सुनाम

Name Alias Designation Appellation Goodwill

Pen-name Noun

यद्यपि **'नाम'** और 'संज्ञा' दोनों एक दूसरे के बहुत-कुछ पर्याय माने जाते हैं और अभिधार्थ की दृष्टि से हैं भी प्रायः समान ही; फिर भी दोनों में कई सूक्ष्म अन्तर हैं।

नाम (सं० *नामन्*) बहुत ही सीधा-सादा और हलका शब्द होने के कारण भारत की सभी बोलियों और भाषाओं में बहुत-कुछ एक ही अर्थ में प्रचलित तथा प्रसिद्ध तो है ही, फ़ा० तक में यह इसी रूप और अर्थ में चलता है। **'संज्ञा'** मुख्यतः व्याकरण तथा कुछ विशिष्ट शास्त्रों का पारिभाषिक शब्द है; और इसीलिए इसका प्रचलन तथा व्यवहार शिक्षित तथा सभ्य वर्गों तक सीमित है। **नाम** का प्रयोग मुख्यतः दो उद्देश्यों से होता है, एक तो विशिष्ट वस्तु या व्यंक्ति का अभिज्ञान या पहचान कराने के लिए और दूसरा पुकारने या बुलाने अथवा बातचीत के समय किसी अप्रस्तुत वस्तु या व्यक्ति की ओर संकेत करने के लिए। इसके विपरीत संज्ञा का मुख्य उद्देश्य होता है किसी गुण, धर्म, वर्ग, वस्तु, व्यष्टि या समूह का संज्ञान अर्थात ठीक और पूरा ज्ञान कराने अथवा उसका स्वरूप बतलाने के लिए। एक और अन्तर यह भी है कि लोक-व्यवहार में बहुत प्रचलित होने के कारण **नाम** के अर्थों और प्रयोगों का बहुत कुछ पल्लवन या विकास हुआ है और उसमें कई प्रकार के मुहावरे आदि भी लग गए हैं परन्तु संज्ञा के अर्थों का केवल शास्त्रीय वर्गीकरण या विवेचन होकर ही रह गया है।

अब हम कुछ उदाहरण देकर दोनों के अर्थो का अन्तर स्पष्ट करना चाहते हैं। धातु , पुस्तक, वृक्ष आदि तो संज्ञाएं हैं परन्तु तांबा, पीतल और लोहा धातुओं के **नाम** हैं। गीता, रामायण, महाभारत आदि पुस्तकों के **नाम** हैं और आम, पीपल, महुआ आदि वृक्षों के **नाम**। हम कहते हैं – योगेश्वर कृष्ण, धर्मराज युधिष्ठिर और मर्यादा-पुरुषोत्तम राम इनमें कृष्ण, युधिष्ठिर और राम तो **नाम** हैं; क्योंकि वे विशिष्ट व्यक्तियों का अभिज्ञान या पहचान कराते हैं परन्तु योगेश्वर, धर्मराज और मर्यादा-पुरुषोत्तम उनकी संज्ञाएं हैं क्योंकि इनसे उनके गुणों का संज्ञान होता है - परिचय मिलता या स्वरूप स्पष्ट प्राप्त होता है। कभी-कभी ऐसी संज्ञाएं **नाम** का ही काम देने लगती है, जैसे आज-कल देशबन्धु कहने से स्वर्गीय चितरञ्जन दास का और लोकमान्य कहने से स्वर्गीय बालगंगाधर तिलक का सहज में बोध होता है। **नाम** बहुत ही सार्विक शब्द है और उसका प्रयोग सभी प्रकार की कल्पित और वास्तविक वस्तुओं, व्यक्तियों आदि की विशिष्ट तथा स्वतंत्र सत्ता सूचित

करने के लिए होता है। अर्थात् इसमें मुख्य भाव औरों से पार्थक्य सूचित करने का है। क्रोध, धैर्य, साहस आदि व्याकरण की दृष्टि से हैं तो भाववाचक संज्ञाएं ही, फिर भी जब हम किसी व्यक्ति को बहुत बड़ी वीरता (या साहस) का काम करते हुए देखते हैं तब हम कहते है – इसका **नाम** वीरता (या साहस) है। ऐसे अवसरों पर बात यही होती है कि हम उस वीरता (या साहस) को एक विशिष्ट व्यक्तित्व का रूप देते हैं – मानो उसका मानवीकरण करते हैं। क्रिया-प्रयोग के विचार से **नाम** और संज्ञा में एक अन्तर यह भी है कि **नाम** तो पड़ता या रखा जाता है, और संज्ञा दी और मानी जाती है।

'नाम' मुख्यतः वह पद या शब्द है जिससे कोई भाव, वस्तु या व्यक्ति लोक में प्रसिद्ध होता है। हर आदमी या चीज़ का **नाम** इसीलिए रखा जाता है कि उसकी ठीक पहचान हो सके। साधारणतः **नाम** सुनते ही उस आदमी या चीज़ का सारा स्वरूप या उसके सम्बन्ध की और बातें ध्यान में आ जाती हैं। प्रयोगों तथा मुहावरों के विचार से यह कई विशिष्ट बातों और स्थितियों का बोधक होता है। लोग अच्छे और बुरे सभी तरह के काम करते हैं और उन कामों की चर्चा कर्ताओं के **नाम** के साथ ही होती है। इसलिए यह ख्याति और प्रसिद्धि अथवा कुख्याति या कुप्रसिद्धि का भी प्रतीक या वाचक हो गया है। बड़ों का **नाम** उछालना, स्वयं **नाम** कमाना, **नाम** गंवाना, **नाम** पाना आदि मुहावरे इसी ख्याति या प्रसिद्धि से सम्बद्ध हैं। अपने **नाम** के लिए कोई काम करना, **नाम** के लिए मरना, **नाम** चमकना, **नाम** जगना या जगाना, **नाम** तक मिट जाना या न रह जाना आदि मुहावरे तो कीर्ति या प्रसिद्धि से सम्बद्ध हैं; और किसी का **नाम** धरना, अपना **नाम** धराना आदि मुहावरे कुख्याति, कुयश आदि के सूचक हैं। अपराध, दोष आदि के अभियोग के संबंध में किसी का **नाम** लगना और 'किसी का **नाम** लगाना' आदि मुहावरे भी लोक-प्रचलित हैं।

प्रायः आस्तिक लोग ईश्वर या अपने उपास्य देवता के **नाम** का जप करते हैं। इसलिए कुछ अवस्थाओं में यह ईश्वर या देवी-देवता के रूप में भी प्रयुक्त होता है; जैसे नाम की महिमा अपरंपार है। ऐसे अवसरों पर यह ईश्वर या देवी-देवताओं का सूचक होता है। हम कहते हैं – भगवान का नाम लेकर चल पड़ो। आशय यही होता है कि भगवान पर विश्वास और श्रद्धा रखकर कार्य आरम्भ कर दो। इसी आधार पर एक और मुहावरा बन गया है – किसी का नाम जपना। इसका आशय यही होता है कि श्रद्धाभक्तिपूर्वक बराबर स्मरण करते रहना। परन्तु लोक-व्यवहार में कभी-कभी शृंगारिक क्षेत्र में भी इसका प्रयोग देखने में आता है; जैसेः जब देखो तब वह अपनी प्रेमिका का नाम जपता ही दिखाई देता है। आशय यह होता है कि वह प्रायः अपनी प्रेमिका की ही चर्चा और ध्यान करता रहता है।

'नाम' किसी वस्तु या व्यक्ति का वाचक मात्र होता है; स्वयं उस वस्तु या व्यक्ति से उसका कोई तात्विक सम्बन्ध नहीं होता। यह उस वस्तु या व्यक्ति की केवल सत्ता का सूचक होता है अथवा यह सूचित करता है कि उसे जो कुछ कहा या दिया गया है, वह नामधारी के उद्देश्य या हेतु मात्र से है। इसीलिए व्यापारिक क्षेत्रों में यह उस अंश या पक्ष का भी वाचक हो गया है, जिसमें किसी को दी हुई या किसी के ज़िम्मे लगाई हुई कोई

चीज़ या रकम लिखी जाती है, जैसे (क) ये चारों साड़ियां नारायणदास के नाम लिख लो; (ख) पुरुषोत्तमदास के नाम अभी हज़ार रूपए बाकी पड़े हैं; और (ग) उन्होंने वह मकान अपने भतीजे के नाम कर (या लिख) दिया है। किसी के नाम से खाता खोलना या किसी के नाम से ज़मीन खरीदना अथवा पितरों के नाम पर दान देना आदि प्रयोग भी इसी अर्थ के अन्तर्गत आते हैं।

कुछ अवस्थाओं में यह किसी तत्त्व या बात की बहुत ही अल्पता अथवा पूरे अभाव का भी सूचक होता है, जैसे (क) इस तरकारी (या दाल) में नमक का तो नाम ही है; अर्थात् नमक बहुत ही कम है; (ख) मन्दिरों और मस्जिदों में तो ईश्वर का या खुदा का नाम ही होता है; अर्थात् उनमें ईश्वर या खुदा का वास्तविक निवास नहीं होता, और (ग) वह तो नाम करने के लिए ही हमारे यहां आये थे; अर्थात् न तो उन्होंने यहां आकर काम की कोई बात की और न कुछ देर तक यहां ठहरे ही।

हम प्रायः कहते हैं – अजी नाम में क्या रखा है ? आशय यही होता है कि नाम और नामी में कोई अटूट या अभेद्य सम्बन्ध नहीं होता; जो सम्बन्ध होता है वह सांकेतिक मात्र है। उदाहरण के लिए गुलाब में जो रंग-रूप और सुगन्ध है वह तो बराबर चली आ रही है, और आगे भी चलती ही रहेगी; अब आप चाहे उसे गुलाब कहा करें, और चाहे कबाब। हां, यदि किसी के नाम के अनुरूप उसका कोई अच्छा या बड़ा काम दिखाई पड़े तो इसे लोग अवश्य एक नई और विलक्षण बात मानते हैं; और उसकी प्रशंसा करते हुए कहते हैं–वह तो यथा नाम तथा गुण है। अथवा यदि संयोग से कोई अपने नाम के अनुरूप कुछ बड़ा काम कर दिखलाए तब कहते हैं- वाह, उसने अपने नाम की लाज रख ली, अथवा अपना नाम सार्थक कर दिखाया।

'उपनाम' का साधारण अर्थ है – ऐसा छोटा या संक्षिप्त नाम जिसका व्यवहार पूरे नाम के स्थान पर होता हो। यह मुख्यतः व्यक्तियों का ही होता है; गुणों, तथ्यों, वस्तुओं आदि का नहीं। लोक में यह दो प्रकार का देखने में आता है। प्रायः लोग अपने बच्चों का पूरा नाम तो कुछ और रखते हैं, परन्तु उन्हें बुलाने आदि के लिए उनका कोई छोटा नाम भी रख लेते हैं, जैसे:यदि किसी का नाम मनोहरलाल हो, तो बाल्यावस्था में घर के लोग उसे मुन्नू कहकर पुकारते हैं। यही व्यक्ति बड़ा होने पर भी कभी तो मुन्नू ही बना रहता है; और कभी मुन्नू बाबू बन जाता है। यही **उपनाम** का पहला प्रकार है। दूसरा प्रकार वह है कि जिसमें अधिकतर कवि लोग और कभी कुछ लेखक भी अपने वास्तविक नाम के स्थान पर अपने काव्यों, लेखों आदि में किसी दूसरे कल्पित छोटे या नए नाम का व्यवहार करते हैं, जैसे:स्वर्गीय पंडित अयोध्यासिंह उपाध्याय का **उपनाम** 'हरिऔध' था। आज-कल भी कुछ गद्य-लेखक अपने नाम के स्थान पर चाणक्य, चार्वाक, दुर्वासा, भारतीय आत्मा सरीखे अनेक उपनामों का प्रयोग करते हुए देखे जाते हैं।

'पदनाम' का अभिधार्थ ही है – किसी पद या ओहदे का नाम। आज-कल प्रशासनिक, राजनीतिक आदि क्षेत्रों और सार्वजनिक संस्थाओं में कुछ पद या ओहदे होते हैं जिनके कुछ विशिष्ट नाम होते हैं; जैसे – प्रशासक, राजदूत, राज्यपाल, राष्ट्रपति

आदि । ये सब पदों या ओहदों के ही नाम हैं और इसीलिए इन्हें **पदनाम** कहते हैं । **मंत्री**, सभापति, सचिव आदि भी इसी प्रकार के **पदनाम** हैं । जो लोग इन पदों पर आसीन या नियुक्त होते हैं वे प्रायः इन्हीं पदनामों से अभिहित होते हैं ।

'संज्ञा' के सम्बन्ध में प्रायः सभी मुख्य बातें ऊपर बतलाई जा चुकी हैं । यहां इतना ही बतला देना आवश्यक है कि **संज्ञा** में नाम का अन्तर्भाव तो हो जाता है; परन्तु साधारण प्रयोग या व्यवहार की दृष्टि से **उपनाम** और **पदनाम** का उसमें अन्तर्भाव नहीं होता । व्याकरण में **संज्ञा** और उसके भेदों का जो विचार होता है उसका उल्लेख यहां इसलिए अनावश्यक है कि साधारण शिक्षित वर्ग पहले से ही उससे परिचित हैं ।

उदाहरणार्थ गाएं, घोड़ा और हाथी संज्ञाएं ही हैं, नाम नहीं । हां उनके मालिक गऊ का नाम गंगा, घोड़े का नाम जवाहिर या हाथी का नाम दलपति आदि रख लेते हैं । विष्णु के चक्र **(संज्ञा)** का नाम सुदर्शन, श्री कृष्ण के शंख **(संज्ञा)** का नाम पांचजन्य और शिवा जी की तलवार **(संज्ञा)** का नाम भवानी था । इसीलिए व्याकरण में जातिवाचक **संज्ञा** और नामवाचक **संज्ञा** का भेद किया गया है ।

'सुनाम' *पु०* (सं०) का शब्दार्थ है – अच्छा नाम; अर्थात् ऐसा नाम, ख्याति या प्रसिद्धि जिसके साथ अच्छी कीर्ति या यश लगा हो, जैसे:उन्होंने देश सेवा में **सुनाम** प्राप्त किया था । परन्तु अब व्यापारिक, व्यावसायिक आदि क्षेत्रों में इसका प्रयोग अंग्रेज़ी के (Goodwill)* का आशय प्रकट करने के लिए होने लगा है, और यह उक्त अंग्रेज़ी शब्द का समार्थक बन गया है । प्रायः ऐसा होता है कि कुछ लोग अपना कल-कारखाना, कोठी, दुकान या ऐसी ही कोई व्यावसायिक संस्था किसी दूसरे के हाथ बेच देते हैं । इस प्रकार बेची जानेवाली चीज़ों में दो बातें अलग-अलग मानी जाती हैं । एक तो उसका सारा सामान; और दूसरी कीर्ति, प्रसिद्धि और सांख जो उसके प्रसिद्ध नाम के साथ लगी होती है और जिसके फलस्वरूप उसे जन-साधारण में लोक-प्रियता, विश्वास तथा संरक्षण प्राप्त होता है । यही दूसरा तत्त्व उस अधिष्ठाता या संस्था का **सुनाम** कहलाता है । बेचनेवाला कभी तो खाली सारा सामान बेचता है; और कभी उसके साथ उसका **सुनाम** भी बेच देता है, कभी-कभी सारा सामान अपने पास रखकर केवल **'सुनाम'** बेचा जाता या बेचा जा सकता है । खरीदनेवाले को सामान का दाम तो देना ही पड़ता है परन्तु यदि वह उसके साथ संस्था का **'सुनाम'** भी खरीदता हो तो इसके लिए उसे कुछ अलग धन भी देना पड़ता है और विधिक दृष्टि से उसके **'सुनाम'** का अधिकार भी प्राप्त करना पड़ता है । ××

नारा- *पु०* (अ० *नऽरः*) दे० 'नाद, घोष, ध्वनि और लय' ।

---

* एक और क्षेत्र में (Good will) का अर्थ होता है – सद्भाव । यह दो या अधिक दलों, पक्षों, व्यक्तियों आदि में परस्पर होनेवाली मित्रता और सौजन्यपूर्ण आचरण तथा व्यवहार का सूचक होता है । इससे यह भी सूचित होता है कि हम लोग एक दूसरे का भला चाहते हैं और उनकी उन्नति तथा प्रगति में सहायक होने के लिए उत्सुक हैं । इसी आधार पर कहा जाता है – भारत का एक शिष्ट मंडल अफ्रीका के अनेक देशों में सद्भाव यात्रा पर जा रहा है ।

निगम- *पु०* (सं०) दे० 'संस्था, संस्थान, प्रतिष्ठान और निगम'।

निदेश- *पु०* (सं०) दे० 'आज्ञा, आदेश, निदेश और निर्देश'।

135. निधि — गोलक — न्यास

Fund — Pool — Trust

इस वर्ग के शब्द ऐसी धनराशि के वाचक हैं; जो किसी विशिष्ट उद्देश्य से या निश्चित कार्य के लिए एकत्र की जाती अथवा सुरक्षित रखी जाती है।

'निधि' *स्त्री०* सं० निधान से सम्बद्ध है जिसके अर्थ हैं—रखना, इकट्ठा जमा करना और सुरक्षित रखना आदि। इसी आधार पर प्रस्तुत प्रसंग में **निधि** का अर्थ है—ऐसी धन राशि जो किसी विशेष उद्देश्य से इकट्ठी करके एक जगह इसलिए रखी गई हो कि आवश्यकता पड़ने पर उसमें से धन निकाल कर दिया या व्यय किया जा सके, जैसे:गांधी स्मारक निधि=वह **निधि** जो गांधी जी का स्मारक बनाने के लिए इकट्ठी करके एक जगह रखी हुई हो। इसी प्रकार राज्यों और बड़ी-बड़ी संस्थाओं के कर्मचारियों के लिए 'निर्वाह-निधि' होती है जिसमें कुछ अंश तो कर्मचारियों के वेतन में से समय-समय पर काट कर अलग रखा जाता है और कुछ अंश राजकीय विभाग या संस्थाएं भी अपनी ओर से मिला देती हैं। जब कर्मचारी अस्वस्थ या वृद्ध होने के कारण काम करने के योग्य नहीं रह जाते अथवा उन पर कोई विपत्ति या संकट आता है तब इस **निधि** में से ही उन्हें धन दिया जाता है।

अपने परवर्ती और विकसित अर्थ में यह शब्द ऐसे आधान, आधार या पात्र का भी वाचक है जिसमें कोई गुण या द्रव्य यथेष्ट मात्रा में वर्तमान हो, जैसे गुण-निधि, जल-निधि, दया-निधि आदि। और आगे चलने पर यह ज़मीन में गाड़ कर रखी हुई बहुत बड़ी धनराशि का भी सूचक होता है।

'गोलक' *पु०* (सं०) का प्रारम्भिक अर्थ है किसी प्रकार का गोल अथवा गोलाकार पिंड। इसी आधार पर इसके कई अर्थ हो गए हैं, जैसे:आंख का डेला या पुतली; मिट्टी का घड़ा आदि। आगे चलकर यह शब्द उस थैली या संदूक का भी वाचक हो गया जिसमें (क) दुकानदार लोग रोज़ की बिक्री के रुपए आदि रखते हैं; और (ख) देहातों आदि में लोकोपकारी अथवा सार्वजनिक कामों के लिए चंदा इकट्ठा करके रखते हैं। इस अर्थ में अधिकतर स्थानों में इसका स्थानिक रूप 'गुल्लक' प्रचलित है।

परन्तु प्रस्तुत प्रसंग में **गोलक** ऐसी धनराशि या **निधि** का वाचक है जिसमें बहुत से लोग अपनी इच्छा से अथवा अपने हिस्से के अनुसार कुछ रकम जमा करते हैं; और तब निश्चित नियमों के अनुसार आवश्यकता पड़ने पर अथवा दूसरों को देने के लिए उसमें से धन निकालते हैं। धन के सिवाय **'गोलक'** में अन्न आदि या ऐसे ही और कुछ पदार्थ इकट्ठा करके रखे जाते हैं। उदाहरणार्थ—यदि हमारे यहां सभी देशों या राज्यों से थोड़ा- थोड़ा गेहूं या चीनी इकट्ठी करके इस लिए रखी जाए कि जब जिस देश या राज्य

को विशेष आवश्यकता हो तब उसमें से कुछ अंश उसे दिया जाए, तो ऐसे भंडार को **'गोलक'** कहेंगे।

यह शब्द है तो वस्तुतः *पु०* ही, परन्तु लोक-व्यवहार में इसका प्रयोग प्रायः *स्त्री०* रूप में ही देखने में आता है।

'न्यास' *पु०* (सं०) का पहला और मौलिक अर्थ है कोई चीज़ किसी जगह अच्छी तरह बैठा या संभालकर रखना या स्थापित करना। परन्तु प्रस्तुत प्रसंग में यह उस स्थिति का वाचक है जिससे कोई व्यक्ति अपना कुछ धन या संपत्ति किसी एक या कई व्यक्तियों को इसलिए सौंप देता है कि वे आगे चलकर दाता की इच्छा के अनुसार उसका उपयोग, व्यय और व्यवस्था करें। ऐसा इसी उद्देश्य से किया जाता है कि धन या संपत्ति व्यर्थ नष्ट न होने पाए और उद्दिष्ट कार्यों में लगे। इस प्रकार की व्यवस्था अपने उत्तराधिकारियों के भरण-पोषण, दान, धर्म, लोकोपकारी कार्यों आदि की सहायता के विचार से की जाती है। विधिक दृष्टि से जिस व्यक्ति या जिन व्यक्तियों को इस रूप में धन-संपत्ति सौंपी जाती है उसकी व्यवस्था का तो उन्हें पूरा अधिकार होता है; पर साथ ही उनका यह कर्तव्य हो जाता है कि वे उसे नष्ट न होने दें और उसका उपयोग दाता की इच्छा के अनुरूप ही करें।

निमित्त कारण–*पु०* (सं०) दे० 'कारण और हेतु' के अन्तर्गत 'कारण'।

नियंत्रण–*पु०* (सं०) दे० 'अंकुश नियंत्रण, संयम और संवरण'

नियति–*स्त्री०* (सं०) = विधि; दे० 'विधि, विधान और संविधान'।

निरंकुश–*वि०* (सं०) दे० 'अंकुश नियंत्रण और संयम'।

निरखना–स० क्रि० (सं० *निरीक्षण*) दे० 'देखना, घूरना, झांकना, ताकना, निरखना और निहारना'।

निराला–*वि०* (हिं०) दे० 'अनूठा, अनोखा और निराला'।

निराशावाद–*पु०* (सं०) दे० 'आशावाद और निराशावाद'।

निरीक्षक–*पु०* (सं०) दे० 'निरीक्षण, अधीक्षण, पर्यवेक्षण, पुनरीक्षण, संप्रेक्षण और सर्वेक्षण'।

136. निरीक्षण — अधीक्षण — पर्यवेक्षण — पुनरीक्षण — संप्रेक्षण — सर्वेक्षण

निरीक्षण	**अधीक्षण**	**पर्यवेक्षण**
Inspection	Superintendence	Supervision
पुनरीक्षण	**संप्रेक्षण**	**सर्वेक्षण**
Review	Observation	Survey

इस वर्ग के शब्द सं० ईक्षण में अलग-अलग उपसर्गों के योग से बने हैं और कुछ विशिष्ट क्षेत्रों में कामों या बातों को ध्यानपूर्वक अथवा कुछ विशिष्ट उद्देश्य या दृष्टि से देखने के वाचक हैं।

'निरीक्षण' *पु०* (सं०) का साधारण अर्थ देखना है। इसी से हिंदी की निरखना क्रिया बनी है। जिसका अर्थ है चकित या मुग्ध होकर देखना।* परन्तु आज-कल पारिभाषिक क्षेत्रों में इसके साथ कुछ विशिष्ट अर्थ लग गए हैं। प्रशासनिक क्षेत्र में उच्च अधिकारी अपने अधीनस्थ कर्मचारियों के कामों का इस दृष्टि से **निरीक्षण** करते हैं कि कर्मचारी लोग अपने कर्तव्यों का ठीक तरह से पालन करते हैं या नहीं और उनके काम ठीक या पूरी तरह से हो रहे हैं या नहीं। इस प्रकार का **निरीक्षण** करनेवाला अधिकारी 'निरीक्षक' कहलाता है। इसके सिवाय कुछ बड़े-बड़े बाहरी लोग भी कभी-कभी किसी कार्यालय या विभाग का इस दृष्टि से **निरीक्षण** करने जाते हैं कि वहां किस तरह और कैसे-कैसे काम होते हैं। इस प्रकार के **निरीक्षण** करनेवाले लोग साधारण दर्शकों के ही रूप में होते हैं और उन्हें कामों की विशेष रूप से जानकारी ही कराई जाती है।

'अधीक्षण' *पु०* भी प्रशासनिक क्षेत्र का शब्द है; और यह **निरीक्षण** के कार्य से ऊँचा और बड़ा होता है। अधीक्षण करनेवाला अधिकारी (अधीक्षक) कार्यालय या विभाग के कामों की देख-भाल तो करता ही है; साथ ही वह उसका प्रबन्ध या व्यवस्था भी करता है। और सब प्रकार के कार्यों का उचित रूप से संचालन भी करता है।

'पर्यवेक्षण' *पु०* (सं०) कार्य और व्यवहार की दृष्टि से है तो **अधीक्षण** और **निरीक्षण** की तरह का ही शब्द परन्तु अधिकार, क्षेत्र और मर्यादा के विचार से इसका स्थान दोनों से कुछ नीचे पड़ता है। इसमें अधीनस्थ और निम्न वर्ग के कार्यकर्त्ताओं के कामों की दैनिक देखभाल, साधारण व्यवस्था और संचालन का ही अन्तर्भाव होता है।

'पुनरीक्षण' (*पुं०*) का शब्दार्थ है फिर से या दोबारा देखना परन्तु पारिभाषिक क्षेत्र में यह किसी काम को जांचने के लिए फिर से देखने के अर्थ में प्रचलित है। परन्तु विधिक क्षेत्र में इसका एक विशिष्ट अर्थ होता है। जब एक बार किसी मुकदमे का न्यायालय में कोई निर्णय हो चुकता है तब उससे असन्तुष्ट वादी या प्रतिवादी को यदि उसमें कोई त्रुटि दिखाई पड़ती है, तब वह न्यायालय में उसके **पुनरीक्षण** की प्रार्थना करता है। आशय यही होता है कि न्यायालय फिर से ध्यानपूर्वक इस विषय पर विचार करे और निर्णय की त्रुटि दूर करे।

'संप्रेक्षण' *पु०* (सं०) का शब्दार्थ होता है– अच्छी तरह और ध्यानपूर्वक देखना। परन्तु प्रस्तुत प्रसंग में यह कुछ और अधिक विस्तृत अर्थ का सूचक होता है। हमारे सामने अनेक प्रकार की कार्य घटनाएं, प्रक्रियाएं, वाद-विवाद विचार-विमर्श आदि होते रहते हैं। कभी तो हम अपना ज्ञान बढ़ाने कभी उनमें रुचि रखने और कभी उनसे अपना हित साधन करने के लिए उन्हें अच्छी तरह और ध्यानपूर्वक देखते, समझते और घूरते रहते हैं; और उनमें की जो बातें हमारे लिए काम की होती है उन्हें हम टांकते या लिखते भी चलते हैं। इस प्रकार ध्यानपूर्वक देखते रहने और काम की बातों का संग्रह करते रहने का सामूहिक रूप ही **'संप्रेक्षण'** कहलाता है। उदाहरणार्थ (क) किसी देश के जासूस

---

* दे० 'देखना, घूरना, झांकना, ताकना, निरखना और निहारना'।

शत्रुओं की सैनिक गतिविधियों का **संप्रेक्षण** करते हैं; (ख) ज्योतिषी लोग अपने अध्ययन और नये तथ्यों की जानकारी के लिए आकाश के ग्रहों, नक्षत्रों और पिण्डों की गतिविधियों का **संप्रेक्षण** करते रहते हैं, (ग) न्यायालयों आदि में कुछ वकील किसी की ओर से किसी मुकदमे में सारे प्रक्रम का **संप्रेक्षण** करते हैं; और (घ) आलोचक, कवि, लेखक आदि अनेक प्रकार के प्राकृतिक, लौकिक, सामाजिक आदि क्षेत्रों की कुछ विशिष्ट प्रकार की घटनाओं का **संप्रेक्षण** करते रहते हैं। इसमें दो बातें मुख्य होती हैं। एक तो यह कि संप्रेक्षक सब बातें पहले तो अलग रहकर या दूर से ध्यानपूर्वक देखता और अच्छी तरह समझता रहता है; और दूसरे यह कि वह सब बातों का निष्कर्ष या परिणाम निकालकर बाद में अपनी आवश्यकता और सुभीते के अनुसार उनका उपयोग करता है। परन्तु आजकल अधिकतर लोग संक्षिप्तता के विचार से इसके स्थान पर 'प्रेक्षण' का ही प्रयोग करते हैं।

'सर्वेक्षण' का शब्दार्थ है– सब या सब कुछ देखना। परन्तु पारिभाषिक क्षेत्र में इसका अर्थ होता है– किसी कार्यक्षेत्र की सब बातों को इस दृष्टि से ध्यानपूर्वक देखना कि उसमें अब तक क्या-क्या काम हो चुके हैं और आगे क्या-क्या काम हो सकते हैं या होने चाहिए। इसमें सभी अंगों और तत्त्वों का ध्यानपूर्वक निरीक्षण होता है; जैसे:बिहार में खनिज पदार्थों का पता लगाने के लिए वहां फिर से सर्वेक्षण होनेवाला है। इसके सिवाय उसमें किसी विषय का वह सारा विवेचन भी आ जाता है जिसमें पहले के किए हुए सब कामों का विस्तृत उल्लेख या चर्चा हो, जैसे– इस पुस्तक में ब्रजभाषा के समस्त काव्यों का अच्छा सर्वेक्षण हुआ है।

निरोध *पु०* (सं०) दे० 'रोध, अवरोध, गत्यवरोध, निरोध, प्रतिरोध और विरोध।

निर्देश *पु०* (सं०) दे० 'आज्ञा, आदेश, निदेश और निर्देश'।

निर्माण *पु०* (सं०) दे० 'उत्पादन, निर्यात, प्रस्तुतीकरण, रचना और संरचना'।

निर्माता *पु०* (सं०) दे० 'उत्पादन, निर्माण, प्रस्तुतीकरण रचना और सरंचना।

137. निर्वाचन, चुनाव — प्रवरण
Election — Selection

इस वर्ग के शब्द ऐसी वस्तुओं और व्यक्तियों के संबद्ध में प्रयुक्त होते हैं जिन्हें हम उनके गुणों या योग्यता के विचार से अथवा अपनी रुचि के अनुसार किसी काम के लिए उपयुक्त समझकर किसी विशिष्ट उद्देश्य से पसंद करते हैं और उन्हें या तो किसी काम के लिए चुनते हैं या तो किसी काम के लिए उपयुक्त समझते हैं या नियुक्त करते हैं।

'निर्वाचन' *पु०* (सं० निर्वच) का विकारी रूप है जिसका मूल अर्थ है – स्पष्ट रूप से कुछ कहना या अपना भाव प्रकट करना। इसी आधार पर **निर्वाचन** का प्रयोग दो प्रमुख अर्थों या विवक्षाओं में होता है। जब बहुत सी चीज़ें या बातें हमारे सामने आती हैं और हमें उनमें से कोई आवश्यक और अपने काम की अथवा अपनी पसंद की उनमें से

कोई एक चीज़ चुननी या छांटनी पड़ती है तब मानो हम उस चीज़ का **निर्वाचन** करते हैं अर्थात् हम यह स्पष्ट करते हैं कि अमुक चीज़ या बात हमारे उपयोग या काम के लिए उपयुक्त और ठीक है । यही भाव और विस्तृत करके इसका प्रयोग आज-कल लोकतंत्र प्रणाली में अपना प्रतिनिधि नियत करने के संबंध में होने लगा है । इस प्रणाली में मतदाताओं को अपना प्रतिनिधि चुनने या नियत करने का काम कुछ विशिष्ट योग्यता के आधार पर निश्चित करना पड़ता है; और उसके पक्ष में अपना मत देना पड़ता है । इसका मूल आधार तो मतदाता का निर्णय या विचार होता है परन्तु कुछ अवस्थाओं में कई प्रकार के कारण और प्रलोभन भी आ मिलते हैं । हिन्दी में इसके लिए **'चुनाव'** भी उपयुक्त पर्याय है । जो बराबर चलता है ।

'प्रवरण' *पु०* (सं०) वरं से बना है जिसका अर्थ है–सब से बढ़कर या श्रेष्ठ । संज्ञा रूप में यह कन्या के लिए उपयुक्त पति का वाचक शब्द है । प्राचीन काल से कन्या के लिए उपयुक्त पति चुनने और ढूंढ़ने का काम बराबर चलता आ रहा है । इसी आधार पर **वरण** का अर्थ होता है–वरण करने या चुनने की क्रिया या भाव । इसी में प्र उपसर्ग लगाकर भारत सरकार ने **'प्रवरण'** बनाया है । यह भी है तो एक तरह का **निर्वाचन** या **चुनाव** ही; फिर भी इन दोनों शब्दों में कुछ सूक्ष्म अंतर हैं । इसमें आवश्यकता और पसंद का क्षेत्र भी बहुत बड़ा होता है और निर्णय के लिए विचार का क्षेत्र भी । इसमें व्यक्ति के सिवा कामों, चीज़ों, बातों आदि का भी अंतर्भाव होता है, जैसे (क) पढ़ने के लिए पुस्तकों का **प्रवरण**, पहनने के लिए कपड़ों का प्रवरण (ख) संग्रह के लिए अपनी रुचि के अनुसार अनके प्रकार की चीजों का **प्रवरण** । इसके लिए भी बहुत पहले से **'चुनाव'** का प्रयोग होता आया है । परन्तु अब उक्त सूक्ष्मांतर के विचार से यह नया शब्द गढ़ा गया है । ××

निवृत्तिका- *स्त्री०* (सं०) दे० 'पारितोषिक, आनुतोषिक, पारिश्रमिक, पुरस्कार' ।

निवेदन- *पु०* (सं०) दे० विनति, प्रार्थना, याचना, निवेदन, आवेदन, अभिवेदन और प्रतिवेदन' ।

निशाना- *पु०* (फ़ा० *निशानः*) दे० 'उद्देश्य, ध्येय और लक्ष्य' ।

निश्चय- *पु०* (सं०) दे० 'संकल्प, निश्चय, प्रतिज्ञा और शपथ' ।

निषेध- *पु०* (सं०) दे० 'वारण, निवारण, वर्जन, निषेध और प्रतिषेध' ।

निष्ठा- *स्त्री०* (सं०) दे० 'आस्था, निष्ठा और श्रद्धा' ।

निष्पक्ष- *पु०* (सं०) दे० 'उदासीन, तटस्थ और निष्पक्ष' ।

138. निसर्ग पुरुष प्रकृति

निसर्ग	पुरुष	प्रकृति
Nature		Nature, Disposition Temperament

इस माला के शब्द उस मूल कारण या बीज के वाचक हैं जिससे यह सारा जगत् या सृष्टि उत्पन्न हुई या बनी है ।

'निसर्ग' का मूल अर्थ है—अन्दर से निकालकर बाहर करना। परन्तु इसके परवर्ती अर्थों में एक मुख्य अर्थ है—मूल अवस्था, रूप या स्थिति। आधुनिक विज्ञान के अनुसार **निसर्ग** वह मूल कारण और शक्ति है जिसने यह सारा विश्व और सृष्टि उत्पन्न की है, और जो इसका नियंत्रण और नियमन करती है, संक्षेप में हम इसे सारे भौतिक जगत् और समस्त जीवों तथा पदार्थों का मूल उत्पादक कह सकते हैं। जीवन मात्र का यही मूल आधार है, और सृष्टिकर्ता इसी के द्वारा सारी रचनाएं करता है। ठीक इसी अर्थ में **'प्रकृति'** भी इसका पर्याय है।

परन्तु भारतीय दर्शन और विशेषतः सांख्य में यह शक्ति दो मुख्य रूपों में विभक्त मानी गई है। ये दोनों शक्तियां हैं—**पुरुष** और **प्रकृति**। इसमें से **पुरुष** को कारण और **प्रकृति** को उसका कार्य कहा गया है। इस संबंध में मुख्य तर्क यह रखा गया है कि **प्रकृति** तो जड़ होती है, और उसमें चैतन्य का आविर्भाव **पुरुष** के संयोग या सहयोग से होता है। **पुरुष** का पहला अर्थ आदमी या मनुष्य तो है ही, परन्तु इस अर्थ में वह नर जाति के (मादा या स्त्री जाति से भिन्न) जीवों और प्राणियों का वाचक है। परन्तु पुरुष-सूक्त में यह उस मूल व्यक्ति का भी वाचक है जिसने यह सारी सृष्टि उत्पन्न की है। उसका विशिष्ट पार्थक्य सूचित करने के लिए ही उसे परम **पुरुष** पुरुषोत्तम और विराट् **पुरुष** भी कहा गया है। **पुरुष** का एक साधारण अर्थ आत्मा भी है; और इसी आधार पर उक्त पुरुषोत्तम या विराट् **पुरुष** को परमात्मा, विश्वात्मा और सर्वात्मा भी कहा जाता है। जान पड़ता है कि सांख्यकार ने इसी आधार पर **पुरुष** और **प्रकृति** के भेद की कल्पना की थी। उसने **प्रकृति** को तो रचनात्मक शक्ति माना है, और **पुरुष** को उसका द्रष्टा मात्र कहा है। वह न तो कर्ता है और न भोक्ता। सांख्य के मत से वह **प्रकृति** और विकृति दोनों से परे है।

'प्रकृति' का आरंभिक अर्थ है—पहले-पहल कोई काम करना या चीज़ बनाना। परन्तु आगे चलकर यह किसी वस्तु की मूल अवस्था या रूप की भी सूचक होती है। लोक-व्यवहार में इसका एक साधारण अर्थ है—किसी पदार्थ या प्राणी का वह विशिष्ट भौतिक सारभूत तथा सहज और स्वाभाविक गुण या तत्त्व जो उसके स्वरूप के मूल में होता है और जिसमें कभी कोई अन्तर, परिवर्तन या विकार नहीं होता, जैसे (क) जन्म लेना और मरना प्राणी मात्र की **प्रकृति** है; और (ख) अग्नि की **प्रकृति** जलाना और जल की **प्रकृति** उसे ठंडा करना या बुझाना है। इसी दृष्टि से 'विकृति' इसका विपर्याय है।* परन्तु दार्शनिक और वैज्ञानिक क्षेत्र में इसका अर्थ है—विश्व में रचना या सृष्टि करनेवाली वह मूल नियामक तथा संचालक शक्ति जो सभी कारणों और कार्यों का उद्‌गम है, और जिससे सभी जीव तथा पदार्थ बनते, विकसित होते तथा अंत में नष्ट या समाप्त होते रहते हैं। इसी दृष्टि से इसे ऊपर 'निसर्ग' का पर्याय कहा गया है। अधिकतर दार्शनिक इसी को सारी सृष्टि का एकमात्र उपादान कारण मानते हैं, परन्तु जैसा कि हम ऊपर

---

* इस सम्बन्ध में दार्शनिक मत यह है कि **प्रकृति** में जब किसी प्रकार का विकार, खराबी या दोष उत्पन्न होता है तब उसका वह बिगड़ा हुआ रूप 'विकृति' कहलाता है परन्तु जब हम उसे किसी प्रकार संवार सजा कर या सुधार कर उसे अच्छे रूप में लाते हैं, तो वह अवस्था संस्कृति कहलाती है।

बतला चुके हैं सांख्यकार ने इसके साथ **पुरुष** का भी संयोग और सहयोग माना है। फिर भी उसने समस्त भौतिक जगत् को **प्रकृति** का परिणाम या विकार माना है और कहा है कि सत्त्व, रज और तम का अधिष्ठान इसी में है। आध्यात्मिक क्षेत्रों और विशेषतः वेदांत में इसे परमात्मा या विश्वात्मा की मूर्तिमती इच्छाशक्ति के रूप में माना गया है, और इसे 'माया' का दूसरा रूप कहा गया है।

इससे भी और आगे चलकर लोक में इसका एक और अर्थ भी प्रचलित है। वह उस सारे दृश्य जगत् का भी वाचक है जिसमें हमें पशु-पक्षी, वनस्पतियां आदि अपने मौलिक या स्वाभाविक रूप में दिखाई देती हैं, जैसे वहां **प्रकृति** की छटा देखने ही योग्य थी। इसके सिवा यह जीवनयापन के उस सरल और सहज प्रकार की भी सूचक है जिस पर आधुनिक सभ्यता का प्रभाव न पड़ा हो और जो निरोधक प्रतिबन्धों से बहुत-कुछ मुक्त या रहित हो, जैसे;जंगली जातियां सदा **प्रकृति** की गोद में ही खेलती और पलती हैं। इसका एक अर्थ है–प्राणियों की वह जीवनदायिनी या स्वास्थ्यप्रद प्रवृत्ति या स्थिति जो बाह्य प्रभावों से मुक्त और रहित हो; जैसे–उन्होंने सब चिकित्साएं छोड़कर अपने आपको **प्रकृति** पर छोड़ दिया है। व्याकरण में, **प्रकृति** किसी शब्द के उस आधारभूत और मूल रूप को भी कहते हैं जिसमें उपसर्ग, प्रत्यय आदि लगने पर उसके विकारी रूप बनते हैं।

प्रस्तुत प्रसंग को छोड़कर प्राणियों के व्यवहारों के क्षेत्र में इसके कुछ और अर्थ भी होते हैं, जिनके लिए दे० **'प्रकृति**, शील, स्वभाव और मिज़ाज'। ××

निहारना- सं० (*सं० निभालन*) दे० 'देखना, घूरना, झांकना, ताकना, निरखना और निहारना'।

139. नीतिशास्त्र आचार-शास्त्र

Ethics

यह हमारे यहां का एक बहुत प्राचीन शास्त्र है। जिसका अध्ययन और विवेचन पाश्चात्य देशों में भी प्रायः दो हज़ार वर्ष पहले से ही होता आया है। यह शास्त्र मनुष्यों को मुख्यतः यह बतलाता है कि समाज में रहकर उसे किस प्रकार के आचरण करने चाहिए अथवा उसकी आचार विधि कैसी होनी चाहिए। समाज में रहकर सबके साथ अच्छी और ठीक तरह से व्यवहार करने की उचित शिक्षा देनेवाला शास्त्र ही वस्तुतः **'नीतिशास्त्र'** कहलाता है। हमारे यहां बहुत प्राचीन काल से विदुर नीति, शुक्रनीति आदि बहुत से ऐसे ग्रन्थ चले आ रहे हैं जिनकी गणना **नीतिशास्त्र** में होती है। होता तो यह मूलतः बुद्धिपरक ही है; और इसका उद्देश्य भी सामाजिक रहन-सहन का आदर्श स्थापित करना होता है; परन्तु देश, काल आदि के विचार से इसका प्रकार या स्वरूप एक दूसरे से कुछ भिन्न भी होता है; और आवश्यकतानुसार उसमें कुछ परिवर्तन भी होते रहते हैं। यह मुख्यतः हमारे आचार-व्यवहार को नियंत्रित और संचालित करता है इसलिए प्राचीन

काल में हमारे यहां इसका एक और नाम 'व्यवहार-दर्शन' भी था जो विशेष प्रचलित नहीं हुआ। परन्तु आज-कल बहुत से लोग अंग्रेज़ी के Ethics का सूचक मानकर इसे **'आचारशास्त्र'** कहने लगे हैं।

न्यायाधिकरण- *पु०* (सं०) दे० 'आयोग, अधिकरण, न्यायाधिकरण, परिषद् और मंडल'।

नैवेद्य- *पु०* (सं०) दे० 'विनति, प्रार्थना, याचना, निवेदन, आवेदन, अभिवेदन और प्रतिवेदन'।

न्याय-पालिका- *स्त्री०* (सं०) दे० 'विधायिका और सदन'।

नौ. परिवहन- *पु०* (सं०) दे० 'परिवहन, यातायात, संचार, दूर-संचार और भू-संचार'।

न्यास- *पु०* (सं०) दे० 'निधि, गोलक और न्यास'।

140. पंचायत मध्यस्थता संराधन

Arbitration Mediation Conciliation

इस वर्ग के शब्द ऐसी क्रियाओं और उनके साधनों के वाचक हैं जो दो या अधिक विरोधी दलों या पक्षों के पारस्परिक मत-भेद या विरोध दूर करके उनमें मेल या समझौता कराने में सहायक होते हैं।

'पंचायत' *स्त्री०* (सं० *पंचायतन या* सं० *पंच*+हिन्दी *आयत प्रत्य०*) हमारे यहां की बहुत पुरानी संस्था है। पहले जब समाज का इतना विकास नहीं हुआ था और जगह-जगह सरकारी न्यायालय नहीं होते थे तब गांव, बस्ती, मुहल्ले-टोले में पांच भले आदमी चुन लिए जाते थे जो लोगों के सब तरह के आपसी झगड़े निपटाते थे और मानो न्यायालय का काम करते थे। यही लोग पंच कहलाते थे। इनके सिवा पेशेवरों या बिरादरियों की भी अलग-अलग पंचायतें हुआ करती थीं जो आचार-व्यवहार के नियम बनाती और उनका उल्लंघन करनेवालों को दंड देती थीं। इनके प्रमुख या पंच प्रायः चौधरी कहलाते थे। अब भी इसी आधार पर जब दो आदमियों में झगड़ा होता है और वे न्यायालय में नहीं जाना चाहते तब आपसी झगड़े के निपटारे के लिए पंच चुन लिए जाते हैं। पर अब यह आवश्यक नहीं रह गया है कि पंच संख्या में पांच ही हों। वे पांच से कम भी हो सकते हैं और अधिक भी। हां, इतना अवश्य है कि पंचों या **पंचायत** का निर्णय दोनों पक्ष मानते हैं और उन्हें मानना पड़ता है। यदि कभी झगड़ा बढ़कर न्यायालय में जाता है तो **पंचायत** का निर्णय वहां भी तब तक ठीक माना जाता है जब तक यह सिद्ध न हो कि पंचों ने जानबूझकर अन्याय या पक्षपात किया है।

अब स्वतंत्र भारत में राज्य की ओर से ग्राम- पंचायतें बनाने की व्यवस्था हो गई है। इनके पंचों या सदस्यों का समय-समय पर निर्वाचन होता रहता है। ये पंचायतें गांव के झगड़े निपटाने के सिवा खेती-बारी की उन्नति, बालकों की शिक्षा, गांव की सफाई और

स्वास्थ्य रक्षा आदि लोकोपयोगी कार्यों की देख-रेख और व्यवस्था करती हैं।

'मध्यस्थता' *स्त्री०* (सं०) मध्यस्थ का भाववाचक रूप है। मध्यस्थ का कार्य और पद दोनों इसके अंतर्गत आते हैं। मध्यस्थ का अर्थ है—वह जो बीच में हो अथवा बीच में पड़कर दोनों पक्षों का झगड़ा निपटाने में सहायता दे। मध्यस्थ का काम निर्णय करना नहीं होता और न किसी पक्ष को दोषी ठहराकर दंड देना ही होता है। केवल दोनों पक्षों को समझा-बुझाकर ठीक रास्ते पर लाना होता है। पंच तो न्याय और अन्याय का विचार करके निर्णय करते हैं, पर मध्यस्थ का काम झगड़े की जड़ दूर करके दोनों पक्षों को आपस में मिलाना होता है। उत्तर प्रदेश और बिहार के गांवों में 'मध्यस्थ' को लोग प्रायः **'बिचवई'** कहते हैं।

'संराधन' *पु०* (सं०) राधन में सं उपसर्ग लगाकर हाल में बनाया हुआ नया शब्द है। सं० में राधन का अर्थ है—किसी को प्रसन्न और संतुष्ट करना। **'संराधन'** आज-कल की वह नई **पद्धति** है जो मुख्य रूप से पूंजीपतियों और उनके अधीनस्थ काम करनेवाले श्रमिकों की आपसी उलझनें सुलझाने और ज़िद या झगड़े दूर करने के लिए काम में लाई जाती है। आज-कल कारखानेदारों और मज़दूरों में तरह-तरह के झगड़े होते रहते हैं, कभी कुछ कार्यकर्ता या मज़दूर नौकरी से हटा दिए जाते हैं; कभी मालिकों की ओर से तालाबन्दी होती है और कभी मज़दूरों की ओर से हड़तालें आदि। इस प्रकार के झगड़े निपटाकर दोनों पक्षों में मेल और सद्भाव स्थापित करने के लिए कुछ अधिकारी नियत कर दिए जाते हैं जो **संराधन** अधिकारी (Conciliation Officer) कहलाते हैं। इनके ऊपर **संराधन** मंडल (Conciliation board) भी होते हैं जो समय-समय पर जटिल विवादास्पद विषयों के सम्बन्ध में सुझाव देते रहते हैं। आज-कल इन्हीं सब के कार्यों की गिनती **संराधन** में होती है। परन्तु **संराधन** मूल अर्थ के विचार से एक और प्रसंग में भी होता है। हम किसी प्रबल विरोधी या शत्रु को भी किसी अवसर पर प्रसन्न तथा सन्तुष्ट करके शांत करना चाहते हैं; अथवा उसे अपने अनुकूल बनाने अथवा उसके साथ अपनी मित्रता तथा सद्भाव बनाए रखने के लिए कुछ ऐसे छोटे-मोटे काम कर सकते हैं जिनसे वह प्रसन्न और सन्तुष्ट हो। यह भी हमारी ओर से होनेवाला शत्रु का **संराधन** ही है। ××

पछतावा- *पु०* (हि० *पछताना=पश्चात्ताप करना*) दे० 'ताप, परिताप, पश्चात्ताप, मनस्ताप और संताप'।

पड़ता- *पु०* (हिं० *पड़ना=माध्य*) दे० 'मध्यक, माध्य, माध्यम और माध्यिका'।

पड़ताल- *स्त्री०* दे० 'जांच, पड़ताल, कसौटी और परख'।

141. पद्धति परिपाटी प्रणाली

पद्धति	परिपाटी	प्रणाली
System	Ways	Channel
Method	Mode	

इस वर्ग के शब्द ऐसे ढंगों या प्रकारों के वाचक हैं जिनका उपयोग कोई उद्देश्य या कार्य पूरा करने के समय करना पड़ता या किया जाता है।

'पद्धति' *स्त्री०* (सं०) का मूल अर्थ है चलने के समय पैरों के आघात से बना हुआ चिह्न या निशान। इसीलिए आगे चलकर इसका प्रयोग पगडंडी, पथ, मार्ग आदि सूचित करने के लिए होने लगा था। पर आज-कल इसका मुख्य अर्थ हो गया है - कोई काम करने का ऐसा ढंग या प्रकार जो बहुत दिनों से प्रायः एक ही रूप में चला आ रहा हो; और जिसमें सहसा किसी प्रकार का परिवर्तन करने के लिए विशेष अवकाश न हो। इसके प्रयोग के आधार पर हम कह सकते हैं इसके मूल में किसी प्रकार की कला, विधान शास्त्र आदि का कोई ऐसा मूल सिद्धान्त होता है जो लोक में पूर्णतः प्रचलित भी हो और मान्य भी, जैसे वेदपाठ की **पद्धति**, शिक्षा की **पद्धति** आदि। इसी आधार पर ऐसी पुस्तक को भी **पद्धति** कहने लगे थे जिसमें उक्त प्रकार के मार्गदर्शक नियमों, विधानों आदि का निरूपण होता था, जैसे विवाह **पद्धति** आदि।

'परिपाटी' *स्त्री०* (सं०) का मूल अर्थ है—अच्छी तरह खिंची हुई और स्पष्ट रेखा। आगे चलकर यह शब्द क्रम, शृंखला आदि का भी वाचक हो गया था। परन्तु प्रस्तुत प्रसंग में यह **पद्धति** का बहुत-कुछ समार्थक बन गया है। फिर भी एक बात में यह उससे कुछ भिन्न है। इसमें कला, विधान, शास्त्र आदि के नियमों और सिद्धान्तों वाला तत्त्व नहीं है, जो **पद्धति** में है। इसके सिवा इसका प्रयोग जातियों, वर्गों आदि में प्रचलित कुछ विशिष्ट प्रकार की प्रथाओं, रीतियों, आदि के सम्बन्ध में भी देखने में आता है। इसीलिए कहा जाता है कि बड़ों ने जो **परिपाटी** चलाई है हम भी उसी का अनुसरण (या पालन) करेंगे।

'प्रणाली' *स्त्री०* (सं०) का मूल अर्थ है—पानी बहने की नाली। इसीलिए आगे चलकर यह शब्द जल की धारा, बहाव, स्रोत आदि के सम्बन्ध में प्रयुक्त होने लगा था। परन्तु प्रस्तुत प्रसंग में यह शब्द भी कोई काम करने के विशिष्ट ढंग या प्रकार का सूचक हो गया है। इसकी विशेषता यह है कि इसके मूल में उपयुक्तता, औचित्य और परम्परागत नियम या विधान का भाव मुख्य है।*

इस कोटि के और शब्दों के विवेचन के लिए दे० 'रीति, प्रथा, और रूढ़ि'।

---

* अं० में Channel का एक और अर्थ होता है—द्वार, मार्ग या रास्ता। कहते हैं कि यह आवेदन Proper channel से आना चाहिए अर्थात यह उस विशिष्ट अधिकारी या विभाग के द्वारा आना चाहिए जिससे इसका मुख्य सम्बन्ध है। हिन्दी में यह प्रयोग अभी तक नहीं आया है। परन्तु आगे चलकर यदि आवश्यकता हो तो उक्त अर्थ में प्रणाली का प्रयोग हो सकता है।

परख- *स्त्री०* दे० 'जांच, कसौटी, पड़ताल और परख' ।

परमाधिकार-*पु०* (सं०) दे० अधिकार, एकाधिकार, परमाधिकार, विशेषाधिकार और स्वत्व' ।

परहेज़- *पु०* (फ़ा०) दे० 'अंकुश, नियंत्रण और संयम' ।

परादेश- *पु०* (सं०) दे० 'अध्यादेश, परादेश और समादेश' ।

परामर्श- *पु०* (सं०) दे० 'विचार, विमर्श और परामर्श' ।

परिकलन- *पु०* (सं०) दे० 'गणन, अनुगणन, अभिकलन, आकलन, परिकलन, परिगणन और संख्यापन' ।

परिगणन- *पु०* (सं०) दे० 'गणन, अनुगणन, अभिकलन, आकलन; परिकलन, परिगणन और संख्यापन' ।

परिघटक- *पु०* (सं०) दे० 'घटक, परिघटक और संघटक' ।

142. परिचर्चा परिसंवाद विचारगोष्ठी संगोष्ठी

Seminar Symposium

इस वर्ग के शब्द ऐसी सभा-समितियों और उनके कार्यों के वाचक हैं जिनका आवाहन किसी विशिष्ट विषय पर विचार करने के लिए होता है ।

'परिचर्चा' सं० चर्चा में 'परि' उपसर्ग लगाकर अभी हाल में बनाया हुआ नया शब्द है । साधारणतः जब कोई विशेष विचारणीय विषय उपस्थित होता है, तब उस पर चर्चा या बात-चीत करने के लिए छोटी सभा या समिति बुलाई जाती है जिसमें उस विषय पर लोग आपस में बात-चीत करते और अपना मत व्यक्त करते हैं । यही बात-चीत **परिचर्चा** कहलाती है । इसकी विशेषता यह है कि इसमें जो लोग उपस्थित होते हैं, वे सभी प्रस्तुत विषय पर अपना-अपना मत या विचार सबको बतलाते हैं ।

'परिसंवाद' को हम उक्त **परिचर्चा** का छोटा और संक्षिप्त रूप ही कह सकते हैं । इसका प्रचलन इधर कुछ दिनों से रेडियो तथा दूरदर्शन पर होने लगा है । इसमें दो-चार आदमी मिलकर किसी साधारण और हलके विषय पर आपस में कुछ बात-चीत करते और अपने विचार प्रकट करते हैं । इसका प्रयोग किसी विषय में निष्कर्ष तक पहुंचने की अपेक्षा प्रायः श्रोताओं का मनोरंजन करने के लिए ही होता है ।

'विचार-गोष्ठी' भी है तो बहुत-कुछ इसी प्रकार की बात-चीत परन्तु कुछ बातों में वह कुछ और आगे बढ़ी होती है । इसका विचारणीय विषय अपेक्षतया अधिक गम्भीर और गहन होता है और इस सम्बन्ध में कुछ विशिष्ट विचारशील विद्वान् ही अपना अनुसंधानात्मक मत या विचार प्रकट करते हैं; और शेष उपस्थित लोग दर्शक तथा श्रोता होते हैं ।

'संगोष्ठी' उक्त विचार-गोष्ठी का ही पर्याय है और संक्षिप्त तथा सुगम होने के

कारण उसके स्थान पर हाल ही में प्रयुक्त होने लगा है। ××

परिज्ञान- *पु०* (सं०) दे० 'ज्ञान, परिज्ञान और प्रज्ञान'।

परिज्ञापन- *पु०* (सं०) दे० 'घोषणा, प्रख्यापन, परिज्ञापन और प्रवर्तन'।

परिताप- *पु०* (सं०) दे० 'ताप, परिताप, पश्चात्ताप' मनस्ताप और संताप'।

परिदान- *पु०* (सं०) दे० 'दान, अंशदान, अधिदान, अनुदान, परिदान और प्रदान'।

143 परिणाम फल

Consequence Result

ये शब्द ऐसी घटना या स्थिति के वाचक हैं जो किसी कारण और कार्य के अंत में उत्पन्न होती या सामने आती हैं। दार्शनिक दृष्टि से **'परिणाम'** प्रकृति का स्वभाव माना गया है। हर चीज़ धीरे-धीरे अपना रूप छोड़कर जो दूसरा रूप धारण करती है, मूलतः उसी को **'परिणाम'** कहते हैं। अवस्था या रूप में समयानुसार होनेवाला परिवर्तन ही **परिणाम** है; जैसे दही जमे हुए दूध का अथवा राख जलती हुई लकड़ी का **परिणाम** है। परन्तु लौकिक क्षेत्र में इसका अर्थ कुछ और विकसित हो गया है। जब कोई काल या घटना क्रमानुसार किसी कारणवश आगे बढ़ती चलती है तब तक संगत रूप में अंत में उसकी जो स्थिति सामने आती है उसी को **परिणाम** कहते हैं। यह घटनाओं आदि का क्रम-विकास मात्र है, जैसेः इस वाद-विवाद का **परिणाम** यह हुआ कि काम अच्छे ढंग से होने लगा है। इसका सम्बन्ध मूल कारण से होता है।

'फल' भी है तो बहुत कुछ वही जो **'परिणाम'** है फिर भी **फल** एक बात में **'परिणाम'** से कुछ आगे बढ़ा हुआ होता है। **परिणाम** तो क्रमिक रूप से घटित होनेवाली स्थिति मात्र है, परन्तु **फल** उस स्थिति के कारण उत्पन्न होनेवाले भोग का सूचक है। वृक्षों में जो **फल** लगते हैं लोगों के भोग के लिए ही होते हैं। उसी प्रकार **'फल'** भी उस भोग का सूचक है जो मनुष्यों के कोई काम करने पर अथवा कोई घटना घटित होने पर भोगना पड़ता है। **परिणाम** तो अच्छा या बुरा ही है; परन्तु मनुष्य को उस **परिणाम** का जो अच्छा या बुरा भोग भोगना पड़ता है, वही **फल** है; जैसेः महायुद्ध का **परिणाम** तो जनसंहार और व्यापक विनाश होता है परन्तु उसका **फल** आनेवाली पीढ़ियों को भोगना पड़ता है। हिन्दी में इन दोनों शब्दों के स्थान पर उर्दू का **'नतीजा'** (*फ़ा० नतीजः*) भी प्रयुक्त होता है। ××

144. परिपक्व पुष्ट प्रौढ़

Ripened Mature

इस वर्ग के विशेषण प्राणियों के अतिरिक्त कुछ और विशिष्ट पदार्थों तथा बातों के सम्बन्ध में यह सूचित करने के लिए होते हैं कि वे अपनी आरम्भिक अवस्था से बढ़कर

इस योग्य हो गए हैं कि ठीक तरह से अपना पूरा काम कर सकें या उपयोग में आ सकें।

'परिपक्व' (सं०) का पहला अर्थ है–अच्छी तरह पका हुआ, जैसे **परिपक्व** अन्न, **परिपक्व फल** आदि। परन्तु लाक्षणिक रूप में यह अभिवृद्धि और विकास की उपस्थिति का सूचक है जिसमें कोई चीज़ या बात अपना काम कर सकने के योग्य हो जाती है। **परिपक्व** बुद्धि का अर्थ होता है–ऐसी बुद्धि जो लड़कपन पार कर चुकने पर मनुष्य में आती है और जो उसका समझदार होना सूचित करती है। **परिपक्व** विचार का आशय होता है–ऐसा विचार जो अच्छी तरह समझ-बूझकर स्थिर किया गया हो और जिसमें किसी प्रकार के भ्रम और भ्रान्ति के लिए विशेष अवकाश न रह गया हो।

'पुष्ट' (सं०) का पहला और मूल अर्थ है--जिसका अच्छी तरह पोषण हुआ हो; और फलतः जिसमें यथेष्ट बल या शक्ति आ गई हो। इसीलिए मोटे-ताज़े पशुओं और मनुष्यों को हृष्ट-पुष्ट कहते हैं; परन्तु इससे आगे चलकर लाक्षणिक रूप में यह और भी कई प्रकार के अर्थ सूचित करता है। जिस काम या बात में कोई कचाई या कोर-कसर न हो और इसीलिए जिसे हम दृढ़ आधार मानकर कुछ कर या कह सकते हों उसे भी **पुष्ट** कहते हैं; जैसे **पुष्ट** आधार, **पुष्ट** प्रमाण आदि। जो कथन प्रमाणों आदि से सिद्ध हो सकता हो अथवा हो चुका हो उसे भी **पुष्ट** कहते हैं; और जो उपयुक्त अधिकारी की ओर से मान्य या समर्थित हो चुका हो, वह भी **पुष्ट** कहलाता है, जैसे:दोनों पक्षों के द्वारा मान्य तथा हस्ताक्षरित होने पर ही कोई सन्धि **पुष्ट** होती है।

'प्रौढ़' संस्कृत 'ऊढ' में प्र उपसर्ग लगने से बना है। 'ऊढ' का मुख्य अर्थ है–विवाहित पुरुष। इसी का स्त्रीलिंग रूप ऊढ़ा (विवाहिता स्त्री) होता है। इसी ऊढ़ा से साहित्य की ऊढ़ा, अनूढ़ा नायिकाओं का नामकरण हुआ है। विशेषण रूप में **प्रौढ़** का अर्थ होता है–जो अच्छी तरह बढ़कर **पुष्ट** हो गया हो, या अपनी पूरी बाढ़ तक पहंच गया हो। इसीलिए यह दृढ़, पक्का, मजबूत, सशक्त आदि के भी अर्थ देता है। परन्तु इसका मुख्य आशय किसी वस्तु या व्यक्ति की उस स्थिति से है जिसमें वह अपने सब काम ठीक तरह से करने में समर्थ हो। इसी आधार पर कहा जाता है–(क) अभी इस वृक्ष के **प्रौढ़** होने में एक वर्ष और लगेगा; अर्थात् यह एक वर्ष में फूलने-फलने योग्य हो जाएगा; (ख) बुद्धि के **प्रौढ़** होने में प्रायः वय का विचार नहीं होता अर्थात् कुछ लोगों की बुद्धि तो युवावस्था के आरम्भ में **प्रौढ़** हो जाती है और कुछ लोगों की बुद्धि अधेड़ होने तक भी **प्रौढ़** नहीं होती; और (ग) गरम देशों के निवासी अपेक्षया जल्दी **प्रौढ़** हो जाते हैं और ठण्ड़े देशों के निवासियों को **प्रौढ़** होने में कुछ देर लगती है; अर्थात् गरम देश के निवासी जल्दी पूर्ण युवक हो जाते हैं और ठण्डे देशों के निवासियों को पूर्ण युवक होने में कुछ अधिक समय लगता है।

××

परिपत्र- *पु०* (सं०) दे० 'विज्ञप्ति, अधिसूचना, ज्ञापन, ध्येय-पत्र, परिपत्र और श्वेत-पत्र'।

परिपाटी- *स्त्री०* (सं०) दे० 'पद्धति, परिपाटी और प्रणाली'।

145. परिमल / सुरभि / सौरभ

परिमल	सुरभि	सौरभ
Perfume Fragrance	Perfume	Fragrance

इस वर्ग के शब्द हैं तो सुगन्ध के वाचक ही; पर उनके अर्थों में साधारण सुगन्धि की तुलना में कुछ अन्तर और विशेषताएं हैं। सुगन्धि के विवेचन के लिए देखें 'गन्ध, बू, महक और वास'।

'परिमल' *पु०* (सं०) इसका पहला और मूल अर्थ है–अच्छी तरह मलना। इसी आधार पर इसका प्रयोग पहले तो शरीर पर होनेवाली मालिश के सम्बन्ध में और तब उन उबटनों और सुगन्धित पदार्थों के लिए होने लगा था जो प्राचीन भारत में शरीर पर मले जाते थे। इसी से उस सुगन्धि के सम्बन्ध में भी इसका प्रयोग होने लगा जो उन सुगन्धित पदार्थों से निकलती थी और आगे बढ़ने पर यह वनों, उपवनों आदि के फूलों और वनस्पतियों से निकलकर चारों ओर या दूर-दूर तक फैलनेवाली प्राकृतिक सुगन्धि का वाचक हो गया।

'सुरभि' *स्त्री०* (सं०) का मूल अर्थ तो गौ और विशेषतः गौओं की अधिष्ठात्री देवी और जननी है; परन्तु उसके अन्य अनेक अर्थों में एक अर्थ खुशबू या सुगन्ध भी है। इस अर्थ के विचार से इस शब्द में कोई खास रंगत नहीं है; हां, कुछ सुगन्धित पदार्थों और पौधों के नाम अवश्य **'सुरभि'** हैं।

'सौरभ' *पु०* (सं०) मौलिक और व्युत्पत्तिक दृष्टि से है तो बहुत-कुछ वही जो **'सुरभि'** है, फिर भी कई बातों में कुछ भिन्न है। मूलतः यह विशेषण है जिसके अर्थ हैं–(क) **सुरभि** सम्बन्धी; (ख) **सुरभि** से उत्पन्न; (ग) जो **सुरभि** से प्राप्त हुआ या मिला हो आदि। संज्ञा रूप में यह भी **'सुरभि'** की तरह खुशबू या सुगन्ध का ही वाचक है। परन्तु अपने परवर्ती और विकसित अर्थ में यह वनस्पतियों और वृक्षों से निकलकर चारों ओर दूर तक फैलनेवाली हलकी खुशबू या सुगन्ध का वाचक हो गया है। इसके सिवाय लाक्षणिक रूप में इसका प्रयोग कीर्ति, यश आदि के सम्बन्ध में भी होने लगा है; और अपनी इसी विशेषता के कारण यह **'परिमल'** से कुछ बढ़ा हुआ है। ××

146. परिमार्जन / सम्मार्जन / परिष्करण

परिमार्जन	सम्मार्जन	परिष्करण
Cleaning Purification	Cleansing Finishing Touch	Purification Polishing

इस वर्ग के शब्द ऐसी क्रियाओं के वाचक हैं जो किसी चीज़ को धो-पोंछकर उस पर पड़े हुए दाग, धब्बे, धूल आदि हटाने अथवा लाक्षणिक रूप में त्रुटियां, दोष आदि दूर करके उसे दर्शनीय और सुन्दर रूप देने के लिए की जाती हैं।

'परिमार्जन' *पु०* (सं०) मार्जन के पहले परि उपसर्ग लगाकर बनाया गया है। मार्जन का मुख्य अर्थ है—जल से धो-पोंछकर दाग-धब्बे आदि दूर करना परन्तु लाक्षणिक रूप में इसका अर्थ अपवित्रता आदि दूर करना भी होता है। धार्मिक हिन्दू जब किसी पवित्र जलाशय, तीर्थ, नदी आदि पर पहुंचते हैं, पहले वहां के जल से मार्जन करते हैं। इसमें थोड़ा-सा जल हाथ में लेकर मस्तक और शरीर पर छिड़कते हैं; और यह समझते हैं कि इससे हमारी सभी अपवित्रताएं और दोष या पाप धुलकर दूर हो गए। इस प्रकार **परिमार्जन** का अर्थ होता है जल आदि की सहायता से धो-पोंछकर अच्छी तरह साफ और स्वच्छ करना। आगे चलकर इसका परवर्ती अर्थ पवित्र या शुद्ध करना भी होता है। इस प्रकार यह शब्द सब तरह की खराबियां, बुराइयां आदि दूर करके किसी वस्तु को शुद्ध और सुन्दर रूप देने का वाचक है, जैसे:इस पुस्तक की भाषा में प्रयोग और व्याकरण की जो भूलें हैं, वे ठीक करके इसकी भाषा परिमार्जित कर दी जाती तो और भी अच्छा था।

'सम्मार्जन' *पु०* (सं०) भी मार्जन का विकारी और विस्तृत रूप है। परन्तु अर्थ की दृष्टि से यह **परिमार्जन** से बहुत-कुछ आगे बढ़े हुए रूप का वाचक है। यह ऐसी अच्छी तरह किसी चीज़ को ठीक दुरुस्त करने का सूचक है जिसमें नाम को भी कहीं कोई आपत्तिजनक बात न रहने पाए। बहुत अच्छी तरह सब त्रुटियां और दोष दूर करके किसी कृति या वस्तु को अच्छे से अच्छा रूप देना ही **सम्मार्जन** है। इसी आधार पर हमारी समझ में अं० के (Finishing touch) का भाव सूचित करने के लिए यह सबसे अधिक उपयुक्त तथा सार्थक शब्द होगा। उदाहरणार्थ हम कह सकते हैं—हमने चित्र को पूरा बना लिया है (या पुस्तक तो पूरी लिख ली है); अब उसका **सम्मार्जन** मात्र रह गया है। आशय यही होगा कि जो छोटी-मोटी त्रुटियां, दोष या भूलें कहीं इधर-उधर रह गई हैं, वे सब एक बार अच्छी तरह देखकर दूर कर दी जाएं, और उसे आदर्श या मानक रूप प्राप्त हो जाय।

'परिष्करण' *पु०* (सं०) भी मूलतः है तो बहुत-कुछ वही, जो **परिमार्जन** है; फिर भी एक बात में यह उससे कुछ आगे बढ़े हुए भाव का वाचक है। जब हम किसी चीज़ को खूब अच्छी तरह घिस या रगड़कर अथवा ऐसी ही और किसी क्रिया से उसे ऐसा रूप प्रदान करते हैं कि उसमें अतिरिक्त आभा, उज्ज्वलता या चमक आ जाती है, तब यही क्रिया **परिष्करण** कहलाती है। इसका मुख्य उद्देश्य किसी वस्तु को आकर्षक, मनोहर तथा हृदयग्राही बनाना होता है। इसीलिए प्राचीन संस्कृति में इसका एक मुख्य अर्थ अलंकरण या सजावट भी होता था; और यह शब्द आभूषणों या गहनों के अतिरिक्त सुन्दर सज्जा तथा उसके उपकरणों आदि का भी वाचक होता था। ××

परियोजना- *स्त्री०* (सं०) दे० 'योजना, परियोजना, प्रायोजना और संयोजना'।

परिरक्षा- *स्त्री०* (सं०) दे० 'रक्षा, आरक्षा, आरक्षण, परिरक्षा, प्रतिरक्षा, संरक्षा और सुरक्षा'।

परिरक्षित राज्य- *पु०* (सं०) दे० 'रक्षा, आरक्षा, आरक्षण, परिरक्षा, प्रतिरक्षा, संरक्षा और सुरक्षा'।

परिलब्धि- *स्त्री०* (सं०) दे० 'प्राप्ति, लाभ, उपलब्धि और परिलब्धि'।

147. परिवहन पारेषण यातायात संचार

Transmission Traffic Communications

इस वर्ग के शब्द ऐसी क्रियाओं के वाचक हैं, जिनके फलस्वरूप व्यक्ति, सामग्री, समाचार आदि एक स्थान से दूसरे स्थानों पर आते-जाते या पहुंचाए जाते हैं।

'परिवहन' *पु०* (सं०) का मुख्य अर्थ है–लोगों को या उनका सामान ढोकर एक स्थान से दूसरे स्थान पर ले जाना या पहुंचाना। यह काम नावों, रेलों, हवाई जहाज़ों आदि के द्वारा सारे संसार में होता है। इसी आधार पर इसके नदी-परिवहन, वायु-परिवहन, सड़क-परिवहन, समुद्र-परिवहन आदि अनेक प्रकार या विभाग हो गए हैं। नदियों और समुद्रों में नावों और जहाज़ों के द्वारा जो **परिवहन** होता है, उसे 'नौ परिवहन' (Navigation) कहते हैं। आदमियों और चीज़ों को एक स्थान से दूसरे स्थान तक पहुंचाने या ले जाने की क्रिया तो **परिवहन** है ही; गाड़ियों, जहाज़ों, नावों, रेलों आदि ऐसे साधनों को भी **परिवहन** कहते हैं, जिनके द्वारा आदमियों और चीज़ों को एक स्थान से दूसरे स्थान तक पहुंचाते या ले जाते हैं।

'यातायात' *पु०* (सं०) का अर्थ है–जाना और आना। मनुष्य तो एक स्थान से दूसरे स्थान पर आते-जाते रहते ही हैं पर नावों, रेलों, जहाज़ों आदि का भी यही क्रम चलता है। इसके सिवा सब तरह का माल या सामान भी रेलों, सड़कों आदि से एक जगह से दूसरी जगह आता-जाता रहता ही है। इस दृष्टि से **परिवहन** और **यातायात** में यदि कोई मुख्य अन्तर है तो यही कि **परिवहन** में तो कुछ विशिष्ट साधनों से ढोकर ले जाने का तत्त्व काम करता है; परन्तु **यातायात** में इस तत्त्व का अभाव है। अकाल, भूकंप, युद्ध आदि आपातिक परिस्थितियों में इस प्रकार के जो काम होते हैं, उनकी गिनती **परिवहन** में ही होती है। कारण यह है कि ऐसी अवस्थाओं में आदमियों और चीज़ों को प्रायः विवश होकर एक स्थान से दूसरे स्थान पर लाना या ले जाना पड़ता है। जहां इस प्रकार की कोई अनिवार्य विवशता नहीं होती वहां साधारणतः **यातायात** का ही प्रयोग होता है।

'संचार' *पु०* (सं०) का पहला अर्थ चलना और दूसरा अर्थ चलाना है। परन्तु मुख्य रूप से इसका प्रयोग किसी तत्त्व या वस्तु का दूसरी वस्तुओं आदि में प्रविष्ट होकर एक सिरे से दूसरे सिरे तक अथवा दूर-दूर तक फैलना है, जैसे– (क) मृत शरीर में प्राणों का फिर से होनेवाला **संचार**। या (ख) द्वार आदि खुलने पर घर के अन्दर होनेवाला प्रकाश या वायु का **संचार**। परन्तु आज-कल इसका प्रयोग एक नए और विशिष्ट अर्थ में होने लगा है। एक स्थान से दूसरे स्थान पर जो चिट्ठियां, पार्सल, संकेत, संदेश, समाचार आदि आते-जाते रहते हैं, उन्हीं का यह शब्द विशेष रूप से वाचक हो गया है। एक स्थान से दूसरे स्थान पर चीज़ें, संदेश, समाचार आदि भेजने की जो क्रिया होती है उसके

लिए हमारे यहां सं० का पुराना शब्द **प्रेषण** (Sending) भी प्रचलित है। प्रेषण तो एक स्थान से दूसरे स्थान पर कुछ भेजने मात्र का वाचक है; परन्तु **संचार** में चीज़ें समाचार आदि इधर से उधर जाने और उधर से इधर आने की क्रियाएं भी सम्मिलित हैं। प्रेषण तो एक ही पक्ष से होता है; परन्तु **संचार** में दोनों ओर से आते-जाते रहने का भाव है।

'पारेषण' *पु०* (सं० *पार+एषण=ढूंढना, मांगना*) इधर हाल का बना हुआ नया शब्द है, जिसका शब्दार्थ है–उस पार पहुंचाना या भेजना। इस दृष्टि से यह बहुत-कुछ प्रेषण के अर्थ या आशय सूचित करनेवाला शब्द कहा जा सकता है फिर भी **पारेषण** का प्रयोग प्रेषण की तुलना में एक विशिष्ट अर्थ में होता है। आज-कल विद्युत की सहायता से जो संदेश समाचार आदि बीच का अवकाश या स्थान पार करके दूर-दूर तक भेजे जाते हैं, उसी क्रिया का सूचक **पारेषण** है। इसके सिवा जो ताप, प्रकाश आदि भी इस प्रकार दूर-दूर तक पहुंचाए जाते हैं उनके लिए भी इसी **पारेषण** का प्रयोग होता है। इस प्रकार के सब काम प्रायः यंत्रों से ही होते हैं; इसलिए उन यंत्रों को पारेषक (Transmitter) कहते हैं। कुछ बड़े-बड़े यंत्रों में यह काम उनके किसी विशिष्ट अंग या पुर्जे से ही होता है; इसलिए यंत्रों का वह अंग या पुर्ज़ा भी पारेषक ही कहलाता है।

'दूर-संचार' *पु०* (सं०) उक्त **संचार** का वह अंश है, जिसमें दूरभाष, तार आदि के द्वारा उक्त काम होते हैं। इनके सिवा एक और पद्धति भी है जिसे लोग साधारणतः 'बिना तार का तार' कहते हैं, परन्तु तात्त्विक दृष्टि से जो निरर्थक है। इस पद में तार भी है और बिना तार का तार भी है। यह तो वैसा ही है, जैसा बिना आदमी का आदमी या बिना पानी का पानी। इसके स्थान पर 'तारहीन पद्धति' का प्रयोग हो तो कहीं अच्छा हो। आधुनिक विज्ञान ने सारे आकाश में फैली हुई ऐसी सूक्ष्म तरंगों Microwaves का पता लगाया है जो बिना किसी दृश्य या प्रत्यक्ष साधन के संकेत, समाचार आदि एक स्थान से दूसरे स्थान पर पहुंचाती हैं। लोक में सबसे अधिक प्रचलित रेडियो के सब काम तो ऐसी तरंगों से होते ही हैं; पर अब इनके द्वारा एक स्थान से दूसरे स्थान पर चित्र आदि भेजने और एक स्थान से दृश्य हू-ब-हू दूसरे स्थान पर दिखाने के यंत्र और साधन भी प्रस्तुत हो गए हैं। तार द्वारा भेजे जानेवाले समाचारों आदि में तो उस दशा में बाधा भी होती है जब बीच के तार टूट जाते हैं अथवा उनका संयोजक सम्बन्ध किसी प्रकार विच्छिन्न भी हो जाता है। परन्तु एक तो सूक्ष्म तरंगों द्वारा भेजे जानेवाले समाचारों में ऐसी कोई बाधा नहीं होती, और दूसरे काम भी बहुत जल्दी होता है और समय की बचत भी। आजकल दूर-दूर के देशों और स्थानों में इसी प्रकार के संचार सम्बन्ध स्थापित होने लगे हैं।

'भू-संचार' *पु०* (सं०) को हम उक्त दूर संचार का और भी विकसित तथा विस्तृत रूप कह सकते हैं। उसके द्वारा उक्त प्रकार के सब काम संसार के एक कोने से दूसरे कोने तक और प्रायः तत्काल होने लगे हैं। अब वैज्ञानिकों ने ऐसे कृत्रिम उपग्रह बना लिए हैं जो बराबर पृथ्वी से बहुत ऊंचाई पर पहुंचकर दिन-रात उसके चक्कर लगाते रहते हैं। इन उपग्रहों में ऐसे यंत्र लगे रहते हैं जो पृथ्वी से आए हुए समाचार ग्रहण भी कर लेते हैं और दूसरे स्थानों पर भेज भी देते हैं। यही क्रिया अब भू-संचार के नाम से प्रसिद्ध है।

परिवार नियोजन- *पु०* (सं०) दे० 'गर्भ-निरोध, गर्भपात, गर्भस्राव और भ्रूण-हत्या।

148. **परिवेश** Environment Surrounding | **परिस्थिति** Circumstances | **पर्यावरण** Atmosphere

पृष्ठभूमि Background | **भूमिका** Ground, Background Role

इस वर्ग के शब्द ऐसे स्थानों, स्थितियों आदि के वाचक हैं, जिनमें व्यक्ति रहकर जीवन-यापन करते हैं, और जिनसे प्रभावित होकर वे अनेक प्रकार के आचरण, कार्य और व्यवहार करते हैं।

'परिवेश' (सं०) का पहला अर्थ है–घेरा या परिधि; और दूसरा अर्थ है–वह भा-मण्डल या प्रभा-मण्डल जो उज्ज्वल पदार्थों के चारों ओर और बड़े-बड़े महापुरुषों के मुख-मण्डल के चारों ओर या तो दिखाई देता है या कल्पित कर लिया जाता है, परन्तु प्रस्तुत प्रसंग में इसका अर्थ होता है–आस-पास की वे अवस्थाएं आदि जिनका मनुष्य के कार्यों और व्यवहारों पर परिचालक प्रभाव होता है। इसमें आर्थिक, नैतिक, सांस्कृतिक और सामाजिक स्थितियों का भी अन्तर्भाव माना जाता है, जैसे:जिस देहाती **परिवेश** में उनकी बाल्यावस्था और युवावस्था बीती थी, उसमें उनके लिए किसी प्रकार का औद्योगिक, वैज्ञानिक या शैक्षणिक उन्नति के लिए कोई अवकाश नहीं था। अर्थात् वे वहां रहकर अच्छी या विशेष उन्नति नहीं कर सकते थे। जीव-जन्तुओं वनस्पतियों आदि के प्रसंग में इस शब्द के अन्तर्गत उन जलाशयों, पर्वतों वनों आदि का भी अन्तर्भाव हो जाता है जिनके आस-पास या बीच में रहकर वे जीवन बिताते या विचरण करते हैं।

'परिस्थिति' संस्कृत के 'स्थिति' शब्द में 'परि' उपसर्ग लगाकर बनाया गया है। इसे हम **परिवेश** का कुछ संकीर्ण या संकुचित रूप कह सकते हैं। यह व्यक्ति की उस विशिष्ट अवस्था का वाचक है जिसमें वह कालचक्र, घटनाचक्र आदि के प्रभाव में पड़कर कोई काम करता है। **'परिस्थिति'** सदा बाहरी बातों के संयोग से बनती है। हमारे आस-पास जो घटनाएं, चीज़ें आदि होती हैं, उन्हीं का समन्वित रूप हमारी **'परिस्थिति'** है। हमारी 'स्थिति' अच्छी होने पर भी सम्भव है कि प्रतिकूल 'परिस्थितियों' के कारण हम कोई अच्छा काम आरम्भ न कर सकें; या उसे आरम्भ करने पर भी उसमें सफल न हो सकें। आरम्भ में फसल अच्छी होने पर भी, हो सकता है कि बाद मे 'परिस्थितियों' (उपयुक्त वर्षा के अभाव, असामयिक वर्षा अथवा रोग आदि) के कारण खराब हो जाए या बिल्कुल नष्ट हो जाए। अपराध करने पर भी कोई अपराधी केवल 'परिस्थितियों' (किसी बहुत बड़े अधिकारी का सम्बन्धी होने, विकट और घातक रोग से पीड़ित होने अथवा बड़े लोगों के बीच-बचाव करने आदि) के कारण दंड से बच सकता है। युद्ध आदि की

'परिस्थितियों' के कारण ही किसी साधारण समाचार-पत्र का प्रचार भी बढ़ सकता है; और आयात, उपज आदि की प्रतिकूल 'परिस्थितियों' के कारण अनाज या कपड़े का भाव गिर भी सकता है। हम कह सकते हैं कि इधर कई वर्षों से भारत को अनेक विकट परिस्थितियों का सामना करना पड़ रहा है। आशय यही है कि इधर कुछ वर्षों से कुछ ऐसी नई और विलक्षण घटनाएं हो रही हैं जो भारत के सामने अनेक विकट समस्याएं उपस्थित कर रही हैं। यहां यह भी ध्यान रहे कि अनुकूल **परिस्थिति** हमारे कार्य-साधन में सहायक होती है और प्रतिकूल **परिस्थिति** उसमें बाधक होती है।

'पर्यावरण' संस्कृत के 'आवरण' में 'परि' उपसर्ग लगने से बना है। इसका पुराना अर्थ तो आवरण या पर्दा ही है; परन्तु आज-कल इसमें एक नई स्थिति का आशय प्रकट करनेवाला अर्थ भी लग गया है।* यह **'परिस्थिति'** की तुलना में कुछ अधिक विस्तृत क्षेत्र का और **परिवेश** की तुलना में कुछ परिमित या सीमित क्षेत्र का सूचक है। इसमें किसी ऐसी विशिष्ट कालावधि, घटना-चक्र, जन-समाज, स्थल आदि का भाव भी निहित है, जिसकी कोई पृथक् और स्वतंत्र सत्ता होती है और जिसका मनुष्य की जीवनचर्या और मन पर अच्छा या बुरा प्रभाव पड़ता है; जैसे:कवि पर किसी एक समाज के **पर्यावरण** का विशेष प्रभाव पड़ता है। -डा० सम्पूर्णानन्द का आशय यही है कि कवि जिस काल,देश और समाज में जन्म लेता और रहता है, उसका प्रभाव उसके मन पर भी और फलतः उसकी कविता आदि पर भी अवश्य पड़ता है।

'पृष्ठभूमि' (सं०) का पुराना अर्थ तो मकान के सबसे ऊपर का खण्ड था; परन्तु आज-कल अंग्रेज़ी के Background के अनुकरण पर इसमें कुछ नया अर्थ या आशय लग गया है। इसका शब्दार्थ है–पीछे या पीठ की ओर की भूमि; साधारणतः चित्रों, रंगमंचों आदि में पीछे की ओर का जो तल या भाग होता है और जिस पर पर्वतों, वनों आदि के दृश्य अंकित होते हैं उसी को पृष्ठ-भूमि कहते हैं। इसका एक पुराना पर्याय **'पृष्ठिका'** भी है। लाक्षणिक रूप में इसका परवर्ती अर्थ होता है–पहले की वे सब बातें और परिस्थितियां जिनके आगे या सामने कोई नई बात या विशेष घटना हो और जिनके साथ मिलान करने पर उस बात या घटना का रूप स्पष्ट होता हो। चित्रों, मूर्तियों आदि में जो पीछेवाला तल होता है वह आधार मात्र होता और शोभा या सौन्दर्य बढ़ाने के लिए ही प्रस्तुत किया जाता है। आगे चलकर यह शब्द उस अवस्था या स्थिति का भी वाचक हो जाता है जो कुछ पहले की या पुरानी हो; और स्वभावतः जो लोगों की दृष्टि या ध्यान से कुछ ओझल-सी हो गई हो और इसीलिए कुछ बातों का पूर्व-वृत्त भी देना या बतलाना

---

* पहले यह नया आशय या भाव सूचित करने के लिए वातावरण और वायु-मण्डल शब्दों का प्रयोग होता था। परन्तु वातावरण और वायु-मण्डल दोनों वस्तुतः उस वाष्पीय गोलाकार आवरण को कहते हैं, जो हमारी सारी पृथ्वी को चारों ओर से घेरे हुए है; अथवा अन्यान्य आकाशस्थ ग्रहों पिण्डों को घेरे रहता है। ये दोनों शब्द अंग्रेज़ी में Atmosphere के समानक हैं परन्तु Atmosphere का उक्त अर्थ के सिवा एक दूसरा अर्थ भी होता है; और वही दूसरा अर्थ या भाव सूचित करने के लिए इधर हाल में 'पर्यावरण' शब्द बनाया गया है।

भी आवश्यक हो, जैसे हिन्दी भाषा या साहित्य की **पृष्ठभूमि** का आशय होगा–भारतीय भाषाओं या साहित्यों की वह पुरानी स्थिति जिससे आगे चलकर वर्तमान हिन्दी भाषा और साहित्य का विकास हुआ है। जब हम कहते हैं - अंग्रेज़ों की वे सब पुरानी बातें **पृष्ठभूमि** में चली गई हैं; तब हमारा आशय यही होता है कि उनकी पुरानी बर्बरता, उनके मध्य युगीन अत्याचार और इस शती के आरम्भ के प्रताप और वैभव की बहुत-सी बातें जन-साधारण की आंखों से ओझल हो गई हैं और लोग उन्हें भूल-से चुके हैं।

'भूमिका' *पु०* (सं०) हमारे यहां का बहुत पुराना शब्द है और इसके अनेक अर्थ हैं। इसका पहला और मुख्य अर्थ है–भूमि का कोई ऐसा विशिष्ट खण्ड या भाग जिसके ऊपर कोई क्रिया, रचना या ऐसी ही कोई और बात हुई या होती हो। इसे हम आधार-भूमि भी कहते हैं। इससे और आगे चलने पर इसका अर्थ होता है ऐसी बातें जो कोई महत्वपूर्ण बात कहने से पहले इसलिए संक्षेप में कही या बतलाई जाती हैं कि वे आधार-भूमि का काम दे सकें और जिनके फलस्वरूप आगे चलकर कही जानेवाली महत्वपूर्ण बात का **यथेष्ट** परिणाम या प्रभाव हो सके। पुस्तकों आदि में जो आमुख, प्रस्तावनाएं, वक्तव्य आदि आरम्भ में दिए जाते हैं; उन्हें भी इसी दृष्टि से **'भूमिका'** कहते हैं। ऐसी स्थितियों में **भूमिका** का अर्थ होता है–वे आरम्भिक और मूलभूत बातें जो पुस्तक का उद्देश्य, महत्व और विचारक्षेत्र का स्वरूप स्पष्ट कर सकें और जिनसे पुस्तक की आवश्यकता, या उपयोगिता सिद्ध हो सके। आज-कल यह शब्द उन अर्थों और भावों का भी सूचक हो गया है जो ऊपर पृष्ठभूमि के विवेचन में बतलाए गए हैं। अब तो कुछ लोग इसका प्रयोग उन मूलपात्रों के अर्थ में भी करने लगे हैं, जिनका रूप धारण करके अभिनेता अभिनय करते हैं जैसे: इस अभिनय में श्री प्रेमशंकर ने महाराज शिवाजी की **भूमिका** का अच्छी तरह निर्वाह किया था। ××

परिशीलन- *पु०* (सं०) दे० 'अध्ययन, अनुशीलन, परिशीलन, पारायण, मनन और स्वाध्याय'।

परिषद्- *स्त्री०* (सं०) दे० 'आयोग, अधिकरण, न्यायाधिकरण, परिषद् और मंडल'। 2. दे० 'मंत्रिमंडल और मंत्रिपरिषद्'।

परिषद् मंत्री- *पु०* (सं०) दे० 'मन्त्रिमंडल और मंत्रिपरिषद्'।

परिसंघ- *पु०* (सं०) दे० 'संघ, परिसंघ और राष्ट्रमंडल'।

परि-संपत्ति- *स्त्री०* (सं०) दे० 'धन, वित्त, वैभव, सम्पत्ति और परिसम्पत्ति'।

परिसंवाद- *पु०* (सं०) दे० 'परिचर्चा, परिसंवाद और विचार-गोष्ठी या (संगोष्ठी)'।

परिस्थिति- *स्त्री०* (सं०) दे० 'परिवेश, परिस्थिति, पर्यावरण, पृष्ठभूमि और भूमिका'।

परिहरण- *पु०* (सं०) दे० 'परिहरण, अपहरण, आहरण, परिहरण और परिहार'।

परिहार- *पु०* (सं०) दे० 'हरण, अपहरण, आहरण, परिहरण और परिहार'।

परिहास- *पु०* (सं०) दे० 'हंसी, दिल्लगी, परिहास, चुहल, और फबती'।

पर्यवेक्षण- *पु०* (सं०) दे० 'निरीक्षण, अधीक्षण, पर्यवेक्षण, पुनरीक्षण, संप्रेक्षण और सर्वेक्षण'।

पर्याय- *पु०* (सं०) दे० 'एकार्थक, पर्याय, समानक और समार्थक'।

पर्यावरण- *पु०* (सं०) दे० 'परिवेश, परिस्थिति, पर्यावरण, पृष्ठ-भूमि और भूमिका'।

149. पर्याप्त* यथेष्ट
Sufficient Enough

'पर्याप्त' शब्द वस्तुतः परि+आप्तः से बना है, जिसका शब्दार्थ है- जो अच्छी या पूरी तरह से प्राप्त हुआ हो। इसीलिए हम कहते हैं –भगवान् ने उन्हें **पर्याप्त** बुद्धि और विद्या (अथवा सम्पत्ति) भी दी थी। यहां तक तो ठीक है, पर आगे चलकर हिंदी में इस शब्द के साथ एक दूसरी विवक्षा भी लग गई, जिसके कारण ऊपर बतलाई हुई पहली विवक्षा गौण हो जाती है। हिंदी में **'पर्याप्त'** का प्रयोग प्रायः ऐसी मात्रा या मान सूचित करने के लिए होता है जिससे हमारी आवश्यकता की अच्छी तरह पूर्ति हो सकती हो, और उस पूर्ति के उपरान्त भी जिसमें से कुछ अंश बच रहने की सम्भावना हो। अर्थात् इसमें किसी वस्तु की अधिकतावाले भाव के साथ आवश्यकता या उपयोगितावाला तत्त्व भी आकर सम्मिलित हो जाता है। इसीलिए हम कहते हैं - (क) इस काम के लिए आपने जितना धन भेजा है, उतना **पर्याप्त** है; अथवा (ख) जाड़ा बिताने के लिए इतने गरम कपड़े **पर्याप्त** होंगे। संस्कृत और हिंदी कोशों में इसका एक और तीसरा अर्थ 'बहुत अधिक' भी मिलता है। परन्तु यह तीसरा अर्थ ऐसा नहीं है जो हर जगह ठीक और पूरा काम दे सके। उदाहरणार्थ, हम कभी यह नहीं कहते - वह **पर्याप्त दुष्ट (या मूर्ख)** है। कारण यही है कि **'पर्याप्त'** में मुख्य विवक्षा आवश्यकता, उपयोगिता, औचित्य आदि से सम्बद्ध है, और दुष्टता (या मूर्खता) ऐसी चीज़ या बात नहीं है जो आवश्यक, उपयोगी या उचित कही अथवा मानी जा सकती हो। अर्थबोध के सम्बन्ध में साधारण नियम यही है कि शब्द की जो विवक्षा प्रधान तथा प्रसिद्ध होती है, उसी की ओर पाठक या श्रोता का ध्यान पहले जाता है। अतः जब हमें **'पर्याप्त** चिन्ता' सरीखे प्रयोग दिखाई देते हैं, तब हमें उनमें कुछ खटक जान पड़ती है। 'पर्याप्त' शब्द सामने आते ही स्वभावतः हमारा ध्यान आवश्यकता या उपयोगिता आदि वाली विवक्षा से प्रभावित रहता है। और इसीलिए हमें 'चिंता' के साथ 'पर्याप्त' का प्रयोग खटकता है।

---

* कुछ दिन हुए, मुझे अपने एक परम आदरणीय और सुयोग्य मित्र का एक पत्र मिला था, जिसमें लिखा था - 'इससे मुझे पर्याप्त चिन्ता हो गई है।' पढ़ते ही मुझे इसमें का 'पर्याप्त' शब्द कुछ खटका। मैं सोचने लगा कि इसमें खटक क्यों है और कहां से व कैसे आई। मेरा ध्यान इसी से मिलते-जुलते शब्द **'यथेष्ट'** की ओर गया। मैं सोचने लगा कि क्या यहां 'पर्याप्त' की जगह **'यथेष्ट'** का प्रयोग ठीक होगा। पर वह भी मुझे ठीक नहीं जान पड़ा। मैं दोनों की खटक का कारण ढूंढने लगा। मेरे ध्यान में आया कि इस खटक का कारण इन शब्दों के मूल व्युत्पत्तिक अर्थों तथा मुख्य विवक्षाओं में होना चाहिए।

अब ज़रा **'यथेष्ट'** के अर्थ का भी विचार कर लीजिए। **'यथेष्ट'** का मूल रूप है- यथा + इष्ट; जिसका शब्दार्थ है–जितना या जैसा इष्ट हो। इसीलिए इसमें इच्छा या कामनावाली विवक्षा प्रधान है। मुख्यतः **'यथेष्ट'** का प्रयोग ऐसे ही प्रसंगों में होना चाहिए जो हमें इष्ट या वांछनीय हों अथवा जिनकी हम कामना करते हों। इसीलिए कहा जाता है - (क) उनके पास **यथेष्ट** धन था; अथवा (ख) वहां हमें **यथेष्ट** सुख मिला। इसी दृष्टि से यह कहना ठीक नहीं होगा–आज-कल वह **यथेष्ट** कष्ट (या विपत्ति) में है। कारण यही है कि कष्ट या विपत्ति कभी किसी को इष्ट नहीं होती। हम यह अवश्य कहते हैं - अपराधी को **यथेष्ट** दण्ड मिलना चाहिए। पर दण्डवाली बात कष्टवाली बात से इसलिए बिल्कुल भिन्न है कि अपराधी को दण्ड मिलना नीति और न्याय दोनों की दृष्टि से इष्ट या वांछनीय होता है। साधारणतः विस्तृत रूप में **'यथेष्ट'** का दूसरा या परवर्ती अर्थ होता है- बहुत अधिक। इसीलिए हम कहते हैं - आप मेरे साथ **यथेष्ट** अन्याय कर चुके हैं। ऐसे अवसरों पर **'यथेष्ट'** की दोनों विवक्षाएं काम करती हैं। कहनेवाले के दोनों आशय हो सकते हैं। उसका एक आशय तो यह होगा कि आप मेरे साथ जितना अन्याय करना चाहते थे, वह सब कर चुके। पर साधारण बोलचाल की दृष्टि से दूसरा आशय यह भी हो सकता है कि आप मेरे साथ बहुत अन्याय कर चुके।

अर्थबोध के सम्बन्ध का पहला और साधारण नियम तो हम ऊपर बतला ही चुके हैं। उसका दूसरा नियम यह है कि जहां दो या अधिक विवक्षाएं बहुत-कुछ समान रूप से प्रचलित या प्रसिद्ध होती हैं, वहां या तो अर्थग्रहण में कठिनता होती है या खटक। ऐसी कठिनता या खटक ही जिज्ञासु को शब्द के मूल या व्युत्पत्तिक अर्थ की ओर प्रवृत्त करती है और उस मूल स्रोत से जो तथ्य प्रधान या मुख्य रूप में प्राप्त होता है, उसी के आधार पर प्रस्तुत प्रयोग का आशय ग्रहण किया जाता है। इसी प्रकार के तात्त्विक विवेचन से पता चलता है कि 'पर्याप्त चिन्ता' और **'यथेष्ट** मूर्खता' सरीखे प्रयोगों में क्यों खटक होती है। पर जब हम यह कहते हैं - 'उनके पास जीवन निर्वाह' के लिए तो **यथेष्ट** धन था, परन्तु वे दीन-दुखियों या सगे-सम्बन्धियों की जितनी सहायता करना चाहते थे, उनके लिए धन पर्याप्त नहीं था, तो इसमें कुछ भी खटक नहीं होती।

अरबी का 'काफ़ी' उक्त दोनों शब्दों का समार्थक है।

पलायन- *पु०* (सं०) दे० 'दौड़ना, भागना और पलायन'।

पश्चात्ताप - *पु०* (सं०) दे० 'ताप, परिताप, पश्चाताप, मनस्ताप और संताप'।

150.	पहचान	अनुप्रमाणन	अभिज्ञान
	Identification	Attestation	
	पृष्ठांकन	सत्यापन	
	Endorsement	Verification	

इस वर्ग के शब्दों का प्रयोग ऐसे अवसरों पर होता है; जब किसी काम, चीज या व्यक्ति के संबंध में कोई ऐसी अप्रमाणित या संदिग्ध बात कही जाती है जिसे असली, ठीक या वास्तविक बतलाना अथवा सिद्ध करना आवश्यक होता है।

'पहचान' *स्त्री०* की व्युत्पत्ति अभी अनिश्चित है या तो यह सं० परिचयन से संबद्ध है या प्रत्यभिज्ञान से। **पहचान** का अर्थ है–किसी वस्तु या व्यक्ति को देखकर उसके आकार-प्रकार, रूप-रंग अथवा ऐसे ही और लक्षणों से यह समझ लेना कि यह वही वस्तु या व्यक्ति है जिसे मैंने पहले देखा है अथवा मैं अच्छी तरह जानता हूं; जैसे (क) मैं अपने कपड़े (या घड़ी) अच्छी तरह पहचानता हूं। (ख) उस नौकर की **पहचान** यह है कि उसकी दाहिनी आंख के ऊपर एक लंबे घाव का निशान है। (ग) उसे असली और नकली हीरे की अच्छी **पहचान** है अर्थात् वह देखकर बतला सकता है कि यह हीरा असली है या नकली। इसमें किसी पहले की या पुरानी वस्तु अथवा व्यक्ति को देखकर उसकी याद नई हो जाती है और यह मालूम हो जाता है कि यह वही है जिसे मैं पहले से जानता हूं या पहले देखा है। हमारे यहां इसके लिए सं० का पुराना शब्द **अभिज्ञान** प्रसिद्ध है;जैसेः**अभिज्ञान** शांकुतलं। राजा दुष्यंत ने पहले तो शकुंतला को नहीं पहचाना था पर जब उसने उन्हें उनकी अंगूठी दिखलाई, तब उन्हें उससे संबंद्ध पुरानी बातें याद हो आईं। इसीलिए कालिदास ने अपनी प्रसिद्ध रचना का नाम **अभिज्ञान** शाकुंतलं रखा था। परन्तु अब भारत सरकार ने इसके स्थान पर **अभिनिर्धारण** शब्द रखकर उसका प्रचलन आरम्भ किया है; परन्तु हमारी समझ में **अभिज्ञान** के रहते हुए नया शब्द अभिनिर्धारण रखना इसलिए ठीक नहीं होगा कि **अभिज्ञान** हमारे यहां का पुराना, प्रचलित और हलका शब्द है। कुछ लोग इसके स्थान पर **'शिनाख्त'** फ़ा० शनाख्त का भी प्रयोग करते हैं।

'अनुप्रमाणन' *पु०* (सं०) भारत सरकार का बनाया हुआ नया शब्द है। इसका प्रयोग दो अवसरों पर होता है। एक तो जब कोई व्यक्ति मौखिक या लिखित रूप में किसी के सामने शपथपूर्वक कोई बात उपस्थित करता है, तब वह व्यक्ति यह कह या लिख देता है कि हां यह बात ठीक और विश्वसनीय है अर्थात् इसकी सत्यता प्रमाणित करता हूं। दूसरे जब कोई लेख्य दस्तावेज़, वसीयत आदि न्यायालय में उपस्थित किया जाता है तब वकील उस पर यह लिख देता है कि यह विधिक दृष्टि से बिल्कुल ठीक और मान्य है। अर्थात् इसमें जितनी बातें लिखी हैं वे सब सत्य हैं। इस प्रकार वह उस लेख्य को अपनी ओर से प्रमाणित कर देता है। इस प्रकार के लेख्यों को प्रमाणित करने का अधिकार वकील के अतिरिक्त कुछ और विशिष्ट अधिकारियों को भी होता है।

'पृष्ठांकन' *पु०* (सं० पृष्ठ+अंकन) नया बनाया हुआ शब्द है जिसका प्रयोग मुख्यतः चेकों, हुंडियों आदि के भुगतान के संबंध में होता है। जब किसी को कोई चेक, हुंडी या ऐसा ही कोई देयादेश (रुपए आदि देने की परवानगी) मिलता है और वह किसी दूसरे को या अपने बंक को उसके रुपए दिलवाना चाहता है, तब वह उस देयादेश की पीठ पर यह लिखकर हस्ताक्षर कर देता है कि इसके रुपए अमुक व्यक्ति अथवा बैंक को दे दिए जाएं। इसी प्रकार के हस्ताक्षर युक्त उल्लेख को **पृष्ठांकन** कहते हैं।

'सत्यापन' *पु०* (सं० सत्य से) का शब्दार्थ है–यह कहना कि अमुक कथन या लेख्य ठीक और सत्य है। जब कोई लेख्य किसी व्यक्ति के सामने जांच या परीक्षण के लिए आता है तब वह अच्छी तरह उसे देखकर जांचता और मिलाता है। यदि वह लेख्य किसी दूसरे के लेख्य की प्रतिलिपि होता है, तब मूल से उसका मिलान करना पड़ता है। यदि वह ठीक हो तब उसे उस लेख्य के अंत में लिखना पड़ता है कि मैं इसे सत्यापित करता हूं अर्थात् मेरी दृष्टि में यह लेख्य बिल्कुल ठीक और सत्य है। इसी प्रकार का लेख, **सत्यापन** अथवा सत्यापित किया हुआ कहा जाता है और वह लेख्य सत्यापित किया हुआ मानकर उसके आगे की कार्रवाई की जाती है। यह किसी लेख्य के संबंध में एक प्रकार की ऐसी गवाही है जिसकी ज़िम्मेदारी अपने ऊपर ली जाती है। ××

पहल- *स्त्री०* (हिं० पहले) दे० 'छेड़ और पहल'।

पांडुलिपि- *स्त्री०* (सं०) दे० 'पाण्डु-लेख और हस्त-लेख'।

151. पांडुलेख — हस्तलेख

Draft — Manuscript

कुछ लोग भूल से उक्त दोनों शब्दों को एक दूसरे का पर्याय समझते हैं; परन्तु इनमें बहुत अन्तर है जो ध्यान में रखना आवश्यक है।

'पाण्डु' (सं०) विशेषण भी है और संज्ञा भी। विशेषण रूप में इसका एक अर्थ 'पीला' तो है ही; पर दूसरा अर्थ 'सफेद' भी है। इसी आधार पर पाण्डु का एक अर्थ खड़िया (मिट्टी) भी है, जिससे लड़के पटिया पर लिखने का अभ्यास करते हैं और जो अब पेंसिल के रूप में बनने लगी है। प्राचीन काल में जब कोई महत्त्वपूर्ण लेख लिखना होता था तब वे पहले खड़िया से ज़मीन पर या लकड़ी की पटिया पर उसे लिखते थे; और तब उसमें जो घटाना-बढ़ना होता था वह सब घटा-बढ़ाकर उसका शुद्ध और संयोजित रूप प्रस्तुत करते थे* और तब उसे ताड़-पत्र अथवा ताम्र-पत्र, शिला-खण्ड आदि पर उत्कीर्ण कराते थे। लेख का यही पूर्व रूप **पाण्डुलेख** कहलाता था। आज-कल

---

* यथा–

पाण्डुलेखेन फलके भूमौ वा प्रथमं लिखेत।
न्यूनाधिकं तु संशोध्य पश्चात पत्रे निवेशयेत॥
- आप्टे कृत सं० अं० कोश, दूसरा खण्ड, पृष्ठ 1005

इसके स्थान पर मसौदा (अ० मस्वद:) विशेष प्रचलित है। कुछ दिन पहले भारतीय संविधान के हिन्दी अनुवादकों ने इसके स्थान पर **'प्रारूप'** चलाना चाहा था पर वह चल नहीं सका। मेरी समझ में यह 'प्रारूप' व्याकरण की दृष्टि से ठीक सिद्ध भी नहीं होता क्योंकि संस्कृत प्रा कोई उपसर्ग नहीं है जो इस शब्द में 'रूप' के पहले लगा है। मेरी समझ में इसके स्थान पर 'प्रालेख' (प्र+आलेख) चलाया जा सकता है। कुछ लोग 'पांडु-लेख' के स्थान पर **'पांडुलिपि'** का भी प्रयोग करते हैं जो अर्थ की दृष्टि से ठीक नहीं है।

'हस्त-लेख' *पु०* (सं०) का साधारण अर्थ है--हाथ का लिखा हुआ लेख। परन्तु इसका प्रयोग मुख्यतः दो अर्थों में होता है। प्राचीन काल में जब छापे की कला नहीं चली थी तब ग्रन्थ, लेख्य आदि हाथ से ही लिखकर सुरक्षित रखे जाते थे। इसलिए आज भी इस प्रकार के हाथ से लिखे ग्रन्थ, लेख्य आदि **हस्तलेख** कहे जाते हैं। इसके सिवा आज-कल कवि, लेखक आदि स्वयं लिखकर अथवा मुद्र-लेखन के द्वारा अपनी कृति का जो रूप प्रस्तुत करके प्रकाशकों, संपादकों आदि के पास छपने के लिए भेजते हैं, उसकी गिनती भी **हस्तलेख** में ही होती है। इस दूसरे अर्थ में आज-कल 'आलेख' का प्रयोग होने लगा है जो सब तरह से ठीक भी है और हल्का भी है। ××

152. पांव पैर टांग

Leg Foot Leg

प्रामाणिक हिन्दी कोश का सम्पादन करते समय मेरा ध्यान इस ओर गया था कि **टांग** और **पांव** के मुहावरों में कई अन्तर हैं और इनका उल्लेख मैंने प्रामाणिक हिन्दी कोश की भूमिका में इस प्रकार किया था- 'शब्द सागर' में **टांग** और **पांव** से सम्बन्ध रखनेवाले बहुत से मुहावरे अवश्य आये हैं; पर उन मुहावरों का वर्गीकरण उतना युक्ति-संगत नहीं हुआ है, जितना होना चाहिए; और इसीलिए बहुत से मुहावरे **टांग** और **पांव** दोनों [illegible] अन्तर्गत आ गये हैं। इस कोश का सम्पादन करते समय मेरे ध्यान में यह बात आई कि कुछ मुहावरे केवल **'टांग'** के है और कुछ **'पांव'** के। उदाहरणार्थ 'किसी के काम में **टांग** अड़ाना' तो मुहावरा है, पर 'किसी के काम में **पांव** (या पैर) अड़ाना' मुहावरा नहीं है।

प्रयोगों तथा मुहावरों के इसी प्रकार के कई और अन्तर देखकर प्रामाणिक हिन्दी कोश में मैंने **'टांग'** के मुहावरे **'टांग'** के अन्तर्गत और **'पांव'** के मुहावरे **'पांव'** के अन्तर्गत दिये थे। पर कुछ मुहावरे ऐसे भी थे जो दोनों शब्दों के साथ समान रूप से चलते हैं। ऐसे मुहावरे मैंने इसीलिए **'पांव'** के अन्तर्गत रखे थे कि आज-कल **'पांव'** शब्द ही मानक और शिष्ट-सम्मत माना जाता है। **'टांग'** शब्द तो पुराना हो चला है, और कुछ स्थानिक भी है। इसके सिवा अपने कई मुहावरों के कारण वह कुछ ग्राम्य सा भी हो गया है। मुहावरों के क्षेत्र में कुछ-कुछ इसी प्रकार का अन्तर **'पांव'** और 'पैर' में भी है, पर उतना नहीं जितना **'टांग'** और **'पांव'** में है। प्रामाणिक हिन्दी कोश में भी और मानक हिन्दी

कोश में भी ऐसे सूक्ष्म अन्तरों का यथासाध्य बहुत-कुछ ध्यान रखा गया है।*

इस संबंध में एक विलक्षण विचारणीय बात यह है कि **टांग**, **पांव** और **पैर** के अर्थों तथा विवक्षाओं का ठीक-ठीक क्षेत्र या मर्यादा ही अभी तक निरूपित नहीं हो पाई है, तो भी एक प्रकार से कहा जा सकता है कि **'टांग'** तो कमर के नीचे का वह सारा अंग है जिसे अंग्रेज़ी में 'लेग' कहते हैं; और **'पांव'** या **'पैर'** मुख्यतः टखने के नीचे का वह अंग है जिनमें एड़ी, तलुवा और उंगलियां होती हैं और जिसे अंग्रेज़ी में 'फुट' कहते हैं। **पांव** के सम्बन्ध में ध्यान रखने योग्य एक और मुख्य बात यह है कि व्यापक अर्थ में **पांव** उस अंग को कहते हैं जिसके आधार पर कोई चीज़ खड़ी या ठहरी रहती है। एक प्रसिद्ध कहावत है–झूठ के **पांव** नहीं होते। इस प्रसंग में किसी को **'पांव'** के स्थान पर **'पैर'** का प्रयोग करते हुए न तो कहीं देखा है, न सुना है। जिस प्रकार अंग्रेज़ी में कभी-कभी लोग अज्ञान या भूल से एक की जगह दूसरे का प्रयोग करते हैं, उसी प्रकार हिन्दी में भी कर जाते हैं, बल्कि यों कहना चाहिए कि अंग्रेज़ी की अपेक्षा हिन्दी में इस अर्थ-मर्यादा का और भी कम ध्यान रखा जाता है और इसीलिए इसके अर्थों और मुहावरों का ठीक-ठीक पार्थक्य तथा विश्लेषण करना और भी कठिन हो जाता है। हिन्दी शब्द सागर में तो सब मुहावरे **'पांव'** के अन्तर्गत रखे गये हैं और **'पैर'** शब्द में **'पांव'** शब्द का निर्देश मात्र कर दिया गया है, उसका भी मुख्य कारण कदाचित् उक्त कठिनता ही रही है। वास्तव में हुआ यही है कि पहले तो **'पांव'** शब्द का पूरा विवेचन कर दिया गया और इस बात पर सोचा-विचारा नहीं गया कि दोनों के अर्थों और मुहावरों में कोई अन्तर है या नहीं; और तब **'पैर'** शब्द के सम्पादन के समय **'पांव'** का ही निर्देश कर दिया गया। इसी प्रकार सारा ज़ोर **'पांव'** शब्द पर आ पड़ा और **'पैर'** का भार बिल्कुल हलका हो गया। पर राष्ट्र-भाषा की प्रस्तुत मर्यादा का ध्यान रखते हुए अब इन दोनों का विश्लेषण इसलिए आवश्यक हो गया है कि इससे कुछ भ्रम फैल सकता है। हो सकता है कि शब्दसागर में पांव' शब्द की प्रधानता और **'पैर'** की गौणता देखकर हिन्दी की प्रवृत्ति और स्वरूप से अनभिज्ञ अथवा अन्य भाषा-भाषी यह निष्कर्ष निकल बैठें कि हिन्दी में **'पांव'** ही मुख्य और मान्य रूप है, **'पैर'** उसकी अपेक्षा गौण है। **'पांव'** और **'पैर'** के सम्बन्ध मे ध्यान रखने की मुख्य और महत्वपूर्ण बात यह है कि **'पांव'** अधिकतर पूर्वी क्षेत्रों में चलता है, और **'पैर'** की चाल प्रायः पश्चिम में दिखाई देती है; जैसे **पांव** धरना या धारना' (जहं-जहं नाथ **पांव** तुम धारा–तुलसी) पूर्वी बोलचाल है और **'पैर** पकड़ना या रखना', पश्चिमी है। पूरब में **'पांव'** पखारते और पलोटते हैं, पश्चिम में **'पैर'** धोते और दबाते हैं। धरती **'पांव'** तले से निकलती है; और ज़मीन 'पैरों' तले से। यह ठीक है कि ब्रजभाषा में भी **'पांव'** के प्रयोग मिलते हैं (अब यह बात कहो जनि ऊधो, पकरति **पांव** तिहारे। –सूर) फिर भी दोनों के सम्बन्ध में मुख्य क्षेत्रीय अन्तर पूर्वी और पश्चिमी का ही है। एक बात और है। **'पांव'** वाले

---

* खेद है कि लिपिक के दृष्टि-दोष के कारण प्रामाणिक हिन्दी कोश के पहले संस्करण में 'पांव' और उसके आगे-पीछे के 18-20 शब्द छपने से रह गये थे। इस त्रुटि की पूर्ति उसके दूसरे संस्करण में कर दी गई थी। यहा यह बतला देना भी आवश्यक जान पड़ता है कि उक्त त्रुटि की ओर मेरा ध्यान माननीय श्रीयुक्त श्रीप्रकाश जी ने आकृष्ट किया था जो उन दिनों असम में राज्यपाल थे।

क्षेत्र में **पांव** के और **'पैर'** वाले क्षेत्र में **पैर** के मुहावरे बने और तब दोनों क्षेत्रों के मुहावरों में आदान-प्रदान भी हुआ, विशेषतः दोनों क्षेत्रों के मध्य में या सीमा पर रहनेवाले लोगों ने दोनों के प्रयोगों और मुहावरों का खूब घाल-मेल किया। समानार्थी शब्दों के मुहावरों में इस प्रकार हेर-फेर भाषा में प्रायः देखने में आता है। उर्दूवालों ने 'आसमान' के साथ जो अनेक प्रयोग और मुहावरे जोड़े थे उनमें से अनेक अब 'आकाश' के साथ भी चलने लगे हैं। इन्हीं सब कारणों से **'पांव'** और **'पैर'** के प्रयोगों के सम्बन्ध में एक ऐसी जटिल समस्या खड़ी हो गयी है, जिसके निराकरण के लिए विशेष अध्ययन, छान-बीन और विचार की अपेक्षा है।

'पांव' और **'पैर'** के सम्बन्ध में ध्यान रखने की एक और बात है। हिन्दी जगत् के अपने पचास-साठ वर्षों के अनुभव के आधार पर मैं कह सकता हूं कि हिन्दी के अनेक मरणोन्मुख शब्दों में **'पांव'** भी एक है। आज-कल **'पांव'** को छोड़कर **'पैर'** के प्रयोग की प्रवृत्ति बराबर बढ़ रही है। इसके कई कारण हैं। **'पैर'** कुछ तो पश्चिमी हिन्दी का होने के कारण, कुछ उर्दूवालों की फसाहत के प्रभाव से और कुछ उच्चारण तथा लिखने के सुभीते के विचार से बराबर अधिक प्रचलित होता जा रहा है; और इसके विपरीत **'पांव'** का प्रयोग घटता जा रहा है। यही कारण है कि अब **'पांव'** के भी अनेक मुहावरों का प्रयोग या तो अविकल रूप में या परिष्कृत रूप में **'पैर'** के साथ होने लगा है और प्रायः वही शिष्टसम्मत माना जाता है। ऊपर **'पांव'** और **'पैर'** के पूर्वी तथा पश्चिमी प्रयोगों के जो कई उदाहरण दिये गये हैं, वही मेरे इस कथन की पुष्टि के लिए यथेष्ट हैं। आगे बढ़ने से पहले **'पांव'** शब्द के रूप के सम्बन्ध में भी एक बात बतला देना चाहता हूं। हिन्दी शब्द सागर में यह शब्द **'पांव'** रूप में नहीं, बल्कि 'पावं' रूप में आया है। अर्थात् इसमें बीच वाली आकार की मात्रा पर चन्द्रविंदु नहीं है, बल्कि अन्तिम 'व' पर है। ऐसा क्यों हुआ, इसकी एक लम्बी कहानी है। मैंने उसी समय इस रूप का विरोध किया था और कहा था कि जब 'आंव', 'कांव', 'गांव', 'छांव', 'ठांव' आदि शब्दों में आ की मात्रा पर चन्द्रविन्दु है, तब **'पांव'** में इसका अपवाद होना ठीक नहीं है। परन्तु मेरी यह सीधी-सादी युक्ति शिक्षा और निरुक्त के बड़े-बड़े ढोके लुढ़काकर कुचल दी गयी थी, और 'व' पर ही चन्द्रविंदु लगाया गया था। पर यह रूप हिन्दी में चला नहीं। चला वही सीधा-सादा रूप जिसका मैंने समर्थन किया था। प्रामाणिक हिन्दी कोश में भी और मानक हिन्दी कोश में भी मैंने यही रूप रखा है। वृहत् हिन्दी कोश तथा दूसरे कई कोशों में भी यही रूप ठीक माना गया है, और इसी के अन्तर्गत सब अर्थ और मुहावरे आये हैं। यहां प्रसंगवश यह बतला देना भी उचित जान पड़ता है कि ऐसे शब्दों के अक्षरों के सम्बन्ध में उर्दूवाले हमारी अपेक्षा अधिक सावधान रहते हैं। वे ऐसे सभी शब्दों में अलिफ या आकार की मात्रा के बाद भी 'नून गुन्ना' (चन्द्रविन्दु का सूचक वर्ण) रखते हैं और अन्त में भी। अर्थात् उर्दू में लिखे हुए ऐसे शब्द उच्चारण की दृष्टि में 'गावं' 'पावं' आदि के रूप में लिखे जाते हैं। परन्तु हिन्दी में कई कारणों से, ऐसा नहीं होता, और उन कारणों में एक मुख्य कारण छापे के अक्षरों की कठिनाई भी है।

अब **'पांव'** और **'पैर'** के मुहावरों की बात लीजिए। धरना, धारना, पखारना,

पलोटना आदि क्रियाओं का **'पांव'** से जो सम्बन्ध है उसकी चर्चा ऊपर हो चुकी है। बच्चे प्रायः पांव-पांव ही चलते हैं, पैर-पैर नहीं चलते। 'टिकना' और 'ठहरना' के साथ भी प्रायः **पांव** का प्रयोग ही देखने में आता है। 'वहां उनके **पैर** नहीं टिके' सरीखे प्रयोग अब भले ही होने लगे हों, पर आज-कल 'पैर नहीं ठहरते' सरीखे प्रयोग कम होते हैं, और प्रायः 'पांव नहीं ठहरते' का ही अधिक प्रयोग देखा जाता है। प्राचीन काल में **पांव** ही रोपा जाता था, **पैर** तो आज भी नहीं रोपा जाता। **पांव** निकालना, **पांव** फैलाना, **पांव** धोकर पीना आदि प्रयोग बहुत दिनों से चले आ रहे हैं। पर अब ऐसे प्रयोगों में **'पांव'** की जगह **'पैर'** भी आने लगा है। लाक्षणिक रूप में और 'आधार' के अर्थ में हम अब भी यही कहते हैं – उसके **पांव** नहीं हैं। यह नहीं कहते –उसके **पैर** नहीं है। इन सब प्रयोगों पर विचार करने से दो और बातें सिद्ध होती हैं। एक तो यह कि **'पांव'** में मुख्य भाव खड़े होने, चलने और शरीर का भार वहन करने का है, और दूसरे यह कि **'पांव'** शब्द पूर्वी होने के अतिरिक्त अपेक्षाकृत अधिक पुराना भी है। इसके विपरीत **'पैर'** में घुटने के नीचे का सारा भाग आ जाता है (यह बात **'पांव'** के सम्बन्ध में भी है) और इसीलिए उसकी सब बातें भी इस शब्द में समाविष्ट हैं। दोनों के प्रयोगों आदि पर विचार करने से एक तीसरी बात यह भी जान पड़ती है कि **'पांव'** का प्रचलन कम हो रहा है और **'पैर'** का प्रचलन बढ़ रहा है और यही कारण है कि **'पांव'** के बहुत से पुराने मुहावरे भी अब आकर **'पैर'** में ही लगने लगे हैं। जहां पहले 'चाहे **पांव** परो आयी' चलता था वहां अब लोग अपना काम निकालने के लिए दूसरों के पैरों पड़ने लगे हैं। **'पांव** पसारिये' की जगह अब लोग मौका देखकर **पैर** ही पसारते हैं। मेंहदी जहां पहले पांवों में लगती थी* वहां अब पैरों में भी लगने लगी है। उखाड़ना, कांपना, डगमगाना, थरथराना, दबाना, पकड़ना, पूजना, घिसना, फूलना, रखना आदि क्रियाओं के साथ **'पांव'** और **'पैर'** दोनों का प्रयोग प्रायः समान रूप से देखने में आता है, पर **'पांव'** का कुछ कम और **'पैर'** का कुछ अधिक। इन सब बातों से इसी निष्कर्ष पर पहुंचना पड़ता है कि अब अपेक्षाकृत **'पैर'** ही अधिक प्रचलित हो रहा है इसीलिए, अधिकतर मुहावरे भी **पैर** के साथ ही सम्बद्ध हो गये हैं। फिर भी **'पांव'** का अब तक कुछ प्राधान्य बना है और कुछ मुहावरे ऐसे भी हैं जो विशिष्ट रूप से **'पांव'** से ही सम्बद्ध दिखाई देते हैं। यदि **'पांव'** और **'पैर'** के सम्बन्ध में मेरे उक्त विचारों में किसी सुविज्ञ सज्जन को कोई भूल दिखाई दे तो वे मुझे अवश्य सूचित करने की कृपा करें। मैं उनका विशेष रूप से कृतज्ञ होऊंगा।

ऊपर **'पांव'** और **'पैर'** के साथ ही एक जगह **'टांग'** की भी चर्चा आयी है। उसके सम्बन्ध में भी एक-दो बातें यहां बतला देना अप्रासंगिक न होगा। **'टांग'** भी **'पांव'** की तरह पुराना (कम से कम **'पैर'** से तो अवश्य अधिक पुराना) शब्द है। मुख्य, पुराना और प्रशस्त मुहावरा (किसी के काम में) 'टांग अड़ाना' ही है। बाद में कहीं-कहीं उसकी जगह 'पांव अड़ाना' का भी प्रयोग होने लगा, परन्तु **'पैर** अड़ना' अभी तक कम से कम मेरे

---

* आहट पे कान, दर पे नज़र थी कि नागहां।
आई खबर कि पांव में मेंहदी लगा चुके।
– कोई शायर

देखने में तो नहीं आया। साधारण अर्थ में (लाक्षणिक अर्थ या मुहावरे के रूप में नहीं) हम **'टांग** तोड़ना' की जगह **'पांव** तोड़ना' भी कह जाते हैं और **'पैर** तोड़ना' भी, जैसे अब तुम वहां जाओगे तो मैं तुम्हारी **टांग** (पांव या पैर) तोड़ दूंगा। लेकिन जहां हमें कहना होता है—अब आप अंग्रेज़ी की भी **टांग** तोड़ने लगे हैं, वहां **'टांग'** की जगह कभी कोई **'पांव'** या **'पैर'** का प्रयोग नहीं करता अर्थात् मुहावरे का यह रूप **'टांग'** से ही सम्बद्ध है। यहां **'पांव'** या **'पैर'** की दाल नहीं गलती। एक पुराना मुहावरा है - किसी की **टांग** के तले से निकल जाना, जिसका आशय है - हर तरह से अपनी हार या हीनता मान लेना। एक ऐसे अवसर पर कभी **'टांग'** की जगह **'पांव'** या **'पैर'** का प्रयोग कोई नहीं करता। छोटे लड़के को डांटने-डपटने के समय यही कहा जाता है- **टांग** बराबर लड़का है पर कैसा बढ़-बढ़कर बोलता है। ऐसे प्रयोगों में **'टांग'** की जगह **'पांव'** या **'पैर'** का प्रयोग कोई नहीं करता। परन्तु स्वयं **'टांग'** शब्द भी और उससे सम्बद्ध विशिष्ट मुहावरे भी अलग हैं।

××

153. पाखंड आडंबर ढकोसला ढोंग

पाखंड	आडंबर	ढकोसला	ढोंग
Sanctimony	Ostentation	Show	Pretension
Hypocrisy	Pomp		

इस वर्ग के शब्द ऐसे दिखावटी या बाह्य रूपों के वाचक हैं जिनमें ओछी या तुच्छ वास्तविकता अथवा स्थिति तो छिपा या दबाकर रखी जाती है और लोगों को प्रभावित करने के लिए उनके सामने ऐसा रूप उपस्थित किया जाता है कि वे उसे वास्तविक, सत्य अथवा सुन्दर समझें।

'पाखंड' *पु०* (सं०) मूलतः संस्कृत में 'पाषंड' है जो हमारे यहां के धार्मिक समाज का उपेक्षासूचक शब्द है। प्राचीन भारत में जो हिंदू , जैन या बौद्ध अपने धर्म पर सच्ची निष्ठा तो नहीं रखते थे पर लोगों को दिखलाने भर के लिए झूठ-मूठ और कुछ बढ़ा-चढ़ाकर धार्मिक आचार-व्यवहार करते थे, वे पाखंडी या **धर्म-ध्वजी** कहलाते थे और उनका ऐसा आचरण ही पाखंड कहलाता था। आजकल पाखंड ऐसे सभी आचरणों और व्यवहारों का सूचक हो गया है, जिसमें मनुष्य वास्तव में नीतिमान और सत्य-निष्ठ न होने पर भी औरों के सामने अपने आपको नीतिमान और सत्य-निष्ठ सिद्ध करने का प्रयत्न करता रहता है, अथवा अपना असद् रूप छिपाने के लिए ऊपरी या बाहरी किसी सद् रूप का प्रदर्शन करता है। यदि हमारा सच्चा सिद्धांत या मत तो हो ही नहीं, पर हम जगह-जगह किसी सच्चे सिद्धांत या मत का ढोल पीटते फिरें या बातें तो ऊंची-ऊंची करें, पर अंदर ही अंदर अनुचित या नीति विरुद्ध आचरण भी करते रहें, तो यह हमारा **पाखंड** कहा जाएगा। अपने वास्तविक, कलुषित या हीन रूप छिपाकर स्वार्थवश उसे शुद्ध और उच्च सिद्ध करने का प्रयत्न ही **पाखंड** है। जब साधु-संन्यासी, पुजारी, ब्राह्मण आदि धर्म का झंडा खड़ा करके अपना स्वार्थ साधने के लिए लोगों को ठगते हैं, तब उनका ऐसा आचरण भी **पाखंड** कहलाता है। साधारण हिन्दी बोल-चाल में इसे **'ढोंग'** भी कहते हैं।

'आडंबर' *पु०* (सं०) का मूल अर्थ है—बहुत ऊंचा और ज़ोरों का शब्द। इसका

परवर्ती अर्थ है बहुत अधिक या अनावश्यक रूप से बोलना अथवा निरर्थक बड़े-बड़े शब्दों का प्रयोग करना। परन्तु प्रस्तुत प्रसंग में **आडंबर** ऐसे दिखावटी और बाहरी रूप को कहते हैं जिसमें वास्तविक स्थिति छिपाकर रखने के लिए और दूसरों को धोखे में रखकर कोई स्वार्थ सिद्ध करने के लिए आकर्षक, भव्य अथवा सुंदर बना दिया जाता है। जब अन्दर कुछ भी तत्त्व नहीं होता या बहुत कम तत्त्व होता है पर बाहरी रूप इतना भव्य रखा जाता है कि लोग धोखे में आ जाएं तो वह बाहरी भव्य रूप ही **आडंबर** कहलाता है। यदि किसी बड़े रईस की बहुत-कुछ सम्पत्ति तो उसके हाथ से निकल गई हो, पर वह अपने बाहरी ठाट-बाट और रूप-रंग पहले की तरह ही बनाए रखे; तो हम कहेंगे–यह इनका **आडंबर** ही है। यदि हम में विद्या-बुद्धि तो बहुत कम हो, पर हम किसी प्रकार बड़े-बड़े विद्वानों की सभाओं में पहुंचकर उनके साथ उठें-बैठें और उन्हीं की तरह आचार-व्यवहार करें या सदा दो-चार आदमियों को अपने शिष्यों और अनुयायियों के रूप में साथ लेकर इधर-उधर आया-जाया करें तो यह भी हमारा **आडंबर** ही होगा, क्योंकि इसका उद्देश्य दूसरों की दृष्टि में अपनी हीनता छिपाकर अपना महत्व स्थापित करने के सिवा और कुछ न होगा।

'ढकोसला' *पु०* की व्युत्पत्ति अनिश्चित है। हो सकता है कि इसका मूलिक संबंध ढंकना या ढांकना से हो अथवा यह विशुद्ध देशज हो। कुछ अंशों में हम इसे **आडंबर** का समार्थक भी कह सकते हैं। **आडंबर** तो शिक्षित और शिष्ट समाज का शब्द है; पर **ढकोसला** निरा बाज़ारू है। इसमें अधिकतर आक्षेप या कटाक्ष थोथी और बाहरी तड़क-भड़क या दिखावे पर है, भीतरी निस्सारता पर अपेक्षया बहुत कम है।* यदि किसी थिएटर या सरकस में बाहरी तड़क-भड़क या दिखावट तो बहुत कुछ हो, पर अन्दर तमाशा बहुत ही साधारण या रद्दी हो तो हम कहेंगे–यह सारा **ढकोसला** ही है; अन्दर कुछ भी तत्त्व नहीं। इसके साथ प्रायः खड़ा करना क्रिया का प्रयोग होता है।

'ढोंग' (*पु०*) वस्तुतः हिन्दी ढंग का स्थानिक, परन्तु एक विशिष्ट अर्थ से युक्त विकारी रूप है। ढंग के तो कई अर्थ हैं; परन्तु **'ढोंग'** का जो विशिष्ट अर्थ है वह भी ढंग

---

* इसी आधार पर हिन्दी में एक विशेष प्रकार की कविता या तुकबन्दी को भी ढकोसला कहते हैं। इसमें पद योजना और वाक्य रचना तो व्याकरण की दृष्टि से बिल्कुल ठीक होती है; पर अर्थ की दृष्टि से नाम को भी कोई संगति नहीं होती - सभी बातें बिल्कुल बेमेल या बे-सिर-पैर की होती हैं; जैसे—

(क) भैंसिया चढ़ी नीम पै, लपलप गूलर खाय।

(ख) धोबी रोज-रोज आवे, पर करनी बसुली नहिं लावे।

(ग) इसका हल पगहा छीन लो यह बैल काहे से दूहेगा। और

(घ) भादों पक्की पीपली, झड़-झड़ पड़े कपास।

(च) बी मेहतरानी दाल पकाओगी या नंगा ही सो रहूं। - खुसरो

इसे लोक में अनमिल या अनमेला भी कहते हैं। इस संबंध में कहा जाता है- अन-मिल आखर अरथ न जाकू। अर्थात् इसमें अक्षर (शब्द) तो अनमेल रहते हैं परन्तु उनके अर्थ का कुछ भी पता नहीं चलता।

के अनेक अर्थों में से एक है । इसीलिए 'ढंग-रचना' और 'ढोंग रचना' दोनों समार्थक मुहावरे हैं । ऊपर हम कह आए हैं कि कुछ अवस्थाओं में **पाखंड** के स्थान पर **ढोंग** का भी प्रयोग होता है परन्तु अपने बहुप्रचलित अर्थ में **ढोंग** एक दो बातों में **पाखंड** से कुछ भिन्न भी है । **पाखंड** का मुख्य उद्देश्य तो लोगों को अपने बड़प्पन या महत्व का भान कराना होता है; परन्तु **ढोंग** का उद्देश्य दूसरों को अपनी ओर अनुरक्त करके उनकी दया, सहानुभूति आदि प्राप्त करना अथवा और किसी प्रकार का स्वार्थ सिद्ध करना होता है । बच्चे प्रायः विद्यालय जाने से बचने के लिए पेट या सिर के दर्द का **ढोंग** रचते हैं; और भिखमंगे प्रायः भीख मांगते समय हाथों या पैरों पर पट्टियां बांधकर लंगड़े-लूले या अपाहिज होने का **ढोंग** रचते हैं । इस प्रकार इसमें बहाने या मिस का भी कुछ भाव सम्मिलित रहता है । क्योंकि इसमें ऐसी बात या रूप प्रकट करने का प्रयत्न होता है, जिसका वस्तुतः कोई अस्तित्व नहीं होता या नाम मात्र का अस्तित्व होता है । (दे० 'ब्याज, मिस, बहाना और हीला' ।)

××

पारंगत *पु०* (सं०) दे० 'अध्ययन, अनुशीलन, परिशीलन, पारायण, मनन और स्वाध्याय' ।

154. पारस्परिक — अन्योन्याश्रित — प्रतिपूरक

Mutual — Mutual dependent — Reciprocal

इस वर्ग के शब्द ऐसी स्थितियों के सूचक विशेषण हैं जिनमें व्यावहारिक दृष्टि से पुराने अनुभवों के आधार पर कुछ बातों या व्यक्तियों में या तो एक ही प्रकार के और समान आदान-प्रदान होते हैं अथवा उनके आघात बहुत-कुछ एक से होते हैं ।

'पारस्परिक' *वि०* (सं०) परस्पर का विकारी रूप है । इसका अर्थ होता है एक दूसरे के साथ या आपस में होनेवाला (कार्य, व्यवहार अथवा संबंध) । यह ऐसी स्थिति का सूचक है जिसमें दोनों ओर की अनुभूतियां एक ही सी होती हैं; और इसीलिए उनमें होनेवाली प्रतिक्रियाएं भी और उनके परिणाम भी एक ही से होते हैं । हिन्दी में यह भाव 'आपसी' शब्द से सूचित किया जाता है, जैसेः दोनों भाइयों में सदा ऐसा ही **पारस्परिक** (आपसी) प्रेम-भाव बना रहा । अर्थात् दोनों एक दूसरे के साथ बराबर प्रेमपूर्वक और मिल-जुल कर रहा करते थे ।

'अन्योन्याश्रित' (*वि०* सं० अन्य-अन्य+आश्रित) का अर्थ है - ऐसे (दो या कई) जो आपस में एक दूसरे पर दृढ़तापूर्वक या स्थायी रूप से अवलंबित या आश्रित हों; जिनका आधार एक ही हो और निर्वाह या व्यवहार उसी आधार के परिणामस्वरूप चलता या बना रहता हो । इसमें पारस्परिकतावाला तत्त्व तो वर्तमान है ही; परन्तु ज़ोर इस बात पर है कि दोनों या सबका आधार एक ही है यदि वह आधार नष्ट हो जाए तो उस पर आश्रित सभी काम, चीज़ें या बातें भी नहीं रहने पातीं; जैसे–सभी प्रकार के उद्योग-धन्धे पूंजी और श्रम पर अन्योन्याश्रित हैं । आशय यही है कि पूंजी के अभाव में भी और श्रम न होने पर

भी उद्योग-धन्धे नहीं चल सकते। इन्हें चलाने के लिए पूंजी की भी उतनी ही और वैसी ही आवश्यकता होती है जितनी और जैसी आवश्यकता श्रम की होती है। हमारे यहां तर्कशास्त्र में इस प्रकार के संबंध का उदाहरण गर्मी और सर्दी के रूप में दिया गया है; और कहा गया है कि जब तक गर्मी का अनुभव और ज्ञान न हो; तब तक सर्दी का भी अनुभव और ज्ञान नहीं होता। इसी तरह सर्दी के अनुभव और ज्ञान के लिए गर्मी के अनुभव और ज्ञान की भी आवश्यकता होती है। सं० में अन्योन्याश्रित का एक और रूप अन्योन्याश्रयी भी होता है, जिसका प्रचलन हिन्दी में अपेक्षया बहुत कम है।

'प्रतिपूरक' *वि०* (सं०) प्रतिपूर्ति * का विकारी विशेषण रूप है। प्रस्तुत प्रसंग में इसका मुख्य भाव यह है कि जिस प्रकार का आचरण या व्यवहार हमारे साथ कोई दूसरा करेगा तो हम उसके साथ भी वैसा ही आचरण या व्यवहार करेंगे अर्थात् एक पक्ष से होनेवाले व्यवहार पर ही दूसरे पक्ष का व्यवहार आश्रित होता है। अथवा दूसरे शब्दों में हम कह सकते हैं कि एक ओर से जो काम या बात होगी, उसी के अनुरूप दूसरे पक्ष से भी वैसा ही काम या बात होगी। आप हमारी भलाई करेंगे तो हम भी आपकी भलाई करेंगे। वैज्ञानिक क्षेत्रों में कहा जाता है कि जहां वृक्षों और हरियाली की अधिकता होती है, वहीं बादलों से जल भी अधिक बरसता है; और जहां जल अधिक बरसता है, वहीं वृक्षों और हरियाली की भी अधिकता होती है। यही इन दोनों का अन्योन्याश्रित संबंध है। ××

पारायण- *पु०* (सं०) दे० 'अध्ययन, अनुशीलन, परिशीलन, पारायण, मनन और स्वाध्याय'।

155. पारितोषिक पारिश्रमिक पुरस्कार

Prize Remuneration Reward

इस वर्ग के शब्द ऐसी धन-राशि के वाचक हैं जो किसी व्यक्ति को कोई काम या परिश्रम करने पर अथवा बहुत अधिक कुशलता या दक्षतापूर्वक कोई अच्छा और बड़ा काम करने पर उसके प्रतिफल के रूप में या तो अपनी प्रसन्नता प्रकट करने के लिए या उसे प्रोत्साहित और संतुष्ट करने के लिए दी जाती है।

---

* हिन्दी में प्रतिपूर्ति का प्रयोग साधारणतः हरजाने (Compensation) के अर्थ में होता है (दे० 'पूर्ति, अनुपूर्ति, आपूर्ति और प्रतिपूर्ति')। परन्तु प्रस्तुत प्रसंग में हमने अं० Reciprocal के लिए उसी प्रतिपूर्ति का वि० रूप **प्रतिपूरक** रखा है। इसका मुख्य कारण यह है कि Compensation और Reciprocality दोनों के मूल भावों में बहुत कुछ एकरूपता और समानता है। दोनों में एक के बदले में होनेवाले दूसरे (काम, बात या व्यवहार) का भाव प्रधान है। अन्तर यही है कि एक में तो किसी की क्षति या हानि का बदला चुकाना अभीष्ट होता है और दूसरे में वैसा ही आचरण या व्यवहार प्रधान होता है, जैसा दूसरे पक्ष से हुआ हो या हो रहा हो। इसीलिए हमने प्रतिपूर्ति को अं० के उक्त दोनों शब्द का समार्थक माना है।

'पारितोषिक' सं० परितोष से बनाया हुआ उसका विकारी रूप है, जिसका अर्थ है—अच्छी तरह होनेवाली तृप्ति, तोष या प्रसन्नता । इसका प्रयोग मुख्यतः प्रतियोगिता आदि के क्षेत्र से सम्बन्ध रखनेवाले काम या बात से है । साधारणतः योग्यता, सामर्थ्य आदि की परीक्षा या प्रतियोगिता होने पर जब कोई या अनेक व्यक्ति अधिक सक्षम और सुयोग्य पाए जाते हैं तब उन्हें प्रसन्न अथवा संतुष्ट करने के लिए जो धन या वस्तु दी जाती है वही **पारितोषिक** कहलाती है, जैसे:हमारे विद्यालय में अपनी कक्षा में प्रथम आनेवाले हर विद्यार्थी को प्रति वर्ष कुछ न कुछ **पारितोषिक** अवश्य दिया जाता है ।

'पारिश्रमिक' भी परिश्रम का वैसा ही विकारी रूप है, जैसा परितोष का **पारितोषिक** है । इसका शब्दार्थ है, 'परिश्रम करने पर उसके बदले में दिया या लिया जानेवाला धन' । यह समय के हिसाब से नहीं; बल्कि उस काम या उसके लिए किए जानेवाले परिश्रम के आधार पर निश्चित होता है । जब किसी को कोई काम सौंपा जाता है, तब उससे पहले यह निश्चित कर लिया जाता है कि इतना काम हो जाने पर तुम्हें इतनी धनराशि या **पारिश्रमिक** दिया जाएगा । लेखक कोई पुस्तक लिखकर प्रकाशक को प्रकाशित करने के लिए देता है और प्रकाशक उस लेखक को परिश्रम के फलस्वरूप हज़ार रूपए **पारिश्रमिक** देता है । कोई हमारा साल-भर का बही-खाता या हिसाब लिख देता या उसे जांच देता है; और उसके इस परिश्रम के बदले में हम पांच सौ रुपए **पारिश्रमिक** देते हैं ।*

'पुरस्कार' सं० पुरस्करण से सम्बद्ध है । पुरस्करण का पहला अर्थ है—कोई अच्छी चीज सबसे आगे या सबसे पहले लाकर सामने रखना । साधारणतः **पुरस्कार** किसी व्यक्ति के बहुत अच्छे काम या गुण से प्रसन्न होकर इस उद्देश्य से दिया जाता है कि उसकी कार्य-कुशलता अथवा योग्यता सब लोगों के सामने आए और लोग उसका आदर तथा प्रशंसा करें । इसमें स्वयं कार्य की उत्कृष्टता या श्रेष्ठता के अतिरिक्त दाता की प्रसन्नता और रुचि का भाव भी सम्मिलित रहता है । सौ आदमी सौ तरह के काम करते हैं । दाता को उनमें से जिन लोगों के काम अच्छे जान पड़ते हैं, उन्हें वह **पुरस्कार** देता है, जैसे: भारत सरकार ने इस बार हिन्दी के तीन लेखकों को दो-दो हज़ार रूपए के **पुरस्कार** प्रदान किए हैं ।

'पारितोषिक' का मुख्य उद्देश्य तो उत्साहित करना होता ही है; परन्तु **'पुरस्कार'** का उद्देश्य प्रोत्साहित करने के अतिरिक्त सम्मानित करना भी होता है । हिन्दी में इन दोनों शब्दों के स्थान पर उर्दू के इनाम (अ० इन्आम) का भी प्रयोग देखने में आता है ।

---

* अंग्रेजी में Remuneration का भाव हमारे **पारिश्रमिक** के भाव से बहुत आगे बढ़ा हुआ है । उसमें कार्य की उत्कृष्टता का भाव भी है और उसके कर्ता के आदर-सम्मान का भी । पर हमारे यहां इसके लिए **'पारिश्रमिक'** चल पड़ा है जो 'परिश्रम' से बना है; और इसी दृष्टि से यहां **'पारिश्रमिक'** की व्याख्या की गई है । अन्यथा– Remuneration **पुरस्कार** के ही वर्ग की चीज़ है । काम करनेवाले मज़दूरों को मज़दूरी के रूप में जो धन दिया जाता है वह भी अब हिन्दी में इसलिए **'पारिश्रमिक'** कहा जाने लगा है कि अब मज़दूर और मज़दूरी सरीखे शब्द अप्रतिष्ठा, अवज्ञा और तुच्छता के सूचक माने जाते हैं ।

'आनुतोषिक' इधर हाल का और **'पारितोषिक'** के अनुकरण पर बनाया हुआ नया शब्द है। यह अनुतोष से सम्बद्ध है, जिसका अर्थ है–किसी काम से अथवा किसी के काम से होनेवाला संतोष या प्रसन्नता। उक्त प्रकार से होने-वाले संतोष या प्रसन्नता के फलस्वरूप जब किसी को कुछ धन दिया जाता है तो वह आनुतोषिक कहलाता है। परन्तु यह शब्द अंग्रेज़ी के ग्रैचुइटि (Gratuity) का भाव प्रकट करने के लिए बनाया गया है और इसलिए इसका प्रयोग कार्यकर्ताओं या कर्मचारियों को दिए जानेवाले उस **पुरस्कार** का वाचक है जो वेतन, भत्ते आदि से अतिरिक्त होता है।

यह अपने कार्यकर्ताओं या कर्मचारियों के सिवा दूसरों के कार्यकर्ताओं या सेवकों को भी उनके कार्यों से प्रसन्न होने पर दिया जाता है। यदि आप परदेश में किसी मित्र के यहां जाकर ठहरें अथवा किसी भोजनालय में भोजन करने जाएं और चलते समय वहां के सेवकों को कुछ धन दें तो वह भी आनुतोषिक ही कहा जाएगा।

'अनुवृत्ति' (सं० अनु+वृत्ति) मेरी समझ में अंग्रेज़ी के पेन्शन (Pension) के लिए अब तक के बने हुए शब्दों की अपेक्षा अधिक अच्छा और उपयुक्त शब्द है। पहले इसके लिए कुछ लोगों ने, 'अनुवेतन' रखा था; पर बाद में भारत सरकार ने 'निवृत्तिका' रखा है। परन्तु जैसा कि इसकी परिभाषा और व्याख्या से पता चलेगा इसमें न तो वेतन का भाव ही प्रधान है और न निवृत्ति का ही। यह ठीक है कि पेन्शन अधिकतर ऐसे ही लोगों को दी जाती है, जो बहुत दिनों तक कहीं वेतन पर काम कर चुके होते हैं; और अधिक वृद्ध हो जाने पर काम करने में असमर्थ हो जाते या मान लिए जाते हैं। इसकी धनराशि मुख्यतः इसी दृष्टि से दी जाती है कि कार्यकर्ता वृद्धावस्था में साधारण रूप से अपना और अपने परिवार के लोगों का भरण-पोषण कर सके। **अनुवेतन** तो सम्भवतः यह सोचकर रखा गया होगा कि यह काम से छुट्टी पा जाने पर भी वेतन ही की तरह (आधे के लगभग) मिलता है; और निवृत्तिका शायद यह सोचकर रखा गया है कि इसकी धनराशि कार्यकर्ता को सेवा से निवृत्त हो जाने पर मिलती है परन्तु ऐसी धन राशि कुछ और प्रकार की विशिष्ट परिस्थितियों में भी कुछ लोगों को भरण-पोषण या सहायता के रूप में दी जाती है, उदाहरणार्थ कलाकारों, राजनीतिक कार्यकर्ताओं, साहित्यसेवियों आदि को भी या तो उनकी पुरानी सेवाओं के विचार से दी जाती है या उनके कार्यरत रहने की दशा में सहायतार्थ दी जाती है। ब्रिटिश शासनकाल में जब भारत सरकार किसी राजा-महाराज से अप्रसन्न या असन्तुष्ट होकर उसे गद्दी से हटा देती थी, तब उसे भी निर्वाह के लिए कुछ नियतकालिक धनराशि दिया करती थी। इन्हीं सब बातों का ध्यान रखते हुए अंग्रेज़ी के 'पेन्शन' शब्द के लिए हिन्दी में 'अनुवृत्ति' का प्रयोग अधिक उपयुक्त होगा।

पारिश्रमिक- *पु०* (सं०) दे० 'पारितोषिक, पारिश्रमिक, पुरस्कार, आनुतोषिक और अनुवृत्ति'।

पारेषण- *पु०* (सं०) दे० 'परिवहन, यातायात, संचार, पारेषण, दूर-संचार और भू-संचार'।

पार्थिव- *पु०* (सं०) दे० 'भौतिक, पार्थिव, लौकिक और सांसारिक'।

पिघलना- *अ०* (सं० प्रगलन) दे० 'गलना, घुलना और पिघलना'।

156. पीड़ा यंत्रणा यातना
Pain Torture Torment

इस वर्ग के शब्द मुख्यतः ऐसे शारीरिक कष्टों के वाचक हैं जो प्राणियों को या तो बहुत विकल करते हैं और या उनकी सहन-शक्ति के बहुत-कुछ बाहर होते हैं परन्तु परवर्ती और विकसित अर्थों में ये शारीरिक के अतिरिक्त मानसिक कष्टों और व्यथाओं के भी सूचक होते हैं।

'पीड़ा' सं० पीड़न से सम्बद्ध है जिसका मुख्य अर्थ है—जोर से दबाना। जब शरीर का कोई अंग किसी प्रकार के बाह्य प्रभाव अथवा आन्तरिक विकार आदि के कारण चोट खाता या दबता है तब उसके फलस्वरूप होनेवाला शारीरिक कष्ट या विकलता ही मुख्य **पीड़ा** है। हाथ यदि भारी चीज़ के नीचे दब जाता है तो हाथ में **पीड़ा** होती है। यदि शरीर में कोई विष उत्पन्न होने के कारण कोई अंग पकने या फूलने लगता है तो उस अंग में **पीड़ा** होती है। ज्वर होने पर प्रायः सारे शरीर में और बहुत अधिक चलने-फिरने या परिश्रम करने से हाथ, पैर आदि में **पीड़ा** होती है। शरीर के किसी एक अंग में **पीड़ा** होने पर प्रायः सारा शरीर और मन विकल रहता है। हिन्दी में इसके स्थान पर फ़ारसी के 'दर्द' शब्द का भी प्रयोग होता है।

कष्ट या दुःख देनेवाली किसी घटना से मन में उत्पन्न होनेवाली विकलता भी लाक्षणिक रूप में **पीड़ा** ही कहलाती है। यह प्रायः वियोग, हानि आदि के फलस्वरूप होती है। 'हरि तुम हरो जन की पीर' (पीड़ा) वस्तुतः मानसिक कष्टों और दुःखों का ही वाचक है।

'यंत्रणा' मुख्यतः बहुत अधिक शारीरिक तथा मानसिक कष्ट या **पीड़ा** की सूचक है। जान पड़ता है कि इसका मूल बहुत प्राचीन काल की उस दण्ड-प्रणाली में होगा जिसमें अपराधियों, युद्ध-बन्दियों आदि को अनेक प्रकार के यन्त्रों में जकड़ या दबाकर बहुत अधिक तथा प्रायः असह्य शारीरिक कष्ट दिये जाते थे और जिनके कारण अपराधी युद्ध-बन्दी आदि या तो मर ही जाते थे या अधमरे हो जाते थे। अपने परवर्ती अर्थ में यह बहुत तीव्र शारीरिक तथा मानसिक कष्टों का वाचक हो गई है। शारीरिक **यंत्रणा** सदा दूसरे व्यक्तियों के अत्याचार आदि के द्वारा पहुंचायी हुई होती है और मानसिक **यंत्रणा** बहुत ही दुःखद और विकट दुर्घटनाओं आदि के कारण होती है।

'यातना' सं० यातन से सम्बद्ध है जिसका मुख्य अर्श है—किसी के दुर्व्यवहार, दोष आदि का बदला लेना अथवा किसी के पहुंचाये हुए कष्ट के बदले में उसे वैसा ही अथवा उससे और अधिक कष्ट पहुंचाना। हमारे यहां यम के दूतों की **यातना** बहुत प्रसिद्ध है। कहते हैं कि मनुष्य इस जीवन में जो अनेक प्रकार के दुष्कर्म और पाप करते हैं उन्हीं का

बदला चुकाने के लिए यम के दूत उनकी आत्मा को अनेक प्रकार के भीषण कष्ट देते हैं। परन्तु साधारणतः लोक-व्यवहार में यह बहुत-कुछ यन्त्रणा के समान ही अर्थ देता और व्यवहृत होता है। परन्तु यन्त्रणा की तुलना में **यातना** मुख्यतः मानसिक ही अधिक होती है। यम के दूत प्राणियों को जो **यातना** देते हैं वे उनके शरीर-त्याग के बाद ही देते हैं। यों हम यह भी कहते हैं—कारागार में उन्हें अनेक प्रकार की यातनाएं दी जाती थीं। ऐसे अवसरों पर **यातना** की जगह यन्त्रणा का भी प्रयोग देखा जाता है। परन्तु जब हम कहते हैं—'उन्होंने सारा जीवन घोर दरिद्रता और संतान-वियोग की यातनाएं भोगने में ही बिताया' तब ऐसे अवसरों पर **यातना** की जगह **यंत्रणा** का प्रयोग कुछ ठीक नहीं जान पड़ता। इस कोटि के अन्यान्य शब्दों के लिए दे० 'वेदना और व्यथा'।

पुनरीक्षण- *पु०* (सं०) दे० 'निरीक्षण, अधीक्षण, पर्यवेक्षण, पुनरीक्षण, संप्रेक्षण और सर्वेक्षण'।

पुरस्कार - *पु०* (सं०) दे० 'पारितोषिक, पारिश्रमिक, पुरस्कार, आनुतोषिक और अनुवृत्ति'।

पुराकल्प- *पु०* (सं०) दे० 'कल्प और युग'।

पुरुष- *पु०* (सं०) दे० 'निसर्ग, पुरुष और प्रकृति'।

157. पुरुषत्व पुरुषार्थ पौरुष

Manliness Manhood

ये तीनों शब्द सं० पुरुष के विकारी रूप हैं और इनके अर्थों के अन्तरों का स्पष्ट ज्ञान न होने के कारण प्रायः लोग इनमें से एक दूसरे या तीसरे का प्रयोग करते हुए देखे जाते हैं।

संस्कृत में **पुरुष** का पहला मुख्य अर्थ है—मानव जाति का प्राणी या मनुष्य। परन्तु यह विशिष्ट रूप से नर जाति के प्राणी का वाचक है और इसका स्त्रीलिंग रूप होता है—स्त्री। इसी आधार पर अपने परवर्ती और विकसित अर्थ में पुरुष ऐसे व्यक्ति का वाचक माना जाता है जिसमें धैर्य, वीरता, साहस आदि गुण यथेष्ट मात्रा में देखने में आते हों।* यद्यपि '**पुरुषत्व**' और '**पौरुष**' दोनों 'पुरुष' के भाववाचक संज्ञा रूप हैं फिर भी दोनों के अर्थों में कुछ सूक्ष्म अन्तर हैं। **पुरुषत्व** मुख्यतः पुंसत्ववाले तत्त्व का सूचक है और इसमें वीरता, साहस आदि वाले तत्त्वों का विशेष अन्तर्भाव नहीं। परन्तु **पौरुष** में मुख्यतः वीरता, साहस आदि गुणों का तत्त्व प्रधान है और पुंसत्ववाला भाव गौण अथवा नगण्य सा

---

* हमारे यहां दार्शनिक क्षेत्र में परमात्मा या विश्वात्मा को पुरुष की संज्ञा दी गई है और उसे अकर्त्ता, अपरिणामी तथा अविकारी माना गया है। यह भी कहा गया है कि प्रकृति इसी के सान्निध्य से सृष्टि की रचना करती है।

है। इसीलिए हम कहते हैं–उसने युद्ध में अद्वितीय **पौरुष** अर्थात् पराक्रम दिखलाया था। ऐसे अवसरों पर **पुरुषत्व** का प्रयोग समुचित नहीं जान पड़ता।

'पुरुषार्थ' (सं० पुरुष+अर्थ) का मुख्य अर्थ है–वह अर्थ, उद्देश्य या प्रयोजन जिसकी सिद्धि या प्राप्ति के लिए प्रयत्न करना पुरुष या मनुष्य के लिए आवश्यक या कर्तव्य हो। अर्थात् **पुरुषार्थ** ऐसे उत्तम कार्यों, गुणों, लक्ष्यों आदि का सूचक है जिसकी प्राप्ति के लिए सदा तत्पर और प्रयत्नशील रहना चाहिए, जैसे युद्ध या संघर्ष में पुरुष को आगे बढ़कर सदा विजयी और यशस्वी होने का प्रयत्न करना चाहिए क्योंकि इसी में उसका **पुरुषार्थ** है। आशय यही होता है–ऐसी बातों में ही पुरुष होने की सार्थकता है। कुछ अवस्थाओं में इसका प्रयोग **'पौरुष'** वाले अर्थ में भी देखने में आता है, परन्तु है यह **'पौरुष'** से कुछ अलग और आगे बढ़ा हुआ ही। ××

पुरुषार्थ - *पु०* (सं०) दे० 'पुरुषत्व, पुरुषार्थ और पौरुष'।

पुष्ट- *वि०* (सं०) दे० 'परिपक्व, पुष्ट और प्रौढ़'।

पुष्पिका *स्त्री०* (सं०) दे० 'प्रशस्ति, स्तवन और स्तुति'।

पुस्तक- *स्त्री०* (सं०) दे० 'ग्रन्थ, पुस्तक और किताब'।

158. पूँजी लग्गत लागत

Capital Investment Cost

पूंजी (सं० पुंज=ढेर या राशि) से व्युत्पन्न है। यह मुख्यतः आर्थिक क्षेत्र का शब्द है; और इसका पहला अर्थ है–वह धन और मूल्यवान् वस्तुएं जो किसी प्रकार अर्जित या प्राप्त करके अपने अधिकार में रखी या लाई गई हों, जैसे:उस गरीब ने सारी उमर कमाकर कोई हज़ार रूपए की पूंजी बना ली थी। आशय यह होता है कि उसके पास कपड़े, गहने, बर्तन, रुपए आदि सब मिलाकर कोई हज़ार रुपए के मूल्य के हो गए थे। जब हम कहते हैं–'उस चोरी में उसके घर की सारी पूंजी निकल गई' तो आशय यही होता है कि चोर उसकी सभी मूल्यवान् वस्तुएं उठा ले गए। परन्तु आज-कल की आर्थिक व्यवस्था में पूंजी का विशिष्ट अर्थ हो गया है–वह सारा धन जो और अधिक धन कमाने के उद्देश्य से किसी रोज़गार या व्यापार में लगाया गया हो या लगाया जा सकता हो अथवा लगाया जाने को हो। इसी आधार पर कहा जाता है–आज-कल बड़े-बड़े पूंजीपति कल-कारखाने खोलकर मजदूरों से काम कराते हैं, और उनकी कमाई का बहुत-सा अंश स्वयं हड़पकर और भी अधिक धनवान् बनते जाते हैं। लाक्षणिक रूप में पूंजी किसी व्यक्ति की उस सारी योग्यता, शक्ति और साधनों की भी वाचक होती है जिससे उसके सब काम चलते हैं, जैसे:उस बेचारे के पास ज्ञान (या विद्या) की थोड़ी सी ही पूंजी ठहरी; इसलिए उससे और अधिक आशा रखना व्यर्थ है।

'लग्गत' हिं० लगना क्रिया से बना है; और हमारे यहां के महाजनी क्षेत्र का बहुत पुराना और बहुप्रचलित शब्द है। यह किसी व्यक्ति की पूंजी के उस अंश या मान का

वाचक है जो उसने किसी एक कारबार या विशिष्ट व्यापार में लगाया हो। यदि कोई व्यक्ति दस हजार रूपए लगाकर कपड़े की दुकान खोलता है, तो कहा जाएगा–इस दुकान में उसकी दस हज़ार रुपयों की **लग्गत** लगी है। अब यदि वही व्यक्ति बीस हज़ार रुपए लगाकर कोई नया कारबार करता है, तो कहा जाएगा–इसमें उसकी बीस हज़ार रुपए की **लग्गत** लगी है। ध्यान रहे कि इस शब्द का प्रयोग मुख्यतः किसी एक और विशिष्ट व्यवसाय, व्यापार आदि में लगाए गए रूपयों के सम्बन्ध में ही होता है।

'लागत' भी हिन्दी लगता से ही बना है, परन्तु **लग्गत** और **लागत** में एक विशेष अन्तर है जिसकी ओर सहज में लोगों का ध्यान नहीं जाता; कारण यही है कि दोनों शब्द एक ही लगना क्रिया से बने हैं और दोनों के उच्चारण में बहुत ही थोड़ा अन्तर है। वास्तव में **लागत** उस धन का वाचक है जो कोई चीज़ बनाकर तैयार करने में लगता है। इसमें उस सामग्री का मूल्य भी सम्मिलित रहता है जो वह चीज़ बनाने में लगती है और उस परिश्रम तथा समय का मूल्य भी जुड़ा रहता है जो वह चीज़ बनाने में लगता है। कारीगर या कारखाने आदि बिक्री के लिए जो चीज़ें बनाकर तैयार करते हैं उनके सम्बन्ध में वे हिसाब लगाकर यह देख लेते हैं कि यह चीज़ बनाकर तैयार करने में सब मिलाकर हमारा कितना व्यय हुआ है; और तब उसी पर अपना मुनाफा जोड़कर उसकी बिक्री का मूल्य निश्चित करते हैं। यों बिक्री के सिवा स्वयं अपने व्यवहार के लिए जो चीज़ें बनाई या बनवाई जाती हैं उसके संबंध में भी यह हिसाब लगाया जा सकता है कि इस पर हमारी कितनी **लागत** लगी है। कोई मकान बनवाने में हमारी **लागत** बीस हज़ार रुपए हो सकती है। यहां मकान की **लागत** में उसकी ज़मीन, ईंट-पत्थर, लकड़ी आदि का दाम और मज़दूरों को दी हुई मज़दूरी आदि सभी व्यय सम्मिलित रहते हैं हैं। इसके साथ आना, जोड़ना, बैठना और लगना क्रियाओं का प्रयोग होता है।

159. पूर्ति — अनुपूर्ति — आपूर्ति — प्रतिपूर्ति

159.	**पूर्ति**	**अनुपूर्ति**	**आपूर्ति**
	Filling	Supplementing	Supply
		प्रतिपूर्ति	
		Compensation	

इस वर्ग के शब्द ऐसी क्रियाओं, वस्तुओं आदि के वाचक हैं जिनसे किसी प्रकार का अभाव, त्रुटि या रिक्तता दूर होती है।

'पूर्ति' *स्त्री०* (सं०) का मुख्य अर्थ है–पूरा करना। यह पूरा करना कई प्रकार का होता है, जैसे (क) घड़े में पानी भरकर उसे पूरा करना। (ख) जो कार्य आरम्भ हुआ हो उसे अन्त या समाप्ति तक पहुंचना। (ग) अपेक्षित या आवश्यक वस्तु लाकर ऐसा रूप देना जिसमें और कुछ करने को बाकी न रह जाय, आदि आदि। इसी **पूर्ति** शब्द में उपसर्ग लगाकर इस वर्ग के शब्द कुछ विशिष्ट अर्थ सूचित करने के लिए बनाए गए हैं।

'अनुपूर्ति' *स्त्री०* (सं०) का मुख्य अर्थ है– पीछे से या बाद में की जानेवाली पूर्ति।

हम पहले कोई काम पूरा कर चुकते हैं; पर बाद में हमें यह पता चलता है कि इसमें कुछ बातें छूट या रह गई हैं; अथवा कुछ ऐसी नई बातें या नई सामग्री हमारे सामने आती है जिसे हम बाद में अलग से जोड़ देते हैं। वस्तुतः बाद में जोड़ने की यह क्रिया ही **अनुपूर्ति** है। इसी **अनुपूर्ति** से अनुपूरक बनता है जिसका प्रयोग विशेषण रूप में भी और संज्ञा रूप में भी होता है, जैसे (क) राजकीय कोश की अनुपूरक शब्दावली और (ख) किसी दैनिक या साप्ताहिक पत्र का अनुपूरक (अंक या अंश)।

'आपूर्ति' *स्त्री०* (सं०) का अर्थ होता है–उचित मात्रा में या ठीक तरह से पूरा करना।* यह **पूर्ति** वस्तुतः आवश्यकताओं की होती है। किसी के उपयोग या सेवा के लिए उसकी आवश्यक वस्तुएं उचित अथवा उपयुक्त मात्रा में और ठीक समय पर उसके पास पहुंचाना ही **'आपूर्ति'** है। दूकानदार अपने ग्राहकों के लिए उनकी आवश्यकताओं की वस्तुओं की **आपूर्ति** करते हैं; अर्थात् कहीं से ढूंढ़ या मंगाकर वे चीज़ें उन्हें देते या उनके पास तक पहुंचाते हैं; जब देश में किसी आवश्यक और उपयोगी वस्तु की कुछ कमी हो जाती है तब शासन ऐसी व्यवस्था करता है कि लोगों को वह वस्तु उचित मूल्य और ठीक समय पर मिलती रहे; ऐसा न हो कि कुछ लोग तो आवश्यकता से अधिक वह वस्तु ले जाएं और कुछ लोगों को वह वस्तु मिलने ही न पाए। ऐसी व्यवस्था का अन्तर्भाव भी इसी **'आपूर्ति'** में होता है।

'प्रतिपूर्ति' *स्त्री०* (सं०) का मुख्य अर्थ है–किसी वस्तु का अभाव दूर करने के लिए उसके बदले में या उस जगह पर उसी तरह की या उससे मिलती-जुलती वस्तु रखना। भारत सरकार ने Compensation के लिए ये शब्द दिये हैं–क्षतिपूर्ति और प्रतिकार। परन्तु मेरी समझ में इसके लिए सबसे अच्छा शब्द **'प्रतिपूर्ति'** होगा। क्योंकि अंग्रेज़ी के मूल शब्द की प्रायः सभी विवक्षाओं का इसमें अंतर्भाव हो जाता है। मुख्यतः इसका प्रयोग नीचे लिखे प्रसंगों में होता है :

1- हम किसी की कोई चीज़ ले लेते हैं और उसके बदले में लगभग उतने ही मूल्य की कोई और वस्तु या धन उसे देकर उसके अभाव की **पूर्ति** करते हैं; जैसेः सरकार ने नया कारखाना बनाने के लिए किसानों की जो बहुत-सी ज़मीन ले ली थी उसके बदले में उसने उन्हें उचित धन भी दे दिया था। इसके स्थान पर कुछ लोग मुआवज़ा (*पु०* अ० मुआवज़ः) का भी प्रयोग करते हैं जिसका अर्थ होता है - एवज या बदले में दिया जानेवाला धन।

---

* भारत सरकार ने Supply के लिए 'संभरण' रखा है जिसका अर्थ है–अच्छी या पूरी तरह से भरना। सं० के भरण-पोषण का अर्थ होता है किसी को जीवित रखने के लिए आवश्यक वस्तुएं देते या पहुंचाते रहना। परन्तु आज-कल घरों में प्रकाश के लिए या समाचार-पत्रों में छपने के लिए बिजली अथवा समाचार भी पहुंचाए जाते हैं, जिनका अन्तर्भाव 'सम्भरण' में ठीक तरह से होना उपयुक्त नहीं जान पड़ता। रेडियो पर और समाचार पत्रों में Supply के समार्थक के रूप में 'आपूर्ति' का ही अधिक प्रयोग देखने में आता है जो अधिक उपयुक्त और सार्थक प्रतीत होता है।

2- हमारे किसी कार्य से किसी को कोई क्षति पहुंचती या उसकी हानि होती है, ऐसी क्षति या हानि के बदले में दिया जानेवाला धन भी **'प्रतिपूर्ति'** ही कहा जाएगा। इसके स्थान पर क्षतिपूर्ति या हानिपूर्ति का भी प्रयोग हो सकता है। कुछ लोग इसके स्थान पर **हरजाना** (*पु०* फ़ा० हर्जानः) का भी प्रयोग करते हैं जिसका अर्थ होता है—किसी का हर्ज या हानि होने पर उसकी **पूर्ति** के लिए दिया जानेवाला धन। जब इस प्रकार का धन न्यायालय की आज्ञा से देना पड़ता है, तब विधिक क्षेत्रों में इसे तावान (*पु०* अ०) कहते हैं।

3- प्रायः शारीरिक रचना आदि में प्राकृतिक रूप से कोई त्रुटि हो जाती है, जिसके फलस्वरूप उसका कोई अंग ठीक या पूरी तरह से अपना काम करने में असमर्थ होता है। कुछ अवस्थाओं में प्रकृति ऐसी त्रुटि का परिमार्जन या सुधार करने के लिए कोई दूसरा अंग अधिक प्रबल या सक्रिय कर देती है। उदाहरण के लिए यदि कोई व्यक्ति जन्म से ही अन्धा, गूंगा या बहरा हो तो प्रायः ऐसे व्यक्ति की बोध-शक्ति या स्मरण-शक्ति अपेक्षया अधिक सबल होती है। यह भी **'प्रतिपूर्ति'** ही है जिसे कुछ लोग 'त्रुटि-पूर्ति' भी कहते हैं।*

××

पृष्ठभूमि- *स्त्री०* (सं०) दे० 'परिवेश, परिस्थिति, पर्यावरण, पृष्ठभूमि और भूमिका'।
पृष्ठांकन- *पु०* (सं०) दे० 'पहचान, अनुप्रमाणन, पृष्ठांकन और सत्यापन'।
पृष्ठिका- *स्त्री०* (सं०) = पृष्ठभूमि; दे० 'परिवेश, परिस्थिति, पर्यावरण, पृष्ठभूमि और भूमिका।'
पेखना- *पु०* (सं० प्रेक्षण) दे० 'चाहना, चितवना, जोवना, जोहना और पेखना'।
पेशा- *पु०* (फ़ा० पेशः) = व्यवसाय; दे० 'व्यापार, व्यवसाय और वाणिज्य'।
पैर - *पु०* (हिं०) दे० 'पांव, पैर और टांग'।
पौरुष- *पु०* (सं.) दे० 'पुरुषत्व, पुरुषार्थ और पौरुष'।
प्यार- *पु०* (हिं०) = प्रेम; दे० 'अनुराग, प्रीति, प्रेम और स्नेह'।
प्रकरण- *पु०* (सं०) दे० 'विषय, प्रकरण, प्रसंग और संदर्भ'।

160. प्रकृति शील स्वभाव मिज़ाज

Nature Disposition — Modesty — Temperament — Disposition

इस माला के शब्द ऐसे गुणों या बातों के वाचक हैं जिनसे किसी व्यक्ति या वर्ग का विशिष्ट पार्थक्य अथवा स्वरूप सूचित होता है।

---

* इसी प्रतिपूर्ति के विशेषण रूप प्रतिपूरक रूप को हमने अं० के Reciprocal का समार्थक मानकर उसे 'पारस्परिक' वाले वर्ग में रखा है; और वहीं इसके कारण का भी स्पष्टीकरण किया है (दे० 'पारस्परिक, अन्योन्याश्रित और प्रतिपूरक')

'प्रकृति' के संबंध की कुछ मुख्य बातें पहले 'निसर्ग, पुरुष और प्रकृति' (दे०) की माला में दी जा चुकी हैं। उनमें प्रकृति का एक साधारण लोक प्रचलित अर्थ इस प्रकार दिया गया है–किसी पदार्थ या प्राणी का वह विशिष्ट भौतिक सारभूत सहज और स्वाभाविक गुण या तत्त्व जो उसके स्वरूप के मूल में होता है और जिसमें कभी कोई अन्तर, परिवर्तन या विकार नहीं होता। इस अर्थ में अरबी का 'मिज़ाज' शब्द भी हिन्दी में प्रचलित है। जीवों और प्राणियों के संबंध में उक्त अर्थ के आधार पर यह शब्द कुछ और विकसित रूप में प्रयुक्त होता है। जब हम किसी व्यक्ति की चर्चा करते हुए कहते हैं कि 'वह प्रकृति से ही उदार (अथवा क्रोधी) है' तब हमारा आशय यह होता है कि चारित्रिक दृष्टि से उसमें अमुक जन्मजात और मूलभूत गुण, तत्त्व या विशेषता है जिसमें साधारणतः कोई परिवर्तन देखने में नहीं आता और जो अधिकतर अवसरों पर बहुत-कुछ एक ही सी देखने में आती है। यह उन सब गुणों और विशेषताओं का सामूहिक रूप है जो मनुष्य में मूलतः जन्म से ही उसके साथ आतीं और प्रायः एक-सी बनी रहती हैं। यह गुण या विशेषता मनुष्यों के सिवा पशुओं में भी बहुत-कुछ इसी रूप में देखने में आती है। कोई कुत्ता प्रकृति से ही बहुत उग्र होता है और कोई घोड़ा प्रकृति से ही बहुत सीधा और सुशील होता है। उक्त अवसरों पर 'प्रकृति' की जगह प्रायः सं० स्वभाव और अ० 'तबीयत' का भी प्रयोग होता है।

'शील' के अनेक अर्थों में एक अर्थ है–कार्य का व्यवहार करने का वह ढंग या प्रकार जो या तो प्राकृतिक या स्वाभाविक हो या लोक में रहकर अर्जित या प्राप्त किया गया हो। परन्तु यह मुख्य रूप से अच्छे आचरण, व्यवहार और स्वभाव का ही सूचक है। यह वस्तुतः मनुष्य के व्यक्तित्व और स्वभाव से सम्बद्ध होता है और बहुधा उसकी कुलीनता या श्रेष्ठ वंश-परम्परा का भी परिणाम या परिचायक होता है। अच्छे शील में अच्छे स्वभाव के सिवा और भी अच्छी बातों का अन्तर्भाव होता है; इसीलिए यह मनुष्य की सभी प्रकार की सद्वृत्तियों का सूचक और सद्कार्यों तथा सद्भावनाओं का प्रवर्तक होता है। अच्छे शीलवाला मनुष्य सदा सब तरह के अच्छे कामों और अच्छी बातों की ओर प्रवृत्त होता है; और इसीलिए उसका सब जगह आदर भी होता है। यह सुनिश्चित और स्थायी भी होता है।

कुछ अवस्थाओं में यह यौगिक पदों के अन्त में विशेषण रूप में भी लगता और नीचे लिखे अर्थ देता है :

(क) किसी प्रकार के गुण या विशेषता से युक्त, जैसे रूपशील, लज्जाशील आदि।

(ख) प्रकृति या स्वभाव से प्रायः कोई काम या बात करता रहनेवाला, जैसे दानशील, विचारशील, सहनशील आदि।

(ग) किसी दिशा में निरन्तर या प्रायः अग्रसर या प्रवृत्त होता रहनेवाला, जैसे उन्नतिशील जाति, विकासशील आदि।

'स्वभाव' का शब्दार्थ है–अपना या निज का भाव। यह सत्ता की उस निजी और

मूल अवस्था और गुण का सूचक है जो उसे प्राकृतिक रूप से जन्म से प्राप्त होता और प्रायः एक-रस रहता है। कहावत है–(क) नीम न मीठी होय सिंचो गुड़-धी से, जाकर जौन सुभाव छुटै नहिं जी से; और (ख) मन, मोती औ दूध रस इनको यही सुभाव, फाटे पीछे ना मिलै, कोटिन करो उपाय। इस दृष्टि से यह कुछ अवस्थाओं में **प्रकृति** का भी बहुत-कुछ पर्याय है।* जब हम कहते हैं – 'अग्नि की **प्रकृति** जलाना है' तब हम **प्रकृति** की जगह सं० **'स्वभाव'** या अ० 'तासीर' का भी प्रयोग कर सकते हैं। यह जीवों अथवा प्राणियों के उस मानसिक रूप या स्थिति का वाचक है जो उनकी समस्त जाति में जन्मजात होती और सदा प्रायः एक ही तरह से काम करती हुई दिखाई देती है, जैसे चीते, भालू और शेर **स्वभाव** से ही हिंसक होते हैं। मनुष्यों में भी यह **स्वभाव** प्रायः जन्मजात तो होता ही है और उसके कार्यों तथा व्यवहारों का परिचालन करता है; परन्तु कुछ अवस्थाओं में इसमें थोड़ा-बहुत परिवर्तन भी होता रहता या हो सकता है, जैसे रोग या वृद्धावस्था में मनुष्य **स्वभाव** से ही कुछ चिड़चिड़ा हो जाता है। आगे चलकर यह किसी तरह की पड़ी हुई आदत या अभ्यास का भी वाचक होता है, जैसेः पहले तो तुम ऐसे नहीं थे; पर अब मैं देखता हूं कि तुम्हारा सबसे लड़ने का **स्वभाव** ही पड़ गया है। उक्त दोनों अर्थों में इसकी जगह **मिज़ाज** (अ०) का भी प्रयोग होता है। **शील** और **स्वभाव** में एक मुख्य अन्तर यह है कि अच्छे शीलवाला मनुष्य तो समाज में परम आदरणीय होता है, पर अच्छे स्वभाववाले मनुष्य के लिए सदा ऐसा होना अनिवार्य नहीं है। फिर भी अच्छे स्वभाववाला इसलिए सब जगह मान्य हो सकता है कि वह किसी से लड़ाई-झगड़ा करना पसन्द नहीं करता। **स्वभाव** बहुत कुछ अर्जित भी होता है और प्रायः परिस्थितियों से प्रभावित भी। सामने आए हुए कार्य मनुष्य साधारणतः अपने **स्वभाव** के अनुसार ही अच्छे या बुरे ढंग से करता है। इसके सिवा अच्छे शीलवाला मनुष्य कुछ उग्र या कठोर स्वभाववाला भी हो सकता है; और दुःशील व्यक्ति अच्छे या कोमल स्वभाववाला भी हो सकता है।

'मिज़ाज' (अ० मिज़ाज) उर्दू से लिया हुआ हिन्दी में बहु-प्रचलित शब्द है। यह कुछ अर्थों में **'प्रकृति'** का और प्रायः सभी अर्थों में **'स्वभाव'** का समार्थक है। परन्तु इसकी विशेषता यह है कि **स्वभाव** की अपेक्षा इसके अर्थ भी कुछ अधिक हैं, और उन अर्थों में कई मुहावरे भी लग गए हैं। **मिज़ाज** का पहला अर्थ है–किसी वस्तु या व्यक्ति का कोई जन्मजात और मौलिक गुण या विशेषता जो सदा उसमें देखी या पाई जाती है। यही उसकी **प्रकृति** या **स्वभाव** है। यह साधारणतः प्राणियों की प्रकृत और साधारण मानसिक स्थिति का भी वाचक है, जैसेः उनका **मिज़ाज** बहुत तीखा है। कुछ अवस्थाओं में यह शारीरिक स्वास्थ्य का भी सूचक होता है। जब हम कहते हैं–'आज उनका **मिज़ाज** कुछ खराब है' तब इसका पहला अर्थ तो यह होता है कि आज वे कुछ क्रुद्ध या चिढ़े हुए हैं; और दूसरा अर्थ यह होता है कि आज वे कुछ अस्वस्थ हैं। इसी प्रकार 'किसी का

---

* हमारे यहां के शास्त्रों में उक्त प्रकृत रूप ही **'स्वभाव'** कहा गया है। परन्तु मनुष्य के चरित्र और व्यवहार में इसका जो स्वरूप देखने में आता है उसे 'देह-स्वभाव' कहा गया है।

मिज़ाज पाना' मुहावरे के भी दो अर्थ होते हैं। एक तो यह कि किसी के **स्वभाव** से अच्छी तरह परिचित होना; और दूसरा यह कि किसी को अपने अनुकूल या अनुरक्त स्थिति में देखना। **'मिज़ाज** पूछना' का अर्थ होता है- तबीअत या स्वास्थ्य का हाल पूछना। **'मिज़ाज** बिगड़ना' के भी दो अर्थ होते हैं। एक तो मन में क्रोध उत्पन्न होना; और दूसरा, कुछ अस्वस्थ सा जान पड़ना।

इससे कुछ और आगे बढ़ने पर यह शब्द किसी के अभिमान या घमण्ड का भी सूचक हो जाता है। इसी आधार पर इससे बने हुए यौगिक पद 'मिज़ाजदार' का अर्थ–अभिमानी या घमण्डी होता है। आज हम कहते हैं–'आज-कल उन्हें बहुत मिज़ाज हो गया है' या 'आज-कल वे बहुत मिज़ाज दिखाने लगे हैं' तब ऐसे अवसरों पर 'मिज़ाज' का अर्थ–अभिमान या घमण्ड ही होता है। 'किसी का मिज़ाज न मिलना' का अर्थ होता है–घमण्ड के कारण सीधी तरह से बात न करना। ××

161. प्रकृतिवाद — प्राकृतवाद — भौतिकवाद

Naturalism — Naturalism — Materialism

प्रकृतिवाद *पु०* (सं०) एक प्रसिद्ध दार्शनिक सिद्धांत है जिसमें प्रकृति को ही इस समस्त विश्व या सृष्टि का मूल कारण और कर्ता-धर्ता माना गया है। इसमें यह माना जाता है कि सारी सृष्टि में जो कुछ होता है, वह सब प्रकृति के गुण-धर्म और विकास के फलस्वरूप होता है। इसमें अध्यात्म, ईश्वर या किसी अलौकिक दैवी शक्ति का कोई अस्तित्व नहीं माना जाता; और कहा जाता है कि ईश्वर, धर्म आदि की सारी कल्पनाएं मनुष्य की स्वाभाविक अटकलबाज़ियों और भूलों के कारण ही प्रस्तुत हुई हैं। इसमें यह भी माना जाता है कि मनुष्य में धर्म-तत्त्व का आविर्भाव किसी अलौकिक या दैवी शक्ति की प्रेरणा से नहीं हुआ है, बल्कि उसने प्राकृत जगत की भिन्न-भिन्न घटनाओं, व्यापारों, स्थितियों और स्वरूपों का निरीक्षण करके इस प्रकार की भावनाएं और विचार बना लिए हैं। इसमें भौतिक तत्त्व या पदार्थ ही सब कुछ माने जाते हैं; उनसे भिन्न कोई ऐसी चीज़ या बात नहीं मानी जाती जिसका अनुभव और ज्ञान हमें अपनी इंद्रियों से न होता हो।

उक्त क्षेत्र के अतिरिक्त **प्रकृतिवाद** का प्रयोग कला और साहित्य के क्षेत्र में भी होता है, जिसकी भिन्नता और स्वतंत्रता सूचित करने के लिए कुछ लोग (कला और साहित्य के क्षेत्र में) इसे **प्राकृतवाद** भी कहते हैं। इस विशिष्ट क्षेत्र में यह कहा और माना जाता है कि संसार में प्राकृतिक तथा वास्तविक रूप में जो कुछ होता हुआ दिखाई देता है, वह सब उसी रूप में और ज्यों का त्यों अंकित या चित्रित होना चाहिए। इसी के फलस्वरूप यह भी कहा और माना जाता है कि हमारे अंकनों और चित्रणों में नैतिक आदर्शों और भावनाओं का अतिरिक्त आरोप या मिश्रण नहीं होना चाहिए। तात्विक दृष्टि से हम इसे साहित्यिक यथार्थवाद (दे० 'आदर्शवाद और यथार्थवाद') का ही कुछ आगे बढ़ा हुआ और विकसित रूप कह सकते हैं। इसी के फलस्वरूप इधर कुछ दिनों से कला और साहित्य के क्षेत्रों में अशिष्ट, अश्लील, कुरुचिपूर्ण और हेय पक्षों का भी अंकन

और चित्रण होने लगा है। इसका आरंभ 19वीं शती में फ्रांस में हुआ था।

'भौतिकवाद' *पु०* (सं०) एक प्रसिद्ध दार्शनिक सिद्धांत है जो तत्त्वतः और मूलतः **प्रकृतिवाद** से बहुत कुछ मिलता-जुलता है। **प्रकृतिवाद** में तो यह माना जाता है कि सृष्टिकर्ता ने प्रकृति मात्र बना दी है और उसकी कार्य-प्रणाली, नियम आदि निश्चित कर दिए हैं जिसके अनुसार सृष्टि के सब काम चलते और होते रहते हैं परन्तु **भौतिकवाद** कहता है कि सारी सृष्टि 5 तत्त्वों या भूतों से बनी है और वही तत्त्व या भूत संसार के सब काम चलाते रहते हैं। इसमें यह भी माना जाता है कि सृष्टि के जितने भेद या रहस्य हैं उनके वास्तविक रूप इन्हीं तत्त्वों या भूतों के द्वारा जाने जा सकते हैं यहां तक कि हमारी अनुभूतियां, आकांक्षाएं और भावनाएं इन्हीं तत्त्वों या भूतों से नियंत्रित रहती और निरूपित होती हैं। **प्रकृतिवाद** की तरह इसमें भी ईश्वर अथवा और किसी दैवी शक्ति का अस्तित्व नहीं माना जाता। इसमें यह भी नहीं माना जाता कि मनुष्य बार-बार जन्म लेता और मरता है; अतः हमें अपने वर्तमान जीवन को ही सब कुछ मानकर उसके अवसरों से पूरा-पूरा लाभ उठाना चाहिए। अतः यह हमारे यहां के चार्वाक और दूसरे नास्तिक मतों से बहुत-कुछ मिलता-जुलता है। ××

प्रक्रम- *पु०* (सं०) दे० 'विधि, क्रिया-विधि, प्रक्रम और प्रविधि'।

प्रख्यापन - *पु०* (सं०) दे० 'घोषणा, प्रख्यापन, परिज्ञापन और प्रवर्तन'।

प्रगति - *स्त्री०* (सं० प्र+गति) दे० 'उन्नति, प्रगति और विकास'।

162. प्रगतिवाद प्रयोगवाद

ये दोनों आधुनिक साहित्य क्षेत्र की दो नई विचार-धाराएं हैं जिन्हें हम एक दूसरी की पूरक भी मान सकते हैं। **प्रगतिवाद** हमारे यहां पाश्चात्य साहित्य से आया है। इसका मूल समाजवाद के प्रवर्तक मार्क्स के उपदेशों में माना जाता है। मार्क्स ने अपने समय में यूरोप की आर्थिक, राजनीतिक और सामाजिक क्षेत्रों में जन-साधारण और विशेषतः किसानों, मज़दूरों आदि की जो दुर्दशा और हीनता देखी थी उसी से चिढ़कर और उसके प्रति अपना रोष प्रकट करने के लिए इस मत का प्रतिपादन किया था कि समाज के दलित और पीड़ित लोगों को चुपचाप अब अत्याचार नहीं सहने चाहिए और आगे बढ़कर अपनी दशा सुधारने का प्रयत्न करना चाहिए। उसका मत था कि समाज में जिन थोड़े से लोगों ने सारी प्रभुता और सारी सत्ता अपने हाथ में कर रखी है उनके विरुद्ध जनता को विद्रोह करना चाहिए। इसीलिए **प्रगतिवाद** के समर्थक यह कहते हैं कि हमारे साहित्य का उद्देश्य और स्वरूप ऐसा होना चाहिए जो जन-साधारण को संघटित करके समाजवाद की ओर अग्रसर कर सके।

'प्रयोगवाद' को हम **प्रगतिवाद** की एक ऐसी नई शाखा कह सकते हैं जिसमें वर्तमान साहित्य के प्रति विद्रोह की भावना भरी हुई है। भले ही इसका लक्ष्य ज्यों का त्यों वह न हो जो समाजवाद का है, फिर भी इसे प्रेरणा संभवतः समाजवाद से ही प्राप्त हुई

है। इस मत के प्रतिपादक कहते हैं कि अब तक जो साहित्यिक परम्पराएं और रूढ़ियां चली आ रही हैं वे बिल्कुल पुरानी पड़ गई हैं और अपनी उपयोगिता बहुत-कुछ गंवा चुकी हैं। इसलिए हमें चाहिए कि प्रयोगात्मक परीक्षणों के द्वारा हम उन सबकी अच्छी तरह जांच-पड़ताल करें, और उनके दूषित तथा निरर्थक अंशों का परित्याग करके अपने साहित्य को ऐसा रूप दें जो हमारी नवीन अनुभूतियों, धारणाओं और स्थितियों के अनुरूप हों, और समाज को अग्रसर तथा उन्नत होने में सहायता दे सकें। इस वाद के अनुयायी कवि या लेखक संसार में छाये हुए अंधकार, अनाचार और विषाद में अपने आपको नये उचित मार्ग का अन्वेषक तथा अपनी कृतियों या रचनाओं को प्रयोग मात्र मानते हैं। हिन्दी काव्य-क्षेत्र में ऐसी विचारधारा के प्रवर्तक श्री अज्ञेय माने जाते हैं। ××

प्रजातंत्र- पु० (सं०) दे० 'गण-तंत्र, जन-तंत्र और लोक-तंत्र।

163. प्रज्ञा — प्रतिभा

Wisdom — Genius

ये दोनों बुद्धि (दे० 'बुद्धि और समझ') के बहुत ही असाधारण और उत्कृष्ट रूप हैं। '**प्रज्ञा**' का साधारण अर्थ है–अच्छा और विशिष्ट ज्ञान। यह मुख्यतः हमारे यहां के आध्यात्मिक और दार्शनिक क्षेत्रों में व्यवहृत शब्द है। यह बुद्धि का वह बहुत ही परिष्कृत और विकसित रूप है जो अध्ययन, अभ्यास, निरीक्षण आदि के द्वारा उत्पन्न होता है; इसके सिवा यह बहुविधि अनुभव, ज्ञान, पांडित्य और विचारशीलता के फलस्वरूप प्राप्त होनेवाला गुण है। इससे मनुष्य बहुत ही चतुर और दूरदर्शी होता है; हर बात का ऊंच-नीच बहुत अच्छी तरह और जल्दी समझ लेता है और प्रत्येक विषय का बहुत गम्भीर चिन्तन और मनन करने में समर्थ होता है। इसी आधार पर प्रायः नेत्रहीन पंडितों और विद्वानों को प्रज्ञाचक्षु कहने की प्रथा चल पड़ी है क्योंकि उनके संबंध में यह माना और समझा जाता है कि वे देखने और पढ़ने में साधारण लोगों की अपेक्षा कहीं अधिक योग्य और विचारशील होते हैं।*

'**प्रतिभा**' इससे भी कहीं अधिक आगे बढ़ा हुआ गुण है और इसीलिए लोग इसे

---

* इधर हाल में अंग्रेज़ी के Cognizable का भाव सूचित करने के लिए इसी '**प्रज्ञा**' से वि० '**प्रज्ञेय**' बना लिया गया है और इसका विपर्याय 'अप्रज्ञेय' होता है। ऐसे अवसरों पर 'प्रज्ञेय' का अर्थ होता है- (कार्य, बात या विषय) जिसका (क) अधिकारियों को आधिकारिक रूप से ज्ञान या परिचय हो और (ख) (अपराध या दोष) जिसकी ओर ध्यान या जिसकी छानबीन करना और अपराधी या दोषी को न्यायालय के सम्मुख उपस्थित करना अधिकारियों का कर्त्तव्य हो, जैसे चोरी, जुआ, डाका, हत्या आदि प्रज्ञेय अपराध हैं। ऐसे अपराधों की कहीं से कोई सूचना पाते ही अधिकारियों का यह कर्तव्य होता है कि वे उस पर पूरा-पूरा ध्यान दें और अपराधी या दोषी का पता लगाकर उसे दंड दिलाने की व्यवस्था करें। इसके विपरीत उचित से अधिक मुनाफा लेकर माल बेचना, आपस में छोटी मोटी कहा-सुनी करना आदि ऐसे अपराध या दोष माने जाते हैं जिनके सम्बन्ध में अधिकारी तभी कोई कार्रवाई करते हैं जब कोई व्यक्ति सामने आकर इस प्रकार का अभियोग उपस्थित करे। ऐसे अपराध या दोष 'अप्रज्ञेय' कहलाते हैं।

ईश्वरदत्त मानते हैं। हमारे यहां **प्रतिभा** की व्याख्या में कहा गया है—भावोन्मेष शालिनी **प्रज्ञा प्रतिभा**। अर्थात् जिस **प्रज्ञा** के फलस्वरूप मन में नित्य नई-नई और अद्भुत कल्पनाएं उत्पन्न होती हों, वही **प्रतिभा** है। प्रतिभाशाली व्यक्ति में अनेक ऐसे अद्भुत और विलक्षण गुणों का मिश्रण देखने में मिलता है जो साधारण व्यक्तियों में दुर्लभ होता है। ऐसे व्यक्तियों की मानसिक शक्तियां भी बहुत चढ़ी-बढ़ी होती हैं। उनमें सौन्दर्य की परख भी बिल्कुल निराली होती है और अन्वेषण तथा पर्यालोचन की शक्ति भी अद्भुत होती है। **प्रतिभा** का सबसे बड़ा गुण अछूती नवीनता और स्वतंत्र मौलिकता है। वह न तो किसी का अनुकरण पसन्द करती है और न किसी की छाया ही ग्रहण करती है। इसमें रचनात्मक शक्ति भी कुछ ऐसी अनोखी होती है जो नियम, मर्यादा, विधान आदि की साधारणतः कोई परवाह नहीं करती। इसमें कुछ ऐसी आन्तरिक प्रेरणा होती है जिससे मनुष्य बहुत ऊंचे दरजे की बातें कहता या काम करता है। जिन कवियों या लेखकों में **प्रतिभा** होती है वे प्रायः अज्ञेय और असीम का चिन्तन करते हुए अपनी कृतियों या रचनाओं को ऐसा रूप देते हैं जो परम आकर्षक और मनोहर होने के अतिरिक्त बहुत अधिक आनन्ददायक और सुखद भी होता है। कभी-कभी जो यह सुनने में आता है कि अमुक व्यक्ति लाखों, करोड़ों और अरबों की संख्याओं का जोड़, बाकी, गुणा और भाग बात की बात में कर दिखलाते हैं वह उनकी **प्रतिभा** का ही प्रमाण माना जाता है। **प्रतिभा** में कल्पना-शक्ति भी और क्रिया-शक्ति भी कुछ ऐसी असाधारण और विलक्षण होती है कि कभी-कभी बहुत-कुछ पागलपन की सीमा तक जा पहुँचती है। इसीलिए अनेक मनोविज्ञानवेत्ताओं का मत है कि **प्रतिभा** और पागलपन की विशेषताएं बहुत-कुछ मिलती-जुलती होती हैं। ××

प्रज्ञान- *पु०* (सं०) दे० 'ज्ञान, प्ररिज्ञान और प्रज्ञान'।

प्रज्ञेय- *वि०* दे० 'प्रज्ञा और प्रतिभा'।

प्रण- *पु०* दे० 'संकल्प, निश्चय, प्रतिज्ञा और शपथ'।

प्रणय- *पु०* (सं०) दे० 'अनुराग, प्रीत, प्रेम और स्नेह'।

प्रणाली- *स्त्री०* (सं०) दे० 'पद्धति, परिपाटी और प्रणाली'।

प्रतिअभिदिष्टि- *भू० कृ०* (सं०) दे० 'विषय, प्रकरण, प्रसंग और संदर्भ (अभिदेश)'।

प्रति-अभिदेश- *पु०* (सं०) दे० 'विषय, अभिदेश, प्रकरण, प्रसंग और संदर्भ'।

---

* कहते हैं कि एक बार किसी ने किसी प्रसिद्ध अंगरेज़ लेखक से पूछा था कि प्रतिभा किसे कहते हैं। उसने कुछ देर सोचकर उत्तर दिया था - इसमें 99 प्रतिशत तो परिश्रम होता है और 1 प्रतिशत प्रतिभा होती है। इस उत्तर में भले ही कुछ अत्युक्ति हो, परन्तु इतनी सत्यता अवश्य है कि प्रतिभाशाली व्यक्तियों को भी बहुत अधिक परिश्रम करना पड़ता है; और प्रतिभा मुख्यतः प्रेरक ही होती है। कभी-कभी कुछ ऐसे प्रतिभाशाली व्यक्ति भी देखने में आते हैं जो परिश्रम नहीं करते और इसीलिए कोई बड़ा काम भी नहीं कर पाते। ऐसा जान पड़ता है कि प्रतिभा ही अपनी अभिव्यक्ति के लिए मनुष्य को ऐसे काम करने के लिए प्रवृत्त करती है जो बहुत अधिक परिश्रम-साध्य होते हैं। इसके सिवा प्रतिभा भी पूरी तरह से तभी अपना काम करती है जब मनुष्य सदाचारी भी हो और स्वस्थ्य भी। हां, इनमें यदि कभी कोई अपवाद दिखाई दें तो बात दूसरी है।

164. प्रतिकूल — विपरीत — विरुद्ध

प्रतिकूल	विपरीत	विरुद्ध
Adverse Opposite	Contrary	Against

इस वर्ग के शब्द ऐसे कामों, बातों, व्यक्तियों, स्थितियों आदि के विशेषण हैं, जो या तो मार्ग में पड़कर हमारी प्रगति में बाधक होती हैं, या उससे मेल नहीं खाती।

'प्रतिकूल' (सं०) का पहला और मुख्य अर्थ है–जो सामनेवाले किनारे या तट पर स्थित हो, इस दृष्टि से यह 'अनुकूल' का विपर्याय है। (दे० 'अनुकूल, अनुरूप और अनुसार')। जो बात हमारी इच्छा, प्रवृत्ति या रुचि से मेल नहीं खाती अथवा कथनों, गुणों, विशेषताओं आदि की दृष्टि से बाधक होती है, वही हमारी दृष्टि में **प्रतिकूल** ठहरती है। जो हमारी ओर अथवा हमारे पक्ष में न हो, बल्कि सामनेवाले पक्ष में रहकर हमारे कामों में अड़चन डालता हो, वह हमारे **प्रतिकूल** ही होता है, इसका प्रयोग ऐसे कार्यों, बातों, स्थितियों आदि के सम्बन्ध में भी होता है जो किसी अन्य कार्य बात या स्थिति को आगे बढ़ने से रोकती हो; और ऐसी प्रवृत्ति, रुचि, स्वभाव आदि के सम्बन्ध में भी होता है, जो या तो हमारे अनुकूल न हो और या जो हमें ठीक या युक्तिसंगत न जान पड़ती हो; जैसे (क) उन्होंने जो नीति या पक्ष ग्रहण किया है, वह हमारे बिलकुल **प्रतिकूल** है। (ख) यह औषधि भी और यहां का जलवायु भी हमारी प्रकृति के **प्रतिकूल** है। मुख्य आशय या भाव यही होता है कि दोनों में मेल या संगति नहीं बैठती।

'विपरीत' (सं०) का पहला और मुख्य अर्थ है–जो उल्टी दिशा में जा रहा हो या पीछे की ओर घूम या मुड़कर बढ़नेवाला हो। इस दृष्टि से यह 'विलोम' के आशय या भाव से बहुत-कुछ युक्त है। (दे० 'अनुलोम और विलोम')। इसमें मुख्य आशय या भाव आवश्यक, उचित, उपयुक्त आदि से बिलकुल उलटे होने का है।'विनाश काले **विपरीत** बुद्धिः' का आशय यही है कि जब विनाश का समय आता है तब बुद्धि वैसी नहीं रह जाती जैसी साधारणतः होनी या रहनी चाहिए; बल्कि उससे बिल्कुल उलटी हो जाती है। 'अब वायु **विपरीत** दिशा में बहने लगी है' का अर्थ होता है–पहले जिस दिशा में वह बह रही थी, अब उससे उलटी दिशा में वह बहने लगी है। ऐसे अवसरों पर यह प्रश्न गौण ही रह जाता है कि पहले उसका बहाव हमारी दृष्टि से अनुकूल दिशा में था या **प्रतिकूल** दिशा में। कुछ अवस्थाओं में इसमें क्रम, नियम, विधान आदि के उल्लंघन का भाव निहित रहता है। जो चीजें या बातें एक दूसरी के **विपरीत** होती हैं वे आपस में इस प्रकार आमने-सामने और इतनी दूर होती हैं कि उनमें परस्पर कभी मेल या संगति नहीं होती - समझौते के लिए कोई अवकाश नहीं होता।

'विरुद्ध' (सं०) वस्तुतः 'विरोध' का भाव या स्थिति सूचित करनेवाला विशेषण है, (दे० 'रोध, अवरोध, गत्यरोध, प्रतिरोध और विरोध') परन्तु लोक-व्यवहार में हम उन सब कामों या बातों को अपने विरुद्ध कहते और समझते हैं, जो हमारी प्रगति में रुकावट डालती हैं और हमें सहज में आगे नहीं बढ़ने देतीं। जो हमारे सामने आकर हमारा विरोध

करता हो, हमारे कार्यों या प्रयत्नों आदि को विफल करना चाहता हो, उसे भी हम अपने '**विरुद्ध**' समझते हैं। जो साधारण नियमों आदि से उलटा और विभिन्न हो, वह भी '**विरुद्ध**' कहलाता है, जैसे नियम, विधान, शास्त्र आदि के **विरुद्ध** आचरण या व्यवहार। कुछ अवस्थाओं में इसका प्रयोग अव्यय या क्रिया-विशेषण के रूप में भी होता है। उस दशा में नीचे लिखे अर्थ सूचित करता है –

1- प्रतिकूल स्थिति में होकर, जैसे (क) किसी के **विरुद्ध** कुछ कहना, बोलना, या लिखना, (ख) किसी के **विरुद्ध** कोई मुकदमा दायर करना आदि।

2- किसी के मुकाबले में या सामने; जैसे चुनाव में किसी के **विरुद्ध** खड़ा होना। ऐसे अवसरों पर इसमें प्रतियोगिता का भाव निहित होता है।

इस अर्थ में इसके स्थान पर कभी-कभी फ़ारसी के 'खिलाफ' का भी प्रयोग होता है।

××

प्रतिज्ञा- *स्त्री०* (सं०) दे० 'संकल्प, निश्चय, प्रतिज्ञा और शपथ'।

165. प्रतिनिधि — प्रतीक — प्रवक्ता

प्रतिनिधि	प्रतीक	प्रवक्ता
Representative	Emblem	Spokesman
Delegate	Symbol	

इस वर्ग के शब्द ऐसी वस्तुओं, व्यक्तियों आदि के वाचक हैं जो किसी अप्रस्तुत वस्तु या व्यक्ति के स्थान पर अथवा उसके अभाव में उसका काम दे सकें और उसके अभाव की पूर्ति कर सकें।

'**प्रतिनिधि**' *पु०* (सं०) का मुख्य अर्थ है—प्रतिमा या मूर्ति जिसे लोग देवी-देवताओं का प्रतिमान मानकर या प्रतिरूप समझकर पूजते हैं। परन्तु आज-कल **प्रतिनिधि** का प्रयोग कई नए और विशिष्ट अर्थों में होने लगा है। किसी व्यक्ति के स्वयं उपस्थित न होने अथवा न हो सकने की दशा में जो व्यक्ति उसका काम चलाता अथवा उसके स्थान की पूर्ति करता है, वही **प्रतिनिधि** कहलाता है। उदाहरण के लिए जब राज्य का कोई बड़ा अधिकारी स्वयं कहीं नहीं पहुंच सकता, तब वह उस काम के लिए अपना **प्रतिनिधि** वहां भेजता है। आज-कल बड़े-बड़े राजाओं के राज्याभिषेक के अवसर पर अथवा राष्ट्रपतियों के राज्यारोहण के उत्सव पर अनेक देशों के प्रधान शासक वहां अपना **प्रतिनिधि** भेजते हैं। लोकतंत्रीय व्यवस्थाओं में मतदाता लोग विधान सभाओं में अपने **प्रतिनिधि** चुनकर भेजते हैं। राज्य का कोई विशेष कार्य पूरा करने के लिए प्रतिनिधियों का दल दूसरे देशों में भेजा जाता है, और बड़ी-बड़ी महासभाओं के अधिवेशन के लिए इसके अनुयायी और समर्थक लोग अपने **प्रतिनिधि** चुनकर वहां भेजते हैं। इसके सिवा लाक्षणिक रूप में **प्रतिनिधि** का एक और अर्थ भी होता है। जिस वस्तु या व्यक्ति को देखकर उसकी जाति, वर्ग या समूह की अन्यान्य सभी वस्तुओं या व्यक्तियों के आकार-प्रकार, रूप-रंग आदि का अनुमान या कल्पना की जा सकती हो उसे भी उस

जाति, वर्ग या समूह का **प्रतिनिधि** कहा जाता है। परन्तु इस अर्थ में **प्रतिनिधि** का प्रयोग कुछ कम ही देखने में आता है।

'प्रतीक' *पु०* (सं०) का वि० रूप में अर्थ है—जो किसी ओर चलाया, बढ़ाया या लगाया गया हो अथवा प्रेरित किया गया हो। इसके सिवा उल्टा, प्रतिकूल, **विरुद्ध** आदि इसके और भी कुछ अर्थ हैं। संज्ञा रूप में **प्रतीक** के अर्थ अंग, अंश, आकार, मुख आदि और भी कई गौण अर्थ हैं। इसके सिवा **प्रतिनिधि** की तरह यह प्रतिमा या मूर्ति का भी वाचक होता है। परन्तु इससे आगे बढ़ने पर **प्रतीक** कुछ दूसरे प्रकार के अर्थों का वाचक हो गया है। प्रायः हमारे ध्यान में ऐसी बहुत सी बातें या वस्तुएं आती हैं, जो हमारे लिए अगोचर, अदृश्य या अप्रस्तुत होती हैं, और तब उनके आकार, कार्य, व्यवहार आदि की कल्पना करके चित्रण, रेखन आदि के द्वारा उसका कोई संक्षिप्त रूप प्रस्तुत करते हैं और उसी को मूल वस्तु का **प्रतीक** कहते हैं। भारतीय हिन्दुओं के आध्यात्मिक क्षेत्र में ॐ निराकार परमात्मा या परब्रह्म का **प्रतीक** माना जाता है। इसी प्रकार बहुत प्राचीन काल से स्वस्तिक एक बहुत मांगलिक और शुभ **प्रतीक** माना जाता है और ईश्वर अथवा प्रकृति के कल्याणकारी रूप को सूचित करता है। भारत में तो प्रायः लोग इस आकृति को गणेश का रूप मानकर पूजते ही हैं और मांमलिक अवसरों पर दीवारों पर जगह-जगह उसकी आकृतियां अंकित करते ही हैं। इसके सिवा जरमनी, जापान, फ़ारस तथा अमेरिका की कुछ पुरानी जातियों में भी इसके प्रचलन के कुछ अवशिष्ट रूप देखने में आते हैं। सारांश यह कि जो चीज़ या बात और किसी प्रकार अप्रत्यक्ष न हो सकती हो उसे प्रत्यक्ष करने के लिए संक्षेप में उसका जो कल्पित रूप प्रस्तुत किया जाता है, वही **प्रतीक** कहलाता है। इसी आधार पर आरंभिक जातियों और मनुष्यों के सभी प्रकार के आचरणों, व्यवहारों आदि का अच्छी तरह विचार करके **'प्रतीकवाद'** (Symbolism) नाम का एक नया सिद्धांत ही निरूपित किया गया है। इसके अनुसार यह माना जाता है कि संसार में मनुष्य की बनाई हुई सब चीज़ें वास्तव में मूलतः **प्रतीक** ही हैं। पहले मनुष्य के मन में कोई धारणा या विचार उत्पन्न होता है; और तब उसी के **प्रतीक** के रूप में कोई नई चीज़ बनाकर तैयार करता और काम में लाता है। इस प्रकार इसी को समस्त मानव समाज के सभी कामों या बातों का मूल आधार बतलाया गया है। कला, संगीत और साहित्य आदि के अतिरिक्त लोक-व्यवहार में भी इसकी प्रधानता देखने में आती है। कमल, मोर, हाथी आदि भारतवर्ष के **प्रतीक** माने जाते हैं। कुत्ता स्वामि-निष्ठा का, गीदड़ कायरता का, लोमड़ी चातुर्य और धूर्तता का तथा सिंह बल और पराक्रम का **प्रतीक** माना जाता है। कबूतर को लोग शान्ति का, तुला को निष्पक्ष न्याय का, लाल रंग को खून-खराबी का और सफेद रंग को पवित्रता तथा शान्ति का **प्रतीक** मानते हैं। सौभाग्यवती स्त्रियों को आशीर्वाद देते हैं—कोख और मांग से भरी पूरी रहो। यहां 'कोख' का प्रयोग उनकी सन्तान के **प्रतीक** रूप में और मांग उनके सुहाग के **प्रतीक** के रूप में प्रयुक्त होती है।

यहां यह भी ध्यान रहे कि **प्रतिनिधि** तो मुख्यतः पदार्थ या व्यक्ति ही होता है; परन्तु **प्रतीक** के अंतर्गत बहुत सी दूसरी चीज़ें या बातें भी आ जाती हैं; जैसे आज-कल कहा जाता है (क). हरिद्वार में बिजली के बड़े-बड़े इंजन बनाने का जो बहुत बड़ा

कारखाना रूसियों की सहायता से बना है, वह भारत और रूस की घनिष्ठ मित्रता का प्रतीक है; और (ख) उनका यह अनुग्रह (या दान) उनके सद्भाव और सौजन्य का **प्रतीक** है।

'प्रवक्ता' पुं० (सं०) का पहला अर्थ है–प्रवचन करने अथवा कोई बात अच्छी तरह समझाकर बतलानेवाला। प्राचीन भारत में प्रवक्ता उस आचार्य को कहते थे जो प्राचीन ऋषियों की कही हुई बातों को अच्छी तरह समझाकर विद्यार्थियों को उनकी शिक्षा देता था। परन्तु आज-कल किसी ऐसे अधिकारी व्यक्ति को **प्रवक्ता** कहा जाता है जो किसी बड़े राजनीतिक दल, शासन मंडल, संस्था आदि की ओर से किसी निर्णय या विचार का जन-साधारण के सामने स्पष्टीकरण करता या उसके मत की व्याख्या करके लोगों का भ्रम या संदेह दूर करता हो। ऐसा व्यक्ति भी होता तो एक प्रकार का **प्रतिनिधि** ही है; परन्तु उसका यह प्रतिनिधित्व उसी बात तक सीमित रहता है जो वह दल, शासन, मंडल या सस्था की ओर से सार्वजनिक रूप से कहता है।

प्रतिपूरक- *वि०* (सं०) दे० 'पारस्परिक, अन्योन्याश्रित और प्रतिपूरक'।

प्रतिपूर्ति- *स्त्री०* (सं०) दे० 'पूर्ति, अनुपूर्ति, आपूर्ति और प्रतिपूर्ति'।

प्रतिभा- *स्त्री०* (सं०) दे० 'प्रज्ञा और प्रतिभा'।

प्रतिमान- *पु०* (सं०) दे० 'आदर्श, प्रतिमान, प्रतिरूप, मानक और मानदंड'।

प्रतिरक्षा- *स्त्री०* (सं०) दे० 'रक्षा, आरक्षा, आरक्षण, परिरक्षा, प्रतिरक्षा, संरक्षा और सुरक्षा'।

प्रतिरूप- *पु०* (सं०) दे० 'आदर्श, प्रतिमान, प्रतिरूप, मानक और मानदंड'।

प्रतिरोध- *पु०* (सं०) दे० 'रोध, अवरोध, गत्यवरोध, निरोध, प्रतिरोध और विरोध'।

प्रतिषेध- *पु०* (सं०) दे० 'वारण, निवारण, वर्जन, निषेध और प्रतिषेध'।

प्रतिष्ठान- *पु०* (सं०) दे० 'संस्था, संस्थान, प्रतिष्ठान और निगम।

प्रति-संतुलन- *पु०* (सं०) दे० 'संतुलन, समन्वय और सामञ्जस्य'।

प्रतीक- *पु०* (सं०) दे० 'प्रतिनिधि, प्रतीक और प्रवक्ता'।

प्रतीकवाद- *पु०* (सं०) दे० 'प्रतिनिधि, प्रतीक और प्रवक्ता'।

प्रतीक्षा- *स्त्री०* (सं०) दे० 'आशा, प्रतीक्षा और प्रत्याशा'।

प्रतीति- *स्त्री०* (सं०) दे० 'विश्वास, प्रतीति, प्रत्यय, भरोसा और मान्यता'।

प्रत्यय- *पु०* (सं०) दे० 'विश्वास, प्रतीति, प्रत्यय, भरोसा और मान्यता'।

प्रत्यभिदेश- *पु०* (सं०) दे० 'विषय, अभिदेश, प्रकरण, प्रसंग और संदर्भ'।

प्रत्याशा- *स्त्री०* (सं०) दे० 'आशा, प्रतीक्षा और प्रत्याक्षा'।

प्रथा- *स्त्री०* (सं०) दे० 'रीति, प्रथा और रूढ़ि'।

प्रदान- *पु०* (सं०) दे० 'दान, अनुदान, परिदान और प्रदान'।

प्रयत्न- *पु०* (सं०) दे० 'चेष्टा, प्रयत्न और प्रयास'।

प्रयास- *पु०* (सं०) दे० 'चेष्टा, प्रयत्न और प्रयास'।

प्रयोग- *पु०* (सं०) दे० 'उपयोग और व्यवहार'।

प्रयोगवाद- *पु०* (सं०) दे० 'प्रगतिवाद और प्रयोगवाद'।

प्रयोगशाला- *स्त्री०* (सं०) दे० 'उपयोग, प्रयोग और व्यवहार'।

प्रयोजन- *पु०* (सं०) दे० 'उद्देश्य, ध्येय, प्रयोजन और लक्ष्य'।

प्रलय- *पु०* (सं०) दे० 'लय, प्रलय और विलय'।

प्रलेख- *पु०* (सं०) दे० 'लेख, अभिलेख, आलेख, प्रलेख और विलेख'।

प्रवक्ता- *पु०* (सं०) दे० 'प्रतिनिधि, प्रतीक, और प्रवक्ता'।

166. प्रवचन भाषण वक्तृता वाग्मिता वार्ता व्याख्यान

प्रवचन	भाषण	वक्तृता	वाग्मिता
Discourse	Lecture	Oration	Oration
	वार्ता	व्याख्यान	
	Talk	Speech	

ये शब्द ऐसी बहुत सी बातों के सामूहिक रूप के सूचक हैं जो श्रोताओं के सामने अथवा सार्वजनिक सभाओं में कही जाती हैं। संस्कृत में **'प्रवचन'** के यों तो कई अर्थ हैं, जैसे बातचीत करना, शिक्षा देना, समझाना, घोषित करना आदि। हमारे यहां के प्राचीन साहित्य में इसका प्रयोग कुछ विशिष्ट प्रकार के धार्मिक ग्रंथ विशेषतः ब्राह्मणों और वेदांगों के लिए होता था। परन्तु आज-कल इसका प्रयोग मुख्यतः ऐसे शिक्षाप्रद, धार्मिक और नैतिक उपदेशों के सम्बन्ध में होता है जो पवित्र ग्रन्थों में आई हुई बातों के आधार पर और उनकी व्याख्या के रूप मे होते हैं। तात्त्विक दृष्टि से महापुरुषों अथवा धार्मिक ग्रन्थों के वचनों का स्पष्टीकरण करते हुए लोगों को उनका महत्त्व समझाना ही **प्रवचन** है, जैसे गीता या रामायण का **प्रवचन**।

'भाषण' का साधारण अर्थ तो है–बातचीत करना या बोलना;जैसे:अब तो मैंने उनसे **भाषण** करना भी छोड़ दिया है। परन्तु आज-कल **भाषण** का प्रयोग ऐसी बातों के सम्बन्ध में होने लगा है जो कुछ या बहुत से लोगों के सामने सार्वजनिक रूप से कही जाती हैं। इसके कई उद्देश्य हो सकते हैं, यथा:उन्हें अपना मत या विचार बतलाना, उन्हें कुछ नई और ज्ञातव्य बातें बतलाना, उन्हें प्रभावित करके अपने अनुकूल या पक्ष में करना आदि आदि। साधारणतः **भाषण** प्रायः मौखिक ही होते हैं; परन्तु कुछ अवस्थाओं में वे लिखित भी होते या हो सकते हैं। **भाषण** में साधारणतः सभी तरह के लोगों के लिए और प्रायः लोक-व्यवहार की ही बातें होती हैं। आज-कल की सार्वजनिक सभाओं में राजनीतिक, सामाजिक, साहित्यिक आदि विषयों की चलती हुई जैसी और जो बातें सुनने में आती हैं उनकी गणना भाषणों में ही होती है। अंग्रेज़ी के Address का भाव सूचित

करने के लिए इसी **भाषण** में अभि उपसर्ग लगाकर आज-कल **'अभिभाषण'** शब्द चलाया गया है । 'अभिभाषण' भी है तो एक प्रकार का **भाषण** ही; परन्तु इसमें एक तो औपचारिकता का भाव प्रधान होता है और दूसरे किसी बड़े अधिकारी अथवा विशिष्ट रूप से मान्य वर्ग या समूह को संबोधित करके कुछ महत्वपूर्ण बातें बतलाने का भाव सम्मिलित रहता है, जैसे (क) न्यायालय में वकील ने जो अभिभाषण किया था, उसमें उसने अपने पक्ष का बहुत ही कुशलता से और योग्यतापूर्वक समर्थन किया था । (ख) राष्ट्रपति ने संसद् में जो अभिभाषण किया था उसमें देश की वर्तमान स्थिति और भावी आवश्यकताओं का बहुत ही विचारपूर्ण विवेचन था । और (ग) विद्यार्थियों के उपद्रव के कारण कुलपति को बीच में ही अपना अभिभाषण बन्द कर देना पड़ा ।

'वक्तृता' का मूल अर्थ है—बोलने की क्षमता या योग्यता । परन्तु आजकल विस्तृत और व्यापक अर्थ में इसका प्रयोग ऐसे भाषणों के सम्बन्ध में होता है जिनका विषय अपेक्षया गम्भीर और विवेचन बहुत-कुछ पांडित्यपूर्ण तथा प्रभावोत्पादक हो । **वक्तृता** के लिए मुख्य आवश्यकता **वाग्मिता** की होती है । अच्छा वक्ता वही समझा जाता है जो सब बातें बहुत अच्छी तरह, प्रभावशाली रूप में और मनोरंजक ढंग से कहना जानता हो । इसकी शैली भी बहुत कुछ परिमार्जित और साहित्यिक होती है । इसीलिए इसके श्रोता भी अधिक योग्य, शिक्षित तथा समझदार होते हैं या होने चाहिए ।

'व्याख्यान' का व्युत्पत्तिक सम्बन्ध मूलतः व्याख्या से है । इसीलिए जिस **भाषण** में किसी एक विषय के विशिष्ट अंग या अंगों का सूक्ष्म दृष्टि से विस्तारपूर्वक और व्याख्यात्मक रूप में विवेचन होता है वही **व्याख्यान** कहलाता है । यों लोक-व्यवहार में **भाषण** और **व्याख्यान** में कोई विशेष अन्तर नहीं माना जाता; फिर भी अपने वास्तविक अर्थ में **व्याख्यान** ऐसा उत्कृष्ट तथा ज्ञानप्रद **भाषण** है जो विद्याप्रेमी श्रोताओं के लिए ही उपयोगी होता है । **व्याख्यान** के लिए व्याख्याता को पहले से कुछ तैयारी भी करनी पड़ती है क्योंकि उसमें विशिष्ट विषय की ज्ञातव्य बातों का अच्छा विवेचन होना चाहिए । इस दृष्टि से साधारण **भाषण** की तुलना में **व्याख्यान** अधिक उच्च-कोटि का ठहरता है । इसलिए कहा जाता है (क) आज-कल विद्वत्परिषद् में वेदांत सम्बन्धी व्याख्यान-माला चल रही है; और (ख) हमारे विश्वविद्यालय में इस वर्ष वायु-विज्ञान (अथवा समाज-विज्ञान) के सम्बन्ध में एक व्याख्यान-माला का आयोजन हुआ है ।

'वार्ता' *स्त्री०* (सं०) का साधारण अर्थ है—कही या बतलाई जानेवाली बात । प्राचीन काल में इसके और भी कई अर्थ होते थे, जैसे चीजें खरीदने और बेचने का काम; कृषि, गोरक्षा व्यवसाय आदि, जिनकी गिनती वैश्यों की वृत्ति में होती थी । पर आजकल इसका प्रयोग रेडियो के प्रसारणों में अधिकता से होने लगा है; जैसे:गुप्त काल के समय के सिक्कों की **वार्ता**, देश में एकात्मकता का प्रचार करनेवाली **वार्ता**, परिवार नियोजन-संबंधी **वार्ता**, पिछड़ी हुई जातियों के उद्धार की **वार्ता** । यह भी है तो **भाषण** का एक प्रकार ही; पर इसकी कुछ निजी विशेषताएं भी हैं । वार्ताएं प्रायः औपचारिक होती हैं; और इनका मुख्य उद्देश्य किसी विषय का संक्षिप्त ज्ञान या परिचय कराना ही होता है । ऐसी वार्ताएं प्रायः सरल भाषा में और सीधे-सादे रूप में ही होती हैं; इनमें आलंकारिक या

काव्यात्मक तत्त्वों आदि का अभाव ही होता है। वार्ताएं प्रायः विद्वानों और विशेषज्ञों की ही प्रसारित होती हैं।

प्रवर्तन - *पु०* (सं०) दे० 'घोषणा, प्रख्यापन, परिज्ञापन और प्रवर्तन'।

प्रविधान - *पु०* (सं०) दे० 'विधा, विधान, विनिमय, प्रविधान, संविधान और संहिता'।

प्रविधि - *स्त्री०* (सं०) दे० 'विधि, क्रिया-विधि, प्रक्रम और प्रविधि'।

प्रविधिज्ञ - *पु०* (सं०) दे० 'विधि, क्रिया-विधि, प्रक्रम और प्रविधि'।

प्रवृत्ति - *स्त्री०* (सं०) दे० 'वृत्ति, अभिवृत्ति, प्रवृत्ति, मनोवृत्ति और रुचि'।

प्रशंसा - *स्त्री०* (सं०) दे० 'आशंसा, अनुशंसा, अभिशंसा और प्रशंसा'।

167. प्रशस्ति स्तवन स्तुति
Glorification Extolment Panegyric

इस वर्ग के शब्द ऐसी उक्तियों और कथनों के वाचक हैं जो किसी बहुत उच्चकोटि के महापुरुष या विद्वान के श्रेष्ठ गुणों अथवा देवी-देवताओं या देव-तुल्य पूज्य व्यक्तियों और धर्म प्रवर्तकों के गुणानुवाद और प्रशंसा के रूप में अपना आदर भाव और कृतज्ञता प्रकट करने के लिए कहे जाते हैं।

'प्रशस्ति' *स्त्री०* (सं०) का साधारण अर्थ भी प्रशंसा या **स्तुति** ही है, परंतु प्राचीन काल से इसमें एक विशिष्ट अर्थ लगा आ रहा है और एक विशिष्ट क्षेत्र में इसका प्रयोग होता आ रहा है। किसी नए राजा के सिंहासन पर बैठने के समय राज्य में मंगल और शांति की कामना से जो ईश्वर-प्रार्थना होती थी, वह आरंभ में **प्रशस्ति** कहलाती थी। आगे चलकर राजाओं की वे घोषणाएं और प्रख्यापन भी प्रशस्ति कहलाने लगे जो चट्टानों, ताम्र-पट्टों आदि पर खुदवाकर कुछ प्रमुख स्थानों पर जन-साधारण की जानकारी के लिए, लगवा दिए जाते थे। इससे और आगे बढ़कर यह शब्द उन पंक्तियों का वाचक हो गया था जो प्राचीन और मध्य युग के ग्रंथकार अपने ग्रंथों के आरंभ में इस दृष्टि से रखते थे कि लोगों को ग्रंथकार, ग्रंथ और उसके विषय आदि का साधारण परिचय हो जाए। इस प्रकार के उल्लेखों को आगे चलकर पुष्पिका कहने लगे थे। पर आज-कल **प्रशस्ति** वह बढ़ी-चढ़ी और (प्रायः लिखित) प्रशंसा कहलाती है, जिसमें किसी के गुणों, विशेषताओं आदि का विशद और विस्तृत विवेचन होता है और जिसका उद्देश्य किसी व्यक्ति या उसके कामों को बहुत बढ़ाकर लोगों के सामने रखना होता है। प्राचीन शिला-लेखों आदि में मिलनेवाला पूर्वा शब्द इसी अंतिम अर्थ में **प्रशस्ति** का पर्याय मात्र है।

प्रशस्ति पत्र - *पु०* (सं०) एक आधुनिक और पाश्चात्य प्रथा से संबद्ध शब्द है। जब कोई बहु-मान्य महापुरुष कहीं बाहर से आता है अथवा किसी संस्था में किसी

विशिष्ट अवसर पर आता है अथवा अपना कार्य-भार पद स्थान आदि छोड़कर कहीं दूसरी जगह जाता है, तब उसके अभिशंसक और प्रशंसक लोग उसके गुणों, परोपकारों और योग्यताओं आदि का निश्चित विवरण लिखकर और सब लोगों को सुनाकर उसे भेंट करते हैं जिस पत्र पर ये सब बातें लिखी होती हैं, उसे **प्रशस्ति** पत्र कहते हैं। कभी-कभी ऐसी **प्रशस्ति** केवल भाषण के रूप में भी उपस्थित की जाती है।

'स्तवन' - *पु०* (सं०) स्तु धातु से बना है, जिसका अर्थ है–प्रशंसा करना, सराहना आदि। पर आशय के विचार से यह **प्रशस्ति** से बहुत-कुछ आगे बढ़ा हुआ शब्द है। किसी बड़े की कीर्ति और यश का विस्तार करने के लिए भी जी खोलकर उसकी जो प्रशंसा करते हैं वही उसका **स्तवन** कहलाता है।

'स्तुति'- *स्त्री०* (सं०) भी व्युत्पत्तिक दृष्टि से वही है, जो **स्तवन** है परन्तु व्यवहार की दृष्टि से आज-कल **स्तुति** का प्रयोग प्रायः देवी-देवताओं के गुणानुवाद के संबंध में ही होता है। इस प्रकार के गुणानुवाद से युक्त जो पद्यात्मक रचनाएं होती हैं, उन्हें स्तोत्र कहते हैं, जैसे दुर्गास्तोत्र, शिवस्तोत्र आदि।

प्रशस्ति पत्र - *पु०* (सं०) दे० 'प्रशस्ति, प्रशस्तिपत्र, स्तवन और स्तुति'।

प्रशासन - *पु०* (सं०) दे० 'शासन, प्रशासन, अनुशासन'।

प्रशिक्षण- *पु०* (सं०) दे० 'शिक्षण, शिक्षा और प्रशिक्षा'।

प्रसंग- *पु०* (सं०) दे० 'विषय, अभिदेश, प्रकरण, प्रसंग और संदर्भ'।

प्रसम- *वि०* (सं० प्र+सम) दे० 'साधारण, सामान्य, प्रसम, प्रायिक और सार्विक'।

प्रस्तुत- *वि०* (सं०) दे० 'उपस्थित, प्रस्तुत, वर्तमान और विद्यमान'।

प्रस्तुति- *स्त्री०* (सं०) दे० 'उत्पादन, निर्माण, प्रस्तुतीकरण, रचना और संरचना'।

प्रस्तुतीकरण- *पु०* (सं०) दे० 'उत्पादन, निर्माण, प्रस्तुतीकरण, रचना और संरचना'।

प्राग्रह - *पु०* (सं०) दे० 'अनुरोध, आग्रह और प्राग्रह'।

प्राण- *पु०* (सं०) दे० 'जीवन, प्राण, जान और ज़िंदगी'।

168. प्राणी जीव जंतु

'प्राणी' उसे कहते हैं जिसमें प्राण-वायु हो और जो सांस लेता हो। **'जीव'** उसे कहते हैं जिसमें जीवन हो, अर्थात् जो खाता-पीता, चलता-फिरता और संतान उत्पन्न करता हो। (प्राण और जीवन की विस्तृत व्याख्या के लिए दे० 'जीवन और प्राण'।) **'जंतु'** संस्कृत की जन् धातु से व्युत्पन्न है जिसका अर्थ है–जनन की क्रिया करना या जन्म देना। इस आधार पर **जंतु** का पहला और मुख्य अर्थ है- वह जिसे (माता-पिता से) जीवन या जन्म प्राप्त हुआ हो। यद्यपि तात्त्विक और वैज्ञानिक दृष्टि से इन तीनों शब्दों के अर्थों में कोई विशेष अंतर नहीं है, फिर भी प्रयोग और व्यवहार की दृष्टि से इनमें कुछ

सूक्ष्म अंतर अवश्य हैं।

'प्राणी' मुख्यतः उसे कहते हैं जिसमें भारतीय दर्शन के अनुसार पांचों प्रकार की प्राण-वायुओं का निवास हो; और इसीलिए **प्राणी** मुख्यतः आदमी या मनुष्य की संज्ञा के रूप में प्रयुक्त होता है; जैसे–उनके घर में दस **प्राणी** हैं; अर्थात् स्त्री-पुरुष, लड़के-लड़कियां आदि सब मिलाकर दस आदमी हैं। इससे और आगे बढ़ने पर पति की दृष्टि में उसकी पत्नी और पत्नी की दृष्टि में उसका पति 'उसका **प्राणी**' कहा जाता है। कदाचित् प्राचीन भारतीय दार्शनिक कीड़ों-मकोड़ों और इसी प्रकार के दूसरे छोटे-मोटे जानवरों में प्राण-वायु का निवास उस रूप में या उस सीमा तक नहीं मानते थे जिस रूप में और जिस सीमा तक मनुष्यों में मानते थे; और इसीलिए उन्होंने **'प्राणी'** को मनुष्यों के क्षेत्र तक ही परिमित रखा था।

'जीव' मुख्यतः उसे कहते हैं जिसमें जीवन अर्थात् किसी न किसी प्रकार की चेतना-शक्ति वर्तमान हो। इस दृष्टि से इसके अर्थ की व्यापकता बहुत बढ़ गई है। मनुष्य भी **जीव** हैं, पशु-पक्षी भी **जीव** हैं; और कीड़े-मकोड़े भी **जीव** हैं। यहां तक कि अणु के समान जो बहुत ही छोटे-छोटे पिंड या शरीर किसी प्रकार की चेतना से युक्त हैं, उन्हें भी जीवाणु ही कहते हैं। उक्त सभी प्रकार के शरीरों में चेतना-शक्ति का जो मूल आधार या तत्त्व होता है वह भी जीवात्मा कहलाता है।

'जंतु' मूलतः है तो वही जिसने किसी रूप में इस संसार में जन्म ग्रहण किया हो; परन्तु लोक-व्यवहार में इसका प्रयोग ऐसे जीवों के संबंध में होता है जो आकार-प्रकार की दृष्टि से बहुत छोटे न हों, या तो बड़े हों या मंझले आकार के। यों गौ, भैंस आदि भी और चूहे, छिपकलियां, सांप आदि भी जंतुओं में ही गिने जाते हैं। जब हम कहते हैं–'पृथ्वी के आरम्भिक युगों में अनेक प्रकार के **जंतु** जंगलों और पहाड़ों में रहा करते थे', तब हमारा आशय ऐसे बड़े-बड़े जीवधारियों से होता है जिनके आकार-प्रकार, रूप-रंग आदि से हम पूर्णतः परिचित नहीं हैं। हम यह भी कहते हैं – 'समुद्रों में अनेक प्रकार के जीव-जंतु रहते हैं'; ऐसे अवसरों पर **'जीव'** से हमारा तात्पर्य संभवतः अपेक्षया छोटे शरीरवाले जीवों से होता है और **जंतु** अपेक्षया बड़े आकार-प्रकार वाले जीवों का वाचक होता है। व्युत्पत्ति के आधार पर भी और प्रयोग के विचार से भी कहा जा सकता है कि **'जंतु'** ऐसे जीवधारियों का वाचक होता है जो माता के गर्भ से स-शरीर जन्म लेते हैं। फ़ारसी का 'जानवर' शब्द भी हमारे यहां **'जंतु'** के रूप में प्रचलित है। ××

प्रादेश- *पु०* (सं०) दे० 'अध्यादेश, परादेश और समादेश'।

169. प्राप्ति — लाभ — उपलब्धि — परिलब्धि

प्राप्ति	लाभ	उपलब्धि	परिलब्धि
Gain	Benefit Gain Profit	Attainment	Achievernent

इस वर्ग के शब्द ऐसी चीज़ों और बातों के सूचक हैं जो किसी प्रकार के प्रयत्न, प्रयोग आदि के फलस्वरूप अधिकार में आती या मिलती हैं।

'प्राप्ति' सं० प्र+आप्ति से बना है – कहीं से कुछ आकर मिलना या हाथ में आना। हमारे पास पहले से जो कुछ है उसके सिवा और जो कुछ कहीं से आकर हमें मिलता या हमारे हाथ में आता है उसी को हम **प्राप्ति** कहते हैं। इसका प्रयोग मुख्यतः धन और वस्तुओं के सम्बन्ध में होता है। हम कहते हैं –आज-कल उन्हें अच्छी **प्राप्ति** हो रही है। आशय यही होता है कि आज-कल उन्हें अच्छी आय हो रही है या यथेष्ट धन मिल रहा है। हम यह भी कहते हैं–चलो, बैठ-बैठाये तुम्हें सौ रुपए की **प्राप्ति** हो गई। आशय यह होता है कि तुम्हें सौ रुपए मिल गये। इसके अतिरिक्त कुछ अवस्थाओं में लाक्षणिक रूप में भी इसका प्रयोग होता है; जैसे विद्या की **प्राप्ति**, बाल्यावस्था की **प्राप्ति**, पुत्र या संतान की **प्राप्ति**, पुण्य या स्वर्ग की **प्राप्ति**। ऐसे अवसरों पर **प्राप्ति** का प्रयोग केवल उसके आरंभिक और अविकसित अर्थ में होता है। पर मुख्य तथा विकसित अर्थ में इसका प्रयोग प्रायः अभीष्ट और शुभ प्रसंगों में ही होता है।*

'लाभ' *पु०* (सं०) लभ् धातु से बना है। इसका भी धात्वर्थ तो वही है जो **प्राप्ति** का है, परन्तु अर्थ और प्रयोग दोनों के विचार से इसकी व्याप्ति **'प्राप्ति'** की उपेक्षा बहुत अधिक है। अपने विस्तृत अर्थ में **लाभ** वह है जो हमारे लिए किसी रूप में शुभ अथवा हितकर हो या किसी रूप में हमारी कोई भलाई करे। हमें अच्छे जल-वायु अथवा पौष्टिक भोजन से स्वास्थ्य का, विद्वानों की संगति से ज्ञान का और विदेश-यात्रा से अनुभव तथा ज्ञान दोनों का **लाभ** होता है। यदि हमारे दो शत्रु आपस में लड़ने लगें, तो हमें यह **लाभ** होता कि हम कुछ समय तक उन दोनों के आक्रमणों से बचे रहेंगे और अपनी स्थिति दृढ़ कर सकेंगे। इसके सिवा किसी औषध के प्रयोग से हमें यह **लाभ** होता है कि हमारा रोग दूर हो जाता है। इस अर्थ में हमारे यहां उर्दू के फ़ायदा (अ० फ़ाइदः) का भी प्रयोग होता है।

आर्थिक क्षेत्र में इस शब्द का प्रयोग उस धन के संबंध में होता है, जो हमें कहीं से

---

* यहां यह भी ध्यान रखना चाहिए कि प्राप्त होना और प्राप्ति होना के अर्थों में भी कुछ अन्तर है। हम यह तो कहते हैं - "आपका कृपा-पत्र प्राप्त हुआ!" पर यह नहीं कहते, "आपके कृपा-पत्र की प्राप्ति हुई"। कारण यही है कि 'प्राप्त होना' तो साधारण मिलना है। परन्तु 'प्राप्ति होना' में किसी विशिष्ट अवस्था, गुण, पदार्थ आदि के भाव या विचार पर कुछ खास ज़ोर रहता है।

या किसी रूप में प्राप्त हो। यदि उत्तराधिकार, पारिश्रमिक, पुरस्कार आदि के रूप में हमें कहीं से कुछ धन मिले तो इसकी गणना भी **लाभ** में ही होगी। इसके सिवा एक तीसरे क्षेत्र में भी इसका प्रयोग होता है। यदि व्यापार में लगाई हुई पूंजी (कार्य-संचालन के व्यय, छीजन आदि निकालने के बाद भी) बढ़ जाय तो वह भी **लाभ** ही है। किसी व्यापारी को वर्ष भर में दस हज़ार रुपयों और किसी को पचास हज़ार रुपयों का **लाभ** होता है। इस अर्थ में उर्दू का **नफा** (अ० नफ़अ:) भी हमारे यहां प्रयुक्त होता है।

'उपलब्धि' सं० लब्धि में उप (उपसर्ग) लगने से बना है। मूलतः लब्धि का अर्थ भी बहुत-कुछ वही है, जो **लाभ** का है। संस्कृत में **उपलब्धि** का प्रयोग मुख्यतः **प्राप्ति** के अर्थ में तो होता ही है परन्तु आज-कल हिन्दी में यह शब्द एक विशिष्ट अर्थ में प्रयुक्त होने लगा है। हम विशेष परिश्रम या प्रयत्नपूर्वक कला, विज्ञान, साहित्य आदि के क्षेत्रों में जो अनुभव, ज्ञान, योग्यता आदि प्राप्त करते हैं, उन सबके सम्बन्ध में विशिष्ट रूप से इस शब्द का प्रयोग होता है। यह हमारे ज्ञान आदि के उस विशिष्ट विकसित रूप का वाचक शब्द है जो साधारणतः सब लोगों को प्राप्त नहीं होता। योग की साधना में जो सिद्धियां प्राप्त होती हैं उन्हें भी हम **उपलब्धि** ही कहते या कह सकते हैं। किसी व्यक्ति को बहुत ऊंचे पद पर प्रतिष्ठित करने अथवा विशिष्ट रूप से सम्मानित करने के समय **प्रायः** इस बात का ध्यान रखा जाता है कि किसी क्षेत्र में उनकी कितनी, कैसी अथवा क्या उपलब्धियां हैं।

'परिलब्धि' *स्त्री०* (सं०) लब्धि में परि उपसर्ग लगने से बनता है। यों तो और बातों में 'परिलब्धि' वही है जो **उपलब्धि** है, परन्तु परिलब्धि का प्रयोग ऐसी सफलताओं और सिद्धियों के सम्बन्ध में होना चाहिए जो हमने अपनी अभिलाषा, आकांक्षा और इच्छा के अनुसार प्रयत्नपूर्वक प्राप्त की हों। यों तो सफलता या सिद्धि प्राप्त करने के लिए सदा प्रयत्न और प्रयास की आवश्यकता होती है और इसीलिए परिलब्धि भी प्रयत्न और प्रयास से ही होती है। **उपलब्धि** के मूल में हमारी अभिलाषा, आकांक्षा और इच्छा ही प्रधान होती है; परन्तु 'परिलब्धि' में इनके बदले हमारे मानसिक और शारीरिक अध्यवसाय, परिश्रम, प्रयत्न आदि का भाव प्रधान होता है और उसी पर असल ज़ोर होता है। ××

170. प्रायः — बहुधा

Frequently — Often Multifariously

इन क्रियाविशेषणों का प्रयोग ऐसी क्रियाओं, घटनाओं, बातों आदि के प्रसंग में होता है, जो थोड़े-थोड़े अन्तरों पर या बीच-बीच में अनियमित और अनिश्चित समय पर एक दूसरी के बाद होती चलती हैं।

'प्रायः' (सं०) उसे कहते हैं जो अधिकतर अवसरों या प्रसंगों में अथवा अधिकतर स्थानों पर बीच-बीच में रह-रहकर घटित होता या सामने आता रहता हो। इसमें मुख्यतः कार्य या घटना के होने पर ही ज़ोर रहता है, आवृत्तियों या पुनरावृत्तियों पर नहीं, जैसे

(क) वे **प्रायः** मेरे यहां आया करते हैं। (ख) गर्मियों के दिनों में वे **प्रायः** पहाड़ पर चले जाते हैं। **'प्रायः'** के अन्य अर्थों के लिए देखें - 'लगभग, **प्रायः** और आस-पास'।

'बहुधा' (सं०) के मुख्यतः दो अर्थ हैं। एक तो बहुत तरह या प्रकार से; और दूसरा बहुत बार। **'प्रायः'** की तुलना में इसमें किसी कार्य या घटना की बार-बार होनेवाली आवृत्तियों पर जोर होता है, स्वयं घटना के घटित होने पर नहीं,। दूसरा अन्तर यह भी है कि **'प्रायः'** में तो आवृत्तियां अपेक्षाकृत कम होती हैं; पर **बहुधा** में अधिक; जैसेः सावन और भादों में वर्षा **बहुधा** होती ही है। अर्थात् इन महीनों में पानी बहुत-कुछ नियमित और निश्चित रूप से बरसता ही है। यदि उक्त वाक्य में **'बहुधा'** की जगह **'प्रायः'** का प्रयोग किया जाए तो वर्षा की निश्चयात्मकता और संभावना के लिए उतना अवकाश नहीं रह जाएगा जितना वस्तुतः होना चाहिए।

उक्त दोनों अव्ययों के स्थान पर कुछ लोग उर्दू के अनुकरण पर अ० के 'अक्सर' का भी प्रयोग करते हैं।

प्रायिक- *वि०* (सं० प्रायः से) दे० 'साधारण, सामान्य, प्रसम, प्रायिक और सार्विक'।

प्रायोजना- *स्त्री०* (सं०) दे० 'योजना, परियोजना, प्रायोजना और संयोजना'।

प्रायोगिक- *वि०* (सं०) दे० 'उपयोग, प्रयोग और व्यवहार'।

प्रारम्भ- *पु०* (सं०) दे० 'अथ, आदि, आरम्भ और प्रारम्भ'।

प्रारूप- *पु०* दे० 'पांडु-लेख, और हस्त-लेख'।

प्रार्थना- *स्त्री०* (सं०) दे० 'विनती, प्रार्थना, याचना, निवेदन, आवेदन, अभिवेदन और प्रतिवेदन'।

प्रालेख- *पु०* (सं०) दे० 'पांडु-लेख और हस्त-लेख'।

प्रविधान- *पु०* दे० 'विधि, विधान, प्रविधान, संविधान और संहिता'।

प्रविधिक- *वि०* दे० 'प्रविधि और परिज्ञान'।

प्रीति- *स्त्री०* (सं०) दे० 'अनुराग, प्रीति, प्रेम और स्नेह'।

प्रेम- *पु०* (सं०) दे० 'अनुराग, प्रीति, प्रेम और स्नेह'।

प्रेय- *पु०* (सं०) दे० 'कीर्ति, यश और श्रेय'।

प्रेक्षण- *पु०* (सं०) दे० 'निरीक्षण, अधीक्षण, पर्यवेक्षण, पुनरीक्षण, संप्रेक्षण और सर्वेक्षण'।

प्रेषण- *पु०* (सं०) दे० 'परिवहन, पारेषण, यातायात, संचार, दूर-संचार और भू-संचार'।

प्रौढ़- *वि०* (सं०) दे० 'परिपक्व, पुष्ट और प्रौढ़'।

फबती- *स्त्री०* (हि० फबना) दे० 'हंसी, दिल्लगी, परिहास, चुहुल और फबती'।

फल- *पु०* (सं०) दे० 'परिणाम और फल'।

फ़ाका- *पु०* (अ० फ़ाक:) दे० 'अनशन, उपवास, लंघन और व्रत'।

फ़ायदा- *पु०* (अ० फ़ाइद:) 1= प्रति, 2= लाभ, दे० 'प्राप्ति, लाभ, उपलब्धि और परिलब्धि'।

फूलन- *स्त्री०* (हि० फूलना) = शोफ; दे० 'शोथ और शोफ'।

फ़ेहरिस्त- *स्त्री०* (अ०) = सूची दे० 'तालिका, सारणी, सूची और सूचीपत्र'।

बटखरा- *पु०* (सं० वटक) दे० 'आदर्श, प्रतिमान, प्रतिरूप, मानक और मानदंड'।

बड़प्पन- *पु०* (हि०) दे० 'महत्ता, महत्व और महिमा'।

बढ़िया- *वि०* दे० 'अच्छा, उत्तम, बढ़िया, भला और श्रेष्ठ'।

बदनामी- *स्त्री०* (फ़ा०) दे० 'अपयश, अपकीर्ति, अपवाद, कुख्यति, बदनामी'।

171. बद्ध — बाध्य — विवश

Bound — Compelled Obliged — Helpless

इस वर्ग के शब्द ऐसी स्थितियों के वाचक हैं जिनमें किसी प्रकार की अड़चन या बाधा के कारण इच्छा होने पर भी मनुष्य या तो कोई काम कर नहीं सकता या इच्छा न होने पर भी उसे कोई काम करना पड़ता है।

'बद्ध' *वि०* (सं०) का अर्थ है–बंधन से युक्त या बंधा हुआ। जब कोई वस्तु या व्यक्ति किसी प्रकार या रूप में बांध दिया जाता है अथवा बंधा हुआ होता है, तब उसे **'बद्ध'** कहते हैं। आशय यही होता है कि मनमाने ढंग से कुछ कर सकने की स्वतन्त्रता उसे नहीं रह गयी है। प्रतिज्ञा-बद्ध और वचन-बद्ध का आशय है–प्रतिज्ञा या वचन से बंधा हुआ अर्थात् जो प्रतिज्ञा वह कर चुकता है या वचन दे देता है उसके विपरीत आचरण करने की स्वतंत्रता उसे नहीं रह जाती। वह अपनी प्रतिज्ञा या वचन से बंध जाता है। इसका प्रयोग अमूर्त और जड़ पदार्थों के सम्बन्ध में भी होता है, जैसे छन्दोबद्ध, लेखबद्ध, सीमाबद्ध आदि। ऐसी अवस्थाओं में **बद्ध** का अर्थ होता है–मर्यादा आदि से घिरा हुआ।

'बाध्य' सं० बाध का विकारी रूप है। इसका पहला अर्थ है–जिसके साथ कोई बाधक तत्व या रुकावट डालनेवाली बात लगी हो। परन्तु लौकिक व्यवहार में यह मुख्यत: दो अर्थों में प्रचलित है। एक तो **बाध्य** ऐसा व्यक्ति कहलाता है जो परिस्थितियों, मनोवेगों आदि के कारण ठीक तरह से अपना काम न कर पाता हो अथवा उसे अपनी इच्छा के विरुद्ध कोई काम करना पड़ता हो, जैसे: पारिवारिक (अथवा शारीरिक) परिस्थितयों ने उसे नौकरी छोड़ने के लिए **बाध्य** किया। दूसरे ऐसा व्यक्ति भी **'बाध्य'** होता है जिसे किसी प्रबल विरोधी तत्त्व या शक्ति ने कोई काम करने से रोक रखा हो। ऐसे तत्वों में आज्ञा, आदेश, नियम आदि भी आ जाते हैं। ऐसी अवस्थाओं में भी मनुष्य कुछ करने अथवा न करने के लिए **बाध्य** होता है, जैसे: नए प्रशासनिक नियमों ने उसे

अपनी दूसरी स्त्री से सम्बन्ध-विच्छेद करने के लिए **बाध्य** किया। इसके स्थान पर फ़ारसी का **'मजबूर'** भी प्रयुक्त होता है।

'विवश' *वि०* (सं०) का अर्थ है—जो वश या शक्ति से रहित हो अर्थात् जिसका वश न चलता हो या शक्ति काम न करती हो। जिसमें हम कुछ करना तो चाहतें हों पर वह काम हमारे वश के बाहर होता है—हमारी शक्ति उतनी नहीं होती। ऐसी अवस्था में हम अपने आपको **विवश** समझते हैं। इसीलिए कहा जाता है कि मैं उनकी सहायता तो करना चाहता हूं पर पास में धन (या शरीर में शक्ति) न होने के कारण **विवश** हूं। कोई दूसरा प्रबल या शक्तिशाली व्यक्ति भी हमें कोई काम करने या न करने के लिए **विवश** कर सकता है और ऐसे अवसरों पर आशय की दृष्टि से, **बाध्य** और **विवश** में कुछ विशेष अन्तर नहीं रह जाता; फिर भी **विवश** में अपना वश न चल सकने का भाव ही प्रधान है। इसके स्थान पर फ़ारसी 'लाचार' का भी प्रयोग होता है। ××

172. बनाव — बनावट

Structure — Affectation

ये दोनों संज्ञाएं 'बनाना' क्रिया से बने हुए उनके भाववाचक रूप हैं। इनमें से **'बनाव'** पुंलिंग और **'बनावट'** स्त्रीलिंग है। कुछ प्रसंगों में तो ये एक दूसरे के पर्याय हैं और कुछ प्रसंगों में बिल्कुल भिन्न अर्थ सूचित करते हैं।

'बनाव' हिन्दी बनाना से व्युत्पन्न है। इसका मुख्य अर्थ है—बनने या बनाने की क्रिया, ढंग या भाव। इसी आधार पर यह उस स्थिति या स्वरूप का भी वाचक हो गया है जो बनने या बनाए जाने के उपरान्त प्रस्तुत होता या सामने आता है। कुछ अवस्थाओं में यह बने या बनाए हुए सुन्दर आकार-प्रकार का भी सूचक है; और शृंगार या सजावट का भाव सूचित करता है। इसी आधार पर इससे यौगिक पद 'बनाव-सिंगार' बना है जिसका प्रयोग प्रायः सुन्दर रूप-रचना या सजावट सूचित करने के लिए होता है।

'बनावट' में ऊपर दिए हुए **बनाव** के पहले दो अर्थ तो प्रायः ज्यों के त्यों हैं, परन्तु तीसरा या अंतिम अर्थ बिल्कुल नहीं है। हम यह तो कहते हैं—इस कपड़े (या कुरसी) की **बनावट** अच्छी है; परन्तु जब हम कहते हैं—आपके मित्र में **'बनावट'** बहुत अधिक है, तो ऐसे अवसरों पर **बनावट** एक बिल्कुल नए अर्थ या आशय की सूचक होती है। हिन्दी में बनाना के अनेक अर्थों में एक अर्थ 'कृत्रिम और दिखौआ रूप धारण करना' भी है। जब कोई व्यक्ति अपनी दुर्बलता, दोष आदि छिपाने के लिए या वास्तविक हीनता पर परदा डालने के लिए कुछ और रूप धारण करता है, तब हम कहते हैं—आज-कल वह बहुत बनने लगा है। इसी आधार पर **'बनावट'** का एक और अर्थ होता है—केवल दूसरों को दिखाने के लिए बनाया हुआ ऐसा आचरण, रूप या व्यवहार जिसमें तथ्य, दृढ़ता, वास्तविकता, सत्यता आदि का बहुत-कुछ या सर्वथा अभाव हो, अर्थात् केवल दिखावटी, आकार-प्रकार, आचार-व्यवहार रूप-रंग आदि, जैसे उनकी इन बातों में मुझे बहुत कुछ **बनावट** ही जान पड़ती है। इससे भी कुछ और आगे बढ़कर **'बनावट'** ऐसी दंभपूर्ण

मानसिक स्थिति सूचित करती है जिसमें मनुष्य अपने आपको वास्तविकता से अधिक योग्य, सदाचारी आदि सिद्ध करने का प्रयत्न करता है, जैसे: वे विद्वान् ही हैं फिर भी उनमें **बहुत-कुछ बनावट** है। आशय यही होता है कि उनमें बहुत कुछ आडंबर भी है।*

बल- *पु०* (सं०) दे० 'शक्ति, बल, सामर्थ्य, ऊर्जा और सहनिका'।

बहाना- *पु०* (अ० वहानः) दे० 'ब्याज, मिस, बहाना और हीला'।

बहिरावर्त- *पु०* (सं०) दे० 'अंतरावर्त और बहिरावर्त'।

बहुज्ञता- *स्त्री०* (सं०) दे० 'ज्ञान, परिज्ञान और प्रज्ञान'।

बहुधा- *अव्य०* (सं०) दे० 'प्रायः और बहुधा'।

बाट- *पु०* (सं० बटक) दे० 'आदर्श, प्रतिमान, प्रतिरूप, मानक और मानदंड'।

173. बाध अड़चन बाधा विघ्न
Bar Obstacle Obstruction Impediment

इस वर्ग के शब्द ऐसे कामों, चीज़ों आदि के वाचक हैं जो हमारे कामों में रुकावट डालती या हमें आगे बढ़ने से रोकती हैं; और जिन्हें दूर करने के लिए हमें प्रायः विशेष प्रयास करना पड़ता है।

'बाध' *पु०* (सं०) के मूल अर्थ हैं—दूर करना, पीछे ढकेलना, हटना आदि। पर आगे चलकर इस शब्द ने हमारे साहित्यिक क्षेत्र में कुछ पारिभाषिक रूप ग्रहण कर लिया। इसकी व्याख्या करने के लिए हम कह सकते हैं कि किसी कथन या प्रतिपादन में आनेवाली वह असंगति या कठिनता **'बाध'** कहलाती है, जो उसके अर्थ, आशय या वाक्य-रचना में तर्कसंगत सम्बन्ध के अभाव के कारण स्पष्ट दिखाई देती है। हम कहते हैं—जहां वाच्यार्थ ग्रहण करने में अभिधार्थ का **बाध** हो, वहां लक्ष्यार्थ ग्रहण करना चाहिए। तर्क और न्याय में वह पक्ष भी **'बाध'** कहलाता है जिसमें साध्य का बहुत-कुछ अभाव जान पड़ता हो। आज-कल प्रशासनिक आदि क्षेत्रों में अं० के Bar का भाव सूचित करने के लिए इसका अर्थ कुछ और विस्तृत हो गया है। **बाध** वह तत्त्व या वस्तु है जो किसी को आगे बढ़ने से अस्थायी अथवा स्थायी रूप से रोकने के लिए या किसी विशिष्ट उद्देश्य की सिद्धि के लिए खड़ी कीं या लगाई जाती है। इसका उपयोग किसी क्षेत्र या घेरे के अंदर किसी को रोक रखने के लिए भी और बाहर से किसी को अंदर न आने देने के लिए भी होता है। इसमें मुख्य भाव किसी न किसी प्रकार के निषेध या मनाही का है। सरकारें प्रायः विदेशियों को अपने यहां आने से रोकने के लिए या अपने देश की संपत्ति देश में ही रोक रखने के लिए अनेक प्रकार के **बाध** लगाती हैं। यदि भारत सरकार कह दे कि हम दूसरे देशों के कोढ़ियों, दिवालियों या विक्षिप्तों को यहां नहीं आने देंगे, तो ऐसे निषेधों की गिनती (विदेश से आनेवालों की दृष्टि में) बाधों में

---

* इस बनावट से विशेषण बनावटी भी बनता है जिसका मुख्य अर्थ होता है—कृत्रिम, दिखौआ या नकली।

होगी। राजकीय सेवा करनेवालों के लिए भी कई प्रकार के विभागीय **बाध** होते हैं, जैसे: यह निश्चित हो सकता है कि जब तक कोई कर्मचारी पांच वर्षों की सेवा पूरी न कर ले अथवा अमुक परीक्षा में उत्तीर्ण न हो ले, तब तक उसकी पदोन्नति या वेतनवृद्धि नहीं होगी। यह भी **बाध** ही है।

'बाधा' *स्त्री०* (सं०) भी अपने मूल और व्युत्पत्ति की दृष्टि से प्रायः वही है जो **बाध** है परन्त अर्थ और प्रयोग की दृष्टि से यह उससे बहुत-कुछ भिन्न है। इसके आरम्भिक अर्थ हैं—कसना, दबाना, बांधना आदि। इसी लिए इन क्रियाओं के फलस्वरूप होनेवाले कष्ट, रुकावट, विरोध आदि के सूचक भाव भी इस शब्द या स्थिति की वाचक है जो काम करते समय हमारे मार्ग में अथवा सामने आकर हमें वह काम करने से कुछ समय के लिए रोकती है और जब तक हम उसे दूर नहीं कर लेते, तब तक हम आगे नहीं बढ़ सकते और हमारा काम पूरा नहीं होता। अर्थ की दृष्टि से यह बहुत व्यापक शब्द है। कभी तो स्वयं काम का स्वरूप ही कठिन और जटिल होने के कारण बाधामय होता है और कभी परिस्थितियां, बाह्य बातें अथवा दूसरे लोग हमारे मार्ग में बाधाएं खड़ी करते हैं। हिन्दी में इसके स्थान पर प्रायः **अड़चन** का भी प्रयोग होता है।

'अड़चन' *स्त्री०* (हि० *अड़ना=रुकना+चलना*) से बना है, जिसका मूल अर्थ है—**बाधा**, विरोध आदि के कारण ठीक तरह से न चल पाना और बीच-बीच में ठहरने या रुकने के लिए विवश होना। इसका पुराना और स्थानिक रूप अड़चल है जो अब भी कहीं-कहीं चलता है। आज-कल अधिकतर **अड़चन** ही बोला और (कदाचित् उर्दू के प्रभाव से) मानक के रूप माना जाता है। किसी वस्तु की क्रिया या व्यक्ति के काम में अथवा उसकी प्रगति आदि में रह-रहकर जो छोटी-छोटी कठिनाइयां, बाधाएं या रुकावटें सामने आती हैं, उन्हीं को **अड़चन** कहते हैं*। **अड़चन** के कारण कार्य आरम्भ या समाप्त करने में प्रायः देर होती है, और उसके कर्ता को चिंतित होकर अधिक प्रयत्न करना पड़ता है।

'विघ्न' *पु०* (सं०) का विशेषण रूप में अर्थ होता है—घात, प्रहार या विनाश करनेवाला। इसके अन्त का 'घ्न' प्रत्यय ही उक्त सब अर्थ देता है; और इसके उदाहरण स्वरूप कृतघ्न, शत्रुघ्न आदि अनेक शब्द हिन्दी में प्रचलित हैं। इसी दृष्टि से हम कह सकते हैं कि यह **बाधा** का बहुत ही आगे बढ़ा हुआ ज़ोरदार और तीव्र रूप है। परन्तु आज-कल प्रयोग की दृष्टि से इसका यह ज़ोर या तीव्रता बहुत-कुछ घट गई है और यह **बाधा** की तरह और कुछ अवस्थाओं में उसके साथ ही बोला और लिखा जाता है। हम कहते हैं—'भारत ने सभी विघ्न-बाधाएं पार करके अंत में स्वतंत्रता प्राप्त कर ही ली।' ऐसे अवसरों पर **विघ्न** ऐसी बातों का सूचक होता है जो हमें अपने तीव्र और नाशक प्रभाव के कारण विफल और हतोत्साह करना चाहती हैं और **बाधा** उन तत्त्वों की सूचक होती है, जो हमारा रास्ता रोकना चाहते हैं। ××

---

* अंग्रेज़ी में 'इम्पेडिमेण्ट' का भी व्युत्पत्तिक अर्थ बहुत-कुछ वही है जो हमारे यहां अड़चन का है। 'इम्पेडिमेण्ट' वस्तुतः पैरों का इस तरह उलझ, फंस या बंध जाना है कि जिससे चलने या आगे बढ़ने में रुकावट हो।

बाधा- *स्त्री०* (सं०) दे० 'बाध, अडचन, बाधा और विघ्न'।

बाध्य- *वि०* (सं०) दे० 'बद्ध, बाध्य और विवश'।

बानगी- *स्त्री०* (हिं०) दे० 'नमूना और बानगी'।

बायां- *वि०* (सं० वाम) दे० 'दाहिना और बायां'।

बिचवई- *पु०* (हिं०) = मध्यस्थता। दे० 'पंचायत, मध्यस्थता और संराधन'।

बिसात- *स्त्री०* (अ०) दे० 'सामर्थ्य, समाई और बिसात'।

174. बुद्धि अक्ल समझ

Intellect Intelligence

'बुद्धि' संस्कृत का शब्द तो है ही; हमारे यहां के दार्शनिकों ने इसे अंतःकरण की चार वृत्तियों में से एक माना है और कहा है कि इसी के द्वारा हमें अच्छी और बुरी बातों का ज्ञान होता है और इसी से हम अपने कर्त्तव्यों के निश्चय, पालन आदि में समर्थ होते हैं। पाश्चात्य वैज्ञानिकों ने इसे मन का ही एक ऐसा गुण, धर्म या शक्ति माना है जो विशिष्ट रूप से मनुष्यों आदि को प्राप्त है और इसका अधिष्ठान मस्तिष्क माना है। परन्तु भारतीय दार्शनिकों ने इसे 'मन' से भिन्न तत्त्व और अंतःकरण की चार वृत्तियों में से एक अलग वृत्ति माना है। जो हो, यही वह शक्ति है जिससे मनुष्य ज्ञान भी प्राप्त करता है और सब प्रकार के तर्क-वितर्क और विचार करके ठीक तरह से काम भी करता है। **बुद्धि** की सहायता से ही मनुष्य सब तरह के काम और बातें सहज में ही सीख लेता है और नई-नई बातें ढूंढ़ या निकाल भी लेता है।

'प्रज्ञा' और **'प्रतिभा'** (दे०) इसी के उत्कृष्ट और विकसित रूप माने गए हैं। अरबी का **'अक्ल'** इसी का पर्याय है जो *स्त्री०* है।

'समझ' हिन्दी का *स्त्री०* शब्द है जो सम्भवतः सं० संबुद्धि, प्रा० समुज्झ से बना है। तात्त्विक दृष्टि से इसे **बुद्धि** का एक अंग या पक्ष ही मानना चाहिए, क्योंकि इसका सम्बन्ध मुख्यतः ज्ञान प्राप्त करने से ही है। **बुद्धि** से इसमें एक और अंतर यह भी है कि **बुद्धि** तो विशिष्ट रूप से मनुष्यों में ही मानी जाती है; पर **समझ** चाहे अल्प मात्रा में ही क्यों न हो पशु-पक्षियों तक में बल्कि यों कहना चाहिए कि सभी प्राणियों में किसी न किसी रूप में देखने में आती है। इसका कार्यक्षेत्र ज्ञान प्राप्त करने और सोच-विचार कर कोई काम करने तक ही परिमित है। मनुष्य में जो **समझ** होती है वह इस बात की सूचक मानी जाती है कि वह जो कुछ देखता, पढ़ता या सुनता है उसका ठीक तरह से ज्ञान प्राप्त कर लेता है और फिर उस ज्ञान तथा पुराने अनुभवों की सहायता से सब बातों का आगा-पीछा सोच सकता है और अपना कर्त्तव्य या मार्ग ठीक तरह से निश्चित कर सकता है। जिन लोगों में अच्छी **समझ** होती है उनके आचार-विचार और व्यवहार भी साधारणतः कम समझवाले अथवा नासमझ लोगों की तुलना में कहीं अच्छे और बहुत-कुछ ठिकाने के होते हैं। मनुष्य में **समझ** अनुभव से तो आती ही है, पठन-पाठन आदि से भी आती है और

इसी के फलस्वरूप वह किसी बात पर विचार करने के समय कुछ गहराई तक भी पहुंच सकता है। ××

बू- *स्त्री०* (फ़ा०) दे० 'गंध, बू, महक और वास'।

175. बेपरवाह लापरवाह

Heedless Careless

इस वर्ग के विशेषण ऐसे व्यक्तियों के वाचक हैं जो कोई कार्य या व्यवहार करते समय या तो असावधानी से या उपेक्षापूर्वक उचित रूप से ध्यान नहीं देते अथवा सचेत नहीं रहते।

'परवाह' फ़ा० पर्वा का उर्दू और हिन्दी रूप है। पर्वा के मूल अर्थ हैं–ख्याल, ध्यान, चिन्ता, फ़िक्र आदि। इसी परवाह में फ़ारसी 'बे' उपसर्ग लगाकर **बेपरवाह** और अरबी ला उपसर्ग लगाकर लापरवाह रूप बनाया गया है। यद्यपि मूलतः बे और ला उपसर्गों के अर्थ में कोई विशेष अन्तर नहीं है; फिर भी उर्दू और हिन्दी में **बेपरवाह** और लापरवाह के अर्थ या आशय में बहुत अधिक अन्तर है।

'बेपरवाह' ऐसा व्यक्ति कहा जाता है जो अपनी स्वाभाविक उदासीनता के कारण (निकम्मापन, सुस्ती आदि के कारण नहीं) अपने कार्यों, कर्तव्यों आदि पर कुछ भी ध्यान नहीं देता और उनके परिणाम आदि का कुछ भी विचार नहीं करता। अर्थात् जब उसके जी में जो कुछ आता है, वही मनमाने ढंग से कर जाता है, लाभ-हानि आदि की ओर उसका ध्यान ही नहीं जाता। प्रायः ईश्वर के सम्बन्ध में कहा जाता है–वह बड़ा **बेपरवाह** है। आशय यही होता है कि वह जनता या संसार के दुःख-सुख, हानि-लाभ आदि की कुछ भी चिन्ता नहीं करता। इसमें अनवधानता और मन-मौजीपन का भाव प्रधान है।

'लापरवाह' ऐसा व्यक्ति कहलाता है जो चिन्ताओं, झंझटों आदि से बचने के लिए अपने कर्त्तव्यों का उस रूप में उचित पालन नहीं करता जिस रूप में उसे करना चाहिए। यह व्यक्ति की अयोग्यता, आलस्य, निकम्मेपन आदि का सूचक होता है। इसमें प्रायः भुलक्कड़पन का भी कुछ भाव सम्मिलित होता है। हम कहते हैं कि उसे अपना छाता (या पुस्तक) मत दो, वह **लापरवाह** आदमी है कहीं गंवा आएगा। आशय यही होता है कि किसी चीज़ की रक्षा आदि के लिए जिस सावधानी की आवश्यकता होती है, उसका उसमें बहुत अभाव है।

बेहरी- *स्त्री०* (सं०) दे० 'चंदा, बेहरी और उगाही'।

बोली- *पु०* (हिं०) दे० 'व्यंग्य, कटाक्ष (छींटा), चुटकी, ताना और बोली'।

बौछार- *स्त्री०* = आक्षेप; दे० 'आक्षेप, अभिक्षेप और भर्त्सना'।

ब्रह्मज्ञान- *पु०* (सं०) दे० 'ज्ञान, परिज्ञान और प्रज्ञान'।

भक्ति- *स्त्री०* (सं०) दे० 'आस्था, निष्ठा, श्रद्धा और भक्ति'।

176. भय — Fear; आतंक — Terror; कातरता; डर — Fear; भीति; भीषिका — Horror

इस वर्ग के शब्द ऐसी स्थितियों के वाचक हैं जिनमें या तो कोई भीषण और विकट संकट उपस्थित होता है अथवा उसके उपस्थित होने की बहुत-कुछ संभावना जान पड़ती है। ये सभी स्थितियां लोगों को इतना अधिक चिन्तित और विकल कर देती हैं जिससे जल्दी उसकी समझ में यही नहीं आता कि अब आगे क्या होगा, मुझे क्या करना चाहिए।

'भय' *पु०* (सं०) अर्थ और प्रयोग दोनों के विचार से बहुत व्यापक है। कोई अनिष्टकारी बात या संकट आने पर अथवा उसकी सम्भावना होने पर मन में जो चंचलता और विकलता होती है और उसके फलस्वरूप अनिष्ट अथवा संकट से बचने की जो इच्छा या प्रवृत्ति होती है, उन सबका वाचक **भय** है। इसमें मनुष्य का साहस छूट जाता है और वह कुछ अधीर या कायर-सा हो जाता है, अथवा कुछ अवस्थाओं में वह अपनी जान पर खेलकर **भय** उत्पन्न करनेवाले संकट का सामना करने के लिए भी तैयार हो जाता है। **भीति** *स्त्री०* (सं०) इसी **भय** का दूसरा रूप कहा जा सकता है; और इस दृष्टि से ये दोनों समार्थक ही हैं।

'डर' *पु०* (सं० दर) भी बहुत-कुछ वही है, जो **'भय'** है; फिर भी प्रयोग की दृष्टि से यह कुछ हलका समझा जाता है; और चलती हुई या बाज़ारू बोलचाल में यह उतनी गंभीरता और विकटता का सूचक नहीं माना जाता। हम साधारण अवसरों पर भी कह जाते हैं - तुम तो ज़रा सी बात से **डर** जाते हो। इसकी तुलना में भयभीत का प्रयोग अधिक कठोर तथा तीव्र प्रतीत होता है। कारण यही है कि नित्य की बोल-चाल में आते रहने से **'डर'** की भीषणता और विकटता घिस-पिस कर बहुत कम हो गयी है। परन्तु कुछ अवस्थाओं में **भय** और **डर** दोनों का प्रयोग आशंका के अर्थ में भी प्रायः समान रूप से होता है; और उस अवस्था में इनमें कोई तारतम्य नहीं रह जाता। दे० 'शंका, आशंका, संदेह और संशय'। फिर भी यदि वास्तविक दृष्टि से देखा जाय तो जान पड़ेगा कि **भीति** में आशंका की अर्थात् संकट की सम्भावना की छाया ही प्रधान है। निम्नलिखित उदाहरणों से यह अन्तर बहुत-कुछ स्पष्ट हो जाता है।

(क) 'भय-बस सिव सन कीन्ह दुराऊ।'

(ख) 'रुद्रहिं देखि मदन भय माना।'

(ग) 'ईति **भीति** जनु प्रजा दुखारी।' (तुलसीकृत रामचरितमानस)

पहले दोनों उदाहरणों में **भय** का प्रयोग इसलिए हुआ है कि (क) शिवजी का **भय** पार्वती के मन में सदा बना रहता है, और (ख) शिव को सामने देखकर कामदेव **डर** गया

था। पर तीसरे उदाहरण में **भीति** का प्रयोग इसलिए हुआ है कि ईति अभी उपस्थित नहीं है, फिर भी मानो उसकी आशंका या सम्भावना से प्रजा दुःखी होकर भाग रही हो।

'भीषिका' *स्त्री०* (सं०) वस्तुतः विशेषण रूप में भीषिक का *स्त्री०* है। भीषिक का अर्थ है–डरावना, भयावना या भीषण। परन्तु **भीषिका** का प्रयोग भाववाचक संज्ञा के रूप में होता है। इसी आधार पर हमारे यहां **भीषिका** नाम की एक देवी भी है। प्रस्तुत प्रसंग में **भीषिका** वह स्थिति है जो **भय** से बहुत उग्र या तीव्र तो होती ही है; पर साथ ही घृणित या वीभत्स होने के कारण हमें विरक्त करके दूर भागने या मुंह फेर लेने के लिए विवश करती है। यदि कमरे में पैर रखते ही हमें खून से लथ-पथ लाश दिखाई दे या शेर किसी अबोध बालिका को खाता हुआ दिखाई दे तो हमारे मन में **भीषिका** उत्पन्न होगी। कोढ़ियों अथवा भूखे मरते हुए लोगों का समूह देखकर भी हमारे मन में **भीषिका** उत्पन्न होगी। इसी **भीषिका** में वि उपसर्ग लगाकर इसका विभीषिका रूप बना लिया जाता है जो अर्थ के विचार से अधिक तीव्र या विकट होता है।

'आतंक' *पु०* (सं०) तंक में आ उपसर्ग लगने से बना है। सं० में तंक के अर्थ हैं–वियोग से उत्पन्न दुःख, रोग, मानसिक कष्ट, विकलता, **भय** आदि। पर हिन्दी में **आतंक** एक विशिष्ट अर्थ में प्रचलित है। जब कोई भारी संकट अचानक सामने आता है और हम **डर** के मारे कुछ भी करने-धरने या सोचने-समझने में प्रायः असमर्थ हो जाते हैं, तब हमें मानसिक और शारीरिक दृष्टि से सक्रिय और असमर्थ करनेवाली बाह्य स्थिति ही **आतंक** कहलाती है। इससे लोग बहुत **डर** जाते और हर तरह से सचेत रहने लगते हैं। यदि भारी उपद्रव होने पर शहर में दो-चार जगह गोलियां चल जाएं या भारी उपद्रव की आशंका होने पर शहर में पलटन लाकर खड़ी कर दी जाए, अथवा यदि किसी गांव के पास-पड़ोस में दो-चार डाके पड़ जाएं तो लोगों पर **आतंक** छा जाएगा। **भय** पर तो हम अपनी इच्छा-शक्ति और साहस से विजय पा सकते हैं। पर **आतंक** और विभीषिका हमारी इच्छा-शक्ति को अभिभूत कर लेते हैं। **आतंक** तो हमें पंगु बना देता है, पर **भीषिका** या विभीषिका में पड़कर या तो हम अपनी जान बचाने के लिए दूर भागना चाहते हैं या बैठकर रोने-कलपने लगते हैं। **भय** का प्रभाव हमारी कल्पना-शक्ति और बुद्धि पर, **भीषिका** या विभीषिका का हमारे स्नायु तंत्र पर और **आतंक** का हमारी मानसिक तथा शारीरिक सभी प्रकार की शक्तियों पर पड़ता है।

'कातरता' *स्त्री०* (सं०) को हम **भय** और **आतंक** का मिश्रित रूप कह सकते हैं। इसमें निराशा और विफलता के भी कुछ अंश होते हैं। जब हम अपने किसी प्रयत्न में जोखिम या संकट देखते हैं अथवा यह समझते हैं कि इसमें अमुक-अमुक विकट बाधाएं उपस्थित होंगी और इनके फलस्वरूप हम आत्मविश्वास और साहस खो बैठते हैं तब हमारी यही स्थिति **'कातरता'** कही जाती है। ऐसी अवस्था में हमारी समझ में यह नहीं आता कि इन कठिनाइयों और समस्याओं से हम किस प्रकार पार पा सकेंगे और हम इतने घबरा जाते हैं कि अपने कर्तव्य की कार्य-प्रणाली स्थिर नहीं कर सकते और प्रायः हताश होकर चिन्ता और सोच-विचार में पड़ जाते हैं। ××

भरोसा- *पु०* (सं० भा=भार) दे० 'विश्वास, प्रतीति, प्रत्यय, भरोसा और मान्यता'।

भर्त्सना- *स्त्री०* (सं०) दे० 'आक्षेप, अ० अभिक्षेप और भर्त्सना'।

भलमनसत- *स्त्री०* (हिं० भला+मानुस —मनुष्य) दे० 'सज्जनता और सौजन्य'।

भला- *वि०* दे० 'अच्छा, उत्तम, बढ़िया, भला और श्रेष्ठ'।

भागना- *अ०* दे० 'दौड़ना और भागना'।

भाव- *पु०* (सं०) दे० 1. 'भाव और भावना'। 2. दे० 'भाव और दर'। और 3. दे० 'अर्थ, विवक्षा, आशय, भाव और ध्वनि'।

177. भाव — दर

Market-rate — Rate

'भाव' *पु०* (सं०) का प्रयोग प्रस्तुत प्रसंग में चीज़ों के उस दाम या मूल्य का सूचक है जिस पर वह बाज़ारों में खरीदी और बेची जाती हैं। यों बाज़ारों में चीजों के दाम या मूल्य बहुत-कुछ एक से होते हैं; फिर भी कुछ विशिष्ट परिस्थितियों तथा स्थानों में घटते-बढ़ते भी रहते हैं। दाम या मूल्य किसी चीज़ की इकाई का होता है; परन्तु **भाव** उस चीज़ के समूचे वर्ग का होता है; जैसे (क) इस टोपी (या शीशे) का मूल्य 5 रु. है। और (ख) थोक खरीददारों को यह टोपी (या शीशा) 4 रु. दर्जन के **भाव** से मिलती है। गेहूं, चावल, दाल जैसी चीज़ों का भाव ही होता है; क्योंकि उनकी अलग-अलग इकाइयां नहीं बिकतीं। हां, एक मन गेहूं या दाल का मूल्य तो 40 रु. हो सकता है क्योंकि उसकी एक स्वतंत्र इकाई बन जाती है। परन्तु यदि सारे शहर में गेहूं, चावल या दाल का प्रति मन मूल्य 40 रु. ही हो तब कहा जाएगा कि बाज़ार में आज-कल इन चीज़ों का **भाव** 40 रु. है। तात्पर्य यह है कि **भाव** का मुख्य सम्बन्ध किसी चीज़ के सम्पूर्ण वर्ग से होता है, उसकी पृथक् इकाई से नहीं। यदि नाप-तौल आदि के विचार से उसकी पृथक् इकाई बना या मान ली जाय, तो उसके बदले में दिया जानेवाला धन दाम या मूल्य ही कहा जाएगा, भाव नहीं। **भाव** के प्रमुख अर्थ और विवक्षाएं जानने के लिए दे० — **'भाव और भावना'**।

'दर' *स्त्री०* की व्युत्पत्ति अनिश्चित ही है। मराठी में **'दर'** का प्रयोग प्रति (या प्रत्येक) के अर्थ में होता है; जैसे **दर** रोज़ = प्रतिदिन। हो सकता है कि इस मराठी **दर** और हिं० **दर** का मूल एक ही हो।* हमारे यहां **दर** का प्रयोग बहुत कुछ उन्हीं अर्थों में होता आया है जो ऊपर **भाव** के अंतर्गत बताए गए हैं। परन्तु मुख्य रूप से इसका प्रयोग

---

* फ़ा० **'दर'** का भी इस हिन्दी दर से अर्थ सम्बन्धी कोई मेल नहीं बैठता। संज्ञा रूप में फ़ा० दर का अर्थ दरवाज़ा या द्वारा होता है; और अव्यय रूप में वह बीच या में का सूचक होता है। इसके सिवा कुछ और प्रसंगों में उसका प्रयोग कुछ और अर्थों में भी होता है, जैसे—सूद दर सूद=सूद या ब्याज पर भी लगाने का सूद या ब्याज।

भाव के दूसरे अर्थ में ही अर्थात् किसी वस्तु के समूचे वर्ग के सम्बन्ध में ही होता रहा है; जैसे सोने की **दर** बढ़ने से बाज़ार में और सब चीज़ों की **दर** भी बढ़ने लगी थी।

परन्तु आज-कल अं० 'रेट' के अनुकरण पर **दर** का अर्थ कुछ और विकसित तथा विस्तृत हो गया है। हम प्रायः पढ़ते और सुनते हैं कि आज-कल हमारे देश में मृत्यु की **दर** तो बहुत-कुछ घट चुकी है पर जन्म की **दर** बराबर बढ़ रही है। ऐसे अवसरों पर **दर** से किसी वस्तु के ऐसे आनुपातिक अंश या मान का आशय सूचित होता है जो गणित की क्रिया से निश्चित और स्थिर किया जाता है। उदाहरणार्थ–हम सारे देश की जन्म-संख्या या मृत्यु-संख्या जोड़ लेते हैं; और तब हिसाब लगाकर यह पड़ता बैठाते हैं कि सारे देश की जनसंख्या के विचार से प्रति सैकड़े, प्रति हज़ार अथवा प्रति लाख कितने आदमी जन्म लेते और मरते हैं। इसी आनुपातिक गणना के फल को **'दर'** कहते हैं। इसके सिवा आर्थिक क्षेत्र में इसका बहुत-कुछ उसी प्रकार का दूसरा अर्थ भी हो जाता है जैसा ऊपर **भाव** का बतलाया गया है; जैसे–कार्यों और पदों के अनुसार वेतन की दरें और जीवन-बीमे की रकम के अनुपात से उसकी किस्तों की दरें निश्चित की जाती हैं। ऐसे अवसरों पर **भाव** का प्रयोग कदाचित् इसीलिए नहीं होता कि इस प्रकार की चीज़ें खरीदी और बेची नहीं जातीं; हां इनके बदले में कोई कार्य या सेवा अवश्य होती है। हम यह भी कहते हैं – जब रेल-गाड़ी किसी स्टेशन से चलने लगती है तो कुछ दूरी (या समय) तक उसकी गति की **दर** बराबर बढ़ती रहती है। ऐसे अवसरों पर भी **'दर'** से वही आंशिक अनुपात सूचित होता है जिसका उल्लेख ऊपर किया गया है। ××

178. भाव — भावना

Sense — Abstract

ये दोनों शब्द मुख्यतः ऐसी बातों, विचारों आदि के सूचक हैं जो कई प्रकारों और रूपों में अपनी अभिव्यक्ति या कार्य करते हैं।

'भाव' *पु०* (सं०) का मूल अर्थ है–किसी वस्तु के अस्तित्व में आने, प्रस्तुत या वर्तमान होने आदि की अवस्था या दशा। इसी अर्थ के विचार से इसका विपर्याय 'अभाव' है। इसी आधार पर इसका परवर्ती अर्थ होता है–ऐसी बात या वस्तु जो अस्तित्व में आकर कुछ समय तक वर्तमान रहती और अंत में नष्ट या लुप्त हो जाती है। तात्त्विक दृष्टि से **भाव** मन में उत्पन्न होनेवाले विचार का वह अपरिपक्व, आरम्भिक और मूल रूप है जिसके साथ उसका कोई आशय या उद्देश्य भी लगा रहता है। दार्शनिक दृष्टि से निर्विकार मन में उत्पन्न होनेवाले प्रथम विकार को ही **भाव** कहते हैं। यह निस्तरंग मन में उठनेवाली पहली तरंग है। मनोवैज्ञानिक दृष्टि से जो उदभावना परिवर्धित और विकसित होकर जो विचार धारण करती है वही वस्तुतः **भाव** है; यथा 'का भाखा का संस्कृत, **भाव** चाहियतु सांच'। आश्चर्य, क्रोध, दुःख, प्रेम, लालसा, सहानुभूति, हर्ष आदि ऐसे ही मनोविकार हैं जो मूल भावों के विकसित रूप हैं; जैसे:उस समय मेरे मन में अनेक प्रकार के भाव उत्पन्न हो रहे थे। कुछ अवस्थाओं में ऐसे भाव प्रायः अनजान में ही हमारी

आकृति अथवा चेष्टाओं से व्यक्त होते हैं, जैसे:उस समय उसके चेहरे पर एक भाव जाता था और दूसरा आता था।

सांख्यकार ने बुद्धितत्त्व के कार्य, धर्म या विकार को भाव कहा है। भरत मुनि का मत है कि हमारी मानसिक अवस्थाओं का व्यंजक प्रदर्शन ही भाव है। इसी आधार पर हमारे प्राचीन साहित्यकारों ने कहा है कि भावों या मानसिक स्थितियों के व्यंजक प्रदर्शन से ही रस की उत्पत्ति या सृष्टि होती है और वह अनेक प्रकार के शारीरिक क्रिया-कलापों से व्यक्त होती है। उन्होंने इसके अनुभाव, विभाव, व्यभिचारी, सात्विक, स्थायी आदि प्रकार या भेद किए हैं, जिनका विवेचन साहित्य ग्रन्थों में देखा जा सकता है।

साधारण बोलचाल में मन में उत्पन्न होनेवाले और भाषण या लेखों के द्वारा प्रकट किए हुए गूढ़ अथवा जटिल विचारों का वास्तविक अभिप्राय या आशय भी *'भाव'* कहलाता है। फिर भी मेरी समझ में भाव और आशय में कुछ सूक्ष्म तात्त्विक अंतर है जिसका विवेचन पहले 'अर्थ, विवक्षा, आशय, भाव और ध्वनि' वाली माला (दे०) में किया जा चुका है। इसके सिवा किसी काम, चीज़ या बात का वह गुणात्मक अथवा धर्मात्मक तत्त्व भी भाव कहलाता है जो उसकी मूल प्रकृति या विशेषता का आधार या सूचक होता है; और जिसकी सत्ता निहित होने पर भी पृथक् या स्वतंत्र मानी जाती है। व्याकरण में कुशल से कुशलता, वीर से वीरता, शीतल से शीतलता आदि जो भाववाचक संज्ञाएं बनती हैं, वह मूलतः इसी तत्त्व पर आश्रित होती हैं। फलित ज्योतिष में ग्रहों की उस परिणामकारी शक्ति या स्थिति को भी भाव कहते हैं जिसके विचार से उनके फलाफल कहे जाते हैं; जैसे अणु भाव, धनु भाव, संतान भाव आदि।

'भावना' *स्त्री०* (सं०) व्युत्पत्तिक दृष्टि से बहुत-कुछ वही है जो **'भाव'** है; और इसीलिए आरम्भिक अर्थ के विचार से दोनों एक दूसरे के पर्याय कहे जा सकते हैं। फिर भी तात्त्विक तथा दार्शनिक दृष्टि से भावना वह मूल भूमि है जिस पर भाव अंकुरित होते हैं। भाव की तुलना में भावना अधिक आंतरिक और गहरी होती है। इसी लिए भाव की अपेक्षा भावना अधिक प्रबल या सशक्त होती है; पर साथ ही अपनी गहराई के कारण वह अपेक्षया कम व्यक्त और कम स्पष्ट होती है। जिस प्रकार वासना को हम आत्मा के साथ सदा लगा रहनेवाला गुण या धर्म मानते हैं,* उसी प्रकार हम भावना को मन के साथ लगा हुआ गुण या धर्म कह सकते हैं। हम कहते हैं – (क) उस समय मेरे मन में अनेक प्रकार की भावनाएं उठ रही थीं। और (ख) उस समय मेरे मन में अनेक प्रकार के भाव उठ रहे थे। ऐसे अवसरों पर यही माना और समझा जाएगा कि भावनाएं तो बिलकुल आरम्भिक और मौलिक अवस्था की सूचक हैं और भाव उनके परवर्ती तथा विकसित रूप के सूचक हैं। इसी आधार पर हमारे शास्त्रकारों का मत है कि भावना में बलवान् बनने की भी और बल प्रदान करने की भी शक्ति होती है। वैद्य लोग औषधों में रसों का थोड़ा सा जो अंश मिलाते या पुट देते हैं, उसका उद्देश्य भी औषधों की क्रियात्मक शक्ति बढ़ाना ही होता है।

---

*दे० 'वासना, तृष्णा, लालसा और लिप्सा'।

खाद्य पदार्थों में सुगंधित अथवा स्वादिष्ट वस्तुओं की **भावना** इसीलिए दी जाती है कि उनकी सुगन्ध या स्वाद बढ़ जाय। ××

भावना- *स्त्री०* (सं०) दे० 'भाव और भावना'।

भाषण- *पु०* (सं०) दे० 'प्रवचन, भाषण, वक्तृता, व्याख्यान और वार्ता'।

भीति- *स्त्री०* (सं०) दे० 'भय, डर, भीषिका, आतंक और कातरता।

भीरु- *वि०* (सं०) दे० 'कायर, भीरु और डरपोक'।

भीषिका- *स्त्री०* (सं०) दे० 'भय, डर, भीषिका, आतंक और कातरता'।

भूख-हड़ताल- *स्त्री०* (हिं०) दे० 'अनशन, उपवास, लंघन और व्रत'।

भूमिका- *स्त्री०* (सं०) दे० 'परिवेश, परिस्थिति, पर्यावरण, पृष्ठभूमि और भूमिका'।

भूल- *स्त्री०* (हिं० भूलना) दे० 'चूक, छूट और भूल'।

भू-संचार- *पु०* (सं०) दे० 'परिवहन, यातायात, संचार, पारेषण, दूर-संचार और भू-संचार'।

179. भेद — रहस्य — समस्या
Secret — Mystery — Problem

इस वर्ग के शब्द ऐसी बातों, स्थितियों आदि के वाचक हैं, जिनके सामने आने पर हम सहज में यह नहीं समझ पाते कि इसकी तह में वास्तविकता क्या है और उससे पार पाने के लिए हमें क्या उपाय करना चाहिए अथवा क्या मार्ग ग्रहण करना चाहिए।

'भेद' *पु०* (सं०) भिद् धातु से उत्पन्न है जिसका अर्थ है छेदना या भेदना; अर्थात् ऊपरी अंश या आवरण काट, चीर या छेद कर अन्दर अथवा आगे बढ़ना। प्राचीन भारत में सैनिक व्यूहों का **भेद** करके ही उनके अन्दर घुसा जाता था और उन्हें छिन्न-भिन्न किया जाता था। इसका परवर्ती अर्थ किसी चीज़ के दो या अधिक टुकड़े करके उन्हें अलग-अलग करना भी होता था। शत्रु पक्ष में **भेद** उत्पन्न करके ही उनका कोई दल या वर्ग अपनी ओर मिलाया जाता था; और उसकी सहायता से या तो अपना काम निकाला जाता था या शत्रु का नाश किया जाता था। और आगे बढ़ने पर इसके कुछ अर्थ होते हैं; (क) तरह, भांति आदि; जैसे (ख) पहले दोनों का **भेद** समझ लो तब आगे बढ़ो; (ग) चिकित्सा शास्त्र में इस रोग [illegible] चार **भेद** कहे गए हैं आदि। परन्तु प्रस्तुत प्रसंग में **भेद** किसी ऐसी गूढ़ बात को कहते [illegible] जो या तो (क) दूसरों की जानकारी या दृष्टि से बचाकर बिलकुल अलग, एकांत में या दूर रखी गयी हो अथवा (ख) जिस तक पहुंचना अथवा जिसकी वास्तविकता समझना साधारण लोगों की बुद्धि, योग्यता और शक्ति के बाहर हो। ऐसी बात कुछ थोड़े से लोग ही जानते हैं बाकी सब लोग न तो जानते हैं और न बिना विशेष अध्यवसाय और प्रयत्न के जान ही सकते हैं। ऐसी बातों के चारों ओर कुछ ऐसा कड़ा आवरण रहता है, जो काट, छेद या भेदकर ही हटाया जा सकता है और

तभी अन्दर की सच बात जानी जा सकती है। बहुत ही कुशल चोर डाकू और हत्यारे ऐसे ढंग से बड़े-बड़े अपराध करते हैं जिनका पता लगाना बहुत ही कठिन होता है। पुलिस को बहुत ही छान-बीन और ढूंढ़-खोज करके ही उनके **भेद** का पता लगाना पड़ता है। इसका एक और अर्थ हृदय के अन्दर छिपा हुआ आशय या भाव भी होता है; क्योंकि ऊपर से देखने पर कोई उसका पता नहीं पा सकता; जैसे (क) हम किसी के मन का **भेद** क्या जानें, अथवा (ख) वह कई बार मेरे पास भेद लेने आया था पर मैंने उससे सीधे मुंह कह दिया।

'रहस्य' *पु०* (सं०) भी साधारणतः है तो बहुत-कुछ वही जो **भेद** है; और इसीलिए लोक-व्यवहार में ये दोनों पर्याय के रूप में ही प्रयुक्त होते हुए देखे जाते हैं। फिर भी अपने परवर्ती और विकसित अर्थों में यह **भेद** की तुलना में बहुत अधिक गम्भीरता, गहनता या जटिलता की छाया से युक्त हो गया है बल्कि यों कहना चाहिए कि इस पर गहनता या जटिलता की बहुत गहरी रंगत चढ़ गई है। **रहस्य** ऐसी बहुत ही गुप्त या छिपी हुई बात या स्थिति को कहते हैं जिस तक पहुंचने या जानने-समझने के लिए कुछ असाधारण पात्रता, बुद्धिमत्ता, योग्यता आदि की आवश्यकता होती है। इसके ऊपर जान-बूझकर ऐसा आवरण रखा जाता है जिससे जन-साधारण की दृष्टि उस पर न पड़ने पावे और वह लोगों का ध्यान आकृष्ट न कर सके। इस छिपाव का उद्देश्य असद् भी हो सकता है और सद् भी, जैसे (क) चोर-बाज़ारी या तस्कर व्यापार का **रहस्य**; (ख) तिलिस्म अथवा भोगविलास करनेवालों के अड्डों का **रहस्य**; (ग) कुछ विशिष्ट प्रकार के धार्मिक सम्प्रदायों* अथवा प्रकृति का **रहस्य** आदि।

इसके सिवा आध्यात्मिक क्षेत्र में **रहस्य** का प्रयोग ईश्वर या सृष्टि के उन गुप्त या गूढ़ तत्त्वों के सम्बन्ध में भी होता है, जिन्हें सब लोग न तो जानते ही हैं न तो जान ही सकते हैं। ऐसे **रहस्य** के सम्बन्ध में संसार के सभी भागों के बहुत बड़े विचारशील लोगों का यही मत रहा है कि केवल सात्विक विचारों और वृत्तियोंवाले महानुभावों के हृदय में ही इनकी मौलिक अनुभूति होती है। इसी आधार पर अब रहस्यवाद नाम के एक नए मत या वाद की स्थापना हुई है। दे० 'छायावाद और रहस्यवाद'।

'समस्या' *स्त्री०* (सं०) का मूल अर्थ है मिलने या मिलाने की क्रिया। इसके सिवा मिश्रण, संघटन आदि भी इसके कई अर्थ हैं, परन्तु अब ऐसे अर्थ पुराने हो गए हैं और

---

* हमारे यहां का उक्त या वाम मार्गी तथा तान्त्रिक साधकों के सम्प्रदाय, राधा स्वामी सम्प्रदाय, यूरोप का फ्री मैसन (Free mason) आदि सम्प्रदाय इसी वर्ग में आते हैं। कारण यह है कि इनके मत या सिद्धांत तथा उपासना या साधना की प्रणालियां जान-बूझकर जन-साधारण की दृष्टि से ओझल रखी जा सकती हैं। जो लोग इनमें सम्मिलित होना चाहते हैं उन्हें पहले अनेक प्रकार की परीक्षाएं देकर अपनी पात्रता और योग्यता सिद्ध करनी पड़ती है, तब कहीं जाकर कुछ औपचारिक और धार्मिक कृत्यों के उपरांत उन्हें दीक्षा दी जाती है और तब अपने सम्प्रदाय में उन्हें सम्मिलित किया जाता है। ऐसे सम्प्रदाय को प्रायः रहस्य सम्प्रदाय कहते हैं।

छूट गए हैं। हां, इनके आधार पर* आज-कल इसमें कुछ नए विशिष्ट अर्थ लग गये हैं।

आज-कल इसका पहला या मुख्य अर्थ है–कोई काम करते या चलाते समय बीच में उत्पन्न होनेवाली ऐसी जटिल और विकट परिस्थिति जिसमें बहुत विचारपूर्वक यह सोचना-समझना पड़े कि इसकी कठिनता किसी प्रकार दूर की जाय और काम कैसे आगे बढ़ाया जाय। जैसे–देश को स्वंत्रता तो मिल गई; पर उसके साथ ही आंतरिक सुरक्षा, उन्नति, विकास, शिक्षा-प्रचार आदि की अनेक समस्याएं सामने आकर खड़ी हो गईं। भेद और **रहस्य** तो साधारणतः दूसरों के आचरण, कार्य, व्यवहार आदि के परिणाम होते और देखनेवालों के मन में प्रायः कुतूहल मात्र उत्पन्न करके रह जाते हैं। परन्तु समस्याएं प्रायः हमारे अपने कार्यों में आकस्मिक कारणों, घटनाओं, अप्रत्याशित तथा नवीन परिस्थितियों के परिणाम स्वरूप हमारे सामने आ उपस्थित होती हैं और उनका निराकरण हमें स्वयं करना पड़ता है। अपने परवर्ती और विकसित अर्थ में इसका प्रयोग और भी अनेक क्षेत्रों में होता है; जैसे गणित की **समस्या**, भूगर्भ-शास्त्र की **समस्या**, समाज-सुधार की **समस्या** आदि। इससे भी और आगे बढ़ने पर कुछ अवस्थाओं में इसका प्रयोग ऐसे व्यक्तियों के सम्बन्ध में भी होने लगा है जिनके आचरण-व्यवहार, पालन-पोषण, रक्षण-शिक्षण आदि का प्रश्न हमारे सामने होता है; जैसेः यह नया नौकर (या लड़का) हमारे लिए एक **समस्या** बन गया है। आशय यही होता है कि इसे किस प्रकार ठीक तरह से काम करने के योग्य बनाया जाय अथवा किस तरह छुटकारा पाया जाय।

-XX

180. भोग — उपभोग — खपत

भोग	उपभोग	खपत
Enjoyment Sufference	Consumption	Consumption

इस वर्ग के शब्द ऐसी स्थितियों के वाचक हैं जिनमें हम कोई चीज़ अपने काम में लाकर अथवा उसका व्यवहार करके किसी प्रकार का लाभ या सुख प्राप्त करते हैं।

'भोग' *पु०* (सं०) भुज धातु से बना है जिसका एक अर्थ काम में लाना या उपयोग करना भी है, परन्तु इसका एक और अर्थ किसी काम, चीज़ या बात के परिणाम अथवा

---

* हमारे यहां काव्य रचना के क्षेत्र में 'समस्या-पूर्ति' वाली जो प्रणाली चली आ रही है, उसके मूल में वही पुराना मिलानेवाला तत्त्व निहित है। पहले कोई ऐसा उलझनवाला अथवा विषमताओं से युक्त पद बनाकर लोगों के सामने रख दिया जाता था जिसका ठीक तरह से निराकरण और मिलान करके उसी के अनुरूप और उसकी पूर्ति करनेवाला कवित्व, श्लोक अथवा ऐसा ही कोई छंद कवियों को बनाना पड़ता था। इसी प्रकार के मौलिक पद को **'समस्या'** कहते थे और कवि लोग उसके अनुरूप जो छंद बनाते थे उसकी क्रिया को 'समस्या-पूर्ति' कहते थे। परन्तु अब काव्य रचना की यह प्रणाली दिन पर दिन दबती चली जा रही है; और अब कवि लोग ऐसे बन्धनों में न पड़कर बिल्कुल स्वच्छंद और स्वतंत्र रूप से ही रचनाएं करते हैं।

फल पाना भी है। इसी **भोग** से हिन्दी की भोगना क्रिया बनी है जिसका प्रयोग अच्छी और बुरी सभी तरह की बातों के परिणाम या फल प्राप्त करके उनसे युक्त होना भी है। (दे० झेलना, 'भोगना और सहना' ।) हम खाने-पीने की अच्छी चीज़ों का **भोग** करते हैं, धन-संपत्ति का भी **भोग** करते हैं और सब प्रकार के सुखों और सुभीतों का भी। इसके विपरीत हम कष्टों, अनेक प्रकार के दुष्परिणामों, प्रकोपों, रोगों आदि का भी **भोग** करते हैं। स्वर्ग के सुखों का भी और नरक की यातनाओं का भी हमें **भोग** करना पड़ता है। परन्तु प्रस्तुत प्रसंग में हमारा लक्ष्य, अच्छी बातों के **भोग** से ही है। हम अपनी इच्छाओं और वासनाओं की तृप्ति, प्रसन्नता मनस्तोष आदि के विचार से अभीष्ट लाभदायक या सुखद वस्तुओं का मनमाने ढंग से जो उपयोग या व्यवहार करते हैं, वही सब वस्तुओं का **भोग** है। यह तो हुई इसके सामूहिक पक्ष की व्याख्या। इसके सिवा कोई एक चीज़ ओढ़-पहनकर, खा-पीकर अथवा और किसी प्रकार अपने काम में लाते हैं, वह भी उस चीज़ का **भोग** ही कहलाता है, जैसे:हम इस मकान का बीसियों वर्षों से **भोग** करते आ रहे हैं। आशय यही होता है कि हम इसे अपने काम में लाते रहे हैं और इसमें रहते चले आए हैं, और आवश्यकता होने पर यह सारा मकान या इसका कोई अंश किसी किराएदार को देकर उससे किराया भी लेते आए हैं।

'उपभोग' *पु०* (सं०) भी बहुत-कुछ वही है, जो **भोग** है। परन्तु अर्थ और प्रयोग के विचार से यह **'भोग'** की तुलना में कुछ परिमित भी है और हल्का भी। आर्थिक और व्यावहारिक क्षेत्र में **उपभोग** का अर्थ होता है--कोई चीज़ इस प्रकार निरंतर अपने काम में लाते रहना कि धीरे-धीरे उसकी उपयोगिता नष्ट होती चले अथवा वह धीरे-धीरे घटती हुई समाप्त हो जाय। फिर भी इसमें उस वस्तु के समाप्त हो जाने का भाव गौण ही है; और उसे उपयोग या व्यवहार में लाने का भाव ही मुख्य है। किसान जो अन्न आदि उपजाते हैं, कारीगर तरह-तरह की चीज़ें बनाते हैं और जुलाहे या बुनकर अनेक प्रकार के जो कपड़े आदि बनाते हैं, वे सब अधिकतर **उपभोग** करनेवालों के हाथ ही बेचते हैं। दूसरों की बनाई हुई ऐसी सभी चीज़ों का **उपभोग** देश या समाज के प्रायः सभी लोग करते हैं; और इसीलिए **उपभोग** करनेवाले लोग उपभोक्ता (Consumer) कहलाते हैं।

'खपत' *स्त्री०* (हिं०) खपना क्रिया का भाववाचक संज्ञा रूप है। हिन्दी कोशों में खपना को सं० क्षय से व्युत्पन्न कहा गया है। पर हमारी समझ में यह सं० क्षप् से बना है; जिसका अर्थ है—दूर करना, फेंकना या हटाना। इसीलिए खपना का एक अर्थ नष्ट या समाप्त हो जाना अथवा न रह जाना भी होता है। प्रस्तुत प्रसंग में खपना मुख्यतः ऐसी स्थिति का वाचक है जिसमें कोई चीज़ काम में आती रहने पर धीरे -धीरे क्षीण होती चलती और अंत में नष्ट या समाप्त हो जाती है। इसका पहला अर्थ है—उपयोग या व्यवहार में आकर समाप्त हो जाना, जैसे (क) ईंटों और पत्थरों के ये छोटे-छोटे टुकड़े भी दीवार की नींव में खप जाएंगे। (ख) खोटे सिक्के भी अच्छे सिक्कों के साथ मिलकर कभी न कभी खप ही जाते हैं; अर्थात् वे दूसरों के हाथों में पहुंच जाते हैं और हम पर उनका भार नहीं रह जाता। और (ग) पुरानी तरह के इंजिनों में ईंधन (कोयला या तेल) बहुत अधिक खपता था; अर्थात् वह अधिक जलकर जल्दी समाप्त हो जाता था। इससे

और आगे बढ़ने पर इसका अर्थ होता है–चीज़ों का बाज़ार में आकर इस प्रकार अधिक बिकना कि उनका भंडार जल्दी ही समाप्त हो जाय; जैसे:आज-कल हमारे देश में अन्न की **खपत** इसलिए बहुत अधिक हो गई है कि जनसंख्या दिन पर दिन बढ़ती जा रही हैं, अथवा ईंटों, लकड़ियों और लोहे के छड़ों आदि की **खपत** इसलिए बहुत बढ़ गई है कि हर जगह बहुत से नए-नए कारखाने और मकान बनते जा रहे हैं। इस प्रकार **खपत** में उपभोगवाला तत्त्व तो पीछे रह जाता है और चीज़ों के काम में आकर समाप्त हो जानेवाला तत्त्व बिल्कुल प्रत्यक्ष और स्पष्ट रूप से हमारे सामने वर्तमान रहता है। ××

भोगना- *स्त्री०* (हिं०) दे० 'झेलना, भोगना और सहना'।

181. भौतिक Physical पार्थिव Earthly लौकिक Temporal Secular सांसारिक Worldly

इस वर्ग के विशेषण ऐसे कामों, चीज़ों, बातों आदि के लिए प्रयुक्त होते हैं जो जगत् या दुनियां में नित्य दिखाई देती या होती रहती हैं।

'भौतिक' *वि०* (सं०) 'भूत' से बना हुआ वि० है। सं० में भूत के विशेषण रूप के कई अर्थ हैं, जैसे जो अस्तित्व में आ चुका हो, जो घटित हो चुका हो, जो बीत चुका हो आदि। संज्ञा रूप में भूत उसे कहते हैं जिसकी कोई पृथक् या स्वतंत्र सत्ता हो। परन्तु दार्शनिक क्षेत्र में भूत उन मूल तत्त्वों को कहते हैं जिनसे इस सारी सृष्टि की और इसमें पाए जानेवाले पदार्थों, प्राणियों आदि की भी उत्पत्ति या रचना मानी गई है। हमारे यहां इनकी संख्या 5 कही गई है। यथा:पृथ्वी, जल, तेज, वायु और आकाश। इसीलिए इन्हें पंच तत्त्व, पंचभूत और पंच महाभूत कहते हैं।* प्राचीन पाश्चात्य दार्शनिकों ने पृथ्वी, जल, आकाश और वायु यही चार मूल तत्त्व या भूत माने थे। परन्तु आधुनिक वैज्ञानिकों ने तत्व या भूत का विचार और व्याख्या रासायनिक आधार पर की है; और तत्त्व ऐसे पदार्थ को कहा है जिसमें किसी दूसरे पदार्थ का कुछ भी अंश या मिश्रण न हो–वह पूर्णतः विशुद्ध हो। उन्होंने अब तक 100 से अधिक ऐसे तत्त्व ढूंढ निकाले हैं जो पूर्णतः अमिश्र तथा विशुद्ध हैं; और नई-नई खोजों के आधार पर इनकी संख्या बढ़ती ही जा रही है। विशेषण **भौतिक** मुख्यतः इन्हीं तत्त्वों या भूतों के विचार से बना है और इसका आरम्भिक अर्थ है–भूतों से बना हुआ अथवा उनसे सम्बन्ध रखनेवाला। इसीलिए इस संसार में

---

* इसी आधार पर हमारे यहां पंचत्व को प्राप्त होना, मुहावरा बना है, जिसका अर्थ है- देहावसान या मृत्यु होना।

इसी आधार पर हमारे यहां के कुछ शैव **पार्थिव** पूजन करते हैं। वे मिट्टी का शिवलिंग बनाकर और छाती तक पानी में खड़े होकर मिट्टी के उस लिंग की विधिवत् पूजा करते हैं। इसी को पार्थिव पूजन कहते हैं।

जितने पदार्थ हमें दिखाई देते हैं उन सबको हम **भौतिक** कहते हैं; क्योंकि वे प्राकृतिक तत्त्वों या भूतों से बने हुए होते हैं। इसी आधार पर आधुनिक विज्ञान की 'भौतिक विज्ञान' (Physics) नाम की प्रसिद्ध शाखा विकसित हुई है, जिसमें अजैव सृष्टि विशेषतः ताप, प्रकाश, ध्वनि, पदार्थों आदि का विवेचन होता है। इसमें नैतिक, मानसिक, सामाजिक आदि बातों का अन्तर्भाव नहीं होता।

'पार्थिव' *वि०* (सं०) पृथ्वी से बना है। ऊपर पांच तत्त्वों या भूतों के उल्लेख में पृथ्वी का भी जो नाम आया है वह मुख्यतः मिट्टी का ही वाचक है। परन्तु पृथ्वी का प्रचलित और प्रसिद्ध अर्थ यह भूतल है जिस पर हम सब लोग रहते हैं, नदियां, पहाड़ आदि स्थित हैं और जिस पर सब प्रकार के पेड़-पौधे उगते और जीव-जन्तु रहते हैं। अतः इस पृथ्वी पर होनेवाली सब चीज़ें और बातें **पार्थिव** कहलाती हैं, जैसे खनिज आदि **पार्थिव** पदार्थ, **पार्थिव** धन-संपत्ति आदि।

'लौकिक' *वि०* (सं०) 'लोक' से बना हुआ विशेषण है। लोक के मुख्य अर्थ दो हैं–जन-समाज या लोक और उनके रहने का स्थान। इसी आधार पर **'लौकिक'** का प्रयोग दो मुख्य विवक्षाओं से युक्त होता है। एक तो लोगों में प्रचलित आचार, व्यवहार और कार्य या व्यापार **लौकिक** कहलाते हैं। दूसरे यह आध्यात्मिक और **पार-लौकिक** बातों या विचारों से भिन्नता या भेद सूचित करता है।

'सांसारिक' *वि०* (सं०) संसार का विशेषण रूप है। यह भी है तो बहुत-कुछ वही जो **लौकिक** है; फिर भी इसमें कुछ विशेषता है। इसमें **पार्थिव** और **भौतिक** क्षेत्र की भी बहुत सी बातें आ जाती हैं। **लौकिक** में तो मुख्यतः उन्हीं बातों का अन्तर्भाव होता है जो किसी विशिष्ट काल, देश या समाज में प्रचलित होती हैं; परन्तु **सांसारिक** में वे सभी काम और बातें आ जाती हैं जो सार्वजनिक और सार्वभौम होती हैं। **सांसारिक** प्रपंच, **सांसारिक** बन्धन आदि ऐसे ही भावों से युक्त हैं। इस संसार में हम जितने कार्य करते हैं वे सब किसी निश्चित उद्देश्य से और किसी विशिष्ट परिणाम तक पहुंचने के लिए करते हैं। ऐसे सभी कार्य और बातें **सांसारिक** कहलाते हैं। मराठीवाले प्रायः इसके स्थान पर भी और **लौकिक** के स्थान पर भी 'जागतिक' का प्रयोग करते हैं।

भौतिकवाद- *पु०* (सं०) दे० 'प्रकृतिवाद, प्राकृतवाद और भौतिकवाद'।

भौतिक विज्ञान- *पु०* (सं०) दे० 'भौतिक, पार्थिव, लौकिक और सांसारिक'।

182. **भ्रम** Mistake | **भ्रान्ति** Illusion | **मतिभ्रम** Hallucination | **विभ्रम** Delusion | **मरीचिका** Mirage

इस वर्ग के शब्द मन की ऐसी स्थितियों के वाचक हैं जिनमें वह कोई चीज़ या बात देखने पर भी उसका ठीक या वास्तविक रूप नहीं समझ पाता और भूल से कुछ और ही मान या समझ बैठता है।

'भ्रम' *पु०* (सं०) के मूल अर्थ हैं–घूमना, चक्कर खाना, फेरा लगाना आदि। परन्तु प्रस्तुत प्रसंग में **भ्रम** वह है, जिसमें मनुष्य धोखे से किसी चीज़ को कुछ का कुछ समझ लेता है। ऐसा या तो दृष्टिदोष के कारण होता है या धारणा अथवा विचार के दोष से। यह पहचानने या समझने में होनेवाली भूल है। मनोवैज्ञानिक परिभाषा के अनुसार **भ्रम** वह विषमता है जो कभी-कभी वास्तविकता और तत्सम्बन्धी हमारे ज्ञान में उत्पन्न हो जाती है। यदि अंधेरे में कोई मोटी रस्सी पड़ी हो तो हमें सांप का **भ्रम** हो सकता है। आकृति, चाल-ढाल आदि की समानता के कारण किसी अजनबी को देखकर हमें अपने मित्र का धोखा हो सकता है। यही वास्तविकता और तत्सम्बन्धी हमारे ज्ञान की विषमता है। हिंदी में इसके स्थान पर 'धोखा' और 'भूल' का भी प्रयोग होता है।

'भ्रांति' सं० का मौलिक अर्थ भी वही घूमना या चक्कर खाना है, जो **भ्रम** का है और इसीलिए कुछ अंशों में यह **भ्रम** का समानक ही है। पर इसमें एक अतिरिक्त भाव भी है। जब कोई ऐसा **भ्रम** होता है जो हमें चक्कर या सोच-विचार में डाल देता या उद्विग्न कर देता है, तब ऐसी स्थिति भी भ्रांति कहलाती है। यह प्रायः मन की अस्थिरता या चंचलता के कारण होती है; और इसीलिए हम इसे प्रमाद या मोह का परिणाम मान सकते हैं। हमारे यहां साहित्य में 'भ्रांति' नाम का जो अलंकार माना गया है उसके उदाहरणों से हमारे उक्त निष्कर्ष की पुष्टि होती है। प्रायः प्राचीन कविताओं में इसके जो उदाहरण मिलते हैं उनका बहुत-कुछ सारांश भी यही है, जैसे चन्द्रमुखी नायिका को अटारी पर देखकर कहना कि अरे, यह चन्द्रमा कहां से निकल आया! इस प्रकार की बातें मन की अस्थिरता या मोह की दशा में ही मुंह से निकल सकती हैं, साधारण अवस्था में नहीं। यदि हम किसी को बहुत दिनों से अपना सच्चा मित्र या हितैषी समझते आए हों, और वह हमारे साथ कोई बहुत बड़ा विश्वासघात कर बैठे तो हमें यही कहना पड़ेगा कि उसके सम्बन्ध में हमारे मन में बहुत बड़ी भ्रांति थी जो आज दूर हो गई। कुछ लोग इसके स्थान पर धोखा और भूल का भी प्रयोग कर जाते हैं; परन्तु इन शब्दों में इतनी उत्कटता या बल नहीं है, जितनी **'भ्रान्ति'** में है।

'मतिभ्रम' *पु०* (सं०) का मूल अर्थ है बुद्धि या समझ के कारण होनेवाला भ्रम। यों तो बहुत-कुछ भ्रांति का ही समार्थक है फिर भी आज-कल इसका प्रयोग अंग्रेज़ी के (Hallucination) के स्थान पर होने लगा है; और इसीलिए यह एक नए भाव से युक्त हो

गया है। कभी-कभी मानसिक अथवा स्नायविक दुर्बलता के कारण किसी अज्ञात दैवी अथवा प्राकृतिक संयोग के कारण हमें कुछ ऐसी घटनाओं या दृश्यों का भान होता है जिनका कोई वास्तविक अस्तित्व नहीं होता। ऐसी घटनाएं या दृश्य कभी-कभी हमारी कल्पना से भी प्रसूत होते या हो सकते हैं। अंधेरे में सोकर उठने पर हमें कहीं कोने में खड़े हुए चोर या भूत का भान हो सकता है। चोर या भूत के न होने पर भी उसका दिखाई पड़ना मति-भ्रम है।

'विभ्रम' *पु०* (सं०) को हम शब्दार्थ की दृष्टि से ऐसा विशिष्ट भ्रम कह सकते हैं, जिसका रूप बहुत ही असाधारण, विकल और विकृत हो। तब हम कहते हैं- वह हमारा **विभ्रम** ही था जो अब दूर हो गया। सारांश यह कि **विभ्रम** हमारे मन की वह विकृत स्थिति है, जो हमें वास्तविकता और अवास्तविकता का अन्तर समझने में असमर्थ कर देती और कुछ समय तक हमें धोखे में रखती है।

'मरीचिका' *स्त्री०* (सं०) मूलतः एक प्राकृतिक, परन्तु भ्रामक घटना पर आश्रित है। प्रायः गरमी के दिनों और बहुत तेज़ धूप में वातावरण की विशिष्ट स्थितियों के कारण कभी-कभी बहुत दूरी पर कुछ उलटी प्रतिकृतियां दिखाई देती हैं, जो यात्रियों तथा पशु-पक्षियों के मन में जलाशय, बस्ती, हरियाली आदि का भ्रम उत्पन्न करती हैं। प्रायः मैदानों में बहुत दूरी पर इसी प्रकार का भ्रामक (अवास्तविक) जलाशय का दृश्य दिखाई पड़ने पर पानी मिलने की आशा से मृग और पशु कोसों दौड़ते चले जाते हैं। पर ज्यों-ज्यों वे आगे बढ़ते हैं, त्यों-त्यों जलाशयवाला वह मिथ्या दृश्य और भी दूर होता जाता है और अंत में वे थककर हताश होकर बैठ जाते हैं। यही वास्तविक **मरीचिका** है। इसे मृग-तृष्णा और मृग-मरीचिका भी कहते हैं। परन्तु साधारण बोलचाल और लोक-व्यवहार में भी इसका प्रयोग ऐसी स्थिति सूचित करने के लिए होता है जिसमें हम बिल्कुल ही झूठी और व्यर्थ की आशा करते हुए कोई प्रयत्न निरन्तर करते चलते हैं; और यह नहीं समझते कि हमारी सारी आशा अन्त में दुराशा ही सिद्ध होगी - इसमें कभी-कभी केवल मानसिक दुर्बलता या विकार के कारण हम कुछ बहुत ही ऊट-पटांग या विशेष प्रकार की घटना देखते हैं; और हम में यह समझने की भी शक्ति नहीं रह जाती कि क्या कभी वस्तुतः ऐसा हो सकता है। यदि कोई व्यक्ति सड़क पर मोटर से गिर के बेहोश हो जाए, तो अस्पताल में पहुंचकर होश आने पर उसे यह **विभ्रम** हो ही सकता है कि मैं अभी तक सड़क पर ही गिरा हुआ धूल में लोट रहा हूं। कुछ अवसरों पर **विभ्रम** हमारी भावुकता या स्वाभाविक सरलता के कारण भी हो सकता है। नैतिक और सामाजिक दृष्टियों से देश का घोर पतन हो रहा हो और नए-नए उद्योग-धन्धों और ऊपरी ठाट-बाट देखकर यह समझा जाए कि देश बहुत उन्नति कर रहा है, तो यह भी **विभ्रम** ही होगा। कुछ अवस्थाओं में चतुर या धूर्त लोग हमारे भोलेपन या सरलता से लाभ उठाकर भी हमारे मन में कोई **विभ्रम** उत्पन्न कर सकते हैं। हमें अपने जाल में फंसाने के लिए वे हमारे चारों ओर धोखे की टट्टी खड़ी कर सकते हैं; और हम उनके फेर में पड़कर अपनी बहुत कुछ हानि भी कर सकते हैं। परन्तु अन्त में सोचने-समझने पर जब हम अपनी भूल समझ लेते हैं और यह जान जाते हैं कि इसका कोई सुफल हमें कभी मिल हीं नहीं

सकता, कहते हैं कि वह हमारा **विभ्रम** ही था जो अब दूर हो गया। ××

भ्रष्टाचार- *पु०* (सं०) दे० 'अनाचार, कदाचार, दुराचार, भ्रष्टाचार और व्यभिचार'।

भ्रांति- *पु०* (सं०) दे० 'भ्रम, भ्रांति, मतिभ्रम, विभ्रम और मरीचिका'।

भ्रातृ-हत्या- *पु०* (सं०) दे० 'हत्या, हनन, मारण, बध और संहार'।

भ्रूण-हत्या- *स्त्री०* (सं०) दे० 'गर्भ-निरोध, गर्भ-पात, गर्भ-स्राव और भ्रूण-हत्या'।

मंगनी - *स्त्री०* (हि ० मांगना) दे० 'उधार और मंगनी'।

मंडल- *पु०* (सं०) दे० 'आयोग, अधिकरण, न्यायाधिकरण, परिषद् और मंडल'।

183. मंच मंचशीर्ष रंगमंच वाग्पीठ

Platform Rostrum Stage Forum

इस वर्ग के शब्द ऐसी वस्तुओं, रचनाओं और स्थानों के वाचक हैं जहां एकत्र होकर लोग उपदेश प्रचार, मनोरंजन आदि के कार्य जन-साधारण के सामने प्रस्तुत करते हैं।

'मंच' *पु०* (सं०) मुख्यतः ऐसे बड़े चबूतरे को कहते हैं जो ईंटों आदि के पायों, खम्भों, बांसों आदि पर और लकड़ी के तख्तों आदि से पाटकर किसी विशिष्ट कार्य के लिए बनाया गया हो। आस-पास की भूमि से यह इसलिए कुछ ऊंचा बनाया जाता है कि आस-पास और सामने बैठे हुए लोग उस पर होनेवाले कार्य आदि देख-सुन सकें। बड़ी-बड़ी सभाओं के समय सभापति, वक्ता और विशिष्ट कार्यकर्ता तथा सम्मानित अतिथि इसी पर बैठते हैं। उपदेशक, प्रचारक आदि इसी पर खड़े होकर लोगों के सामने भाषण करते और वक्तृता देते हैं। इसके सिवा लाक्षणिक रूप में यह ऐसे क्षेत्र का भी वाचक होता है जिसमें कुछ विशिष्ट प्रकार के कार्य आदि होते हैं, जैसे राजनीतिक **मंच**, साहित्यिक **मंच** आदि।

'मंचशीर्ष' *पु०* (सं०) मेरी समझ में Rostrum के लिए सबसे अधिक उपयुक्त और ठीक होगा। बहुत बड़ी-बड़ी सभाओं या महासभाओं में **मंच** पर आगे की ओर एक पार्श्व में एक दूसरा छोटा **मंच** भी बना दिया जाता है। इसके ऊपरी भाग में दो तीन आदमियों के खड़े होने या बैठने भर का स्थान होता है। भाषण करनेवाले लोग इसीलिए इस पर आकर भाषण करते हैं कि बहुत दूर-दूर बैठे लोग भी सहज में उन्हें और उनकी भाव-भंगिमा देख सकें।

'रंगमंच' *पु०* (सं०) हमारे यहां का बहुत पुराना शब्द है। यह विशिष्ट रूप से ऐसे **मंच** का वाचक था जिस पर नाटकों के अभिनय, गीत, नृत्य आदि के कार्यक्रम जन-साधारण के सामने प्रस्तुत करते थे। आज भी यह शब्द मुख्य रूप से इसी अर्थ में प्रचलित है। **मंच** की तरह लाक्षणिक रूप में इसका भी एक और विस्तृत

अर्थ होता है । जहां बहुत से लोगों के अनेक प्रकार के आचरण, व्यवहार आदि देखनेवाले की दृष्टि से तमाशों या लीलाओं के रूप में होते हों, उसे भी **रंगमंच** कहते हैं, जैसे:यह संसार सदा से सभी प्रकार के लोगों का **रंगमंच** रहा है । **मंच** से इसमें यह विशेषता है कि इस पर होनेवाले कार्य प्रायः मनोरंजक होते माने जाते हैं । कुछ लोग इसके स्थान पर केवल **मंच** का भी प्रयोग करते हुए देखे जाते हैं ।

'वाग्पीठ' *पु०* (सं० वाक्+पीठ) अं० के Forum के लिए बनाया हुआ इधर हाल का शब्द है । इसमें एक ही उद्देश्य से बनाए हुए ऐसे बहुत से मंचों का अन्तर्भाव होता है जो या तो बहुत दूर-दूर तक फैले हों; या आवश्यकता पड़ने पर जगह-जगह बना लिए जाते हों । **वाग्पीठ** किसी ऐसे विशिष्ट दल या पक्ष के होते हैं जो सामयिक विषयों और सार्वजनिक सेवाओं की आलोचना और कार्य करते हैं, जैसे आर्य समाज का **वाग्पीठ**, सनातन धर्म का **वाग्पीठ**, समाजसेवकों का **वाग्पीठ** आदि । ऐसे **वाग्पीठ** हर जगह होते या हो सकते हैं । हम कहते हैं: वह थे तो पक्के सनातन-धर्मी, परन्तु आज-कल वे प्रायः राजनीतिक वाग्पीठों से भाषण करते हुए देखे जाते हैं । आशय यही होता है कि आज वे यहां की राजनीतिक सभाओं में भाषण करते हैं तो कल वहां की ऐसी सभाओं में और परसों किसी तीसरे स्थान की ऐसी सभाओं में अर्थात् वे अब राजनीतिक क्षेत्र में अधिक कार्य करते हुए देखे जाते हैं । यह भी कहा जाता है–यह लोक-सेवी या सामाजिक **वाग्पीठ** है; यहां राजनीतिक या साम्प्रदायिक वाद-विवाद की बातें नहीं होनी चाहिए । ××

मंचशीर्ष- *पु०* (सं०) दे० 'मंच, मंचशीर्ष, रंग-मंच और वाग्पीठ' ।

मंडल- *पु०* (सं०) दे० 'आयोग, अधिकरण, न्यायाधिकरण, परिषद् और मंडल' ।

मंत्रि-परिषद्- *पु०* (सं०) दे० 'मंत्रि-मंडल और मंत्रि-परिषद्' ।

184. मंत्रिमंडल — मंत्रिपरिषद्
Ministry — Cabinet

ये दोनों शब्द राजकीय मंत्रियों के दो ऐसे विशिष्ट वर्गों के वाचक हैं, जिनमें परस्पर कुछ सूक्ष्म अन्तर हैं ।

'मंत्रिमंडल' *पु०* (सं०) का शब्दार्थ है--मंत्रियों का वर्ग या समूह । आजकल राज्यों या सरकारों के अनेक बहुत बड़े-बड़े विभाग होते हैं, जैसे अर्थ या वित्त विभाग, कृषि और खाद्य विभाग, परराष्ट्र विभाग, वाणिज्य और व्यवसाय विभाग, शिक्षा विभाग आदि । इनमें से प्रत्येक विभाग का सर्वप्रधान अधिकारी और व्यवस्थापक मंत्री कहलाता है । कुछ अवस्थाओं में किसी मंत्री के अधीन एक से अधिक विभाग भी होते या हो सकते हैं । इन सब मंत्रियों का एक नेता या प्रधान होता है, जो केन्द्र में प्रधानमंत्री (Prime Minister) और राज्यों में मुख्य मंत्री (Chief Minister) कहलाता है । प्रधानमंत्री की नियुक्ति राष्ट्रपति करते हैं और मुख्यमंत्री की नियुक्ति राज्यपाल (Governor) करते हैं । उक्त प्रकार के सभी विभागों के जितने प्रधान अधिकारी या मंत्री होते हैं, उन सभी का

सामूहिक नाम **मंत्रिमंडल** है।

'मंत्रिपरिषद्' *स्त्री०* (सं०) का शब्दार्थ तो प्रायः वही है, जो **मंत्रिमंडल** का है; परन्तु आधुनिक राज्यतंत्र में दोनों में कुछ सूक्ष्म अन्तर किया गया है। यों तो सभी मंत्रियों के पद समान होते हैं; परन्तु राज्य के गूढ़तम विषयों पर परामर्श और विचार करने के लिए कुछ अधिक अनुभवी और योग्य मंत्री अलग चुन लिए जाते हैं जिन्हें परिषद् मंत्री या परिषद् स्तर के मंत्री (Cabinet Minister) कहते हैं, और शेष सभी को राज्यमंत्री (Minister for State) कहते हैं। परिषद् स्तर के मंत्री पहले किसी गहन विषय पर अच्छी तरह विचार कर लेते हैं; और तब उसका स्थूल रूप देश के सभी मंत्रियों अर्थात् **मंत्रिमंडल** के सामने उपस्थित करते हैं और उनकी स्वीकृति लेते हैं। नीति सम्बन्धी सभी मुख्य बातों के लिए **मंत्रिमंडल** समान रूप से उत्तरदायी होता है।

मज़दूरी- *स्त्री०* (फ़ा०) दे० 'पारितोषिक, पारिश्रमिक, पुरस्कार, आनुतोषिक और अनुवृत्ति' के अन्तर्गत 'पारिश्रमिक'।

मजबूर- *वि०* (फ़ा०) = बाध्य; दे० 'बद्ध, बाध्य और विवश'।

मतलब- *पु०* (अ०) दे० 'अर्थ, आशय, ध्वनि और विवक्षा'।

मतिभ्रम- *पु०* (हिं०) दे० 'भ्रम, भ्रांति, मतिभ्रम, विभ्रम और मरीचिका'।

मद- *पु०* (सं०) दे० 'अभिमान, गर्व, घमंड, मद और शेखी'।

मदद- *स्त्री०* (अ०)=सहायता; दे० 'सहायता, सहयोग और सहकारिता'।

मध्यकल्प- *पु०* (सं०) दे० 'कल्प और युग'।

185. मध्यक / औसत / माध्य / माध्यम / माध्यिका

185.	मध्यक	औसत	माध्य	माध्यम
	Mean		Average	Medium
			माध्यिका	
			Median	

इस वर्ग के शब्द दो विपरीत दिशाओं, पार्श्वों, बिन्दुओं, संख्याओं आदि के बीच की ऐसी संख्याओं, स्थितियों आदि के बीचवाले अंकों, तत्त्वों, मानों आदि के वाचक हैं जो करण के रूप में दोनों ओर के लगाव या सम्बन्ध का स्वरूप सूचित करती हैं। ये सभी शब्द संस्कृत 'मध्य' के विकारी रूप हैं जिसका अर्थ होता है–बीच या बीचोबीच।

'मध्यक' विपरीत दिशाओं में स्थित दो बिन्दुओं, संख्याओं आदि के ठीक बीच का बिन्दु या संख्या है। यदि 24 घंटों में किसी स्थान का तापमान उतरकर 10 अंश हो जाए और बढ़कर 30 अंश तक पहुंच जाए तो तापमान का **मध्यक** 20 होगा, 8 और 16 का

मध्यक 12 होगा, 20 और 40 का **मध्यक** 30 होगा* । बीच का बिन्दु या स्थिति ही **मध्यक** कहलाती है ।

'माध्य' भी मुख्यतः गणित के ही क्षेत्र का शब्द है और उस भागफल के लिए प्रयुक्त होता है जो कई संख्याओं के जोड़ को उतने से भाग देने पर प्राप्त होता है, जितनी संख्याएं गिनती में होती हैं । मान लीजिए कि किसी वर्ग या श्रेणी में 10, किसी में 15, किसी में 20, किसी में 25 और किसी में 30 विद्यार्थी हैं । इस प्रकार कुल 5 श्रेणियों में सब मिलाकर 100 विद्यार्थी हुए । इन पांचों श्रेणियों के विद्यार्थियों का **माध्य** निकालने के लिए विद्यार्थियों की संख्या 100 को श्रेणियों की संख्या 5 से भाग देने पर भागफल 20 निकलेगा; और तब हम कहेंगे–इस विद्यालय की पांचों श्रेणियों में विद्यार्थियों का **माध्य** (या औसत) 20 है । यदि किसी बस्ती के 10 आदमियों की मासिक आय 100 रु०, 10 की 80 रु०, 10 की 60 रु० और 10 की 40 रु० हो तो इन 40 आदमियों की मासिक आय कुल मिलाकर 2800 रु० होगी । 2800 को 40 से भाग देने पर भागफल 70 निकलेगा; और तब कहा जाएगा–इस बस्ती के रहनेवालों की **माध्य** आय 70 रु० मासिक है अर्थात् जहां मान, संख्या आदि में बहुत सी असमानताएं होती हैं, वहां उन सबका समान मोटा हिसाब लगाने के लिए उसका **माध्य** निकाल लिया जाता है । प्रायः इस प्रकार के पुराने आंकड़ों या माध्यों के आधार पर भावी घटनाओं या उनकी सम्भावनाओं का भी अनुमान या कल्पना की जाती है । यदि काशी की वार्षिक वर्षा का **माध्य** 40 इंच है, तो हम कह सकते हैं कि यहां साधारणतः हर साल 40 इंच पानी बरसता है । हां, विशेष अवस्थाओं में कभी इससे कुछ कम और कभी कुछ अधिक पानी भी बरस सकता है । इसी बीचवाले अंक या स्थिति को **माध्य** कहते हैं । इसके स्थान पर अ० के **'औसत'** का भी प्रयोग होता है । हमारे यहां की पुरानी महाजनी बोलचाल में इसे **'पड़ता'** कहते हैं, और इसके साथ निकालना तथा बैठाना क्रियाओं का प्रयोग होता है ।

'माध्यम' पु० (सं०) का मूल अर्थ है–बीच या मध्यवाला अंश, भाग या स्थिति । परंतु आज-कल इसका प्रयोग ऐसे काम या बात के सम्बन्ध में होता है जो बीच में रहकर दोनों पक्षों या पार्श्वों में या तो उनमें सम्बन्ध स्थापित कराती हैं या उपादान, करण आदि के रूप में परिमाण या प्रभाव उत्पन्न करती हैं, जैसे (क) हमारे यहां शिक्षा का **माध्यम** हिन्दी है; अर्थात् विद्यार्थियों को इतिहास, गणित, भूगोल आदि की शिक्षा हिन्दी में ही दी जाती है । (ख) समाचार-पत्र ऐसे **माध्यम** हैं जिनसे सब स्थानों के समाचार दूर-दूर के लोगों तक पहुंचते है, और (ग) आधुनिक विज्ञान ने यह सिद्ध कर दिखलाया है कि अधिकतर रोग कीटाणुओं के **माध्यम** से ही फैलते और बढ़ते हैं आदि ।

'माध्यिका' ठीक बीच का वह बिन्दु है । जिसके ऊपर और नीचे दोनों ओर संख्या के विचार से बराबर इकाइयां हो । इसमें केवल क्रमिक दृष्टि से ठीक बीचवाले अंक, बिन्दु या स्थिति के सिवा और किसी बात का विचार नहीं होता । इसे निकालने के लिए ऊपर

---

* पाटी गणित में तो 4 और 16 का मध्यक 10 होगा; पर इन्हीं 4 और 16 का ज्यामितिक मध्यक 8 होगा; क्योंकि 4×16=64 होता है; और 64 का वर्ग-मूल 8 होता है ।

और नीचे की इकाइयां भर गिन लेनी पड़ती हैं; गणित की और कोई क्रिया नहीं करनी पड़ती। 1, 2, 3, 4 और 5 की **माध्यिका** 3 होगी; 7, 8, 9, 10, 11, 12, 13, 14 और 15 की **माध्यिका** 11 होगी। **माध्य, मध्यक** और **माध्यिका** के पारस्परिक अन्तर एक और प्रकार से सहज में समझे जा सकते हैं। मान लीजिए कि किसी जगह 5 आदमी रहते हैं। उनमें से एक 30 रु०, दूसरा 40 रु०, तीसरा 50 रु० चौथा 80 रु० और पाचवां 100 रु० मासिक वेतन पाता है। पांचों मिलकर 300 रु० मासिक पाते हैं। 300 को 5 से भाग देने पर भागफल 60 निकलता है। अतः पांचों आदमियों की मासिक **माध्य** आय 60 रु० हुई। अब एक आदमी तो सबसे कम 30 रु० पाता है और एक सबसे अधिक 100 रु० पाता है। अब यदि हम 30 और 100 का **मध्यक** निकालें तो वह 65 होगा; क्योंकि 30–100 के ठीक बीच में 65 ही पड़ता है। पर यदि हम इन्हीं 30, 40, 50, 80 और 100 की **माध्यिका** देखेंगे तो वह 50 ही ठहरेगी; क्योंकि वही पांचों इकाइयों या संख्याओं के ठीक मध्य में है।

मध्यस्थता- *स्त्री०* (सं०) दे० 'पंचायत, मध्यस्थता और संराधन'।

मनन- *पु०* (सं०) दे० 'अध्ययन, अनुशीलन, परिशीलन, पारायण, मनन और स्वाध्याय'।

मनस्ताप- *पु०* (सं०) दे० 'ताप, परिताप, पश्चात्ताप, मनस्ताप और संताप'।

मनोवृत्ति- *स्त्री०* (सं०) दे० 'वृत्ति, अभिवृत्ति, प्रवृत्ति, मनोवृत्ति और रुचि'।

मरीचिका- *पु०* (हिं०) दे० 'भ्रम, भ्रांति, मतिभ्रम, विभ्रम और मरीचिका'।

मशीन- *स्त्री०* (सं०) = यंत्र; 'दे० यंत्र, उपकरण, औज़ार और संयत्र'।

मसौदा- *पु०* (अ० मस्वेदः) दे० 'पांडुलेख और हस्तलेख'।

186. महंगा — कीमती — बहुमूल्य — मूल्यवान

Dear — Costly — Precious — Valuable

ये विशेषण चीज़ों की बाज़ारू दरों या भावों की उन स्थितियों के वाचक हैं, जिनमें वे बाजारों में या तो साधारण से बहुत कुछ बढ़े हुए या बहुत कुछ कम मूल्यों पर बिकती हैं, और इसीलिए ये दोनों एक दूसरे के विपर्याय भी हैं। परन्तु आज-कल इनमें लाक्षणिक रूप में कुछ नए आशय या विवक्षाएं भी लग गई हैं।

'महंगा' *स्त्री०* (महंगी) संस्कृत 'महार्घ' से बना है जिसका अर्थ होता है–अधिक अथवा बहुत अधिक **मूल्य** पर खरीदा या बेचा जानेवाला। जब कोई चीज़ बाजार में उचित और साधारण से बढ़े हुए **मूल्य** पर बिकने लगती है, तब कहा जाता है कि वह **महंगी** हो गई है; परन्तु आज-कल अंग्रेज़ी के अनुकरण पर इसका प्रयोग ऐसे कामों, चीज़ों और बातों के सम्बन्ध में भी होने लगा है जिन्हें प्राप्त करने के लिए या तो हमें बहुत अधिक कष्ट सहना या प्रयत्न करना पड़ता है अथवा वह कार्य सिद्ध हो जाने पर अथवा वस्तु प्राप्त हो जाने पर हमें बहुत-कुछ कष्ट उठाना, खर्च करना और कुछ अवस्थाओं में

पछताना भी पड़ता है। जिन कामों के बाद हमारी किसी विशेष प्रकार की बदनामी या हानि होती है, उनके सम्बन्ध में भी इस विशेषण का प्रयोग होता है, जैसेःउन्हें अपना यह अन्तर्जातीय विवाह बहुत **महंगा** पड़ा। आशय यही होता है कि या तो नई पत्नी के कारण उनका व्यय बहुत बढ़ गया है अथवा समाज में उन्हें बहुत नीचा देखना पड़ा है; या ऐसी ही कोई अप्रिय तथा कष्टदायक स्थिति में रहना पड़ रहा है। जब हम कहते हैं–'हमें यह पुस्तक (या यात्रा) बहुत **महंगी** पड़ी है' तब हमारा आशय यही होता है कि पुस्तक पाने या लिखने (अथवा यात्रा करने में) आवश्यकता से बहुत अधिक परिश्रम या व्यय करना पड़ा है अथवा उचित से बहुत अधिक समय लगाना पड़ा है आदि आदि।

कीमती (अ० कीमत) से अभिप्राय है जिसकी कीमत अधिक हो और **'बहुमूल्य'** का अर्थ है बहुत अधिक मूल्यवाला। सामान्यतः जिन वस्तुओं को खरीदने के लिए अपेक्षया अधिक कीमत चुकानी पड़ी हो या पड़ती हो उन्हें **कीमती** या बहुमूल्य कहते हैं। यदि किसी की दृष्टि में किसी वस्तु का महत्व औरों की अपेक्षा अधिक हो तो वह उसके लिए **कीमती** या बहुमूल्य होगी।

'मूल्यवान' का प्रयोग भी बहुमूल्य के अर्थ में होता है।

महंगाई- *स्त्री०* (हिं०) दे० 'महंगी और महंगाई'।

187. महंगी — महंगाई

Dearness — Dearness-allowance

हिन्दी की ये दोनों *स्त्री०* संज्ञाएं विशेषण **महंगा** (सं० महार्घ) से बनी हैं। इसमें से **'महंगी'** तो पुराना शब्द है, पर **महंगाई** इधर हाल में बना और चला है। कुछ तो रूप साम्य के कारण और कुछ दोनों के अर्थों का ठीक अन्तर न समझने के कारण लोग प्रायः एक के स्थान पर दूसरे का प्रयोग कर जाते हैं। **'महंगी'** वस्तुतः उस समय या स्थिति की सूचक है जिसमें चीज़ों के दाम बहुत अधिक बढ़ गए हों और खरीदने में लोगों को बहुत महंगे जान पड़ते हों। अर्थात् यह बाज़ार में चीज़ों की कमी, मूल्य की वृद्धिवाली अवस्था का सूचक शब्द है, जैसेःआज-कल देश में अनाजों और कपड़ों की ही नहीं बल्कि सभी चीज़ों की **महंगी** दिखाई पड़ती है। यह मानो बहुत-कुछ अकाल की सी दशा की सूचक मानी जाती है। **'महंगाई'** इधर हाल का प्रचलित शब्द है। सरकारी और गैर-सरकारी संस्थाओं के कर्मचारियों और कार्यकर्ताओं को वेतन के अतिरिक्त आज-कल जो और थोड़ी रकम दी जाने लगी है वही वस्तुतः **'महंगाई'** है। यह अतिरिक्त रकम लोगों को इसीलिए दी जाती है कि नियत वेतन से **महंगी** के दिनों में निर्वाह करना कठिन होता है। **महंगाई** वही कठिनाई कम करने के लिए मिलनेवाली रकम है। इसीलिए इसे 'महंगाई-भत्ता' भी कहते हैं। यह कहना ठीक नहीं है कि आज-कल **महंगाई** के कारण लोगों को बहुत कष्ट हो रहा है। ऐसे अवसरों पर **'महंगी'** शब्द का ही प्रयोग होना चाहिए। हां, कर्मचारी लोग भले ही कह सकते हैं—आज-कल **महंगी** जितनी अधिक बढ़ गई है उसे देखते हुए हम लोगों को **महंगाई** बहुत ही कम मिलती है। ××

महक– *स्त्री०* (सं० महक) दे० 'गंध, बू, महक और वास'।

188. **महत्ता** **महत्त्व** **महिमा**
Greatness Importance Glory

ये तीनों शब्द संस्कृत की मह् धातु से बने हैं जिसका अर्थ है–प्रतिष्ठा, मान आदि बढ़ाकर ऊंचा उठाना, ऊपर चढ़ाना, गौरव बढ़ाना आदि। इसी मह् से संस्कृत का महत्* शब्द बना है जिसका अर्थ है–आकार, गुण, मान आदि के विचार से बहुत बड़ा अथवा औरों से बहुत अधिक बढ़-चढ़ कर। इसी महत् में 'ता' प्रत्यय लगने से **'महत्ता'** और 'त्व' प्रत्यय लगने से **'महत्त्व'** रूप बनता है। दोनों का पहला अर्थ है–बहुत बड़े होने की अवस्था, गुण या भाव। हिन्दी में हम इसे **'बड़प्पन'** कह सकते हैं। परन्तु आज-कल अंग्रेज़ी के इम्पॉर्टेंस (Importance) शब्द के आधार पर 'महत्त्व' में एक नया अर्थ लग गया है। जब हम अपनी समझ से किसी काम, बात या व्यक्ति को औरों से बहुत अच्छा, आदरणीय, प्रभावी या मान्य समझते हैं तब हमारा ऐसा समझना ही उस काम, बात या व्यक्ति का **महत्त्व** स्थापित करना होता है। ऐसा समझना मूलतः वैयक्तिक ही होता है। इसीलिए हम कहते हैं–और लोग आपकी कृति के सम्बन्ध में जो चाहें सो कहें; पर मैं उसे बहुत महत्त्वपूर्ण मानता हूं। परन्तु आगे चलकर ऐसी धारणा वैयक्तिक होने के सिवा सामाजिक या सामूहिक और फलतः बहुत व्यापक भी हो सकती है, जैसे उनके अनुसंधानों या अन्वेषणों का **महत्त्व** सभी बड़े-बड़े विद्वान् और वैज्ञानिक मानते हैं।

आज-कल हिन्दी में इन शब्दों का जिस प्रकार प्रयोग होता है उसके आधार पर एक सूक्ष्म अन्तर निरूपित किया जा सकता है। वह यह कि **महत्ता** तो स्वयं वस्तु या व्यक्ति में वर्तमान या स्थित रहती है; परन्तु **महत्त्व** इसके सिवा उस आदरात्मक भावना का भी वाचक हो गया है जो **महत्ता** के फलस्वरूप उसे देखने या समझनेवालों के मन में उत्पन्न होती है। इसीलिए कहा जाता है–आज-कल लोग संगीत का सांस्कृतिक **महत्त्व** (अथवा हिमालय का आध्यात्मिक महत्व) बहुत कुछ समझने लगे हैं। ऐसे अवसरों पर **'महत्त्व'** के स्थान पर **महत्ता'** का प्रयोग जल्दी कहीं देखने में नहीं आता।

'महिमा' इसी **महत्त्व** का बहुत अधिक आदरणीय, उत्कृष्ट और सर्वमान्य रूप होता है। **महत्त्व** तो लौकिक क्षेत्र का ही शब्द है; परन्तु **महिमा** का प्रयोग मुख्यतः आध्यात्मिक, धार्मिक आदि क्षेत्रों में होता है। **महिमा** ऐसा **महत्त्व** है, जो दैवी गुणों से सम्पन्न अथवा लोकोत्तर हो, जैसेः ईश्वर की **महिमा** अपरम्पार है। **'महिमा'** हमारे यहां आठ सिद्धियों में से एक कही गई है जिसके सिद्ध हो जाने पर मनुष्य अपने आपको आकार, रूप आदि की दृष्टि से बहुत बड़ा बना लेता था। हमारे यहां के प्राचीन साहित्य में कहीं-कहीं बहुत बड़े

---

* इसी महत् का एक दूसरा रूप 'महान्' भी होता है जिसे कुछ लोग या तो भूल से और या सुभीते के विचार से 'महान' मान या समझ लेते हैं और इसमें संस्कृत का 'ता' प्रत्यय लगाकर भाववाचक संज्ञा 'महानता' बना लेते हैं जो ठीक नहीं है, फिर भी आज-कल बहुत चलने लगा है।

राजाओं, सम्राटों आदि का **महत्त्व** सूचित करने के लिए भी इसका प्रयोग देखने में आता है। इस प्रकार **'महिमा'** ऐसा असाधारण **महत्त्व** है जिसे सब लोग बिना किसी प्रकार की आपत्ति के और सिर झुकाकर मानते हों। ××

महत्त्व- *पु०* (सं०) दे० 'महत्ता, महत्त्व और **महिमा**'।

महाकाल- *पु०* (सं०) दे० 'काल, वेला, और समय'।

महानता- *स्त्री०* (असिद्ध रूप) दे० 'महत्ता, महत्त्व और महिमा'।

महाव्योम- *पु०* (सं०) दे० 'अन्तरिक्ष, आकाश, व्योम और महाव्योम'।

महिमा- *स्त्री०* (सं०) दे० 'महत्ता, महत्त्व और महिमा'।

मातम- *पु०* (फ़ा०) = शोक; दे० 'दुःख, खेद, विषाद और शोक'।

मातृ-हत्या- *स्त्री.* (सं०) दे० 'हत्या, हनन, मारण, वध और संहार'।

माध्य- *पु०* (सं०) दे० 'मध्यक, माध्य, माध्यम और माध्यिका'।

माध्यम- *पु०* (सं०) दे० 'मध्यक, माध्य, माध्यम और माध्यिका'।

माध्यिका- *स्त्री०* (सं०) दे० 'मध्यक, माध्य, माध्यम और माध्यिका'।

मानक- *पु०* (सं०) दे० 'आदर्श, प्रतिमान, प्रतिरूप और मान-दंड'।

मानकीकरण- *पु०* (सं०) दे० 'आदर्श, प्रतिमान, प्रतिरूप, मानक और मान-दंड'।

मान-दंड- *पु०* (सं०) दे० 'आदर्श, प्रतिमान, प्रतिरूप, मानक और मान-दंड'।

मान-पात्र- *पु०* (सं०) दे० 'आदर्श, प्रतिमान, प्रतिरूप, मानक और मान-दंड'।

माने- *पु०* (अ० माअना) दे० 'अर्थ, आशय, ध्वनि और विवक्षा'।

मान्यता- *स्त्री०* (सं०) दे० 'विश्वास, प्रतीति, प्रत्यय, भरोसा और मान्यता'।

माप-दंड- *पु०* (सं०) दे० 'आदर्श, प्रतिमान, प्रतिरूप, मानक और मान-दंड'।

मारण- *पु०* (सं०) दे० 'हत्या, हनन, मारण, वध और संहार'।

मिज़ाज- *पु०* (अ० मिज़ाज) दे० 'प्रकृति, शील, स्वभाव और मिज़ाज'।

मिलना- *अ०* (सं० मिलन) दे० 'जुड़ना, चिपकना, मिलना, लगना और सटना'।

189. मिली-भगत — सांठ-गांठ

Collusion — Collusion

इन स्त्रीलिंग पदों का प्रयोग ऐसी स्थिति सूचित करने के लिए होता है जिसमें दो अथवा अधिक दल, पक्ष या व्यक्ति अपना स्वार्थ सिद्ध करने के लिए आपस में मिलकर गुप्त रूप से किसी को ठगने, धोखा देने या हानि पहुंचाने का प्रयत्न करते हैं।

जब दो या अधिक व्यक्ति मिलकर कपट या छल का व्यवहार करते हुए किसी को ठगते हैं तब कहा जाता है कि यह उन दोनों की **मिली-भगत** थी। इसमें मुख्य बात यह

है कि इसका स्वरूप ठगे जाने या धोखा खाने के बाद ही स्पष्ट होता है। उदाहरण के लिए एक आदमी बहुत ही विश्वसनीय बन आता है और कहता है कि अमुक साधु चांदी का सोना बना देता है अथवा सोने की मात्रा दूनी कर देता है। हम उस पर विश्वास करके बहुत सी चांदी सोना बनाने के लिए अथवा बहुत सा सोना दूना करने के लिए देते हैं और वह चांदी या सोना लेकर चम्पत हो जाता है। तब हम कहते हैं कि उन दोनों की मिली-भगत थी। इस प्रकार की अथवा इससे मिलती-जुलती और कोई ठगी मिली-भगत के फलस्वरूप ही होती है। व्युत्पत्ति की दृष्टि से इसमें का भगत शब्द विचारणीय है। यह संस्कृत भक्त का बिगड़ा हुआ रूप इसलिए नहीं हो सकता कि इसके पहले 'मिली' विशेषण स्त्रीलिंग हैं। यह संस्कृत 'भक्ति' का भी बिगड़ा हुआ रूप नहीं हो सकता क्योंकि मिली भक्ति का कोई अर्थ नहीं होता। बिहार तथा पूर्वी उत्तर प्रदेश में उक्त प्रकार की ठगी 'भगल' कहलाती है और ऐसी ठगी करनेवालों को भगलिया कहते हैं। आज-कल इन शब्दों का प्रचलन बहुत कम रह गया है, परन्तु हमारा अनुमान है कि इसमें का भगत शब्द उसी प्रकार भगल का बिगड़ा हुआ रूप है, जिस प्रकार भूमिफली, भूमफली और मूमफली से बिगड़ता हुआ रूप हिन्दी का 'मूंगफली' बना है। प्रायः दुराचारों के अड्डों के दलाल भी इसी प्रकार के छल-कपट से बड़े आदमियों के लड़कों को जुआ खेलने में प्रवृत्त करके अथवा शराबी-कबाबी और अय्याश बनाकर अनेक प्रकार से अपना स्वार्थ सिद्ध करते हैं यदि कोई किसी का धोखे से कहीं ले जाकर मार खिलवा दे या उसकी घड़ी और उसके रुपए-पैसे छिनवा दे तो यह भी उसकी **मिली-भगत** कही जाएगी।

'सांठ-गांठ' भी साधारणतः है तो बहुत-कुछ वही जो **'मिली-भगत'** है फिर भी दोनों के प्रकार और स्वरूप में कुछ अन्तर है। इसका स्वरूप बहुत-कुछ आरम्भ या मध्य में ही प्रकट हो जाता या हो सकता है। साठ-गांठ से युक्त आचरण या व्यवहार अधिक समय तक छिपा या दबाकर नहीं रखा जा सकता। दूसरा अन्तर यह भी है कि **'मिली-भगत'** में तो एक पक्ष या व्यक्ति बिल्कुल मौन रहकर या भोला-भाला और सीधा-साधा बनकर सामने आता है और दूसरे व्यक्ति को अपना दुष्ट उद्देश्य सिद्ध करने का अवसर दिलाकर ही अलग हो जाता है। परन्तु 'सात-गांठ' करनेवाले लोग एक दूसरे की थोड़ी बहुत सहायता करते हुए भी दिखाई देते हैं। अगस्त-सितम्बर 1965 में जब पाकिस्तान ने भारत के साथ छेड़-छाड़ करके संघर्ष छेड़ा था तब उसमें बीच-बीच में या रह-रहकर चीन भी कुछ ऐसी कार्रवाइयां करता चलता था जिससे पाकिस्तान को प्रोत्साहन भी मिलता था और सहायता भी। इसीलिए कहा जाता था कि भारत पर पाकिस्तान का आक्रमण चीन की **सांठ-गांठ** से हुआ है। इस पद के पहले शब्द 'साठ' की व्युत्पत्ति भी विचारणीय है। कुछ लोग इसे हिन्दी की अकर्मक क्रिया सटना का भाववाचक रूप मानकर यह अर्थ करते हैं कि किसी के साथ सट कर कोई दुरभिसंधि करना ही **सांठ-गांठ** है। परन्तु यह कल्पना ही है। वस्तुतः यह पद संस्कृत 'शाठ्यग्रन्थि' का अपभ्रष्ट रूप है। जब दो या अधिक शठ मिलकर कोई आपराधिक या दुष्टतापूर्ण आचरण या व्यवहार करते हैं तब उनके संयोग को **'शाठ्यग्रन्थि'** कहते हैं। ××

मिल्कियत- *स्त्री०* (अ०) दे० 'अधिकार और स्वत्व'।

मिस- *पु०* (सं०) दे० 'व्याज, मिस, बहाना और हीला'।

मिसाल- *स्त्री०* (अ०) दे० 'उदाहरण और दृष्टांत'।

मुआवजा- *पु०* (अ० मुआवज:) = प्रतिपूर्ति; दे० 'पूर्ति, अनुपूर्ति, आपूर्ति और प्रतिपूर्ति'।

मुख्य-मंत्री- *पु०* (सं०) दे० 'मंत्रिमंडल और मंत्रिपरिषद्'।

मुनाफ़ा- *पु०* (अ० मुनाफ़:) = लाभ; दे० 'प्राप्ति, लाभ और उपलब्धि'।

मुसीबत- *स्त्री०* (अ०) = विपत्ति दे० 'विपत्ति; और संकट'।

मुहब्बत- *स्त्री०* (अ० मुहब्बत) दे० 'अनुराग, प्रीति, प्रेम और स्नेह'।

190. मूल्य अर्घ कीमत दाम

Price, Value Worth Cost Price

इस वर्ग के शब्द कार्यों, बातों, वस्तुओं, व्यक्तियों आदि के गुरुत्व, महत्त्व आदि के परिमाण के सूचक हैं, चाहे वह परिमाण आर्थिक क्षेत्र का हो, चाहे क्रियात्मक अथवा व्यावहारिक क्षेत्र का हो और चाहे लाक्षणिक रूप में मानसिक क्षेत्र का।

'मूल्य' *पु०* (सं०) अपने आरम्भिक रूप में विशेषण है और इसका पहला अर्थ है–मूल सम्बन्धी अर्थात् जो किसी चीज़ के मूल या जड़ में हो अथवा मूल या जड़ से सम्बन्ध रखता हो। इसका दूसरा अर्थ होता है जो धन देकर (मोल) लिया जा सके। इसी दूसरे अर्थ के आधार पर इसका संज्ञावाला वह अर्थ बना है जिसमें वह आज-कल साधारणतः भारत की प्रायः सभी भाषाओं में प्रचलित है। साधारणतः लोग **मूल्य, दाम** और **अर्घ** को एक दूसरे का पर्याय ही समझते हैं। लोक-व्यवहार में **मूल्य** तथा **दाम** में कोई अन्तर नहीं माना जाता। अं० में इस वर्ग के तीन शब्द हैं - Price, value और worth, Price तो **मूल्य** भी है और **दाम** भी; परन्तु आज-कल लोगों ने **मूल्य** में भाववाला अर्थ भी सम्मिलित कर लिया है, अतः हमारी समझ में 'वर्थ' का भाव सूचित करने के लिए हमें **'अर्घ'** का प्रयोग करना चाहिए। इस दृष्टि से **मूल्य** वह धन तो है ही जो कोई चीज़ खरीदने या बेचने के समय दिया या लिया जाता है; और इसी अर्थ में **दाम** उसका पर्याय है। इसके सिवा कोई चीज़ चाहे खरीदी या बेची न जाती हो, फिर भी हम अनुमान या कल्पना से उसके महत्व का जो परिमाण स्थिर करते हैं; वही उसका **मूल्य** भी माना जाता है। हम कहते हैं–आपके लेखे इस पुस्तक का भले ही कोई **मूल्य** न हो पर हमारे लिए तो यह बहुमूल्य निधि है। अर्थात् हमारी दृष्टि में पुस्तक की जो उपयोगिता और महत्व है वही हमारे लिए उसका **मूल्य** है। इसके सिवा हमं यह भी कहते हैं–बिना पूरा **मूल्य** चुकाए किसी देश को स्वतंत्रता नहीं मिलती। यहां **मूल्य** का आशय धन से नहीं बल्कि स्वार्थ-त्याग पूर्वक पूरा प्रयत्न करने, कष्ट सहने, आत्मबलिदान करने आदि से है। इसके सिवा **मूल्य** में उपयोगिता, महत्ता, श्रेष्ठता आदि तत्त्वों का भी बहुत-कुछ विचार होता है। हम कहते हैं-उन्होंने हमारी सहायता या सेवा का ठीक **मूल्य** नहीं समझा।' आशय यह

होता है कि उसकी ठीक-ठीक उपयोगिता या महत्त्व की ओर उनका ध्यान नहीं गया। उर्दूवाले **मूल्य** के उक्त दोनों अर्थों में **अ० कीमत** का प्रयोग करते हैं।*

'दाम' *पु०* को कुछ लोग फ़ारसी का शब्द समझते हैं। पर वास्तव में यह मूलतः यूनानी 'ड्रैम' से व्युत्पन्न शब्द है। प्राचीन यूनान में चांदी का एक छोटा सिक्का होता था, जो ड्रैम कहलाता था और उसकी तौल या भार भी ड्रैम कहलाता था। इसी से फ़ा० दिरम** और सं० में द्रम्भ बना था। यों तो **दाम** शब्द सं० में भी है, पर उसके अर्थ माला या हार, रस्सी आदि हैं। प्रस्तुत प्रसंग में (मूल्य के अर्थ में) **दाम** संभवतः उक्त सं० 'द्रम्भ' से ही बना है।

हमारे यहां भी **दाम** मूलतः एक छोटा सिक्का ही था, जो एक दमड़ी के तीसरे या एक पैसे के चौबीसवें भाग के बराबर होता था। इसी से 'छदाम' (=6दाम) शब्द बना था जो एक पैसे का चौथाई था और टुकड़ा भी कहलाता था। पर अब **दाम** (सिक्कों आदि के रूप में) वह धन कहलाता है, जो कोई चीज़ लेने के समय बदले में उसके मालिक को दिया जाता है। पहले यह बहुवचन में बोला जाता था; जैसे–'इस चीज़ के कितने **दाम** देने पड़ेंगे' ? आशय यही होता था कि **दाम** नामक कितने सिक्के देने पड़ेंगे। पर अब वह एक वचन में ही चलता है, जैसे 'इस पुस्तक का क्या **दाम** है ?' अथवा 'वह अपने मकान का **दाम** बीस हज़ार मांगता है,' या 'इस भैंस का **दाम** छह सौ रुपए लग चुका है' आदि। जहां खरीद-बिक्री न हो, वहां **दाम** का प्रयोग न तो जल्दी होता ही है और न होना ही चाहिए। यों लोग कह जाते हैं–'आज-कल गेहूं का **दाम** चढ़ गया है।' पर वास्तव में यहां **दाम** की जगह दर या भाव (दे० ये दोनों शब्द यथा-स्थान) शब्द का प्रयोग होना चाहिए, क्योंकि ऐसे अवसरों पर गेहूं की खरीद या बिक्री की कोई बात नहीं होती। हां, अप्रत्यक्ष रूप से उसकी ओर संकेत अवश्य होता है।

'अर्घ' *पु०* (सं०) भी साधारणतः **मूल्य** या **दाम** का पर्याय माना जाता है। इसी **अर्घ** से महार्घ शब्द बनता है जिसका हिं० रूप महंगा हो गया है और जिसका अर्थ है–उचित से अधिक मूल्यवाला। परन्तु हमारी समझ में अं० के Worth का भाव सूचित करने के

---

* आज-कल अं० के अनुकरण पर हमारे यहां **मूल्य** का प्रयोग एक नए और विलक्षण प्रकार से होने लगा है जो हमारी दृष्टि में हिन्दी प्रकृति के प्रतिकूल पड़ता है। अं० के दो मुहावरे हैं - At all costs और At any cost. ऐसे मुहावरों के अनुवाद के समय लोग प्रायः लिखते हैं - सभी मूल्यों पर और किसी मूल्य पर भी। जैसे (क) हम सभी मूल्यों पर उनके साथ सम्मान-जनक रूप में समझौता करने को तैयार हैं। और (ख) देश की रक्षा का विचार किसी मूल्य पर भी छोड़ा नहीं जा सकता। ऐसे अवसरों पर स्वार्थ-त्याग या स्वार्थ-साधन और हानि-लाभ का भाव सूचित करने के लिए लोग मूल्य का प्रयोग कर जाते हैं। हमारी समझ में हिन्दी की प्रकृति के अनुसार उक्त वाक्यों के रूप होने चाहिए - (क) हम सभी प्रकार से उनके साथ सम्मानजनक रूप मे समझौता करने के लिए तैयार हैं और (ख) देश की रक्षा का विचार किसी प्रकार छोड़ा नहीं जा सकता।

** यथा - दिरम ओ दाम अपने पास कहां,
चील के घोंसले में मांस कहां।

लिए यह शब्द बहुत अच्छा और ठीक होगा। ऐसी अवस्था में हमें यह मानना पड़ेगा कि अर्घ मुख्य रूप से स्वयं वस्तु से या उसके संयोजक तत्त्वों से सम्बद्ध होता है। इसमें न तो क्रय-विक्रय, लेन-देन या विनिमयवाला भाव ही है, न महत्त्ववाला तत्त्व ही। यह सदा वस्तु के उन्हीं गुणों या तत्त्वों पर आश्रित होता है जो स्वयं उस वस्तु में निहित या वर्तमान होते हैं। पर इसमें वस्तुओं की उपयोगिता या उनसे प्राप्त-होनेवाली सेवा का विचार अवश्य होता है। मान लीजिए कि आपके पास गुप्तकाल का सोने का ऐसा सिक्का है जो बहुत दुष्प्राप्य है या जिस मेल के सिक्के आज तक बहुत ही थोड़े मिले हैं या मिले ही नहीं हैं। वह सिक्का तोले भर सोने का है। अब इस सिक्के का अर्घ उतना ही होगा, जितने में बाज़ार में एक तोला सोना मिलता है। यदि सोना बाज़ार में सौ रूपए तोला मिलता है, तो उस सिक्के का अर्घ भी सौ रूपए ही होगा, इससे कम या अधिक नहीं। पर सिक्कों का संग्रह करनेवाले लोग (या संग्रहालय) उस सिक्के के भिन्न-भिन्न मूल्य आंक सकते हैं। किसी की दृष्टि में वह हज़ार रुपए मूल्य का हो सकता है। और किसी की दृष्टि में दो हज़ार रूपए मूल्य का। अब यदि वही सिक्का किसी जगह तीन हज़ार रुपयों पर बिके तो यही तीन हज़ार उसका मूल्य या **दाम** कहा जाएगा। अर्थात् अर्घ प्रायः सर्वमान्य और बहुत-कुछ स्थायी होता है और उसमें जल्दी कोई अन्तर नहीं पड़ता, किसी वस्तु का मूल्य, अपनी आवश्यकता, या वस्तु की उपयोगिता और रुचि के अनुसार आंका या लगाया जाता है और **दाम** वह है जो मांगा और लिया-दिया जाता है। पर अर्घ उस उपकरण या तत्त्व की दृष्टि से होता है जिससे कोई वस्तु बनी होती है। ××

मृग-तृष्णा- *स्त्री०* (सं०) दे० 'भ्रम, भ्रांति, मतिभ्रम, विभ्रम और मरीचिका'।

मृग-मरीचिका- *स्त्री०* (सं०) दे० 'भ्रम, भ्रांति, मतिभ्रम, विभ्रम और मरीचिका'।

मेरु-रज्जु- *स्त्री०* (सं०) दे० 'धमनी, नाड़ी, शिरा और स्नायु'।

मौजूद- *वि०* (फ़ा०) दे० 'उपस्थित, प्रस्तुत, वर्तमान और विद्यमान'।

191. यंत्र यंत्रावली, उपकरण औज़ार संयंत्र

Machine Machinery, Apparatus Tool Plant

इस वर्ग के शब्द ऐसी रचनाओं के वाचक हैं जो मनुष्य अपने उद्योग-धंधों में काम में लाने और थोड़े परिश्रम से तथा थोड़े समय में बहुत अधिक या बड़े काम करने अथवा बहुत अधिक मात्रा, मान या संख्या में उपयोगी वस्तुएं तैयार करने के उद्देश्य से बनाता है।

'यंत्र' का पहला और मुख्य अर्थ है–(क) कोई ऐसी चीज़ जो दूसरी चीजों को कस, बांध या रोककर रख सकती हो; और (ख) कोई ऐसी बात जो अनेक प्रकार के कार्यों, बातों आदि को अपने अधिकार या वश में रखकर ठीक तरह से उन्हें चलाती और उनसे तरह-तरह के काम निकालती या लेती हो। प्राचीन भारत में ताले, हथकड़ी, बेड़ी आदि को तो **'यंत्र'** कहते ही थे, डोरी, फीते, रस्से आदि को भी इसलिए **यंत्र** कहते थे कि

उनसे चीज़ें बांधकर और ठीक तरह से रखी जाती थीं। हमारे यहां चिमटे, संड़सी, हथौड़े आदि तक की गिनती भी यंत्रों में ही होती थी। अनेक प्रकार के बाजे आदि तो आज तक वाद्ययंत्र कहलाते हैं। परन्तु आज-कल इसका अर्थ बहुत-कुछ बदल भी गया है और बहुत अधिक विकसित भी हो गया है। आज-कल **यंत्र** मुख्यतः लोहे आदि से बनी हुई किसी ऐसी बड़ी रचना को कहते हैं जिसमें छोटे-बड़े कई प्रकार के चक्कर या पहिए हों; और इसी प्रकार के अनेक और पुरज़े भी लगे हों। ऐसे यन्त्रों की सहायता से बहुत से कठिन काम सहज में और बहुत थोड़े समय में हो जाते हैं, अथवा एक ही तरह की बहुत सी चीज़ें बहुत अधिक मात्रा या संख्या में अपेक्षाकृत थोड़े समय में बनकर तैयार हो जाती हैं। जैसे कपड़े बुनने का यन्त्र, रस निकालने के लिए गन्ना पेरने का यन्त्र, पुस्तकें और समाचार-पत्र छापने का **यंत्र** आदि आदि। हिन्दी में इसे 'कल' तो कहते ही हैं, जैसे तेल पेरने की कल, लकड़ी चीरने की कल आदि; पर कुछ अवसरों पर इसके लिए अंग्रेज़ी का **'मशीन'** शब्द भी चलता है। ऊपर **यंत्र** का जो दूसरा अर्थ बताया गया है, उसके अनुसार और अं० के अनुकरण पर हमारे यहां प्रशासकीय **यंत्र**, शासन-यंत्र सरीखे पदों का भी प्रयोग होने लगा है।

'यंत्रावली' *स्त्री०* (सं० यंत्र + अवली) किसी **यंत्र** से संबंध रखनेवाले और उसके काम में सहायक होनेवाले उसी प्रकार या वर्ग के अनेक यंत्रों को सामूहिक रूप से **यंत्रावली** कहते हैं, जैसे कपड़ा बुननेवाले **यंत्र** के साथ सूत कातने, पूनी बनाने, बने हुए कपड़े रंगने और उन पर कलफ करने तथा तह लगाने के **यंत्र** भी उसके आस-पास रहते हैं। इन्हीं सब यंत्रों को सामूहिक रूप से **यंत्रावली** कहते हैं। इसके सिवा किसी **यंत्र** के सभी चक्कों या पहियों तथा दूसरे कलपुर्ज़ों को भी सामूहिक रूप से **यंत्रावली** ही कहते हैं। इसके सिवा लाक्षणिक रूप से इसमें एक और अर्थ भी सम्मिलित हो गया है। जिन चीज़ों या व्यक्तियों के योग से कोई बड़ा काम ठीक और व्यवस्थित रूप से तथा कोई अभीष्ट उद्देश्य सिद्ध करने के लिए चलाया जाता है उन सबको भी **यंत्रावली** कहते हैं, जैसे (क) शासन या प्रशासन की **यंत्रावली** में कई प्रकार की त्रुटियां और दोष आ गए हैं। (ख) दोनों विरोधी राष्ट्रों में एकता अथवा मित्रता स्थापित करने के लिए नई **यंत्रावली** की व्यवस्था की जानी चाहिए।

'उपकरण' सं० के 'करण' में उप (उपसर्ग) लगने से बना है। 'करण' के कई अर्थों में यह माध्यम या साधन भी है जिसके द्वारा कोई काम पूरा किया जाता हो। इसी आधार पर **उपकरण** मुख्यतः ऐसी चीज़ों को कहते हैं जो कोई वस्तु बनाने में मुख्य रूप से तो नहीं फिर भी गौण रूप से आवश्यक तथा उपयोगी होती हों। परन्तु प्रस्तुत प्रसंग में **उपकरण** कुछ विशिष्ट प्रकार की छोटी कलों या यंत्रों का सूचक है, जैसे पाटा, हल आदि खेती के और आरी, बसुला आदि बढ़इयों के **उपकरण** हैं।

'औज़ार' (अ०) मुख्यतः लकड़ी, लोहे आदि की बनी हुई हर ऐसी चीज़ को कहते हैं जिससे कोई कारीगर अपना काम करते समय सहायक रूप से काम में लाता है। यों **औज़ार** और **उपकरण** में कोई विशेष अन्तर नहीं है फिर भी आज-कल प्रयोग की दृष्टि से दोनों के अर्थों में कुछ अन्तर हो गया है। **औज़ार** मुख्यतः किसी ऐसी एक चीज़ को

कहते हैं जिसके अंग भी बहुत थोड़े हों और जिसमें यांत्रिक जटिलता का भी अभाव हो; जैसे करनी, फावड़ा, हथौड़ा आदि । परन्तु **उपकरण** एक तो उन सभी औज़ारों का सामूहिक नाम है जो किसी एक पेशेवाले के काम में आते हैं, और दूसरे **उपकरण** कई प्रकार के औज़ारों को एक साथ मिलाकर छोटे **यंत्र** के रूप में तैयार किए हुए ढांचे या रचना को भी कहते हैं । इसके सिवा **औज़ार** तो छोटा ही होता और एक ही काम करता है, परन्तु **उपकरण** कुछ बड़े भी होते हैं और कई प्रकार के काम एक साथ भी करते हैं । इनके सिवा उपकरणों में कई प्रकार के छोटे-बड़े अंग और उपांग भी होते हैं और उनके परिचालन के लिए कुछ विशिष्ट प्रकार के प्रशिक्षण की भी आवश्यकता होती है । जल, विद्युत आदि के प्रवाह के मापक तथा इसी प्रकार के और काम करनेवाले छोटे-छोटे यंत्रों की गणना उपकरणों में ही होती है, औज़ारों में नहीं ।

'संयंत्र' सं० **यंत्र** में सं उपसर्ग लगाकर इधर हाल में बनाया हुआ नया शब्द है । आज-कल खाद, बिजली, लोहे आदि के जो बहुत बड़े-बड़े कारखाने बनने लगे हैं उनमें अनेक प्रकार के बहुत से ऐसे छोटे और बड़े यंत्रों की आवश्यकता होती है जो कई तरह के काम करते हैं । ऐसे जो बहुत से **यंत्र** एक साथ और एक स्थान पर लगाये जाते हैं उन्हीं का सामूहिक नाम **संयंत्र** है । यंत्रों के सिवा जिस भूमि पर और जिस भवन या जिन भवनों में ये सब **यंत्र** लगे होते हैं उनका अन्तर्भाव भी **संयंत्र** में ही होता है ! **'संयंत्र'** और 'प्रतिष्ठान' का अंतर जानने के लिए दे० 'संस्था, संस्थान, प्रतिष्ठान और निगम' के अंतर्गत 'प्रतिष्ठान' ।

××

यंत्रणा- *स्त्री०* (सं०) दे० 'पीड़ा, यंत्रणा और यातना' ।

यंत्रावली- *स्त्री०* (सं०) दे० 'यंत्र, यंत्रावली, उपकरण, औज़ार और संयंत्र' ।

यकीन -*पु०* (अ०) दे० 'विश्वास, प्रतीति, प्रत्यय, भरोसा और मान्यता' ।

192. यथार्थ — वास्तविक

Actual — Real

ये दोनों विशेषण इस बात के सूचक हैं कि जो बात कही या बतलाई गई है, अथवा जो विषय हमारे सामने उपस्थित या प्रस्तुत है, वह सचमुच किसी आधार या तथ्य पर आश्रित है । परन्तु इन दोनों के अर्थों या आशयों में जो अंतर है वह इनके व्युत्पत्तिक स्वरूप से ही प्रकट हो सकता है । **यथार्थ** तो यथा और अर्थ के योग से बना है, परन्तु **वास्तविक** का मूल वस्तु में है । अर्थ साधारणतः मतलब या माने का तो वाचक है ही, परन्तु उसके साथ अभिप्राय, आशय, उद्देश्य आदि के भाव भी निहित हैं । **यथार्थ** का शब्दार्थ है–जैसा या जो अर्थ हो ठीक उसके अनुरूप । इसी दृष्टि से इसमें किसी प्रकार की कल्पना, भावना, भावुकता, सन्देह आदि के लिए कोई अवकाश नहीं रहता । हम कहते हैं–**यथार्थ** बात तो यह है कि आपको इस झगड़े में नहीं पड़ना चाहिए । ऐसे अवसरों पर **यथार्थ** की जगह **वास्तविक** का प्रयोग ठीक नहीं होगा । **'यथार्थ बात'** पद इस

बात का सूचक है कि हम बात के शुद्ध और सच्चे रूप पर ज़ोर देते हैं। **'यथार्थ दृष्टि'**, 'यथार्थ वीरता' आदि पद भी इसी बात के सूचक हैं।

अब कुछ और उदाहरण लीजिए। हम कहते हैं–शेर का **वास्तविक** भोजन जंगली पशुओं का मांस ही है। यहां **'वास्तविक'** की जगह **'यथार्थ'** का प्रयोग इसलिए नहीं हो सकता कि शेर मूलतः स्तनपायी जंतु है। फिर हम कहते हैं - हत्या की घटना तो **वास्तविक** है, परन्तु उसका जो विवरण न्यायालय में उपस्थित किया गया है, यह **यथार्थ** नहीं है। आशय यही होता है कि हत्या तो सचमुच हुई परन्तु न्यायालय में उसका विवरण कुछ घटा-बढ़ाकर या तोड़-मरोड़कर उपस्थित किया गया है। यहां भी **यथार्थ** की जगह **'वास्तविक'** या **'वास्तविक'** की जगह **'यथार्थ'** का प्रयोग नहीं हो सकता। फिर हम कहते हैं–(क) अब तो अपने मित्र का **वास्तविक** स्वरूप अच्छी तरह समझ गए होंगे और (ख) हमारे यहां के प्राचीन ऋषि-मुनियों ने आत्मा का **यथार्थ** स्वरूप अच्छी तरह समझ लिया था। इन दोनों उदाहरणों में भी **'वास्तविक'** के स्थान पर **'यथार्थ'** का, और **'यथार्थ'** के स्थान पर **'वास्तविक'** का प्रयोग ठीक नहीं जान पड़ता। अधिक ध्यानपूर्वक देखने से ऐसा जान पड़ता है कि **'यथार्थ'** तो मूलतः व्यक्ति-निष्ठ (Subjective) है; और **'वास्तविक'** वस्तु-निष्ठ (Objective) है। इसके सिवा यह भी पता चलता है कि **'यथार्थ'** का सम्बन्ध तो बहुत-कुछ 'अमूर्त' से और **'वास्तविक'** का सम्बन्ध बहुत कुछ 'मूर्त' से है। आशय के विचार से **'यथार्थ'** जिस गहराई तक पहुंचता है, उस गहराई तक **'वास्तविक'** की पहुंच नहीं दिखाई देती।

एक और उदाहरण लीजिए। हम कहते हैं–अब हमें ऐसी ही योजनाओं को कार्यान्वित करना चाहिए जो **यथार्थ** में देश के लिए लाभदायक या हितकर हों। यहां **'यथार्थ** में' की जगह यदि 'वास्तव में' का प्रयोग किया जाए तो वह बहुत-कुछ हल्का ही प्रतीत होगा। इस सम्बन्ध में यह भी कहा जा सकता है कि **'वास्तविक'** का सम्बन्ध तो ऐसी घटनाओं, स्थितियों आदि से है जो घटित होकर या और किसी प्रकार हमारे सामने आई हों, और जिनका ज्ञान हमें मोटे तौर पर अथवा स्थूल दृष्टि से होता है। परन्तु **यथार्थ** का सम्बन्ध ऐसे तथ्यों से है जो हमें गहन तथा सूक्ष्म विचार करने पर ही दिखाई देते हैं। अर्थात् **'वास्तविक'** तो ऊपरी स्तर का शब्द है और **'यथार्थ'** भीतरी स्तर का। **यथार्थ** का आधार सदा तात्त्विक, दार्शनिक या सैद्धांतिक होता है, पर **वास्तविक** केवल घटना, अस्तित्व या ऐसी ही और किसी बात पर आश्रित होता है। ××

यथार्थवाद- *पु०* (सं०) दे० 'आदर्शवाद और यथार्थवाद'।

यथेष्ट- *वि०* (सं०) दे० 'पर्याय और यथेष्ट'।

यश- *पु०* (सं०) दे० 'कीर्ति, यश और श्रेय'।

याचना- *पु०* (सं०) दे० 'विनति', प्रार्थना, याचना, निवेदन, आवेदन, अभिवेदन और प्रतिवेदन'।

याचिका- *पु०* (सं०) दे० 'विनति, प्रार्थना, याचना, निवेदन, आवेदन, अभिवेदन और प्रतिवेदन'।

यातना- *स्त्री०* (सं०) दे० 'पीड़ा, यंत्रणा और यातना' ।

यातायात- *पु०* (सं०) दे० 'परिवहन, यातायात, संचार, पारेषण, दूर-संचार और भू-संचार' ।

युक्तिसंगत- *वि०* (सं०) दे० 'तर्क-संगत और युक्तिसंगत' ।

युग- *पु०* (सं०) दे० 'कल्प और युग' ।

193. युद्धविराम — विरामसंधि

Armistice, Ceasefire — Truce

ये दोनों पद आपस में होनेवाली लड़ाई या वैर-विरोध कुछ समय तक रोक देने या स्थगित करने के वाचक हैं । **युद्धविराम** का प्रयोग राजकीय क्षेत्र में आपस में युद्ध करनेवालों के सम्बन्ध में होता है । कुछ अवसरों पर किसी विशेष कारण-वश दोनों पक्ष आपस में बातचीत करके यह निश्चय कर लेते हैं कि अभी कुछ समय के लिए लड़ाई रोक देंगे और हथियार रख देंगे । ऐसा या तो त्यौहार अथवा पर्व मनाने के लिए होता है या सन्धि की बातचीत चलाने के लिए । इसका यह अर्थ नहीं होता कि युद्ध सदा के लिए समाप्त हो गया । इसकी जो अवधि पहले से निश्चित होती है उसके समाप्त हो जाने पर भी लड़ाई छिड़ सकती है और जो शर्तें पहले से निश्चित हुई थीं, उनका पालन न होने पर भी युद्ध फिर से आरम्भ हो सकता है । हां, यदि इस बीच में दोनों पक्षों में पक्की संधि हो जाय तो युद्ध अवश्य समाप्त हो जाता है । हमारे यहां महाभारत काल में यह स्थिति सूचित करने के लिए 'अवहार' का प्रयोग होता था ।

'विरामसन्धि' का क्षेत्र अपेक्षया अधिक विस्तृत और व्यापक होता है । इसमें युद्ध-विराम का अन्तर्भाव तो होता ही है, साथ ही इसका प्रयोग औद्योगिक, राजनीतिक, सामाजिक आदि झगड़े-बखेड़े के सम्बन्ध में भी होता है । 'विराम-सन्धि' प्रायः इस आशा से की जाती है कि दोनों पक्षों में निपटारे का कोई रास्ता निकल सकता है, और ऐसा रास्ता निकालने के लिए प्रयास भी किया जाता है । ××

194. योजना — परियोजना — प्रायोजना — संयोजना

Plan — Scheme — Project — Measure

इस वर्ग के शब्द ऐसी कार्य-प्रणाली, रूप-रेखा आदि के सूचक हैं जो हम कोई उद्दिष्ट कार्य आरम्भ करने से पहले सोच-समझकर स्थिर करते हैं । इनमें से योजना तो हमारे यहां का प्राचीन शब्द है; पर शेष दोनों शब्द कुछ विशिष्ट अर्थ और प्रकार सूचित करने के लिए बना लिए गए हैं ।

'योजना' *स्त्री०* (सं०) का मूल अर्थ है–मेल या योग । पर आगे चलकर इसमें बनावट या रचना, प्रबन्ध या व्यवस्था आदि कुछ और अर्थ भी लग गए हैं । परन्तु **योजना**

का मुख्य अर्थ है–कोई बड़ा काम करने या बड़ी चीज़ बनाने से पहले उसके सभी अंगों और उपांगों का अच्छी तरह विचार करके उसकी ऐसी रूप-रेखा प्रस्तुत करना जिससे उसका सारा चित्र या दृश्य हमें स्पष्ट हो जाए। इसके अमूर्त और मूर्त दोनों रूप होते हैं। हम मन ही मन यह भी स्थिर कर लेते हैं कि हम इस यात्रा में अमुक रास्ते से किन-किन जगहों में जाएंगे, हर जगह कितने दिन बितावेंगे, क्या-क्या करेंगे और क्या-क्या देखेंगे। पर कुछ अवस्थाओं में हमें अपने ऐसे निश्चयों और विचारों को अधिक स्पष्ट करने के लिए कागज़ों आदि पर अंकित भी करना पड़ता है। कोई नया नगर बसाने, नया मकान बनवाने, नए यंत्रों आदि से युक्त कोई कल-कारखाना बनाने के पहले उसका जो चित्र बनाया जाता है वह भी इसी के अंतर्गत आता है। आज-कल के अर्थ-प्रधान युग में दिन पर दिन बढ़ती हुई प्रतियोगिताओं और संघर्षों को देखते हुए राष्ट्रों को अपनी उन्नति और सुरक्षा के लिए अनेक प्रकार की योजनाएं बनानी पड़ती हैं। उन्हें सोचना पड़ता है कि कृषि की उन्नति किस प्रकार की जाय। अकालों, बाढ़ों, महामारियों आदि से जनता की रक्षा कैसे की जाए; उद्योग-व्यापार बढ़ाकर देश को किस प्रकार अग्रसर और सम्पन्न किया जाय; किन-किन शत्रुओं से अपनी रक्षा करने के लिए कौन-कौन से साधन प्रस्तुत किए जाएं; जनता में विज्ञान और शिक्षा के प्रचार के लिए क्या-क्या उपाय किए जाएं; आदि-आदि। सारांश यह कि अपनी सभी आवश्यकताओं की पूर्ति और उद्देश्यों की सिद्धि के लिए सुनियोजित और सुव्यवस्थित रूप से सोच-समझकर जितनी बातें स्थिर की जाती हैं और उनके लिए जो कार्यक्रम बनाए जाते हैं, उन सबका अन्तर्भाव इसी **योजना** में होता है।

'परियोजना' *स्त्री०* (सं०) किसी बड़ी **योजना** के विशिष्ट अंग या विभाग का सूचक शब्द है। **योजना** में तो सभी तरह के कार्यों और बातों का समावेश होता है; परन्तु **परियोजना** उनमें से किसी एक काम या बात को कहते हैं। **योजना** बनती है कि अमुक स्थान पर कोई बड़ा बांध बंधेगा; और उससे कई दिशाओं में नहरें निकाली जाएंगी, अमुक नहर से अमुक क्षेत्र में सिंचाई की व्यवस्था होगी, अमुक नहर से अमुक क्षेत्र में पन-बिजली पैदा करनेवाले इतने कारखाने बनाए जाएंगे और अमुक नहर का पानी उधर के कारखानों और उनमें काम करनेवाले लोगों के उपयोग में आएगा। इस प्रकार एक ही **योजना** में अनेक परियोजनाएं होती और हो सकती हैं।

'प्रायोजना' *स्त्री०* (सं०) इसी **परियोजना** की प्रत्येक स्वतंत्र इकाई सूचित करने के लिए बनाया हुआ शब्द है। **योजना** और **परियोजना** के आधार बहुत-कुछ काल्पनिक या मानसिक भी हो सकते हैं; परन्तु **प्रायोजना** मुख्यतः प्रत्यक्ष कार्य-क्षेत्र से संबद्ध होती है। इसीलिए इसमें अध्यवसाय, प्रयास, साधन आदि का विशिष्ट विचार भी अन्तर्भुक्त होता है। हम कहते हैं–शहर का गन्दा पानी या मल-मूत्र निकालने की एक नई **प्रायोजना** का कार्य आरम्भ हो चुका है अथवा अमुक स्थान पर दुग्धशाला और रासायनिक खाद तैयार करनेवाली प्रायोजनाएं पूरी हो चली हैं। ऐसे सभी अवसरों पर इससे कोई स्वतंत्र इकाई सूचित होती है।

परियोजना और **प्रायोजना** का न तो अभी तक लोगों की दृष्टि में ठीक अन्तर ही

आया है और न स्पष्ट रूप ही। इसीलिए इन दोनों शब्दों का काम भी लोग प्रायः 'योजना' से ही चला लेते हैं।*

'संयोजना' *स्त्री०* (सं०) संयोजन का *स्त्री०* रूप है। संयोजन का आरम्भिक अर्थ है–दो या कई चीज़ों को आपस में जोड़ना, मिलाना या संयुक्त करना। इसके कई परवर्ती अर्थों में एक अर्थ किसी कार्य का आयोजन, उपक्रम, प्रबन्ध या व्यवस्था करना भी है। इसी आधार पर आज-कल इसका प्रयोग अं० के (Measure) का मुख्य भाव सूचित करने के लिए होने लगा है। हम कोई कार्य आरम्भ करके अन्त तक पहुंचाना या पूरा करना चाहते हैं; और उसके लिए कुछ क्रम या नीति निर्धारित करते हैं। इसके लिए हम जो उपाय या साधन सोचते हैं, उसी के किसी विशिष्ट अंग या अंश से सम्बन्ध रखनेवाला सारा आयोजन, कार्यक्रम और रूपरेखा पारिभाषिक क्षेत्र में संयोजन कहलाती है। मान लीजिए कि कहीं भीषण अकाल पड़ा है वहां लोगों को न तो खाने के लिए अन्न मिलता है, न पीने के लिए पानी, न पशुओं के लिए चारा। ये तीनों काम पूरा करने के लिए राज्य को अलग-अलग प्रकार के कार्यक्रम और अलग-अलग प्रकार की व्यवस्थाएं करनी पड़ती हैं। ऐसे प्रत्येक कार्यक्रम और व्यवस्था की गिनती अलग-अलग **संयोजना** में होती है। कहा जा सकता है कि इनमें से अमुक **संयोजना** ठीक तरह से चलाने की सारी व्यवस्था हो चुकी है; या अमुक **संयोजना** ठीक तरह से कार्यान्वित होने लगी है। इस शब्द का यह आशय व्यक्त करने के लिए हिन्दी में बहुत दिनों से कार्रवाई (फ़ा०) का प्रयोग होता आया है। यदि इस काम के लिए किसी आदेश या विधान की आवश्यकता होती है तो वह आदेश या विधान भी **संयोजना** कहलाता है। इसके कई प्रकार या रूप हो सकते हैं। कहा जा सकता है–हमें अमुक उद्देश्य की सिद्धि के लिए कई प्रकार की संयोजनाएं ग्रहण करनी पड़ेंगी, जिनमें से कुछ राजनीतिक होंगी, कुछ विधिक होंगी और कुछ सामयिक।

××

रंगमंच- *पु०* (सं०) दे० 'मंच, मंचशील, रंग-मंच और वाग्पीठ'।

रंज- *पु०* (फा०) दे० 'दुःख, खेद, विषाद और शोक'।

रक्षण- *पु०* (सं०) = रक्षा।

---

* योजना, परियोजना, प्रायोजना अथवा इसी प्रकार के किसी और बहुत बड़े काम के भिन्न-भिन्न अंगों या चरणों को व्यवस्थित रूप से चलाने के लिए पहले से ही जो क्रम, प्रकार और समय निरूपित किया जाता है, उसे अं० में Schedule कहते हैं। इस अर्थ में Schedule का समानक मेरी समझ में अनुयोजन या अनुयोजना रखना अधिक उपयुक्त और सार्थक होगा। इसके विशेष विवेचन के लिए दे० 'सूची, अनुसूची, तालिका, अनुक्रमणिका और सारणी'।

195.	**रक्षा**	**आरक्षण**	**आरक्षा**	
	Guarding	Reservation	Preservation	
	Safe-guarding		Conservation	
	Defence			
	परिरक्षा	**प्रतिरक्षा**	**संरक्षा**	**सुरक्षा**
	Protection	Defence	Protection	Safety
			Patronage	Security

इस वर्ग के शब्द ऐसी क्रियाओं के वाचक हैं जो किसी वस्तु या व्यक्ति को बाहरी आक्रमणों, हानियों आदि से बचाकर ठीक अवस्था में रखने के लिए की जाती हैं।

'रक्षा' *स्त्री०* (सं०) का मुख्य अर्थ है देख-भाल आदि करते हुए इस बात का पूरा ध्यान रखना कि किसी प्रकार की क्षति, नाश या हानि न होने पावे। यह मुख्यतः चौकस रहकर रखवाली करते रहना ही है। बच्चों के अभिभावक, शिक्षक आदि आपत्तियों से भी और कुमार्ग में जाने से भी उनकी **रक्षा** करते हैं, सीमा के रक्षक इस बात का ध्यान रखते हैं कि शत्रु सेना का कोई आदमी इस ओर आकर कोई उपद्रव न करे, राष्ट्रपति या बड़े-बड़े शासकों के अंगों या शरीर की **रक्षा** करने के लिए उनके साथ अंग-रक्षक (Body guard) रहते हैं। लाक्षणिक रूप में इसका प्रयोग अमूर्त बातों या विचारों के संबंध में भी होता है; जैसे धर्म-रक्षा, स्वास्थ्य **रक्षा** आदि। अर्थ की दृष्टि से यह इतना व्यापक है कि इसमें इस वर्ग के प्रायः सभी शब्दों का अन्तर्भाव होता है। कुछ लोग इसके स्थान पर हिफाजत *स्त्री०* (अ०) का भी प्रयोग करते हैं। आज-कल इसका प्रयोग कुछ नए क्षेत्रों में और नए अर्थों में भी होने लगा है, जैसे (क) आपको अपनी प्रतिज्ञा (या वचन) की **रक्षा** करनी चाहिए; अर्थात् उसका पालन करना चाहिए या उसके अनुसार कार्य करना चाहिए; और (ख) मैं इस समय आपके अनुरोध (या आग्रह) की **रक्षा** करने में असमर्थ हूं; अर्थात् अभी मैं उसका पालन नहीं कर सकूंगा या उसके अनुसार कार्य न कर सकूंगा।

'आरक्षा' *स्त्री०* (सं०) का मुख्य अर्थ है–अच्छी या पूरी तरह से और हर प्रकार से की जानेवाली **रक्षा**। इसमें मुख्य भाव किसी चीज़ को इस प्रकार बचाकर रखना है कि उसमें कोई दोष या विकार उत्पन्न न होने पावे और जहां तक हो सके, वह ज्यों की त्यों बनी रहे और काम देती रहे। अनेक फल और वनस्पतियां कुछ विशिष्ट वैज्ञानिक ढंगों से इस प्रकार आरक्षित (Preserved) रखी जाती हैं कि उनके गुण, स्वाद आदि महीनों और बरसों तक प्रायः ज्यों की त्यों बनी रहती हैं। वनों आदि में जो आरक्षक (Conservater) नियुक्त होते हैं उन्हें इस बात का ध्यान रखना पड़ता है कि बाहरी आदमी या जानवर आकर वृक्षों को नष्ट-भ्रष्ट न करें।

'आरक्षण' *पु०* (सं०) भी है तो मूलतः **आरक्षा** का ही दूसरा रूप; परन्तु आज-कल

इसका प्रयोग अंग्रेज़ी के (Reservation) का भाव सूचित करने के लिए होने लगा है। जब किसी कार्य, नियम, स्थान आदि की कोई सीमा किसी निश्चित उद्देश्य से अथवा किसी विशिष्ट व्यक्ति के लिए निर्धारित कर दी जाती है, तब ऐसा ही निर्धारण आज-कल **आरक्षण** कहलाता है। प्रेक्षागृहों, रेलों आदि में विशिष्ट प्रकार का शुल्क देने पर दर्शकों, यात्रियों आदि के बैठने के लिए स्थान आदि का जो निर्धारण होता है वही आज-कल **आरक्षण** कहलाता है। इसी प्रकार राजकीय सेवाओं आदि में कुछ विशिष्ट योग्यतावाले व्यक्तियों अथवा कुछ विशिष्ट वर्गों के लोगों के लिए जो पद या स्थान नियत किए जाते या होते हैं उन्हें भी आरक्षण ही कहते हैं, जैसे (क) प्रशासनिक क्षेत्र में दस स्थान अल्पमत वालों के लिए अथवा दलित वर्ग के लोगों के लिए आरक्षित रखने का एक नया नियम भी बन गया है और (ख) शासन ने 90 लाख मन अनाज अपने भंडार में आपातिक स्थितियों में काम चलाने के लिए आरक्षित रखा है।

'परिरक्षा' *स्त्री०* (सं०) का आरम्भिक अर्थ भी बहुत-कुछ वही है जो ऊपर 'आरक्षा' में बतलाया गया है। भारत सरकार ने (Preservation) के लिए परिरक्षण (या परिरक्षा) रखा है परन्तु यह तो हमारी दृष्टि में Protection के लिए अधिक उपयुक्त है। मानियर विलियम्स ने परिरक्षा के कई अर्थों में एक अर्थ Protect (by rule or Govern) भी दिया है; और इसी आधार पर हमने भी इसे Protection का समार्थक माना है। **परिरक्षा** में मुख्य भाव बाहरी संकटों आदि से बचाकर रखने का है। कुछ दिन पहले तक ब्रिटिश साम्राज्य में कई ऐसे छोटे-मोटे देश या राज्य थे जो Protectorate कहलाते थे; और जिन्हें हम परिरक्षित राज्य कह सकते हैं।* ऐसे राज्य आर्थिक, सामाजिक आदि दृष्टियों से बहुत-कुछ असमर्थ तथा दुर्बल होते थे; और इसीलिए प्रबल ब्रिटिश साम्राज्य उनकी **परिरक्षा** करता था—और बाहरी आक्रमणों और शत्रुओं से उन्हें बचाये रखता था।

'प्रतिरक्षा' *स्त्री०* (सं०) बहुत ही प्रचलित और प्रसिद्ध शब्द है। विरोधियों और शत्रुओं के सभी प्रकार के आक्रमणों और आघातों से अपने रक्षा करना ही वस्तुतः **प्रतिरक्षा** है। इस दृष्टि से अपने बचाव के लिए जितने कार्य अथवा व्यवहार किए जाते हैं उनका तो इसमें अन्तर्भाव होता ही है। इसके सिवा लड़-भिड़कर सभी प्रकार के समुचित उपाय करना अथवा पूरी शक्ति से सामना करना और अपने ऊपर होनेवाले आक्रमणों का प्रतिकार भी इसी में आता है। प्रायः सभी राज्यों में किसी मंत्री के अधिकार में **प्रतिरक्षा** विभाग भी होता है जिस पर बाहरी आक्रमणों से देश की रक्षा करने का उत्तरदायित्व तथा भार होता है।

'संरक्षा' *स्त्री०* (सं०) का शब्दार्थ है—अच्छी तरह और ध्यानपूर्वक की जानेवाली रक्षा। भारत सरकार ने इसे Conservation का समार्थक माना है। परन्तु हमारे यहां बहुत दिनों से संरक्षण या 'सरंक्षा' का प्रयोग Patronage के अर्थ में होता आया है; और

---

* इधर बहुत दिनों से हिन्दी में Protection के लिए संरक्षण या संरक्षा का ही प्रचलन था; परन्तु उक्त आधार पर अब इसकी जगह परिरक्षा का प्रयोग भी अधिक उपयुक्त और ठीक होगा।

इसी आधार पर संस्थाओं आदि के Patron हमारे यहां संरक्षक कहे जाते हैं। इसके सिवा मानियर विलियम्स ने भी संरक्षक को Guardian कहा है, जिसका समार्थक हमारे यहां अभिभावक प्रचलित है। संरक्षा में मुख्य भाव किसी ऊंची स्थिति में रहकर दूर से यह देखते रहने का है कि कहीं कोई खराबी या गड़बड़ी न होने पावे; और यदि हो तो वह यथा-साध्य तुरन्त और सहज में दूर की जा सके।

'सुरक्षा' *स्त्री०* (सं०) का मुख्य अर्थ अच्छी तरह से की जानेवाली रक्षा ही है। परन्तु हिन्दी में यह मुख्य रूप से दो विवक्षाओं से युक्त हो गया है। एक तो इसमें किसी वस्तु या व्यक्ति का क्षति, जोखिम या हानि से बचे रहकर ज्यों के त्यों बने रहने का भाव प्रधान है; और इस दृष्टि से कुशल-क्षेम की स्थिति को **'सुरक्षा'** कहते हैं, जैसे (क) इन बच्चों को सुरक्षापूर्वक घर पहुंचा दो। (ख) उन्होंने अपने सब मूल्यवान् कागज-पत्र बैंक में रख दिए हैं जहां वे सुरक्षापूर्वक पड़े रहेंगे। और (ग) अब तो जंगली और पहाड़ी प्रदेशों के निवासियों की **सुरक्षा** का भी पूरा प्रबन्ध हो गया है (अर्थात् जंगली जानवरों, डाकुओं आदि से भी उन्हें बचाने की व्यवस्था हो गई है।) दूसरे **सुरक्षा** ऐसी रक्षा-व्यवस्था की भी सूचक है जिसमें लोग यह समझकर निश्चिंत रहें कि हमारे सुख और सुभीते में कोई बाधा नहीं होने पावेगी और कोई हमारा अपकार अथवा हानि नहीं कर सकेगा। सीमाओं पर जो **सुरक्षा** सेनाएं रखी जाती हैं उनका उद्देश्य यही होता है कि देशवासी बाहरी शत्रुओं की ओर से निर्भय तथा निश्चिंत रहें। राष्ट्रसंघ की **सुरक्षा** परिषद् भी यथासाध्य इस बात का ध्यान रखती और प्रबन्ध करती है कि कोई राष्ट्र दूसरे राष्ट्रों को आतंकित न कर सके अथवा संसार की सुख-शांति में बाधक न हो सके। तात्पर्य यह कि इसमें कुशल-क्षेम के सम्बन्ध में होनेवाली निश्चिंतता का भाव प्रधान है।

रक्षा का एक दूसरा रूप रक्षण भी होता है जो उसके सभी यौगिक पदों में लगता और लग सकता है; जैसे प्रतिरक्षण, संरक्षण, सुरक्षण आदि।

रग- *स्त्री०* (फ़ा०) दे० 'नस और रग'।

रचना- *स्त्री०* (सं०) दे० 'उत्पादन, निर्माण, प्रस्तुतीकरण, रचना और संरचना'।

रचयिता- *पु०* (सं०) दे० 'उत्पादन, निर्माण, प्रस्तुतीकरण, रचना और संरचना'।

रहस्य- *पु०* (सं०) 'भेद, रहस्य और समस्या'।

रहस्यवाद- *पु०* (सं०) दे० 'छायावाद और रहस्यवाद'।

196. राजतंत्र कूटनीति राजनय राजनीति

Polity Diplomacy Politics

'राजतंत्र' का मूल अर्थ है—राजा या शासन। परन्तु अपने परवर्ती और विकसित अर्थ में यह भिन्न-भिन्न जातियों, देशों आदि की ऐसी शासन प्रणालियों का वाचक है जो किसी विशिष्ट प्रकार, व्यवस्था, संविधान आदि के आधार पर स्थापित हों। उदाहरणार्थ अधिनायकतंत्र, कुलतंत्र, गणतंत्र, धर्मतंत्र, पुरोहित तंत्र, लोकतंत्र, समाजवादीतंत्र आदि

सभी अलग-अलग प्रकार के राजतंत्र हैं।

संस्कृत में नय और नीति दोनों 'नी' धातु से बने हुए दो अलग-अलग शब्द हैं, फिर भी दोनों के मुख्य अर्थ बहुत-कुछ एक ही हैं। इनका मूल और व्युत्पत्तिक अर्थ है—किसी को किसी ओर ले चलना या ले जाना, अथवा मार्ग प्रदर्शन करना आदि। परन्तु आगे चलकर इनमें जो प्रचलित और प्रसिद्ध अर्थ विकसित हुआ है वह है—ठीक तरह से और समझ-बूझकर आचरण या व्यवहार करना। दोनों में मूल भाव है—उचित या ठीक रास्ते पर चलने-चलाने का। **'राजनीति'** तो हमारे यहां का बहुत पुराना शब्द है ही। यह उन नियमों, पद्धतियों, विधानों आदि का वाचक है जिनके अनुसार कोई राजा या राज्य अपने देश का शासन-कार्य चलाता है। अंग्रेज़ी में इसका पर्याय पॉलिटिक्स (Politics) है। **'राजनय'** भी हमारे यहां प्रायः **राजनीति** के अर्थ में प्रचलित था और दोनों में कोई विशेष आर्थी अन्तर नहीं माना जाता था। परन्तु आज-कल अंग्रेज़ी के डिप्लोमेसी (Diplomacy) का एक नया दृष्टिकोण और नया भाव भी हमारे सामने आ गया है। इस आधार पर **राजनीति** में तो ऊपर बतलाया हुआ पुराना अर्थ रहने दिया गया है, परन्तु **राजनय** में एक नया अर्थ या भाव सम्मिलित कर दिया गया है। अब **राजनय** उन विचारों और सिद्धांतों का वाचक हो गया है जिनके आधार पर कोई राज्य या राष्ट्र दूसरे राज्यों या राष्ट्रों के साथ अपने राजनीतिक, व्यापारिक, व्यावहारिक आदि सम्बन्ध स्थिर करता; और उनके साथ मेल-जोल या समझौते करता है। सारांश यह कि **राजनीति** तो अपने देश के शासन से सम्बद्ध है; और **राजनय** राज्यों के पारस्परिक सम्बन्धों का वाचक हो गया है। प्राचीन काल में हमारे यहां राज्यों के पारस्परिक व्यवहार में जिस नीति का प्रयोग होता था उसे **'कूटनीति'** कहते थे। इसमें का कूट शब्द बहुत-कुछ छल-कपट, दांव-पेच आदि की छाया से युक्त है। परन्तु राज्यों के पारस्परिक व्यवहार और सम्बन्ध भले ही अन्दर से चाहे जैसे हों, परन्तु ऊपर से दिखलाने के लिए उनका स्वरूप विशुद्ध और सद्भावपूर्ण ही रखा जाता है। इसी दृष्टि से इस प्रसंग में **कूटनीति** का प्रयोग त्याज्य समझा गया है और उसका स्थान **राजनय** को मिल गया है। ××

राजनीति- *स्त्री०* (सं०) दे० 'राजतंत्र, राजनय और राजनीति'।

राज-हत्या- *स्त्री०* (सं०) दे० 'हत्या, हनन, मारण, वध और संहार'।

राज्य-मंत्री- *पु०* (सं०) दे० 'मंत्रि-मंडल और मंत्रि-परिषद्'।

राज्य-सभा- *स्त्री०* (सं०) दे० 'विधायिका और सदन'।

राडार- *पु०* दे० 'रैडार'।

राष्ट्रकुल- *पु०* (सं०) दे० 'संघ, परिसंघ और राष्ट्रमंडल'।

राष्ट्र-मंडल- *पु०* (सं०) दे० 'संघ, परिसंघ और राष्ट्रमंडल'।

रिपुता- *स्त्री०* (सं०) दे० 'वैमनस्य, ईर्ष्या, द्वेष, शत्रुता, वैर और रिपुता'।

रिश्ता- *पु०* (फ़ा० रिश्तः) = सम्बन्ध; दे० 'संपर्क और सम्बन्ध'।

रिश्तेदारी- *स्त्री०* (फ़ा० रिश्तःदार) = सम्बन्ध; दे० 'सम्पर्क और सम्बन्ध'।

197. रीति प्रथा रूढ़ि

Manner Mode Custom Traditional usage

इस वर्ग के शब्द मुख्यतः आचरण, उपयोग, प्रयोग, व्यवहार आदि के ऐसे नियमित और निश्चित प्रकारों या रूपों के वाचक हैं जिनका प्रचलन लोक या समाज में बहुत दिनों से होता आ रहा है।

'रीति' *स्त्री०* (सं०) का आरम्भिक अर्थ है–गमन, चलना या जाना। इसी गतिवाले अर्थ के आधार पर आगे चलकर यह पानी की धारा या बहाव का भी वाचक हो गया था और आगे बढ़ने पर इसका अर्थ मार्ग या रास्ता भी हो गया था। आज-कल यह शब्द जिन मुख्य अर्थों में प्रचलित है, उनमें मूल तत्त्व किसी कार्य या व्यवहार में आगे बढ़ने का तो है ही; पर आगे बढ़ने के ढंग, प्रकार, रूप आदि से सम्बन्ध रखनेवाली कई विवक्षाएं भी इसमें लग गई हैं। यह शब्द काम करने के ढंग या प्रकार का सूचक तो है ही; पर वह ढंग या प्रकार नियमित, परम्परागत और समाज में प्रायः मान्य भी होता है। इसमें भावात्मक आधार पर नियमित और निश्चित नियमों और परम्पराओं का निष्ठापूर्वक अनुसरण तथा पालन होता है, जैसे-

रघुकुल **रीति** सदा चलि आई।
प्रान जाहिं पर बचन न जाई॥

धार्मिक और सामाजिक क्षेत्रों में ऐसी बहुत सी रीतियां देखने में आती हैं जिनका लोग बिना कोई आपत्ति या प्रश्न किए पालन करते चलते हैं। प्राचीन भारत में बोलने, लिखने आदि की कुछ ऐसी विशिष्ट शैलियां प्रचलित थीं, जिनमें ओज, प्रसाद आदि गुण यथेष्ट मात्रा में होते थे; और इसीलिए वे शैलियां अनुकरणीय, आदर्श अथवा मान्य समझी जाती थीं। ऐसी शैलियां गौडी, पांचाली, मागधी, लाटी आदि कहलाती थीं; और ऐसी प्रत्येक शैली एक स्वतंत्र **रीति** कहलाती थी। इससे और आगे बढ़ने पर मध्य युग में हिन्दी काव्य-रचना भी एक विशिष्ट प्रणाली बन गई थी। यह प्रणाली आचार्यों द्वारा निरूपित शास्त्रीय नियमों, लक्षणों, सिद्धांतों आदि पर आश्रित होती थी और इसमें अलंकार, ध्वनि, पिंगल, रस आदि के नियमों और सिद्धांतों का पूरा-पूरा ध्यान रखा और पालन किया जाता था। इस प्रकार जिन काव्यों की रचना होती थी, उन्हें आज भी हम रीति-काव्य कहते हैं; और जिस काल में ऐसे काव्य रचे जाते थे, वह आज भी **रीति** काल कहलाता है।

'प्रथा' *स्त्री०* (सं०) का पहला अर्थ ख्याति या प्रसिद्धि है; और परवर्ती अर्थ नियम, पार्थक्य आदि हैं। किसी विशिष्ट जाति, देश, समाज आदि में कुछ ऐसी विशिष्ट परिपाटियां या रीतियां होती हैं जिनका प्रचलन प्रायः उन्हीं के क्षेत्र तक सीमित रहता है। **प्रथा** प्रायः परम्परागत होती है; और उसका उल्लंघन अनुचित तथा निंदनीय माना जाता है, जैसे (क) ईसाइयों और मुसलमानों में मृत शरीर गाड़ने की **प्रथा** है और हिन्दुओं में जलाने की; (ख) प्रायः सभी जातियों और समाजों में कन्या के विवाह के समय दहेज देने

की **प्रथा** है; पर कुछ ऐसी जातियां भी हैं जिनमें वर-पक्ष के लोग कन्या के पिता को कुछ धन देकर उनकी कन्या लेते हैं। कुछ अवस्थाओं में पुरानी प्रथाएं नष्ट या समाप्त भी हो जाती हैं; और उनका स्थान नई प्रथाएं लेती हैं। आज-कल मुसलमान और हिन्दू स्त्रियों में पर्दे की और बाल-विवाह की प्रथाएं उठती जा रही हैं; और उनका स्थान कुछ नई प्रथाएं ले रही हैं।

'रूढ़ि' *स्त्री०* (सं०) के पुराने अर्थ हैं - उगना या उदित होना, चढ़ाई या चढ़ाव, बढ़ना या विकसित होना आदि। परन्तु अब ये सब अर्थ बिल्कुल छूट गए हैं। प्रस्तुत प्रसंग में हम रूढ़ि को परिपाटी, **प्रथा** या **रीति** का एक विशिष्ट प्रकार या रूप ही कह सकते हैं। इसकी दो मुख्य विशेषताएं हैं एक तो यह कि इसका आरम्भ ऐसे पूर्वकाल से माना जाता है जिसका इतिहास आदि में कुछ भी पता न चलता हो और दूसरे इसके मूल में या तो कोई नियम, विधान या सिद्धांत होता ही नहीं; और यदि हो भी तो उसकी किसी को जानकारी नहीं होती। इसकी मान्यता का एक मात्र आधार यही होता है कि यह बहुत प्राचीन काल से और बहुत-कुछ एक रूप में चली आई हुई होती है। भाषा में कुछ ऐसे पुराने प्रयोग और शब्द भी होते हैं जो उक्त रूप में बहुत प्राचीन और परम्परागत होते हैं। ऐसे प्रयोग और शब्द तथा उनके अर्थ आदि लोक में बहुत प्राचीन और परम्परागत माने जाते हैं। इसी आधार पर व्याकरण में वह तत्त्व या शब्द-शक्ति भी 'रूढ़ि' कहलाती है। जिससे उनके प्रचलित और प्रसिद्ध अर्थ या आशय का ज्ञान होता है।

इस कोटि के और शब्दों के विवेचन के लिए दे० 'पद्धति, परिपाटी और प्रणाली'।

××

रुकना- *अ०* (हिं०) दे० 'टिकना, ठहरना, थमना और रुकना'।

रुकावट- *स्त्री०* (हिं० रुकना) दे० 'रोध, अवरोध, गत्यवरोध, निरोध, प्रतिरोध और विरोध'।

रूढ़ि- *स्त्री०* (सं०) दे० 'रीति, प्रथा और रूढ़ि'।

रुचि- *स्त्री०* (सं०) दे० 'वृत्ति, अभिवृत्ति, प्रवृत्ति, मनोवृत्ति और रुचि'।

रुधिर-वाहिका- *स्त्री०* (सं०) = शिरा; दे० 'धमनी, नाड़ी, शिरा और स्नायु'।

रोक- *स्त्री०* (हिं० रोकना) = रुकावट।

रोकथाम- *स्त्री०* (हिं० रोकना + थामना) = निवारण; दे० 'वारण, निवारण, वर्जन, निषेध और प्रतिषेध'।

रोज़गार- *पु०* (फ़ा०) = व्यापार; दे० 'व्यापार, व्यवसाय और वाणिज्य'।

रोज़ा- *पु०* (फ़ा. रोज़ः) दे० 'अनशन, उपवास, लंघन और व्रत'।

198. **रोध** Bar

अवरोध Obstacle, Obstruction

गत्यवरोध Deadlock

प्रतिरोध Resistance

विरोध Opposition

इस वर्ग के शब्द ऐसी क्रियाओं, चीज़ों या बातों के वाचक हैं जो होते हुए काम में किसी तरह की अड़चन या बाधा खड़ी करके उसे आगे बढ़ने से रोकते हैं या उसमें प्रगति नहीं होने देते।

इस वर्ग का मुख्य शब्द **'रोध'** अर्थ की दृष्टि से बहुत व्यापक है, और इसीलिए उसके अनेक अर्थों की मर्यादा या व्यापाकता नियत अथवा सीमित करने के लिए कुछ प्रत्यय आदि लगाकर इस वर्ग के अन्यान्य शब्द बनाये गये हैं। **'रोध'** का मुख्य अर्थ है–आगे बढ़ते हुए को रोकना। इसी आधार पर रोकनेवाली चीज़ या बात को भी **रोध** कहते हैं, और चारों ओर से किसी को घेरकर या रोककर रखनेवाला घेरा भी **रोध** कहलाता है। प्राचीन काल में जलाशयों आदि के किनारे जो बांध बनाये जाते थे वे भी **रोध** कहलाते थे। परन्तु आज-कल **'रोध'** मुख्य रूप से लगाये हुए ऐसे बंधन या शर्त का वाचक हो गया है जिसका उद्देश्य किसी प्रकार का नियंत्रण रखना हो। इस प्रकार का **रोध** या तो किसी स्थान पर किसी को प्रविष्ट होने से रोकता है या किसी ऊंचे पद या वर्ग में स्थान प्राप्त करने से; जैसे (क) आज-कल अनेक देशों ने संक्रामक रोगों के रोगियों को अपने देश में आने पर (अर्थात् आने से रोकने के लिए) **रोध** लगा रखा है। (ख) आज-कल कई राजकीय सेवाओं में कर्मचारियों को उन्नति के मार्ग में कई प्रकार के **रोध** रहते हैं; अर्थात् कुछ नियत समय के उपरान्त उनकी परीक्षाएं ली जाती हैं और उन परीक्षाओं में उत्तीर्ण होने पर ही उनकी पदोन्नति तथा वेतन-वृद्धि होती है।

'अवरोध' भी अर्थ के विचार से है तो बहुत-कुछ वही जो **रोध** है; परन्तु यह मुख्य रूप से उस चीज़ या बात का सूचक है जो बीच में आकर बाधा के रूप में खड़ी हो जाती है और किसी काम या चीज़ को आगे बढ़ने से रोकती है। **अवरोध** आकस्मिक रूप से और आप से आप आकर भी मार्ग रोक सकता है, और किसी दूसरे के द्वारा जान-बूझकर खड़ा किया हुआ भी हो सकता है। **रोध** तो साधारण और सार्विक शब्द है। परन्तु **अवरोध** कुछ बातों में इससे और आगे बढ़ा हुआ है। **रोध** में तो किसी काम या चीज़ को रोक रखने भर का भाव प्रधान है; परन्तु **अवरोध** प्रायः आगे बढ़कर मार्ग ही बन्द कर देता है, और उसे हटाने के लिए कुछ विशेष उपाय या प्रयत्न करना पड़ता है। इसके कारण चलता हुआ काम कुछ समय के लिए और प्रायः पूरी तरह रुक जाता है। कुछ अवस्थाओं में **रोध** केवल जांच अथवा उसकी गति, स्वरूप आदि ठीक रखने के उद्देश्य से भी हो सकता है; पर **अवरोध** का उद्देश्य काम को रोक रखना भर होता है; उसमें सुधार आदि करना नहीं।

गत्यवरोध (सं० गति+अवरोध) का सीधा अर्थ है–गति या चाल मे होनेवाली

रुकावट। इसे हम गति-रोध भी कह सकते हैं। यह शब्द इधर हाल में अंग्रेज़ी के डेडलॉक (Deadlock) का भाव सूचित करने के लिए बनाया गया है, और इसी अर्थ में प्रयुक्त भी होता है। इसका पहला और मुख्य अर्थ है—बीच में कठिनाई या बाधा आ पड़ने के कारण किसी चलते हुए काम या बात का रुक जाना। परन्तु यह मुख्यतः किसी चलती हुई बात-चीत में उत्पन्न होनेवाली उस विशिष्ट स्थिति का सूचक है जिसमें दोनों पक्ष अपनी-अपनी बात पर अड़ गये हों और निपटारे या समझौते के लिए आगे कोई रास्ता न दिखाई देता हो या ऐसा रास्ता निकालना बहुत ही कठिन हो गया हो। मान लीजिए कि कोई दो विरोधी पक्ष आपस में निपटारे या समझौते की बात-चीत आरम्भ करते हैं। इसी बात-चीत में कोई ऐसी स्थिति उत्पन्न होती हैं जिसमें कोई एक पक्ष दूसरे पक्ष की बात मानने के लिए तैयार नहीं होता; और बात-चीत यहीं आकर रुक जाती है। ऐसी ही स्थिति को गतिरोध या गत्यवरोध कहते हैं। हिन्दी में इसके लिए उर्दू का पुराना शब्द जिच *स्त्री०* (फ़ा० ज़िच) चलता था परन्तु आज-कल उसका प्रचलन बहुत कम हो गया है।*

'निरोध' का साधारण अर्थ है—चारों ओर से घिरा हुआ, बंद या रुका हुआ होना; जैसे कारागार में होनेवाले अपराधी का **निरोध**। परन्तु प्रस्तुत प्रसंग में और अपने बहु-प्रचलित अर्थ में **'निरोध'** ऐसे स्थिति का सूचक है जिसमें किसी काम या बात को सीमित रखने का भाव भी सम्मिलित है। 'योगश्चित्तवृत्ति **निरोधः**' में **निरोध** से अभिप्राय है - चित्त की वृत्तियों को इधर-उधर बहकने से रोकना। इसी प्रकार सन्तान **निरोध** का अर्थ है - ऐसा उपाय या युक्ति करना जिससे संतान उत्पन्न न होने पावे अथवा अधिक सन्तानें न हों।

'प्रतिरोध' का साधारण अर्थ है—किसी प्रकार का रोध उत्पन्न होने पर उसे दूर करने के लिए किया जानेवाला उपाय या कार्य। यह किसी **रोध** के विरुद्ध किया जानेवाला **रोध** भी हो सकता है। जब विपक्षी या शत्रु बलपूर्वक आगे बढ़ता हुआ हमें दबाने या पीछे हटाने का प्रयत्न करता है तब उसके उस प्रयत्न को विफल करने के लिए और उसे बीच में रोक रखने के लिए हम जो कुछ करते हैं वही हमारा **प्रतिरोध** कहलाता है। यह **प्रतिरोध** अपने अधिकारों की रक्षा के लिए भी हो सकता है और किसी अनौचित्य या अन्याय को रोकने के लिए भी। किसी प्रकार के आक्रमण को रोकने के लिए किया जानेवाला कार्य भी **प्रतिरोध** ही कहलाता है।

'विरोध' सं० विरुद्ध से बना है, जिसका अर्थ है—बाधक होना या रोकना। हिन्दी में यह मुख्यतः दो अर्थों में प्रचलित है। जब एक आदमी कोई ऐसा काम करता या ऐसी बात कहता है जो दूसरे पक्ष की दृष्टि में ठीक नहीं होती तब दूसरे पक्ष की ओर से किए

---

* जिच मुख्यतः शतरंज के खेल का पारिभाषिक शब्द है। यह खेल की ऐसी स्थिति का वाचक है जिसमें बादशाह को शह तो न लगी हो, फिर भी उसके चलने के लिए कोई घर न बचा हो। ऐसी स्थिति उत्पन्न होने पर यह मान लिया जाता है कि खिलाड़ियों में से किसी पक्ष की न जीत हुई और न हार ही। इसमें खेल यहीं खत्म हो जाता है और नई बाजी फिर से शुरू होती है।

जानेवाले आक्षेप या आपत्ति को **विरोध** कहते हैं। यह अच्छा-बुरा, उग्र-कोमल (या हलका) सभी प्रकार का होता है। हम किसी बुरी बात का उचित रूप से भी **विरोध** कर सकते हैं; और केवल दल-बंदी, राग, द्वेष आदि के कारण किसी अच्छी बात का अनुचित रूप से भी **विरोध** कर सकते हैं। कुछ अवस्थाओं में दो चीज़ों या बातों में मेल न बैठने की दशा को भी **विरोध** कहते हैं। अर्थात् मांस खाने के बाद तुरन्त ही दूध नहीं पीना चाहिए क्योंकि दोनों में तात्त्विक **विरोध** है जो स्वास्थ्य के लिए हानिकारक सिद्ध हो सकता है। यह तो **विरोध** का साधारण रूप है; पर इसका एक दूसरा रूप भी होता है जो बहुत उग्र या तीव्र होता है। जब हमारे अधिकार या सुरक्षा पर कोई आक्रमण होता है तब उसके प्रतिकार के लिए उसका प्रबल **विरोध** करना पड़ता है। इसके फलस्वरूप दोनों व्यक्तियों या दलों में किसी न किसी रूप में कुछ संघर्ष होता रहता है। इसमें प्रायः दो शक्तियां बराबर एक दूसरी से टकराती रहती और विपरीत दिशा में काम करती रहती हैं।

××

लंघन- *पु०* (सं०) दे० 'अनशन, उपवास, लंघन और व्रत'।

लक्ष्य- *पु०* (सं०) दे० 'उद्देश्य, ध्येय, प्रयोजन, और लक्ष्य'।

लगना- *अ०* (सं० लग्न) दे० 'जुड़ना, चिपकना, मिलना, लगना और सटना'।

199.	**लगभग**	**प्रायः**	**आस-पास**
	Almost	About	Near-about
	Approximately	Nearly	

इस वर्ग के अव्यय किसी बिन्दु, संख्या, स्थान आदि के बहुत-कुछ निकट या समीप होनेवाली स्थिति के वाचक हैं। परन्तु इनके अर्थों में ऐसे सूक्ष्म भेद हैं जिनका ठीक और पूरा रूप समझना बहुत कठिन है। फिर भी इनके प्रयोगों के आधार पर जो बातें, मेरी समझ में आई हैं, उनका उल्लेख करना आवश्यक जान पड़ता है।

'लगभग' में का 'लग' हिं० लगना में का धातु रूप है और 'भग' उसका अनुकरण मात्र। इसका शब्दार्थ होता है–किसी के साथ थोड़ा-बहुत लगता हुआ अथवा किसी के पास तक बहुत-कुछ पहुंचता हुआ। प्रस्तुत प्रसंग में **प्रायः** का अर्थ भी बहुत-कुछ इसी से मिलता-जुलता है। हम कहते हैं–(क) मृत्यु के समय उनकी अवस्था प्रायः 60 वर्ष की थी। और (ख) मृत्यु के समय उनकी अवस्था 60 वर्ष के **लगभग** थी। वाक्य-रचना की दृष्टि से इन दोनों प्रयोगों में अन्तर यही है कि एक में 'प्रायः' पहले आया है और दूसरे में **'लगभग'** बाद में आया है और उसके पहले 'के' विभक्ति भी लगी है। अर्थ या आशय की दृष्टि से इन दोनों वाक्यों में यों तो कोई विशेष अन्तर देखने में नहीं आता, फिर भी सूक्ष्म विचार करने पर कहा जा सकता है कि 'प्रायः 60 वर्ष' का अर्थ होगा- 60 से या तो दो-चार कम या दो-चार अधिक। परन्तु '60 वर्ष के **लगभग**' का अर्थ होगा, 60 से एक

ही दो वर्ष कम या एक ही दो वर्ष अधिक। इस प्रकार प्रायः की तुलना में **'लगभग'** अधिक समीपता का सूचक है।

अब एक और उदाहरण लीजिए। हम कहते हैं—इस संग्रह में उनकी **प्रायः** सभी कहानियां आ गयी हैं। यदि इस वाक्य में **'प्रायः'** की जगह **'लगभग'** कर दिया जाय तो भी अर्थ या आशय के विचार से वही सूक्ष्म अन्तर हो जाएगा, जो ऊपर पहलेवाले उदाहरण के सम्बन्ध में बताया गया है।

अब इनके प्रयोगों के एक दूसरे क्षेत्र में आइए। हम कहते हैं—उनका मकान बनकर **लगभग** तैयार हो चुका है; अथवा उनकी पुस्तक **लगभग** छप चुकी है। ऐसे अवसरों पर **'लगभग'** की जगह **'प्रायः** का उपयोग जल्दी नहीं होता। हम यह भी कहते हैं—इस योजना का तीसरा चरण **लगभग** पूरा हो चुका है। यहां भी **लगभग** की जगह **'प्रायः'** का प्रयोग ठीक नहीं होगा। इन उदाहरणों से यही निष्कर्ष निकलता है कि जहां एक इकाई की चर्चा होती है, वहां तो **लगभग** का प्रयोग ठीक बैठता है और जहां अनेक इकाइयों की चर्चा होती है, वहां **प्रायः** का प्रयोग होता है। यहां यह भी ध्यान रहे कि ऊपर '60 वर्ष **लगभग**' का जो उदाहरण आया है उसमें 60 वर्ष को एक इकाई माना जायगा और **'प्रायः** 60 वर्ष' में इकाइयां 60 मानी जाएंगी।

अब कुछ ऐसे उदाहरण लीजिए जिनसे दोनों के अर्थों का अन्तर और अधिक स्पष्ट हो सकता है। हम कहते हैं—उस बस्ती के **लगभग** सभी मकान पक्के बन गए हैं। आशय यही होगा कि बहुत थोड़े से ऐसे मकान रह गए हैं, जो पक्के नहीं बने हैं। यदि इस वाक्य में **'लगभग'** की जगह **'प्रायः'** कर दिया जाय तो हमारी समझ में **'लगभग'** के प्रयोग से आशय यह निकलेगा कि बस्ती में के 90 या 95 मकान पक्के हो गए हैं; परन्तु **'प्रायः'** का प्रयोग अपेक्षया कुछ कम मकानों के पक्के होने का भाव सूचित करेगा।

फिर हम यह भी कहते हैं—'यह पिछले सोमवार के **लगभग** या पिछले महीने की 20 ता० के **लगभग** की बात है'। ऐसे अवसरों पर **लगभग** की जगह **प्रायः** का प्रयोग नहीं हो सकता। हम यह भी कहते हैं—संध्या को 5 बजे के **लगभग** यहां आना। यहां भी **'लगभग'** की जगह **'प्रायः'** नहीं हो सकता। इन सब उदाहरणों से यही निष्कर्ष निकलता है कि जहां विशेष परिशुद्धता या यथार्थता का भाव गौण होता है और महत्व कम समझा जाता है वहां **प्रायः** का प्रयोग होता है। सीधे-सादे शब्दों में हम कह सकते हैं कि **'लगभग'** में बहुत-कुछ का भाव प्रधान है और **प्रायः** में करीब-करीब का। हमारे इस कथन की पुष्टि नष्टप्राय और मृतप्राय सरीखे प्रयोगों से हो जाती है; जिनका अर्थ होता है—पूर्ण विनाश या मृत्यु के बहुत कुछ पास पहुंचा हुआ। इसके अतिरिक्त **लगभग** का प्रयोग अधिकतर संख्या-सूचक शब्दों के साथ होता है।*

'आस-पास' में का पास (सं० पार्श्व) तो निकट या समीप का वाचक है; और उसके

---

* प्रायः के अन्य अर्थों के लिए देखें 'प्रायः और बहुधा'।

पहलेवाला आस उसका अनुकरण मात्र है । इसका प्रयोग मुख्यतः स्थानों के ही सम्बन्ध में होता है, अवसरों, प्रसंगों, स्थितियों आदि के सम्बन्ध में या तो होता ही नहीं; और यदि होता भी है तो ठीक नहीं जान पड़ता । इसका प्राथमिक अर्थ होता है–अगल-बगल, आगे-पीछे, दाहिने-बाएं आदि अथवा इनमें से दो या तीन ओर; जैसे–नगर के **आस-पास** रईसों के बहुत से बगीचे हैं । आशय यही होता है कि दो या तीन ओर अथवा चारों ओर बीच-बीच में; जैसे:शहर के **आस-पास** बहुत से बगीचे हैं; 'कारखाने के **आस-पास** मज़दूरों के बहुत से मकान और कई छोटे-मोटे बाज़ार बन गए हैं' का भी यही आशय है । इस दृष्टि से यह कहना ठीक नहीं होगा, जैसे (क) उनकी अवस्था 60 के **आस-पास** है । या (ख) उनके यहां 10 के **आस-पास** नौकर हैं । ऐसे अवसरों पर अभिप्राय और प्रसंग के अनुसार या तो **'प्रायः'** का प्रयोग होना चाहिए या **'लगभग'** का । ××

200. लगाव — लगावट

Attachment — Connection

ये दोनों शब्द हिन्दी की 'लगना' क्रिया के भाववाचक रूप हैं । इनमें से **लगाव** पुंलिंग और **लगावट** स्त्रीलिंग है । आर्थी दृष्टि से इनमें कुछ समानता होने पर भी कुछ विशिष्ट सूक्ष्म अन्तर है ।

'लगाव' मुख्यतः किसी के साथ लगे या सटे हुए होने की अवस्था या भाव सूचित करता है । इस दृष्टि से हम इसे संस्कृत 'सम्बन्ध' का समार्थक कह सकते हैं, जैसे (क) उनके साथ हमारा कोई **लगाव** नहीं है; और (ख) इस गली के सभी मकानों का एक दूसरे से **लगाव** है ।

'लगावट' का प्रयोग कभी-कभी **'लगाव'** के समान ही होता हुआ दिखाई देता है; परन्तु वह हमारी समझ में कुछ ठीक नहीं है । हां, इसका प्रयोग कुछ विशिष्ट अर्थ या भाव सूचित करने के लिए अवश्य होता है; और ऐसा होना भी चाहिए । इसका प्रयोग एक तो व्यावहारिक क्षेत्र में और दूसरे शृंगारिक क्षेत्र में विशेष रूप से देखने में आता है । जब हम किसी विशिष्ट उद्देश्य से किसी के साथ कुछ सम्पर्क या सम्बन्ध स्थापित करने का प्रयत्न करते हैं, अथवा उसके साथ आत्मीयता या मेल-जोल बढ़ानेवाला व्यवहार करते हैं तो उसे **'लगावट'** कहते हैं । पर ध्यान रहे कि ऐसे अवसरों पर यह शब्द वास्तविकता या सद्भावना का उतना अधिक सूचक नहीं होता जितना स्वार्थ साधन का सूचक होता है । उर्दू का एक प्रसिद्ध शेर है-

बज़ाहिर तो **लगावट** हम से वो हर बार करते हैं,
खुदा जाने मगर दिल से वह किसको प्यार करते हैं ।

यों साधारण बोल-चाल में भी हम कहते हैं - आज-कल उनके साथ तुम्हारी **लगावट** बहुत बढ़ चली है । आशय यही होता है कि तुम अपना कोई उद्देश्य या स्वार्थ सिद्ध करने के लिए मेल-जोल बढ़ा रहे हो । ××

लगावट- *स्त्री०* (हिं० लगना) दे० 'लगाव और लगावट'।

लागत- *स्त्री०* (हिं० लगना) दे० 'पूंजी, लग्गत और लागत'।

लघिमा-*स्त्री०* (सं०) दे० 'लघुता, लघुत्व, लाघव और लघिमा'।

201. लघुता लघिमा लघुत्व लाघव

लघुता	लघिमा	लघुत्व	लाघव
Smallness			Agility
Littleness			Dexterity
Little-mindedness			Brevity

इस वर्ग के सब शब्द संस्कृत के विशेषण 'लघु' के ऐसे भाववाचक संज्ञा रूप हैं, जो संस्कृत व्याकरण के भिन्न-भिन्न नियमों के अनुसार बने हैं। लघु के अनेक अर्थों में से मुख्य अर्थ हैं–छोटा, हलका, हीन, तीव्र या तेज़, जल्दी पचनेवाला, संक्षिप्त आदि। इसके सिवा मन, विचार या स्वभाव की सुदृढ़ता और तुच्छता भी इन शब्दों से सूचित होती है। पहले हम यथा-स्थान 'गुरुता, गुरुत्व, गौरव और गरिमा' की जो माला दे चुके हैं, उन्हीं के ये सब विपर्याय कहे जा सकते हैं।

'लघुता' और 'लघुत्व' में अर्थ की दृष्टि से कोई विशेष अन्तर नहीं है; और दोनों बहुत-कुछ समान आशयों या भावों के सूचक हैं। इसी प्रकार **'लघुता'** और 'लाघव' के भी अनेक अर्थ समान हैं; परन्तु जिन अर्थों में लाघव का ही अधिकतर प्रयोग होता है और **लघुता** या लघुत्व का प्रयोग या तो बहुत कम होता है या बिल्कुल नहीं होता, उनका उल्लेख नीचे लाघव के अन्तर्गत ही किया गया है।

'लघिमा' *स्त्री०* (सं०) का मूल अर्थ भी है तो भार की अल्पता या हीनता अथवा हलकापन; परन्तु यह भी उसी प्रकार योग की आठ सिद्धियों में से एक है, जिस प्रकार 'गरिमा' है। कहते हैं कि यह सिद्धि प्राप्त हो जाने पर मनुष्य में यह योग्यता या शक्ति आ जाती है कि वह अपना भार जितना चाहे कम कर सकता है और अपने आपको इतना हलका बना सकता है कि जब जिधर चाहे तब हवा में उड़कर जा सकता है।

'लाघव' *पु०* (सं०) के भी आरम्भिक अर्थ वही हैं, जो ऊपर **लघुता** और **लघुत्व** के बतलाए गए हैं। इनके सिवा लाघव का एक और अर्थ होता है–गति की क्षिप्रता, तीव्रता या वेग। कोई काम करते समय शरीर के अंगों का जो जल्दी-जल्दी और ठीक तरह से परिचालन या संचालन होता है वह भी इसी के अंतर्गत है। अपने मुख्य अर्थ में लाघव हाथ के ऐसे कौशल का वाचक है जिसमें फुरती भी हो और सफाई भी; यथा -

गुरुहि प्रनाम मनहि मन कीन्हा।
अति **लाघव** उठाय धनु लीन्हा॥

-तुलसी

आशय यही है कि रामचन्द्र जी ने वह बहुत बड़ा धनुष इस प्रकार सहज में उठा लिया कि मानो वह बहुत ही साधारण काम हो।

इसी आधार पर इसमें चालाकीवाला भाव भी सम्मिलित हो गया है। हस्तलाघव में हाथ से होनेवाले काम के कौशल और फुर्ती का भाव तो है ही; पर आगे चलकर उसमें चालाकी या धूर्त्तता का भाव भी सम्मिलित हो गया है। जादूगर आदि जो विलक्षण काम बहुत सफाई से कर दिखलाते हैं, वह उनका हस्त-लाघव ही कहलाता है। परन्तु साहित्यिक क्षेत्र में **लाघव** विशिष्ट रूप से संक्षिप्तता और हल्केपन के भावों से युक्त है अर्थात् रचना में अनावश्यक और व्यर्थ के विस्तार से बचने का भाव इसमें प्रधान है। यहां हलकेपन से हमारा अभिप्राय है–ऐसा प्रकार या रूप जो देखने-सुनने में अनावश्यक रूप से बोझिल या भार से लदा हुआ न हो। साहित्यिक क्षेत्र में जो **लाघव** सिद्धांत प्रसिद्ध है, उसका आशय यही है कि जहां तक हो सके, कम से कम शब्दों में अधिक से अधिक भाव पूरी तरह से और सुन्दरतापूर्वक आ सके।

इस माला के शब्दों के विपर्यायों के लिए दे० 'गुरुता, गुरुत्व, गौरव, और गरिमा' की माला।

××

लघुत्व- *पु०* (सं०) दे० 'लघुता, लघिमा, लघुत्व और लाघव'।

लटकाना- *स० क्रि०* (हिं०) दे० 'टांगना और लटकाना'।

202.	लय	प्रलय	विलय
	Dissolution	Deluge	Merger
	Disappearance	Ravage	Merging
	Rhythm		

इस वर्ग के शब्द ऐसी स्थितियों के वाचक हैं जिनमें कोई वस्तु किसी दूसरी वस्तु में पूरी तरह से घुल-मिलकर अथवा और किसी प्रकार या रूप से उसमें सम्मिलित होकर अपना अस्तित्व, रूप या स्थिति बिल्कुल गंवा देती है।

'लय' *पु०* (सं०) ली धातु से बना है जिसका अर्थ है–गल या घुलकर किसी दूसरी वस्तु में पूरी तरह से मिल जाना; और अपना अस्तित्व, रूप या सत्ता का अन्त या समाप्ति कर देना। दार्शनिक क्षेत्र में **'लय'** उस स्थिति को कहते हैं जिसमें संसार की सभी चीज़ें समाप्त होकर अव्यक्त प्रकृति के रूप में परिणत हो जाती हैं। आगे चलकर **'लय'** का प्रयोग ऐसी अवस्था में भी होने लगा जब कोई वस्तु अपना स्वतंत्र अस्तित्व गंवाकर किसी दूसरी वस्तु में पूरी तरह से मिलकर उसके साथ एकाकार हो जाती है। इसी से इसका विशेषण रूप 'लीन' बना है और कहा जाता है कि अमुक पदार्थ दूसरे अमुक पदार्थ में लीन हो गया। तर्कशास्त्र की दृष्टि से इसके अर्थ का और अधिक विस्तार करके इसकी व्याख्या कुछ और ही प्रकार से की जाती है। उसमें कहा जाता है कि जब

कार्य और आगे बढ़कर अपने कारण के रूप में परिणत हो जाता है तब मानो उस कार्य का **लय** होता है। आध्यात्मिक क्षेत्र में चित्त की वृत्तियों को एकाग्र करके किसी एक बात में लगाना या किसी एक काम में अपना सारा ध्यान लगाना **लय** कहलाता है। लौकिक तथा व्यावहारिक क्षेत्रों में इसका प्रयोग लोप, विनाश आदि के अर्थों में भी होता है। इसके सिवा इसमें किसी स्थान पर पहुंचकर टिकने, ठहरने या स्थित होने का भाव भी सम्मिलित है। इसी आधार पर इससे आलय (जैसे-अनाथालय, पुस्तकालय, हिमालय आदि), निलय आदि शब्द भी बनते हैं।

मूलतः यह शब्द पुंलिंग है और अपने उक्त सभी अर्थों में पुंलिंग के रूप में ही प्रयुक्त होता है। परन्तु काव्य और संगीत के क्षेत्र में इसका एक ऐसा विशिष्ट अर्थ होता है जो उक्त सभी अर्थों से बिल्कुल भिन्न है; और इस अर्थ में इसका प्रयोग स्त्रीलिंग में होता है। कविता पाठ और गायन-वादन में **'लय'** उस तत्त्व को कहते हैं जो उनमें सांगीतिक कोमलता, मधुरता और सुस्वरता लाता है। इसके लिए शब्दों, पदों आदि के उच्चारण के समय कहीं अधिक ज़ोर दिया जाता है और कहीं कम; कहीं स्वर ऊंचा किया जाता है और कहीं नीचा। संगीत का सारा सौंदर्य उसकी लयदारी पर ही निर्भर होता है। इस प्रकार के अन्तरों और परिवर्तनों के कुछ विशिष्ट नियम और सिद्धांत हैं। काव्य के क्षेत्र में इन नियमों और सिद्धांतों का निरूपण करने के लिए छंदशास्त्र की रचना हुई है और गायन-वादन के क्षेत्र में संगीतशास्त्र की। इन्हीं नियमों और सिद्धांतों का पालन करने से कविता और गायन-वादन में प्रभावकारक और हृदयग्राही तत्त्व उत्पन्न होते हैं। कविता में यति और विराम इसी **लय** के नियामक होते हैं और संगीत में अभीष्ट गति तथा प्रवाह इसी के योग से आता है।

हमारे यहां तो **लय** का यह तत्त्व यहीं तक परिमित है; परन्तु पाश्चात्य सौंदर्य शास्त्र में इसका और अधिक विस्तार करके चित्रकला, नृत्यकला, मूर्तिकला और वास्तुकला में भी इसका आरोप किया गया है। चित्रों में जहां हमें यह दिखाई देता है कि सभी अंग आपेक्षिक दृष्टि से एक-दूसरे के अनुकूल और आनुपातिक हैं अथवा सारी कृति में वे सब अंग यथेष्ट कौशलपूर्वक अंकित करके सब अंग यथास्थान ठीक तरह से भरे गए हैं तब कहा जाता है कि इसमें **लय** का ठीक तरह से निर्वाह हुआ है। यह तत्त्व रेखाओं आदि के ठीक-ठीक उतार-चढ़ाव और छाया तथा प्रकाशन के उचित समन्वय तथा सामंजस्य का भी सूचक होता है। नृत्य में जब चित्ताकर्षक और प्रभावशाली रूप में अंगों का संचालन होता है अथवा अभीष्ट और उचित भाव-भंगिमाएं सुघड़पन से प्रकट की जाती हैं तब वहां भी यही तत्त्व विद्यमान माना जाता है। मूर्तिकला, वास्तुकला आदि में उक्त आधार पर जो सुडौलपन दिखाई देता है वह भी इसी **लय** के अंतर्गत आता है।

'प्रलय' *पु०* (सं०) का मूल अर्थ है–पूरी तरह से और सर्वांश में होनेवाला **लय** या विनाश। परन्तु भारतीय पुराणों और संस्कृति में इसका प्रयोग एक ऐसी परम प्राचीन घटना के सम्बन्ध में होता आया है जो प्रत्येक कल्प के अंत में घटित होती है। इसमें बहुत ही भयंकर बाढ़ और भीषण वर्षा के फलस्वरूप सारी पृथ्वी पानी से भर जाती है; और सब प्रकार के जीव-जन्तुओं का पूरी तरह से विनाश हो जाता है। कहा गया है कि

हर 43,20,00,000 वर्ष बीतने पर सारी सृष्टि का **प्रलय** होता है; और सृष्टि अपने मूल कारण अर्थात् प्रकृति में विलीन हो जाती है; और तब फिर नए सिरे से सृष्टि की रचना होने लगती है*। यह माना जाता है कि पिछली बार वैवस्वत मनु के समय में ऐसा **प्रलय** हुआ था। प्राचीन युनानियों तथा कुछ अन्य जातियों में भी इस प्रकार की पौराणिक कथाएं प्रचलित हैं। उन्हीं के अनुकरण पर ईसाइयों और मुसलमानों में भी यह माना जाता है कि पिछली बार हजरत नूह के समय में ऐसा **प्रलय** हुआ था। आज-कल लाक्षणिक रूप में बहुत ही उत्कट या विकट रूप में और विस्तृत भूभाग में होनेवाला भयंकर नाश भी **प्रलय** कहलाता है; जैसे कौरव-पांडव युद्ध के बाद कुरुक्षेत्र में, दोनों युरोपीय महायुद्धों के उपरांत युरोप के अधिकतर देशों में और परमाणु बम के प्रहार के उपरांत हिरोशिमा में **प्रलय** का दृश्य दिखाई देता था।

'विलय' *पु०* (सं०) अपने विकसित अर्थ में वही है जो **लय** और **प्रलय** है। इसमें भी मुख्य भाव किसी चीज़ का गल या घुलकर अथवा भाप बनकर और अपना स्वतंत्र अस्तित्व खोकर किसी दूसरी चीज़ में पूरी तरह से मिल जाने का ही है। इससे और आगे बढ़ने पर आज-कल इसका प्रयोग लाक्षणिक रूप में आर्थिक तथा राजनीतिक क्षेत्र में एक विशिष्ट भाव सूचित करने के लिए होने लगा है। जब कई छोटे-बड़े निगम या महत्वपूर्ण संस्थाएं आपस में मिलकर एक हो जाती हैं और अपने सब कार-बार तथा लेन-देन एक नई इकाई के रूप में करने लगती हैं; तब उनका ऐसा सम्मिलन भी **विलय** ही कहा जाता है। आज-कल जब कोई छोटा देश या राज्य अपनी रक्षा, सुख-सुभीते के विचार से पास-पड़ोस के किसी दूसरे बड़े देश या राज्य में मिलकर उसका अविभाज्य अंग बन जाता है, तब उसका यह कार्य भी **विलय** कहलाता है; जैसे:इंदौर, कश्मीर, जयपुर, हैदराबाद आदि की सभी देशी रियासतों का स्वतंत्र भारत में **विलय** हो चुका है।

××

लहर- *स्त्री०* (सं० लहरि) दे० 'तरंग, लहर और वीचि'।

लागत- *स्त्री०* (हिं० लगना) दे० 'पूंजी, लग्गत और लागत'।

लाघव- *पु०* (सं०) दे० 'लघुता, लघिमा, लघुत्व और लाघव'।

लाचार- *वि०* (फ़ा०) = विवश; दे० 'बद्ध, बाध्य और विवश'।

ला-परवाह- *वि०* (अ० + फ़ा०) दे० 'बे-परवाह और ला-परवाह'।

लाभ-- *पु०* (सं०) दे० 'प्राप्ति, लाभ, उपलब्धि और परिलब्धि'।

लाभ-तोषिक *पु०* (सं०) दे० 'लाभांश, बोनस और लाभतोषिक'।

---

* पुराणानुसार तो प्रलय में सारी सृष्टि और सभी भूतों का अन्त या विनाश हो जाता है; पर इसका एक आंशिक प्रकार या रूप भी माना गया है, जिसे खंड-प्रलय कहते हैं। इसमें आकाशस्थ पिंड मात्र बच रहते हैं और सूर्य का ताप या तेज हज़ार गुना बढ़ जाता है। इस प्रकार का प्रलय एक चतुर्युगी (चारों युगों का समूह) अर्थात् ब्रह्मा का एक दिन बीत जाने पर होता है।

203. **लाभांश** **बोनस, लाभतोषिक**

Dividend Bonus

ये दोनों शब्द औद्योगिक तथा व्यापारिक क्षेत्रों में होनेवाले आर्थिक लाभ के वितरण के दो नए प्रकार हैं और अंग्रेज़ी डिविडेन्ड (Dividend) तथा **बोनस** (Bonus) के समार्थक के रूप में बनाए गए हैं। **'लाभांश'** (सं० लाभ+अंश) का सीधा-सादा शब्दार्थ है–लाभ का अंश या मुनाफे का हिस्सा। आज-कल बड़े-बड़े कल-कारखाने और व्यापार बहुत से लोगों के सहयोग से चलते हैं, और उनमें अनेक लोगों की पूंजी या लागत लगती है। ऐसे सभी लोग उस कल-कारखाने या व्यापार के हिस्सेदार होते हैं। ऐसे कारखानों और व्यापारों से जो आर्थिक लाभ या बचत होती है वह सभी हिस्सेदारों में उनकी लगाई हुई पूंजी या लागत के अनुपात से बांटी जाती है। हिस्सेदारों को उनकी लगाई हुई पूंजी या लागत के अनुपात से लाभ का जो अंश मिलता है वही **लाभांश** कहलाता है।

'लाभतोषिक' अंग्रेज़ी के **बोनस** (Bonus) के लिए बनाया और सुझाया हुआ नया शब्द है। मैंने यह रूप आनुतोषिक और पारितोषिक के अनुकरण पर स्थिर किया है। भारत सरकार के 'पारिभाषिक शब्द संग्रह' में डिविडेन्ड और **बोनस** दोनों के लिए **लाभांश** ही रखा गया है। परन्तु दोनों शब्दों के अर्थों में विशेष अन्तर होने के कारण मेरी समझ में **बोनस** के लिए **लाभतोषिक** अधिक उपयुक्त और व्यवहारिक होगा।

'लाभतोषिक' कुछ विशिष्ट लोगों को और कुछ विशिष्ट अवस्थाओं में तुष्ट या प्रसन्न करने के लिए आर्थिक लाभ के अंश के रूप में दिया जाता है। यह पहले के नियत और निश्चित पारिश्रमिक, **लाभांश**, वेतन आदि के अतिरिक्त होता है। प्रायः हिस्सेदारों को उचित अथवा नियत **लाभांश** चुका देने के बाद भी कुछ धन बचाकर सुरक्षित रख लिया जाता है, और अनुकूल स्थितियों में वह थोड़ा-थोड़ा करके हिस्सेदारों, कर्मचारियों, कार्यकर्ताओं आदि को प्रसन्न रखने के लिए बांट दिया जाता है। यही अंश **लाभतोषिक** कहलाता है। प्रायः बीमा कंपनियां भी बीमा करानेवाले लोगों को समय-समय पर कुछ **लाभतोषिक** देती रहती हैं। कुछ अवस्थाओं में उन कर्मचारियों को भी **लाभतोषिक** दिया जाता है जो नियत समय से पहले अपने कार्य या पद से हटा दिए जाते हैं। ××

लाम- *स्त्री०* (अ०) दे० 'अभियान, आक्रमण, धावा, लाम और लामबन्दी'।

लामबन्दी- *स्त्री०* (अ० लाम+फ़ा० बन्दी) दे० 'अभियान, आक्रमण, धावा, लाम और लामबन्दी'।

लालसा- *स्त्री०* (सं०) दे० 'वासना, तृष्णा, लालसा और लिप्सा'।

204. **लिए** **वास्ते**

हिन्दी और उर्दू में ये अव्यय उसी अर्थ में प्रयुक्त होते हैं जिसमें 'के अर्थ', 'के निमित्त' या 'के हित' का प्रयोग होता है। हिन्दी कोशों और व्याकरणों में यह सम्प्रदान

कारक का चिह्न कहा गया है और इसके पहले सम्बन्ध कारक की 'के' विभक्ति लगना आवश्यक होता है। हिन्दी में 'इसलिए' और 'किस लिए' अथवा 'इस **वास्ते**' और 'किस **वास्ते**' सरीखे जो प्रयोग होते हैं उनमें 'के' का अध्याहार होता है। इन दोनों शब्दों के अर्थों का विवेचन करने से पहले इनकी व्युत्पत्तिके सम्बन्ध में कुछ कह देना आवश्यक जान पड़ता है। '**लिए**' की व्युत्पत्ति पूर्ण रूप से निश्चित नहीं हुई है। 'हिन्दी शब्द सागर' में इसका संस्कृत 'लग्न' और पुरानी हिन्दी के 'लगि' या 'लागि' से बतलाया गया है जो बहुत-कुछ ठीक जान पड़ता है। बुन्देलखंडी में इन दोनों अव्ययों के स्थान पर 'लाने' का प्रयोग होता है जो सम्भवतः ब्रजभाषा के 'लाना=लगाना' से सम्बद्ध है; यथा-तू अलबेली अकेली डरे किन, क्यों डरौं मेरी सहाय के लाने।-पद्माकर। '**वास्ते**' को 'हिन्दी शब्दसागर' में अरबी का शब्द माना गया है जो वस्तुतः ठीक नहीं है। अरबी में 'वस्त' का अर्थ होता है-बीच या मध्य और इसी का एक विकारी रूप है-वासितः; जिसका अर्थ है-बीच में रहकर दो पक्षों या भागों को जोड़नेवाला अंश। इसी से हिन्दी में लगाव या सम्बन्ध का सूचक 'वास्ता' शब्द बना है। हिन्दी में इसी तद्भव संज्ञा 'वास्ता' से '**वास्ते**' अव्यय बना लिया गया है जिसका प्रयोग उर्दू और हिन्दी दोनों में '**लिए**' की तुलना में दिन पर दिन क्रम होता जा रहा है।

हिन्दी के प्रायः सभी कोशों में '**लिए**' का अर्थ सूचित करने के लिए निमित्त, हेतु, कारण, सबब आदि शब्दों का प्रयोग करके काम चलता किया गया है। स्पष्ट है कि ऐसा अर्थापन तात्त्विक दृष्टि से बहुत-कुछ अधूरा तो है ही, प्रायः निरर्थरक और भ्रामक भी है। प्रयोगों के आधार पर हम कह सकते हैं कि इसका व्यवहार नीचे लिखे प्रसंगों में होता है :-

1- किसी उद्देश्य की सिद्धि के प्रसंग में, जैसे —- जीविका-निर्वाह के **लिए** सबको कुछ न कुछ करना पड़ता है।

2- आदाता या गृहीता की ओर लक्ष करने के प्रसंग में, जैसे-ये पुस्तकें मैं आपके **लिए** लाया हूं।

3- किसी गन्तव्य दिशा या स्थान के सूचक प्रसंग में, जैसे-आज वह कलकत्ते के **लिए** रवाना हो रहे हैं।

4- किसी काम के बदले के रूप में, जैसे-(क) इसके **लिए** तो सब लोग तुम्हारी प्रशंसा करते हैं।(ख) पांच रुपए के **लिए** इतनी दूर दौड़कर कौन जाएगा ?

5- किसी की रक्षा या हित-साधन के विचार से, जैसे-(क) देश के **लिए** जान देनेवाले लोग अब भी कम नहीं हैं। (ख) स्वास्थ्य के **लिए** संयम से रहना चाहिए।

6- कर्ता की शक्ति, सामर्थ्य आदि के सूचक प्रसंगों में, जैसे-(क) तुम्हारे **लिए** यह काम कुछ भी कठिन नहीं है। (ख) हमारे **लिए** इस समय वहां जाना किसी प्रकार सम्भव नहीं है।

7- समय की अवधि या विस्तार सूचित करने के प्रसंग में, जैसे-(क) महीने दो महीने के **लिए** कहीं जाकर हवा-पानी बदल आओ। (ख) अदालत ने उसे छः महीने के

लिए जेल भेज दिया।

उक्त प्रसंगों में से अनेक में **'लिए'** के स्थान पर **'वास्ते'** का भी प्रयोग हो सकता है। उक्त उदाहरणों में कुछ ऐसे भी हैं जिनमें से 'के **लिए**' निकाल देने पर भी काम चल सकता है; जैसे – 'आज वे कलकत्ते के **लिए** रवाना हो रहे हैं' की जगह 'आज वे कलकत्ते रवाना हो रहे हैं' कहने से भी काम चल जाता है।

एक बात और है,'आज वे कलकत्ते के **लिए** रवाना हो रहे हैं' इसमें 'कलकत्ता के **लिए**' की जगह 'कलकत्ता के **वास्ते**' का प्रयोग न जाने क्यों कुछ ठीक नहीं जंचता। हां, यदि कहा जाए – 'यह माल कलकत्ता के **वास्ते** बन रहा है' तो इसमें कोई खटक नहीं जान पड़ती। उक्त दोनों प्रयोगों के आधार पर **'लिए'** और **'वास्ते'** के आशयों का एक सूक्ष्म अन्तर मेरी समझ में आता है कि माल कलकत्ते के ग्राहकों के आदेश से, अथवा कलकत्तेवालों के उपयोग के **लिए** बन रहा है। परन्तु 'कलकत्ता' के **लिए** रवाना हो रहे हैं' से केवल गति की दशा सूचित होती है। **'लिए'** और **'वास्ते'** के प्रयोगों में ऐसे ही कुछ और सूक्ष्म अंतर भी हो सकते हैं जिनकी छानबीन मैं भावी अर्थ-विज्ञानियों पर छोड़ता हूं।

ऊपर हमने एक दूसरे प्रसंग में–'देश के **लिए** जान देनेवाले' पद का प्रयोग किया। 'किसी के **लिए** जान देने' और 'किसी पर जान देने' में जो सूक्ष्म अन्तर है उसकी चर्चा हम पहले 'ऊपर और पर' के प्रसंग में कर चुके हैं।

'लिए' के सम्बन्ध में ध्यान रखने की एक मुख्य बात यह भी है कि सदा 'ए' से ही लिखा जाना चाहिए; 'ये' से नहीं। ××

लिप्सा- *स्त्री०* (सं०) दे० 'वासना, तृष्णा, लालसा और लिप्सा'।

205. लेख / अभिलेख / आलेख / प्रलेख / विलेख

205.	लेख	अभिलेख	आलेख	प्रलेख	विलेख
	Writing Article Inscription	Record	Record	Document	Deed

इस वर्ग के शब्द कुछ विशिष्ट घटनाओं, स्थितियों आदि के ऐसे लिखे हुए रूपों और विवरणों के वाचक हैं जिनका ऐतिहासिक, विधिक, व्यावहारिक आदि दृष्टियों से कुछ विशेष उपयोग या महत्व होता है।

'लेख' *पु०* (सं०) के कई मुख्य अर्थ हैं; जैसे-(क) वर्णमाला के ऐसे क्रमबद्ध अक्षर जिनसे सार्थक शब्द, पद, वाक्य आदि बनते हैं। (ख) उक्त प्रकार से लिखी हुई कोई लिखावट। (ग) लिखी हुई कोई बात, विचार, विषय आदि; जैसे ताम्र-लेख, शिला-लेख, हस्त-लेख आदि। परन्तु आज-कल इस शब्द का प्रयोग समाचार पत्रों, सामयिक पत्रों आदि में निकलनेवाली ऐसी बातों के संबंध में होता है जिन पर या तो लेखक-संपादक

आदि की कोई टीका टिप्पणी होती है अथवा उसका मत या विचार व्यक्त होते हैं। इसके सिवा कुछ अवसरों पर इसका प्रयोग किसी वरिष्ठ अधिकारी की ऐसी लिखी हुई आज्ञा या आदेश के लिए भी होता है जो नियम या विधान के अनुसार प्रचलित और प्रचारित हुआ हो।

'अभिलेख' *पु०* (सं०) अभिलिख् से बना है जिसके अर्थ हैं–अंकित या चित्रित करना, उकेरना, लिखना आदि। परन्तु आज-कल इसका प्रयोग कुछ विशिष्ट प्रकार के लेखों के संबंध में होने लगा है। किसी घटना, विषय, व्यक्ति आदि के संबंध में लिखी हुई वे सब बातें जिनका उपयोग आगे चलकर कुछ जानकारी प्राप्त करने अथवा प्रमाण के रूप में उपस्थित करने के लिए होता है, उन सबको **अभिलेख** कहते हैं। लोगों की जानकारी, निर्देश, स्मृति के लिए जो आवश्यक और महत्वपूर्ण घटनाएं अथवा बातें लिखकर रखी जाती हैं, वे सब भी **अभिलेख** के अन्तर्गत ही आती हैं। न्यायालयों आदि में जितने मुकदमे पेश होते हैं उन सबके पूरे और विस्तृत विवरण तथा विधानसभाओं आदि में होनेवाले सभी प्रकार के वाद-विवादों और नए बननेवाले विधानों और पुराने विधानों में होनेवाले परिवर्तनों, संशोधनों, सुधारों आदि के संबंध में जितनी बातें होती हैं उन सबका प्रामाणिक और विस्तृत विवरण भी इसी **अभिलेख** के अन्तर्गत आता है और वह स्थायी रूप से सुरक्षित रखा जाता है।

'आलेख' *पु०* (सं०) भी साधारण अर्थ के विचार से बहुत-कुछ वही है जो **लेख** और प्रलेख या मसौदा (दे० 'पांडुलेख और हस्तलेख') हैं, फिर भी इसमें दोनों की तुलना में कुछ विशिष्टता है। **आलेख** से मुख्यतः किसी **लेख** के उस अन्तिम सम्पूर्ण रूप का बोध होता है जो सब तरह से प्रस्तुत होकर सामने आता है और जिसमें लेखक की दृष्टि से किसी प्रकार के परिवर्तन या सुधार की आवश्यकता नहीं रह जाती। **लेख** में केवल लिखाई की प्रधानता होती है; और प्रलेख में परिवर्तन आदि के लिए अवकाश रहता है, परन्तु **आलेख** में उन तथ्यों या बातों की प्रधानता होती है जो उसमें वर्तमान रहते हैं। प्रायः रेडियो पर सुनने में आता है कि इस रूपक या वार्त्ता का **आलेख** अमुक सज्जन ने प्रस्तुत किया था; यही वह अन्तिम रूप होता है जिसमें वह सबके सामने उपस्थित किया जाता है। इसके सिवा **आलेख** का प्रयोग उस दस्तावेज़ या ऐसे ही और किसी महत्वपूर्ण **लेख** के संबंध में भी होता है जो न्यायालय आदि में प्रमाण के रूप में उपस्थित किया जाता है। आजकल चूड़ी, तवे, फीते आदि के रूप में बना हुआ वह वैज्ञानिक उपकरण भी **आलेख** कहलाता है जिस पर लोगों की आवाज़ें, गाने, भाषण, वार्ताएं आदि अंकित होती हैं और जिन्हें ग्रामोफोन या ऐसे ही और यंत्रों पर रखकर बजाया और सब लोगों को सुनाया जाता है।

'प्रलेख' *पु०* (सं०) विधिक क्षेत्र में ऐसे कागज़ को कहते हैं जिस पर दो या अधिक व्यक्तियों के पारस्परिक लेन-देन, व्यवहार-समझौते आदि की शर्तें लिखी होती हैं और जिस पर प्रमाणस्वरूप उन सब लोगों के हस्ताक्षर होते हैं। आवश्यकतानुसार न्यायालयों आदि में ऐसे कागज़ अपने पक्ष के समर्थन में प्रमाण स्वरूप उपस्थित किए जा सकते हैं। ऋणपत्र या तमस्सुक (Hand note) बन्धक पत्र या रेहननामा आदि इसी के अन्तर्गत

आते हैं। यह पुराने 'दस्तावेज़' के स्थान पर बनाया हुआ नया शब्द है। (फ़ा० दस्तावेज़ का अर्थ है - ऐसा कागज़ जिसके द्वारा किसी ने कोई दायित्व या भार अपने ऊपर लेने के समय प्रमाण-स्वरूप उस पर अपने हस्ताक्षर भी किए हों।)

'विलेख' *पु०* (सं०) भी **प्रलेख** की तरह भारत सरकार का बनाया हुआ नया शब्द है। यह भी है तो बहुत-कुछ वही जो **'प्रलेख'** हैं, और इसमें अपेक्षया कुछ विशिष्टता है। **विलेख** ऐसे **प्रलेख** को कहते हैं जिस पर स्थायी रूप से होनेवाले किसी व्यवहार का उल्लेख होता है; और जिस पर संबद्ध पक्षों की मुहरें होती हैं अथवा जिसका विधिक दृष्टि से पंजीकरण (Registration) हो चुका होता है ऐसे कागज़ न्यायालयों में प्रामाणिक और मान्य समझे जाते हैं। इकरारनामे या संविदा पत्र, बंधक पत्र या रेहननामे, विक्रयपत्र या बैनामे आदि इसी के अन्तर्गत आते हैं।

लोक-तन्त्र- *पु०* (सं०) दे० 'गण-तंत्र, जन-तंत्र और लोक-तंत्र'।

लोक-सभा- *स्त्री०* (सं०) दे० 'विधायिका और सदन'।

लौकिक- *वि०* (सं०) दे० 'भौतिक, पार्थिव, लौकिक और सांसारिक'।

वक्त- *पु०* (अ०) दे० 'काल, वेला और समय'।

वक्तृता- *स्त्री०* (सं०) दे० 'प्रवचन, भाषण, वक्तृता, व्याख्यान और वार्त्ता'।

वजह- *स्त्री०* (अ०) कारण; दे० 'कारण और हेतु'।

वध- *पु०* (सं०) दे० 'हत्या, हनन, मारण, वध और संहार'।

वय- *पु०* (सं०) = वयस्; दे० 'आयु, अवस्था और वय'।

वर्ग- *पु०* (सं०) दे० 'कोटि, वर्ग और श्रेणी'।

वर्जन- *पु०* (सं०) दे० 'वारण, निवारण, वर्जन, निषेध और प्रतिषेध'।

वर्ण- *पु०* (सं०) दे० 'अक्षर और वर्ण'।

वर्तमान- *वि०* (सं०) दे० 'उपस्थित, प्रस्तुत, वर्तमान और विद्यमान'।

वसूली- *स्त्री०* (अ० वुसूल से) = उगाही; दे० 'चंदा, बेहरी और उगाही'।

वाग्पीठ- *पु०* (सं०) दे० 'मंच, मंच-शील, रंग-मंच और वाग्पीठ'।

वाङ्मय- *पु०* (सं०) दे० 'साहित्य और वाङ्मय'।

वाचन- *पु०* (सं०) दे० 'विधायक, विधायन और विधेयक' के अन्तर्गत विधेयक की पाद-टिप्पणी।

वाणिज्य- *पु०* (सं०) दे० 'व्यापार, वाणिज्य और व्यवसाय'।

वातावरण- *पु०* (सं०) दे० 'परिवेश, परिस्थिति, पर्यावरण, पृष्ठभूमि और भूमिका' के अन्तर्गत 'पर्यावरण' और उसकी पाद-टिप्पणी।

वायुमंडल- *पु०* (सं०) दे० 'परिवेश, परिस्थिति, पर्यावरण, पृष्ठभूमि और भूमिका' के अन्तर्गत 'पर्यावरण' और उसकी पाद-टिप्पणी।

206. **वारण निवारण निषेध प्रतिषेध वर्जन**

Forbidding Prohibition Banning

इस वर्ग के शब्द ऐसे आदेश, कथन, विधान आदि के वाचक हैं जो किसी विशिष्ट उद्देश्य से अथवा कारणवश लोगों को कोई काम करने से रोकने के लिए कहे या प्रचलित किए जाते हैं।

'वारण' *पु०* (सं०) के मूल अर्थ तो बाधा, विरोध आदि हैं, परन्तु आगे चलकर लोक-व्यवहार में यह शब्द किसी को किसी काम में मना करने के अर्थ में प्रचलित हो गया है। **'वारण'** प्रायः किसी प्रकार के अनिष्ट या हानि से बचाने के लिए किया जाता है; जैसे-पिता जी ने मुझे मुहल्ले के लड़कों के साथ खेलने के लिए **वारण** कर दिया है। इसका प्रयोग प्रायः ब्रजभाषा की कविता आदि में तो देखने में आता है, परन्तु आधुनिक गद्य में इसका व्यवहार प्रायः नहीं अथवा बहुत कम होता है। प्राचीन तथा मध्ययुग में वारणिक आज्ञाएं प्रचलित होती थीं जिनका उद्देश्य लोगों को किसी काम से रोकने या मना करने के लिए होता था '

'निवारण' *पु०* (सं०) उक्त **वारण** में 'नि' उपसर्ग लगने से बना है और इसका प्रयोग कई प्रकार के अर्थ सूचित करने के लिए होता है। इसमें मुख्य भाव आये हुए किसी प्रकार के कष्ट अथवा आनेवाली विपत्ति आदि को कम या दूर करने के लिए होता है, जैसे कष्ट, रोग आदि का **निवारण**। चिंता, शंका, संदेह आदि दूर करने या मिटाने के सम्बन्ध में भी यह प्रयुक्त होता है। नगर-पालिकाओं आदि की ओर से महामारियों आदि से लोगों को बचाने के लिए जो उपाय या प्रयत्न किये जाते हैं उनका अन्तर्भाव भी इसी के अंतर्गत होता है। हिन्दी में इसके लिए प्रायः 'रोक-थाम' का भी प्रयोग होता है।

'निषेध' *पु०* (सं०) का प्रयोग अपेक्षया अधिक व्यापक क्षेत्र में देखने में आता है और ऐसा जान पड़ता है कि इसमें **वारण** तथा **वर्जन** दोनों की तुलना में और भी अधिक ज़ोर या तीव्रता है। तात्त्विक तथा दार्शनिक दृष्टि से **निषेध** के सम्बन्ध में हमारे यहां कहा गया है- प्राप्तौ सत्यां **निषेधः** अर्थात् साधारणतः सबको और सहज में प्राप्त होनेवाले अधिकारों; सुख-सुभीतों आदि से किसी कारणवश रोकना या वंचित करना ही **'निषेध'** कहलाता है। काशी में विश्वनाथ के मन्दिर के मुख्य-द्वार पर लिखा है - आर्य धर्मेतराणाम प्रवेशो निषिद्धः। अर्थात् आर्य धर्म से भिन्न धर्मों के अनुयायियों को इसमें प्रवेश करने का अधिकार नहीं है। इस शब्द का मूल-कृदन्त रूप 'निषिद्ध' प्रायः ऐसी बातों तथा कामों के सम्बन्ध में होता है जो धर्म, नीति, न्याय आदि की दृष्टि से बिल्कुल त्याज्य अथवा निन्दनीय माने जाते हैं। इसीलिए यह कहना ठीक नहीं है–इस कक्ष (या भवन) में बिना आज्ञा के प्रवेश निषिद्ध है। ऐसे अवसरों पर 'निषिद्ध' की जगह 'वर्जित' का प्रयोग ही अधिक उचित और उपयुक्त होगा।

'प्रतिषेध' *पु०* (सं०) भी है तो बहुत-कुछ वही जो **निषेध** है, फिर भी इसका प्रयोग आज-कल कुछ परिमित क्षेत्रों और विशिष्ट अर्थों में ही होता है। धर्मशास्त्रों में तो गर्हित

या निन्दनीय कामों या बातों का **निषेध** होता है; परन्तु आज-कल विधि-विधानों में इसके स्थान पर **'प्रतिषेध'** का प्रयोग कदाचित् इसीलिए होने लगा है कि हम कुछ कामों या बातों को अनुचित या बुरा तो अवश्य मानते हैं परन्तु उन्हें उतना अधिक गर्हित या निन्दनीय नहीं मानते जितना निषिद्ध बातों को मानते हैं। 'मद्यपान' का **निषेध** तो प्रायः सभी धर्मों में किया गया है; परन्तु आज-कल जो काम या बातें समाज या स्वास्थ्य के लिए हानिकर समझी जाती हैं, उन्हें रोकने के लिए राज्य अथवा सरकार की ओर से जो आज्ञाएं प्रचलित की अथवा विधियां बनाई जाती हैं उन्हें प्रायः **'प्रतिषेध'** ही कहते हैं।

'वर्जन' *पु०* (सं०) का प्रयोग भी बहुत-कुछ उसी अर्थ में होता है जो ऊपर **वारण** का बतलाया गया है। फिर भी हमारी समझ में **वारण** की तुलना में **वर्जन** कुछ अधिक ज़ोरदार और तीव्र भाव का सूचक है। इसमें किसी प्रकार की आज्ञा या आदेश की छाया अन्तर्निहित है, हमारे यहां की प्राचीन कविताओं में इसका प्रयोग प्रायः 'बरजना' के रूप में हुआ, यथा -

(क) मैं बरज्यो कै बार तुम,
इत कित लेत करौट।
पँखुरी लगै गुलाब की
परिहैं गात खरौट।
(ख) मैं बर्ज्यौ कै बार कन्हैया
भली करी बंधे हाथ दिखाए।

वार्त्ता- *स्त्री०* (सं०) दे० 'प्रवचन, भाषण, वक्तृता, व्याख्यान और वार्त्ता'।

वास- *स्त्री०* (सं०) दे० 'गंध, बू, महक और वास'।

207. वासना तृष्णा लालसा लिप्सा

Yearning Avidity

इस वर्ग के शब्द मन की ऐसी वृत्तियों या स्थितियों के वाचक हैं जिनमें मनुष्य किसी काम या बात की पूर्ति या सिद्धि के लिए बहुत उत्सुकता पूर्वक प्रतीक्षा तथा प्रयत्न करता रहता है और उनके लिए प्रायः चिंतित या कुछ विकल सा रहता है।

'वासना' *स्त्री०* (सं०) हमारे यहां के आध्यात्मिक और दार्शनिक क्षेत्रों का पुराना पारिभाषिक शब्द है। तात्त्विक दृष्टि से यही वह मूल है जिसकी विकसित शाखाओं-प्रशाखाओं के रूप में हमारे मन में समय-समय पर अनेक प्रकार की अभिलाषाएं, आकांक्षाएं, इच्छाएं, कामनाएं, लालसाएं आदि उत्पन्न होती रहती हैं। **तृष्णा, लालसा, लिप्सा** आदि भी इसी से अंकुरित होती हैं, जिनके वाचक इस वर्ग के अन्यान्य शब्द हैं। **वासना** सं० की 'वस्' धातु से बना है, जिसका अर्थ है–कहीं ठहरना, बसना या रहना और जिससे वसन, निवास, प्रवास आदि शब्द बने हैं। दार्शनिक दृष्टि से समय-समय पर हमारी चेतना के भीतरी और बहुत-कुछ सोये हुए भाग में जो बहुत सी

इच्छाएं, लालसाएं आदि आकर जमती या बसती चलती हैं, अथवा उस पर अपनी छाप या छाया छोड़ जाती हैं, उन्हीं सबका सामूहिक परिणाम **वासना** है। हमारी चेतना के साथ वासनाओं का वैसा ही स्वाभाविक लगाव है, जैसा हमारे मन के साथ भावनाओं का है (दे० 'भाव और भावना')। आध्यात्मिक दृष्टि से वासनाएं हमारी पूर्व स्थितियों के संस्कार हैं जो आत्मा, देह और बुद्धि के योग से उत्पन्न होते हैं। इनका क्रम या परम्परा जन्म-जन्मान्तर तक चलती रहती है–इनकी कभी तृप्ति या शमन नहीं होता है। हमारे उपचेतन और अचेतन मन में दबी हुई अनेक प्रकार की वासनाएं समय-समय पर सिर उठाती रहती हैं और हमें या हमारे मन को किसी न किसी ओर प्रवृत्त करती रहती हैं। भारतीय अध्यात्म तो यहां तक कहता है कि यही अतृप्त और अशांत वासनाएं अपनी तृप्ति के लिए मनुष्य को बार-बार इस लोक में जन्म लेने के लिए बाध्य करती हैं। हिन्दू शास्त्रों का मत है कि मृत्यु के उपरांत हमारे शरीर से जो आत्मा निकलती है उसके साथ उसका लिंग-शरीर भी रहता है– जो अपने साथ समस्त कर्म-फल और उनसे सम्बद्ध संस्कार लिए रहता है। कहा गया है कि उस लिंग-शरीर में 18 तत्त्व होते हैं जिनमें बुद्धि-तत्त्व प्रधान है। गीता में भी कहा गया है कि आत्मा उसी प्रकार मन और ज्ञानेन्द्रियों को अपने साथ खींच ले जाती है, जिस प्रकार वायु। यही **वासना** का वास्तविक रूप है। 'आशा, **तृष्णा** ना मरें, कह गये दास कबीर' में आशा और **तृष्णा** दोनों अपने मूल आधार **वासना** की ओर ही संकेत करती हैं।

'तृष्णा' सं० के उस 'तृष्' शब्द से बना है, जिससे तृषा (प्यास) बना है*। इस वर्ग के प्रायः सभी दूसरे शब्दों से यह कहीं अधिक प्रबल तथा विकट भावना का सूचक है। **तृष्णा** सदा किसी लौकिक या सांसारिक सुख-भोग के सम्बन्ध में होनेवाली ऐसी तीव्र अभिलाषा या इच्छा है जो कभी तृप्त होना जानती ही नहीं और ज्यों-ज्यों इसकी आंशिक सिद्ध होती चलती है, त्यों-त्यों यह भी आगे बढ़ती चलती है। जिस बात या विषय की हमें **तृष्णा** होती है, उसकी प्राप्ति के लिए हम सद्-असद सबका विचार छोड़कर अपनी सारी शक्ति से सदा लगे रहते हैं और इसीलिए यह हमें सबसे अधिक विकल भी रखती है। कदाचित् इन्हीं सब विशेषताओं के कारण इसे मृग-तृष्णा में उत्तर-पद का स्थान मिला है (दे० 'भ्रम, भ्रान्ति, मतिभ्रम, विभ्रम और मरीचिका')।

'लालसा' *स्त्री०* (सं०) लस् से व्युत्पन्न है। जब हम कुछ पाने के लिए बहुत अधिक इच्छुक तथा उत्सुक होते हैं और निरंतर उसकी प्राप्ति की प्रतीक्षा में रहते हैं, तब हमारे मन की यह स्थिति लालसा कहलाती है।* जब दशरथजी कहते हैं–'एक लालसा बड़ी उर माहीं।'–तुलसी, तब उसका आशय यही होता है कि किसी प्रकार हम इसकी पूर्ति कर लेना चाहते हैं।

---

* इसी तृष्णा से फ़ारसी में तश्नः (प्यासा) और तश्नगी (प्यास) शब्द बने हैं। हो सकता है कि अंग्रेज़ी (Thrist) का भी इससे कुछ मूलिक या व्युत्पत्तिक सम्बन्ध हो।

* हिं० का लालच शब्द इसी लालसा से व्युत्पन्न है; परन्तु लालच में लोभ की जो प्रबलता होती है वह लालसा में उतनी अधिक प्रतीति नहीं होती।

'लिप्सा' *स्त्री०* (सं०) लभ् (प्राप्त करना) से व्युत्पन्न है; और कदाचित् इसीलिए लालसा की तुलना में **लिप्सा** तीव्र या प्रबल लोभ के भाव से युक्त है। इसे हम **लिप्सा** का बहुत-कुछ आगे बढ़ा हुआ रूप कह सकते हैं। हम कहते हैं–'उनके मन में बहुत दिनों से इस सभा के सभापति बनने की लालसा थी।' तो ऐसा कथन साधारण ही प्रतीत होता है; परन्तु जब इसी वाक्य में 'लालसा' के स्थान पर **'लिप्सा** का प्रयोग हो, तब यही कहा जाएगा कि उनके मन में सभापति बनने का लालच या लोभ अधिक जाग्रत और बहुत कुछ स्पष्ट था।

इस कोटि के अन्यान्य शब्दों के लिए दे० (1) 'इच्छा, कामना, अभिलाषा, आकांक्षा और स्पृहा' और (2) 'चाह, चाहत, चाव और साध'। ××

वास्तविक- *वि०* (सं०) दे० 'यथार्थ और वास्तविक'।

वास्ते- *अव्य०* (अ० वासितः) दे० 'लिए और वास्ते'।

विकल्प- *पु०* (सं०) दे० 'अनुकल्प और विकल्प'।

विकास- *पु०* (सं०) दे० 'उन्नति, प्रगति और विकास'।

विघ्न- *पु०* (सं०) दे० 'बाध, बाधा और विघ्न'।

208 विचार परामर्श विमर्श

Consideration Advice,Consultation Deliberation

इस वर्ग के शब्द किसी गम्भीर विषय पर अच्छी तरह सोचने-समझने और तब तथ्य या निर्णय तक पहुंचने के प्रयत्न के वाचक हैं। इस प्रकार का सोचना-समझना अकेले और स्वयं भी हो सकता है और दूसरों के सहयोग तथा सहायता से भी।

'विचार' *पु०* (सं०) हमारे यहां प्रयोग की दृष्टि से जितना अधिक व्यापक है, आर्थी दृष्टि से भी उतना अधिक व्यापक है। इसका पहला और मुख्य अर्थ है–इंद्रियों के द्वारा किसी चीज़ या बात का अनुभव या ज्ञान होने पर मन में बननेवाला उसका चित्र या रूप। परन्तु प्रस्तुत प्रसंग में इसका दूसरा अर्थ होता है–किसी भावी कार्य या विषय के सम्बन्ध में तर्क-वितर्क और मनन के फलस्वरूप बननेवाला वह कल्पित चित्र या रूप जो हमारे मानस-क्षेत्र में प्रस्तुत होता है। इस प्रकार का **विचार** अपने मन में छिपाकर भी रखा जा सकता है और दूसरों को अवगत कराने अथवा उनका मत जानने के लिए उनके सामने उपस्थित भी किया जा सकता है; जैसे-आपको निष्पक्ष होकर इस विषय में अपना **विचार** प्रकट करना चाहिए। आशय यही होता है कि आप अच्छी तरह सोच-समझकर बतलायें कि यह बात ठीक है या नहीं, अथवा इसका ठीक रूप क्या होना चाहिए। जब हम कहते हैं–'इस विषय पर अच्छी तरह से **विचार** होना चाहिए', तब भी हमारा आशय यही होता है कि इस विषय में जितनी बातें हो सकती हैं, या होनी चाहिए, वे सब अच्छी तरह सोच और समझ ली जानी चाहिए।

'परामर्श' *पु०* (सं०) के यों तो कई अर्थ हैं; और उसका एक अर्थ वह भी है जो नीचे **विमर्श** के अंतर्गत बतलाया गया है। इसी आधार पर यह अन्तिम निर्णय, निश्चय या निष्कर्ष का भी वाचक हो गया है, परन्तु हिन्दी में यह मुख्य रूप से दो विशिष्ट अर्थों में प्रचलित है। जब हमारे सामने कोई जटिल या विचारणीय प्रश्न आता है, अथवा अपने निर्णय या निश्चय में किसी प्रकार की त्रुटि, दोष या हानि की सम्भावना देखते हैं, तब हम अपने किसी मित्र या विशेषज्ञ से यह जानना चाहते हैं कि हमें क्या करना चाहिए और क्या नहीं करना चाहिए। ऐसे अवसर पर हमारा मित्र या विशेषज्ञ अपना जो मत या **विचार** बतलाता है, अथवा हमें कार्य करने का जो मार्ग सुझाता है वही उसका **परामर्श** कहलाता है। इसीलिए हम कहते हैं- (क) मैं इस विषय में आपसे **परामर्श** करना चाहता हूं; और (ख) मैंने इस विषय में उनका भी **परामर्श** ले लिया है। इसका दूसरा अर्थ भी है तो बहुत कुछ इसी प्रकार का, परन्तु उसका क्षेत्र अपेक्षया अधिक विस्तृत या व्यापक होता है।

प्रायः लोक-व्यवहार में कुछ ऐसे अवसर या प्रसंग भी आते हैं जिनमें किसी गहन या जटिल प्रश्न या योजना के सम्बन्ध में ठीक **विचार** करने के लिए अनेक जानकारों या विशेषज्ञों की सहायता लेनी पड़ती है। ऐसे लोग एकत्र होकर प्रस्तुत विषय की सब बातों पर बहुत अच्छी तरह सोच-विचार करके यह बतलाते हैं कि क्या होना चाहिए और कैसे होना चाहिए। यह क्रिया भी उन लोगों के मत या **विचार** जानने के लिए होती है और उनका विवेचन तथा निश्चय भी **परामर्श** कहलाता है।

हिन्दी में इसके स्थान पर प्रायः अरबी के 'सलाह' शब्द का भी प्रयोग होता है।

'विमर्श' *पु०* (सं०) का अर्थ भी है तो बहुत कुछ वही जो ऊपर **विचार** का बतलाया गया है; और सम्भवतः इसीलिए लोग प्रायः **विचार** और **विमर्श** का एक साथ प्रयोग करते देखे जाते हैं, परन्तु **विमर्श** में **विचार** के सिवा एक और भाव भी सम्मिलित है। किसी बात या विषय में किसी निर्णय या निश्चय पर पहुंचने से पहले जब हम कुछ लोगों के साथ बैठकर उसके सब अंगों या पक्षों का ऊंच-नीच और हानि-लाभ देखते हैं या सब बातें अच्छी तरह सोचते-समझते हैं, तब हमारा यह कार्य **विमर्श** कहलाता है। **विचार** तो हम अकेले या स्वयं कर सकते हैं, परन्तु **विमर्श** में किसी दूसरे व्यक्ति या व्यक्तियों की भी अपेक्षा होती है। आपस में मिल-जुलकर और अच्छी तरह सोच-समझकर की जानेवाली चर्चा ही मुख्यतः **विमर्श** है।

XX

विचार-गोष्ठी- *स्त्री०* (सं०) दे० 'परिचर्चा, परिसंवाद और विचारगोष्ठी (या संगोष्ठी)'।

209. विचित्र — Peculiar | विलक्षण — Strange, Queer | अद्भुत — Wonderful

इस वर्ग के विशेषण ऐसी चीज़ों या बातों के सूचक हैं जो या तो साधारण से कुछ भिन्न प्रकार की होती हैं और इसीलिए बहुत कम दिखाई पड़ती हैं, अथवा जिनके अस्तित्व, घटन आदि की सहसा आशा नहीं की जा सकती; और इसीलिए हमें सोचना पड़ता है कि ऐसा क्यों हुआ।

'विचित्र' *वि०* (सं०) मूलतः ऐसी चीज़ या बात को कहते हैं, जो कई प्रकार के चित्रों या रंगों से युक्त हो; अर्थात् जिसमें कई प्रकार की रंगतें दिखाई देती हों। परन्तु प्रस्तुत प्रसंग में विचित्र वह है जो सहसा सब जगह न देखने में आता हो। 'विचित्र' सदा नियमित, प्रसम या साधारण से भिन्न होता है। जो चीज़ या बात हमें साधारणतः प्रायः एक रूप में दिखाई देती है, वही जब किसी नये और अलग रूप में देखने में आती है, तब वह हमारे लिए विचित्र होती है। इसमें औरों की अपेक्षा कुछ ऐसी नवीनता या पार्थक्य होना चाहिए जो हमें कुछ चकित करे और हमें यह सोचना पड़े कि ऐसा क्यों हुआ अथवा यह ऐसा क्यों है। जो सदा एक सा आचरण न करे, उसे हम विचित्र स्वभाववाला मनुष्य कहते हैं। यदि हमारा मित्र कभी तो हमारे प्रति कठोर हो जाय और कभी कोमल, तो हमें उसका व्यवहार भी विचित्र जान पड़ेगा। हम कहते हैं–आज हमने एक विचित्र प्रकार का तामाशा (या पहनावा) देखा। आशय यही होता है कि ऐसा तमाशा (या पहनावा) साधारणतः सब जगह या सब लोगों के देखने में नहीं आता।

'विलक्षण' *वि०* (सं०) का मूल अर्थ है–जो अनेक प्रकार के लक्षणों से युक्त हो; और इसीलिए जिसकी ठीक व्याख्या न हो सके। इसके सिवा इसका एक और अर्थ 'लक्षणों से रहित' भी होता है; और इसीलिए जिसमें कारणों का पता न चल सके। इसमें विचित्र की अपेक्षा कुछ और गहरी रंगत है। विलक्षण और विचित्र में कुछ अन्तर अवश्य है। शब्दार्थ के **विचार** से विचित्र वह है जो अपने कई रंगों आदि के कारण हमारा ध्यान आकृष्ट करता हो; और विलक्षण वह है जो अपने किसी विशिष्ट लक्षण के कारण औरों से पहले हमारे पक्ष या ध्यान में आए। आशय यह होता है कि वह अपना रंग छोड़ चुका है और उसमें कुछ ऐसी नई रंगत या रंगतें दिखाई पड़ती हैं जो हमारी आशा या कल्पना के बाहर होती हैं। पर प्रयोग के **विचार** से विलक्षण वह है जो अपने स्वरूप के कारण कुछ ऐसी असामान्य स्थिति में हो कि हमें चकित भी कर सके। यह हमें खटकता भी है और चौंकाता भी है। विचित्र भी चकित तो करता ही है, पर उतना नहीं, जितना विलक्षण करता है। विचित्र की अपेक्षा विलक्षण कुछ उत्कट और ऊंचा है। वस्तुतः विलक्षण वह है जो हमें अप्राकृतिक, अस्वाभाविक और बिल्कुल नया या परकीय जान पड़े; और इसीलिए हम जिसका कोई आधार या कारण स्थिर न कर सकें। जब हम चीन के निवासियों को दोनों हाथों से कीलियों से उठा-उठाकर भात खाते हुए देखते हैं, तब हम कहते हैं –

उनके खाने का ढंग बहुत विलक्षण है,अर्थात् हमने और किसी जाति अथवा देश के लोगों को इस प्रकार भात खाते नहीं देखा। जब हम कहते हैं – 'हमें उनका उस दिन का व्यवहार बहुत ही विलक्षण जान पड़ा; तो हमारा आशय यह होता है कि वे साधारणतः हमारे साथ जैसा व्यवहार करते हैं, उससे उनका उस दिन का व्यवहार बहुत भिन्न भी था और विलक्षण भी। उसके बोलने, (या नाचने) का ढंग बहुत ही विलक्षण है' सरीखे प्रयोगों में भी विलक्षण का यही आशय और भाव होता है।

'अद्भुत' *वि०* (सं०) वह कहलाता है जो साधारण से बहुत अधिक भिन्न होने के कारण कुछ समय के लिए हमें चकित या स्तब्ध-सा कर देता है। हम उसे देखकर प्रसन्न तो अवश्य होते हैं, पर सहसा उसकी तह या मूल तक नहीं पहंच पाते। भले ही इसका कारण हमारा अज्ञान या अल्पज्ञान हो। वस्तुतः जिसका ज्ञान जितना ही अधिक होता है, उसके लिए उतनी ही कम चीज़ें या बातें अद्भुत होती हैं। जंगलियों और देहातियों के लिए मोटरें, रेडियो और हवाई जहाज अद्भुत होते हैं,पर नगर-निवासियों के लिए नहीं होते। इसी प्रकार परमाणु या विश्व के सम्बन्ध की बहुत-सी बातें नगरवासियों के लिए भी अद्भुत होती या हो सकती हैं। कुछ अवस्थाओं में लोकोत्तर बातें भी 'अद्भुत' कही जाती हैं, जैसे-ईश्वर की माया (या प्रकृति की लीला) अद्भुत होती है। आशय यही होता है कि वह हमें चकित भी करती है और उसका रहस्य समझना भी हमारी शक्ति के बाहर है। तुलनात्मक दृष्टि से हम यह भी कह सकते हैं कि विचित्र और विलक्षण की अपेक्षा 'अद्भुत' में बहुत अधिक गहरी रंगत है। विचित्र और विलक्षण दोनों के लिए हमारे यहां अ० के **'अजब'** और **'अजीब'** का भी कुछ लोग प्रयोग करते हैं।

210 **विज्ञप्ति** Communique **अधिसूचना** Notification **ज्ञापन** Memorandum **ध्येय-पत्र** Manifesto **श्वेतपत्र** White-paper

इस वर्ग के शब्द ऐसे मुद्रित या लिखित लेख्यों के वाचक हैं, जो अधिकारिक रूप से किसी को अपना निश्चय, मत या विचार सूचित करने के लिए प्रकाशित या प्रचलित किए जाते हैं।

'विज्ञप्ति' *स्त्री०* (सं०) का मूल अर्थ है – किसी को अपनी कोई बात जतलाने या परिचित कराने के लिए कहना या बतलाना। इसका एक और अर्थ विज्ञापन या इश्तहार भी होता है। परन्तु प्रस्तुत प्रसंग में विज्ञप्ति ऐसी सार्वजनिक सूचना को कहते हैं जो किसी अधिकारी, विभाग या शासन की ओर से लोक में प्रकाशित की जाती है। आज-कल जब दो या अधिक देशों, राष्ट्रों आदि के प्रतिनिधि या प्रमुख अधिकारी किसी विषय पर विचार-विमर्श करने के लिए एकत्र होते हैं, तब वे अपने निश्चित किए हुए विचारों अथवा निकाले हुए निष्कर्षों का सारांश भी इसलिए प्रकाशित कराते हैं कि लोग

यह जान लें कि उन लोगों ने क्या निश्चय किया अथवा सोचा-समझा है। आज-कल विशेष रूप से ऐसे प्रकाशनों को ही 'विज्ञप्ति' कहते हैं।

'अधिसूचना' *स्त्री०* (सं०) का मुख्य अर्थ है - किसी महत्वपूर्ण बात के सम्बन्ध में विशिष्ट रूप से दी जानेवाली सूचना। आज-कल प्रायः सरकारी विभागों की ओर से निम्नस्थ कर्मचारियों की जानकारी के लिए भी और कुछ अवसरों पर जन-साधारण की जानकारी के लिए भी इस प्रकार की सूचनाएं प्रायः निकलती रहती हैं। उदाहरणार्थ यदि किसी काम की अवधि कुछ घटाई या बढ़ाई जाती है, अथवा कोई नया नियम या उपनियम प्रचलित किया जाता है तब उसके सम्बन्ध में निकाली जानेवाली ऐसी सूचना ही 'अधिसूचना' कहलाती है।

'ज्ञापन' *पु०* (सं०) का शब्दार्थ है - किसी को कुछ ज्ञात या विदित कराना। पहले अंग्रेजी के Memorandum के लिए स्मृति-पत्र, स्मारक-पत्र आदि कुछ शब्द सुझाए गए थे, परन्तु अर्थ की दृष्टि से वे बहुत ही भ्रामक थे, अतः उनके स्थान पर पहले तो स्मारिका शब्द प्रचलित किया गया; पर यह भी कुछ त्रुटिपूर्ण था; अतः इसके स्थान पर रेडियो और समाचार-पत्रों में प्रायः ज्ञापन का प्रयोग होने लगा है। अंग्रेजी में Memorandum के कई प्रकार और रूप होते हैं; जिन्हें जान लेने पर यह समझ में आता है कि इसके लिए हिन्दी में 'ज्ञापन' का प्रयोग अधिक उपयुक्त होगा। प्रायः कुछ बातें किसी को इसलिए लिखकर दे दी जाती हैं कि वह उन्हें ध्यान में रखे और यदि हो सके तो उनकी कुछ व्यवस्था भी करे। इसके अन्तर्गत पहले के कुछ अनुभवों या घटनाओं की चर्चा भी हो सकती है और भविष्य में उनके आधार पर कामों को कुछ अच्छे और नए रूप भी दिए जा सकते हैं। प्रायः विभागों के बड़े अधिकारियों के पास ऐसे ज्ञापन भेजे जाते हैं। इसमें किसी काम या बात के पक्ष और विपक्ष की बातें भी हो सकती हैं और कुछ विवरण भी हो सकता है। प्रायः व्यापारिक मंडलियां अपने कार्य-संचालन के नियमों और प्रणालियों की कोई पुस्तिका भी प्रकाशित करके अपने ग्राहकों और हिस्सेदारों में बांटती हैं। आज-कल किसी बहुत बड़े अधिकारी या शासक की सेवा में संस्थाओं आदि की ओर से ऐसे ज्ञापन भी उपस्थित किए जाते हैं जिनमें उन संस्थाओं के अब तक के किए हुए अच्छे कामों का संक्षिप्त परिचय भी होता है और अपनी भावी आवश्यकताएं भी बतलाई जाती हैं। उद्देश्य यही होता है कि उच्च अधिकारी ये सब बातें अपने ध्यान में रखें और यदि हो सके तो समय आने पर उनकी कुछ सहायता भी करें।

'ध्येय-पत्र' *पु०* (सं०) मेरी समझ में अंग्रेजी के Manifesto के लिए सब से अधिक उपयुक्त शब्द होगा। अब तक साधारणतः लोग इसके लिए भी 'घोषणा-पत्र' का ही प्रयोग करते हुए देखे जाते हैं; परन्तु वास्तव में घोषणा का आशय तथा विवक्षा इससे बहुत कुछ दूर पड़ती है। 'घोषणा' का मुख्य अभिप्राय होता है - लोगों को कोई बात बतलाना या परिचित कराना। परन्तु Manifesto का अभिप्राय होता है- लोगों को अपना उद्देश्य और ध्येय बतलाते हुए यह समझाना कि इसकी सिद्धि के लिए हमारा क्या कार्यक्रम और

कार्य-प्रणाली होगी। ऐसे ध्येय-पत्र किसी महत्वपूर्ण कार्य या बात के लिए समय-समय पर शासन की ओर से भी और राजनीतिक दलों तथा सार्वजनिक संस्थाओं की ओर से भी प्रकाशित होते रहते हैं। आशय यह होता है कि भविष्य के सम्बन्ध में लोग हमारा मत या विचार अच्छी तरह समझ लें और उनके साधन में सहानुभूतिपूर्वक हमारे साथ सहयोग करें। प्रायः लोक-तांत्रिक संस्थाओं के निर्वाचन के समय भिन्न-भिन्न दल अपने स्वतंत्र ध्येय-पत्र प्रकाशित करते हैं, और इसी के आधार पर उनका प्रतिनिधित्व प्राप्त करना चाहते हैं।

'परिपत्र' *पु०* (सं०) प्रशासनिक और वैज्ञानिक क्षेत्रों में Circular का भाव सूचित करने के लिए नया गढ़ा हुआ शब्द है। प्रायः किसी नयी बात, विज्ञप्ति या सूचना की बहुत सी प्रतियां तैयार कर ली जाती हैं; और सम्बद्ध लोगों के पास उनकी जानकारी के लिए भेजी जाती हैं। ऐसे ही पत्रों या विज्ञापनों को परिपत्र कहते हैं। उद्देश्य यह होता है कि आगे जो कार्य या व्यापार हो उनमें परिपत्र की बातों का ध्यान रखा जाय और उन्हीं के अनुसार सब काम किए जाएं।

'श्वेत-पत्र' *पु०* (सं०) आधुनिक राजनीति में वह प्रतिवेदन या विज्ञप्ति है, जो किसी साधारण महत्व की घटना या बात के सम्बन्ध में शासन की ओर से प्रकाशित की जाती और विधान-सभा, संसद आदि के समक्ष इस उद्देश्य से उपस्थित की जाती है कि लोगों को उसकी ठीक जानकारी हो जाय और उनके मन में कोई भ्रम या सन्देह न रह जाए। इसका यह नामकरण पाश्चात्य देशों में इसलिए हुआ है कि यह जैसे सफेद कागज़ पर छपा या लिखा हुआ होता है, वैसा ही सफेद कागज़ इसके आवरण-पृष्ठ के लिए भी काम में लाया जाता है। आवरण-पृष्ठ के कागज़ का भी सफेद होना इस बात का सूचक माना जाता है कि इसमें प्रतिपादित विषय साधारण महत्त्व का ही है, विशेष महत्व का नहीं।

इस कोटि के कुछ और शब्दों के विवेचन के लिए दे० 'घोषणा, प्रख्यापन, परिज्ञापन और प्रवर्तन'। ××

विज्ञान- *पु०* (सं०) दे० 'दर्शन, विज्ञान और शास्त्र'।

वित्त- *पु०* (सं०) दे० 'धन, वित्त, वैभव, सम्पत्ति और परिसम्पत्ति'।

विद्यमान- *वि०* (सं०) दे० 'उपस्थित, प्रस्तुत, वर्तमान और विद्यमान'।

विद्वेष- *वि०* (सं०) दे० 'वैमनस्य, विद्वेष, शत्रुता, वैर और रिपुता'।

211. विधा विधान अधिनियम विनियम प्रविधान संविधान संहिता

इस वर्ग के शब्द इस बात के सूचक हैं कि कोई विशिष्ट कार्य ठीक तरह से पूरा करने के लिए कौन-सा ढंग या प्रकार अपनाया जाना चाहिए।

'विधा' *स्त्री०* (सं०) मूलतः सं० की 'धा' धातु से बना है जिसका पहला अर्थ

है–**कोई चीज़** कहीं ठीक तरह से रखना; और दूसरा अर्थ है–किसी काम या बात की **ओर ध्यान** देना या मन लगाना। इसी आधार पर 'धा' धातु से धारण, धारणा सरीखे शब्द बने हैं। इसी 'धा' के पहले 'वि' उपसर्ग लगने से **विधा** शब्द बना है, जिसके सं० में अनेक अर्थ हैं; जैसे-(क) अंश या भाग निश्चित करना। (ख) बांटना या विभाजन करना। (ग) आकार, रूप आदि। परन्तु हिन्दी में यह मुख्यतः दो अर्थों में प्रचलित है–एक तो ढंग या तरीका; और दूसरा–प्रकार या भेद। इसी आधार पर इससे द्विविधा, सुविधा, त्रिविधि, पंचविधि सरीखे विकारी रूप बने हैं। प्रस्तुत प्रसंग में यह है तो कोई काम करने का ढंग या प्रकार ही; परन्तु यह प्रथा, रीति, विधि आदि से कुछ बातों में भिन्न है। **विधा** न तो तर्कसंगत ही होती है, न परम्परागत और न सर्वमान्य ही। यह बहुधा कर्ता की प्रवृत्ति या रुचि पर ही आश्रित होती है; जैसे-आज-कल हिन्दी में आलोचना (या काव्य) की कई नई-नई विधाएं प्रचलित होने लगी हैं*।

'विधान' *पु०* (सं०) उक्त विधा का ही एक विकारी रूप है। हिन्दी में यह कई अर्थों में प्रचलित है; जैसे-(क) किसी कार्य के सम्बन्ध में किया जानेवाला आयोजन और उसका प्रबन्ध या व्यवस्था। (ख) निर्माण, रचना, और सर्जन। (ग) किसी चीज़ या बात का किया जानेवाला उपयोग, प्रयोजन या व्यवहार; जैसे-संस्कृत में शब्द बनाने के लिए धातु में उपसर्ग या अव्यय का **विधान**। (घ) यह बतलाना या समझाना कि अमुक कार्य इस प्रकार किया जाना चाहिए; अर्थात् कोई ढंग या तरीका बताना आदि। सारांश यह कि इसका मुख्य आशय है–क्रम, व्यवस्था आदि का ध्यान रखते हुए इस रूप में कोई काम करना या चीज़ बनाना जिससे उसका पूरा उपयोग हो सके।

साधारणतः **'विधान'** ऐसी आज्ञा या आदेश का वाचक है, जिसका निर्वाह और पालन सम्बद्ध लोगों के लिए अनिवार्य और परम कर्तव्य हो; जैसे-धर्मशास्त्र का **विधान**। प्रस्तुत प्रसंग में और अपने सबसे अधिक प्रचलित तथा प्रसिद्ध अर्थ में यह ऐसी कार्य-प्रणालियों, नियमों आदि का वाचक है जो राजा या शासन की ओर से प्रजा या शासितों के सुभीते और हित के लिए बनाये जाते हैं। आशय यही होता है कि अमुक काम होना भी चाहिए और अमुक प्रकार से या अमुक रूप में होना चाहिए। इसका उद्देश्य सबके साथ न्याय करना और देश या समाज में शान्ति बनाये रखना होता है। अलग-अलग कार्यों, क्षेत्रों या व्यवहारों के लिए अलग-अलग **विधान** होते हैं, जिनमें विधि और निषेध दोनों का स्पष्ट रूप से और पृथक्-पृथक् धाराओं में उल्लेख और विवेचन होता है, जैसे–भूमिकर **विधान**, मादक द्रव्य **विधान**, साक्ष्य **विधान** आदि।** इसका विशेषण रूप 'वैधानिक' होता है। अरबी का 'कानून' शब्द इसका समार्थक है और इसलिए इसके पर्याय रूप में भी प्रचलित है। भारत सरकार ने इसका नया पर्याय **अधिनियम** भी बनाया है।

---

* इस वर्ग के अन्यान्य शब्दों के विवेचन के लिए दे० (1) 'विधि, क्रिया-विधि और प्रक्रम'। (ख) 'प्रविधि और प्रज्ञान' के अन्तर्गत 'प्रविधि'।

** विधान से सम्बन्ध रखनेवाले अन्यान्य शब्दों के लिए दे० (1) 'विधायक, विधायन और विधेयक'। (2) 'विधायिका और सदन'। (3) 'विधि और संविधि'।

'विनियम' *पु०* (सं०) का मुख्य अर्थ है विशेष प्रकार का नियम; अथवा ऐसे नियम जो किसी काम या बात को नियंत्रित और सीमित रखने के लिए बनाए गए हों। इसमें मुख्य उद्देश्य कार्यों का ठीक तरह से निर्वाह और संचालन करना होता है। तात्विक दृष्टि से हम इसे नियम और **विधान** के स्थान दे सकते हैं। पारिभाषिक दृष्टि में यह **विधान** के बहुत कुछ समान ही होता है; फिर भी इसे **विधान** का विधिक और स्पष्ट रूप प्राप्त नहीं होता। किसी प्रकार के तंत्र, प्रणाली या संस्थान के सब काम ठीक तरह से चलाने और भली-भांति नियंत्रित रखने के लिए जो नियम आदि बनाए जाते हैं उन्हीं का सामूहिक रूप **विनियम** कहलाता है; जैसे-सामयिक या सैनिक **विनियम** आदि।

'प्रविधान' *पु०* (सं०) का शब्दार्थ होता है–प्रकृष्ट या प्रशस्त विधान। पहले यह किसी बात पर सोच-विचार करने अथवा किसी विचार को कार्य का रूप देने के अर्थ में प्रचलित था। आगे चलकर यह उन उपायों और साधनों का भी वाचक हो गया जिनसे कोई काम पूरा होता है। परन्तु आज-कल यह अंग्रेजी के Provision का आशय या भाव बतलाने के लिए प्रचलित हो गया है। परन्तु मेरी समझ में यदि इसके स्थान पर 'अनुविधान' का प्रचलन हो तो अधिक अच्छा है। वस्तुतः यह किसी नियम या **विधान** का अंग या अंश ही होता है। जैसा कि नीचे की व्याख्या से सूचित होगा, 'प्रविधान' की तुलना में 'अनुविधान' कहीं अधिक उपयुक्त और सार्थक होगा। जब कोई प्रलेख लिखा जाता है अथवा नियम बनाया जाता है, तब इस बात का भी ध्यान रखा जाता है कि आगे चलकर किसी समय कुछ नई परिस्थितियां या संभावनाएं हो सकती हैं। ऐसी ही बातों का ध्यान रखकर नियमों, विधानों आदि में पहले जो रास्ता बतला दिया जाता है या जो व्यवस्था कर दी जाती है वही **'प्रविधान'** कहलाती है, जैसे: अमुक **विधान** की कई धाराओं में अब कुछ नए **प्रविधान** भी जोड़ दिये गए हैं। इसमें आकस्मिक या उपस्थित होनेवाली भावी आवश्यकताओं का ध्यान रखते हुए इनकी पूर्ति की व्यवस्था करने का भाव प्रधान है। कुछ लोग इसके स्थान पर अ० 'शर्त' का भी प्रयोग करते हैं, परन्तु मेरी समझ में वह भी ठीक नहीं है। शर्त में मुख्य भाव इससे कुछ भिन्न है। एक तो उसका सम्बन्ध किसी प्रकार की विद्यमानता या अविद्यमानता से होता है; और दूसरे, वह ऐसी बात है जो किसी कार्य की पूर्ति के लिए या तो अपेक्षित हो या आवश्यक, और यह स्थिति उस स्थिति से बिल्कुल भिन्न है जिसका उल्लेख ऊपर **प्रविधान** (या अनुविधान) में किया गया है। शर्त या तो (Condition) है या (Term), और ये दोनों शब्द अंग्रेज़ी के (Provision) से बहुत-कुछ अलग और दूर हैं।

'संविधान' *पु०* (सं०) के संस्कृत में क्रम, प्रबन्ध, व्यवस्था, स्वत्व, बनावट और रचना आदि कई अर्थ हैं। हिन्दी में आज-कल इसके लिए पुराने अर्थ तो बहुत-कुछ छूट गए हैं, और बनावट या रचनावाले अर्थ के आधार पर राजतंत्र के क्षेत्र का एक अर्थ आ लगा है; और इसी नये अर्थ में सबसे अधिक प्रचलित अर्थ प्रसिद्ध है। आज-कल यह उन नियमों, सिद्धान्तों आदि का सामूहिक रूप से वाचक हो गया है जो किसी राज्य, राष्ट्र या संस्था (संघटन) कार्य-संचालन के लिए बनाये जाते हैं, और जिसके अनुरूप सब कार्यों का होना निश्चित रूप से अनिवार्य और परम कर्तव्य होता है। यह सब प्रकार के नियमों

और विधि-विधानों का आधार स्तम्भ होता है। जब कोई देश स्वतंत्र होता है अथवा कोई राज्य या संस्था स्थापित होती है, तब अपना **संविधान** बनाना उसका पहला और प्रधान कर्तव्य होता है। यही **संविधान** राज्य या संस्था का स्वरूप भी स्थिर करता है और उसका भावी कार्य-क्षेत्र, नीति आदि भी निर्धारित करता है। **संविधान** का पालन परम और पवित्र कर्तव्य माना जाता है। केवल बड़ी अड़चन या आवश्यकता पड़ने पर ही इसमें परिवर्तन और संशोधन हो सकते हैं; परन्तु इनके लिए भी जो नियम होते हैं वे प्रायः कठोर होते हैं, सहज-साध्य नहीं होते। इसका विशेषण रूप 'संवैधानिक' होता है।

'संहिता' *स्त्री०* (सं०) हमारे यहां का बहुत प्राचीन शब्द है। इसका मूल अर्थ है– बहुत सी चीज़ों के एक साथ मिले हुए होने की अवस्था या भाव। इसे हम एक ही तरह की बहुत सी चीज़ों या बातों का कुछ विशिष्ट प्रकार का संगृहीत रूप कह सकते हैं। प्राचीन काल में धार्मिक, नैतिक, सामाजिक आदि आचरणों और व्यवहार का जो रूप प्राचीन ऋषि और विद्वान् निरूपित करते थे, उन सबका संग्रह या संकलन ही विशेष रूप से **'संहिता'** कहलाता था। किसी ग्रन्थ का पद, पाठ आदि की दृष्टि से परम्परागत स्थिर रूप भी **संहिता** कहलाता था; जैसे-अत्रि-संहिता, बृहत्-संहिता आदि। आगे चलकर राजकीय अधिकारियों के द्वारा निश्चित किए हुए नियमों, विधियों आदि का संग्रह भी इसी नाम से प्रसिद्ध हुआ था; जैसे-भारतीय दंड **संहिता** आदि। आज-कल राजनीतिक दलों के सदस्यों, पूंजीदारों, श्रमिकों आदि के आचरण और व्यवहार के सम्बन्ध में जो नियम या विधियां बनती हैं उन्हें भी **'संहिता'** कहने लगे हैं; जैसे-विधान सभा के सदस्यों की आचरण **संहिता**।

विधान–*पु०* (सं०) दे० 'विद्या, विधान, प्रविधान, संविधान और संहिता'।

विधान परिषद्–*स्त्री०* (सं०) दे० 'विधायिका और सदन'।

विधान मण्डल–*पु०* (सं) दे० 'विधायिका और सदन'।

विधान सभा–*स्त्री०* (सं०) दे० 'विधानसभा और सदन'।

212. विधि / क्रियाविधि / कार्यविधि

विधि	**क्रियाविधि**	**कार्यविधि**
Method	Procedure	
प्रक्रम	**प्रविधि**	
Process	Technique	

इस वर्ग के शब्द ऐसी क्रियाओं और उनके प्रकारों के वाचक हैं जो कोई काम पूरा करने के लिए ठीक माने और समझे गए हों।

'विधि' *स्त्री* (सं०) विधा का विकारी रूप है; और हमारे यहां बहुत दिनों से अनेक अर्थों में प्रयुक्त होता आया है। **विधि** का पहला अर्थ है कोई काम करने का ढंग या प्रकार। आगे चलकर बतलाए जानेवाले ऐसे ढंग या प्रकार के साथ आदेश का तत्त्व या

भाव भी सम्मिलित हो गया था। प्राचीन काल में वेदों में जो धार्मिक कर्तव्य और कृत्य निरूपित होते थे, उन्हें ठीक तरह से पूरा करने के ढंग या प्रकार को **विधि** कहते थे। अनेक प्रकार के कर्म-कांड, यज्ञ आदि करने की अलग-अलग विधियाँ ब्राह्मण ग्रन्थों में बतलाई गई हैं। इसी आधार पर व्याकरण में काव्य के उस रूप को भी **'विधि'** कहने लगे जिसमें कोई काम करने का अनुरोध, आग्रह या आदेश होता है। जैसे-(क) सदा बड़ों का आदर किया करो। (ख) वहाँ जाकर उनसे बातें करो। (ग) नित्य तड़के उठा करो आदि आदि। इस अर्थ के विचार से इसका विपर्याय 'निषेध' है; जैसे-धर्म शास्त्रों में **विधि** और निषेध की चर्चा प्रायः साथ-साथ होती है। इसी आधार पर धर्म-शास्त्रों आदि में बतलाई हुई ऐसी व्यवस्थाओं की गिनती भी **विधि** में होने लगी जिनका पालन सबके लिए अनिवार्य और आवश्यक माना जाता था।

परन्तु प्रस्तुत प्रसंग में **विधि** का मुख्य अर्थ है– कोई काम करने का उचित और सहज ढंग या प्रकार। ऐसा ढंग या प्रकार सदा तर्कसंगत, प्रभावशाली और व्यवस्थित होता है; जैसे-(क) भोजन बनाने की **विधि**, (ख) औषध बनाने या विद्यार्थियों को शिक्षा देने की **विधि**, और (ग) जीवन-यापन या लोक-व्यवहार की **विधि**। इससे और आगे बढ़ने पर हर काम करने के ढंग, तरीके या प्रकार को भी **विधि** कहने लगे थे; जैसे– जब हम किसी की गतिविधि की चर्चा करते हैं तब हमारा आशय उसके रंग-ढंग और क्रियाशीलता के प्रकार और स्वरूप से होता है। इसी से मिलता-जुलता एक और अर्थ होता है– मेल या संगति; जैसे-उन लोगों की आपस में **विधि** मिलती है अर्थात् विचारों आदि की अनुरूपता होने के कारण उन लोगों में आपस में मेल-जोल चल रहा है। फलित ज्योतिष के अनुसार विवाह के समय वर कन्या की जन्म कुण्डली मिलाकर यह देखा जाता है कि दोनों की **विधि** मिलती है या नहीं, अर्थात् दोनों की जीवन-यापन के रंग-ढंग एक ही प्रकार के और परस्पर अनुकूल हैं या नहीं। कुछ अवसरों पर इसका प्रयोग उपाय, युक्ति आदि का भाव सूचित करने के लिए भी होता है; जैसे-मैं प्रयत्न तो कर रहा हूं, पर देखूं कि **विधि** बैठती है या नहीं; अर्थात् उपाय या युक्ति सफल और सार्थक होती है या नहीं। इसका प्रयोग साधारणतः प्रकार के अन्तर्गत भी होता है, यथा-यहि **विधि** राम सबहिं समुझावा। –तुलसी। प्रशासनिक और विधिक क्षेत्रों में यह विधान या कानून के सामूहिक रूप का भी वाचक है। दे० नीचे 'विधि और संविधि'।

'क्रिया विधि' *स्त्री०* (सं०) का शब्दार्थ है– काम करने की **विधि** या ढंग। परन्तु अपने आधुनिक पारिभाषिक रूप में यह ऐसे ढंग या प्रकार का वाचक है जो नियमित, परम्परागत और व्यवस्थित हो और जिसका अनुसरण आवश्यक समझा जाता हो।

कार्य पालिका में वे सभी विभाग और उनके अधिकारी गिने जाते हैं जो देश के कानून या विधान के अनुसार शासन के सभी कार्यों का परिचालन और संचालन करते हैं। न्याय पालिका में छोटे से बड़े तक वे सभी न्यायालय और उनके प्रमुख अधिकारी या न्यायकर्त्ता होते हैं जो सभी तरह के मुकदमों और वैधानिक विवादास्पद विषयों में विधान के अनुसार निर्णय करते हैं। जब तक किसी उच्च न्यायालय के द्वारा कोई निर्णय अमान्य न हो, तब तक वह निर्णय जन साधारण और सरकार दोनों के लिए समान रूप से मान्य होता है।

न्यायालयों, विधान सभाओं आदि में जो अनेक प्रकार के विशिष्ट कार्य होते हैं, उनके सम्पादन के लिए कुछ विशिष्ट प्रकार की विधियां निरूपित और निर्धारित होती हैं। जब तक उन विधियों का ठीक तरह से पालन न हो तब तक कार्य अनियमित या नियम विरुद्ध माना जाता है। इस प्रकार की प्रत्येक **विधि** क्रियाविधि कहलाती है। अब कुछ लोग इसके स्थान पर कार्यविधि का भी प्रयोग करने लगे हैं जो अधिक सुबोध और हलका है।

'प्रक्रम' *पु०* (सं०) का मूल अर्थ है-- चलने में क्रम-क्रम से पैर आगे बढ़ाना या रखना। इसके परवर्ती अर्थों में मार्ग या रास्ता, ढंग या प्रकार आदि भी कई अर्थ हैं। परन्तु आज-कल यह एक ऐसे नए अर्थ में प्रचलित हो गया है जो 'कार्यविधि' के अर्थ से बहुत मिलता-जुलता है। यह भी है तो काम को आगे बढ़ाने का प्रकार ही,फिर भी इसमें अपेक्षया एक विशेषता है। यह ऐसी कार्यविधि का सूचक है जिसमें क्रम-क्रम से कई क्रियाएं करते हुए आगे बढ़ना पड़ता है। औद्योगिक, प्रायोगिक, रासायनिक आदि क्षेत्रों में कोई चीज़ बनाकर तैयार करने या निष्कर्ष तक पहुंचाने के लिए, क्रमिक रूप से जो अनेक प्रकार की क्रियाएं करनी पड़ती हैं उन्हीं के सामूहिक रूप का नाम **प्रक्रम** है, जैसे (क) इस्पात बनाने, चमड़ा सिझाने या रंग-रोगन का **प्रक्रम**। और (ख) भोजन करने पर शरीर के अन्दर उसके पाचन का **प्रक्रम**।

'प्रविधि' *स्त्री०* (सं०) का शब्दार्थ है अच्छी और प्रशस्त **विधि**, परन्तु आजकल यह अंग्रेजी के Technique का समार्थक बन गया है। कला, उद्योग, यंत्र, निर्माण आदि के क्षेत्रों में कोई चीज़ बनाने या तैयार करने में जो अनेक प्रकार की कार्यविधियां और **प्रक्रम** करने पड़ते हैं, उन सबका सामूहिक नाम और रूप **प्रविधि** है अर्थात् कोई चीज़ बनाकर तैयार करने में आदि से अन्त तक जो अनेक प्रकार की क्रियाएं करनी पड़ती हैं, वही उस कार्य की **प्रविधि** कहलाती है। यह मुख्यतः अनुभव और प्रयोग पर आश्रित होती है और इसका पूरा ज्ञान या जानकारी होने पर ही कोई चीज़ उपयोगी और सुन्दर रूप में बनाकर तैयार की जा सकती है। इसमें सभी क्रियाओं और प्रक्रमों के अंगों और उपांगों का पूरा-पूरा ज्ञान सम्मिलित है। यह **प्रविधि** उचित प्रशिक्षण के द्वारा ही जानी जाती है; और इसमें सभी प्रकार के सम्बद्ध प्रक्रमों का समावेश होता है। लाक्षणिक रूप में इसका प्रयोग ललित कला और साहित्य के क्षेत्र में भी होता है, जैसे-चित्र अंकित करने की **प्रविधि**, उपन्यास, कहानी या नाटक लिखने की **प्रविधि** आदि। इसका विशेषण रूप प्राविधिक होता है। उर्दूवाले मूल अंग्रेजी शब्दों के उच्चारण के अनुकरण पर इसके लिए संज्ञा में 'तकनीक' और वि० रूप में 'तकनीकी' का प्रयोग करते हैं। **प्रविधि** का अच्छा और पूरा जानकार प्रविधिज्ञ कहलाता है।

××

213. विधि नियम व्यवस्था संविधि

Law Rule Ruling Statute

'विधि' (सं०) या कानून (अ०) ऐसे **नियम** को कहते हैं जो किसी समाज के हित में शासन या सत्ता द्वारा स्थापित होता, जिसका पालन आवश्यक समझा जाता और जिसका उल्लंघन दंडनीय अपराध माना जाता है। **'नियम'** सामान्यतः ऐसी बातों के लिए होता है जिन्हें विशिष्ट समाज या संस्था के सदस्यों या विभिन्न खेलों के खिलाड़ियों के पारस्परिक हितों के निर्वाह, औचित्य तथा समानता की भावना की रक्षा, आदर्शों के स्थापन तथा ध्येय की रक्षा आदि के लिए आवश्यक समझा जाता है, जैसे-आर्य समाज के **नियम**, क्रिकेट के **नियम**, भाषा के **नियम**, भोर में उठने का **नियम** आदि। व्यापक अर्थ में **नियम** का प्रयोग ऐसे काम या बात के लिए होता है जिसे नियमित रूप से या बंधे हुए क्रम के रूप में कोई करता हो, जैसे-उनका दस बजे भोजन करने का **नियम** है। **नियम** का पालन भी हर दृष्टि से उचित समझा जाता है। यद्यपि इसका उल्लंघन अपराध नहीं माना जाता,फिर भी दोष तो माना ही जाता है और कुछ स्थितियों में इसके लिए भी दंड का विधान होता है। **'व्यवस्था'** से अभिप्राय किसी अधिकारी के द्वारा प्रस्तुत ऐसे पत्र से होता है जो किसी स्पष्ट **नियम** या **विधि** के अभाव में किसी विशिष्ट समस्या के समाधान के लिए होता है; और जिसे मानने के लिए सम्बद्ध पक्ष बाध्य होते हैं; जैसे-न्यायाधीश की **व्यवस्था**, सभापति की **व्यवस्था**, पुरोहित जी की **व्यवस्था**। **'संविधि'** से अभिप्राय ऐसी **विधि** से है जिसे किसी विधानसभा या संसद ने औपचारिक रूप से पारित किया हो। ××

214 विधिक वैध

Legal Lawful Legitimate

'विधिक' सं० विधि का विशेषण रूप है। इसका साधारण अर्थ है विधि का, विधि के क्षेत्र का अथवा विधि सम्बन्धी। परन्तु पारिभाषिक दृष्टि से **विधिक** ऐसे काम या बात को कहते हैं जो विधि (आईन) पर आश्रित हो अथवा उसके अनुरूप हो; जैसे-विधिक अधिकार, विधिक लिखा-पढ़ी। ऐसी बातों के सम्बन्ध में कोई झगड़ा या विवाद खड़ा होने पर उन्हें न्यायालय में निर्णय के लिए उपस्थित किया जा सकता है। जिसका विधि से किसी प्रकार का लगाव या सम्बन्ध हो, उसे भी विधिक कहते हैं; जैसे विधिक क्षेत्र, विधिक न्यायालय, विधिक सिद्धान्त आदि। जो बात विधि की दृष्टि या विचार से देखी, मानी या समझी जाती हो, वह भी विधिक कहलाती है; जैसे-विधिक अपराध, विधिक निर्णय आदि।

'वैध' भी है तो विधि का ही विशेषणवाला विकारी रूप, परन्तु यह संस्कृत व्याकरण के किसी और **नियम** से बना है। हिन्दी में यह विशेषण आज-कल मुख्य रूप से दो अर्थों में प्रचलित है। एक तो **वैध** उसे कहते हैं जो विधि के सिद्धान्तों के अनुकूल या अनुरूप हो अथवा जिसकी विधि में अनुमति हो, जैसे-**वैध** आचरण या व्यवहार। जिसे

विधि की दृष्टि से मान्यता प्राप्त हो उसे भी **वैध** कहते हैं, जैसे आन्दोलन। विधि और **वैध** में मुख्य अन्तर यह है कि विधिक का सम्बन्ध अक्षरशः उन्हीं बातों से होता है जो विधि में लिखित रूप से वर्तमान हो; परन्तु **वैध** का सम्बन्ध विधिशास्त्र के तत्त्वों और सिद्धांतों से होता है। इसके सिवाय जो काम या बातें धार्मिक, सामाजिक आदि दृष्टियों से किसी निश्चित मर्यादा या **व्यवस्था** के अनुसार हों और इसीलिए लोक तथा शासन में मान्य हो, वह भी **वैध** कहलाती है, जैसे **वैध** आचरण, **वैध** विवाह, **वैध** संतान आदि। ××

215. विनति — अभिवेदन — आवेदन — निवेदन — प्रतिवेदन — प्रार्थना — याचना

विनति	अभिवेदन		आवेदन
Prayer Supplication	Representation		Application
निवेदन	**प्रतिवेदन**	**प्रार्थना**	**याचना**
Offering Submission	Report	Prayer Request	Begging Solicitation

इस वर्ग के शब्द ऐसी बातों के वाचक हैं जो बड़ों के प्रति आदर तथा नम्रतापूर्वक अथवा औपचारिक रूप से या तो कुछ प्राप्त करने की कामना से अथवा उन्हें किसी प्रकार की स्थिति से अवगत कराने के लिए कही जाती हैं।

'विनति' *स्त्री०* (सं०) का मूल अर्थ है–अच्छी तरह या पूर्ण रूप से झुकना, परन्तु प्रस्तुत प्रसंग में यह ऐसी बातों का वाचक है जो बड़ों से उनकी अनुग्रह या कृपा प्राप्त करने के लिए आदर और नम्रतापूर्वक कही जाती हैं। **विनति** मुख्यतः उच्च अधिकारियों, ईश्वर या देवी-देवताओं अथवा समाज के महान् और श्रेष्ठ व्यक्तियों से की जाती है। इसमें कुछ तो अपनी दीन-हीन अवस्था का उल्लेख होता है और कुछ अपने कष्टों आदि का निवारण अभीष्ट होता है। हिन्दी में इसका रूप 'विनती' भी हो जाता है; जैसे विनती करुणा-निधान सुनिए श्री रघुनन्दन। यों बड़ों से कहा जाता है- आशा है आप भी मेरी **विनति** पर ध्यान देने की कृपा करेंगे। इन अर्थों की दृष्टि से सं० 'विनय' इसका पर्याय है।*

'प्रार्थना' *स्त्री०* (सं०) अर्थना में प्र उपसर्ग लगने से बना है। अर्थना का पहला और मुख्य अर्थ है - अपने लिए कुछ मांगना या याचना करना। इसलिए अपने हित-साधन के उद्देश्य से बड़ों से जो कुछ कहा जाता है वही अर्थना या प्रार्थना है।

ऊपर **विनति** के जो अर्थ बतलाए गए हैं, वही प्रार्थना के भी अर्थ हैं। यदि कुछ अन्तर है तो यह कि **विनति** का प्रयोग धीरे-धीरे कम होता जा रहा है, और प्रार्थना का प्रयोग बढ़ता जा रहा है। प्रार्थना की विशेषता यह है कि इसमें अपने लाभ के लिए कुछ

---

* एक और क्षेत्र में विनय का प्रचलित अर्थ जानने के लिए दे० 'शासन, प्रशासन और अनुशासन'।

मांगने या याचना करने का भाव प्रधान है; और **विनति** में अपनी स्थिति बतलाने का भाव मुख्य है । जिस पत्र पर कोई प्रार्थना लिखी होती है उसे 'प्रार्थना-पत्र' कहते हैं । इसके स्थान पर **दरखास्त** (फा० दरख्वास्त) का बहुत दिनों से प्रयोग होता आ रहा है ।

'याचना' *स्त्री०* (सं०) का पहला अर्थ है–किसी से कुछ मांगना; पर इस मांगने में अपनी अशक्तता, आश्रयहीनता, दीनता आदि भी सूचित की जाती है । इसी से 'याचक' बना है, जिसका अर्थ भिक्षुक या भिखमंगा होता है । परन्तु अपने परवर्ती और विस्तृत अर्थ में यह ऐसी प्रार्थना का सूचक है जिसमें अपनी विवशता दिखलाते हुए किसी अनिवार्य आवश्यकता की पूर्ति की साधना के सम्बन्ध में अनुरोध किया जाता है । इसी आधार पर अं० Petition का भाव सूचित करने के लिए याचिका शब्द बनाया गया है । यह मुख्यतः प्रशासनिक और विधिक क्षेत्रों का शब्द है । इसमें किसी परम उच्च अधिकारी (राज्यपाल, राष्ट्रपति आदि) अथवा उच्च न्यायालय से कोई विशिष्ट आदेश या निर्णय प्राप्त करने की प्रार्थना की जाती है, जैसे-चुनाव याचिका (Election Petition) अर्थात् किसी का चुनाव या निर्वाचन रद्द करने के लिए दी जानेवाली याचिका या समादेश याचिका (Writ of mandamus) अर्थात् कोई राजकीय या विधिक कार्रवाई तुरन्त रोकने के लिए दी जानेवाली याचिका (दे० 'अध्यादेश, परादेश और समादेश') ।

'निवेदन' *पु०* (सं०) वेदन (सबको सुनाने के लिए ज़ोर से कोई बात करना) में नि उपसर्ग लगाने से बना है* इसके परवर्ती अर्थ घोषणा और प्रख्यापन भी हैं । इसका एक और अर्थ होता है–किसी के सामने भेंट के रूप में कोई चीज़ रखना या समर्पित करना; जैसे:आत्मनिवेदन, अर्थात् अपने आपको किसी के हाथ पूरी तरह से सौंपना । हमारे यहां यह आत्मनिवेदन नौ प्रकार की भक्तियों में से एक है जिसमें भक्त अपने आपको इष्टदेव के चरणों में पूरी तरह से समर्पित कर देता है और सब प्रकार से अपने आपको उसका वशवर्त्ती मानता है । इसी **निवेदन** से एक और विकारी रूप 'नैवेद्य' शब्द बना है जो उन सुन्दर और स्वादिष्ट खाद्य-पदार्थों का वाचक है जो देवी-देवताओं के सामने उनके भोग के लिए रखे जाते हैं; परन्तु प्रस्तुत प्रसंग में और अपने बहु-प्रचलित अर्थ में यह ऐसी बातों का वाचक है जो नम्रतापूर्वक किसी बड़े के सामने विचार के लिए अथवा सुझाव के रूप में उपस्थित की जाती हैं । इसमें अपने किसी उद्देश्य की सिद्धि का भाव भी होता या हो सकता है; पर वह गौण ही रहता है, विशेष रूप से प्रकट या स्पष्ट नहीं होता; जैसे-सारी स्थिति महाराज से **निवेदन** कर दो; फिर वह जो कुछ उचित समझेंगे करेंगे ।

'आवेदन' *पु०* (सं०) का अर्थ है–नम्रतापूर्वक किसी को कोई बात बतलाना या कुछ सूचित करना । इसमें **निवेदन** और प्रार्थना दोनों के भाव तो हैं ही, पर बहुत ही सामान्य या हलके रूप में हैं । फिर भी इसमें प्रार्थना का भाव अपेक्षतया कुछ अधिक है । इसी आधार पर आवेदन-पत्र और प्रार्थना-पत्र दोनों बहुत-कुछ समानार्थक ही हैं, फिर भी आवेदन-पत्र में सूचित कर देने का भाव प्रधान है, परन्तु प्रार्थना-पत्र का उद्देश्य अपना

* इसी वेदन में अन्यान्य उपसर्ग लगाकर, आवेदन, अभिवेदन और प्रतिवेदन रूप बनाए गए हैं ।

कोई काम पूरा कराना भी होता है। आवेदन-पत्र की जगह अ० के 'अर्जी' शब्द का भी प्रयोग होता आया है।

'अभिवेदन' *पु०* (सं०) अं० के Representation का भाव सूचित करने के लिए नया बनाया हुआ शब्द है। जब हम कुछ विशिष्ट तथ्य, तर्क या स्थितियों का विवरण किसी के सामने निर्णय या विचार के लिए उपस्थित करते हैं, तब ऐसा विवरण अभिवेदन कहा जाता है। इसके द्वारा हम किसी को सब बातों का स्वरूप स्पष्ट करके तो बतलाते हैं, परन्तु परोक्ष रूप से उसके निर्णय या विचार को प्रभावित भी करना चाहते हैं।

'प्रतिवेदन' *पु०* (सं०) भी अं० Report का भाव सूचित करने के लिए नया बनाया हुआ शब्द है। जब किसी बड़े अधिकारी के पूछने या मांगने पर किसी महत्वपूर्ण कार्य, घटना, तथ्य, योजना आदि के सम्बन्ध में छान-बीन, पूछ-ताछ आदि करने के उपरान्त कोई विवरण प्रस्तुत करके भेजा जाता है तब उसे **प्रतिवेदन** कहते हैं। कुछ अवस्थाओं में किसी अधिकारी के बिना पूछे या मांगे हुए भी किसी महत्वपूर्ण कार्य या घटना के सम्बन्ध की सब बातें उसे बतलाई या लिख कर दी जाती हैं; तब उसे भी **प्रतिवेदन** कहते हैं। कहीं आग लग जाने, चोरी होने, डाका पड़ने या मार-काट होने पर अधीनस्थ कर्मचारियों का भी और कुछ अवस्थाओं में जनता का भी यह कर्तव्य होता है कि वह इस प्रकार की सब बातें किसी बड़े अधिकारी के पास लिख भेजे; अथवा किसी चलते हुए काम की प्रगति अथवा उसमें होनेवाली बाधाओं आदि की सूचना बड़े अधिकारियों को देना छोटे अधिकारियों का कर्तव्य होता है। ऐसी सभी सूचनाओं का अन्तर्भाव **'प्रतिवेदन'** में होता है। ××

विनय- *स्त्री०* (सं०) 1=विनति; दे० 'विनति, अभिवेदन, आवेदन, निवेदन, प्रतिवेदन, प्रार्थना और याचना'। और 2=अनुशासन; दे० 'शासन प्रशासन और अनुशासन'।

विनियम- *पु०* (सं०) दे० 'विधा, विधान, विनियम, प्रविधान, संविधान और संहिता'।

216. विपत्ति संकट
Distress Trouble

इस वर्ग के शब्द ऐसी प्रतिकूल अवस्थाओं, घटनाओं, परिस्थितियों आदि के वाचक हैं जो किसी व्यक्ति, समाज या समुदाय को कष्ट में डालकर चिन्तित और दुःखी करती या कर सकती हैं।

'विपत्ति' का मूल अर्थ है अनुचित, प्रतिकूल या विकट दिशा में जाना, परन्तु साधारणतः लोक-व्यवहार में इसका अर्थ होता है–ऐसी घटना या स्थिति जिसके फलस्वरूप कष्ट, चिन्ता या हानि अधिक मात्रा में होती हो या होने की सम्भावना हो। मृत्यु के कारण किसी परिवार पर, संक्रामक रोग के कारण किसी समाज पर अथवा अकाल या विदेशी आक्रमण के कारण किसी देश पर **विपत्ति** आ सकती या आती है।

विपत्ति का अन्त आप से आप भी हो सकता है और दूसरों की सहायता से भी। यदि पूरी तरह से अन्त न हो तो भी दूसरों की सहायता से इसमें बहुत कुछ कमी हो सकती है। इसके साथ प्रायः आना, झेलना, टलना, पड़ना, भुगतना और भोगना क्रियाओं का प्रयोग होता है। संस्कृत में इसका एक और रूप 'विपद्' भी होता है। हिन्दी में 'मुसीबत' (अ०) का प्रयोग भी इसके समार्थक के रूप में होता है।*

'संकट' का मुख्य अर्थ है–संकरा या संकीर्ण मार्ग अथवा स्थान। इसी आधार पर दो पहाड़ों के बीच में जो बहुत ही तंग और छोटा रास्ता होता है उसे भी **संकट** या गिरि-संकट कहते हैं। परन्तु अपने परवर्ती और बहुप्रचलित अर्थ में यह शब्द ऐसी स्थिति का सूचक है जिसमें दोनों अथवा सभी ओर कष्ट या विपत्तियां दिखाई देती हों और इसीलिए इसमें सुख तथा स्वच्छन्दतापूर्वक निर्वाह करने या रहने के लिए या तो अवकाश बहुत कम रह गया हो या बराबर कम होता हुआ दिखाई देता हो। यह ऐसी कठिन और विकट परिस्थिति का सूचक है जिसमें मनुष्य, देश या समाज का बहुत कुछ अपकार या हानि की सम्भावना हो। इसमें कष्ट या **विपत्ति** सिर पर आकर पड़ती तो नहीं, परन्तु इतने पास या सामने आ जाती है कि मनुष्य को अपनी रक्षा के लिए चिन्तित और विकल अवश्य कर देती है। कभी-कभी लोग भ्रमवश इसका प्रयोग कष्ट, **विपत्ति** आदि के पर्याय के रूप में भी कर जाते हैं, परन्तु ऐसा करना ठीक नहीं है। आज-कल प्रायः समाचार-पत्रों आदि में आपात या आपातिक स्थिति की जगह 'संकटकालीन स्थिति' पद का प्रयोग भी देखने में आता है। ××

विपद्- *स्त्री०* (सं०) विपत्ति; दे० 'विपत्ति और संकट'।

विपरीत- *वि०* (सं०) दे० 'प्रतिकूल, विपरीत और विरुद्ध'।

विभव- *पु०* (सं०) दे० 'धन, वित्त, संपत्ति और परिसंपत्ति'।

विभ्रम- *पु०* (सं०) दे० 'भ्रम, भ्रान्ति, मतिभ्रम, विभ्रम और मरीचिका'।

विमर्श- *पु०* (सं०) दे० 'विचार, परामर्श और विमर्श'।

विमोचन- *पु०* (सं०) दे० 'अनावरण, उद्‌घाटन या समारंभ और विमोचन'।

विराम-संधि- *स्त्री०* (सं०) दे० 'युद्ध-विराम और विराम-संधि'।

विरुद्ध- *वि०* (सं०) दे० 'प्रतिकूल, विपरीत और विरुद्ध'।

विरोध- *पु०* (सं०) दे० 'रोध, अवरोध, गत्यवरोध, निरोध, प्रतिरोध और विरोध'।

विलक्षण- *वि०* (सं०) दे० 'विचित्र, विलक्षण और अद्‌भुत'।

विलय- *पु०* (सं०) दे० 'लय, प्रलय और विलय'।

विलेख- *पु०* (सं०) दे० 'लेख, अभिलेख, आलेख, प्रलेख और विलेख'।

---

* साधारण बोलचाल में किसी प्रकार की उलझन, झगड़े, या बखेड़े के काम या स्थिति को भी विपत्ति कहते हैं।

विलोम- *वि०* (सं०) दे० 'अनुलोम और विलोम' ।

विवक्षा- *स्त्री०* (सं०) दे० 'अर्थ, आशय, भख, ध्वनि और विवक्षा' ।

विवश- *वि०* (सं०) दे० 'बध्य, बाध्य और विवश' ।

विवेक- *पु०* (सं०) दे० 'अंतर्विवेक और विवेक' ।

विशेषाधिकार- *पु०* (सं०) दे० 'अधिकार, एकाधिकार, परमाधिकार, विशेषाधिकार और स्वत्व' ।

217. विश्लेषण — संश्लेषण

Analysis — Synthesis

ये दोनों शब्द एक-दूसरे के विपर्याय कहे जा सकते हैं । मुख्य रूप से इनका प्रयोग रासायनिक, वैज्ञानिक आदि क्षेत्रों में तो होता ही है, पर कुछ अवस्थाओं में लाक्षणिक रूप से लोक-व्यवहार के कार्यों और बातों में भी होता है ।

'विश्लेषण' *पु०* (सं०) का पहला अर्थ है–आपस में मिली बहुत सी चीज़ों में से हर एक को अलग या पृथक् करना; परन्तु अपने विकसित अर्थ में यह ऐसी क्रिया का वाचक हो गया है जो किसी वस्तु का वास्तविक स्वरूप जानने के लिए या उसके गुणों, तत्त्वों आदि का पता लगाने के लिए उनके अंगों या संयोजक द्रव्यों को अलग करने के समय की जाती है । इसमें किसी वस्तु या विषय के सब अंगों की इस दृष्टि से बहुत ही सूक्ष्म छान-बीन या जांच-पड़ताल की जाती है कि उसके मूल स्वरूप या वास्तविकता का पूरा-पूरा ज्ञान हो जाए । वैज्ञानिक लोग 'किरणों, धातुओं, आदि का तो **विश्लेषण** करते ही हैं; परन्तु हम किसी के तर्क, मत या विचार का भी इस दृष्टि से **विश्लेषण** करते हैं कि उसकी उपयोगिता, यर्थाथता आदि का स्वरूप स्पष्ट हो जाय और उसके सम्बन्ध में किसी को कुछ भ्रम न रह जाए ।

'संश्लेषण' *पु०* (सं०) का प्राथमिक अर्थ है चीज़ों को आपस में जोड़ना या मिलाना अथवा उन्हें आपस में सम्मिलित करके उनका एक रूप बनाना । जो चीज़ अनेक अंगों, उपांगों, या तत्त्वों के योग से बनती हो उसके सब अंग तत्त्व आदि एक में मिलाना ही **संश्लेषण** कहलाता है । इसके अतिरिक्त तार्किक तथा व्यावहारिक क्षेत्रों में नियमों, सिद्धान्तों आदि की सहायता से किसी काम या बात के परिणाम या फल का स्वरूप जानना भी **संश्लेषण** कहलाता है । **विश्लेषण** में तो हम भूल की ओर जाते हैं, परन्तु **'संश्लेषण** में हम परिणाम, प्रभाव या विकास की ओर प्रवृत्त होते हैं । ××

218. विश्वास Belief, Faith — प्रतीति Conviction — प्रत्यय Confidence — भरोसा Reliance — मान्यता Presumption, Tenet

विश्वास	**प्रतीति**	**प्रत्यय**
Belief, Faith	Conviction	Confidence
भरोसा	**मान्यता**	
Reliance	Presumption, Tenet	

इस वर्ग के शब्द ऐसी बौद्धिक या मानसिक स्थितियों के वाचक हैं जिनमें हम किसी कार्य, वस्तु या व्यापार को बिल्कुल ठीक और न्यायसंगत मान या समझ लेते हैं; और उसी के अनुसार आचरण या व्यवहार करते हैं।

'विश्वास' *पु०* (सं०) का लोक में सबसे अधिक प्रसिद्ध अर्थ है--सामने आई हुई बात को बिल्कुल ठीक मान लेना, उसके ठीक या सत्य होने पर पूरा **भरोसा** रखना। परन्तु इसका आशय इससे कुछ आगे बढ़ा हुआ है। हमारे सामने बहुत सी चीज़ें या बातें होती हैं। हम उनमें से किसी एक को पूर्णतया ठीक, वास्तविक या सत्य मान लेते हैं और उसी के अनुरूप अपना आचरण और व्यवहार रखते हैं। यही उस चीज़ या बात पर हमारा विश्वास है। यह सकारण भी हो सकता है और अकारण भी, साधार भी हो सकता है और निराधार भी। ईश्वर और उसके विधान या नियति पर हमारा अटल **विश्वास** हो सकता है, आपका किसी देवी-देवता, पूजा-पाठ या तंत्र-मंत्र पर। हम कर्मठता पर विश्वास रखते हैं और आप भाग्य पर **विश्वास** रखकर सब काम करते हैं। इस प्रकार दृढ़ आस्था, निश्चय और श्रद्धापूर्वक कोई बात स्थायी रूप से मान लेना ही **विश्वास** है। यह प्रायः हमारी प्रकृति या स्वभाव का एक अंग हो जाता है। जब हम कहते हैं--'ईश्वर पर **विश्वास** रखो, वह जो करेगा, वह अच्छा ही होगा, तब हमारा आशय यही होता है कि हमें ईश्वर और उसकी न्याय-शीलता में किसी प्रकार का संदेह नहीं करना चाहिए, हर तरह से उस पर आश्रित रहना या **भरोसा** रखना चाहिए। अपने अर्थ के इसी अंश में यह **'भरोसा'** का पर्याय है। **विश्वास** सदा हमारी मनोवृत्ति या मानसिक धारणा पर आश्रित होता है और इसीलिए तर्क-वितर्क आदि से सहसा बदला नहीं जा सकता। **विश्वास** में विचार की दृढ़ता का भाव प्रधान होता है; चाहे वह दृढ़ता किसी प्रकार के तर्क-वितर्क या प्रमाण के आधार पर हो और चाहे हमारी आंतरिक अनुभूति, मानसिक स्थिति या श्रद्धा के फलस्वरूप हो। इसके स्थान पर अ० के **'एतबार'** और **'यकीन'** (दोनों *पु०*) का भी व्यवहार होता है।

'प्रतीति' *स्त्री०* (सं०) प्रतीत का भाव-वाचक संज्ञा रूप है। प्रतीत का अर्थ है--अटकल, अनुमान, प्रत्यक्ष दर्शन आदि से ठीक और बुद्धि-ग्राह्य जान पड़नेवाला या जान पड़ता हुआ। इसी आधार पर **प्रतीति** का मुख्य अर्थ है--किसी विषय का ठीक ज्ञान अथवा निश्चित और स्पष्ट धारणा। परन्तु प्रस्तुत प्रसंग में **प्रतीति** का अर्थ कुछ और विकसित हो गया है। हमारे मन में पहले किसी बात के सम्बन्ध में कुछ अनिश्चय या सन्देह होता है; पर जब हम अच्छी तरह से देख या समझकर अथवा उसके सम्बन्ध में कुछ प्रमाण पाकर निश्चित रूप से उसे ठीक मान लेते हैं, तब हमारे मन में उसके

सम्बन्ध में **प्रतीति** उत्पन्न होती है। यह एक प्रकार के दृढ़ निश्चय का वाचक है, इसकी मुख्य विशेषता यह है कि यह प्रायः किसी आधार, कारण, तर्क या प्रमाण पर आश्रित होती है; यथा-(क) 'गुरु के वचन **प्रतीति** न जेही', (ख) 'मोरे मन **प्रतीति** अति सोई।'—तुलसी।

'प्रत्यय' *पु०* (सं०) को हम **'प्रतीति और विश्वास'** का कुछ परिवर्तित और भिन्न रूप ही कह सकते हैं। **प्रतीति** से इसमें अन्तर यह है कि इसमें कोई आधार, कारण, तर्क या प्रमाण अपेक्षित नहीं होता और **विश्वास** से इसमें अन्तर यह है कि यह विशुद्ध लौकिक तथा व्यावहारिक होता है, किसी प्रकार की धार्मिक भावना से युक्त नहीं होता।

यह हमारे मन के ऐसे दृढ़-निश्चय या **विश्वास** का वाचक है जो आप से आप उत्पन्न होता है। यह हमारी इंद्रियजन्य अनुभूति या बौद्धिक **मान्यता** का ही सूचक होता है। इसीलिए इसे सांख्य में बुद्धि का पर्याय माना है।

'भरोसा' *पु०* (सं० भार=भार या बोझ) का मुख्य अर्थ है—किसी पर भार रखकर उसके सहारे रहना। इसीलिए यह कुछ अवस्थाओं में **विश्वास** का पर्याय भी होता है। **भरोसा** कोरी अनुभूति या मनोवृत्ति का ही सूचक नहीं है, बल्कि इस बात का भी सूचक है कि हम उस अनुभूति या मनोवृत्ति के अनुसार आचरण या कार्य भी करते हैं। जब हम कहते हैं—'हमें अपने वैद्य जी पर पूरा **भरोसा** है, वे हमें अच्छा कर देंगे,' तब हमारा आशय यही होता है कि हम अपने वैद्य जी को छोड़कर और किसी की चिकित्सा नहीं करेंगे।

डा० हजारी प्रसाद द्विवेदी कृत 'बाणभट्ट की आत्म कथा' में एक जगह आया है—'भट्टिनी मेरे ऊपर **विश्वास** भले ही रखती हो परन्तु **भरोसा** नहीं रखती।' आशय यही है कि भले ही वह मुझे प्रामाणिक और सज्जन समझती हो, पर उसे यह आशा या निश्चय नहीं है कि उसके आड़े समय में मैं काम आऊंगा या उसकी सहायता करूंगा।

'मान्यता' *स्त्री०* (सं०) *वि०* मान्य का भाववाचक संज्ञा रूप है। इसका पहला अर्थ है—मान्य होने की अवस्था, गुण, रूप आदि। परन्तु प्रस्तुत प्रसंग में यह शब्द इस बात का सूचक है कि हमने कोई बात ठीक मान ली है; और जब तक यह प्रमाणित न हो कि यह बात ठीक नहीं है तब तक हम उसे प्रामाणिक और विश्वसनीय ही मानते रहेंगे; जैसे-हमारी तो यही **मान्यता** है कि आज-कल हिन्दी भाषा के क्षेत्र में बहुत आपाधापी हो रही है और लोग मनमाने ढंग से नए-नए प्रयोग करके उसका स्वरूप विकृत कर रहे हैं। यह तो हुआ इसका वैयक्तिक पक्ष, पर इसके सिवा इसका एक और लोक-प्रचलित तथा सार्विक रूप भी है। देश या समाज में प्रथा, सिद्धांत आदि के रूप में कुछ ऐसे तत्त्व भी होते हैं जिन्हें साधारणतः **मान्यता** प्राप्त होती है; जैसे-रीतिकाल की कविता के सम्बन्ध में अलंकार, नायिका भेद, रस आदि के सम्बन्ध में अनेक ऐसी मान्यताएं हैं, जिन्हें आधुनिक प्रगतिशील कवि त्याज्य और निरर्थक समझते हैं। इसके सिवा विज्ञान के क्षेत्र में कुछ ऐसी मान्यताएं होती हैं जिनके सम्बन्ध में न तो किसी प्रकार के तर्क-वितर्क या वाद-विवाद के लिए कोई अवकाश होता है और न जिन्हें प्रमाणित करने की आवश्यकता होती है। ऐसी मान्यताएं स्वतः सिद्ध होती हैं; जैसे-ज्यामिति में यह मान्यता है कि दो विन्दुओं के बीच में एक ही सीधी रेखा होती है, दो या अधिक रेखाएं नहीं हो सकतीं।

धार्मिक, राजनीतिक, सामाजिक आदि क्षेत्रों में पुराने नियमों,सिद्धांतों आदि के सम्बन्ध में भी इसी प्रकार की कुछ मान्यताएं होती हैं। **मान्यता** की मुख्य विशेषता यह है कि जो कुछ प्रतिपादित हो चुका है, उसके स्वरूप का हम उतना विचार नहीं करते; और उसे ठीक मानकर और उस पर विश्वास रखकर उसका प्रयोग या व्यवहार करते हैं।* ××

इस कोटि के और शब्दों के लिए दे० 'आस्था, निष्ठा, श्रद्धा और भक्ति'।

विषण्णता- *स्त्री०* (सं०) दे० 'अवसाद, उदासी, कुंठा, विषण्णता और विषाद'।

219. विषय अभिदेश प्रकरण प्रसंग संदर्भ
Subject Topic Context Reference

इस वर्ग के शब्द ऐसी बातों या विचारों के वाचक हैं जो हमारी बात-चीत, साहित्यिक-रचनाओं, लेखों आदि में मूल आधार के रूप में होती हैं अथवा जिनका हम किसी उद्देश्य या दृष्टि से उल्लेख अथवा चर्चा करते हैं।

'विषय' *पु०* (सं०) के अनेक अर्थ हैं; जैसे-क्षेत्र या प्रदेश, राज्य, भोग-विलास की सामग्री, संपत्ति आदि। इसका एक और मुख्य अर्थ है–कोई ऐसा तत्त्व या वस्तु जिसका अनुभव, ग्रहण या ज्ञान इन्द्रियों के द्वारा होता हो; जैसे-गंध हमारी नासिका का और रस या स्वाद जिह्वा का **विषय** है। इससे और आगे बढ़ने पर यह ऐसी चीज़ या बात का भी वाचक होता है जिसके सम्बन्ध में कुछ कहा, किया या सोचा-समझा जाय। परन्तु यहां इसका मुख्य अर्थ है–कोई ऐसी आधारिक कल्पना या विचार जो किसी प्रकार की रचना के मूल में होता है और जिसका परिचय प्राप्त करने के लिए हमें अध्ययन, मीमांसा या विवेचन करना पड़ता है और जिसके गुण, दोष, स्वरूप आदि जानने या समझने के लिए हमें कुछ चिन्तन करना या ध्यान देना पड़ता है। किसी कहानी का **विषय** सामाजिक आदर्श या कुरीतियां हो सकती हैं; काव्य का **विषय** किसी वीर का चरित्र-वर्णन हो सकता है और नाटक का किसी ऐतिहासिक घटना का निरूपण हो सकता है। इस दृष्टि से ग्रन्थ, लेख आदि में आयी हुई सभी तरह की बातों का मूल आधार उसका **विषय** कहलाता है। इससे और आगे बढ़ने पर इसका प्रयोग चित्रकला आदि में होता है; जैसे किसी चित्र का **विषय** आखेट या शिकार होता है,किसी का ऋतु या प्राकृतिक शोभा और रूप-दर्शन हो सकता है। इसी प्रकार हमारी चर्चा का **विषय** धर्म, राजनीति या समाजिक

---

* इसके सिवा आज-कल अं० के Recognition का भाव सूचित करने के लिए भी मान्यता का प्रयोग होने लगा है। मुख्यतः शिक्षा के क्षेत्र में जब किसी विद्यालय, महाविद्यालय,अथवा परीक्षण-संस्थान के सम्बन्ध में कोई विश्वविद्यालय या शासन यह मान लेता है कि हां,इसके सब कार्य ठीक तरह से और प्रामाणिक रूप में होते हैं और हम इसकी परीक्षाओं, उत्तीर्ण विद्यार्थियों को मिले हुए प्रमाणपत्रों आदि को ठीक और विश्वसनीय मान लेते हैं, तब भी कहा जाता है कि अमुक विद्यालय या संस्थान को अमुक विश्वविद्यालय (या शासन) की मान्यता प्राप्त है।

उत्थान और पतन भी हो सकता है; और खेल-कूद, तमाशे, सभा-समितियों के निर्णय या निश्चय भी हो सकता है।

'अभिदेश' *पु०* (सं०) का मूल अर्थ है–कोई दिशा (या मार्ग) दिखाना या बताना अथवा उसकी ओर संकेत करना। परन्तु आज-कल साहित्यिक क्षेत्र में **संदर्भ** का बहुत कुछ समार्थक बन गया है; और **संदर्भ**-ग्रन्थ को **अभिदेश**-ग्रन्थ भी कहने लगे हैं। परन्तु अंग्रेजी के Cross-reference के लिए 'प्रति-अभिदेश' या 'प्रत्याभिदेश' का प्रयोग ही ठीक होगा; क्योंकि ऐसे **प्रसंग में संदर्भ** से काम नहीं चलेगा। प्रति-अभिदेश ऐसे **अभिदेश** को कहते हैं, जिसमें किसी अनुक्रमणिका, या पुस्तक के एक अंश में आए हुए किसी शब्द के सम्बन्ध में विशेष बातें जानने के लिए उसी अनुक्रमणिका या पुस्तक के किसी दूसरे अंश का **अभिदेश** या संकेत किया जाता है। इससे विशेषण अभिदेशक और *भू० कृ०* अभिदिष्ट रूप बनते हैं। इससे और आगे बढ़ने पर अं० के Reference का भाव सूचित करने के लिए एक नई विवक्षा भी लग गई है। **संदर्भ** का अर्थ तो ग्रन्थों तक ही परिमित रहता है; परन्तु **अभिदेश** से ऐसे व्यक्तियों का भी अन्तर्भाव होता है जिनसे किसी विवादास्पद **विषय** के सम्बन्ध में कोई आदेश, निर्णय या स्पष्टीकरण मांगा जाता है। प्रायः छोटे अधिकारियों के सामने ऐसी बातें आती रहती हैं जिन्हें वे ठीक और पूरी तरह से समझ नहीं पाते अथवा उस सम्बन्ध में कुछ कर सकने में असमर्थ होते हैं। ऐसी बातें वे उच्च अधिकारियों अथवा विशेषज्ञों के पास यह जानने के लिए भेज देते हैं कि यह काम किस प्रकार या कैसा होना चाहिए। इस क्रिया को अभिदेश कहते हैं। जिन लोगों के पास ऐसी बातें मार्ग-दर्शन के लिए भेजी जाती हैं, उन्हें 'अभिदेशक' कहते हैं।

'प्रकरण' *पु०* (सं०) का मूल अर्थ है–अस्तित्व में लाना या उत्पन्न करना, बनाना, रचना आदि। पर इसका परवर्ती अर्थ होता है–किसी बात या **विषय** का अच्छी तरह विचार और विवेचन करना अथवा उसे समझना और समझाना। हिन्दी में इसका प्रयोग अध्याय, परिच्छेद आदि की तरह होता है; और ऐसी अवस्था में यह उस शीर्षक या सांकेतिक संज्ञा का वाचक होता है जो ग्रन्थों आदि में उनके अलग-अलग छोटे अंगों, खंडों, विभागों आदि के सूचक होते हैं; परन्तु यहां हम **प्रकरण** को किसी **विषय** का ऐसा विशिष्ट अंग या अंश कह सकते हैं जो हमारे वाद-विवाद, विचार आदि के लिए हमारे सामने उपस्थित हो और जिसकी चर्चा चल रही हो। ऐसे **विषय** के सम्बन्ध में लोगों की अनुरक्ति या रुचि भी हो सकती है, विभिन्न प्रकार के मत भी हो सकते हैं और उसके विभिन्न प्रकार के परिणाम या सम्भावनाएं भी हो सकती हैं। किसी विशिष्ट घटना का उल्लेख या विवेचन भी इसके अंतर्गत हो सकता है; जैसे-(क) अब वाद-विवाद का यह **प्रकरण** समाप्त होना चाहिए। (ख) महाभारत (या रामायण) में यह **प्रकरण** विस्तार पूर्वक आया है। (ग) उस समय सभा में अकाल (राजनीतिक बन्दियों के साथ होनेवाले दुर्व्यवहार) का **प्रकरण** चल रहा था।

'प्रसंग' *पु०* (सं०) का मूल अर्थ है–किसी के साथ अच्छी तरह लगा हुआ होना। इसी आधार पर इसके अनुराग, लगाव, सम्बन्ध आदि अनेक अर्थ हैं। परन्तु साहित्यिक क्षेत्र में यह शब्द किसी कथन, बात, वाक्य या विचार की उस स्थिति का वाचक है जिसमें

वह और बातों, विचारों आदि के साथ आया या कहा गया हो। इसका सम्बन्ध पहले आई हुई बातों और विचारों के साथ भी होता है और बाद में आई हुई बातों विचारों आदि के साथ भी। **प्रकरण** में तो मुख्य भाव तर्क-वितर्क, वाद-विवाद, विचार-विमर्श आदि का होता है; परन्तु **प्रसंग** में मुख्य भाव किसी बात का ठीक-ठीक अर्थ या स्वरूप जानना होता है। बहुत से पदों या शब्दों के अनेक अर्थ होते हैं; परन्तु ऐसे किसी पद या शब्द का ठीक-ठीक अर्थ या आशय तभी समझ में आता है जब यह पता चले कि उसका प्रयोग किस **प्रसंग** में हुआ है।

'संदर्भ' *पु०* (सं०) के आरम्भिक अर्थ हैं–किसी के साथ जोड़ना या बांधना, इकट्ठा करना, क्रम से लगाना, व्यवस्थित रूप देना; जैसे-पिरोना, बुनना, सीना आदि। इसका एक और अर्थ बनावट या रचना भी होता है। साहित्यिक क्षेत्र में इसका वह अर्थ भी होता है जो ऊपर **'प्रसंग'** का बतलाया गया है; और इस सीमा तक **प्रसंग** तथा **संदर्भ** प्रायः समार्थक ही हैं। इसी लिए कहा जाता है–**संदर्भ** से तो यही जान पड़ता है कि आपने जो अर्थ लगाया है वही ठीक है। इससे और आगे बढ़ने पर इसका प्रयोग ऐसे ग्रन्थों के सम्बन्ध में होने लगा है जिनका प्रयोग लोग किसी विषय में अपनी जानकारी बढ़ाने या संदेह दूर करने के लिए करते हैं। ऐसे ग्रन्थों को 'संदर्भ-ग्रंथ' कहते हैं। इस प्रकार के ग्रन्थ साधारणतः आदि से अंत तक पढ़े नहीं जाते; केवल अपनी जानकारी बढ़ाने या संदेह दूर करने के लिए यथा-समय देख लिए जाते हैं। जीवनी-कोश, विश्व-कोश, शब्द-कोश, साहित्यिक कोश आदि की गिनती **संदर्भ**-ग्रन्थों में ही होती है। इसके सिवा इतिहास, दर्शन, विज्ञान आदि के भी अनेक ऐसे बड़े-बड़े विवेचनात्मक ग्रंथ होते हैं जिन्हें साधारणतः सब न तो पढ़ते ही हैं और न पढ़ ही सकते हैं। हाँ, जब इन विषयों की कोई गूढ़, जटिल, बात सामने आती है, तब ऐसे ग्रन्थों से काम लिया जाता है।* इस प्रकार की बातों की गिनती भी **'संदर्भ'** में ही होती है; और उनके उपयोग की क्रिया भी **संदर्भ** कहलाती है। अं० के Reference के अनुकरण पर हमारे यहां भी **संदर्भ** में एक नई विवक्षा लग गई है। हम कहते हैं - (क) हम लोगों के आपसी सम्बन्ध के **संदर्भ** में इस प्रकार के झगड़े और विवाद बहुत ही अनुचित और अशोभन हैं। अथवा (ख) हमारे यहां के गांवों के **संदर्भ** में हमारी आर्थिक प्रगति का स्वरूप कुछ और ही प्रकार का है। ऐसे अवसरों पर 'संदर्भ में' का अर्थ होता है–किसी चीज़ या बात की सारी परिस्थितियों और पृष्ठभूमि का ध्यान रखते हुए अथवा उनके विचार से। ××

विषाद- *पु०* (सं०) दे० 'अवसाद, उदासी, कुंठा, विषण्णता और विषम'।

---

*'सन्दर्भिका' सं० सन्दर्भ से बना हुआ शब्द है। यह मुख्यतः विशेष प्रकार या विषय के सन्दर्भ-ग्रन्थों की ऐसी सूची होती है, जिसमें उन ग्रन्थों के लेखकों, संस्करणों आदि का भी उल्लेख रहता है। यह प्रायः महत्त्वपूर्ण ग्रन्थों के अन्त में यह दिखलाने के लिए लगाई जाती है कि प्रस्तुत ग्रन्थ की रचना में किन-किन ग्रन्थों से सहायता ली गई है; अथवा जो लोग इस विवेच्य विषय की विशेष जानकारी प्राप्त करना चाहते हों, उन्हें और कौन-कौन से ग्रन्थ देखने चाहिएं। अंग्रेजी के Bibliography का अर्थ और आशय सूचित करने के लिए मैंने 'संदर्भिका' रूप रखना ही उचित और उपयुक्त समझा है।

विस्थिति- *स्त्री०* (सं०) दे० 'आपात, आपातिक स्थिति और अपस्थिति'।

विस्मय- *पु०* (सं०) दे० 'आश्चर्य, अचंभा, विस्मय और कुतूहल'।

वीचि- *स्त्री०* (सं०) दे० 'तरंग, लहर और वीचि'।

220.	**वृत्ति** Temperament Disposition **रुचि** Taste	**अभिवृत्ति** Attitude	**झुकाव**	**प्रवृत्ति** Mentality

इस वर्ग के शब्द हमारे ऐसे मानसिक गुणों, स्थितियों आदि के वाचक हैं जो हमें औरों से अलग या पृथक् करती और हमारा कुछ स्वतंत्र अस्तित्व सिद्ध करती हैं।

'वृत्ति' *स्त्री०* (सं०) का मूल अर्थ है–घूमना, चक्कर खाना, घूम-फिरकर अपने स्थान पर लौट आना आदि। इस क्षेत्र में आवर्तन, आवृत्ति आदि इसके सहवर्गी शब्द हैं। इसके परवर्ती अर्थों में मुख्य अर्थ हैं–आचरण या व्यवहार, कार्य या व्यापार, काम करने के ढंग या प्रकार, जीविका-निर्वाह के उपाय या साधन आदि-आदि। परन्तु प्रस्तुत प्रसंग में और प्रमुख अर्थ में **वृत्ति** हमारे चित्त या मन की वह मूल स्थिति है जिसके फलस्वरूप हम अपने सभी कार्य या व्यापार करते हैं। यह हमारे सभी प्रकार के आचरणों और व्यवहारों के अतिरिक्त हमारे गुणों, विशेषताओं और व्यक्तित्व के सामूहिक रूप का सूचक शब्द है। यह हमारे समस्त मानसिक और शारीरिक तंत्रों का वह मूल आधार है जो जन्म-जात और सहज होता है। इस दृष्टि से हम इसे आचरण और व्यवहार का मूल मानसिक स्रोत और बहुत-कुछ प्राकृतिक और स्वाभाविक ही कह सकते हैं। हम कहते हैं वह बहुत ही शांत और साधु वृत्ति का आदर्श व्यक्ति है अथवा उसकी **वृत्ति** ही कुटिल और दुष्टतापूर्ण है। फिर भी हमें मानना पड़ता है कि कुछ विशिष्ट अवस्थाओं में इसमें कुछ परिवर्तन या विकार भी होता रहता है; और इसीलिए हम इसे एक दूसरे आशय या विवक्षा की सूचक भी मान सकते हैं। यह परिवर्तन या विकार चित्त या मन के संयोग से ही होता है। हम कहते हैं–मनुष्य की **वृत्ति** एक सी नहीं रहती। ऐसे अवसरों पर **वृत्ति** से हमारा आशय होता है चित्त-वृत्ति या मनोवृत्ति जो वास्तविक **वृत्ति** से बहुत-कुछ भिन्न है।*

---

* इसके अतिरिक्त वृत्ति के कुछ और अर्थ भी हैं; जैसे-किसी कठिन और विशेषतः सूत्र-ग्रंथ की टीका या व्याख्या, शब्दों की अभिधा, लक्षणा और व्यंजना नामक तीनों शब्द-शक्तियां, व्याकरण में गूढ़ और जटिल वाक्य रचना आदि-आदि। इसके सिवा हमारे यहां के प्राचीन साहित्य-शास्त्री हमारी मानसिक और शारीरिक चेष्टाओं को भी वृत्ति कहते थे। इसका कारण यही है कि ऐसी चेष्टाओं से हमारे मन के भाव और स्थितियां औरों पर प्रकट होती हैं। इसीलिए काव्य-शास्त्र और नाट्यशास्त्र में कई प्रकार की वृत्तियां मानी गई हैं जिनके विवेचन, धारणा और सूक्ष्म भेद उक्त शास्त्रों के प्राचीन ग्रंथों में देखे जा सकते हैं।

'अभिवृत्ति' *स्त्री०* (सं०) उक्त **वृत्ति** में अभि उपसर्ग लगाकर बनाया हुआ इधर हाल का और नया शब्द है। यह मुख्यतः हमारे कुछ करने-धरने, सोचने-समझने आदि के उस विशिष्ट ढंग का वाचक शब्द है जिससे हमारी **प्रवृत्ति**, मत, विचार आदि का पता चलता है; जैसे-आज-कल हमारे प्रति उनकी **अभिवृत्ति** कुछ बदली हुई है। इसके अतिरिक्त यह उस मानसिक स्थिति का भी वाचक है जिसके आधार पर कोई व्यक्ति प्रस्तुत घटनाओं, वस्तुओं आदि का मूल्यांकन करता है। पर यह अनुकूल भी हो सकती है, और प्रतिकूल भी, और परिस्थितियों के अनुसार इसमें परिवर्तन भी होता रहता है; जैसे- आजकल शिक्षित समाज में साधारण कविताओं और कहानियों के प्रति उपेक्षा दिखाने की **अभिवृत्ति** कुछ बढ़ रही है। यह मुख्यतः तात्कालिक होती है, और विशेष स्थायी नहीं होती।

'प्रवृत्ति' *स्त्री०* (सं०) के मूल अर्थ हैं अग्रसर होना या आगे बढ़ना, उदित या प्रगट होना, क्रियाशीलता, परिश्रम आदि। इसका एक मुख्य अर्थ कोई काम पूरा करने के लिए उसमें तरह अच्छी तरह मन लगाना भी है। हमारे यहां के दार्शनिक और धार्मिक क्षेत्रों में इसका प्रयोग वह अवस्था सूचित करने के लिए होता रहा है जिसमें वह घर-गृहस्थी, सांसारिक कार्यों, सुख-भोगों आदि में ही लगा रहता है। इसका विपर्याय 'निवृत्ति' है जो सांसारिक कार्यों को छोड़कर अध्यात्म, ईश्वर-चिंतन और परलोक-साधन में लगने का वाचक है। परन्तु आज-कल इसका प्रयोग मन की वह स्थिति सूचित करने के लिए होता है जिसमें वह अपने किसी प्रिय और रुचिकर काम में अधिक मनोयोगपूर्वक लगता है; जिसका आशय है किसी काम की ओर झुकना अर्थात् उसे औरों से अधिक आवश्यक, उपयोगी या मनोरंजक मान कर अधिक ध्यानपूर्वक उसमें लगना या प्रवृत्त होना। **प्रवृत्ति** प्राकृतिक या स्वाभाविक भी हो सकती है, और अर्जित भी। इसका स्वरूप **अभिवृत्ति** की अपेक्षा अधिक स्थायी भी होता है, और प्रायः परिवर्तनशीलता से रहित भी। यह या तो हमारी **रुचि** के अंग के रूप में होती है, और/या उसकी परिचायक होती है; जैसे-(क) कुछ बालकों में चित्रकला की ओर स्वाभाविक **प्रवृत्ति** होती है; और (ख) उनमें प्रायः लड़ाई-झगड़े से अलग और दूर रहने की **प्रवृत्ति** प्रायः देखने में आती है। कोई अच्छा काम या नई बात सामने आने पर उसके प्रति भी हमारे मन में **प्रवृत्ति** उत्पन्न हो सकती है। इसके स्थान पर हिंदी के **झुकाव** का भी प्रयोग होता है।

'मनोवृत्ति' का शब्दार्थ है–मन की **वृत्ति**। परन्तु अपने प्रचलित अर्थ में हमारे मन की उस शक्ति की भी वाचक है जिससे हम सब बातें सोचते-समझते हैं, और उस स्थिति की भी वाचक है जो कोई बात सोचने-समझने के समय हमारे मन में उत्पन्न होती है। इसमें एक विशेषता यह भी है कि परिस्थितियों और समय के अनुसार थोड़ी-बहुत बदलती भी रहती है। हम कहते हैं–इस समय हमारी मनोवृत्ति ऐसी नहीं है कि हम आपकी बातें अच्छी तरह समझ या सुन सकें। आशय यही होता है कि इस समय हमारा ध्यान या तो कुछ और बातों की तरफ है या हमारे मन में किसी और बात की चिन्ता है। यह तो है तात्कालिक परिस्थिति के कारण होनेवाली मनोवृत्ति का स्वरूप। हम यह भी कहते हैं–उनकी मनोवृत्ति में उदारता और दानशीलता सदा से प्रधान रही है। ऐसे

अवसरों पर मनोवृत्ति मन के स्वाभाविक गुण और शक्ति की परिचायक होती है।

झुकाव (हिं० झुकना) में मुख्य विवक्षा झुकने की है। जिस व्यक्ति, वस्तु या कार्य के प्रति किसी का **झुकाव** होता है वह उस में रत या व्यस्त रहता है अथवा उसकी हित-रक्षा करने में लगा रहता है भले ही उसके इस आचरण से दूसरों की उपेक्षा या अहित ही क्यों न हो; जैसे-(क) पिता जी का **झुकाव** बड़े भाई की ओर है। (ख) लड़के का **झुकाव** पढ़ने-लिखने में नहीं फुटबाल खेलने में है।

'रुचि' का पहला अर्थ है—आभा, चमक या प्रकाश और दूसरा अर्थ है—छवि, शोभा या सुन्दरता। परन्तु प्रस्तुत प्रसंग में यह मन की वह स्थिति सूचित करती है जिसमें हमें कोई काम, चीज़ या बात अच्छी, आकर्षक और प्रिय जान पड़ती है; और इसीलिए जो हमारा ध्यान या मन विशेष रूप से अपनी ओर आकृष्ट करती और हमें अपनी ओर प्रवृत्त करती है। **प्रवृत्ति** में तो मुख्य तत्त्व हमारी प्रकृति या स्वभाव का होता है, परन्तु **रुचि** में मुख्यता उस चीज़ या विषय के गुण, विशेषता, सौन्दर्य आदि की होती है जो हमें अपनी ओर आकृष्ट करती है। फिर भी यह नहीं कहा जा सकता कि रुचि पूर्णतया और सर्वथा वस्तुनिष्ठ ही होती है। कुछ अवस्थाओं में वह व्यक्तिनिष्ठ भी होती है, जैसे-कुछ लोगों में बचपन से ही मधुर खाद्य पदार्थों की ओर और कुछ में कटु-तिक्त आदि पदार्थों की रुचि होती है। इस आधार पर कहा जा सकता है कि **रुचि** का मुख्य आधार मन को अच्छा लगना या भाना ही है।

××

221. वेदना — व्यथा

Agony — Anguish

इस वर्ग के शब्द हैं तो मुख्यतः बहुत अधिक मानसिक कष्ट या क्लेश के वाचक ही; परन्तु या तो अर्थ के विकास के कारण या भ्रमवश शारीरिक कष्टों या क्लेशों के भी वाचक हो गये हैं।

'वेदना' सं० के 'वेदन' का विकारी रूप है जिसका एक अर्थ है—घोषणा करना या ज़ोर से कहकर सब लोगों को कोई बात सुनाना। इसका दूसरा अर्थ- ज्ञान या परिचय प्राप्त करना भी होता है। परन्तु प्रस्तुत प्रसंग में यह कष्ट या पीड़ा के उस बहुत बढ़े हुए रूप का वाचक है जो हमारे संवेदन-सूत्रों पर बहुत ही अप्रिय और तीक्ष्ण प्रभाव उत्पन्न करके हमें विचलित कर देता है। मानसिक पीड़ा जब बहुत उग्र रूप धारण करती है तब उसे **वेदना** कहते हैं। यह प्रायः अभाव, वियोग आदि से उत्पन्न होती और अपेक्षया स्थायी होती है। परन्तु कुछ अवस्थाओं में इसका प्रयोग बहुत बढ़ा हुआ शारीरिक कष्ट या पीड़ा सूचित करने के लिए भी होता है; जैसे-स्त्रियों को प्रसव के समय होनेवाली **वेदना**, रोगियों को मृत्यु के समय होनेवाली **वेदना** आदि।

'व्यथा' को हम **वेदना** का कुछ हल्का रूप कह सकते हैं। **वेदना** की तरह यह मानसिक और शारीरिक दोनों प्रकार की होती है; पर इसमें उग्रता या तीव्रता की मात्रा

उतनी अधिक नहीं होती जितनी **वेदना** में होती है। और इसीलिए, इसका प्रचलन शारीरिक कष्ट के प्रसंग में ही देखने में आता है। बहुत अधिक चलने-फिरने या शारीरिक श्रम करने से अंगों में जो अधिक पीड़ा होती है प्रायः वही **व्यथा** कहलाती है। साधारण दुःखद प्रसंगों में भी कहा जाता है–इस प्रकार के व्यवहारों से लोगों के मन में **व्यथा** होना स्वाभाविक है। उक्त दोनों उदाहरणों में **'व्यथा'** की जगह **वेदना** का प्रयोग प्रायः नहीं होता। इसी प्रकार प्रसव या मृत्यु के समय होनेवाले कष्ट का भाव सूचित करने के लिए प्रायः **'वेदना'** का ही प्रयोग देखने में आता है, **व्यथा** का नहीं।

इस वर्ग के अन्यान्य शब्दों के लिए दे० 'पीड़ा, यंत्रणा और यातना'। ××

वेला- *स्त्री०* (सं०) दे० 'काल, वेला और समय'।

वैकल्पिक- *वि०* (सं०) दे० 'अनुकल्प और विकल्प'।

वैध- *वि०* (सं०) दे० 'विधिक और वैध'।

वैभव- *पु०* (सं०) दे० 'धन, वित्त, वैभव और संपत्ति'।

222. वैमनस्य — ईर्ष्या — द्वेष

वैमनस्य	**ईर्ष्या**	**द्वेष**
Animosity	Jealousy	Antagonism
Spite	Malice	
रिपुता	**वैर**	**शत्रुता**
Enmity	Enmity	Hostility

इस वर्ग के शब्द पारस्परिक सम्बन्धों की ऐसी बिगड़ी हुई स्थितियों के वाचक हैं जिनमें दूसरों को अच्छी स्थिति में देखकर उनके प्रति मन में घृणा या दुर्भाव रहता है और उन्हें यथासाध्य कष्ट या हानि पहुंचाने की प्रवृत्ति होती है, और अवसर मिलने पर उनका अहित भी किया जाता है।

'वैमनस्य' *पु०* (सं०) वस्तुतः 'विमनस्' का भाववाचक रूप है जिसका अर्थ है–अनमना। इस प्रकार **वैमनस्य** मूलतः अनमनेपन या उस स्थिति का वाचक है जिसमें चिंतित या दुःखी रहने के कारण मनुष्य का मन किसी काम में नहीं लगता है। इसलिए **वैमनस्य** का शाब्दिक अर्थ होता है–मानसिक अवसाद या ऐसा खेद जिससे मनुष्य का सारा उत्साह ठंडा पड़ गया हो और वह सब बातों से विरक्त सा हो रहा हो। परन्तु विमनस् का एक और अर्थ होता है–जिसके मन में विकार उत्पन्न हुआ हो। इसी आधार पर पारस्परिक व्यवहार की उस स्थिति को भी **वैमनस्य** कहते हैं जिसमें दोनों पक्षों के मन में एक-दूसरे के प्रति कुछ विकृत भाव उत्पन्न हो गये हों। अतः हिन्दी में यह शब्द आपस में होनेवाले बिगाड़ या मनमुटाव का वाचक हो गया है। जहां पहले आपस में सद्भाव रहता आया हो वहां यदि किसी कारण से दुर्भाव या विरोध उत्पन्न हो गया हो तो वहां कहा जाता है कि अब उन लोगों में **वैमनस्य** हो गया है। इसमें **शत्रुता** अथवा दूसरे

को हानि पहुंचाने का भाव प्रायः छिपा या दबा हुआ रहता है और कोई नई विशिष्ट विरोधी स्थिति उत्पन्न होने पर ही यह कार्य रूप में परिणत या प्रत्यक्ष होता है। हम कहते हैं—दोनों परिवारों में बहुत दिनों से **वैमनस्य** चला आ रहा है; अथवा व्यर्थ आपस में **वैमनस्य** बढ़ाना ठीक नहीं। आशय यही होता है कि इस प्रकार का दुर्भाव आगे चलकर दोनों पक्षों के लिए हानिकर सिद्ध हो सकता है।

'ईर्ष्या' *स्त्री०* (सं०) ईर्ष्य् से व्युत्पन्न है जिसका अर्थ है—किसी की सफलता को देखकर अधीर होना। किसी को सुखी या संपन्न देखकर या उसके पास कोई अच्छी चीज़ देखकर यदि हम यह सोचें कि यह तो बहुत बुरा हो रहा है और साथ ही यह कामना या चेष्टा करें कि वह व्यक्ति उस अच्छी चीज़ या सुख से वंचित हो जाए और हम उसके स्थान पर पहुंचकर उस अच्छी चीज़ या सुख के अधिकारी बन जाएं तो हमारी यह मनोवृत्ति **ईर्ष्या** कहलाएगी; जैसे-'दरिद्र जनता यदि धनिकों से अथवा शोषित लोग यदि शोषकों से **ईर्ष्या** करें तो यही **ईर्ष्या** है। इसका प्रयोग कभी-कभी कुछ अच्छे भाव का भी सूचक होता है*; जैसे-'मुझे आपकी स्मरण-शक्ति पर **ईर्ष्या** होती है।'

'द्वेष' *पु०* (सं०) द्विष् से बना है। द्विष् का अर्थ है—किसी को अपना प्रतिद्वंद्वी और फलतः अपने से अलग या पराया समझकर उससे घृणा करना। यह मन की ऐसी स्थिति का सूचक है जिसमें अवसर मिलते ही दूसरे को नीचा दिखाने या हानि पहुंचाने की प्रवृत्ति सहज में बढ़ जाती या अपना कार्य करने लगती है। इसी में वि उपसर्ग लगने से विद्वेष बनता है जो इसका कुछ और उग्र तथा तीव्र रूप होता है।

'शत्रुता' वस्तुतः विद्वेष और **वैर** का वह खुला हुआ और स्पष्ट विकास है जो प्रत्यक्ष रूप से क्रियाशील होकर सामने आता है। जिसके प्रति हमारे मन में **शत्रुता** का भाव होता है उसे हम सदा कष्ट पहुंचाने और पीड़ित करने की ताक में लगे रहते हैं। आपस में जो झगड़े और लड़ाइयां होती हैं वे इसी के परिणाम हैं; और झगड़े, लड़ाई आदि के परिणामस्वरूप **शत्रुता** और भी बढ़ सकती तथा स्थायी हो सकती है। इसके मूल में सदा कुछ निजी कारण या वैयक्तिक स्वार्थ होते हैं। जातियों, देशों, राष्ट्रों आदि में जो पारस्परिक **शत्रुता** होती है, वह मूलतः इन्हीं कारणों से होती है। कभी-कभी कुछ कारणों से दब भी सकती और फिर नये सिरे से उत्पन्न होकर बढ़ भी सकती है। पर कुछ अवस्थाओं में (आपस में मेल या संधि आदि होने पर) इसका तात्कालिक या स्थायी रूप से अन्त भी हो सकता है।

'वैर' शब्द सं० वीर से बना हुआ उसका भाव वाचक रूप है। और इस दृष्टि से

---

*इससे कुछ अच्छे और हलके भाव के लिए हमारे यहां का पुराना शब्द असूया है जिसका प्रचलन अब बहुत-कुछ उठ गया है और जिसे हमें अं० Envy का बहुत कुछ समकक्ष कह सकते हैं। इसमें भी दूसरे का वैभव, सुख आदि न सह सकने का कुछ तत्त्व तो अवश्य है; परन्तु इसमें उतने अधिक **द्वेष**, **वैमनस्य** या **वैर** का भाव नहीं है। हमारे यहां साहित्य में असूया एक संचारी भाव भी माना गया है जिसका लक्षण काव्य प्रभाकर में इस प्रकार दिया हुआ है—'सहि न सकै दुःख और का, यहै असूया जान। क्रोध, गर्व, दुःख, दुष्टता से सुभाव अनुमान।'

इसका अर्थ है–वीर का काम या वीरता। परन्तु अब इसका यह व्युत्पत्तिक अर्थ इसमें से निकल गया है; और इसमें दुश्मनी या **शत्रुता** का सूचक एक नया अर्थ आ लगा है। साधारणतः **शत्रुता** और **वैर** दोनों एक दूसरे के पर्याय माने जाते हैं; परन्तु कुछ प्रयोगों के आधार पर मुझे ऐसा जान पड़ता है कि **वैर** में **शत्रुता** के बहुत बढ़े हुए रूप का भाव सम्मिलित है। **शत्रुता** का तो अनुकूल स्थितियों में अन्त भी हो जाता है; परन्तु **वैर** अपेक्षया अधिक तीव्र और स्थायी अथवा दीर्घकाल-व्यापी होता है। मेरी इस धारणा के मुख्य आधार कई प्रकार के प्रयोग हैं। लोक में नेवले और सांप का **'वैर'** ही प्रसिद्ध है, **शत्रुता** नहीं। इन दोनों का जब जहां सामना होता है तब दोनों में बहुत जबरदस्त लड़ाई होती है, और प्रायः सांप की जान जाती है। नेवले के बारे में यह प्रसिद्ध है कि लड़ाई में जब सांप उसे काटता है तब वह उसके विष के प्रभाव से बचने के लिए किसी जंगल या झाड़ी में जाकर कोई जड़ी खाता और इस प्रकार अपने प्राण बचाता है। तात्पर्य यह कि वैर का परिणाम प्रायः प्राणांतक होता है। एक और कहावत है–पानी में रहकर मगरमच्छों से वैर। इसमें भी प्राणांतक संकट की ओर ही संकेत है। इन बातों का समर्थन 'वीर' शब्द की एक विशिष्ट विवक्षा से भी होता है। प्राचीन भारतीय वीरों के सम्बन्ध में यह प्रसिद्ध है कि वे विरोधी के सामने झुकना या दबना नहीं जानते थे, और आन पर जान देते थे। 'न च दैन्यं न पलायनम्' ही उनका सिद्धांत होता था। कभी-कभी तो पारस्परिक वैर पीढ़ियों तक चलता था। इसी आधार पर लोक में 'बप्पा वैर' पद बहुत प्रचलित और प्रसिद्ध है, जिसका अर्थ है–बाप-दादा के समय से चला आनेवाला वैर। एक और बात है। किसी अवसर पर पागलपन या मूर्खता के वश में होकर हम स्वयं अपने साथ शत्रुता तो कर सकते हैं, अथवा अपने शत्रु आप बन सकते हैं, परन्तु हम कभी स्वयं अपने वैरी नहीं हो सकते।

ऊपर हमने नेवले और सांप की चर्चा की है। कहते हैं कि बन्दर जब सांप को पकड़ लेता है तब पत्थर पर उसका सिर रगड़कर उसे मार डालता है। इसी प्रकार मोर के सम्बन्ध में प्रसिद्ध है कि वह सांप को पकड़कर निगल जाता है और फिर अपने चंगुल से उसकी दुम पकड़कर जब उसे खींचकर बाहर निकालता है तब उसकी ठठरी मात्र बाहर निकलती है। बन्दर अथवा मोर और सांप का 'वैर' कदाचित् इसीलिए शत्रुता नहीं कहा जाता कि सांप उनके साथ लड़ने अथवा उनका नाश करने में समर्थ होता है। वैर अनिवार्य रूप से दोनों पक्षों में प्रायः समान होता है; परन्तु बन्दर या मोर और सांप के सम्बन्ध में यह वैर-भाव उस प्रकार समान नहीं होता जिस प्रकार नेवले और सांप में होता है।

'रिपुता' स्त्री० (सं०) रिपु का भाववाचक रूप है। लोक में साधारणतः **रिपुता**, शत्रुता और वैर तीनों एक-दूसरे के पर्याय माने और समझे जाते हैं;परन्तु जिस प्रकार 'वैर' की तुलना में 'शत्रुता' कुछ हल्का शब्द है, उसी प्रकार शत्रुता की तुलना में **रिपुता** भी कुछ कम तीव्र और हल्के रूप का सूचक है। हमारे धर्मशास्त्रों के अनुसार काम, क्रोध, भय, मोह, लोभ और अहंकार ये मनुष्य के छः रिपु ही कहे गए हैं। भले ही बोलचाल में हम इन्हें मनुष्य का शत्रु कह लें, पर हैं ये वस्तुतः रिपु ही। ज्योतिष में भी कष्ट देने या

हानि पहुंचानेवाले ग्रह भी रिपु ही कहे जाते हैं, शत्रु या वैरी नहीं। जन्म-कुण्डली में इनका घर रिपु-स्थान कहलाता है। कारण यही जान पड़ता है कि वे सब हमारा अनिष्ट तो करते ही हैं, पर उस रूप में नहीं जिसमें शत्रु या वैरी करते हैं। ऐसी अवस्थाओं में इनकी **रिपुता** एक-पक्षीय ही होती है। हमारे मन में इनके प्रति द्वेष या विरोध का कोई भाव नहीं होता। परन्तु मानव-व्यवहारों में **रिपुता** एक-पक्षीय भी हो सकती है और उभयपक्षी भी। वास्तव में यह हमारे मन में दबा रहनेवाला ऐसा मनोविकार है, जो कुछ विशिष्ट अवसरों पर ही प्रकट होकर अपना कार्य करता है। आपसी लड़ाई-झगड़े, युद्ध आदि के अवसरों पर ही **रिपुता** प्रकट होती और अपना कार्य करती है। ××

वैर- *पु०* (सं०) दे० 'वैमनस्य, ईर्ष्या, द्वेष, शत्रुता, वैर और रिपुता'।

223. व्यंग्य कटाक्ष चुटकी छींटा ताना बोली

Irony Sarcasm Twit Sarcasm Taunt Rally

इस वर्ग के शब्द ऐसी बातों के वाचक हैं जो मुख्यतः मन का भाव कुछ अतिरंजित और वक्र रूप में तथा कुछ नए और रोचक ढंग से कही जाती हैं। ऐसी बातें सहज में दूसरों का ध्यान अपनी ओर आकृष्ट करती ही हैं, साथ ही लोगों के लिए मनोरंजक और विनोदकारक भी होती हैं। एक और विशेषता यह है कि जिस व्यक्ति के विषय में ये बातें कही जाती हैं उसे बहुत कुछ चुभती और खटकती हैं; और उसे ऐसा जान पड़ता है कि मुझ पर कड़ी चोट या प्रहार किया गया है।

'व्यंग्य' ऐसी बातों का वाचक है जिनमें कुछ कटुता या तीक्ष्णता हो; और साथ ही कुछ कौशलपूर्ण आक्षेप और कुछ परिहास भी मिला हो। **व्यंग्य** का यह तत्त्व उसके शब्दों पर नहीं, बल्कि उसकी पद-रचना या शब्द-योजना पर आश्रित होता है। यदि हम किसी साधारण योग्य, परन्तु अभिमानी, घमंडी या स्वार्थी व्यक्ति के सम्बन्ध में उसे नीचा दिखाते हुए लज्जित करने या उसकी हंसी उड़ाने के लिए कहें- 'आपकी क्या बात है! आप बहुत बड़े स्वार्थ-त्यागी, देश-भक्त अथवा गणमान्य पंडित हैं।' तो यह उस व्यक्ति पर **व्यंग्य** होगा। इसका प्रयोग मुख्यतः उस समय होता है जब किसी के सिद्धांत और आचरण या कथनी और करनी में बहुत अन्तर दिखाई देता है। इसका उद्देश्य किसी प्रकार की असंगति अथवा अवास्तविकता सिद्ध करना होता है।

'कटाक्ष' *पु०* (सं०) का शब्दार्थ है–तिरछी चितवन या नज़र। तात्त्विक दृष्टि से तिरछी या टेढ़ी नज़र क्रोध, रोष या उग्र विरोध सूचित करनेवाली तो होती है; परन्तु ऐसा भाव सूचित करनेवाले प्रयोग बहुत कम देखने में आते हैं। हां, शृंगारिक क्षेत्र में इसका प्रयोग प्रेमिकाओं और प्रेमियों की ऐसी रसात्मक दृष्टि सूचित करने के लिए होता है जो हाव-भाव आदि से युक्त हो; परन्तु प्रस्तुत प्रसंग में इसे हम **व्यंग्य** का कुछ सूक्ष्म या हल्का रूप ही कह सकते हैं और इसे **व्यंग्य** का बहुत-कुछ पर्याय मान सकते हैं। यदि कुछ अन्तर है तो यही कि **व्यंग्य** बहुत-कुछ चुभता हुआ होने पर भी प्रायः हास्यप्रधान होता है;

और **कटाक्ष** का मुख्य उद्देश्य किसी को कुछ नीचा दिखाना अथवा लज्जित करना होता है; जैसे-'अपने भाषण में उन्होंने सभापति पर भी कई **कटाक्ष** किए थे।' साधारण बोल-चाल में इसी को **छींटा** भी कहते हैं; पर वास्तव में **कटाक्ष से छींटा** कुछ हल्का तथा अपेक्षया कम स्पष्ट होता है और इसीलिए यह खटकता भी कम ही है। **छींटा** और **कटाक्ष** में एक और अन्तर यह भी है कि **कटाक्ष** तो निरन्तर एक पर एक हो सकते हैं, पर **छींटा** प्रायः अकेला अथवा बीच-बीच में कहीं एकाध ही होता है। इसके साथ प्रायः 'कसना' क्रिया का प्रयोग होता है।

'चुटकी' स्त्री० वस्तुतः अंगूठे या तर्जनी की वह मुद्रा है जिससे किसी के शरीर के मांस का कुछ अंश पकड़कर इस प्रकार दबाया जाता है कि शरीर में कुछ पीड़ा उत्पन्न हो। इसी को कहीं-कहीं चिकोटी भी कहते हैं। पर प्रस्तुत प्रसंग में **चुटकी** का लाक्षणिक अर्थ भी वही है जो **कटाक्ष** का है। फिर भी **कटाक्ष** से **चुटकी** कुछ हल्की होती है और इसीलिए कुछ अवसरों पर इसके साथ 'मीठी' विशेषण का भी प्रयोग होता है। इसके साथ केवल 'लेना' क्रिया का प्रयोग होता है। ऊपर **कटाक्ष** के सम्बन्ध में उदाहरण-स्वरूप जो वाक्य दिया गया है उसका कोमल तथा हल्का रूप यह भी हो सकता है-'उनके भाषण में सभापति पर भी एक मीठी **चुटकी** थी'।

'ताना' पुं० (अ० तअनऽ) अर्थ है-किसी पर बरछी या भाला चलाना और दूसरा लाक्षणिक अर्थ होता है-किसी की निंदा या बुराई करना। पर हिन्दी में **ताना** का अर्थ इससे दूर जा पड़ता है। हिन्दी में इसका अर्थ है-ऐसी कटु उक्ति जो किसी को उसके किसी हीन कार्य या स्थिति के लिए कुछ लज्जित करे। इसमें उपहास और परिहास का तत्त्व तो बिल्कुल नहीं होता; हां, तीक्ष्णता या तीव्रता की मात्रा बहुत अधिक और उग्र होती है। जिसने हमारे उपकार करने पर भी हमारा अपकार किया हो अथवा ऐसा ही और कोई अनुचित या निंदनीय कार्य किया हो, उसे लज्जित करने के लिए जब तीखे शब्दों में उस अनुचित या निंदनीय बात का उल्लेख किया जाय, तो उसे **'ताना'** कहते हैं। यह किसी पुरानी घटना या बात से संबद्ध होता है, इसके साथ दो क्रियाओं का प्रयोग होता है-'देना' और 'मारना'। साधारणतः **ताना** देना ही बोला जाता है, पर स्त्रियां प्रायः **ताना** मारना भी कहती हैं।

'बोली' (हिं० बोलना से व्युत्पन्न) भी है तो एक प्रकार का चुभता हुआ **व्यंग्य** ही, पर यह प्रायः अन्योक्तिवाले तत्त्व से युक्त होती है; और इसके साथ सदा बोलना क्रिया का प्रयोग होता है। जब किसी को सुनाने के लिए स्वयं अपने आप पर या किसी दूसरे पर आरोपित करके कोई **व्यंग्य** किया जाता है, तब उसे **बोली** बोलना कहते हैं। मान लीजिए कि कोई देहाती आदमी शहर में आकर बस जाता और शहराती बन जाता है। वह अपने आपको देहाती मानने में लज्जा का अनुभव करता है। यदि उसके सामने कहा जाय-'भाई, हम (या हमारे संगी-साथी) तो देहाती ठहरे, हम (या ये) शहरातियों की बातें क्या समझें!' तो यह उस देहाती पर **बोली** बोलना कहलाएगा, जो शहराती बन गया है। यहां वक्ता का उद्देश्य तो उस व्यक्ति के देहातीपन पर आक्षेप या **कटाक्ष** करना है, पर यह आक्षेप या **कटाक्ष** उसने उस व्यक्ति को देहाती कहकर नहीं, बल्कि अपने आपको

देहाती बनाकर किया है। ××

व्यथा- *स्त्री०* (सं०) दे० 'वेदना और व्यथा'।

व्यभिचार- *पु०* (सं०) दे० 'अनाचार, दुराचार, भ्रष्टचार और व्यभिचार'।

व्यवसाय- *पु०* (सं०) दे० 'व्यापार, वाणिज्य और व्यवसाय'।

व्यवहार- *पु०* (सं०) दे० (1) 'आचरण, आचार और व्यवहार'।
(2) 'उपयोग, प्रयोग और व्यवहार'।

व्यवहारदर्शन- *पु०* (सं०) दे० 'नीति-शास्त्र'।

व्याख्यान- *पु०* (सं०) दे० 'प्रवचन, भाषण, वक्तृता, व्याख्यान और वार्त्ता'।

224. व्याज बहाना मिस हीला

Excuse

इस वर्ग के शब्द ऐसी बातों के वाचक हैं जो अपने किसी प्रकार के अनौचित्य, त्रुटि, दोष आदि को छिपाने और अपने आपको उत्तरदायित्व, दंड, दोष आदि से बचाने के लिए कही जाती है।

व्याज *पु०* (सं०) का शब्दार्थ है–ऊपर से कोई चीज़ या बात लगाना; अर्थात् नीचे की वास्तविक बात छिपाने के लिए उस पर कोई आवरण रखना या परदा डालना। इसमें मुख्य भाव किसी बात के वास्तविक रूप को कौशलपूर्वक बदलने का है।* परन्तु इसका साधारण अर्थ होता है–कपट, छल या धोखा, अर्थात् अन्दर कुछ और बाहर कुछ और अथवा किसी को भ्रम में डालने के उद्देश्य से कही जानेवाली बात। इसी आधार पर हमारे यहां के साहित्य में व्याजोक्ति नामक एक अलंकार भी माना गया है। जब हम कोई बात छिपाने के लिए उसे कुछ और ही रूप देते हैं, अर्थात् वास्तविकता की ओर से दूसरों का ध्यान हटाकर उन्हें कुछ का कुछ समझाना चाहते हैं, तब वहां व्याजोक्ति अलंकार होता है; जैसे-'कारे बरन डरावने, कत आवत यहि गेह। कई वा लख्यो सखी लखै, लगे थाहरी देह'। यहां साधारण आशय तो यही जान पड़ता है कि काले कृष्ण को अपने यहां आते देखकर नायिका अपने आपको डरी हुई सिद्ध करना चाहती है और अपने थर-थर कांपने का ही उल्लेख करती है; परन्तु वास्तविक बात यह है कि कृष्ण को देखकर उसके शरीर में सात्विक कम्प हुआ है और इसी वास्तविकता को छिपाने के लिए वह कृष्ण को काला और डरावना कहती है।

परन्तु कुछ अवस्थाओं में इसमें का कपट या छलवाला भाव तो गौण या नगण्य हो

---

* हिंदी में **'व्याज'** शब्द जो सूद के अर्थ में प्रचलित है, वह भी कदाचित इसी आधार पर है कि वह अपनी आय बढ़ाने का कौशलपूर्वक बदला हुआ रूप है। अपने रुपए से हम स्वयं तो कोई और उद्यम या व्यापार करते नहीं; हां, वे रुपए दूसरों को व्यापार करने के लिए दे देते हैं और इसी **व्याज** या बहाने से अपने लिए भी आय का एक साधन खड़ा कर लेते हैं।

जाता है और कौशलवाला भाव प्रमुख हो जाता है। उदाहरणार्थ व्याज-निंदा और व्याज-स्तुति सरीखे यौगिक पद लिए जा सकते हैं। इनमें ऐसे कौशल से किसी की निंदा या स्तुति की जाती है जो ऊपर से देखने में तो निंदा या स्तुति ही जान पड़े, परन्तु वास्तव में वह निंदा के बदले स्तुति या स्तुति के बदले निंदा होती है; जैसे-यदि किसी कंजूस (या कायर) व्यक्ति के सम्बन्ध में कहा जाय–'वाह उनका क्या कहना है! वे बहुत बड़े दानी (या वीर) हैं।' तो यह देखने में तो स्तुति ही जान पड़ेगी, पर वास्तव में निंदा होगी; और इसीलिए ऐसे कथन की गिनती व्याज-निंदा में होगी। इसके विपरीत 'राम न सकहिं नाम-गुन गाई' अर्थात् राम अपने नाम के गुणों का वर्णन करने में समर्थ नहीं है; तो ऐसा कथन देखने में निंदा का सा जान पड़ेगा, पर वस्तुतः इसमें राम और उनके नाम के गुणों की प्रशंसा या स्तुति का भाव ही प्रधान है; इसलिए इसे व्याज-स्तुति कहेंगे।

'मिस' *पु०* (सं०) मिष् का ही हिन्दी रूप है। इसका मुख्य अर्थ है–ऊपर से दिखाई देनेवाला ऐसा रूप, जो वास्तविक न हो। इसमें या तो चालाकी और छल का अंश होता ही नहीं और यदि हो भी तो बहुत ही कम या नाम मात्र का होता है। हां, इसमें कौशल या निपुणता अवश्य होती है। पर इसका उद्देश्य न तो दूसरों को धोखा देना ही होता है और न अपने आपको अभियोग या आक्षेप से बचाना ही। कथावाचक या वक्ता उद्देश्य के **मिस** से लोगों को उनके दोष बतलाते हैं और उन्हें ठीक मार्ग पर लाने का प्रयत्न करते हैं। 'भांड पुकारे पीर बस **मिस** समझे सब कोय', में भी **मिस** किसी चालाकी या बुरे उद्देश्य का सूचक नहीं है। उसका अधिक से अधिक यही आशय हो सकता है कि भांड ऐसे लोगों की नकल उतार रहा है जो पेट में दर्द होने पर चिल्लाते हैं; अर्थात् **मिस** किसी बात का भी सूचक होता है। यों देखने पर किसी बात का जो रूप सामने हो, वास्तव में उससे भिन्न कोई और रूप भी हो सकता है। परन्तु अब यह शब्द बहुत-कुछ पुराना पड़ गया है और इसके स्थान पर **'बहाना'** का ही प्रयोग होने लगा है।

'बहाना' (फ़ा० बहानः) इस वर्ग का सबसे अधिक प्रचलित और प्रसिद्ध शब्द है; और इसका प्रयोग इस वर्ग के अन्य सभी शब्दों के पर्याय के रूप में देखने में आता है। इसका पहला और मूल अर्थ तो कारण या सबब है, पर अब इस अर्थ में से कारण की वास्तविकता का भाव तो निकल गया है और उसके स्थान पर मिथ्यात्व का भाव आ लगा है। 'हिन्दी शब्दसागर' में इसकी व्याख्या इस प्रकार की गई–'किसी बात से बचने या कोई मतलब निकालने के लिए अपने सम्बन्ध में कोई झूठी बात कहना।' पर यह व्याख्या इसलिए अधूरी है कि **बहाना** बहुधा अपने आपको अभियोग या आक्षेप से बचाने अथवा निरुपाय या निर्दोष सिद्ध करने के लिए ही किया जाता है। जब हम अपने कर्त्तव्य का पालन करने से बचना चाहते हैं, तब हमें कोई **बहाना** करना पड़ता है, इससे प्रायः किसी बात को ठीक या न्याय-संगत सिद्ध करने में सहायता मिलती है अथवा अनौचित्य को भी औचित्य का कुछ रूप देने का प्रयत्न किया जाता है। लड़के अपने अध्यापक के घर पढ़ने के लिए जाने का **बहाना** करके इधर-उधर खेलने चले जाते हैं, और, कर्मचारी पेट में दर्द होने का **बहाना** करके छुट्टी लेते और सिनेमा देखने चले जाते हैं। कुछ अवस्थाओं में वास्तविक उद्देश्य छिपाने के लिए खड़ी की जानेवाली आड़ भी **बहाना** कहलाती है;

जैसे 'चलो इसी बहाने उनसे तुम्हारा मेल हो जाएगा ।' यहां मेल अभीष्ट या उद्दिष्ट तो है, पर बीच का निमित्त या साधन ही **बहाना** होगा और स्वयं मेल उसके आगे गौण हो जाएगा । इस अर्थ में यह **मिस** का समानक ही है ।

'हीला' पुं० (अ० हीलः) भी है तो बहुतकुछ वही, जो **बहाना** है, पर दोनों में एक मुख्य अन्तर है । बहाने में जो कारण बतलाया जाता है, वह साधार हो सकता है और निराधार भी । पर **हीला** प्रायः किसी न किसी वास्तविक आधार या कारण पर आश्रित होता है* । यों भी कहावत है– 'हीले रोज़ी, बहाने मौत ।' आशय यही है कि रोज़ी लगने के मूल में जो आधार होता है, वह अंशतः या पूर्णतः वास्तविक होता है, पर जब मौत आने को होती है, तब वह अपने लिए कोई ऐसा आधार बना लेती है जो उतना अधिक यथार्थ या वास्तविक नहीं होता, बल्कि बहुतकुछ कहने भर को या गढ़ा हुआ होता है अर्थात् मरना तो अवश्यंभावी और निश्चित है, पर कहने-सुनने को उसका एक कारण बन जाता है । **हीला** करनेवाले को हम उतना अधिक दोषी नहीं कह सकते, जितना **बहाना** करनेवाले को कह सकते हैं । इसी **हीला** में 'हवाला' मिलाकर 'हीला-हवाला' पद बना लिया गया है, जिसका विकृत रूप हीला-हवाली भी लोक में प्रचलित है । हीला-हवाला का अर्थ होता है–**हीला** करते हुए (कोई बात) किसी दूसरे पर (या दूसरी बात पर) थोपना या मढ़ना । आशय यही होता है कि उत्तरदायित्व हम पर नहीं है, किसी और बात या व्यक्ति पर है अथवा हम अपने ऊपर उसका उत्तरदायित्व नहीं लेना चाहते । (इस कोटि के और शब्दों के लिए दे० 'पाखंड, आडम्बर, ढकोसला और ढोंग') ।

व्याज-निंदा-*स्त्री०* (सं०) दे० 'व्याज, मिस, बहाना और हीला' ।

व्याज-स्तुति- *स्त्री०* (सं०) दे० 'व्याज, मिस, बहाना और हीला' ।

व्याजोक्ति- *स्त्री०* (सं०) दे० 'व्याज, मिस, बहाना और हीला' ।

225. व्यापार — वाणिज्य — व्यवसाय

Trade	Commerce	Occupation
Vocation	Profession	

इस वर्ग के शब्द ऐसे कामों के वाचक हैं जिनमें लोग आर्थिक लाभ या जीविका-निर्वाह के जनसाधारण के व्यवहार की चीज़ें खरीदते और बेचते हैं ।

'व्यापार' शब्द सं० व्यापृ से बना है जिसका अर्थ है– किसी काम में लगे रहना अथवा कोई काम करते रहना । इसी आधार पर जीवन-व्यापार का अर्थ होता है– दैनिक

---

* उर्दू का एक प्रसिद्ध शेर है–

हकीकत में उन्हें मंजूरे खातिर यां न आना था ।
फकत मेंहदी का हीला, दर्द-सर का इक बहाना था ।।

जीवन में किये जानेवाले सभी प्रकार के काम; जिनमें उठना-बैठना, खाना-पीना, घूमना-फिरना आदि सभी बातें सम्मिलित होती हैं। **व्यापार** मुख्यतः वह काम है जिसमें लोग एक ही तरह का अथवा कई तरह के माल खरीद कर अपने पास रख लेते हैं, और प्रायः खरीद से कुछ अधिक मूल्य लेकर दूसरों के हाथ बेचते हैं। लोक में इसका प्रयोग मुख्यतः थोक माल खरीदने और बेचने के सम्बन्ध में होता है। जब हम कपड़े, रेशम या सोने के व्यापारियों की चर्चा करते हैं तब हमारा आशय यही होता है कि ये लोग अधिक मात्रा या मान में चीज़ें खरीदते और बेचते हैं। इसके लिए हमारे यहां फ़ारसी का **'रोज़गार'** शब्द भी प्रचलित है।

'वाणिज्य' का प्रयोग बहुत दिनों से हमारे यहां प्रायः उसी अर्थ में होता आया है जो ऊपर **व्यापार** का बतलाया गया है। प्राचीन भारत में चीज़ें खरीदने और बेचनेवाले को वणिक् कहते थे, और उसका काम **वाणिज्य** कहलाता था। परन्तु आज-कल अंग्रेज़ी कामर्स (Commerce) के अनुकरण पर इसमें एक नया अर्थ लग गया है जो साधारण **व्यापार** के अर्थ से कुछ भिन्न भी है और विस्तृत भी। आज-कल **व्यापार** तो मुख्यतः वह कहलाता है जो अपने ही नगर, देश अथवा प्रान्त में होता हो; और **वाणिज्य** में उस **व्यापार** का अन्तर्भाव होता है जो दूसरे अथवा समुद्र पार के देशों आदि से होता हो। प्रायः ऐसा होता है कि हम अपने यहां कुछ विशिष्ट प्रकार की वस्तुएं दूसरे देशों को भेजते हैं, और वहां से अपनी आवश्यकता के अनुसार कुछ और प्रकार की वस्तुएं मंगाते हैं। इसी प्रकार का क्रय-विक्रय और लेन-देन **वाणिज्य** कहलाता है। इसी आधार पर बड़े-बड़े राज्यों में केन्द्रीय **वाणिज्य** मंत्री नियुक्त होते हैं और वाणिज्य-विभाग भी बनते हैं।

'व्यवसाय' सं० 'व्यवसो' से बना है जिसका मूल अर्थ होता है– अलग या पृथक् होकर कहीं रहना या बसना। इसके सिवा इसके और भी अनेक अर्थ हैं जिनमें से अधिक प्रचलित और मुख्य अर्थ है– परिश्रमपूर्वक प्रयत्न करना। साधारणतः **व्यवसाय** दो अर्थों में प्रचलित हैं– पहला अर्थ तो वही है जो ऊपर **व्यापार** का बतलाया गया है। यदि कोई सूक्ष्म अन्तर ढूँढ़ा जाय तो अधिक से अधिक यही कहा जा सकता है कि कम या थोड़ी मात्रा में चीज़ें खरीदना और बेचना **व्यवसाय** कहलाता है। लोक में 'व्यापारी' और 'व्यवसायी' शब्दों के प्रयोग के आधार पर इतना ही कहा जा सकता है। **व्यवसाय** का दूसरा प्रचलित और मुख्य अर्थ है– कोई ऐसा काम (व्यापार से भिन्न) जो मनुष्य को अपनी जीविका-निर्वाह के लिए करना पड़ता है। कुछ **व्यवसाय** तो ऐसे होते हैं जिनके लिए विशेष प्रकार के प्रशिक्षण की आवश्यकता होती है, और कुछ वे होते हैं जिनके लिए किसी प्रकार के प्रशिक्षण की कोई आवश्यकता नहीं। हिन्दी में इसके स्थान पर पेशा

यहां मेंहदी का हीला तो इसलिए कहा गया है कि मेंहदी उन्होंने सचमुच और सम्भवतः जान-बूझकर और अपने बचाव का कारण प्रस्तुत करने के लिए लगा रखी थी, पर सिर का दर्द वास्तविक नहीं था, बल्कि उन्होंने झूठ-मूठ कहला दिया था कि हमारे सिर में दर्द है और इसीलिए सिर का दर्द एक बहाना था, हीला नहीं था।

(फ़ा० पेश:) शब्द भी प्रचलित है। ××

'व्यावहारिक'– *पु०* (सं०) दे० 'उपयोग, प्रयोग और व्यवहार'।

'व्योम'–*पु०* (सं०) दे० 'अंतरिक्ष, आकाश, व्योम और महाव्योम'।

'व्रत'–*पु०* (सं०) दे० 'अनशन, उपवास, प्रायोपवेशन, लांछन और व्रत'।

226. शंका आशंका संदेह संशय

Doubt Apprehension Suspicion Doubt

इस वर्ग के शब्द ऐसी मानसिक स्थितियों के वाचक हैं जिनमें कोई चीज़ या बात सामने आने पर मन में यह विचार उत्पन्न होता है कि क्या यह ठीक है; अथवा यदि ठीक नहीं है तो इसका ठीक रूप क्या है या क्या होना चाहिए या क्या नहीं होना चाहिए।

'शंका' सं० शंकु से बना है जिसका अर्थ है–चिंतित या भयभीत होना। इसका एक और अर्थ है–कुछ निश्चय या स्थिर न कर पाना। हिन्दी में यह मुख्यतः दो अर्थों में प्रयुक्त होता है। जब किसी भावी बात के सम्बन्ध में किसी प्रकार के अनिष्ट, आघात या हानि की सम्भावना जान पड़ती है, अर्थात् जब हम यह समझते हैं कि अमुक काम या बात सम्भवतः अभीष्ट, उचित अथवा वांछित रूप में नहीं होगी तब हमारे मन की वह स्थिति **'शंका'** कहलाती है। परन्तु हिन्दी में यह अर्थ बहुतकुछ छूट सा गया है और इसके लिए उपयुक्त शब्द **'आशंका'** ही है, जिसका विवेचन आगे चलकर किया है। परन्तु इसका दूसरा अर्थ कुछ भिन्न है। जब कोई बात किसी निर्णीत या मान्य रूप में हमारे सामने आती है, तब वह हमें उस रूप में ठीक नहीं जान पड़ती। ऐसी अवस्था में हमारे मन में जो आपत्ति, जिज्ञासा अथवा प्रश्न उत्पन्न होता है वही हमारी **शंका** है। अर्थात् कोई बात ठीक न जान पड़ने पर मन में जो तर्क-वितर्क उत्पन्न होता है वही **शंका** का सूचक लक्षण है। साधारणतः पंडित लोग आपस में शास्त्रार्थ करने के समय एक-दूसरे के तर्क या मत पर अनेक प्रकार की शंकाएं करते हैं। आशय यही होता है कि प्रतिपक्षी ने जो तर्क या मत उपस्थित किया है वह आपत्तिजनक है और उसका ठीक या वास्तविक रूप कुछ और ही है या होना चाहिए। मनोविज्ञान की दृष्टि से यह कोई मनोवेग नहीं है, बल्कि कुछ विशिष्ट परिस्थितियों में होनेवाला बौद्धिक या मानसिक **व्यापार** मात्र है। इसमें दो तत्त्व प्रधान हैं: एक तो सामने आई हुई बात का आपत्तिजनक जान पड़ना, और दूसरे उसका ठीक रूप जानने की उत्सुकता या कुतूहल होना। यह सदा किसी प्रस्तुत विषय के सम्बन्ध में ही होती है; और मुख्यतः इसी अर्थ में यह हिन्दी में प्रचलित तथा प्रसिद्ध भी है।

'आशंका' स्त्री० (सं०) को भी हम **'शंका'** का एक दूसरा प्रकार या रूप ही कह सकते हैं। फिर भी **आशंका** में कुछ विशिष्ट विवक्षाएं लगी हैं। **शंका** तो सदा प्रस्तुत घटना, बात या विषय के सम्बन्ध में होती है; परन्तु **आशंका** सदा भविष्य के सम्बन्ध में होती है। जब कोई काम या बात होने को होती है, तब कभी-कभी हमारे मन में यह

विचार उठता है कि इससे अमुक प्रकार का अपकार, बाधा या विरोध हो सकता है। तात्पर्य यह है कि किसी भावी अनिष्ट की कल्पना या सम्भावना के फलस्वरूप हमारे मन में चिन्ता उत्पन्न करनेवाली जो **शंका** उत्पन्न होती है, वही **आशंका** है। ध्यान रहे कि इनका प्रयोग कभी अच्छी और इष्ट बातों के सम्बन्ध में नहीं होता। कोई नया नौकर रखने पर उसके अनुचित आचरण या ओछे व्यवहार के कारण हमें यह **आशंका** हो सकती है कि कहीं यह आगे चलकर चोर या बेईमान न निकले। कोई नया कार्य आरम्भ करने पर किसी विशिष्ट कारण से हमें **आशंका** हो सकती है कि कहीं हमें विफल न होना पड़े अथवा कोई हानि न उठानी पड़े। कुछ लोग उसके स्थान पर 'डर' या 'भय' का भी प्रयोग करते हैं, क्योंकि इन शब्दों के अर्थों में भी **'आशंका'** का अन्तर्भाव रहता है।

'संदेह' सं० संदिह् से बना है, जिसका अर्थ है–ठीक तरह से कुछ निश्चय न कर पाना। **शंका** में तो हम सामने आई हुई बात के सम्बन्ध में यह मान लेते हैं कि वह ठीक नहीं है या नहीं हो सकती। परन्तु सन्देह मुख्यतः वहां होता है जहां सामने आई हुई बात हमें कुछ ठीक नहीं जान पड़ती और हम सोचते हैं कि कहीं इससे भिन्न कोई और बात तो नहीं है। सन्देह मुख्यतः वहां होता है जहां सामने आई हुई बात का स्वरूप स्पष्ट नहीं होता; और मन में यह भाव उत्पन्न होता है कि वस्तु-स्थिति कहीं इससे कुछ भिन्न तो नहीं है। सामने आई हुई बात के सम्बन्ध में जब हम यह सोचते हैं कि कहीं यह अग्राह्य, कल्पित या सदोष तो नहीं है, अथवा क्या इसकी वास्तविकता या सत्यता सचमुच ठीक मानी जाने के योग्य है, तब हमारे मन की यह स्थिति **संदेह** कहलाती है। मन में इस प्रकार का भाव प्रायः यथेष्ट प्रमाण के अभाव में ही उत्पन्न होता है; और ऊपर से दिखाई देनेवाले तथ्य या रूप पर सहसा विश्वास नहीं होता। जब हम कहते हैं–'हमें उसके इस कथन की सत्यता में कुछ सन्देह है' तो हमारा आशय यही होता है कि हमें उसका यह कथन ठीक नहीं जान पड़ता; और वास्तव में बात कुछ दूसरी ही है।

इसके सिवा ऐसी अवस्था में भी **संदेह** का तत्त्व आ जाता है, जब हम समझते हैं कि अमुक बात या व्यक्ति ने सम्भवतः कोई अनिष्ट या अपकार किया है अथवा उसके द्वारा कोई अनुचित या हानिकर बात हो सकती है। पुलिस को किसी व्यक्ति पर सन्देह हो सकता है कि यह कहीं चोरी करके या डाका डालकर भाग आया है। चिकित्सक को यह सन्देह हो सकता है कि हमारी कलवाली दवा ने या रोगी के किसी कुपथ्य ने आज रोग बढ़ा दिया है। यदि वैद्य को अपनी दवा पर तो विश्वास हो, परन्तु रोगी के संयम तथा पथ्यपूर्वक रहने का उसे निश्चय न हो, तो वह कहेगा कि मुझे सन्देह है कि रोगी ने कल कोई ऐसी-वैसी चीज़ खाई होगी। अर्थात् जहां कोई ठीक आधार या कारण नहीं मिलता पर कुछ सम्भावना सी जान पड़ती है, वहीं सन्देह के लिए अवकाश होता है।

'संशय' सं० संशि से बना है जिसका पहला अर्थ है–दुर्बल या बलहीन होना, और दूसरा अर्थ है–इधर-उधर हटना-बढ़ना या विचलित होना। **संशय** हमारे मन की वह स्थिति है जिसमें हम ठीक तरह से यह नहीं समझ पाते कि अमुक बात या वस्तु क्या है और क्या नहीं है; हमें क्या करना चाहिए और क्या नहीं करना चाहिए अथवा आगे चलकर क्या होगा और क्या नहीं होगा। इसे हम अनिश्चय और दुबिधा का सम्मिलित

रूप कह सकते हैं। इसमें उपयुक्तता, वास्तविकता, सत्यता, स्थिति आदि के सम्बन्ध में किसी प्रकार की धारणा, निश्चय या विश्वास न होने का भाव प्रधान है। इसमें अनुमान, कल्पना, निर्णय आदि के लिए स्थान तो हो सकता है, पर इन बातों के लिए हममें कोई उत्कंठा या जिज्ञासा नहीं होती, हमारा भाव उदासीन सा रहता है। हम किसी विषय में अध्ययन, खोज, छान-बीन आदि करते रहते हैं, फिर भी तथ्य या वास्तविकता तक नहीं पहुंच पाते। ऐसे समय तक हमारे मन की जो स्थिति होती है वही **'संशय'** है। **संशय** प्रायः ऐसी बातों के संबंध में ही होता है जिनके संबंध में पहले से कुछ निश्चय या विचार तो हो चुका हो, परन्तु जिनसे हम सहमत न हों अथवा जिनकी संभावना की हम सहज में कल्पना न कर सकते हों। 'संशयात्मा विनश्यति' में **संशय** का भाव यही है कि मनुष्य प्रयत्न करने पर भी अथवा अधूरे ज्ञान के कारण ठीक निश्चय तक नहीं पहुंच पाता। कुछ अवस्थाओं में हम यह भी समझते हैं कि ऐसा हो भी सकता है और नहीं भी हो सकता। ऐसी स्थिति भी **संशय** के अंतर्गत होती है, यथा –'कछु **संशय** तो फिरती बारा'। –तुलसी। अर्थात् जाने को मैं उस पार चला ही जाऊंगा; निश्चित रूप से यह नहीं कह सकता कि मैं वहां से लौटकर आ भी सकूंगा या नहीं।

उक्त तीनों शब्दों के स्थान पर हिन्दी में फ़ारसी का **'शक'** शब्द भी प्रायः प्रयुक्त होता है जो वस्तुतः संस्कृत **शंका** का ही विकृत रूप है। ××

शक–(फ़ा०) दे० 'शंका, संदेह और संशय'।

227. शक्ति ऊर्जा बल सामर्थ्य सहनिका

शक्ति	ऊर्जा	बल	सामर्थ्य	सहनिका
Power	Energy	Strength	1. Strength 2. Capacity	Stamina

इस वर्ग के शब्द ऐसी क्षमता या योग्यता के वाचक हैं जिनसे कोई जीव या पदार्थ अपने सब कार्य करने में समर्थ होता है। साधारणतः **शक्ति** और **बल** में कोई विशेष अंतर नहीं माना जाता; फिर भी भिन्न प्रकार की क्रियाओं और संज्ञा संबंधी प्रयोगों के आधार पर इनके अर्थों में कुछ विशिष्ट अंतर या भेद हैं। दृष्टि-शक्ति, पाचन-शक्ति, सहन-शक्ति आदि प्रयोग, और धन-बल, बाहु-बल, भुज-बल आदि प्रयोग हमारे यहां बहुत प्रचलित हैं। इसी प्रकार के कुछ प्रयोगों और व्यवहारों के आधार पर ही इनके सूक्ष्म अंतर या भेद स्थिर किये जा सकते हैं।

'शक्ति' सं० शक् से व्युत्पन्न है जिसका मुख्य अर्थ है–कुछ कर सकने के योग्य होना। यों तो अर्थ के विचार से इसकी व्यापकता बहुत अधिक है; परन्तु प्रस्तुत प्रसंग में **शक्ति** किसी पदार्थ या प्राणी में होनेवाला वह भौतिक गुण या धर्म है जिसके फलस्वरूप वह अपने सब काम करता रहता है, और विशिष्ट अवसरों पर कुछ अधिक कठिन या नये काम भी कर दिखलाता है। दुर्बलता, रोग आदि के कारण हमारी शारीरिक शक्ति बहुत घट जाती है, और चिकित्सा, पौष्टिक भोजन, व्यायाम आदि के द्वारा बढ़ाई भी जा सकती

है । इस सीमा तक **'बल'** इसका पर्याय भी है; और इसके स्थान पर अरबी का **'ताक़त'** शब्द भी प्रयुक्त होता है ।

प्राणियों में तो मानसिक और शारीरिक शक्तियां होती ही हैं; निर्जीव उपकरणों, यंत्रों आदि में भी कार्य करने की कई प्रकार की शक्तियां होती हैं । इससे भी और आगे बढ़ने पर हम देखते हैं कि तंत्र-मंत्र और शब्दों तक में शक्ति का अधिष्ठान माना जाता है । इनके सिवा आर्थिक, दैवी, प्राकृतिक आदि शक्तियां भी होती हैं । सारांश यह कि हमें जो कुछ होता हुआ दिखाई देता है उसके मूल में किसी न किसी प्रकार की शक्ति अवश्य कार्य करती है । औषधियों में रोग़ दूर करने की, नदियों के प्रवाह में चट्टानें और पहाड़ तोड़ने की, और विद्युत में अनेक प्रकार के कार्य करने की शक्ति होती है । आज-कल बलवान् और सशक्त देश या राष्ट्र भी अपने **बल**, वैभव आदि के कारण 'शक्ति' कहलाने लगे हैं; जैसे-'इस समय संसा़र में अमेरिका और रूस दो बहुत बड़ी शक्तियां हैं' । आशय यही होता है कि ये सब प्रकार की शक्तियों के अधिष्ठान हैं, और इसीलिए किसी न किसी रूप में अनेक छोटे-छोटे देशों और राष्ट्रों को अपने दबाव या प्रभाव में रख सकते हैं ।

'बल' को हम शक्ति का कुछ परिमित या सीमित रूप ही कह सकते हैं । यह सं० बल् से बना है, जिसका अर्थ है–सांस लेना, जीवित रहना आदि । **बल** मुख्यतः जीवधारियों या प्राणियों में ही रहनेवाला गुण या धर्म है । परन्तु आगे चलकर इसमें कुछ और ऐसे अर्थ भी विकसित हो गए हैं जो मुख्यतः **शक्ति** से संबद्ध हैं । उदाहरणार्थ यंत्रों आदि की क्षमता नापनेवाली इकाई को हम अश्व-बल भी कहते हैं और अश्व-शक्ति भी । राष्ट्रों के संबंध में उनके सैन्यबल का भी प्रयोग होता है, और सैन्यशक्ति का भी । परन्तु मौलिक अर्थ के विचार से **बल** मुख्यतः शक्ति का वह क्रियात्मक और दृश्य अंग या रूप है जिसके सहारे जीवित रहकर चलते-फिरते और सब काम करते हैं । प्राणी जब कोई चीज़ खींचते या ढोते हैं तब उसमें उन्हें अपना **बल** ही लगाना पड़ता है । शक्ति तो प्राणियों में निहित या वर्तमान रहती ही है; परन्तु कोई कार्य करने के समय वह जिस रूप में क्रियाशील होती है वही **बल** है । राज्य के पास सैन्य-शक्ति तो होती ही है, परन्तु युद्धों आदि में अथवा विद्रोहों आदि का दमन करने के समय जब उसका उपयोग होता है तब हम कहते हैं कि उसने **बल** का प्रयोग किया । भाषा में विचार प्रकट करने की शक्ति तो रहती ही है, पर जब हम ओजपूर्ण भाषा में अपने विचार प्रकट करते हैं तब मानो उसका **बल** कार्य करता हुआ दिखाई देता है । प्रत्येक वस्तु की आंतरिक शक्ति ही उसे **बल** के प्रयोग में समर्थ करती है । यदि किसी पहलवान को रस्सों से बांध दिया जाए तो उसकी शारीरिक शक्ति तो उसमें वर्तमान रहेगी ही; पर यदि उसमें उन रस्सों को तोड़ने का **बल** न होगा, तो वह जहां का तहां पड़ा रह जायगा और बन्धन से मुक्त न हो सकेगा । हिन्दी में इसके स्थान पर फ़ा० **'ज़ोर'** का भी व्यवहार होता है ।

'सामर्थ्य' *पु०* (सं०) समर्थ का भाववाचक रूप है । इसका शब्दार्थ है–सम (समान) अर्थ होने की अवस्था या भाव । पर हिन्दी में यह ऐसी शक्ति का वाचक होता है जो सामने आया हुआ कार्य पूरा कर सकने के योग्य होती है । इसका प्रयोग सदा मनुष्यों या अधिक से अधिक जीव-जंतुओं तक के सम्बन्ध में होता है; वस्तुओं आदि के सम्बन्ध में नहीं ।

क्योंकि यह मुख्यतः आर्थिक, मानसिक, शारीरिक आदि शक्तियों पर आश्रित होता और परिस्थितियों के अनुसार घटता-बढ़ता रहता है। किसी विशिष्ट प्रकार का कार्य कर सकने का जो गुण या **बल** हममें होता है, उसी का सूचक **सामर्थ्य** है; जैसे ताप सहने का **सामर्थ्य**, पर्वत पर चढ़ने का **सामर्थ्य**, शत्रु से लड़ने का **सामर्थ्य**। हम कहते हैं - (क) 'यह काम हमारे **सामर्थ्य** के बाहर है, अथवा (ख) हमारे कानों में सुनने (या आंखों में देखने) का **सामर्थ्य** नहीं रह गया'। ऐसे प्रसंगों में यह शक्ति का (कुछ परिमित रूप में) वाचक होता है; और इसके स्थान पर पर्याय रूप में 'सक्षमता' का भी प्रयोग हो सकता है। प्रायः लोग भूल से स्त्री० रूप में इसका प्रयोग करते हुए देखे जाते हैं, जो ठीक नहीं है। स्वास्थ्य आदि शब्दों की तरह यह भी सर्वथा पुं० ही है। **सामर्थ्य** के और अर्थ जानने के लिए दे० **'सामर्थ्य**, समाई और विसात'।

'ऊर्जा' सं० ऊर्जस् से बना है जिसका अर्थ है–**बल** या शक्ति प्रदान करना। यह पदार्थों में वर्तमान रहनेवाली वह विशिष्ट शक्ति (गुण या धर्म) है जो कोई काम करने में लगती या व्यये होती है। आधुनिक भौतिक विज्ञान के अनुसार **ऊर्जा** काम करनेवाली शक्ति या क्षमता है। बहते हुए पानी में रहनेवाली **ऊर्जा** से ही पनचक्की भी चलती है, और बिजली भी उत्पन्न होती है। विद्युत के प्रवाह में जो **ऊर्जा** होती है वह यंत्र भी चलाती है, प्रकाश भी करती है और इसी प्रकार के और भी कार्य करती है। तोपों और बन्दूकों से गोले-गोलियां चलाने में बारूद की **ऊर्जा** ही समर्थ होती है। यह दो प्रकार की मानी गई है–गतिज और स्थितिज। जो **ऊर्जा** किसी प्रकार की गति के फलस्वरूप उत्पन्न होती है उसे गतिज **ऊर्जा** कहते हैं; जैसे- जल या विद्युत के प्रवाह में होनेवाली **ऊर्जा**। परंतु जो **ऊर्जा** पदार्थों में सदा वर्तमान और स्थित रहती है, उसे स्थितिज **ऊर्जा** कहते हैं; जैसे–बारूद आदि में रहनेवाली **ऊर्जा**। इस **ऊर्जा** में एक बात यह भी है कि यह जितना काम करती है उतनी ही घटती भी चलती है। इसीलिए व्यय होनेवाली **ऊर्जा** नापने के लिए अनेक प्रकार के मापक यंत्र भी बना लिये जाते हैं।

'सहनिका' *स्त्री०* (सं० सहन से) मेरी समझ में अं० के Stamina का आशय और भाव समझने के लिए इसलिए अच्छा शब्द होगा कि अन्यान्य कोशों में मुझे और कोई उपयुक्त शब्द नहीं मिला। किसी व्यक्ति के शरीर में कठिनाइयां और कष्ट सहने की अथवा बिना थके बहुत देर तक कठोर परिश्रम करने की अथवा रोगों आदि के सहन करने की जो विशिष्ट शक्ति होती है वही **सहनिका** है। यह **शक्ति** सब लोगों में समान नहीं होती, किसी में कम और किसी में ज़्यादा होती है। यह सहन-**शक्ति** का एक प्रकार ही है जो शरीर-**बल** पर आश्रित होता है।

शत्रुता–*स्त्री०* (सं०) दे० 'वैमनस्य, ईर्ष्या, द्वेष, शत्रुता, वैर, रिपुता'।

शपथ–*स्त्री०* (सं०) दे० 'संकल्प, निश्चय, प्रतिज्ञा और शपथ'।

शम–*पु०* (सं०) दे० 'शान्ति और शम'।

शर्त–*स्त्री०* (अ०) = प्रविधान; दे० 'विधा, विधान, प्रविधान और संविधान'।

शस्त्र–*पु०* (सं०) दे० 'अस्त्र, आयुध और शस्त्र'।

228. **शांति** **शम**

Peace, Calm Tranquility

ये दोनों शब्द ऐसी स्थितियों के वाचक हैं जिनमें मनुष्य, समाज आदि में किसी प्रकार का विक्षोभ या विकलता न हो अथवा उद्वेगों, कष्टों, चिंताओं आदि का बिल्कुल अभाव हो।

'शान्ति' स्त्री० (सं०) हमारे यहां का बहुत पुराना और प्रसिद्ध शब्द है। इसका प्रयोग कई क्षेत्रों में अलग-अलग विवक्षाएं सूचित करने के लिए होता है; जैसे-चित्त का ठिकाने रहना; जीवन में सब प्रकार से निश्चिन्त और सुखी रहना। पर इसके कुछ मुख्य अर्थ इस प्रकार हैं–

(1) घर-गृहस्थी, जन-समूह या समाज की वह अवस्था जिसमें उत्पात, उपद्रव, मार-पीट, लड़ाई-झगड़े, विद्वेष आदि का अभाव हो और फलतः सब लोग निश्चिन्त भाव से सुखपूर्वक जीवन बिताते हों।

(2) राजनीतिक क्षेत्र में वह स्थिति जिसनें राज्य, राष्ट्र आपस में लड़ते-झगड़ते या युद्ध आदि न करते हों।

(3) मन की वह स्थिति जिसमें किसी प्रकार की उद्विग्नता, चिंता या विकलता न हो–वह इधर-उधर भटकता न हो, सब प्रकार से निश्चिन्त और स्थिर हो।

इसके अतिरिक्त एक दूसरे क्षेत्र में उसके ये दो मुख्य अर्थ हैं–

(1) वातावरण की वह स्थिति जिसमें नैसर्गिक तत्त्वों में कोई उग्रता या प्रचण्डता न रहती हो; अथवा जिसमें किसी प्रकार की अप्रिय या कर्णकटु ध्वनि अथवा ऐसा ही और कोई शब्द न होता हो। इसे नीरवता या सन्नाटा भी कहते हैं और जन-समूह की वह स्थिति जिसमें सब लोग ढीले और मौन भाव से खड़े अथवा बैठे हों–कोई ज़ोर का शब्द या हो-हल्ला न करते हों।

(2) इसके अतिरिक्त कुछ और परिवर्द्धित तथा विकसित अर्थ में इसका प्रयोग शरीर की वह स्थिति सूचित करने के लिए भी होता है जिसमें किसी तीव्र कष्ट, पीड़ा, व्यथा आदि का बहुत-कुछ अन्त हो जाता है और बेचैनी बहुत कम या दूर हो जाती है। इसी वर्ग के अन्तर्गत ग्रहों, देवी-देवताओं या दैवी प्रकोपों का अन्त या समाप्ति हो जाने पर मन में होनेवाली निश्चिंतता और स्वस्थता भी आती है।

'शम' *पु०* (सं०) के यों तो कई अर्थ हैं; जैसे- मन का संतुलन और संयम, आराम या विश्राम आदि। शमन, शमित, शामक आदि इसी के विकसित और विकारी रूप हैं, क्रमात् जिनके अर्थ होते हैं: दबना या दबाना, दबा या दबाया हुआ और दबानेवाला। साधारणतः इन शब्दों का प्रयोग अग्निकांड, उपद्रव, विद्रोह आदि के प्रसंगों में होता है, परन्तु इन सबका परिणाम वही होता है जिसे सब लोग साधारणतः **शांति** कहते हैं। इसी

आधार पर **शम** भी है तो बहुत-कुछ **शांति** का ही समानक या समार्थक; फिर भी ञ्स में एक विशिष्ट विवक्षा लगी हुई है। यह अपेक्षया अधिक नीरवता, **शांति** और स्थिरता का सूचक शब्द है। **शांति** के साथ तो उस अशांति का भी संकेत रहता है जो पहले से व्याप्त रही हो और अब जिसका अन्त या समाप्ति हो चुकी हो। परन्तु **शम** के प्रसंग में ऐसी पुरानी दुःखद घटना या बात का संपर्क या सम्बन्ध नहीं होता। इसमें मुख्य रूप से पूरी **शांति**, स्थिरता, स्वस्थता आदि के भाव प्रधान हैं। हम कहते हैं–देश में **शांति** और **शम** बना रहे। ऐसे प्रसंगों में **'शांति'** से हमारा अभिप्राय यह होता है कि कोई उपद्रव या झगड़ा बखेड़ा न हो; और **शम** से अभिप्राय यह होता है कि पहले से जो शांतिपूर्ण और सुखद स्थिति चली आ रही है, वह इसी रूप में बनी रहे। अभी तक हिन्दी में Tranquility के लिए कोई अच्छा और उपयुक्त शब्द नहीं चला है; अतः मैं समझता हूं कि इसके लिए **'शम'** ही सबसे अधिक उपयुक्त और ठीक होगा।

××

229. शासन — अनुशासन — प्रशासन

शासन	अनुशासन	प्रशासन
Government Governance	Discipline	Administration

इस वर्ग के शब्द मुख्यतः ऐसे कार्यों या बातों के वाचक हैं जो नियमों आदि का पालन करने-कराने और प्रबन्ध या व्यवस्था ठीक और सुचारु रूप से चलानेवाली होती हैं। **'शासन'** के अनेक अर्थों में से पहला मुख्य अर्थ है–किसी को इस प्रकार अपने अधिकार, नियंत्रण या वश में रखना कि वह आज्ञा, नियम आदि के विरुद्ध आचरण या व्यवहार न कर सके। इससे और आगे बढ़ने पर इसका दूसरा और बहु-प्रचलित अर्थ होता है–किसी देश, प्रांत या स्थान पर नियंत्रण रखते हुए उसकी ऐसी व्यवस्था करना कि किसी प्रकार की गड़बड़ी या अराजकता न होने पाए। इनके सिवा यह उस व्यक्ति अथवा उसके सहायकों के दल या वर्ग का भी सामूहिक रूप से वाचक होता है जो किसी देश, प्रदेश या राज्य में उक्त प्रकार की सब व्यवस्थाएं करते हों, और जिनके हाथों में आधिकारिक रूप से राज्य-संचालन के सब सूत्र रहते हों; जैसे- अब हमारे यहां बड़े-बड़े उद्योग-धंधों की सारी व्यवस्था **शासन** अपने हाथ में ले रहा है। अंतिम दोनों अर्थों के लिए हिन्दी में फ़ा० का **'सरकार'** और अ० का **हकूमत** (शुद्ध रूप हुकूमत) शब्द भी प्रचलित है।

'प्रशासन' का साधारण अर्थ होता है–अच्छी तरह होनेवाला शासन। परन्तु आज-कल इसका प्रयोग अंग्रेज़ी के एडमिनिस्ट्रेशन (Administration)* का भाव सूचित करने के लिए होने लगा है, और इस दृष्टि से यह **शासन** के किसी आंगिक या

---

* अमेरिका में Administration का प्रयोग Government (शासन या सरकार) के पर्याय के रूप में ही होता है, परन्तु इंगलैंड में दोनों के प्रयोगों में कुछ अन्तर है; और ऊपर का विवेचन इसी अन्तर के आधार पर किया गया है।

।

क्षेत्रीय अंश के सम्बन्ध में, अर्थात् **शासन** की तुलना में इसकी व्याप्ति कुछ परिमित भी हो गई है, और कुछ विशिष्टता-सूचक भी। **शासन** के तो अनेक अंश और विभाग होते हैं, परन्तु उनमें से किसी एक अंग या विभाग का क्रियात्मक रूप में और ठीक तरह से होनेवाला **शासन** ही **प्रशासन** कहलाता है। **प्रशासन** में मुख्य भाव कार्यों आदि की व्यवस्था और नियमों आदि के पालन का है। इसका प्रयोग राजकीय विभागों आदि के अतिरिक्त लोकोपयोगी तथा सार्वजनिक संस्थाओं के क्षेत्र में भी होता है। इसी आधार पर उक्त प्रकार के कामों का निरीक्षण, व्यवस्था आदि करनेवाला अधिकारी प्रशासनिक या प्रशासनिक अधिकारी कहलाता है।

'अनुशासन' का मूल अर्थ–दूसरे को यह बतलाना कि अमुक कार्य इस प्रकार होना चाहिए, अथवा यह आज्ञा देना कि अमुक कार्य इस प्रकार करो। प्राचीन काल में इसका प्रयोग **शासन** और **प्रशासन** के पर्याय के रूप में भी होता था, परन्तु आज-कल इसका प्रयोग अंग्रेजी के डिसिप्लिन (Discipline) का भाव सूचित करने के लिए होने लगा है।* इसका मुख्य आशय है–अपने आपको भी नियंत्रण में रखना; और अधिकारी, नियम, व्यवस्था आदि का नियंत्रण मानकर ठीक तरह से आचरण और कार्य करना। कार्यालयों, विभागों, संस्थाओं आदि के काम ठीक तरह से तभी चल सकते हैं जब उनमें काम करनेवाले सब लोग आज्ञाओं, नियमों आदि का उचित रूप में पालन करें और किसी प्रकार की व्यवस्था, गड़बड़ी या विश्रृंखलता न उत्पन्न होने दें। इन सब बातों का सामूहिक रूप ही **'अनुशासन'** कहलाता है। अधिकारियों का कर्तव्य होता है कि वे अपने अधीनस्थों से **अनुशासन** का पालन कराएँ और अधीनस्थों का कर्तव्य होता है कि वे **अनुशासन** का पालन करें। इसीलिए अनुशासनहीनता की गिनती कहीं तो अपराध में, और कहीं बहुत बड़े दोष में होती है। ××

शास्त्र- *पु०* (सं०) दे० 'दर्शन, विज्ञान और शास्त्र'।

230. शिक्षण — प्रशिक्षण — शिक्षा

Instruction — Training — Education

इस वर्ग के शब्द किसी को कोई कार्य, विद्या, शिल्प आदि का ज्ञान या परिचय कराने की क्रिया या ढंग के वाचक हैं।

'शिक्षण' पुं० (सं०) शिक्ष् धातु से बना है जिसका अर्थ है–कोई काम, कौशल या विद्या जानने की इच्छा करना; और **शिक्षण** का अर्थ होता है–दूसरे को इस तरह का ज्ञान प्राप्त कराना या बतलाना। हिन्दी की 'सिखाना' क्रिया इसी से बनी है और **शिक्षण** के

---

* हमारे यहां प्राचीन काल में Discipline का भाव सूचित करने के लिए 'विनय' शब्द का प्रयोग होता था, परन्तु आज-कल 'विनय' का वह अर्थ छूट गया है, और इसीलिए इसके स्थान पर **'अनुशासन'** का प्रयोग होने लगा है। आज-कल विनय का प्रचलित अर्थ जानने के लिए दे० 'विनति, अभिवेदन, आवेदन, निवेदन, प्रतिवेदन, प्रार्थना, याचना'।

प्रायः सभी आशय या भाव सूचित करती है। किसी को कोई काम करने का ढंग या रास्ता बतलाना ही **शिक्षण** या सिखाना है। किसी को किसी कला या कौशल से सम्बन्ध रखनेवाली सभी आवश्यक और उपयोगी बातें अच्छी तरह बतला और समझाकर उसे ठीक तरह से काम करने के योग्य बनाना ही उसे शिक्षण देना है; जैसे- (क) चित्र या मूर्तियां बनाने का **शिक्षण** देनेवाला विद्यालय, (ख) प्रशासन या राजनय के **शिक्षण** की व्यवस्था आदि।

'शिक्षा' *स्त्री०* (सं०) भी मूलतः है तो वही जो **शिक्षण** है; फिर भी प्रयोग के विचार से दोनों में कुछ सूक्ष्म अन्तर है। पहली बात तो यह है कि **शिक्षा** का प्रयोग आज-कल मुख्यतः कोई भाषा, विज्ञान, विधा, शास्त्र आदि के क्षेत्रों में होता है; और दूसरे यह कि इसमें किसी को अच्छी तरह जीवन बिताने के लिए योग्य और समर्थ बनाने का भाव भी सम्मिलित है। इसका मुख्य उद्देश्य व्यक्तियों की कार्य-शक्ति और गुणों का विकास करना होता है। इसका उद्देश्य किसी को ज्ञान प्राप्त कराने के अतिरिक्त यह भी होता है कि वह चरित्रवान् बने और देश तथा समाज की उन्नति और कल्याण-साधन में सहायक हो। इसके सिवा **शिक्षा** अनेक प्रकार के व्यवसायों आदि के सम्बन्ध में भी होती है; जैसे- चिकित्सा, वास्तु-कला, संगीत आदि की **शिक्षा**। **शिक्षा** लौकिक बातों की तो होती ही है, आध्यात्मिक, सांस्कृतिक आदि बातों की भी होती है।

'प्रशिक्षण' *पु०* (सं०) को हम **शिक्षण** का एक विशिष्ट प्रकार या रूप ही कह सकते हैं। **प्रशिक्षण** किसी कला या कौशल अथवा उसकी किसी शाखा से ही सम्बद्ध होता है; और इसका उद्देश्य व्यक्ति को कला या कौशल की पूरी जानकारी करा के उसे दक्ष या प्रवीण बनाना होता है। इसमें मुख्यतः इस बात का ध्यान रखा जाता है कि व्यक्ति कोई विशिष्ट कार्य करने के लिए पूरी तरह से उपयुक्त और समर्थ हो जाए; जैसे- अध्यापन कला का **प्रशिक्षण**, यान्त्रिक कार्यों का **प्रशिक्षण** आदि। पाश्चात्य देशों में अनेक प्रकार की क्रियाओं से यह पता लगाया जाता है कि कोई बालक या व्यक्ति प्राकृतिक रूप से कौन सा काम अच्छी तरह से कर सकता है; और तब उसे उसी का **प्रशिक्षण** देकर उसे विशेष योग्य बनाया जाता है। इसके सिवा इस शब्द का प्रयोग पशुओं आदि के सम्बन्ध में भी होता है। घोड़ों को गाड़ियां खींचने और सवारी के काम में आने के लिए प्रशिक्षित किया जाता है; और भालुओं, शेरों, हाथियों आदि को सर्कसों में तरह-तरह के काम करने के लिए प्रशिक्षित किया जाता है।*

---

* अंग्रेजी में Training का प्रयोग लाक्षणिक रूप में नदियों आदि का बहाव या रुख मोड़ने के प्रयत्नों के लिए भी होता है। परन्तु हमारे यहां **शिक्षण** का प्रयोग मुख्यतः व्यक्तियों या जीव-जन्तुओं के सम्बन्ध में ही होता है; जड़ या निर्जीव पदार्थों के सम्बन्ध में नहीं होता। अतः नदियों आदि के बहाव बदलने के उपायों और प्रयत्नों के लिए हमें कोई और शब्द ढूंढ़ना या बनाना पड़ेगा। हमारे यहां भी बहुत दिनों से प्रायः मल्लाह लोग इस प्रकार के उपाय करते आए हैं। सम्भव है उनसे पूछने पर इसके लिए हमें अपने यहां का उपयुक्त और पुराना शब्द मिल जाय।

हिन्दी में उक्त तीनों शब्दों के स्थान पर प्रायः 'तालीम' (अ० तअलीम) का भी प्रयोग होता है। ××

शिक्षा–*स्त्री०* (सं०) दे० 'शिक्षण, शिक्षा और प्रशिक्षण'।

शिनाख्त–*स्त्री०* (फ़ा० शनाख्त) दे० 'पहचान, अनुप्रमाणन, पृष्ठांकन और सत्यापन'।

शिरा–*स्त्री०* (सं०) दे० 'धमनी, नाड़ी, शिरा और स्नायु'।

शील–*पु०* (सं०) दे० 'प्रकृति, शील, स्वभाव और मिज़ाज'।

शुरू–*पु०* (अ० शुरू) दे० 'अथ, आदि, आरंभ और प्रारम्भ'।

शेखी–*स्त्री०* (अ० शेख से) दे० 'अभिमान, गर्व, घमण्ड, मद और शेखी'।

शोक–*पु०* (सं०) दे० 'दु:ख, खेद और शोक'।

शोग–*पु०* (सं०) = शोक; दे० 'दु:ख, खेद और शोक'।

231. शोथ — शोफ

Inflammation — Oedema

ये दोनों शब्द शरीर के अंगों के एक विशेष प्रकार के रोग या विकार के वाचक हैं। यद्यपि दोनों के बाह्य लक्षण एक से होते हैं, फिर भी दोनों में कुछ सूक्ष्म अन्तर है और इस अन्तर का ज्ञान न होने के कारण लोग **शोफ** का अन्तर्भाव भी **शोथ** में ही करते हैं। प्रायः शरीर का कोई अंग फूल जाता है, परन्तु उसका यह फूलना दो प्रकार का होता है। जिस फूलने में कुछ जलन या पीड़ा भी हो वस्तुतः वही **शोथ** है। इसके लिए हिन्दी में 'सूजन' भी प्रचलित है जो फ़ा० 'सोजन' से बना है। सोजन का अर्थ है–जलन। प्रायः चोट लगने या फोड़े आदि का आरम्भ होने पर शरीर का कोई अंग जब फूल जाता है तब उसे **शोथ** या सूजन कहते हैं। चोट का अभाव कम होने या फोड़े आदि का मवाद निकल जाने पर सूजन कम हो जाती है।

'शोफ' भी हमारे यहां का है तो बहुत प्राचीन शब्द। इसका प्रयोग आज-कल कुछ कम देखने में आता है। इसमें भी शरीर का कोई अंग फूल तो जाता है परन्तु इसमें किसी प्रकार की जलन या पीड़ा नहीं होती। इसके लिए हिन्दी में नया शब्द 'फूलन' चलने लगा है, जो हिन्दी फूलना का भाववाचक रूप है। प्रायः पुराने रोगियों के हाथों-पैरों में यह रोग हो जाता है और हमारे यहां वैद्यक के अनुसार इसका कारण कफ और वात का प्रकोप माना जाता है। इसमें यदि पीड़ित अंग को उंगली से दबाया जाय तो उसमें गड्ढा सा पड़ जाता है; पर उंगली हटाने के कुछ देर बाद वह गड्ढा फिर फूलकर भर जाता है और ज्यों-का-त्यों हो जाता है। ××

शोध–*पु०* (सं०) दे० 'खोज, अनुसंधान, अन्वेषण और शोध'।

शोफ–*पु०* (सं०) दे० 'शोथ और शोफ'।

शोर–*पु०* (फा०) दे० 'नाद, घोष, ध्वनि और लय'।

श्रद्धा–*स्त्री०* (सं०) दे० 'आस्था, निष्ठा, श्रद्धा और भक्ति'।

श्रेणी–*स्त्री०* (सं०) दे० 'कोटि, वर्ग और श्रेणी'।

श्रेय–*पु०* (सं०) दे० 'कीर्ति, यश और श्रेय'।

श्रेष्ठ–*वि०* दे० 'अच्छा, उत्तम, बढ़िया, भला और श्रेष्ठ'।

श्वेतपत्र–*पु०* (सं०) दे० 'विज्ञप्ति, अधिसूचना, ज्ञापन, ध्येयपत्र, परिपत्र और श्वेतपत्र'।

232. संकल्प निश्चय प्रण प्रतिज्ञा

Determination Resolution Vow Pledge

शपथ

1. Oath (ordeal) 2. Oath of allegiance
3. Solemn affirmation

इस वर्ग के शब्द इस बात के सूचक हैं कि मनुष्य अपने मन में जो मत या विचार स्थिर कर लेता है, उसे वह पूरी तरह से पालन करना चाहता है।

'संकल्प' पुं० (सं०) का मूल अर्थ है–मन में आनेवाली कोई बात या विचार। इसका दूसरा अर्थ है–अच्छी तरह सोच-समझकर स्थिर की हुई ऐसी बात या विचार जिसे मनुष्य कार्य का रूप देना या पूरा करना चाहता है। इसी आधार पर आगे चलकर इसमें दृढ़-निश्चय या पुष्टता का भाव भी सम्मिलित हो जाता है। मध्य युग में इसका प्रयोग धार्मिक क्षेत्र में एक विशिष्ट आशय या भाव सूचित करने के लिए होने लगा था; और अब तक लोक में यह इसी अर्थ में बहुत-कुछ प्रचलित हुआ है। हम कुछ दान करना चाहते हैं अथवा किसी पुण्य कार्य में प्रवृत्त होना चाहते हैं, परन्तु इससे पहले इस **संकल्प** का एक विशिष्ट रूप में परिज्ञापन करते हैं। इसके लिए एक विशिष्ट मंत्र बन गया है; और उसी मंत्र का उच्चारण करते हुए हम यह बतलाते हैं कि हम दान अथवा पुण्य का अमुक कार्य करना चाहते हैं या करने लगे हैं। इस प्रकार का **संकल्प** कर चुकने पर हमारे लिए वह कार्य करना परम आवश्यक हो जाता है और हम उससे कभी पीछे नहीं हटते। आज-कल साधारणतः लोक-व्यवहार में इसकी धार्मिक भावना तो बहुत-कुछ छूट गयी है; फिर भी अपना विचार पूरा करने की दृढ़ता बहुत-कुछ लगी हुई है। यह हमारी इच्छा-शक्ति और कार्य-निष्ठा की दृढ़ता का परिचायक अवश्य है। हम कहते हैं–हमने यह **संकल्प** कर लिया है कि यह काम पूरा करके ही दम लेंगे। अब इसका प्रयोग वैयक्तिक क्षेत्र से आगे बढ़कर सामूहिक क्षेत्र में भी होने लगा है, जैसे- उस देश के निवासियों ने **संकल्प** कर लिया है कि वे स्वतंत्रता प्राप्त करके ही दम लेंगे।

'निश्चय' *पु०* (सं०) का मूल अर्थ है–दृढ़तापूर्वक स्थिर किया हुआ मत या

विचार । इस दृष्टि से यह भी है तो एक प्रकार का **संकल्प** ही, पर इसमें कुछ और विवक्षाएं भी लगी हुई हैं । यह विशुद्ध लौकिक या सामाजिक क्षेत्र का शब्द है । **निश्चय** प्रायः सभी बातों का आगा-पीछा देखकर, तर्क-वितर्क करके और अधिक सोच-समझकर किया जाता है । इसके मूल में क्रियात्मक भावना, बौद्धिक तत्त्व और विचार-शीलता की प्रधानता होती है । हम अपने किसी भावी कार्य के सम्बन्ध में तो **निश्चय** करते ही हैं; सार्वजनिक सभाओं, समितियों आदि में भी प्रायः इस प्रकार से अनेक **निश्चय** होते रहते हैं । इसमें भावी कार्यों के रूप और विधियों आदि का भी अन्तर्भाव होता है । प्रशासन और शासन के क्षेत्रों में भी होनेवाले ऐसे निश्चयों में कुछ परिवर्तन, संशोधन आदि होते ही रहते हैं ।

'प्रतिज्ञा' *स्त्री०* (सं०) का मूल अर्थ है–किसी की कोई बात मान लेना; या यह कहना कि हमने यह बात सुन या समझ ली है । परन्तु आगे चलकर इसमें एक नई विवक्षा लगी है, जिससे यह शब्द **निश्चय** और **संकल्प** के वर्ग में मिलकर अपेक्षया और भी अधिक दृढ़ता का सूचक हो गया है । साधारणतः हम अपना **निश्चय** या **संकल्प** तो कुछ अवस्थाओं में बदल भी सकते हैं; परन्तु जिस बात की **प्रतिज्ञा** करते हैं उससे हम अपने आपको मानो पूरी तरह से और सदा के लिए बांध लेते हैं । हम उससे कभी मुड़ या हट नहीं सकते । **प्रतिज्ञा** साधारणतः अपने भावी आचरण, व्यवहार आदि के सम्बन्ध में होती है । हम **प्रतिज्ञा** करते हैं कि हम भविष्य में कभी किसी से धोखेबाज़ी या बेइमानी नहीं करेंगे; अथवा सारा जीवन देश और समाज की सेवा में बिता देंगे । कुछ अवसरों पर हम अपने किसी अभिन्न या सगे-सम्बन्धी से **प्रतिज्ञा** करते हैं कि हम अमुक कार्य में सदा तुम्हारी सहायता करते रहेंगे । आशय यही होता है कि हम कभी या किसी दशा में अपने इस **निश्चय** या वचन के विपरीत कार्य नहीं करेंगे ।

'प्रण' *पु०* (सं०) की व्युत्पत्ति अनिश्चित भी है और संदिग्ध भी । यह शब्द सं० का नहीं है; और इसका रूप सं० पण से बहुत-कुछ मिलता-जुलता है । परन्तु पण के जो अर्थ हैं, उनमें से किसी का इसके अर्थ से कोई मेल नहीं है; फिर भी न जाने कैसे हिन्दी में यह **प्रतिज्ञा** के पर्याय के रूप में चल पड़ा है । इसी दृष्टि से हमारी समझ में इसका प्रचलन नहीं होना चाहिए ।

'शपथ' *स्त्री०* (सं०) निश्चय की दृढ़ता सूचित करनेवाला इस वर्ग का सबसे उत्कट शब्द है । इसके मूल अर्थों में अभिशाप, घुड़की, झिड़की, दुर्वचन आदि हैं । इसका एक और अर्थ 'दिव्य' भी है जिसका विवेचन नीचे किया गया है । परन्तु अपने परम प्रचलित और प्रसिद्ध अर्थ में इसका प्रयोग ऐसे प्रसंगों में होता है जब कोई अपने कथन, वचन आदि की सत्यता ईश्वर, धर्म-ग्रन्थ या देवी-देवता को साक्षी रखकर प्रदर्शित करना चाहता है । आशय यह होता है कि जो कुछ मैं कह रहा हूं , वह यदि कहीं या किसी रूप में असत्य निकले तो मैं उस ईश्वर, धर्म-ग्रन्थ, या देवी-देवता के अभिशाप का साक्षी हूं जैसे- गंगाजी की **शपथ** । कभी-कभी कुछ परम-प्रिय व्यक्तियों की भी **शपथ** ली जाती है; जैसे- तुम्हारी **शपथ**, पुत्र की **शपथ** आदि । इसके स्थान पर हिं० में 'सौगन्ध' का भी प्रयोग होता है, जिसे'हिन्दी शब्दसागर'में सं० सौगन्ध से व्युत्पन्न माना है जो ठीक नहीं

है । मेरी समझ में यह सं० **शपथ** (पुरानी हिन्दी 'सोहे' का आधुनिक परिष्कृत रूप) से व्युत्पन्न है । इसके सिवा इसके स्थान पर 'कसम' (स्त्री० अ०) का भी प्रयोग होता है ।* पर अब इसका प्रयोग दो नए प्रसंगों में भी होने लगा है । आज-कल बड़े-बड़े न्यायाधीशों, राज्यपालों, विधायिका के सदस्यों आदि को अपना पद ग्रहण करने से पहले यह दृढ़ प्रतिज्ञा करनी पड़ती है कि हम अपने कर्तव्यों का पालन परम निष्ठापूर्वक करेंगे, भेद या रहस्य की बातें किसी पर न प्रकट होने देंगे आदि । इसे पद-ग्रहण की **शपथ** कहते हैं । इसके सिवा जब लोगों को किसी वरिष्ठ अधिकारी या न्यायालय के सामने कोई परिज्ञापन उपस्थित करना पड़ता है, तब मौखिक या लिखित रूप में शपथपूर्वक यह बतलाना पड़ता है कि जहां तक मैं जानता हूं, मेरा सारा कथन अक्षरशः सत्य है । इन दोनों प्रकार की शपथों के स्थान पर 'हलफ' (पुं० अ०) का भी प्रयोग होता है ।

233. संक्रामक छुतहा, संसर्गज संसर्गशील

Infectious Contagious Communicable

इस वर्ग के विशेषण ऐसे रोगों के सूचक हैं जो एक ही समय में दूर-दूर तक फैलते और बहुत से लोगों को प्रायः एक साथ ही पीड़ित करते हैं ।

'संक्रामक' *वि०* (सं०) का मूल अर्थ है क्रम-क्रम से आगे बढ़नेवाला । चिकित्सा शास्त्र के अनुसार **संक्रामक** ऐसे रोगों को कहते हैं जो किसी शरीर में विषाक्त कीटाणुओं के पहुंचने और बहुत जल्दी-जल्दी बढ़ते रहने से उत्पन्न होते रहते हैं । ऐसे रोगों के कीटाणु किसी रोगी प्राणी के शरीर से निकलकर भी दूर-दूर तक फैलते हैं; जैसे- चूहों के शरीर से निकलनेवाले कीटाणुओं से प्लेग फैलता है और मच्छरों के शरीर से निकलनेवाले कीटाणुओं के द्वारा शीतज्वर (मलेरिया) फैलता है । इसके सिवा रोगी के शरीर से निकलनेवाले कफ़, मल और मूत्र में भी ऐसे कीटाणु रहते हैं जो पानी और हवा में मिलकर दूर-दूर तक फैलते और बढ़ते रहते हैं । चेचक, हैजा आदि इसी प्रकार के रोग हैं ।

'संसर्गज' *वि०* (सं०) का अर्थ है—संसर्ग के कारण उत्पन्न होनेवाला । यह भी है तो **संक्रामक** रोगों का एक प्रकार ही; परन्तु इसकी एक विशेषता यह है कि जो लोग रोगी के

---

* साधारणतः जनता में अधिक और प्रायः कसमें खानेवाले लोग झूठे समझे जाते हैं । फ़ारसी की एक कहावत भी है–

यक बारः गुफ्ती, बावर कर्दम
दोबारः गुफ्ती, शक बरातुर्दम
कसम खुर्दी, दरोग दानिस्तम

अर्थात् तुमने एक बार जो बात कही उस पर मैंने विश्वास कर लिया, पर जब तुमने वही बात दोहराई तब मुझे उसकी सत्यता में सन्देह हुआ और जब तुमने उसी बात पर कसम खाई, तब मैंने समझ लिया कि यह बिल्कुल झूठ है ।

सम्पर्क में आते अर्थात् उसके पास उठते-बैठते या उनकी सुश्रूषा करते हैं, उन्हें भी रोगी के संसर्ग मात्र से ऐसे रोग हो जाते हैं। स्थानीय रूप से इसके लिए **'छुतहा'** का भी प्रयोग होता है। **'छुतहा'** का शब्दार्थ ही है—छूत से होने या फैलनेवाला।

'संसर्गशील' वि० (सं०) ऐसे **संक्रामक** और **संसर्गज** रोगों को कहते हैं जो निश्चित रूप से उक्त दोनों प्रकारों से फैलते या बढ़ते तो नहीं हैं, फिर भी जिनमें फैलने या बढ़ने की कुछ प्रवृत्ति या संभावना होती है। यह रोगों के फैलने का कोई प्रकार नहीं है; पर रोगों के फैलने की संभावना का सूचक मात्र है। लाघव और सुगमता की दृष्टि से हम इसे सर्गशील भी कह सकते हैं। ××

संख्यांकन- *पु०* (सं०) दे० 'गणन, अनुगणन, अभिकलन, आकलन, परिकलन, परिगणन और संख्यापन'।

संख्या- *स्त्री०* (सं०) दे० 'अंक, आंकड़े और संख्या'।

संख्यापन- *पु०* (सं०) दे० 'गणन, अनुगणन, अभिकलन, आकलन, परिकलन, परिगणन और संख्यापन'।

संगणक- *पु०* (सं०) दे० 'गणन, अनुगणन, अभिकलन, आकलन, परिकलन, परिगणन और संख्यापन'।

संगणन- *पु०* (सं०) = अभिकलन; दे० 'गणन, अनुगणन, अभिकलन, आकलन, परिकलन, परिगणन और संख्यापन'।

संगोष्ठी- *स्त्री०* (सं०) = विचार-गोष्ठी; दे० 'परिचर्या, परिसंवाद और विचार-गोष्ठी'।

234. संघ — परिसंघ, राष्ट्रकुल — राष्ट्रमंडल
Federation — Confederation — Commonwealth

इस वर्ग के शब्द मनुष्यों के ऐसे बहुत बड़े संघटित समुदायों के वाचक हैं जो किसी विशिष्ट उद्देश्य की सिद्धि के लिए मिलकर अपनी नीति निर्धारित करते और उसके अनुसार कार्य तथा प्रयत्न करते हैं।

'संघ' *पु०* (सं०) हमारे यहां का बहुत पुराना और प्रसिद्ध शब्द है; और यह औद्योगिक, धार्मिक, राजनीतिक, व्यावसायिक आदि क्षेत्रों में कुछ विशिष्ट प्रकार के संगठनों का वाचक था। इसका पहला अर्थ है—बहुत से लोगों का संघटित समुदाय या समूह। प्राचीन भारत में अनेक प्रकार के व्यवसायी और श्रमिक अपनी जो बहुत बड़ी संस्था बनाते थे उसी को **संघ** कहते थे। उसी के अनुकरण पर आज-कल भी कारीगरों, पेशेवरों, मज़दूरों आदि के **संघ** बनते हैं। प्राचीन भारत में एक प्रकार का लोकतांत्रिक राज्य या शासन भी **संघ** कहलाता था। आगे चलकर जब महात्मा गौतम बुद्ध ने अपने धर्म का प्रचार आरंभ किया, तब उनके समस्त अनुयायियों और विशेषतः संसार-त्यागी

भिक्षुओं का सारा समुदाय **संघ** कहलाने लगा। इस **संघ** का महत्व इतना अधिक बढ़ा कि इसकी गिनती त्रिरत्नों में होने लगी। इनमें पहले रत्न का स्थान स्वयं गौतम बुद्ध को, दूसरे का स्थान उनके चलाए हुए धर्म को और तीसरा उनके अनुयायियों के इस **संघ** को प्राप्त हुआ।

परन्तु आज-कल **संघ** मुख्यतः प्रशासनिक और राजनीतिक क्षेत्रों का शब्द बन गया है। जब एक ही प्रकार की अनेक बड़ी-बड़ी संस्थाएं आपस में मिलकर कुछ निश्चित नियमों और सिद्धांतों के आधार पर अपना कोई बड़ा संघटन बनाती हैं, तब उसे **संघ** कहते हैं, जैसे- खान में काम करनेवाले मज़दूरों का **संघ**, रेल-कर्मचारियों का **संघ** आदि। **संघ** बनानेवाली छोटी-छोटी संस्थाएं अपने क्षेत्र में काम करने के लिए तो बहुत-कुछ स्वतंत्र होती हैं; परन्तु सबके आधार-भूत नियम और सिद्धांत उनका **संघ** ही बनाता है। राजनीतिक क्षेत्र में बहुत से छोटे-मोटे राज्य आपस में मिलकर उक्त प्रकार का अपना **संघ** बना लेते हैं. जैसे- अरब राज्यों का **संघ**, एशिया के दक्षिण-पूर्वी राज्यों का **संघ** आदि। ऐसे संघों में सारे संसार के प्रायः सभी स्वतंत्र राज्यों का बनाया हुआ राष्ट्रसंघ सबसे बड़ा और बहुत प्रसिद्ध है। उत्तरी अमेरिका और भारत सरकार का स्वरूप भी मूलतः इसी **संघ** की कोटि का है।

'परिसंघ' *पु०* (सं०) उक्त **संघ** में 'परि' उपसर्ग लगाकर बनाया हुआ इधर का शब्द है। जब कई प्रभुसत्तात्मक राज्य या संघ आपस में मिलकर उक्त प्रकार का अपना कोई बड़ा **संघ** बनाते हैं, तब उसे **परिसंघ** कहते हैं। **संघ** की विशेषता तो यह है कि उसकी कार्य-प्रणालियां, नियम, विधान आदि पहले से ही किसी सार्विक सम्मेलन में स्थिर कर लिये जाते हैं। परन्तु **परिसंघ** बनाने के समय उसके सदस्य राज्य अथवा **संघ** अपने कुछ विशिष्ट अधिकार अपने नये **परिसंघ** को हस्तांतरित कर देते हैं। हस्तांतरित किये जानेवाले ऐसे अधिकारों में प्रायः तट-कर पर राष्ट्रनीति, बाहरी आक्रमण से सुरक्षा अथवा ऐसे ही कुछ और विषय होते हैं।

'राष्ट्रमंडल' *पु०* (सं०) भी उक्त प्रकार का इधर हाल का बना हुआ शब्द है। इसका शब्दार्थ है।-अनेक राष्ट्रों का संघटित समुदाय। यह भी है तो उक्त प्रकार का एक **संघ** ही; परन्तु अधिकार, कार्य-प्रणाली, नीति-निर्धारण आदि के सम्बन्ध में इसका प्रकार या स्वरूप बहुत-कुछ भिन्न है। ऐसे मंडल के सदस्य सभी राष्ट्र अपने-अपने कामों और व्यवहारों में बिल्कुल स्वतंत्र होते हैं; फिर भी इनके प्रतिनिधि समय-समय पर आपस में मिलते रहते हैं और पारस्परिक हितों के सम्बन्ध में अपने सिद्धांत बनाते रहते हैं। इस बात का विशेष ध्यान रखा जाता है कि सदस्य राष्ट्र यथासाध्य मिलकर रहें, एक-दूसरे का विरोध न करें अथवा उन्हें हानि न पहुंचाएँ। उस क्षेत्र में आज-कल ब्रिटिश राष्ट्रमंडल विशेष प्रसिद्ध है। इधर जब से ब्रिटिश साम्राज्य भंग और विच्छिन्न होने लगा है, तब से उसके पुराने अधीनस्थ देश स्वतंत्र हो जाने पर ब्रिटिश **राष्ट्रमंडल** के सदस्य बन जाते हैं। अब तक इस मंडल में 120 से अधिक सदस्य राष्ट्र सम्मिलित हो चुके हैं।

××

संघटक- *पु०* (सं०) दे० 'घटक, परिघटक और संघटक'।
संचार- *पु०* (सं०) दे० 'परिवहन, यातायात, संचार, दूर-संचार और भू-संचार'।
संहार- *स्त्री०* (सं०) दे० 'नाम, उपनाम, पदनाम, संज्ञा और सुनाम'।
संताप- *पु०* (सं०) दे० 'ताप, परिताप, पश्चात्ताप, मनस्ताप और संताप'।

235. संतुलन Balancing — समन्वय Co-ordination — सामंजस्य Adjustment

इस वर्ग के शब्द ऐसी क्रियाओं के वाचक हैं जो भिन्न-भिन्न अंगों, दलों, पक्षों, स्थितियों आदि को मिल-जुलकर और समान रूप से काम करने के लिए एक समान धरातल पर लाने के उद्देश्य से की जाती हैं।

'संतुलन' *पु०* (सं०) का मूल अर्थ है, अच्छी तरह, ठीक पूरा तोलना। इसका परवर्ती अर्थ होता है, तोलने के समय तराजू के दोनों पलड़ों को बराबर या समान रखना; परन्तु लाक्षणिक रूप में यह ऐसी स्थिति का वाचक है जिसमें दो या अधिक अंग अथवा पक्ष आपेक्षिक दृष्टि से अपने उचित रूप में और नियत स्थान पर इस प्रकार बने या स्थिर रहें कि कोई एक अंग या पक्ष इतना अधिक बलशाली या भारी न होने पाए कि दूसरे अंगों या पक्षों को दबाकर उनपर अपना प्रभुत्व स्थापित कर सके अथवा उनसे किसी प्रकार स्वार्थ सिद्ध कर सके। इसका मुख्य उद्देश्य होता है कोई विकृत परिस्थिति या संकेत को आने से रोकना; जैसे-रूस यह चाहता है कि दक्षिण-पूर्वी एशिया के राष्ट्रों में **संतुलन** बना रहे; अर्थात् एक राष्ट्र दूसरे को दबा या हड़प न सके। इसके सिवा इसका प्रयोग मन या उसमें उत्पन्न होनवाले विचारों के सम्बन्ध में भी होता है। जब हम कहते हैं, 'हमें अपना **संतुलन** खोना नहीं चाहिए' तो आशय यही होता है कि हमें अपने मन या विचारों को ऐसी सम-स्थिति में रखना चाहिए कि न तो हमारा ही कोई अनिष्ट हो न औरों का।*

'समन्वय' *पु०* (सं०) का प्राथमिक अर्थ है–कइयों या बहुतों का इस प्रकार आपस में मिलना कि उनकी एक इकाई बन जाय; अर्थात् वे पारस्परिक भेद-भाव या विरोध भूलकर एक हो जाएं और मिलकर कोई काम करने लगें। इसका उद्देश्य होता है सबको साथ मिला या रखकर ठीक से काम चलाना। जैसे हमारे राज्य में इस समय आठ-दस राजनीतिक दल मिलकर शासन चला रहे हैं; और उन सबको एक साथ मिलाए रखने के लिए सभी दलों के प्रतिनिधियों की एक **समन्वय** समिति है। इसके सिवा यह ऐसी स्थिति का भी वाचक है जिसमें कथनों, विचारों आदि का पारस्परिक अन्तर या भेद दूर करके

---

* इसी आधार पर अंग्रेज़ी के (Counter-balance) प्रति-संतुलन का प्रचलन हुआ है। यदि कोई पक्ष या पलड़ा किसी कारण से भारी या हल्का पड़ गया हो तो उसके साथ समानता स्थापित करने के लिए दूसरे पक्ष या पलड़े को हल्का या भारी करने के लिए जो क्रिया की जाती है, उसी को प्रति-संतुलन कहते हैं।

ऐसी एक-रूपता लाई जाती है कि किसी को कोई आपत्ति करने का अवसर न मिले।

'सामंजस्य' *पु०* (सं०) समंजन का भाववाचक या स्थितिसूचक रूप है। 'समंजन' का अर्थ है, भिन्न-भिन्न अंगों या वस्तुओं को इस प्रकार ठीक तरह से और यथास्थान बैठाना कि सब मिलकर अपना-अपना काम ठीक तरह से कर सकें। इसके सिवाय समंजन के कुछ अर्थ भी हैं, जैसे- (क) किसी बड़े यन्त्र के कल-पुर्जे यथास्थान बैठाना; (ख) बही-खाते में आय-व्यय, लेन-देन आदि का हिसाब इस प्रकार ठीक तरह से रखना या लिखना कि कहीं कोई त्रुटि या भूल न होने पाए, आदि। **सामंजस्य** इन सबके भावों का सूचक तो है ही, पर मुख्य रूप से यह ऐसी स्थिति का वाचक है जिसमें किसी प्रकार की विपरीतता या विषमता न रह जाय अर्थात् अनौचित्य, खटक, दोष आदि दूर करके ठीक तरह से काम करने की स्थिति में लाना ही **सामंजस्य** है। दोनों के लिए कुछ अवस्थआओं में 'ताल-मेल' शब्द का भी प्रयोग होता है। ××

संदर्भ- *पु०* (सं०) दे० 'विषय, प्रकरण, प्रंसग और संदर्भ'।

संदर्भिका- *स्त्री०* (सं० सदर्भ से) दे० 'विषय, प्रकरण, प्रसंग और संदर्भ'।

236. संदेश — संवाद — समाचार

Message	Information Dialogue	News

इस वर्ग के शब्द ऐसी बातों के वाचक हैं जो दूसरों के साथ सम्पर्क स्थापित करके उन्हें कोई मत, विचार, विवरण, स्थिति आदि सूचित करने के लिए कही या बतलाई जाती हैं।

'संदेश' *पु०* (सं०) का मूल अर्थ है—किसी को कोई बात बतलाना, समझाना या सुनाना। परन्तु आगे चलकर यह ऐसी बातों का वाचक हो गया, जिनमें मुख्य रूप से यह कहा या बतलाया जाता है कि अमुक काम इस प्रकार करना चाहिए या किया करो। इस प्रकार इसमें आज्ञा, आदेश, निदेश आदि के तत्त्व भी सम्मिलित हो गए। मध्य युग में ऐसा **संदेश** प्रायः किसी आपसी आदमी, पत्रवाहक या हरकारे के द्वारा पहुंचाया या भेजा जाता था।* कुछ अवस्थाओं में जन-समाज के सामने भी इस प्रकार की बातें इस उद्देश्य से कही जाती थीं कि वे इनके अनुसार स्वयं ही आचरण और व्यवहार करें, तथा दूसरे लोगों तक ये बातें पहुंचाकर उन्हें भी इनका पालन करने के लिए प्रेरित करें, जैसे- गौतम बुद्ध, महावीर स्वामी, शंकराचार्य अथवा स्वामी दयानन्द और परमहंस रामकृष्ण के **संदेश**। आज-कल डाक-तार आदि का सुभीता हो जाने के कारण उनके द्वारा किसी

---

* बंगाल में ऐसे संदेश के साथ अपने मित्रों, सगे, सम्बन्धियों को छेने की एक प्रकार की मिठाई भी भेजी जाती थी। ऐसी मिठाई को भी संदेश कहने लगे। अब भी यह मिठाई इसी नाम से और बहुत-कुछ इसी रूप में प्रचलित तथा प्रसिद्ध है।

जाति, देश अथवा सारे संसार के लोगों के पास ऐसे **संदेश** भेजे जाते हैं। हिन्दी में यह शब्द 'संदेशा' रूप में भी प्रचलित है।

'संवाद' *पु०* (सं०) का मूल अर्थ है–किसी से कुछ कहना, बात-चीत या वार्तालाप करना। इसमें मुख्यतः या तो अपना मत या विचार प्रकट किया जाता है; या किसी घटना, स्थिति आदि का विवरण या वृत्तान्त होता है। परन्तु आगे चलकर यह शब्द किसी ऐसी गम्भीर और महत्वपूर्ण चर्चा का वाचक हो गया जो पहले किसी विशिष्ट अवस्था में हुई हो अथवा होती हो। यह भी आपस में होनेवाली बात-चीत या वार्तालाप का विशिष्ट रूप ही है। आज-कल यह शब्द उक्त प्रकार की बातों का सारांश या स्वरुप बतलाने की ऐसी पुनरावृत्ति का भी वाचक हो गया है जो प्रायः अभिनयों, नाटकों, लीलाओं आदि में होती हैं; जैसे-कृष्ण और दुर्योधन का, लक्ष्मण और परशुराम का अथवा मंदोदरी और रावण का **संवाद**।

'समाचार' पुं० (सं० सम+आचार) के योग से बना हुआ यौगिक शब्द है, जिसका अभिधार्थ है–ऐसा आचरण या व्यवहार जो सम हो; अर्थात् जिसमें कोई असाधारण नई या परम्परा विरुद्ध बात न हो। प्राचीन काल में प्रायः अपने सम्बन्धियों आदि के यहां जो **समाचार** भेजे जाते थे, उनमें मुख्य उद्देश्य और तत्त्व यही होता था कि यहां सब काम और सब बातें ठीक तरह से चल रही हैं और कोई ऐसी नई या विशेष बात नहीं है जो हमारे लिए कष्टकर अथवा आपके लिए चिन्ताजनक हो। आगे चलकर यह शब्द किसी विशिष्ट कार्य या व्यापार की भेजी जानेवाली सूचना का भी वाचक हो गया था, यथा **समाचार** मिथिलापति पाए। –तुलसी। परन्तु अब इसका प्रयोग बहुत अधिक विस्तृत तथा व्यापक अर्थ में किसी असम या विषम कार्य, घटना, व्यापार, स्थिति आदि के भेजे जानेवाले विवरण या सूचना को भी **'समाचार'** कहने लगे हैं, जैसे-ज्वालामुखी के विस्फोट, बाढ़, भूकम्प या युद्ध **समाचार**। ऐसे **समाचार** डाक-तार आदि के द्वारा भी दूर-दूर के लोगों तक पहुंचाए जाते हैं और मौखिक रूप से भी आपस में एक-दूसरे को बतलाये-सुनाए जाते हैं। **समाचार** मुख्यतः ऐसी घटनाओं, स्थितियों आदि के विवरण का वाचक हो गया है जिनमें कोई असाधारणता, नवीनता, विलक्षणता या विशिष्टता होती है और जिसे जानने के लिए अपने कुतूहल या रुचि के कारण लोग प्रायः उत्सुक रहते हों। आज-कल रेडियो, समाचार-पत्रों आदि के द्वारा इसी प्रकार के **समाचार** जन-साधारण और दूर-दूर तक पहुंचाए जाते हैं। इसके स्थान पर अ० ख़बर का भी हिन्दी में बहुत दिनों से प्रयोग होता आ रहा है।

××

संदेशा- *पु०* दे० 'संदेश, संवाद और समाचार'।

संदेह- *पु०* (सं०) दे० 'शंका, आशंका, संदेह और संशय'।

237. संधि | **संविदा** | **समझौता**

संधि	संविदा	समझौता
Joint	Agreement	Understanding
Treaty	Contract	Compromise
Pact		

इस माला के सभी शब्द ऐसे पारस्परिक निश्चयों के वाचक हैं जो दो या अधिक दलों, वर्गों, व्यक्तियों आदि में (क) आपसी झगड़े या मतभेद दूर करने, अथवा (ख) भावी कार्यों, व्यापारों आदि के संचालन का स्वरूप स्थिर करने के लिए होते हैं।

'संधि' *स्त्री०* (सं०) के दो मुख्य अर्थ हैं–(क) दो या अधिक चीज़ों का एक में मिलना या जुड़ना; और (ख) वह बिन्दु, रेखा या स्थान जहां दो या अधिक चीज़ें आकर मिलती या साथ होती हैं। शरीर में जहां दो या अधिक हड्डियां कई ओर से आकर मिलती हैं उसे **संधि** कहते हैं; जैसे- कोहनी या घुटने की **संधि**। भाषा में जब दो शब्द कुछ विशिष्ट नियमों के अनुसार आपस में मिलकर एक होते हैं, तो उसे व्याकरण में शब्दों की संधि कहते हैं। एक अवस्था या समय का आरम्भ भी **संधि** ही है; जैसे- युग **संधि**, वय **संधि**। परन्तु प्रस्तुत प्रसंग में **संधि** वह है जो दो या अधिक राज्यों अथवा राष्ट्रों में विचार-विमर्श के उपरांत पारस्परिक हित की दृष्टि से भावी आचरण से संबद्ध, स्पष्ट निश्चयों के रूप में हो। यों तो **संधि** मुख्यतः युद्ध की समाप्ति पर होती है, पर शांतिकाल में भी संधियां होती ही हैं। पहले इसकी शर्तें राज्यों या राष्ट्रों के प्रतिनिधि मिलकर स्थिर करते हैं और तब स्वयं राज्य या राष्ट्र इसकी अभिपुष्टि (अं० 'रैटिफिकेशन') करके इसे व्यावहारिक रूप में प्रचलित करते हैं। राष्ट्रों में पहले जो समझौते होते हैं, वे भी आगे चलकर औपचारिक और लिखित संधि का रूप धारण करके विधिक या वैधानिक मान्यता प्राप्त कर सकते हैं।

'संविदा' *स्त्री०* (सं०) का मूल अर्थ है–चेतना से युक्त या चैतन्य। परन्तु प्रस्तुत प्रसंग में यह कुछ दलों, पक्षों, व्यक्तियों, संस्थाओं आदि में होनेवाले कुछ विशिष्ट प्रकार के ठहराव या निश्चय का वाचक शब्द है। ब्यौरे की सब बातों से युक्त और लक्ष्य के रूप में लिखित 'निश्चय' ही विधिक क्षेत्र में **'संविदा'** कहलाता है। व्यापारिक और व्यावहारिक क्षेत्रों में इसका विशेष प्रचलन है। इसमें आपसी झगड़े निपटाने के लिए और किसी कार्य के सम्बन्ध में भावी कार्य-प्रणाली, नियम आदि स्थिर करने के लिए भी प्रायः सभी प्रकार की सम्भावनाओं का ध्यान रखते हुए जो शर्तें पक्की की जाती हैं उन सबका पूरा और ब्यौरेवार उल्लेख होता है।

'समझौता' *पु०* (हिं०) समझना का भाववाचक रूप है। अपने प्राथमिक अर्थ में, आपस में समझ-बूझकर जो बात स्थिर कर ली जाए, वही **समझौता** है; जैसे- हम और आप मिलकर यह **समझौता** कर सकते हैं कि हम लोग अमुक व्यक्ति की किस प्रकार सहायता करेंगे अथवा उसे किस प्रकार हानि पहुंचाएँगे। यह तो हुआ निजी **समझौता**। परन्तु विधिक दृष्टि से इसके लिए दो बातें आवश्यक हैं; एक पक्ष से कोई प्रस्ताव हो

(कोई बात किसी के ग्रहण करने के लिए उसके सामने रखी जाए) और दूसरा पक्ष उसे मान ले । इसमें सम्बद्ध पक्षों की आपसी सहमति का भाव मुख्य है । परवर्ती अर्थ में लोग यह भी **समझौता** कर सकते हैं कि हम आपस के पुराने लड़ाई-झगड़े भूल जाएंगे और मिलकर शांतिपूर्वक रहेंगे । ऐसा **समझौता** किसी विवाद का अन्त करने के लिए होता है और इसमें दोनों पक्षों को कुछ दबकर या अपनी मांगें घटाकर एक-दूसरे के साथ रियायत भी करनी पड़ती है । **समझौता** अलिखित या मौखिक भी हो सकता है और लिखित भी । लिखित समझौते को **इकरारनामा** या **करारनामा** (फ़ा०) भी कहते हैं ।

इससे और आगे बढ़ने पर आज-कल इसमें एक नई विवक्षा भी सम्मिलित हो गई है । एक ओर तो कई दलों या पक्षों में होनेवाला ठहराव या निश्चय भी **समझौता** कहलाता है; जैसे-'कांग्रेस, जनसंघ और स्वतंत्र दल ने मिलकर यह **समझौता** कर लिया है कि हम सब मिलकर चुनाव लड़ेंगे; अथवा, जहां हम में से किसी एक दल का उम्मीदवार खड़ा होगा, वहां बाकी दोनों दल अपना उम्मीदवार नहीं खड़ा करेंगे' । दूसरी ओर राजनीतिक क्षेत्र में कुछ विशिष्ट राज्य या राष्ट्र आपस में मिलकर परिवहन, यातायात, व्यापार आदि के सम्बन्ध में इस प्रकार का **समझौता** करते हैं । ऐसी अवस्था में हम इसे राजनीतिक सन्धि का एक गौण प्रकार या रूप ही कह सकते हैं; जैसे- ताशकन्द में भारत और पाकिस्तान के बीच यह **समझौता** हो चुका है कि दोनों पक्ष सब प्रकार के आपसी झगड़ों का शान्तिपूर्ण उपायों से ही निपटारा करेंगे, बल प्रयोग द्वारा नहीं । ××

संपत्ति- *स्त्री०* (सं०) दे० 'धन, वित्त, वैभव, संपत्ति और परिसंपत्ति' ।

238. संपर्क संबंध

Contact Connection, Relation

इस वर्ग के शब्द ऐसी स्थितियों के वाचक हैं जिनमें दो अलग-अलग वस्तुओं, व्यक्तियों आदि में एक-दूसरे को किसी रूप में जोड़ने या मिलानेवाला कोई साधन या सूत्र उत्पन्न या स्थापित होता है ।

'संपर्क' का पहला अर्थ है-आपस में जोड़ना या मिलाना । इसी आधार पर इसका दूसरा और प्रचलित अर्थ होता है-लगाव या संबंध । परन्तु आज-कल इसका प्रयोग अंग्रेज़ी के कन्टैक्ट (Contact) का भाव सूचित करने के लिए होने लगा है, और इसीलिए इसमें साधारण लगाव या **संबंध** से कुछ भिन्न तथा विशेष प्रकार का भाव सम्मिलित हो गया है । लगाव या **संबंध** में दृढ़ता, पुष्टता, स्थायित्व आदि के जो भाव हैं वे **संपर्क** में प्रायः नहीं के समान हैं । यह मुख्यतः ऐसे लगाव या सम्बन्ध का सूचक है जो किसी विशेष अवस्था में, आवश्यकतावश और थोड़े समय के लिए अर्थात् कोई काम चलाने या निकालने के लिए स्थापित किया जाता है; जैसे- भारत सरकार इस विषय पर विचार-विमर्श करने के लिए अन्यान्य राष्ट्रों से **संपर्क** स्थापित कर रही है । आशय यही होता है कि इस सम्बन्ध में बातचीत या व्यवहार आरम्भ हुआ है ।

'संबंध' अपेक्षया अधिक व्यापक अर्थोंवाला शब्द है। इसका पहला और व्युत्पत्तिक अर्थ है–आपस में अच्छी तरह जुड़ा या बंधा हुआ होना। यह मुख्यतः ऐसी स्थिति का वाचक है जिसमें दो या अधिक चीज़ें, व्यक्ति आदि आपस में इस प्रकार जुड़े या लगे हुए होते हैं कि सहसा और साधारणतः अलग नहीं होते या नहीं हो सकते। इसमें एक-दूसरे पर आश्रित रहने, एक-दूसरे के साथ गुथे हुए होने अथवा आवश्यक और स्थायी अंग के रूप में बने रहने या वर्तमान होने का भाव प्रधान है, जैसे, (क) शब्द और अर्थ का सम्बन्ध, (ख) मित्रता का सम्बन्ध, (ग) कर्त्ता का कार्य के साथ होनेवाला सम्बन्ध, और (घ) जल-वायु का स्वास्थ्य के साथ होनेवाला सम्बन्ध, आदि-आदि। हिन्दी में यह अर्थ या आशय प्रायः 'लगाव' से भी सूचित होता है। (दे० 'लगाव और लगावट')।

सामाजिक क्षेत्र में यह शब्द कुछ और भी विस्तृत अर्थ में प्रयुक्त होता है: एक कुल या गोत्र में उत्पन्न होने के कारण, अथवा विवाह आदि के कारण व्यक्तियों में जो पारस्परिक स्थिति होती है, उसे सम्बन्ध कहते हैं; जैसे, (क) पिता और पुत्र का सम्बन्ध, (ख) पति और पत्नी का सम्बन्ध, और (ग) भाई-भतीजों, नाती-पोतों आदि में होनेवाला सम्बन्ध। इससे और आगे बढ़ने पर यह शब्द उस स्थिति का भी सूचक होता है जिसमें वर और कन्या के विवाह की बातचीत पक्की होती है; जैसे- आज-कल वे अपनी कन्या (या पुत्र) के सम्बन्ध की बात-चीत कई जगह चला रहे हैं। इस अर्थ में हिन्दी में उर्दू का रिश्ता (फ़ा० रिश्तः) भी प्रयुक्त होता है। 'सम्बन्ध' उक्त प्रकार के लगाव का तो सूचक है ही, उस लगाव से उत्पन्न होनेवाली स्थिति का भी सूचक है; जैसे- उनके साथ हमारे दोहरे सम्बन्ध हैं। इस स्थिति का सूचक 'रिश्तेदारी' शब्द भी हिन्दी में प्रचलित है।

जातियों, दलों, राष्ट्रों आदि में जो अनेक प्रकार के पारस्परिक लगाव होते हैं उन्हें भी 'सम्बन्ध' ही कहते हैं; जैसे, (क) मालिकों और मज़दूरों का सम्बन्ध; (ख) उत्पादकों और व्यापारियों का सम्बन्ध; और (ग) राष्ट्रों आदि में होनेवाला राजनयिक या राजनीतिक सम्बन्ध।

××

संप्रेक्षण- *पु०* (सं०) दे० 'निरीक्षण, अधीक्षण, पर्यवेक्षण, पुनरीक्षण, संप्रेक्षण और सर्वेक्षण'।

संबंध- *पु०* (सं०) दे० 'संपर्क और संबंध'।

संभरण- *पु०* (सं०) = आपूर्ति; दे० 'पूर्ति, अनुपूर्ति, आपूर्ति और प्रतिपूर्ति'।

239. संभावना — संभवता — संभाव्यता

संभावना	संभवता	संभाव्यता
Possibility	Possibility	Probability

इस वर्ग के शब्द ऐसी स्थितियों के सूचक हैं जिनमें घटनाओं के क्रम और परिस्थितियों के विचार से यह माना या समझा जाता है कि अमुक काम या बात हो तो सकती है, परन्तु यह निश्चय नहीं होता कि वह होगी भी या नहीं। इनमें से **'संभावना'** तो हिन्दी में बहुत दिनों से प्रचलित है; परन्तु कई कारणों से अधिकारी लोग उसे ठीक नहीं

समझते। पहली बात तो यह है कि संस्कृत में **'संभावना'** के जो अनेक अर्थ हैं* वे उस भाव के सूचक नहीं हैं जिसके लिए इसका प्रयोग होता है। दूसरी बात यह है कि अंग्रेज़ी में इस वर्ग के दो शब्द हैं–पॉसिबिलिटी (Possibility) और प्रॉबेबिलिटी (Probability)। हिन्दी में अब तक **संभावना** का प्रयोग प्रायः उक्त दोनों के भाव सूचित करने के लिए होता आया है। इसीलिए दोनों का पार्थक्य सूचित करने के उद्देश्य से अब पॉसिबिलिटी के स्थान पर **'संभवता'** और प्रॉबेबिलिटी के स्थान पर **'संभाव्यता'** रखना निश्चित हुआ है।

हिन्दी में 'संभव' का प्रयोग मुख्यतः 'हो सकना' के अर्थ में ही होता आया है। हम ऐसे काम या बात को 'संभव' कहते और समझते हैं जो हमसे अथवा और किसी के द्वारा या किसी प्रकार से पूरा या सिद्ध हो सकती हो। इसके विपरीत 'असंभव' उसे कहते हैं जो कभी किसी के द्वारा अथवा किसी प्रकार से हो ही न सकता हो; अर्थात् संभव तो साध्य है, और असंभव असाध्य है। इसी 'संभव' में संस्कृत का 'ता' प्रत्यय लगाकर **संभवता** शब्द बनाया जाता है। **'संभवता'** वह स्थिति है जो सूचित करती है कि कोई काम या बात साधारण परिस्थितियों में हो तो अवश्य सकती है, परन्तु यह निश्चय नहीं है कि वह कब होगी, अथवा होगी भी या नहीं। ऐसे काम या बातें नियम-विरुद्ध तो नहीं होतीं, परन्तु उनके घटित होने के लिए कुछ विशिष्ट और अनुकूल अवस्थाओं या परिस्थितियों की आवश्यकता होती है; जैसे, (क) आज वर्षा होने की बहुत-कुछ **संभवता** है, क्योंकि सवेरे से ही आकाश में बादल छाये हुए हैं; अथवा (ख) अब तो उनके जल्दी आने की **संभवता** है क्योंकि उनका वहां का काम पूरा हो चुका है। जिस काम या बात की **संभवता** होती है उसकी आशा भी की जा सकती है और प्रतीक्षा भी; परन्तु उसके संबंध में निश्चित रूप से कभी यह नहीं कहा जा सकता कि ऐसा होगा ही। इसमें आशा की मात्रा बहुत अल्प या नहीं के समान होती है।**

संभव से ही उसका एक विकारी रूप 'संभाव्य' में 'ता' प्रत्यय लगाकर **'संभाव्यता'** रूप बनाया गया है। 'संभवता' से सूचित होनेवाली स्थिति की तुलना में यह कुछ और आगे बढ़ी हुई उस स्थिति की सूचक है जिसमें परिस्थितियों को देखते हुए इस बात की कुछ विशेष आशा की जा सकती है कि अमुक घटना या बात कुछ विशिष्ट परिस्थितियों में हो भी सकती है। जहां तर्क या बुद्धि के आधार पर यह समझा जा सकता हो कि ऐसा हो सकना कोई विशेष आश्चर्य की या विलक्षण बात नहीं है, वहां **संभाव्यता** का प्रयोग होना चाहिए। ऐसा मान लेने के लिए कोई पुष्ट और युक्ति-संगत आधार अवश्य होना चाहिए, जैसे- उसके दोषी सिद्ध होने की बहुत-कुछ **संभाव्यता** है, क्योंकि वह पहले से इस प्रकार के अपराधों के लिए कई बार जेल हो आया है।

---

* संस्कृत में सम्भावना के अर्थ हैं : इकट्ठा करना, पास लाना, आदर, सम्मान, कल्पना, पूजन आदि।

** कुछ लोगों ने पॉसिबिलिटी के लिए 'संभवता' के सिवा 'शक्यता' का भी सुझाव दिया है, परन्तु हमारी समझ में 'शक्यता' तो प्रैक्टिबिलिटी (practibility) की ही समार्थक मानी जानी चाहिए।

इस सम्बन्ध में यह बात अवश्य विचारणीय है कि हिन्दी में 'सम्भावना' का जितना अधिक प्रचलन हो चुका है, उसे देखते हुए क्या 'सम्भवता' का उसके बदले प्रचलन किया जा सकता है ? प्रयोग की सूक्ष्मता के विचार से सम्भवता का प्रचलन आवश्यक तो है ही; हां, सम्भाव्यता का प्रचलन सहज में हो सकता है। जिस प्रकार 'सम्भावना' से सम्बद्ध क्रिया-विशेषण रूप 'सम्भवतः' बनता है, उसी प्रकार 'सम्भवता' से 'सम्भवतः बनेगा। हाँ, 'सम्भाव्यता' से सम्बद्ध क्रिया-विशेषण रूप 'सम्भाव्यतः' होगा। ××

संभवता–*स्त्री०* (सं०) दे० 'संभावना, संभवता और संभाव्यता'।

संभाव्यता–*स्त्री०* (सं०) दे० 'संभावना, संभवता और संभाव्यता'।

संयंत्र–*पु०* (सं०) दे० 'यंत्र, यंत्रावली, उपकरण, औज़ार और संयंत्र'।

संयम–*पु०* (सं०) दे० 'अंकुश, नियंत्रण, संयम और संवरण'।

संयोजना–*स्त्री०* (सं०) दे० 'योजना, परियोजना, प्रायोजना और संयोजना'।

संरक्षक–*पु०* (सं०) दे० 'रक्षा, आरक्षा, आरक्षण, परिरक्षा, प्रतिरक्षा, संरक्षा और सुरक्षा'।

संरक्षण–*पु०* (सं०) दे० 'रक्षा, आरक्षा, आरक्षण, परिरक्षा, प्रतिरक्षा, सरंक्षा और सुरक्षा'।

संरक्षा–*स्त्री०* (सं०) दे० 'रक्षा, आरक्षा, आरक्षण, परिरक्षा, प्रतिरक्षा, संरक्षा और सुरक्षा'।

संरचना–*स्त्री०* (सं०) दे० 'उत्पादन, निर्माण, रचना और संरचना'।

संराधन–*पु०* (सं०) दे० 'पंचायत, मध्यस्थता और संराधन'।

संवरण–*पु०* (सं०) दे० 'अंकुश, नियंत्रण, संयम और संवरण'।

संविदा–*स्त्री०* (सं०) दे० 'संधि, संविदा और समझौता'।

संविधान–*पु०* (सं०) दे० 'विद्या, विधान, विनियम, प्रविधान, संविधान और संहिता'।

संविधि–*स्त्री०* (सं०) दे० 'विधि और संविधि'।

240. संवेदना — सहानुभूति

Sympathy — Sympathy

इस वर्ग के शब्दों का प्रयोग ऐसे अवसरों पर होता है जब हम अपने किसी आत्मीय या परिचित को विशेष कष्ट या विपत्ति में पड़ा हुआ देखकर यह कहते हुए उसे धैर्य दिलाने या शान्त करने का प्रयत्न करते हैं कि तुम्हारे इस दुःख से हम भी बहुत दुखी हैं और यदि यह दुःख कम करने में हम कुछ सहायक हो सकते हैं तो उसके लिए प्रस्तुत हैं।

'संवेदना' का मुख्य अर्थ है–अनुभूत, ज्ञात या विदित होना अर्थात् शरीर में किसी प्रकार का वेदन होना। वस्तुतः गरमी-सरदी, दुःख-सुख आदि का अनुभव या ज्ञान होना ही संवेदन या **संवेदना** है। परन्तु हिन्दी में यह प्रायः **सहानुभूति** (सह + अनुभूति) के पर्याय के रूप में ही प्रचलित है। ऐसा जान पड़ता है कि मूलतः इसका शुद्ध रूप सम-वेदना रहा होगा, जो अब किसी कारणवश **'संवेदना'** बन गया है। मूलतः उक्त दोनों शब्दों का अर्थ है किसी के वेदन या दुःख को देखकर स्वयम् भी वैसा ही अनुभव करना। ऐसी अनुभूति दूसरों को दुःखी देखकर भी हो सकती है और सुखी देखकर भी। गुण, प्रवृत्ति, स्वभाव आदि की पारस्परिक समानता के अवसर पर सहृदय मनुष्य के मन में वैसा ही वेदन या अनुभूति होती है जैसा वेदन या अनुभूति अपने किसी आत्मीय अथवा समीपस्थ व्यक्ति को होती है। 'आपको उदास देखकर हम भी उदास हो जाते हैं; और आपकी प्रसन्नता में हमें भी प्रसन्नता होती है'। वस्तुतः यही **सहानुभूति** है। पर आज-कल प्रयोग के विचार से इसका मौलिक अर्थ कुछ संकुचित हो गया है; और इसका प्रचलन केवल कष्ट, विपत्ति, शोक आदि के प्रसंगों में रह गया है। कोई दुर्घटना (जैसेः मृत्यु) आदि हो जाने पर किसी के यहां पहुंचकर **संवेदना** या **सहानुभूति** प्रकट की जाती है; अथवा यदि वह कहीं दूर रहता हो तो पत्र आदि के द्वारा प्रकट की जाती है। आशय यही होता है कि आपके दुःख से हम भी दुःखी हैं। कुछ अवस्थाओं में **सहानुभूति** का प्रयोग और विस्तृत रूप में भी होने लगा है; जैसे- दूसरों के मतों और सम्मतियों पर हमें सहानुभूतिपूर्वक विचार करना चाहिए। ऐसे अवसरों पर आशय यह होता है कि हमें केवल विरोधी भाव से विचार नहीं करना चाहिए बल्कि उसी के समान अनुरक्ति प्राप्त करके उसका दृष्टिकोण समझने का भी प्रयत्न करना चाहिए। परन्तु **संवेदना** का प्रयोग उक्त विकसित अर्थ में नहीं होता बल्कि केवल दूसरों के कष्ट, दुःख आदि के प्रसंगों में ही होता है। हिन्दी में इसके स्थान पर फ़ारसी के 'हमदर्दी' शब्द का भी प्रयोग होता है। ××

संशय- *पु०* (सं०) दे० 'शंका, आशंका और संशय'।

श्लेषण- *पु०* (सं०) दे० 'विश्लेषण और संश्लेषण'।

संसद- *स्त्री०* (सं०) दे० 'विधायिका और सदन'।

संसर्गज- *वि०* (सं०) दे० 'संक्रामक, संसर्गज और संसर्गशील'।

संसर्गशील- *वि०* (सं०) दे० 'संक्रामक, संसर्गज और संसर्गशील'।

संस्कृति- *स्त्री०* (सं०) दे० 'सभ्यता और संस्कृति'।

संस्तुति- *पु०* (सं०) दे० 'आशंका, अनुशंसा, अभिशंसा और प्रशंसा'।

241. संस्था | **निगम** | **प्रतिष्ठान** | **संस्थान**
Institution | Corporation | Establishment, Installation | Institute, System

ये सब शब्द हैं तो हमारे यहां के बहुत पुराने और प्रसिद्ध; परन्तु आज-कल इनमें कुछ नये अर्थ और विवक्षाएं लग गई हैं, जिनका विवेचन आवश्यक जान पड़ता है।

'संस्था' *स्त्री०* (सं०) का मूल अर्थ है–ठहरने या स्थित होने की अवस्था, क्रिया, गुण या भाव। इसके परवर्ती और विकसित अर्थों में मुख्य ये हैं–अभिव्यक्ति या आविर्भाव, आकृति या रूप, अंत या समाप्ति, पेशा या व्यवसाय, गरोह या दल आदि-आदि। परन्तु आज-कल **संस्था** मुख्य रूप से कुछ लोगों के ऐसे संघटन को कहते हैं जो किसी लोक-कल्याण या समाज-सेवा के लिए हुआ हो। इसके कार्य-क्षेत्र में अर्थ, दान, धर्म, शिक्षा आदि की सभी बातें आ जाती हैं। अनाथालय, पुस्तकालय, विद्यालय आदि और उनकी व्यवस्था तथा संचालन करनेवाले सभी संघटन **'संस्था'** कहलाते हैं। संस्थाओं का मुख्य उद्देश्य सार्वजनिक कल्याण या सेवा ही होता है, वैयक्तिक लाभ या स्वार्थ नहीं।

'संस्था' का हमारे यहां एक और पुराना अर्थ है–कोई परम्परागत और बंधा हुआ नियम, प्रथा, विधान आदि। इसी प्रकार इसके अंग्रेज़ी समानार्थक 'इन्स्टिट्यूशन' (Institution) का अर्थ होता है–बहुत दिनों से चला आया हुआ नियम या प्रथा। इसी आधार पर कहा जाता है–विवाह भी एक ऐसी **संस्था** है जो प्रायः सभी जातियों और देशों में किसी न किसी रूप में देखने में आती है। इससे भी और आगे बढ़ने पर हम किसी ऐसे महापुरुष को **'संस्था'** कहने लगे हैं जिसने बहुत बड़े क्षेत्र में कोई बहुत ही महत्वपूर्ण काम संघटनात्मक रूप में किया हो; जैसे- महात्मा गांधी (या लोक-मान्य तिलक) स्वयं एक **संस्था** थे।

'संस्थान' *पु०* (सं०) का भी पहला और मुख्य अर्थ वही ठहराव या स्थिति है जो **'संस्था'** का है। परन्तु अपने परवर्ती और विकसित अर्थ में यह भी है तो एक प्रकार की **संस्था** ही; परन्तु इसका कार्य-क्षेत्र अपेक्षया कुछ परिमित या सीमित है। आज-कल **संस्थान** ऐसी **संस्था** को कहते हैं जो कला, विज्ञान, साहित्य आदि के उच्चकोटि के अध्ययन, अनुसंधान आदि के कार्य करती हो; जैसे- भौतिक विज्ञान अथवा रासायनिक शोध सम्बन्धी **संस्थान**।

चिकित्सा आदि के क्षेत्रों में **'संस्थान'** का प्रयोग एक और बहुत प्रचलित तथा प्रसिद्ध अर्थ में होता है। हमारे शरीर में कुछ ऐसे मुख्य अंग होते हैं, जिनके कई उपांग होते हैं और जिनके योग से हमारे शरीर की कोई निश्चित और विशिष्ट प्रकार की क्रिया निरन्तर होती रहती है। ऐसे प्रत्येक अंग और उसके समस्त उपांगों का सामूहिक नाम भी **संस्थान** ही है, जैसे- पाचन **संस्थान**, रक्त-वाही **संस्थान** आदि। ऐसी अवस्था में यह अंग्रेज़ी के System का समार्थक होता है। यों सूर्य और उसके सब ग्रहों तथा उप-ग्रहों

को सामूहिक रूप से भले ही हम 'सौर-मंडल' कहें; परन्तु है वह वास्तव में सौर **संस्थान** ही।

'प्रतिष्ठान' *पु०* (सं०) का पहला अर्थ रखना या स्थापित करना है। इसी आधार पर मन्दिरों आदि में देव-मूर्तियों की स्थापना को भी **प्रतिष्ठान** कहते हैं। परन्तु आज-कल यह मुख्यतः ऐसी संस्थाओं का वाचक हो गया है जो बड़े-बड़े व्यवसाय या व्यापार करती हैं। सभी प्रकार की महाजनी कोठियों आदि का इसमें अन्तर्भाव होता है। इससे भी आगे बढ़ने पर यह उन सभी कार्य-कर्ताओं, व्यवस्थाओं आदि के सामूहिक रूप का वाचक हो गया है जो किसी एक **प्रतिष्ठान** या व्यापारिक काम को चलानेवाले किसी कार्यालय में वेतन लेकर काम करते और रहते हैं, जैसे- यदि लाभ अधिक न हो तो हमें अपने **प्रतिष्ठान** का व्यय कम करना पड़ेगा। इसके सिवा अब **प्रतिष्ठान** वह स्थान भी कहा जाने लगा है जहां कोई बड़ा, महत्वपूर्ण और लोकोपयोगी यन्त्र लगा हो, जैसे, (क) उप-ग्रह छोड़ने का **प्रतिष्ठान**; (ख) कोयला या तेल साफ करने का **प्रतिष्ठान**; और (ग) ताप-बिजली तथा पन-बिजली उत्पन्न करने का **प्रतिष्ठान**। 'संयंत्र' और **'प्रतिष्ठान'** में मुख्य अन्तर यह है कि संयंत्र में वे सब यन्त्र उद्दिष्ट होते हैं जो सब एक साथ लगे हों; परन्तु **प्रतिष्ठान** में यन्त्रों के सिवा सारे कार्य-विभाग या कार्यालय का भी अन्तर्भाव होता है, जैसे- सिंगापुर से हटने पर ब्रिटिश सेना अपने सब **प्रतिष्ठान** वहीं रहने देगी।

'निगम' हमारे यहां का वैदिक-कालीन शब्द है, जिसका पुराना अर्थ था—शब्द, पद, शब्दों का मूल या निरुक्ति आदि। आगे चलकर वे ग्रन्थ **निगम** कहलाने लगे थे जिनमें वैदिक मतों का निरूपण, प्रतिपादन और स्पष्टीकरण होता था। बौद्ध-काल में **निगम** प्रायः नगर का समार्थक बन गया था, और मुख्य रूप से उस **संस्था** या समिति का वाचक हो गया था, जो नगर की व्यवस्था और हितों की रक्षा करती थी। आज-कल विधिक क्षेत्र में **निगम** राजकीय आज्ञा या विधान से बनी हुई वह **संस्था** कहलाती है जो स्थायित्व के उद्देश्य और विचार से स्वतन्त्र शरीर या शरीर-धारी के रूप में मानी जाती हो और जो एक व्यक्ति या व्यष्टि के रूप में सब काम कर सकने के अधिकार रखती हो। आज-कल कुछ विशिष्ट बड़े-बड़े नगरों में नगरपालिका की तरह की जो बड़ी प्रतिनिधिक **संस्था** होती है, वह भी **निगम** कहलाती है। परन्तु इसके अधिकार और कार्य नगर पालिकाओं की तुलना में बहुत अधिक होते हैं। **प्रतिष्ठान** की तुलना में **निगम** प्रायः बहुत बड़ा होता है और उसका कार्य-क्षेत्र भी विस्तृत और व्यापक होता है। इसके सिवाय राज्य की ओर से कुछ विशिष्ट पदार्थों के क्रय-विक्रय अथवा महत्वपूर्ण उद्योगों को व्यवस्थित और व्यापारिक रूप में चलाने के लिए भी **निगम** बनाये जाते हैं, जैसे- खाद्य **निगम**, राजकीय व्यापार **निगम**। ××

संस्थान- *पु०* (सं०) दे० 'संस्था, संस्थान, प्रतिष्ठान और निगम'।

संहार- *पु०* (सं०) दे० 'हत्या, हनन, मारण, वध और संहार'।

संहिता- *स्त्री०* (सं०) दे० 'विधा, विधान, विनियम, संविधान और संहिता'।

सक्षमता- *स्त्री०* (सं०) = सामर्थ्य; दे० 'शक्ति, बल, सामर्थ्य और ऊर्जा'।

242. सज्जनता सौजन्य

Gentlemanliness Gentlemanliness, Courtesy

यद्यपि व्युत्पत्तिक दृष्टि से ये दोनों शब्द बहुत-कुछ समार्थक हैं और इसी लिए प्रायः पर्याय के रूप में प्रयुक्त होते हैं, फिर भी दोनों में आशय की दृष्टि से कुछ सूक्ष्म अन्तर है।

'सज्जनता' (सं०) सज्जन (सत्+जन) का भाववाचक रूप है, और सत् का अर्थ है—बहुत अच्छा। इस दृष्टि से सज्जन का अर्थ होता है—बहुत अच्छा आदमी। व्यावहारिक दृष्टि से सज्जन ऐसा व्यक्ति माना जाता है जो सदा सत्य का आचरण करता हो, उदार और परोपकारी हो, किसी के साथ द्वेष या वैर-भाव न रखता हो और सार्वजनिक क्षेत्र में सदा नैतिक सिद्धान्तों का पालन करता और सबके साथ अच्छा व्यवहार करता हो। इसीलिए सज्जन को भला आदमी और **सज्जनता** को **भलमनसत** कहते हैं।

'सौजन्य' सं० सुजन का भाववाचक रूप है। सु का अर्थ है - अच्छा; और सुजन का अर्थ होता है- अच्छा आदमी। सज्जन में तो सत् की प्रधानता है,परन्तु सुजन में उस 'सु' की प्रधानता है जिसे तात्त्विक दृष्टि से हम 'सत्' की तुलना में कुछ हल्का कह सकते हैं, फिर भी लोक-व्यवहार में सज्जन और सुजन के व्यावहारिक रूपों में कोई विशेष अन्तर नहीं माना जाता और ये दोनों शब्द प्रायः पर्याय रूप में ही प्रचलित हैं। इसी आधार पर **सौजन्य** का प्राथमिक अर्थ बहुत-कुछ वही है जो ऊपर **सज्जनता** का बतलाया गया है। परन्तु आज-कल अंग्रेज़ी की कर्टसी (Courtesy) का भाव सूचित करने के लिए इसमें एक नया अर्थ लग गया है। यह ऐसे पारस्परिक व्यवहार का सूचक हो गया है, जिसमें किसी के साथ किए जानेवाले अनुग्रह, उदारता, मधुरता और विनम्रता आदि के आचरण का भाव प्रधान हो। प्रायः समाचार-पत्रों आदि में चित्रों, विवरणों आदि के सम्बन्ध में लिखा रहता है—अमुक (व्यक्ति या संस्था) के **सौजन्य** से प्राप्त। आशय यही होता है कि अमुक व्यक्ति या संस्था ने अपनी **सज्जनता** का परिचय देते हुए अथवा उदारतापूर्वक हमें यह चित्र या विवरण प्रदान किया है। इसी दृष्टि से हम कह सकते हैं कि साधारण सामाजिक दृष्टि से **सज्जनता** की तुलना में **सौजन्य** कुछ अधिक गम्भीर और महत्त्वपूर्ण आशय या भाव का सूचक है। ××

सटना- *अ०* (?) दे० 'जुड़ना, चिपकना, मिलना, लगना और सटना'।

सत्ययुग- *पु०* (सं०) दे० 'कल्प और युग'।

सत्यापन-*पु०* (सं०) दे० 'पहचान, अनुप्रमाणन, पृष्ठांकन और सत्यापन'।

सदन- *पु०* (सं०) दे० 'विधायिका और सदन'।

सद्‌भाव- *पु०* (सं०) दे० 'नाम, उपनाम, पदनाम, संज्ञा और सुनाम'।

सनसनी- *स्त्री०* (अनु०) दे० 'हलचल, खलबली, सनसनी और हड़कंप'।

243. सफ़ेद झूठ मकराश्रु, मगरमच्छ के आंसू

White lie Crocodile tears

हिन्दी में ये दोनों पद इधर हाल में अं० पदों के अनुकरण पर बने और प्रचलित हुए हैं। परन्तु इनके ठीक-ठीक अर्थ और आशय अं० जाननेवाले लोग भले ही समझ लें, परन्तु केवल हिन्दी जाननेवालों के लिए इनकी ठीक व्याख्या और स्पष्टीकरण कर देना आवश्यक प्रतीत होता है। यद्यपि इनके अर्थों और आशयों में कोई साम्य नहीं है, फिर भी इन्हें एक ही वर्ग में रखना उपयुक्त जान पड़ता है।

'सफ़ेद झूठ' अर्थ और आशय के विचार से यह हिन्दी पद अपने मूल अंग्रेज़ी पद से बहुत अलग हो गया और दूर जा पड़ा है। मूल अंग्रेज़ी पद ऐसे झूठ का बोधक है जिससे किसी का कोई अपकार या अहित न होता हो। लोक-व्यवहार में प्रायः लोगों को औपचारिक रूप से कुछ ऐसी बातें कहनी पड़ती हैं जो वस्तुतः सच तो नहीं होतीं, फिर भी न तो जिनमें किसी प्रकार के कपट या छल का भाव होता है, और न जिनके फलस्वरूप किसी के अनिष्ट की ही कोई सम्भावना होती है; जैसे- किसी प्रिय मित्र के आने पर लोग यों ही कह दिया करते हैं कि मैं तो कई दिन से आपकी प्रतीक्षा कर रहा था, अथवा कई बार मुझे आपका ध्यान आया। अंग्रेज़ी में इसी प्रकार की औपचारिक बातों की गणना 'ह्वाइट लाई' में होती है। परन्तु हमारे यहां इसके शब्दार्थ के आधार पर जो **'सफ़ेद झूठ'** पद बना है, वह ऐसे प्रत्यक्ष और स्पष्ट झूठ का बोधक है जिसमें सत्यता का लेश भी न हो और जिसे सुनते ही साधारण लोग समझ लें कि यह निरा और सरासर झूठ है।

'मगरमच्छ के आंसू' अं० रूप Crocodile tears का अनुकरण और अनुवाद है। प्राचीन और मध्ययुगों में पाश्चात्य देशों के निवासियों का यह निर्मूल विश्वास था कि घड़ियाल जब अपना शिकार खाने लगता है, तब साथ ही साथ रोता भी रहता है। वे समझते थे कि घड़ियाल को अपनी इस क्रूरता और निर्दयता पर बहुत पश्चात्ताप होता है; भले ही वह अपना पेट भरने के लिए शिकार खाता रहे, परन्तु इसके लिए मन में बहुत दुःखी होने के कारण वह रोता भी चलता है। यहां यह भी ध्यान रखना चाहिए कि Crocodile वास्तव में घड़ियाल है। मगर या मकर तो वस्तुतः Alligator है जो घड़ियाल से कुछ बातों और विशेषतः मुख की आकृति के विचार से बहुत भिन्न होता है। परन्तु इस अन्तर का ध्यान न रखकर लोगों ने Crocodile को ही मगर मान लिया और उसी के अनुसार मगरमच्छ के आंसू या **मकराश्रु** (मकर+अश्रु) पद बना लिए। इसका प्रयोग ऐसी स्थिति सूचित करने के लिए होता है जिसमें मनुष्य अपने किसी अनुचित या अन्यायपूर्ण कार्य अथवा व्यवहार के संबंध में झूठ-मूठ या दिखावटी दुःख और पश्चात्ताप व्यक्त करता है। वास्तव में तो वह अपने मन में प्रसन्न और सन्तुष्ट होता है, परन्तु दूसरों को दिखाने के लिए वह दुःखी होने का ढोंग रचता है। कुछ लोगों ने इस हिन्दी पद के बदले में सं० **मकराश्रु** का ही प्रयोग किया है। ××

सबब- *पु०* (अ०) दे० 'कारण और हेतु'।

244. सभ्यता — संस्कृति
Civilization — Culture

'सभ्यता' व्याकरण की दृष्टि से सभ्य होने की अवस्था, गुण और भाव की सूचक है। परन्तु 'सभ्य' का मौलिक सम्बन्ध हमारे यहां के वैदिक युग की 'सभा' से है। प्राचीन आर्यों में राज-काज की व्यवस्था करने के लिए जो बुद्धिमान् और विद्वान् एक स्थान पर एकत्र होते थे उनकी मंडली या समूह को 'सभा' कहते थे; और जिस स्थान पर एकत्र होते थे उसे भी 'सभा' या 'सभा-स्थल' कहते थे। स्वभावतः ऐसे लोग सज्जन, समझदार और सुशील होते थे। इसलिए 'सभ्य' शब्द ऐसे लोगों का वाचक हो गया जिनमें गंवारपन या जंगलीपन बिल्कुल न हो। आज-कल साधारण लोक-व्यवहार में **'सभ्यता'** का आशय होता है-ऐसा आचार-व्यवहार और रहन-सहन जिसमें उजड्डपन और बर्बरता बिल्कुल न हो और शिष्टता अधिक और यथा-साध्य अपनी पूरी मात्रा में हो। परन्तु आज-कल पाश्चात्य विचार-धारा के अनुकरण पर यह शब्द कुछ विशिष्ट प्रकार की लौकिक और सामाजिक स्थितियों का वाचक हो गया है। आदिम काल में मनुष्य जिस प्रकार रहा करते थे, उससे निरन्तर आगे बढ़ते-बढ़ते वे आज-कल सामाजिक दृष्टि से बहुत-कुछ भिन्न और साथ ही उन्नत तथा विकसित प्रकार से रहते हैं। उस आदिम युग से आज तक मानव समाज ने लौकिक, व्यावहारिक और सामाजिक क्षेत्रों में जो उन्नतियां की हैं उन्हीं को विशिष्ट रूप से सूचित करने के लिए **'सभ्यता'** का प्रयोग होता है। काल और देश के भेद से अथवा जाति और वर्ग के भेद से इन रूपों में जो अन्तर होते हैं वे विशिष्ट नामों से अभिहित होते हैं; जैसे- भारतीय आर्यों की **सभ्यता**, महाभारत काल की **सभ्यता**, यूरोपीय **सभ्यता**, रोमन **सभ्यता** आदि। सारांश यह कि प्रकृति पर विजय पाने और जीवन-निर्वाह में सुगमता तथा सौष्ठव उत्पन्न करने के लिए भिन्न-भिन्न जातियों और देशों के लोगों ने ज्ञान और शिक्षा के क्षेत्र में जो उपलब्धियां की हैं उन सब का इसमें अन्तर्भाव होता है। यह मानव-समाज की बाह्य और भौतिक उन्नतियों का सामूहिक रूप है।

'संस्कृति' शब्द का मुख्य सम्बन्ध संस्करण या संस्कार से है। किसी प्रकृत वस्तु की त्रुटियां, दोष और विकार दूर करके उसे उपयोगी अथवा उसकी असंगति, भद्दापन आदि दूर करके उसे सुन्दर बनाना ही उसका संस्करण या संस्कार कहलाता है।* एक बात में **सभ्यता** और **संस्कृति** दोनों बहुत-कुछ एक ही तत्त्व या भाव से युक्त हैं। दोनों ही मानव-समाज की उन्नति और विकास की सूचक अवस्थाएं या दशाएं हैं। अनेक विद्वान् तो **संस्कृति** को **सभ्यता** का ही एक दूसरा अंग या पक्ष मानते हैं। सभ्यता का मुख्य सम्बन्ध मनुष्य की आर्थिक, राजनीतिक और सामाजिक उपलब्धियों से है और **संस्कृति** उनकी आध्यात्मिक, नैतिक, बौद्धिक तथा मानसिक उपलब्धियों की सूचक है। **संस्कृति**

---

* प्राचीन काल में हमारे यहां जनसाधारण की बोल-चाल की भाषा इसीलिए 'प्राकृत' कहलाती थी कि वह प्रकृति-जन्य या स्वाभाविक होती थी; परन्तु शिक्षित और सभ्य समाज ने उसका संस्कार करके उसका जो अच्छा, नया और सुधरा हुआ रूप प्रस्तुत किया उसे 'संस्कृत' कहते थे।

के अन्तर्गत किसी जाति या देश की सभी प्रकार की परम्परागत बातें, मान्यताएं, रीति-नीति और विश्वास आ जाते हैं। यह **संस्कृति** कला-कौशल के क्षेत्र की उन्नति, सांस्कृतिक रहन-सहन और परम्परागत योग्यताओं तथा विशेषताओं के आधार पर आंकी जाती है। **सभ्यता** मानव-समाज की बाह्य और भौतिक सिद्धियों की मापक है, और **संस्कृति** लोगों की आन्तरिक तथा मानसिक उन्नति की परिचायक होती है। इसीलिए **सभ्यता** मूलतः समाजगत और **संस्कृति** मूलतः मनोगत होती है। ××

समंजन– *पु०* (सं०) दे० 'संतुलन, समन्वय और सामंजस्य'।

समझ–*स्त्री०* (हिं०) दे० 'बुद्धि, समझ और अक्ल'।

समझौता–*पु०* (हिं० समझना) दे० 'सन्धि, संविदा और समझौता'।

समन्वय–*पु०* (सं०) दे० 'सन्तुलन, समन्वय और सामंजस्य'।

सम्मार्जन–*पु०* (हिं०) दे० 'परिमार्जन, सम्मार्जन और परिष्करण'।

समय–*पु०* (सं०) दे० 'काल, वेला और समय'।

समय-सेवी–*वि०* (सं०) दे० 'अवसरवादी और समय-सेवी'।

समवायि कारण–*पु०* (सं०) दे० 'कारण और हेतु' के अन्तर्गत 'कारण'।

समस्या–*स्त्री०* (सं०) दे० 'भेद, रहस्य और समस्या'।

समस्या-पूर्ति–*स्त्री०* (सं०) दे० 'भेद, रहस्य और समस्या'।

समाई–*स्त्री०* (हिं० समाना) दे० 'सामर्थ्य, समाई और बिसात'।

समाचार–*पु०* (सं०) दे० 'संदेश, संवाद और समाचार'।

समावेश–*पु०* (सं०) दे० 'अध्यादेश, परादेश और समादेश'।

समादेश याचिका–*स्त्री०* (सं०) 1. दे० 'अध्यादेश, परादेश और समादेश'। 2. दे० 'विनति, याचना, निवेदन, अभिवेदन और प्रतिवेदन'।

समानक–*पु०* (सं०) दे० 'एकार्थक, पर्याय, समानक और समार्थक'।

समानार्थक–*पु०* (सं०) दे० 'एकार्थक, पर्याय, समानक और समार्थक'।

समानुपात–*पु०* (सं०) दे० 'अनुपात और समानुपात'।

समापक या समाप्तिक–*वि०* (सं०) दे० 'अन्तिम, आंतिक, आवसानिक और समापक या समाप्तिक'।

समाप्ति–*स्त्री०* (सं०) दे० 'अन्त, अवसान और समाप्ति'।

समारम्भ–*पु०* (सं०) दे० 'अथ, आदि, आरम्भ, प्रारम्भ और समारम्भ'।

समार्थक–*पु०* (सं०) दे० 'एकार्थक, पर्याय, समानक और समार्थक'।

समालोचना–*स्त्री०* (सं०) दे० 'आलोचना, समालोचना और समीक्षा'।

सरकार–*स्त्री०* (फ़ा०) = शासन; दे० 'शासन, प्रशासन और अनुशासन'।

संसर्गशील–*वि०* (सं०) दे० 'संक्रामक, संसर्गज और संसर्गशील'।

सर्वेक्षण–*पु०* (सं०) दे० 'निरीक्षण, अधीक्षण, पर्यवेक्षण, पुनरीक्षण, सम्प्रेक्षण और सर्वेक्षण'।

सलाह–*स्त्री०* (अ०) = परामर्श; दे० 'विचार, विमर्श और परामर्श'।

सस्ता–*वि०* (सं० स्वस्थ) दे० 'महंगा और सस्ता'।

सहकार–*पु०* (सं०) = सहकारिता; दे० 'सहायता, सहयोग और सहकारिता'।

सहकारिता–*स्त्री०* (सं०) दे० 'सहायता, सहयोग और सहकारिता'।

सहज-ज्ञान–*पु०* (सं०) = अन्तर्ज्ञान; दे० 'अन्तर्ज्ञान और सहजवृत्ति'।

सहजवृत्ति–*स्त्री०* (सं०) दे० 'अन्तर्ज्ञान और सहजवृत्ति'।

सहना–*सं०* (हिं०) दे० 'झेलना, भोगना और सहना'।

सहनिका–*स्त्री०* (सं०) दे० 'शक्ति, बल, सामर्थ्य, ऊर्जा और सहनिका'।

सहयोग–*पु०* (सं०) दे० 'सहायता, सहयोग और सहकारिता'।

सहानुभूति–*स्त्री०* (सं०) दे० 'संवेदना और सहानुभूति'।

245. सहायता सहकार सहयोग

Aid, Assistance Help, Relief — Co-operation — Collaboration

इस वर्ग के शब्द ऐसी स्थितियों के वाचक हैं जिनमें कोई आवश्यक, बड़ा या महत्वपूर्ण कार्य आगे बढ़ाने में किसी के साथ मिलकर उसका हाथ बटाया जाता है या ऐसा काम किया जाता है जिससे मुख्य कार्य अग्रसर हो और उससे कार्य करनेवाले की कठिनता, कष्ट या चिंता कुछ दूर हो अथवा कार्य जल्दी हो और समय की बचत हो।

'सहायता' का व्युत्पत्तिक अर्थ है–किसी के साथ मिलना, रहना या होना। प्रस्तुत प्रसंग में **सहायता** मुख्यतः ऐसे उद्योग या प्रयत्न का वाचक है जो किसी दूसरे व्यक्ति के बड़े या महत्वपूर्ण कार्य को अग्रसर करने के लिए अथवा कुछ अवस्थाओं में पूरक रूप में किया जाता है। साधारणतः **सहायता** का कार्य मुख्य कार्य की तुलना में कुछ कम महत्व का या गौण माना जाता है। किसी पुस्तक का मूल लेखक या समाचार-पत्र का प्रधान सम्पादक तो प्रायः एक ही व्यक्ति होता है, परन्तु उसकी **सहायता** करनेवाले कई लोग होते या हो सकते हैं। इसके सिवा किसी दीन, दुःखी या पीड़ित का कष्ट अथवा संकट दूर करने के लिए जो काम किए जाते हैं उनकी गिनती भी **सहायता** में ही होती है; जैसे-अकाल-पीड़ितों अथवा रोगियों की सेवा और **सहायता** करना। जब किसी प्रकार के किसी बड़े निर्माण, रचना, वास्तुकर्म आदि में काम करनेवाले लोग कुछ कम जान पड़ते हैं या वह काम जल्दी पूरा करना होता है अथवा युद्ध में किसी जगह सैनिकों आदि की

और आवश्यकता होती है, तब पहले के काम करनेवाले लोगों अथवा सैनिकों की **सहायता** के लिए कुछ और कामवाले लोग भी भेजे जाते हैं; परन्तु इस प्रकार जो और नए काम करनेवाले या सैनिक भेजे जाते हैं उन सबकी सामूहिक संज्ञा **'सहायता'** तो नहीं होती, पर हां, उसके लिए फ़ा० 'मदद' का प्रयोग अवश्य होता है। हम यह तो नहीं कहते कि इस काम में और **सहायता** लगाओ; पर यह अवश्य कहते हैं कि इसमें और अधिक मदद लगाओ या मदद भेजो। इसके सिवा रोगों के उपचार या चिकित्सा के क्षेत्र में भी इसका प्रयोग होता है; जैसे—इस औषधि से ज्वर उतारने में भी सहायता मिलेगी। ये तो **सहायता** के रूप में किये जानेवाले शारीरिक उद्योग या प्रयत्न हुए; परन्तु ऐसे कार्यों के लिए धन, वस्त्र आदि जो पदार्थ दिए जाते हैं उनकी गिनती भी **सहायता** में ही होती है; जैसे- यह अनाथालय बनाने में नगर के सभी प्रमुख व्यक्तियों ने यथेष्ट आर्थिक **सहायता** की थी। हिन्दी में इसके स्थान पर फ़ारसी का 'मदद' शब्द भी चलता है।

'सहयोग' का शब्दार्थ है—किसी के साथ मिलना। परन्तु प्रस्तुत प्रसंग में इसका अर्थ होता है—किसी काम करनेवाले के साथ मिलकर उसका हाथ बटाना अथवा ऐसा कार्य करना जिससे वह कार्य व्यापक अर्थ और क्षेत्र में ठीक तरह से अग्रसर हो अथवा किसी बड़े उद्देश्य की पूर्ति या सिद्धि में उचित और यथेष्ट **सहायता** मिले। इसका प्रयोग मुख्यतः औद्योगिक, वैज्ञानिक, साहित्यिक आदि क्षेत्रों में वह स्थिति सूचित करने के लिए होता है, जिसमें कुछ लोग एक साथ मिलकर एक ही स्थान पर अथवा अलग-अलग स्थानों पर कोई बड़ा काम पूरा करने के लिए निरन्तर लगे रहते हैं; जैसे- नई खोज करने में उन्हें कई बड़े-बड़े वैज्ञानिकों का **सहयोग** प्राप्त हुआ था। व्यावहारिक क्षेत्र में **सहायता** करनेवालों की तुलना में **सहयोग** करनेवालों का पद या मर्यादा अधिक महत्वपूर्ण होती है।

'सहकार' का मूल अर्थ है—मिलजुलकर काम करना। अर्थात् यह किसी ऐसी स्थिति का वाचक है जिसमें कुछ या बहुत से लोग साथ मिलकर कोई बड़ा काम करते हैं। परन्तु आज-कल इस शब्द का औद्योगिक और व्यापारिक क्षेत्रों में एक विशिष्ट अर्थ में प्रयोग होने लगा है। आज-कल आर्थिक क्षेत्र में नई पाश्चात्य प्रणाली प्रचलित हुई है जिसमें कुछ लोग संघटित होकर कोई ऐसा औद्योगिक या व्यापारिक कार्य करते हैं जो उन सभी लोगों के लिए समान रूप से लाभदायक या हितकर सिद्ध होता है। यदि बहुत से खेतिहर, ग्वाले, प्रकाशक अथवा व्यापारी मिलकर अपने क्षेत्र में कोई ऐसा बड़ा उद्योग-धन्धा अथवा व्यापार आरम्भ करें जो उन सभी लोगों के लिए समान रूप से लाभदायक सिद्ध होता हो तो ऐसी स्थिति सहकार कही जाएगी। अलग-अलग उद्योग-धन्धा या व्यापार चलाने में तो यह होता है कि कुछ बहुत चतुर अथवा धनी व्यक्ति अपने वर्ग के और लोगों को या तो दबा लेते हैं या उन्हें तरह-तरह से हानियां पहुंचाते हैं। परन्तु सहकार के सिद्धान्त पर चलाए जानेवाले कामों में इस प्रकार के दोषों के लिए कोई अवकाश नहीं रह जाता। ××

सहिक— *वि०, पु०* (सं० सह से) = धनक; दे० 'धनक और ऋणक'।

सांत्वना— *स्त्री०* (सं०) दे० 'आश्वासन, ढारस, तसल्ली, दिलासा और सांत्वना'।

सांसारिक– *वि०* (सं०) दे० 'भौतिक, पार्थिव, लौकिक और सांसारिक'।

सांठगांठ– *स्त्री०* (हिं०) दे० 'मिली-भगत और सांठ-गांठ'।

साध– *स्त्री०* (हिं० साधना) दे० 'चाह, चाहत, चाव और साध'।

246. साधन — सामग्री

Resources — Material

इस वर्ग के शब्द ऐसी बातों और वस्तुओं के वाचक हैं, जिनका उपयोग कोई काम पूरा करने के लिए किया जाता है।

'साधन' *पु०* (सं०) का पहला अर्थ है–कोई उद्देश्य या काम पूरा या सिद्ध करना। इसके सिवा किसी काम या बात को ठीक और पूरा रूप देना भी उसका **साधन** कहलाता है। परन्तु प्रस्तुत प्रसंग में **साधन** उन सभी चीज़ों और बातों का वाचक है, जो किसी उद्देश्य या कार्य की सिद्धि के लिए अनिवार्य अथवा परम आवश्यक होते हैं। इसके अंतर्गत उपकरण या औज़ार भी आ जाते हैं; और धन, शक्ति, सहायकों आदि का भी इसमें अंतर्भाव होता है। अनुसंधान या शोध-सम्बन्धी पुस्तक लिखने के लिए अच्छे और प्रामाणिक ग्रन्थ हमारे **साधन** होते हैं। किसी दूर स्थान तक पहुंचने के लिए मोटरें, रेलें और हवाई जहाज़ **साधन** होते हैं; और प्रबल शत्रु से युद्ध करने के लिए गोला, बारूद, तोपें और साहसी तथा सुशिक्षित सैनिक **साधन** होते हैं। आज-कल अच्छी नौकरी या ऊंचा पद पाने के लिए बड़े-बड़े अधिकारियों का अनुग्रह, परिचय अथवा संबंध भी लोगों की दृष्टि में **साधन** ही होता है। सारांश यह कि सभी कामों में छोटे-मोटे या थोड़े-बहुत साधनों की आवश्यकता होती है।

'सामग्री' स्त्री० (सं०) का मूलतः समग्र का विकारी रूप है। समग्र होने की अवस्था, गुण या भाव ही मुख्यतः **सामग्री** है। इसे हम पूरापन या समूचापन भी कह सकते हैं। परन्तु प्रस्तुत प्रसंग में यह उन पदार्थों या वस्तुओं का ही वाचक है जो कोई काम पूरा करने या कोई चीज़ बनाकर तैयार करने के लिए परम आवश्यक होती हैं। **साधन** में तो पदार्थों या वस्तुओं के अतिरिक्त और प्रकार के तत्त्व भी आ जाते हैं, परन्तु **सामग्री** में केवल भौतिक पदार्थ या वस्तुएं ही आती हैं। पूजन की **सामग्री** में अक्षत, जल, फूल-माला, सुगंधित पदार्थ, नैवेद्य आदि होते हैं; कागज़, कलम, दवात, स्याही आदि लिखने की **सामग्री** है; कर्घा, चर्खा, रूई आदि कपड़े बनाने की सामग्री है और ईंट, पत्थर, लकड़ी आदि घर या मकान बनाने की सामग्री है। इसके पर्याय के रूप में प्रायः **'सामान'** (पु० फ़ा०) का भी प्रयोग होता है।

यह समूहवाचक संज्ञा है; और इसका प्रयोग सदा एकवचन में ही होता है। यह कहना ठीक नहीं है–सब सामग्रियां आ चुकी हैं। इसकी जगह होना चाहिए-सब (या सारी) **सामग्री** आ चुकी है।

247. **साधारण** **प्रसम**

Ordinary Normal

प्रायिक **सामान्य** **सार्विक**

Frequent Common General

इस वर्ग के शब्द ऐसे कामों, चीज़ों, बातों, व्यक्तियों आदि की उस कोटि या वर्ग के विशेषण हैं जो लोक में अधिकतर अवसरों पर देखने-सुनने में आते हैं।

'साधारण' (सं०) साधार का विकारी रूप हैं; और साधार सं० स+आधार के योग से बना है। साधार का अर्थ है–जिसका कोई आधार हो; या जो किसी के आश्रय या सहारे पर हो। इसी दृष्टि से जो चीज़ें या बातें एक ही आधार पर या एक ही तरह के आधारों पर आश्रित या स्थित होती हैं वे **साधारण** कहलाती हैं। जब एक ही तरह की ऐसी बहुत-सी चीज़ें या बातें हमारे सामने आती हैं, जिनमें एक-दूसरी की अपेक्षा कोई महत्व, पार्थक्य या विशेषता नहीं होती, तब वे सभी चीज़ें या बातें हमारे लिए **साधारण** होती हैं। जिस घटना या व्यक्ति में हमें कोई विशिष्ट गुणं या चमत्कार नहीं दिखाई देता, उसे हम **साधारण** मनुष्य कहते हैं। इसके विपरीत, जिन बातों या वस्तुओं में हमें कोई नवीनत्ता या विलक्षणता दिखाई देती है, वही हमारे लिए असाधारण होती है। पर यदि वही बातें या वस्तुएं हमारे सामने प्रायः और अधिकता से आने लगें, तो वे **साधारण** बन जाती हैं। बिजली की रोशनी, मोटर, रेडियो या हवाई जहाज़ पहले विरल होने के कारण असाधारण थे, पर अब बहुत प्रचलित हो जाने के कारण सभ्य जगत् के लिए **साधारण** हो गये हैं। पहले चोरियां, डाके और हत्याएं बहुत कम होने के कारण असाधारण घटनाएं मानी जाती थीं; पर यही आज-कल **साधारण** बातें हो गई हैं। **साधारण** प्रायः **प्रसम** (देखें नीचे) से कुछ निम्न कोटि का ही होता है, उच्च कोटि का नहीं होता। हम कहते हैं--यह बात **साधारण** आदमियों की समझ के बाहर है। आशय यही होता है कि यह बात वही समझ सकते हैं जो या तो **प्रसम** कोटि के हों या उससे कुछ उच्च कोटि के।

'सामान्य' (सं०) समान से बना है; और मूलतः इसका वही अर्थ* तुल्य या बराबर है जो समान का है। पर बाद में इसका अर्थ भी बढ़ और बदलकर बहुत-कुछ वही हो गया है जो **साधारण** का है। जो सब जगह समान रूप से लोगों के देखने-सुनने में आता हो, जो सबमें नहीं तो कम से कम बहुतों में अवश्य पाया जाता हो, अथवा जिसे देखने पर कुछ भी आश्चर्य या कुतूहल न हो, वही **सामान्य** है। **साधारण** तो **प्रसम** से प्रायः कुछ नीचा होता है, पर **सामान्य** बहुधा **प्रसम** के समान ही होता है। जो बात दो अथवा कई

---

* अंग्रेजी में Common की अपेक्षा Ordinary कुछ ऊंचे भाव का सूचक है–उसमें तुच्छता या निम्नता की भावना अपेक्षया कम है। पर हिन्दी में इसके विपरीत सामान्य ही कुछ अच्छा और **साधारण** कुछ हलका होता है। सामान्य बुद्धिवाला आदमी, प्रयोग के विचार से, साधारण बुद्धिवाले आदमी की अपेक्षा कुछ अधिक बुद्धिमान् समझा जाता है।

वस्तुओं, व्यक्तियों आदि में समान रूप से पाई जाती हो, वह भी **सामान्य** कहलाती है; जैसे- भूख, प्यास आदि प्राणियों का **सामान्य** धर्म है। यदि ऐसे प्रसंगों में **सामान्य** की जगह **साधारण** का प्रयोग किया जायगा तो वाक्य का आशय कुछ तुच्छता या हीनता का सूचक हो जायगा।

'प्रसम' शब्द मैंने अंग्रेज़ी के Normal नार्मल* का भाव सूचित करने के लिए सं० सम के पहले प्र उपसर्ग लगाकर बनाया है। कारण यह है कि अंग्रेज़ी के Normal का ठीक-ठीक भाव सूचित करनेवाला हिन्दी में न तो पहले से कोई शब्द था और न अब तक बना है। इसलिए लोग इसके स्थान पर **'सामान्य'** का ही प्रयोग करते हुए देखे जाते हैं। परन्तु **सामान्य** तो Common के भाव का सूचक है, इसलिए मुझे **प्रसम** की कल्पना करनी पड़ी है।

प्रसम उसे कहते हैं जो अपनी संगत और **साधारण** अवस्था, स्थिति आदि में ही हो—विशेष घटा-बढ़ा या इधर-उधर हटा हुआ न हो। प्रकृत और **प्रसम** में अन्तर यह है कि प्रकृत तो सदा एक-रस रहता है; और उसमें अन्तर या भेद के लिए कदाचित् ही कोई अवकाश रहता हो। पर **प्रसम** का क्षेत्र अपेक्षया परिमित होता है, और उसमें कुछ अन्तर या भेद भी देखने में आते हैं। पूस-माघ में जाड़ा प्रकृत रूप से पड़ता है। यह हो ही नहीं सकता कि पूस-माघ में जाड़ा न पड़े। पर साधारणतः हर साल पूस-माघ में जितना जाड़ा पड़ता हुआ हम देखते हैं, वही हमारे लिए **प्रसम** होता है। हो सकता है कि किसी साल जाड़ा कुछ अधिक हो या कम। उस दशा में हम कहेंगे—इस साल सरदी अप्रसम है, अर्थात् साधारणतः हर साल जितनी या जैसी सरदी पड़ती थी, उससे इस साल कुछ अधिक (या कम) है। मान लीजिए कि किसी स्थान पर 100 लड़कों की, किसी स्थान पर 200 लड़कों की और किसी स्थान पर 500 लड़कों की धारणा-शक्ति की जांच हुई। सब जगह की जांच करके यह स्थिर किया गया कि 10 वर्ष की अवस्था के लड़के इतनी बातें, 12 वर्ष की अवस्था के लड़के इतनी बातें और 16 वर्ष की अवस्था के लड़के इतनी बातें जान या सीख सकते हैं। इस प्रकार की जांच के आधार पर जो मत या सिद्धान्त स्थिर किया जाता है वही मत या सिद्धान्त जब साधारणतः बाकी सब लड़कों के लिए भी ठीक मान लिया जाता है, तब वही उस मत या सिद्धान्त का **प्रसम** रूप होता है। जब किसी बहुत बड़ी और समूची इकाई का औसत या माध्य नहीं निकाला जा सकता और उस इकाई के किसी छोटे से अंश का औसत या माध्य निकालकर शेष समूची इकाई पर उसका आरोप कर लिया जाता है और इसी आधार पर कोई निष्कर्ष निकाला जाता है,

---

* अंग्रेज़ी का नार्मल शब्द वस्तुतः Norm का विशेषण रूप है। Norm है तो बहुत-कुछ औसत या माध्य (दे० 'मध्यक, माध्य, माध्यम और माध्यिका') के वर्ग का शब्द; परन्तु इतना ही है कि औसत या माध्य तो प्रायः ठीक और पूरी गणना करके निकाला जाता है; परन्तु Norm समुच्चय के किसी अंश या भाग के निकाले हुए औसत या माध्य के आधार पर केवल अनुमान या कल्पना से समुच्चय वर्ग के लिए स्थिर कर लिया जाता है; इसीलिए Norm का समानार्थक मैंने 'प्रसम' स्थिर किया है। इससे प्रसमतः (नार्मली), प्रासमिक (नार्मेटिव), अप्रसम (एबनार्मल), अप्रसमतः (एबनार्मली), अनुप्रसम (सब-नार्मल), अनुप्रसमतः (सबनार्मली), प्रसमीकरण (Normalization) सभी रूप सहज में बन जाते हैं।

तब वही निष्कर्ष **'प्रसम'** कहा जाता है ।

'प्रायिक' रूप सं० प्रायः से मैंने सन् 1955 में 'शब्द-साधना' प्रस्तुत करते समय स्थिर किया था ।* प्रायः अव्यय है; और इसका अर्थ है—जो बीच-बीच में अनिश्चित रूप से परन्तु अधिकतर अवसरों पर होता रहता हो । इसी आधार पर मैंने प्रायः से उसका विशेषण रूप **'प्रायिक'** रखना उचित समझा था । **प्रायिक** वह है जो सदा और नियमित रूप से या बराबर तो न होता हो, फिर भी बीच-बीच में प्रायः या बहुधा होता रहता हो । जो क्रिया आपसे- आप या लोगों के द्वारा अथवा किसी एक व्यक्ति के द्वारा बीच-बीच में और बार-बार होती रहती हो, उसे भी **प्रायिक** कहते हैं; जैसे- सावन-भादो में वर्षा **प्रायिक** होती है; परन्तु और महीनों में वह **प्रायिक** नहीं, बल्कि क्वचित् ही होती है ।

'सार्विक' सं० सर्व का विकारी रूप है । यह रूप भी मैंने 'शब्द-साधना' में 'प्रायिक' के साथ ही स्थिर किया था । **सार्विक** उसे कहते हैं जो साधारण अवस्थाओं में प्रायः सभी जगह बहुत-कुछ समान रूप से देखा या पाया जाता हो; फिर भी इसमें अपवादों, त्रुटियों आदि के लिए कुछ अवकाश रहता ही हो । **सार्विक** नियम, परिपाटियां, प्रथाएं आदि साधारणतः मानव समाज अथवा शासन के द्वारा निरूपित या स्थापित होती हैं । **सार्विक** बातें सदा जनसाधारण के हित के अनुकूल और उपयुक्त ही होती हैं और उनसे समाज के सभी लोगों का या तो उपकार या हित होता है या उन्हें सुख और सुभीता प्राप्त होता है । **सार्विक** बातें प्रायः देश-काल के अनुसार बदलती भी रहती हैं अथवा उनमें अनेक भेद-प्रभेद भी देखने में आते हैं; जैसे- भारत में तो बहुत दिनों से **सार्विक** मान्यता यही रही है कि स्त्रियों को घर-गृहस्थी के कामों में ही अपना सारा समय लगाना चाहिए, परन्तु आज-कल स्त्री-शिक्षा का प्रचार हो जाने के कारण बहुत-सी स्त्रियां घर-गृहस्थी के काम छोड़कर नौकरी-चाकरी में भी लग जाती हैं; अथवा अपना सारा समय देश-सेवा, समाज-हित के कामों में लगाने लगी हैं । ××

सामंजस्य—*पु०* (सं०) दे० 'संतुलन, समन्वय और सामंजस्य' ।

सामग्री—*स्त्री०* (सं०) दे० 'साधन और सामग्री' ।

सामर्थ्य—*पु०* (सं०) दे० 'शक्ति, बल, सामर्थ्य, ऊर्जा और सहनिका' ।

---

* जहां तक मैं जानता हूं , भारत सरकार ने भी पहले Frequent के लिए प्रायिक मान लिया था, परन्तु बाद में उसने Frequency के लिए वारंवारिता और Frequently के लिए वारंवार स्थिर किया, परन्तु मेरी समझ में वारंवार तो again and again है जो Often और Frequent दोनों से बिल्कुल भिन्न है । Often के लिए तो 'प्रायः' ठीक है ही, पर Frequently के लिए **'प्रायिक'** रखना ही ठीक होगा; क्योंकि और कोई उपयुक्त शब्द नहीं मिलता । विशेष दे० 'प्रायः और बहुधा' ।

248. **सामर्थ्य** Strength | **बिसात** Capacity | **समाई** Capability

इस वर्ग के शब्द हैं तो बल या शक्ति के वर्ग के ही (दे० 'शक्ति, बल, **सामर्थ्य** और 'ऊर्जा'), परन्तु इनके मुख्य अर्थ या आशय कुछ भिन्न प्रकार के हैं। फिर भी कभी-कभी कुछ लोग भ्रमवश इनमें से एक के स्थान पर दूसरे का प्रयोग करते हुए देखे जाते हैं।

'सामर्थ्य' सं० समर्थ का भाववाचक स्त्री० संज्ञा रूप है। इसका प्रयोग मुख्यतः व्यक्तियों या अधिक से अधिक जीव-जन्तुओं की ऐसी शक्ति या बल सूचित करने के लिए होता है जिसके फलस्वरूप वे कोई काम कर सकने के योग्य, सक्षम अथवा समर्थ होते हैं। यह हमारी आर्थिक, शारीरिक, सामाजिक आदि ऐसी स्थितियों का सूचक है जो हमारे कार्य-क्षेत्र की अन्तिम या अधिक से अधिक सीमा को अभिव्यक्त करती हैं। कोई विशिष्ट कार्य कर सकने का जितना गुण या बल हममें होता है, वही हमारा **सामर्थ्य** कहलाता है; जैसे- चलने-फिरने, ताप-शीत आदि सहने का **सामर्थ्य**; धन आदि व्यय करने का **सामर्थ्य**; अथवा कार्य-क्षेत्र बढ़ाने का **सामर्थ्य**। हम कहते हैं—(क) यह काम हमारे **सामर्थ्य** के बाहर है। (ख) हमारे कानों में सुनने (या आंखों में देखने) का **सामर्थ्य** नहीं रह गया। ऐसी अवस्था में यह हमारी शक्ति के कुछ परिमित और विशिष्ट आशय का सूचक होता है।

'समाई' हिं० समाना का भाववाचक स्त्री० रूप है। यों साधारणतः **समाई** का अर्थ होता है समाने की क्रिया या भाव। परन्तु प्रस्तुत प्रसंग में यह हमारी क्षमता या योग्यता की परिधि या सीमा सूचित करता है। हम कहते हैं—इस समय सौ रुपए से अधिक व्यय करने की हमारी **समाई** नहीं है। आशय यही होता है कि इस समय सौ रुपए से अधिक व्यय करना हमारी शक्ति के बाहर है। यह भी कहा जाता है—हमें हर काम अपनी **समाई** देखकर करना चाहिए; अर्थात् अपनी योग्यता या शक्ति के अनुरूप ही करना चाहिए, उससे बढ़कर नहीं। इसका प्रयोग कभी-कभी लाक्षणिक अर्थ में भी होता है, जैसे- इस नौकर की **समाई** हमारे घर में नहीं हो सकती। आशय यही होता है कि यह नौकर इस योग्य नहीं है कि हमारे यहां इसका निर्वाह हो सके।

'बिसात' मूलतः अरबी भाषा का शब्द है; जिसका अर्थ है—बिछाने का कपड़ा या चादर। प्राचीन काल में प्रायः छोटे-मोटे व्यापारी ज़मीन पर कोई कपड़ा बिछाकर उस पर बिक्री के लिए तरह-तरह की चीज़ें रखते थे। उनका वही कपड़ा **बिसात** कहलाता था और ऐसे व्यापारी बिसाती कहलाते थे*। आगे चलकर **'बिसात'** उस कपड़े को भी कहने लगे जिस पर बहुत से खाने या घर बने होते हैं और जिन पर चौपड़, शतरंज आदि खेल खेले जाते हैं। इससे और आगे बढ़ने पर बिछाये जानेवाले कपड़े के विस्तार और फलतः उसकी **समाई** के आधार पर यह शब्द कोई कार्य, विशेषतः व्यय करने की शक्ति या **सामर्थ्य** का भी वाचक हो गया है। हम कहते हैं—(क) हम तो अपनी **बिसात** देखकर ही

---

* आज-कल 'बिसाती' कुछ विशिष्ट प्रकार की छोटी-मोटी वस्तुएं बेचनेवाले व्यापारी को कहते हैं।

ब्याह के सब काम करेंगे; अथवा (ख) उसकी क्या **बिसात** है जो हमारे सामने इस तरह बढ़-बढ़कर बोले। ऐसे प्रसंगों में **बिसात** उसी आशय या भाव का सूचक होता है जो 'तेतो पाय पसारिए जेती लांबी सौर' में है और इसी दृष्टि से यह आंशिक रूप में **समाई** या **सामर्थ्य** का पर्याय होता है। **'समाई'** और **'बिसात'** में ध्यान रखने योग्य एक मुख्य अन्तर यह है कि **समाई** तो किसी क्षेत्र के भीतरी अवकाश की सूचक होती है और **'बिसात'** विस्तार की सीमा सूचित करती है। ××

सामर्थ्य– *पु०* (सं०) दे० 'शक्ति, बल, सामर्थ्य और ऊर्जा'।

सामान– *पु०* (फ़ा०) दे० 'साधन और सामग्री'।

सामान्य– *वि०* (सं०) दे० 'साधारण, प्रसम, प्रायिक, सामान्य और सार्विक'।

सारणी–*स्त्री०* (सं०) दे० 'तालिका, सारणी, सूची और सूचीपत्र'।

सार्विक– *वि०* (सं०) दे० 'साधारण, प्रसम, प्रायिक, सामान्य और सार्विक'।

249. साहित्य वाङ्मय

Literature

'साहित्य' मूलतः 'सहित' का भाववाचक संज्ञा रूप है। किसी के सहित अथवा किसी के युक्त होने की अवस्था, गुण या भाव ही **साहित्य** है। सरल हिंदी में इसका अर्थ होगा–संग या साथ। आपस में संग या साथ तो बहुत सी चीज़ों या बातों का होता रहता है, पर वह नित्य या स्थायी नहीं होता। जान पड़ता है कि नित्य और स्थायी संग या साथ की खोज में विचारवानों का ध्यान शब्दों और अर्थों की ओर गया होगा और उन्होंने सोचा होगा कि शब्दों और अर्थों का पारस्परिक सम्बन्ध ही नित्य और स्थायी होता है। यों साधारणतः शब्दों के अर्थ बदलते तो रहते हैं, परन्तु शब्द और अर्थ में जो सम्बन्ध होता है वह कभी छूटता या टूटता नहीं। कोई अर्थ, आशय या भाव व्यक्त करने के लिए ही तो शब्दों का एक विशिष्ट व्यवस्थित रूप में प्रयोग होता है। कदाचित् इसीलिए शब्द और अर्थ के इस पारस्परिक सम्बन्ध को ही **साहित्य** की संज्ञा मिली होगी। इसी दृष्टि से मानव समाज की समस्त अनुभूतियों और विचारों का लिखित रूप **साहित्य** कहलाने लगा था। हमारे यहां प्राचीन काल में सभी रचनाएं प्रायः कविता के रूप में होती थीं और कविता में अपने भाव तथा विचार यथेष्ट उत्कृष्ट रूप में व्यक्त किए जाते थे। इसलिए आगे चलकर **'साहित्य'** शब्द काव्यशास्त्र का वाचक हो गया और छंदशास्त्र, अलंकार, रस आदि का विवेचन करनेवाले सभी ग्रन्थों का इसमें अन्तर्भाव होने लगा। संस्कृत के रीति काल में भी **'साहित्य'** का प्रयोग इसी परिमित क्षेत्र में होता था। परन्तु आधुनिक हिन्दी में, बल्कि यों कहना चाहिए कि सभी आधुनिक भारतीय भाषाओं में अंग्रेज़ी के Literature के अनुकरण पर **साहित्य** के अर्थ की व्यापकता बहुत-कुछ बढ़ गई है। अब तो किसी भाषा में गद्य और पद्य में मिलनेवाली सभी प्रकार की लिखित और प्रकाशित रचनाओं अथवा समस्त ज्ञान-भंडार का इससे बोध होता है; जैसे–बंगला **साहित्य**, मराठी

साहित्य, हिन्दी **साहित्य** आदि । इससे और आगे चलने पर हम देखते हैं कि किसी विशिष्ट कवि या विषय के सभी ग्रन्थ उसके **साहित्य** कहलाते हैं; जैसे- कबीर या सूर का **साहित्य**, गणित या विज्ञान का **साहित्य** । इसके सिवा किसी वस्तु या विषय से सम्बन्ध रखनेवाली सभी लिखित और प्रकाशित सामग्री को भी **साहित्य** कहते हैं, जैसे- विद्युत यंत्रों का **साहित्य** ।

'वाङ्मय' हमारे यहां का ऐसा पुराना शब्द है जिसका प्रचलन अब बहुत कम हो गया है । विशेषण रूप में उसका अर्थ होता है–वाक् या वाचा से सम्बन्ध रखनेवाला । संज्ञा रूप में उसका पहला अर्थ होता है–वाणी और दूसरा बातचीत या भाषण । परन्तु प्रस्तुत प्रसंग में यह उच्चकोटि के आध्यात्मिक, दार्शनिक आदि ग्रन्थ-भंडार का वाचक है । हमारे यहां वेदों, वेदांगों, दर्शनशास्त्रों, पुराणों आदि की गणना वाङ्मय में ही की गई है । प्राचीन काल में **वाङ्मय** के अन्तर्गत काव्य और शास्त्र दोनों लिए जाते थे । परवर्ती काल में यह विशेष रूप से शास्त्रों का ही वाचक माना जाने लगा था । ××

साहित्यक चोरी– *स्त्री०* दे० 'हरण, अपहरण, आहरण, परिहरण और परिहार' ।

सिफ़ारिश–*स्त्री०* (फ़ा०) दे० 'आशंसा, अनुशंसा, अभिशंसा और प्रशंसा' ।

सुखवाद–*पु०* (सं०) दे० 'दुःखवाद और सुखवाद' ।

सुगंध–*स्त्री०* (सं०) 'गंध, बू , महक और वास' ।

सुनाम–*पु०* (सं०) दे० 'नाम, उपनाम, पदनाम, संज्ञा और सुनाम' ।

सुरक्षा–*स्त्री०* (सं०) 'रक्षा, आरक्षा, आरक्षण, परिरक्षा, प्रतिरक्षा, संरक्षा और सुरक्षा' ।

सुरभि–*स्त्री०* (सं०) दे० 'परिमल, सुरभि और सौरभ' ।

सुस्त–*वि०* (फ़ा०) दे० 'अहदी, आलसी, आस्कती, दीर्घसूत्री और सुस्त' ।

सूक्ष्म-तरंग–*स्त्री०* (सं०) दे० 'परिवहन, यातायात, संचार, दूर-संचार और भू-संचार' ।

250. सूची — अनुक्रमणिका — अनुसूची — तालिका — सारणी

सूची	अनुक्रमणिका	अनुसूची	तालिका
Catalogue	Index	Schedule	1. List 2. Inventory

सारणी
Table

इस वर्ग के शब्द बहुत-सी चीज़ों, बातों, विषयों आदि की ऐसी नामावली के सूचक हैं जो किसी नियत या व्यवस्थित क्रम से जन-साधारण के उपयोग के लिए प्रस्तुत की जाती है ।

'सूची' स्त्री० का मूल शब्दार्थ है– कपड़ा सीने की सुई। आगे चलकर शंकु सरीखे अथवा और प्रकार के नुकीले पदार्थों को भी सुई कहने लगे थे। प्राचीन काल में **सूची** का प्रयोग उस अर्थ में भी होता था जिस अर्थ में आजकल अनुक्रमणिका (दे० नीचे) का होता है। परन्तु आजकल किसी अथवा कई प्रकार की चीज़ों, नामों, बातों आदि के क्रमबद्ध लेखे को ही **सूची** कहने लगे हैं। **तालिका** की तुलना में **सूची** कुछ अधिक परिचयात्मक और विवरणात्मक होती है; जैसे- पुस्तकों की **सूची** में उनके कर्त्ताओं, प्रकाशकों आदि के नाम और पते, पुस्तकों के विषय का विवरण, प्रकाशन का काल और मूल्य आदि भी दिए रहते हैं।* इसी प्रकार व्यक्ति के नामों के साथ उनकी जाति, वंश, व्यवसाय, निवास-स्थान आदि का भी उल्लेख होता है।

'अनुसूची' स्त्री० (सं० अनु + सूची) इधर हाल का बना हुआ नया शब्द है। यह भी है तो एक प्रकार की **सूची** ही; पर इसका प्रकार और रूप साधारण **सूची** से कुछ भिन्न होता है। **अनुसूची** मुख्यतः वह **सूची** कहलाती है जो किसी लेख्य या विवरणात्मक ग्रन्थ के अन्त में परिशिष्ट के रूप में लगी रहती है और जिसमें कोष्ठकों, स्तम्भों आदि के रूप में कोई ऐसी सूचना रहती है, जिसका उस ग्रन्थ या लेख में साधारण उल्लेख मात्र रहता है। ऐसी **अनुसूची** में गिनाई जानेवाली चीज़ों या नामों के सम्बन्ध में कुछ विशिष्ट विवरण या स्पष्टीकरण भी रहते हैं। भारतीय संविधान के अंत में ऐसी कुछ अनुसूचियां हैं जिनमें एक प्रसिद्ध **अनुसूची** ऐसी आदिम, दलित और पिछड़ी हुई जातियों की है जिनकी उन्नति और सुधार के लिए कुछ विशिष्ट योजनाएं और विधान बने हैं, और जिनके आर्थिक, राजनीतिक और सामाजिक उत्थान के लिए अनेक उपाय बताए गए हैं और ऐसी जातियों को कुछ विशिष्ट अधिकार भी दिए गए हैं। ऐसी जातियां लोक में 'अनुसूचित जातियां' (Scheduled Caste) कहलाती हैं।**

'तालिका' स्त्री० (सं०) का पहला अर्थ है–हाथ की हथेली, पर आगे चलकर इसका प्रयोग लेखों, हस्तलिखित ग्रन्थों आदि के ऐसे समूह के लिए होने लगा था जो एक में या एक साथ बंधे होते थे। इसका एक परवर्ती अर्थ **सूची** के प्रचलित अर्थ से बहुत-कुछ मिलता-जुलता है। **तालिका** चीज़ों की ऐसी नामावली को कहते हैं, जिसमें मुख्यतः

---

*सूची के ऐसे रूप को व्यावसायिक क्षेत्र में सूची-पत्र कहते हैं। व्यावसायिक क्षेत्र में इसे पुस्तक या पुस्तिका के रूप में प्रकाशित करके जन-साधारण में अपना विज्ञापन करने के लिए बांटा जाता है। दवाओं आदि के भी ऐसे ही सूची-पत्र होते हैं। सूची, सूचीपत्र और **तालिका** तीनों के स्थान पर अ० का 'फ़ेहरिस्त' (स्त्री०) शब्द भी पर्याय के रूप में प्रचलित है।

**अनुसूची तो Schedule का एक ही अर्थ है, इसका एक और अर्थ होता है–किसी कार्य-विधि अथवा योजना, परियोजना आदि का अपने पूर्वनिर्धारित क्रम, प्रगति, व्यवस्था, समय आदि के अनुसार ठीक तरह से अपना काम करते चलना और पूर्णतया समाप्ति तक पहुंचना। इस अर्थ का सूचक कोई और उपयुक्त शब्द कहीं न मिलने के कारण मेरा सुझाव है कि इसके लिए अनुयोजन (अनुयोजना) शब्द प्रचलित किया जाय; जैसे- अंतरिक्ष यान अपने अनुयोजन के अनुसार सब काम ठीक तरह से पूरे करके पृथ्वी पर लौट आया है। इसका भूत कृदन्त रूप प्रयोजित भी सहज में प्रचलित हो सकता है; जैसे- प्रगति या विकास का प्रयोजित क्रम।

केवल नामों का उल्लेख होता है, उनके विषय में कोई विशिष्ट विवरण या सूचना नहीं होती; जैसे- घर के कपड़ों, बरतनों आदि की **तालिका**। इसमें मुख्यतः चीज़ों के नाम और उनकी संख्याएं ही रहती हैं।

'अनुक्रमणिका' *स्त्री०* (सं०) अनुक्रम (ठीक तरह से लगा हुआ क्रम या सिलसिला) का विकारी रूप है। यह हमारे यहां का बहुत पुराना शब्द है और किसी विशिष्ट क्रम से बनी हुई **सूची** का वाचक है। आजकल यह भी **अनुसूची** की ही तरह की वह **सूची** है जिसमें किसी ग्रंथ में आए हुए मुख्य-मुख्य शब्दों अथवा विषयों का उल्लेख अक्षर-क्रम से रहता है और साथ ही इस बात का निर्देश भी रहता है कि वह शब्द अथवा विषय मूल ग्रंथ में कहां है, किस प्रसंग में अथवा किस पृष्ठ पर है। आजकल प्रायः महत्त्वपूर्ण ग्रंथों के अंत में **अनुक्रमणिका** भी रहती है,जिसकी सहायता से पाठक सहज में जान लेते हैं कि अमुक शब्द या विषय इस ग्रंथ में किस जगह अथवा किन-किन जगहों पर आया है।

'सारणी' *स्त्री०* (सं०) भी है तो एक प्रकार की सूची ही, पर उसका रूप अपेक्षया अधिक वैज्ञानिक और व्यवस्थित होता है। इसमें प्रायः अनेक ऐसे स्तंभ होते हैं जिनमें छोटे कोष्ठकों में अनेक प्रकार के अंकों, पदों, शब्दों आदि का ऐसा विन्यास रहता है जिससे उन अंकों, पदों, शब्दों आदि के पारस्परिक संबंध और कुछ विशिष्ट तथ्य सूचित होते हैं। यह ऐसे लोगों के उपयोग के लिए होती है जो किसी विषय के मुख्य-मुख्य तत्त्व या तथ्य सहज में और थोड़े समय में जानना चाहते हों, या बिना स्वयं गणना, विश्लेषण आदि किए दूसरों के निकाले हुए ठीक निष्कर्ष पर पहुंचना चाहते हों। **सारणी** में विशेष अध्ययन और परिश्रम के फल एक जगह और एक साथ इस प्रकार दिए रहते हैं कि लोग सहज में उनका उपयोग कर सकते हैं।

'सूचीपत्र'- *स्त्री०* (सं०) दे० 'तालिका, सारणी, सूची और सूचीपत्र'।

'सूजन'- *स्त्री०* (फ़ा० शोजन) = शोथ; दे० 'शोथ और शोफ'।

'सूझ'- *स्त्री०* (हिं० सूझना) दे० 'कल्पना, उद्भावना, उपज और सूझ'।

'सौगंध'- *स्त्री०* (सं०) दे० 'संकल्प, निश्चय, प्रतिज्ञा और शपथ'।

'सौजन्य'- *पु०* (सं०) दे० 'सज्जनता और सौजन्य'।

'सौरभ'- *पु०* (सं०) दे० 'परिमल, सुरभि, सौरभ'।

'स्तवन, स्तुति, स्तोत्र'- *पु०* (सं०) दे० 'प्रशस्ति, प्रशस्तिपत्र, स्तवन और स्तुति'।

'स्थिति'- *स्त्री०* (सं०) दे०, 'अवस्था, दशा और स्थिति'।

स्नायु-*स्त्री०* (सं०) दे० 'धमनी, नाड़ी, शिरा और स्नायु'।

स्नेह-*पु०* (सं०) दे० 'अनुराग, प्रीति, प्रेम और स्नेह'।

स्पृहा- *स्त्री०* (सं०) दे० 'इच्छा, कामना, अभिलाषा, आकांक्षा और स्पृहा'।

स्वच्छंदता- *स्त्री०* (सं०) दे० 'स्वतंत्रता, स्वच्छंदता, स्वाधीनता और स्वायत्तता'।

स्मारिका- *स्त्री०* (सं०) दे० 'विज्ञप्ति, अधिसूचना, ज्ञापन, ध्येय-पत्र और श्वेत-पत्र'।

251. स्वतंत्रता स्वच्छंदता स्वाधीनता स्वायत्तता
Freedom Liberty Independence Autonomy

इस वर्ग के शब्द ऐसी स्थितियों के वाचक हैं जिनमें देश, राज्य या लोग औरों का कोई अधिकार या प्रभुत्व नहीं मानते और अपनी आवश्यकताओं, इच्छाओं आदि के विचार से अपने सब काम स्वयं करते हैं। यद्यपि अर्थ के विचार से लोग इन्हें बहुत-कुछ संमानक समझते हैं, फिर भी इनके अर्थों और विवक्षाओं में कुछ मूल-भूत आधारों पर (उन संज्ञाओं के आधार पर जिनसे विकसित होकर ये रूप बने है) कुछ सूक्ष्म अन्तर हैं जिनका ध्यान रखना आवश्यक है।

'स्वतंत्रता' *स्त्री०* (सं०) में मुख्य शब्द 'तंत्र' है; जिसके अर्थ हैं–नियम, प्रणाली, व्यवस्था आदि। अतः **स्वतंत्रता** का प्रचलित अर्थ है–ऐसी स्थिति जिसमें मनुष्य अपने ही नियमों, प्रणालियों आदि के अनुसार अपने सब कामों का प्रबन्ध या व्यवस्था स्वयं करता है। इसी आधार पर इसमें एक विवक्षा यह भी लगी हुई है कि वह दूसरों के अधिकार, आज्ञा, नियंत्रण, बन्धन आदि नहीं मानता। हमें अपने घर के सब काम-धन्धे या व्यापार करने की भी **स्वतंत्रता** होती है; सब जगह आने-जाने, घूमने-फिरने आदि की भी **स्वतंत्रता** होती है और किसी प्रकार के अवरोध, नियंत्रण या बन्धन से मुक्त हो जाने पर अपने आचरण और व्यवहार के सम्बन्ध में **स्वतंत्रता** प्राप्त होती है। पराधीन देशों आदि का परकीय शासन हट जाने पर भी **स्वतंत्रता** प्राप्त होती है। परन्तु आज-कल इसका प्रयोग राजनीतिक क्षेत्रों में ही ऐसे देशों के सम्बन्ध में होता है जो विदेशी शासकों के अधिकार और शासन से मुक्त हो चुके हों और जो अपनी इच्छा के अनुसार अपना सारा शासनकार्य स्वयं करते हों।

'स्वाधीनता' *स्त्री०* (सं०) में मुख्य शब्द 'अधीन' है; **स्वाधीनता** का अर्थ होता है–ऐसी स्थिति जिससे कोई अपने ही अधीन रहता हो, पराधीन न हो। यह मुख्य रूप से राजनीतिक क्षेत्र का शब्द है; लौकिक या सामाजिक क्षेत्र में इसका प्रयोग प्रायः उन और अर्थों में नहीं होता जो ऊपर **स्वतंत्रता** के प्रसंग में बताए गए हैं। साधारणतः हम कह सकते हैं कि **स्वतंत्रता** का प्रयोग व्यक्तियों के सम्बन्ध में और **स्वाधीनता** का प्रयोग देशों, राष्ट्रों आदि के सम्बन्ध में होता है। 'भारत स्वाधीन हुआ है' का आशय है कि अब उस पर विदेशियों का शासन नहीं रह गया और 'भारत स्वतंत्र हुआ है' का आशय है कि अब वह अपनी सारी व्यवस्था आप करने की स्थिति में आ गया है। हम यह तो कहते हैं–(क) हमें अपनी इच्छा के अनुसार काम करने की **स्वतंत्रता** है, अथवा (ख) समाचार-पत्रों को पहले से बहुत अधिक **स्वतंत्रता** मिल गई है। पर ऐसे प्रसंगों में **स्वाधीनता** का प्रयोग इसलिए ठीक नहीं होता कि हम अथवा समाचार-पत्र फिर भी किसी न किसी व्यवस्था या शासन के अधीन रहकर ही अपने काम करते हैं; पूरी तरह से स्वाधीन नहीं होते।

'स्वायत्तता' *स्त्री०* (सं०) स्वायत्त का भाववाचक संज्ञा रूप है। स्वायत्त का अर्थ है–जो किसी दूसरे पर आश्रित न हो अथवा जिस पर किसी दूसरे का नियंत्रण न हो;

अर्थात् जो अपना मालिक या स्वामी आप ही हो। इस प्रकार मौलिक अर्थ के विचार से यह **स्वतंत्रता** या **स्वाधीनता** का ही समानक है, पर आज-कल इसका प्रयोग अंग्रेज़ी (Autonomy) का भाव सूचित करने के लिए होने लगा है; अतः इसका अर्थ भी कुछ संकुचित और सीमित हो गया है। **स्वायत्तता** ऐसी राजनीतिक इकाइयों को प्राप्त होती है जो या तो किसी एक प्रभुसत्ता (Sovereignty) के अधीन हों अथवा किसी मंडल या संघ के सदस्य के रूप में सम्मिलित हों और कुछ बातों में उसके प्रकार, नियम आदि मानती हों। उदाहरणार्थ हमारे यहां की नगरपालिकाओं को जो **स्वायत्तता** प्राप्त है, उसके अनुसार अपने अधिकार-क्षेत्र में तो उन्हें सब कार्य करने की पूरी **स्वतंत्रता** होती है; फिर भी जिस राज्य में वे होती हैं उसकी आज्ञाओं, नियमों और विधानों का पालन उनके लिए अनिवार्य होता है। इसी प्रकार राष्ट्र-मंडल या राष्ट्र-संघ के सभी सदस्यों को **स्वायत्तता** प्राप्त होती है; फिर भी कुछ विशिष्ट क्षेत्रों में उन्हें राष्ट्र-मंडल या राष्ट्र-संघ के नियमों, निर्णयों निश्चयों आदि का पालन करना ही पड़ता है।

'स्वच्छन्दता' *स्त्री०* (सं०) में मुख्य शब्द छन्द (सं० छंदस्) है, जिसके अर्थ हैं—इच्छा, कामना, उद्देश्य, हेतु आदि। इसी आधार पर स्वच्छंदता वह स्थिति है जिसमें सब काम अपनी इच्छा के अनुसार और मनमाने ढंग या प्रकार से किये जाते हैं। हम कहते हैं—पक्षी आकाश में और पशु वन में स्वच्छंदतापूर्वक विचरण करते हैं। यहां तक तो स्वच्छंदता भी बहुत-कुछ वही है जो **स्वतंत्रता** या **स्वाधीनता** है, पर आगे चलकर स्वच्छंदता में एक और विवक्षा लगी हुई मिलती है। लोक-व्यवहार में स्वच्छंदता का जो अर्थ लिया जाता है, उसमें निरंकुशता का भाव प्रधान है। इसमें ऐसे मनमाने आचरण की रंगत है जो अंकुश या बन्धन को व्यर्थ समझकर उसकी उपेक्षा करता है, और इसीलिए जिससे दूसरों का कुछ अहित हो सकता हो या दूसरों को खटक सकता हो। स्त्रियां घर में स्वतंत्रतापूर्वक सब काम कर सकती हैं; पर उनका **स्वच्छन्दयापूर्वक बाहर** घूमना-फिरना दुष्परिणाम उत्पन्न कर सकता है। **स्वतंत्रता** और **स्वाधीनता** अपेक्षया निरीह और अभीष्ट होती है। **स्वतंत्रता** में बंधन और विवशतावाले तत्त्व का अभाव मुख्य है, पर स्वच्छंदता में मनमाने आचरण का भाव प्रधान है। इसीलिए स्वछन्दतापूर्वक किये जानेवाले आचार को 'स्वेच्छाचार' भी कहते हैं, जो लोक में साधारणतः आपत्तिजनक अथवा निन्दनीय माना जाता है।

स्वत्व- *पु०* (सं०) दे० 'अधिकार, एकाधिकार, परमाधिकार, विशेषाधिकार और स्वत्व'।

स्वभाव- *पु०* (सं०) दे० 'प्रकृति, शील, स्वभाव और मिज़ाज'।

स्वाधीनता- *स्त्री०* (सं०) दे० 'स्वतंत्रता, स्वाधीनता, स्वच्छंदता और स्वायत्तता'।

स्वामित्व- *पु०* (सं०) दे० 'अधिकार और स्वत्व'।

स्वायत्तता- *स्त्री०* (सं०) दे० 'स्वतंत्रता, स्वच्छंदता, स्वाधीनता और स्वायत्तता'।

स्वेच्छाचार- *पु०* (सं०) दे० 'स्वतंत्रता, स्वच्छंदता, स्वाधीनता और स्वायत्तता'।

हंगामी- *वि०* (फ़ा०) = आपत्तिक; दे० 'आपात, आपातिक-स्थिति और अपस्थिति (या विस्थिति)'।

252. हंसी चुहुल दिल्लगी परिहास फबती

Laughter Joke Joke Raillery

इस वर्ग के शब्द आपस में होनेवाली ऐसा बातों के वाचक हैं जो मुख्य रूप से विशुद्ध मनोरंजन, विनोद या हंसने-हंसाने के लिए होती हैं।

'हंसी' *स्त्री०* (हिं० हंसना; सं० हसन्) क्रिया का भाववाचक संज्ञा रूप है। प्रायः वार्तालाप में किसी के मुंह से कोई ऐसी बात निकल पड़ती है जिसे सुनते ही सब लोग अनायास हंस पड़ते हैं। अपने मौलिक रूप में यही **हंसी** है। इसे और आगे बढ़ाने पर इसका प्रयोग हंसने-हंसानेवाली ऐसी बातों के सम्बन्ध में भी होता है जो कुछ लोग मन बहलाने और समय बिताने के लिए आपस में करते हैं। इस अर्थ के विचार से 'हंसी-खुशी' पद बनता है, जिसका अर्थ होता है—आनन्द, प्रसन्नता या सुख से युक्त; जैसे- यहां चार दिन तक वे बहुत हंसी-खुशी से रहकर घर चले गये। इसके योग से हंसी-ठट्ठा, हंसी-दिल्लगी और हंसी-मज़ाक पद भी बनते हैं जो मनोरंजन या मनोविनोद वाली बातों के वाचक होते हैं। इससे कुछ और आगे बढ़ने पर इसमें दो ऐसे अर्थ लग जाते हैं जो उपहास अथवा लोक-निन्दावाले भावों से युक्त होते हैं। किसी की **'हंसी** उड़ाना' का अर्थ होता है—किसी को तुच्छ या हीन सिद्ध करने के लिए ऐसी बात कहना जिसे सुनकर लोग उपेक्षापूर्ण भाव से हंस पड़ें। परन्तु जब कहा जाए—'इस तरह की बातें करोगे तो लोक (या समाज) में तुम्हारी **हंसी** होगी' तो आशय यह होगा कि लोग तुम्हें निन्दनीय और बुरा समझकर तुम पर हंसने लगेंगे या तुम्हारी **हंसी** उड़ाने लगेंगे।

'दिल्लगी' *स्त्री०* फ़ा० दिल और हिं० लगना (या लगाना) के योग से बना हुआ शब्द है। इसका आरंभिक अर्थ होता है—दिल लगने या लगाने की क्रिया या भाव। परन्तु इस अर्थ में इसका प्रयोग बहुत ही कम देखने में आता है। इसका प्रचलित और प्रसिद्ध अर्थ है मन बहलाने और हंसने-हंसाने के लिए कही या की जानेवाली बात (या बातें)। इस दृष्टि से 'हंसी-दिल्लगी' का भी वही अर्थ होता है जो ऊपर हंसी-मज़ाक का बतलाया गया है। ऐसी बातों का प्रायः किसी गम्भीर विषय से कोई सम्बन्ध नहीं होता। **'हंसी** और **दिल्लगी'** में कुछ मुख्य अन्तर है। पहली बात तो यह है कि **हंसी** मुख्यतः शिष्ट-सम्मत और सार्विक शब्द है परन्तु **दिल्लगी** में ओछेपन, कुछ बाज़ारूपन और कुछ शृंगारिकता की भी छाया होती है। इसके सिवा **हंसी** अपने विशुद्ध रूप में छोटों या बड़ों के सामने भी की जा सकती है और प्रायः की भी जाती है; परन्तु **दिल्लगी** का क्षेत्र प्रायः आपसदारी या बराबरीवालों तक ही परिमित रहता है। मुहावरे की दृष्टि से किसी की **दिल्लगी** उड़ाने का भी वही अर्थ होता है जो ऊपर किसी की **हंसी** उड़ाने का बतलाया गया है। **दिल्लगी** या **हंसी** में कही या की हुई कोई बात कुछ अवस्थाओं में उस व्यक्ति के लिए खेदजनक या हानिकारक भी हो सकती है जो उसका लक्ष्य बनाया गया हो। फिर भी **दिल्लगी** या **हंसी** करनेवाले अथवा उसके पक्ष (या लोगों) के लिए वह प्रायः हंसने-हंसानेवाली ही होती है। उदाहरणार्थ यदि हम **दिल्लगी** या **हंसी** में किसी व्यक्ति के खड़े होने पर उसके पीछे रखी हुई बैठने की कुर्सी चुपचाप धीरे से खींचकर इधर-उधर हटा दें तो जब वह बिना

पीछे देखे बैठने लगेगा, तो धड़ाम से गिर पड़ेगा। उस समय पहले तो सब लोग ठठाकर हंस ही पड़ेंगे, भले ही उसे गहरी चोट आने पर बाद में, लोगों को कुछ दुःख और पछतावा ही क्यों न हो।

'परिहास' *पु०* (सं०) इस वर्ग का सबसे अधिक निरीह और शिष्टसम्मत शब्द है; और इसीलिए यह अपने वर्ग के अन्य सभी शब्दों के स्थान पर प्रयुक्त हो सकता है। स्वयं इस पर कोई खास रंगत नहीं है; और इसी पर थोड़ी-बहुत रंगते चढ़ने से इस वर्ग के अन्यान्य शब्दों के अर्थों में थोड़ा-बहुत अन्तर उत्पन्न होता है। आज-कल अनेक अवसरों पर जो **परिहास** सम्मेलन होते हैं उनमें कविताएं और कहानियां होती तो कई तरह की हैं; परन्तु उन सबकी गिनती **'परिहास'** में ही होती है। यही इस शब्द की विशुद्धता का भी और व्यापकता का भी सबसे अच्छा प्रमाण है।

'चुहुल' या **'चुहल'** *स्त्री०* की व्युत्पत्ति अभी स्पष्ट नहीं है। 'हिं० शब्द सागर' में इसे चिड़ियों के शब्द चुह-चुह से व्युत्पन्न बतलाया गया है। हो सकता है कि यह व्युत्पत्ति कुछ अंशों में ठीक हो; क्योंकि इसका प्रयोग हंसी-दिल्लगी की ऐसी बातों के सम्बन्ध में होता है जो बहुत आपसदारी के थोड़े से व्यक्तियों में खूब खुले दिल से होती हैं। इस तरह की बातों में दो तरह की रंगतें विशेष रूप से देखने में आती हैं। पहली रंगत तो कुछ शृंगारिकता की होती है; और दूसरी सभ्य समाजवाली मर्यादा और शिष्टता की सीमा के कुछ उल्लंघन की। इससे जो 'चुहुलबाज़ी' रूप बनता है, उसमें उक्त दोनों प्रकार की रंगतों के भाव स्पष्ट रूप में व्यक्त होते हैं।

'फबती' हिं० फबना से बना है, जिसका अर्थ है—भला लगना, शोभन जान पड़ना आदि। प्रस्तुत प्रसंग में यह ऐसी व्यंग्यपूर्ण उक्ति या कटाक्ष का वाचक है जो किसी विशिष्ट अवसर पर बिलकुल उपयुक्त और ठीक बैठे—अच्छी तरह फबे। इसमें कोमल, मधुर और शिष्टतापूर्ण हास्य या **परिहास** की इतनी अधिकता होती है कि उसके सामने व्यंग्य या कटाक्षवाला तत्त्व बिल्कुल दब जाता है। इसी आधार पर हमने इसे व्यंग्य और कटाक्षवाली माला में न रखकर **हंसी** और **परिहास** की माला में स्थान दिया है। इसकी दूसरी विशेषता यह है कि इसमें प्रायः उपमावाला तत्त्व भी वर्तमान रहता है जो इसमें नई जान डाल देता है।* इस कोटि के अन्यान्य शब्दों के लिए दे० (1) 'उपहास, खिल्ली,

---

* बस्ती जिले में एक बहुत बड़े ज़मींदार और रईस थे जो बहुत अधिक मोटे भी थे और कुरूप तथा सांवले भी। उनके दरबार में अब्दुल नाम का एक मसखरा रहता था जो **फबती** कसने में कमाल करता था। एक बार रईस साहब अपने दरबार में मसनद-तकिया लगाए खूब शान से बैठे गप्पें लड़ा रहे थे, और जी-हुज़ूर दरबारियों से खूब चुहलें हो रही थीं। रईस साहब का बहुत बड़ा पेचवान उनके पीछे रखा था, जिसकी काली लम्बी सटक उनके हाथ में थी और जिससे वे बीच-बीच में तम्बाकू के एक-दो कश लेते चलते थे। कहीं उन्हें कमबख्ती ने जो आ घेरा तो कह बैठे- अब्दुल मियां, आज हम पर भी कोई फबती हो। अब्दुल मियां ने बहुत अदब से सिर झुकाकर कहा - हुज़ूर, गुस्ताखी माफ़ हो; हू-ब-हू यही मालूम होता है कि लंगूर अपनी दुम चाट रहा है ! दरबार में ज़ोरों से ठहाका लगा और उसी दिन से रईस साहब ने अपने ऊपर फबती न कसवाने की कसम सी खा ली। शहर भर में जो 'लंगूर' मशहूर हो गए, वह अलग।

ठट्ठा और ठठोली' और (2) 'व्यंग्य, कटाक्ष, चुटकी, ताना और बोली'। ××

हकूमत- *स्त्री०* (अ० हुकूमत) = शासन; दे० 'शासन, प्रशासन और अनुशासन'।

253. हठ — टेक — ज़िद

हठ	टेक	ज़िद
Obstinacy	Sticking	Obstinacy
Stubbornness		Doggedness

इस वर्ग के शब्द ऐसी स्थितियों के वाचक हैं जिनमें कोई बात इस प्रकार बहुत ही आग्रह और दृढ़तापूर्वक कही जाती है कि यह मान ही ली जानी चाहिए।

'हठ' *पु०* (सं०) के आरम्भिक अर्थ हैं–बल का प्रयोग, हिंसा आदि।* परन्तु प्रस्तुत प्रसंग में और अपने बहु-प्रचलित अर्थ में यह ऐसे आग्रह का सूचक होता है जिसमें दृढ़ता प्रायः अनुचित सीमा तक पहुंची हुई होती है। भाव यह होता है कि हम जो कुछ कहते हैं वह अवश्य होना चाहिए। हम इसमें न तो किसी प्रकार दबेंगे और न पीछे हटेंगे। चाहे जो कुछ हो, हमारी बात अवश्य मानी जानी और पूरी होनी चाहिए। यह मुख्यतः दृढ़-निश्चय के भाव से युक्त है; जैसे–(क) मन **हठ** परा न मान सिखावा। (ख) **हठ** कीन्हों पिया सों करि के पछतानी। (ग) तिरिया तेल हमीर **हठ**, चढ़ै न दूजी बार।

'टेक' *स्त्री०* (हिं० टिकना और टेकना) का भाववाचक संज्ञा रूप है। टिकना का मुख्य अर्थ है–किसी आधार या स्थान पर दृढ़तापूर्वक अड़, ठहर या रुककर इस प्रकार स्थिर होना कि जल्दी आगे बढ़ना, इधर-उधर होना या हटना सहसा सम्भव न हो। यह भी है तो हठ का एक प्रकार या रूप ही; पर **टेक** बहुधा किसी अच्छी अथवा एक ही बात के लिए होती है; हठ की तरह प्रकृति या स्वभाव के अंग के रूप में नहीं होती; जैसे- (क) अबकी **टेक** हमारी, लाज रखो गिरधारी; और (ख) मांगिबो भलो न बाप सों, जो सत-गुरु राखैं **टेक**। इन उदाहरणों में किसी एक ही और अच्छी बात के लिए दृढ़तापूर्ण आग्रह है।

'ज़िद' *स्त्री०* (अ० ज़िद्द) के वि० रूप में अर्थ होते हैं–उल्टा, विपरीत, विरुद्ध आदि। संज्ञा रूप में इसका एक और अर्थ होता है–मन में होनेवाला दुर्भाव या द्वेष। परन्तु प्रस्तुत प्रसंग में और अपने बहु-प्रचलित अर्थ में यह हठ का पर्याय ही माना जाता है। दोनों में प्रयोग की दृष्टि से कुछ सूक्ष्म अन्तर है। **ज़िद** में कुछ अनौचित्य की भी रंगत होती है और यह बहुधा दूषित और विकृत प्रवृत्ति या रुचि के भाव से युक्त होती है; जैसे- (क) अब यह लड़का बात-बात में **ज़िद** करने लगा है; और (ख) तुम्हारी यह **ज़िद** लोगों को अच्छी नहीं मालूम होती। इसके सिवा **ज़िद** में न तो विशेष तर्क-संगति ही होती

---

* इसी आधार पर हठात् का पहला अर्थ होता है–ज़बरदस्ती या बलपूर्वक। आगे चलकर इसका दूसरा अर्थ अचानक या सहसा और तीसरा अर्थ हठपूर्वक अर्थात् बहुत अधिक आग्रह तथा दृढ़तापूर्वक भी होता है।

है और न समझदारी ही। हमारे यहां कहा गया है–जो हठ राखै धरम की, ताहि रखै करतार। यहां हठ के स्थान पर ज़िद का प्रयोग नहीं हो सकता। इस कोटि के और शब्दों के लिए दे० –'अनुरोध और आग्रह'।

××

हड़कंप- *पु०* (हिं० हाड़+कांपना) दे० 'हलचल, खलबली, सनसनी और हड़कंप'।

254. हत्या — Killing, Murder
मारण — Killing
वध — Slaying, Slaughter Butchery
संहार — Destruction, Carnage Massacre
हनन — Slaying

इस वर्ग के शब्द ऐसी क्रियाओं के वाचक हैं जिनके फलस्वरूप प्राणियों अथवा मनुष्यों के जीवन का अन्त हो जाता और उन्हें मृत्यु के मुंह में जाना या पहुंचना पड़ता है।

'हत्या' *स्त्री०* (सं० हन्) धातु से व्युत्पन्न है जिसका मुख्य अर्थ है–आघात या प्रहार करना अर्थात् चोट पहुंचाना या मारना। परन्तु **हत्या** मुख्यतः ऐसे आघात या प्रहार की सूचक है जिससे किसी के प्राण निकल जाएं और वह मर जाए। हमारे यहां **हत्या** के दो मुख्य प्रकार माने गए हैं–एक तो वह जो हमारे अनजान में और हमारे किसी कार्य या व्यवहार से इस रूप में हो जाती है कि या तो वह हमें दिखाई ही नहीं देती या हमें उसका पता ही नहीं चलने पाता। हमारे यहां शास्त्रों में अनेक ऐसी जीव-हत्याओं के उल्लेख हैं जो लोगों से अनजान में भी हो जाती हैं। हमारे चलने-फिरने से ज़मीन पर दबकर जो छोटे-मोटे जीव मर जाते हैं या आग सुलगाने पर लकड़ियों के अन्दर रहनेवाले जो कीड़े-मकोड़े मर जाते हैं, उनकी गणना भी जीवहत्या में होती है। अचानक और केवल संयोगवश हाथ से बच्चे के गिर जाने पर उसकी जो मृत्यु हो जाती है, वह भी बाल-हत्या कहलाती है। **हत्या** का दूसरा प्रकार वह है जो इच्छापूर्वक और जान-बूझकर किया जाता है; और जिसमें अस्त्र-शस्त्र चलाकर, विष-पान आदि कराकर अथवा शारीरिक बल का प्रयोग करके किसी के प्राण लिए जाते हैं; क्योंकि हत्याकारी प्रायः गुप्त रूप से या लुक-छिपकर **हत्या** करते और फिर कहीं दूर निकल या भाग जाते हैं। ऐसी **हत्या** को खून (फ़ा०) भी कहते हैं। इसके अतिरिक्त विधिक तथा सामाजिक क्षेत्रों में और भी कई प्रकार की हत्याएं प्रसिद्ध हैं; जैसे

(1) जन-हत्या (Genocide) अर्थात् किसी जाति या देश के सभी लोगों की वह हत्या जो उनका अंत या समाप्ति करने के लिए की जाती है।

(2) नर-हत्या (Homicide) अर्थात् किसी पुरुष या स्त्री की **हत्या**।

(3) पितृ-हत्या (Patricide) अर्थात् पिता की **हत्या**।

(4) भ्रातृ-हत्या (Fratricide) अर्थात् अपने भाई या भाइयों की **हत्या**।

(5) मातृ-हत्या (Matricide) अर्थात् अपनी जननी या माता की **हत्या**।

(6) राज-हत्या (Regicide) अर्थात् राजा की **हत्या**।

इसके सिवा कुछ लोग सांसारिक कष्टों या झंझटों से ऊबकर अथवा संसार से विरक्त होकर अस्त्र-शस्त्र से अपने किसी मर्म स्थान पर भीषण आघात करके, किसी बहुत ऊंचे स्थान से कूदकर, जलाशय आदि में डूबकर अथवा विष-पान करके अपने प्राण स्वयं दे देते या अपनी **हत्या** आप ही कर डालते हैं। इसे आत्म-हत्या (Suicide) कहते हैं। इसके सिवा कुछ लोग चमड़े, मांस, सींग आदि के लोभ से गौएं, बैल, बकरियां आदि मार डालते हैं, उसकी गिनती भी **हत्या** में ही होती है।

नैतिक और सामाजिक दृष्टियों से **हत्या** बहुत ही गर्हित और निंदनीय समझी जाती है। विधिक क्षेत्र में इसकी गिनती दंडनीय अपराधों में होती है; और धार्मिक दृष्टि से हमारे धर्मशास्त्रों में इसे पातक या ऐसा बहुत बड़ा पाप माना गया है जो हत्यारे को नरक में गिराता या डालता है। धर्म-शास्त्रों में इसके फल-भोग से छुटकारा पाने के लिए अनेक प्रकार के प्रायश्चितों का भी विधान है। कुछ स्थानों में अंधविश्वासी और मूढ़ लोग हत्या-हरण देवताओं आदि की भी कल्पना कर लेते हैं; और यह मानते हैं कि उनके दर्शन, पूजन आदि से हत्या के पाप धुल जाते हैं। परन्तु अफ्रीका आदि देशों के कुछ भागों में ऐसे असभ्य और आदिम जातियों के लोग भी हैं जो नर-हत्या को बहुत अच्छा और वीरतापूर्ण कार्य समझते हैं। युद्ध-क्षेत्र में शत्रुओं की **हत्या** करना भी कुछ धर्मों में बहुत ही पुण्य का और प्रशंसनीय कार्य समझा जाता है।

कुछ अवस्थाओं में **हत्या** का प्रयोग लाक्षणिक रूप में अमूर्त तत्त्वों अर्थात् बातों या विचारों के सम्बन्ध में भी होता है; जैसे- आकांक्षाओं या आशाओं की **हत्या**; न्याय, सत्य या सिद्धांत की **हत्या**। ऐसे अवसरों पर इसका अर्थ होता है–कोई स्वार्थ सिद्ध करने के लिए ऐसी बातों की बहुत ही बुरी तरह से उपेक्षा करना और उन्हें पैरों तले कुचलकर या रौंदकर उनका अस्तित्व ही न रहने देना। कुछ अवसरों पर यह भी कहा जाता है–इस दुर्घटना ने उनके राजनीतिक (या साहित्यिक) जीवन की मानो **हत्या** ही कर डाली थी। आशय यही होता है कि इससे उनके राजनीतिक (या साहित्यिक) जीवन का बहुत ही बुरी तरह से और सदा के लिए अन्त हो गया; इसके बाद वे राजनीतिक या साहित्यिक क्षेत्र में या तो कभी आए ही नहीं या आने के योग्य ही नहीं रह गए। कुछ अवस्थाओं में इसके स्थान पर लोग **'हनन'** का भी प्रयोग करते या कर सकते हैं; परन्तु ऐसा प्रयोग देखने में बहुत कम आता है।

'मारण' *पु०* (सं०) का साधारण अर्थ है किसी को मार डालना अथवा किसी प्रकार उसके प्राण ले लेना। यह भी हनन की तरह सदा जान-बूझकर और किसी विशिष्ट उद्देश्य से किया जाता है। हनन में प्रत्यक्ष रूप से बलप्रयोग करने का जो भाव है वह तो मारण में है ही, पर इसके सिवा एक और भाव भी इसमें है। हमारे यहां अनेक ऐसे तान्त्रिक उपचारों- मारण, मोहन, उच्चाटन, वशीकरण आदि–का विधान है जिनमें प्रत्यक्ष

रूप से उस व्यक्ति के साथ कोई बल-प्रयोग नहीं किया जाता, जिस पर ऐसे प्रयोग किए जाते हैं। मारण के तान्त्रिक प्रयोग लोग सदा अपने घर बैठकर, गुप्त रूप से और चुपचाप पूजा-पाठ और मंत्र-बल के द्वारा ही करते हैं। मारण का प्रयोग प्रायः परम शत्रुओं के लिए और प्रतिशोध की भावना से किया जाता है। इसके सिवा हम गुप्त रूप से किसी को कुछ दिनों तक निरन्तर कोई मन्द विष देकर भी उसके प्राण ले सकते हैं। इसकी गिनती भी मारण में होती है।

'वध' *पु०* (सं०) के आरम्भिक अर्थ भी आघात या प्रहार करना, मार डालना आदि हैं। परन्तु प्रयोग की दृष्टि से इसमें हत्या आदि की अपेक्षा कुछ विशिष्ट बातें हैं। वध कुछ तो आधिकारिक रूप से किया जाता है और कुछ बल या शौर्य के प्रदर्शन का भी सूचक होता है। प्राचीन काल में न्यायाधीशों या राजाओं की आज्ञा से बहुत बड़े अपराधियों को वध का ही दण्ड दिया जाता था (हत्या, मारण आदि का नहीं)। श्रीकृष्ण ने भी कंस, पूतना और शिशुपाल का वध ही किया था, हत्या नहीं। युद्धक्षेत्र में बहुत बड़े भील और योद्धा शत्रुओं के साधारण सैनिकों आदि का वध ही करते थे। कुछ अवस्थाओं में इसमें क्रूरता और निर्दयता की भावना भी सम्मिलित रहती है। कसाई या बूचड़ गौओं, बकरियों आदि का वध ही करते हैं। हमारे यहां क्रौंच- वध की कथा प्रसिद्ध ही है; क्योंकि बिना क्रूर या निर्दय हुए कोई नित्य ऐसा ही कार्य नहीं कर सकता। गो-वध हमारे यहां बहुत बड़ा पाप समझा जाता है; और आज-कल भी कुछ लोग कानून या विधान बनवाकर इसे दण्डनीय अपराध का रूप देना चाहते हैं। कुछ लोग इस गो-वध की जगह गो-हत्या का भी प्रयोग करते हैं जो वस्तुतः ठीक नहीं है। बहुत दिनों से हमारे यहां गो-हत्या का प्रयोग ऐसे ही अवसरों पर होता आया है जिनमें किसी प्रकार की असावधानी, या प्रमाद के कारण किसी के हाथों गौ के प्राण चले जाते हैं। हमारे यहां देहातों में जब किसी के द्वारा बिल्कुल अनजान में ऐसी दुर्घटना हो जाती है तब कहा जाता है—इसे गो-हत्या लगी है जिसके लिए अमुक प्रायश्चित करना चाहिए। ऐसे अवसरों पर गो-हत्या की जगह गो-वध का प्रयोग न तो होता ही है, न हो ही सकता है।

'वध' का प्रयोग मुख्यतः ऐसे प्रसंगों में होता है, जिनमें अस्त्र-शस्त्र आदि का उपयोग होता है और मारा जानेवाला व्यक्ति अथवा जीव निर्बल और निरीह होने के कारण अपनी रक्षा करने में असमर्थ होता है।

'संहार' *पु०* (सं०) का मूल अर्थ है—कई तरह की या बहुत सी चीजें एक साथ मिलाकर रखना; विशेषतः ठीक क्रम या ढंग से अथवा सजा-संवारकर रखना; जैसे, वेणी-संहार। इसके अतिरिक्त इसके और भी अनेक अर्थ हैं, जिनमें से एक अर्थ बहुत बड़ा या भीषण विनाश भी है, जैसे- शिव इस सृष्टि का संहार करनेवाले देवता माने गये हैं। इसी आधार पर प्रस्तुत प्रसंग में संहार का अर्थ होता है—बहुत से लोगों का एक साथ होनेवाला विनाश। बहुत दिनों से इसका प्रयोग ऐसे वध या हत्या के सम्बन्ध में होता आया है, जिसमें बहुत से लोग मारनेवाले भी हों और बहुत से लोग मारे जानेवाले भी; जैसे- (क) 'कलिंग युद्ध के बाद सम्राट् अशोक ने संहार का जो भीषण रूप देखा था उससे उनके मन में हिंसा के प्रति घोर ग्लानि उत्पन्न हुई थी'; और (ख) 'रण-क्षेत्र में

पृथ्वीराज के सैनिकों ने शत्रु-सेना का संहार किया था'। संहार का प्रयोग मुख्यतः ऐसे ही प्रसंगों में होता है, जिनमें जगह-जगह सैकड़ों और हज़ारों घायलों और लाशों के ढेर लगे हुए दिखाई देते हों और जिनसे बहुत अधिक और भीषण जन-नाश का पता चलता हो।

'हनन' *पु०* (सं०) भी उसी हन् धातु से व्युत्पन्न है जिससे **'हत्या'** शब्द बना है। परन्तु **हत्या** और **हनन** में कुछ महत्वपूर्ण अन्तर हैं। पहली बात तो यह है कि **हनन** सदा इच्छापूर्वक, जान-बूझकर, और किसी के प्राण लेने के अभिप्राय से ही किया जाता है। इसके सिवा **हनन** का प्रयोग उसी दशा में होता है जब वह अस्त्र-शस्त्र आदि की सहायता से और बल-पूर्वक किया जाता है। यह किसी एक व्यक्ति का भी हो सकता है और बहुत से लोगों या समूह का भी; यथा- बानासुर की सैन को **हनन** लगे भगवान। हमारे यहां कुछ स्थानों में कहावत भी प्रचलित है - हनते के हनिए, दोष पाप नहीं गनिए।

हथियार- *पु०* (हिं० हाथ) दे० 'अस्त्र, आयुध और शस्त्र'।

हनन- *पु०* (सं०) दे० 'हत्या, मारण, वध, संहार और हनन'।

हमदर्दी- *स्त्री०* (फ़ा०) दे० 'संवेदना और सहानुभूति'।

हमला- *पु०* (अ० हम्लः) दे० 'अभियान, आक्रमण, धावा, लाम और लामबन्दी'।

255. हमी हमेव

इस वर्ग के शब्द हैं तो वस्तुतः अहंभाव या अहंमन्यता के ही वाचक, फिर भी दोनों में कुछ सूक्ष्म अन्तर है। संस्कृत के उक्त दोनों शब्दों का प्रयोग तो मुख्यतः शिक्षित समाज और साहित्यिक क्षेत्र में होता है, परन्तु **'हमी'** और **'हमेव'** साधारण बोलचाल के और प्रायः स्थानिक शब्द हैं।

'हमी' हिन्दी 'हम' का भाववाचक संज्ञा रूप है और इसका शब्दार्थ है **'हम-पन'**। परन्तु इसका प्रयोग ऐसे अवसरों पर होता है जब कोई व्यक्ति अपने सम्बन्ध में यह समझता और सोचता है कि जो कुछ है, वह हम ही हैं; अथवा हम ही सबसे बड़े हैं।

'हमेव' संस्कृत 'अहमेव' (अहं+एव) का ही हिन्दी रूप है। यह भी अर्थ की दृष्टि से बहुत-कुछ वही है जो 'अहंमन्यता' है; परन्तु बोल-चाल में यह **'हमी'** का पर्याय ही माना जाता है। अर्थ के विचार से यह अहंमन्यता और घमंड से कुछ हल्का पड़ता है अथवा हल्का समझ करके ही बोल-चाल में प्रयुक्त होता है।

इस वर्ग के अन्यान्य शब्दों के लिए देखें-(1) 'अहं, अहंकार, अहन्ता, अहंभाव और अहंमन्यता', और (2) 'अभिमान, गर्व, घमंड और शेखी'। ××

हमेव- *पु०* (सं०) अहमेव; दे० 'हमी और हमेव'।

हरजाना- *पु०* (फ़ा०) पूर्ति, आपूर्ति और प्रतिपूर्ति।

256. हरण — Taking away

अपहरण — Stealing, Robbery, Abduction

आहरण — Kidnaping

परिहरण — Relieving, Shunning

परिहार — Refutation

इस वर्ग के शब्द किसी की कोई चीज़ या बात उससे अलग या दूर करने अथवा हटाने के वाचक हैं।

'हरण' *पु०* (सं०) का आरंभिक और मूल अर्थ है- दूर करना या हटाना। इस अर्थ में कोई खास रंगत नहीं है; और यह किसी प्रकार के विशिष्ट उद्देश्य, भाव या विचार से युक्त नहीं है। इसका प्रयोग अच्छे कामों या बातों के प्रसंग में भी हो सकता है और दूषित अथवा बुरे कामों और बातों के सम्बन्ध में भी। यही कारण है कि इसका प्रयोग अनेक अवसरों पर इस वर्ग के कुछ और शब्दों के स्थान पर भी हो सकता है और प्रायः होता ही है। हम किसी का कष्ट, चिन्ता या दुःख भी **हरण** कर सकते हैं; और किसी की धन-सम्पत्ति आदि का भी। आशय यह कि **हरण** अच्छे उद्देश्य से भी हो सकता है और बुरे उद्देश्य से भी। ईश्वर या देवी-देवताओं के विशेषण विपत्ति-हरण, संकट-हरण आदि प्रसिद्ध ही हैं। इसी प्रकार दुष्ट उद्देश्य अथवा स्वार्थ सिद्ध करने के प्रसंगों में भी इसके अनेक प्रयोग प्रसिद्ध हैं; जैसे- चीर-हरण, रुक्मिणी-हरण, सीता-हरण आदि। कुछ अवस्थाओं में लाक्षणिक रूप में भी इसका प्रयोग होता है, जैसे- मद-हरण, मन-हरण आदि। कभी-कभी कुछ साधारण कवि और लेखक किसी प्रसिद्ध और बड़े कवि या लेखक के सुन्दर भाव चुराकर उन्हें अपनी कृति के रूप में उपस्थित करते और उसका श्रेय स्वयं लेने का प्रयत्न करते हैं। ऐसे कामों या बातों की गिनती भी **'हरण'** के अन्तर्गत ही होती है। साहित्यिक क्षेत्र में ऐसी साहित्यिक चोरी को 'भाव-**हरण**' (Plagiarism) कहते हैं, जैसे- इनकी कविताओं में आपको कालिदास के भावहरण के अनेक उदाहरण मिलेंगे। हिन्दी में इससे हरना क्रिया बनती है। यथा-

मिलत एक दारुन दुख देहीं।
बिछुरत एक प्रान हर लेहीं।। –तुलसी

'अपहरण' *पु०* (सं०) **हरण** के पहले 'अप' उपसर्ग लगने से बना है; जिसका अर्थ है–दूषित, निन्दनीय या बुरा। किसी दूषित, निन्दनीय अथवा गर्हित उद्देश्य से किया जानेवाला **हरण** ही **अपहरण** है। इसमें किसी की आंख बचाकर या चोरी से कुछ करने का भाव भी सम्मिलित है; क्योंकि दूषित और निन्दनीय कार्य प्रायः इसी रूप में होते हैं। इसमें चुराना, छीनना, डाका डालना, लूटना आदि के भाव भी सम्मिलत हैं; यथा-

जो ज्ञानिन कर चित अपहरई।
बरियाई विमोह बस करई। –तुलसी

परन्तु आज-कल विधिक क्षेत्र में इसका प्रयोग एक विशिष्ट अर्थ में होने लगा है। कभी-कभी कुछ लोग छोटे बच्चों को धोखा देकर या बहकाकर कहीं इधर-उधर ले जाते हैं और उन्हें या तो बेच देते हैं या उनसे भीख आदि मंगवाते हैं। इसके सिवा लड़कियों को या तो दुराचार करने में प्रवृत्त करते हैं अथवा अपने साथ या किसी और के साथ उसका विवाह कर देते हैं। ऐसे कार्यों का उद्देश्य धन कमाना भी हो सकता है और दूषित स्वार्थ सिद्ध करना भी। इसी प्रकार का **हरण** विधिक क्षेत्र में **अपहरण** कहलाता है।

'आहरण' *पु०* (सं०) भी है तो बहुत-कुछ वही, जो **अपहरण** है; फिर भी दोनों में कुछ सूक्ष्म अन्तर है। **आहरण** का आरम्भिक अर्थ है—किसी को पकड़ रखना या पकड़ लेना। इसीलिए यह छल या धोखे के भाव से तो रहित है; परंतु इसमें डराने, धमकाने और बल या हिंसा के प्रयोग का भाव प्रधान है। **अपहरण** तो उस व्यक्ति की अनिच्छा से भी और सहमति से भी हो सकता है जिसे भगाया या ले जाया जाता है, पर **आहरण** बहुधा उस व्यक्ति की अनिच्छा और असहमति से ही होता है। प्रायः लोग लड़कों, बच्चों या वयस्क व्यक्तियों को ज़बरदस्ती पकड़कर ले जाते और कहीं छिपाकर रख छोड़ते हैं और तब उनके अभिभावकों, सम्बन्धियों, संरक्षकों आदि से कुछ रुपए वसूल करके अथवा अपनी कोई शर्त पूरी कराके तब उन्हें छोड़ते हैं। इसी प्रकार का **हरण** विधिक क्षेत्र में **आहरण** होता है। इसे हम ओल (Hostage) का एक प्रकार भी कह सकते हैं।* यह ओल सं० ओढ़ (= पास लाया हुआ) से व्युत्पन्न जान पड़ता है, परन्तु ओल और **अपहरण** में एक सूक्ष्म अन्तर है। **अपहरण** का प्रयोग तो तब होता है जब कुछ बलवान् लोग किसी व्यक्ति को उठा या पकड़कर ले जाते हैं। परन्तु ओल में इससे भिन्न एक और स्थिति भी होती है। मध्य युग में जब शत्रु विजयी होकर कोई बहुत बड़ी रकम मांगता या ऐसी ही और कोई शर्त सामने रखता था जिसका पालन विजित पक्ष तत्काल नहीं कर सकता था, तब वह अपने किसी सगे-सम्बन्धी या बड़े अधिकारी को स्वयं विवश होकर विजेता के सुपुर्द कर देता था और कहता था जब आपकी मांग या शर्त पूरी कर दी जाएगी तब हम ओल में रखे हुए आदमी को छुड़ा लेंगे। ओल के इस पक्ष की गिनती **आहरण** में नहीं हो सकती; क्योंकि ऐसा काम स्वयं अपनी इच्छा से और विवश होकर किया जाता था।

'परिहरण' *पु०* (सं०) का मूल अर्थ है—कोई चीज़ लेकर या यों ही इधर-उधर अथवा चारों ओर घूमना। परन्तु इसका यह अर्थ तो प्रायः छूट सा गया है; और इसके स्थान पर एक ऐसा नया अर्थ लग गया है जिसमें किसी को कष्ट, चिंता आदि से मुक्त करने अथवा उसके मन पर से किसी प्रकार का भार कम करने या हटाने का भाव मुख्य है; जैसे- किसी का कष्ट, रोग या संकट परिहरना; अर्थात् ऐसी बातों से उसे छुड़ाना या

---

* साधारणतः Abduction और Kidnaping दोनों के लिए हिन्दी में प्रायः अपहरण का प्रयोग होता आया है, परन्तु इन दोनों के अर्थों के सूक्ष्म भेद का ध्यान रखते हुए मैंने Abduction के लिए अपहरण और Kidnaping के लिए **आहरण** रखना ही उचित समझा है। ऐसा करने का मुख्य कारण 'अप' और 'आ' उपसर्गों की विवक्षाओं का मूल भाव ही है। ऊपर अपहरण और आहरण की जो व्याख्या की गई है उसी से मेरे आधार की पुष्टि हो जाती है।

मुक्त करना । इसके सिवा इस शब्द का प्रयोग हमारे यहां कोई चीज़ या बात छोड़ने अथवा उसका परित्याग करने के अर्थ में भी होता आया है, यथा-

परिहरि सोच रहो तुम सोई ।
बिनु औषधहि व्याधि विधि खोई ।। –तुलसी

'परिहार' *पु०* (सं०) को हम परिहरण का एक दूसरा रूप ही कह सकते हैं; परन्तु इसका अर्थ और आशय परिहरण के अर्थ और आशय से बहुत दूर जा पड़े हैं । **परिहार** में पहला मुख्य आशय है - ध्यानपूर्वक और निरन्तर किसी बात से दूर रहना या बचना अथवा किसी को दूर रखना या बचाना । इसी से मिलता-जुलता और भाव भी इसमें सम्मिलित है और वह है–खंडन, विरोध, सुधार आदि के द्वारा किसी त्रुटि, दोष या विकार का अन्त अथवा निराकरण करना; जैसे- किसी कु-प्रभाव का **परिहार**, पाप का **परिहार** आदि । इसी से मिलता-जुलता एक और आशय या भाव इसमें आ लगा है । तर्क आदि के द्वारा किसी के मत या विचार का खंडन करते हुए उसे भ्रामक या स-दोष सिद्ध करना भी **परिहार** कहलाता है; जैसे- उनकी सार-गर्भित आलोचना ने बहुतेरे इतिहासकारों (या वैज्ञानिकों) की भूलों का **परिहार** कर दिया है । ××

257. हलचल — Commotion; खलबली — Turmoil; तहलका; सनसनी — Sensation, Consternation; हड़कम्प — Panic

इस वर्ग के शब्द जन-समूह की ऐसी स्थितियों के वाचक हैं जिनमें या तो किसी भावी कार्य या घटना के विचार से किसी प्रकार का आंदोलन आरम्भ होता है और गतिविधियां बढ़ जाती हैं अथवा किसी भय या संकट की आशंका से मन बहुत ही चिंतित, विकल हो जाता है ।

'हलचल' *स्त्री०* (हिं० हिलना+चलना) जन-समूह की वह स्थिति है जिसमें किसी आपातिक, आवश्यक अथवा आसन्न कार्य या घटना के सम्बन्ध में लोग असाधारण रूप से और बहुत-कुछ तत्परतापूर्वक इधर-उधर आने-जाने लगते अथवा कार्य में आवश्यकता से अधिक व्यस्त दिखाई देते हैं । अपने आरम्भिक अर्थ में यह ऐसी चहल-पहल की सूचक है जिसके साथ कोई विशिष्ट उद्देश्य या लक्ष्य भी लगा हो; जैसे-जब बारात दरवाज़े के पास आ पहुंचती है अथवा किसी सम्मेलन का आरंभ होने से पहले विशिष्ट अतिथियों के आने का समय होता है तब घरवालों अथवा प्रबन्धकों में **हलचल** मच जाती है । अपने परवर्ती और विस्तृत अर्थ में कभी-कभी इसका प्रयोग कोई साधारण आपत्ति, भय या संकट सामने दिखाई देने पर भी होनेवाली आवा-जाही या गति-विधि बहुत बढ़ जाने के अवसरों पर भी होता है; जैसे- गांव के आस-पास बाघ दिखाई देने पर लोगों में

हलचल मच जाती है।

'खलबली' *स्त्री०* (अनुकरणवाची) को हम **हलचल** का कुछ आगे बढ़ा हुआ रूप कह सकते हैं। अन्तर इतना ही है कि **हलचल** में कार्य व्यस्त होने का भाव प्रधान है; और **खलबली** में मानसिक क्षोभ या चिंता का भाव विशेष रूप से युक्त है। इसमें मुख्य भाव अस्त-व्यस्त होने का है। **खलबली** प्रायः किसी प्रकार का छोटा-मोटा आतंक फैलने या भय की स्थिति उत्पन्न होने पर ही मचती है। नदी में कहीं से मगर आ जाने पर मछलियों में, जंगल में कहीं से शेर आ जाने पर गौओं, बकरियों और भैंसों में; गुण्डों या सांड़ों के लड़ने पर गली या मुहल्ले के लोगों में; तथा घर में सांप दिखाई पड़ने पर घर के लोगों में **खलबली** मच जाती है और वे डरकर इधर-उधर भागने-दौड़ने लगते हैं। आशय यही होता है कि हमारी व्यवस्था तथा शांति में चिंतित करनेवाली कोई बात आकर विघ्न डालती है और हम अपनी रक्षा का प्रयत्न करने लगते हैं। कभी-कभी **खलबली** का प्रयोग मन की उत्सुकतापूर्ण विकलता सूचित करने के लिए भी होता है; जैसे- 'इसका रहस्य जानने के लिए हमारे मन में **खलबली** हो रही है।'

'सनसनी' *स्त्री०* (अनु०) मूलतः हमारी वह शारीरिक स्थिति है जिसमें आश्चर्य, भय आदि के कारण हमें ऐसा जान पड़ता है कि हमारे संवेदन सूत्रों में रक्त का संचार कुछ तीव्रतापूर्वक और सन-सन करता हुआ होने लगा है। परन्तु अपने परवर्ती और बहु-प्रचलित अर्थ में इससे हमारी वह उत्तेजित मानसिक स्थिति सूचित होती है जो किसी आकस्मिक और बहुत ही विलक्षण घटना घटित होने पर उत्पन्न होती और हमारे मनोवेगों को शुब्ध करती है। ऐसी घटना दूर की भी हो सकती है और पास की भी; भले ही प्रत्यक्ष रूप से हमारा उससे कोई विशेष सम्बन्ध न हो; जैसे–किसी बहुत बड़े राजनीतिक नेता की हत्या के कारण आस-पास के प्रदेशों में और कभी-कभी दूरस्थ देशों में भी **सनसनी** फैल जाती है। कभी-कभी बड़े-बड़े राजनीतिज्ञ अथवा व्यापारी भी अपना कोई गूढ़ उद्देश्य सिद्ध करने के लिए कोई ऐसा विलक्षण कार्य कर डालते हैं, जिससे दूर-दूर तक के देशों में **सनसनी** फैल जाती है। उदाहरणार्थ, जब दूसरे महायुद्ध की समाप्ति से कुछ पहले अमेरिका ने जापान के दो नगरों पर अणु बम गिराए थे अथवा इधर हाल में (सन् 1938) योरुप के सराफे में सोने की खरीद-बिक्री असाधारण रूप से बढ़ गई थी तब सारे संसार में **सनसनी** फैल गई थी।

'हड़कंप' *पु०* (हिं० हाड़=हड्डी+कंप, हिं० कांपना) का शब्दार्थ है ऐसी स्थिति जिसमें आदमी की कौन कहे, उसकी हड्डियां तक कांपने लगें। परन्तु व्यावहारिक रूप में यह ऐसी भयावह और भीषण स्थिति का सूचक है जो मनुष्य की मानसिक और शारीरिक शक्तियों को निष्क्रिय और स्तब्ध कर देती है। इसे हम **'खलबली'** और **'सनसनी'** का बहुत ही आगे बढ़ा हुआ उग्र या तीव्र रूप कह सकते हैं। हड़कंप में भय और विचलता का भाव मानो पराकाष्ठा तक पहुंच जाता है। यदि अचानक नगर में बहुत बड़ा दंगा हो जाय, जगह-जगह छुरेबाज़ी होने लगे, दुकानें और मकान जलाए जाएं और लूटे जाएं और उपद्रवियों को तितर-बितर करने के लिए गोलियां चलाई जाएं या सैनिकों का पहरा हो जाय तो नगर में हड़कंप मच जायगा।

'तहलका' *पु०* (अ० तहल्कः=मृत्यु, हत्या) भी है तो बहुत-कुछ वही जो 'हड़कंप' है, फिर भी प्रयोग के विचार से मुझे इन दोनों में कुछ सूक्ष्म अन्तर दिखाई देता है। एक तो यह हड़कंप से कुछ हल्का प्रतीत होता है और दूसरे इसमें **सनसनी** कुछ अधिक होती है। यदि घर में किसी कमाऊ या होनहार नव-युवक की अचानक मृत्यु हो जाए तो सारे घर और मुहल्ले में **तहलका** मच जाता है और यदि किसी बड़े आदमी की हत्या के अभियोग में मुहल्ले या शहर के बहुत से लोग पकड़े जाने लगें या गांव में कहीं से शेर आ जाए तो सब लोगों में **तहलका** मच जाता है। इसमें लोगों पर आतंक भी छा जाता है और उनमें इसकी चर्चा भी कुछ दिनों तक बराबर होती रहती है। ××

हलफ़- *पु०* (अ०) दे० 'संकल्प, निश्चय, प्रतिज्ञा और शपथ'।

हस्तलेख- *पु०* (सं०) दे० 'पांडुलेख और हस्तलेख'।

हाल- *पु०* (अ०) दे० 'अवस्था, दशा और स्थिति'।

हालत- *स्त्री०* (अ०) दे० 'अवस्था, दशा और स्थिति'।

हिचक- *स्त्री०* (सं०) दे० 'असमंजस, उभय-संकट, दुविधा और हिचक'।

हिफ़ाजत- *स्त्री०* (अ०)=रक्षा; दे० 'रक्षा, परिरक्षा, प्रतिरक्षा, संरक्षा और सुरक्षा।

हीला- *पु०* (अ० हीलऽ) दे० 'व्याज, मिस, बहाना और हीला'।

हीला-हवाला- *पु०* दे० 'व्याज, मिस, बहाना और हीला'।

हुक्म- *पु०* (अ०) दे० 'आज्ञा, आदेश, निदेश और निर्देश'।

हेतु- *पु०* (सं०) दे० 'कारण और हेतु'।

हैरत- *स्त्री०* (अ०)=विस्मय; दे० 'आश्चर्य, अचंभा, विस्मय और कुतूहल'।

परिशिष्ट

[हिन्दी में बहुत से ऐसे बहुप्रचलित शब्द हैं जो अपना विशेष अर्थ और महत्व रखते हैं। ऐसे शब्दों के निहित अर्थों और विभिन्न प्रयोगों का विवेचन और स्पष्टीकरण स्वतंत्र रूप से ही करना उचित है। इस परिशिष्ट में ऐसे ही कुछ शब्दों के अर्थों की चर्चा है।]

1. अभी

हिन्दी का यह शब्द देखने में है तो बहुत ही छोटा, निरीह और साधारण और इसका व्यवहार नित्य सभी लोग दिन में बीसों-पचीसों बार करते हैं। यह 'अब' और 'ही' के योग से बना है, और इसका सीधा-सादा अर्थ है– इसी समय। इसी आधार पर 'हिन्दी शब्दसागर' में इसका अर्थ दिया गया है–इसी क्षण, इसी समय, इसी वक्त; जैसे–अभी पत्र लिखो। अर्थात् इसी क्षण या तत्काल पत्र लिखो, कुछ भी विलंब मत करो। यह केवल वर्तमान काल से सम्बन्ध रखनेवाला एक ही अर्थ है जो तीन भिन्न-भिन्न रूपों में दिया गया है। साधारणतः इस शब्द का यही अर्थ अलम् समझा जायगा। पर क्या सचमुच 'अभी' का इसके सिवा और कोई अर्थ नहीं होता ? मुझे तो इसके अनेक ऐसे अर्थ तथा प्रयोग मिले हैं जो वर्तमान काल के सिवा भूतकालिक और भविष्यकालिक प्रसंगों से भी सम्बन्ध रखते हैं और इसी लिए जो शब्दसागर के उक्त अर्थ की व्याप्ति के बाहर दिखाई देते हैं। आइये, जरा वे अर्थ और प्रयोग देखिये। पहले वर्तमान-कालिक प्रसंग ही लीजिए। हम कहते हैं–अभी बारह बजे हैं, अभी बैठे रहो अथवा अभी जल्दी मत करो। स्पष्ट है कि इन प्रयोगों में 'अभी' का अर्थ इसी समय नहीं है, बल्कि 'इस समय' या 'प्रस्तुत समय में' है। शब्दसागर में दिये हुए उक्त अर्थ के 'इसी' में जो जोर है, वह हमारे दूसरे अर्थ के 'इस' में नहीं रह गया है। ऐसे अवसरों पर 'अभी' में प्रस्तुत के कुछ पूर्ववर्ती क्षणों का भी और कुछ परवर्ती क्षणों का भी अंतर्भाव हो जाता है। यह तो बहुत ही साधारण अन्तर हुआ। पर इसके सिवा 'अभी' के अनेक ऐसे प्रयोग भी होते हैं, जिनमें अर्थ के विचार से बहुत अधिक अन्तर हैं। उदाहरणार्थ अभी तो वही पुराना नियम चल रहा है, आदि। इन प्रयोगों में 'अभी' के ऊपरवाले दोनों अर्थों में से कोई अर्थ ठीक नहीं घटता, बल्कि ऐसे अवसरों पर इसका अर्थ होता है–प्रस्तुत या वर्तमान दिनों में, अर्थात् आज-कल या इन

दिनों। सारांश यह कि उक्त तीनों प्रयोगों में 'अभी' से सूचित होनेवाले काल का मान या व्याप्ति पहले तो एक क्षण से बढ़कर दस-पाँच या दस-बीस क्षणों तक पहुँची है और तब इससे भी आगे बढ़कर उसने महीनों क्या, बल्कि वर्षों तक को अपनी लपेट में ले लिया है। अब भूतकालिक प्रसंगों में 'अभी' के प्रयोग देखिए। हम कहते हैं–अभी वह सोकर उठा ही था कि उसके कुछ मित्र आ पहुँचे। यहाँ 'अभी' प्रस्तुत या वर्तमान काल से नहीं, बल्कि भूतकाल से सम्बन्ध रखता है और वह किसी विगत काल-मान या उसके किसी उद्दिष्ट अंश की ओर संकेत करता हुआ प्रायः 'उस समय' का अर्थ सूचित करता है।

इससे और आगे बढ़ने पर हमें 'अभी' के कुछ ऐसे प्रयोग भी मिलते हैं जो भविष्यत्काल से सम्बन्ध रखते हैं। हम कहते हैं–वे अभी महीनों यहाँ ठहरेंगे अथवा अभी इस काम में दो महीने और लगेंगे। ऐसे प्रसंगों में इसका अर्थ होता है–इस समय से लेकर अथवा अब से आगे। यदि तार्किक दृष्टि से यह अर्थ न भी हो, तो भी इसे से कुछ मिलता-जुलता अर्थ तो अवश्य होता है, जो मुख्यतः किसी भावी अवधि से सम्बन्ध रखता है।

इसके सिवा 'अभी' का प्रयोग किसी भावी समय के सम्बन्ध में केवल जोर देने के लिए भी होता है; जैसे–अभी परसों वे फिर आने को हैं, अथवा ग्रहण तो अभी माघ में लगेगा। उक्त उदाहरणों में 'अभी' का प्रयोग क्रमात् 'परसों' और 'माघ' पर जोर देने के लिए ही हुआ है, कोई विशिष्ट अर्थ सूचित करने के लिए नहीं। यही बात इस प्रकार के भूतकालिक प्रयोगों में भी दिखाई देती है; जैसे–(क) अभी कल तक तो वे यहीं थे। (ख) अभी पिछले सप्ताह ही तो तुमने सौ रुपए लिये थे।

मेरा नम्र निवेदन है कि हिन्दी की वर्तमान मर्यादापूर्ण स्थिति का ध्यान रखते हुए हिन्दी वालों और विशेषतः भावी कोशकारों को शब्दों के अर्थों का विचार या विवेचन करते समय इस प्रकार के सूक्ष्म अन्तरों पर अवश्य ध्यान देना चाहिए। ××

2. अवसरवाद

Opportunism

'अवसरवाद' *पु०* (सं०) कुछ लोगों की ऐसी नीति और मनोवृत्ति का वाचक पद है, जो प्रायः किसी अच्छे और लाभदायक अवसर की ताक में लगे रहते हैं और ऐसा अवसर मिलते ही वे अपना कोई स्वार्थ सिद्ध कर लेते है। इसके मूल में अपनी उन्नति, प्रसिद्धि हित-साधन की भावना ही प्रबल होती हैं–नीति, लोकलज्जा, सिद्धान्त आदि का कोई विशेष ध्यान नहीं रखा जाता। आवश्यकता पड़ने पर ऐसी मनोवृत्तिवाले लोगों को अपना मत या विचार बदलने में न तो देर ही लगती है न संकोच ही होता है। आज-कल राजनीतिक, व्यापारिक, सामाजिक आदि क्षेत्रों में ऐसे बहुत से लोग देखने में आते हैं; परन्तु लोक में वे आदर की दृष्टि से नहीं देखे जाते। ××

3. आँख

मेरे विद्या-गुरु स्वर्गीय बाबू रामकृष्ण वर्मा कहा करते थे–आँख की सभी बातें बुरी होती हैं। उसका आना बुरा, जाना बुरा, उठना बुरा, बैठना बुरा, देखना बुरा, दिखाना बुरा–सब कुछ बुरा। और मैं समझता हूँ कि उसके अर्थों और मुहावरों का विवेचन भी बुरा और सबसे बुरा है।

इसके कई कारण हैं। पहली बात तो यह है कि हिन्दी में सबसे अधिक मुहावरे कदाचित् आँख से ही सम्बद्ध हैं जिनका वर्गीकरण और विवेचन बहुत ही श्रम-साध्य है। ये मुहावरे मुख्यतः तीन भागों में बँट सकते हैं। पहला विभाग तो स्वयं शारीरिक इन्द्रिय से सम्बन्ध रखनेवाले मुहावरों का है; जैसे–आँख आना, आँख उलटना, आँख कड़ुआना, आँखें चार करना या होना, आँखें डबडबाना, आँखें पसीजना, आँखें पथराना, आँख फड़कना आदि। ये सब मुहावरे ऐसे हैं जिनका व्यापार स्वयं 'आँख' नाम की इन्द्रिय से होता है। मुहावरों का दूसरा वर्ग आँख की देखनेवाली शक्ति से सम्बन्ध रखता है। इसके अन्तर्गत किसी चीज पर आँख गड़ना या गड़ाना आँख जमाना, आँख डालना, आँखें बदलना, आँख मिलाना, आँख लड़ाना आदि मुहावरे आते हैं। मुहावरों का एक तीसरा वर्ग वह है जिसमें विशुद्ध लाक्षणिक रूप में होनेवाले प्रयोग आते हैं; जैसे–आँखों का काँटा होना, आँख का पानी ढलना, आँखें चरने जाना, आँखें चुराना, आँखों का सुरमा चुराना, आँखें बिछाना, आँखों में चरबी छाना या टेसू या सरसों फूलना, आँखों में रखना या पालना, आँखों में रात काटना या बिताना, आँखों में समाना आदि।

इन मुहावरों के संबंध में ध्यान रखने की दूसरी महत्त्वपूर्ण बात यह है कि कुछ अवस्थाओं में 'आँख' शब्द का एक वचन में प्रयोग होता है और कुछ अवस्थाओं में 'आँखें' या 'आँखों' के रूप में अर्थात् बहुवचन में प्रयोग होता है। पर कुछ अवस्थाएँ ऐसी भी हैं जिनमें 'आँख' का प्रयोग विकल्प से दोनों वचनों में होता है। 'आँख आना' (रोग) बहुधा एक वचन में ही प्रयुक्त होता है। (पेट फूला है, आँख आयी है। शाह एडवर्ड की दुहाई है। –अकबर) यही बात 'आँख लगना' के सम्बन्ध में भी है जिसके चार अर्थ होते हैं –एक तो झपकी या हलकी नींद आना और दूसरा शृङ्गारिक प्रसंग में किसी के प्रति अनुरागात्मक प्रवृत्ति होना। किसी उर्दू शायर का एक मिसरा है–'न लगी आँख जब से आँख लगी।' तीसरा अर्थ प्रतीक्षा के प्रसंग में होता है; जैसे–किसी ओर आँख लगना। और चौथा अर्थ होता है–लोभ या लोलुपता के प्रसंग में; जैसे–तुम्हारी इस किताब पर हमारी बहुत दिनों से आँख लगी है। कड़ी निगाह या पूरे ध्यान के अर्थ में भी 'आँख' का सदा एक वचन में प्रयोग होता है; जैसे–उस पर आँख रखना, कोई चीज उठा न ले जाय। यही बात (किसी ओर या किसी की ओर) आँख उठना या उठाना के सम्बन्ध में भी है; जैसे–तुम्हारी ओर कोई आँख नहीं उठा सकता। आँखें फड़कना का भी इस दृष्टि से एक वचन में ही प्रयोग होता है क्योंकि दोनों आँखें कभी एक साथ नहीं फड़कतीं; आँखें चार करना या लड़ाना, आँखें चरने जाना, आँखें तरेरना, आँखें निकालना, आँखें पथराना, आँखें फेरना, फोड़ना, बदलना, भरना, सेंकना आदि अनेक ऐसे प्रयोग हैं जिनमें

आँख का सदा बहुवचन में ही प्रयोग होता है। आँखों का काजल चुराना, आँखों का पानी ढलना आदि प्रयोगों में भी सदा बहुवचन का ही प्रयोग होता है। पर चमकने, मटकने आदि के प्रसंग में 'आँख' अर्थात् एक वचन का भी प्रयोग होता है और 'आँखें' अर्थात् बहुवचन का भी। यही बात आँख (या आँखें) ऊँची करना, आँख (या आँखें) खुलना, आँख (या आँखें) मिलना, आँख (या आँखें) बन्द होना या मुँदना, आँख (या आँखों) से ओझल होना आदि अनेक ऐसे प्रयोग हैं जिनमें 'आँख' का विकल्प से एक वचन में भी प्रयोग होता है और बहुवचन में भी। आँखों के प्रयोगों और मुहावरों के सम्बन्ध में वचन का यह तत्त्व भाषा की शुद्धता के विचार से बहुत ही महत्त्व का है। अभी तक इस तत्त्व की ओर किसी कोशकार का ठीक और पूरा ध्यान नहीं गया है। यही कारण है कि हिन्दी कोशों में 'आँख' के प्रयोगों और मुहावरों के जो रूप मिलते हैं, वे प्रायः वचन की दृष्टि से बहुत ही अपूर्ण तथा भ्रामक हैं। मुझे इस विषय में बहुत कुछ छान-बीन और विचार करना पड़ा है, और उसमें जो-जो कठिनाइयाँ मेरे सामने आई हैं उन्हीं को देखते हुए मुझे इस लेख के आरम्भ में कहना पड़ा है कि आँखों की और सब बातों के साथ उसके अर्थों और मुहावरों का वर्गीकरण और विवेचन भी 'बुरा' ही है।

वचन का निर्णय प्रयोगों के आधार पर ही करना पड़ता है और इस निर्णय के लिए ऐसे ही कवियों और लेखकों के प्रयोग लिये जाते हैं, जो भाषा की शुद्धता तथा सौष्ठव के विचार से आदर्श, प्रामाणिक तथा मान्य हों। पर ऐसे प्रयोग ढूँढ़ निकालना और उनके आधार पर कुछ सिद्धांत स्थिर करना सहज नहीं होता। बाजारू या राह चलते आदमी भूल से जो अशुद्ध प्रयोग करते हैं, उन्हें छाँटकर अलग करना और भी कठिन होता है। और इतना सब कुछ कर चुकने के बाद भी कोशकार के सामने कुछ कठिनाइयाँ रह ही जाती हैं। मानक कोश के अगले संस्करण के लिए 'आँख' का जो विवेचन मैं कर रहा हूँ, वह ऐसी ही अनेक कठिनाइयों के कारण अभी तक ठीक, पूरा और सन्तोषजनक नहीं हो पाया है, एक वचन वाले प्रयोग तो एक वचन में और बहुवचन वाले प्रयोग बहुवचन में रखकर आधी कठिनता दूर कर ली जाती है, पर अभी तक मैं यह निश्चय नहीं कर पाया हूँ कि उभयवचन प्रयोगों का क्या रूप रखा जाय, अथवा यह तत्त्व किस प्रकार सूचित किया जाय। यदि कोई सुविज्ञ सज्जन कोई मार्ग बतला सकें तो मैं उनका परम कृतज्ञ होऊँगा।

'हिन्दी शब्द-सागर' में देखने की इंद्रियवाला 'आँख' का एक ही अर्थ दिया गया है, और उसी के पेटे में उससे सम्बन्ध रखनेवाले सब मुहावरे भी दिये गये हैं, उसमें पहला मुहावरा सिर्फ 'आँख' के रूप में दिया है, और उसके चार अर्थ दिये हैं–1. ध्यान। लक्ष। 2. विचार। विवेक। परख। 3. कृपा-दृष्टि। दया-भाव। और 4. सन्तति, सन्तान, लड़का-बाला। यह विवेचन-प्रकार कई दृष्टियों से ठीक नहीं है। पहली बात तो यह है कि कोई अकेला शब्द कभी मुहावरे के क्षेत्र में नहीं आता। मुहावरे के लिए शब्द के साथ क्रिया अथवा और किसी प्रकार के एक दो शब्द रहने आवश्यक होते हैं। फिर सन्तति या सन्तान 'आँख' का उसी प्रकार कोई अर्थ नहीं है, जिस प्रकार 'अन्धे की लकड़ी' का अर्थ 'सन्तान' नहीं है। 'शब्द सागर' में 'आँख' के इस अर्थ के जो उदाहरण हैं, वे ही मेरे उक्त

कथन की सत्यता सिद्ध करने के लिए पर्याप्त हैं। शेष अर्थ स्वयं 'आँख' शब्द के हैं, न कि 'आँख' रूपी मुहावरे के। इनके सिवा 'आँख' के कुछ और अर्थ हैं, जो शब्द-सागर में नहीं आये हैं। ऊपर वचन के सम्बन्ध में मैंने एक उदाहरण दिया है–उस पर आँख रखना, कोई चीज उठा न ले जाय। इसके सिवा हम कहते है–उस आदमी की शक्ल हमारी आँख में है, सामना होते ही हम उसे पहचान लेंगे। इन दोनों प्रसंगों में 'आँख' के जो स्वतन्त्र अर्थ हैं उन्हें भी शब्दकोशों में स्थान मिलना चाहिए।

'शब्द-सागर' में 'आँख' के मुहावरों के सम्बन्ध में और भी कई प्रकार की त्रुटियाँ हैं। उसमें आँख का तारा, आँख का परदा, आँख की पुतली, आँखों के डोरे आदि ऐसे प्रयोग भी आ गये हैं, जो किसी प्रकार मुहावरे नहीं माने जा सकते और जो कोरे पद या बोलचाल के प्रयोग मात्र हैं। उसके दूसरे संस्करण में चंचल आँख, धँसी आँख, मतवाली आँख, रसभरी आँख आदि अनेक यौगिक पद भी रख दिये गये हैं जो कई दृष्टियों से असंगत भी है क्योंकि इस प्रकार संज्ञाओं के साथ विशेषण लगाकर तो हर जगह सैकड़ों पद बनाये जा सकते हैं। इसके सिवा आँख का अन्धा गाँठ का पूरा; आँख की बदी भौंह के आगे, आँख में नून राई, आँखों सुख कलेजे ठंढक आदि ऐसी कहावतें भी हैं जो वस्तुतः मुहावरों के अन्तर्गत नहीं बल्कि कहावतों के स्वतंत्र वर्गीकरण में होनी चाहिए। इसके सिवा उसमें और भी कई छोटी-मोटी त्रुटियाँ हैं। पर इन त्रुटियों का मुख्य कारण यही है कि एक तो शब्द-सागर बिलकुल नया और पहला प्रयत्न था। तिस पर उस पहले प्रयत्न में भी 'आँख' का विवेचन बिलकुल आरम्भिक अंश में था। उस समय तक कोश की पद्धति या स्वरूप ठीक प्रकार से स्थिर नहीं हो पायी थी। परन्तु भविष्य में बननेवाले प्रथम श्रेणी के कोशों में इस प्रकार की त्रुटियों की पुनरावृत्ति अशोभन ही होगी और उसी लिए इस क्षेत्र में बिलकुल नये सिरे से काम होना चाहिए।

अब जरा आँख के मुहावरों और इनके अर्थों के सूक्ष्म अन्तर भी देखिए। एक बहुत ही प्रचलित और प्रसिद्ध मुहावरा है–आँख उठाना। हिन्दी शब्द-सागर में इसके अर्थ इस प्रकार आये हैं– (1) ताकना या देखना और (2) बुरी नजर से देखना। बुरा बर्ताव करना। हानि पहुँचाने की चेष्टा करना। यहाँ इस बात से मतलब नहीं है कि इनमें से दूसरा या अन्तिम अर्थ कितना अतिव्यापक, असंगत तथा त्रुटिपूर्ण है। यहाँ ध्यान देने का मुख्य विषय स्वयं मुहावरे का रूप (आँख उठाना) है। वस्तुतः यह मुहावरा चार प्रकार से अथवा यों कहना चाहिए कि चार अलग-अलग अर्थों और प्रसंगों में प्रयुक्त होता है। यथा–(1) किसी ओर आँख उठाना-ताकना या देखना; (2) किसी के सामने आँख उठाना–धृष्टता या साहसपूर्वक किसी की ओर देखना या किसी से निगाह मिलाना; (3) किसी चीज की ओर आँख उठाना–प्राप्ति की इच्छा या लोभ-भरी दृष्टि से देखना; और (4) किसी व्यक्ति की ओर आँख उठाना या उठाकर देखना–किसी को कष्ट या हानि पहुँचाने का विचार करना। और इन्हीं चारों दृष्टियों से इस मुहावरे के चार अलग-अलग रूप होने चाहिए और वे रूप भी इतने शुद्ध तथा स्पष्ट होने चाहिए कि जिज्ञासुओं के लिए भ्रम में रहने की जगह न रह जाय।

इसी प्रकार 'आँख गड़ना' के दो अलग-अलग अर्थ हैं–एक तो आँख में किरकिरी

पड़ने के कारण हलकी खटक या चुनचुनाहट होना, और यह मुहावरा स्वयं आँख नामक इन्द्रिय से सम्बद्ध होने के कारण इन्द्रियवाले उसके पहले अर्थ के अन्तर्गत रहना चाहिए। 'आँख गड़ना' का दूसरा प्रयोग है—'किसी चीज पर आँख गड़ना' अर्थात् प्राप्त करने के उद्देश्य से किसी चीज पर ध्यान लगा रहना। यह दूसरा प्रयोग स्वयं इन्द्रिय से नहीं, बल्कि उसकी दृष्टि-शक्ति से सम्बन्ध है, इसलिए वह इसी दूसरे अर्थ के अन्तर्गत रहना चाहिए और उसके पहले यह संकेत भी होना चाहिए कि उसका प्रयोग किसी चीज के सम्बन्ध में होता है। नींद टूटने के अर्थ में 'आँख खुलना' अलग बात है और अलग अर्थ से सम्बन्ध रखता है। पर किसी विषय में भ्रम दूर होने और नया ज्ञान या बोध होने के अर्थ में 'आँख खुलना' अलग बात है और अलग अर्थ से सम्बद्ध है। यही बात 'आँख लगना' के सम्बन्ध में भी है, जिसके कई अर्थ और रूप हैं। जैसे—(क) रोगी की आँख लगना, (ख) किसी की प्रतीक्षा में दरवाजे या रास्ते की ओर आँख लगना, (ग) किसी चीज पर आँख लगना और (घ) किसी व्यक्ति से आँख लगना। इसलिए केवल गड़ना, खुलना, लगना आदि क्रियाओं से भ्रम में पड़कर सब प्रयोगों और मुहावरों को एक साथ रखना ठीक नहीं।

मुहावरों के विवेचन के समय एक और महत्त्वपूर्ण बात पर ध्यान रखना बहुत आवश्यक होता है। हिन्दी में 'आँख' के दो मुहावरे बहुत प्रचलित हैं—आँखें निकालना और आँखें फोड़ना। साधारण मुहावरे के क्षेत्र में 'आँखें निकालना' का अर्थ होता है—क्रोधपूर्ण दृष्टि से किसी की ओर देखना। अर्थात् यह 'आँखें तरेरना' का समानार्थक है। इसके पहले प्रायः 'किसी पर' पद का प्रयोग होता है। 'आखें फोड़ना' का प्रयोग लगातार कोई ऐसा बारीक काम करते रहने के प्रसंग में होता है जिसमें निगाह पर बहुत ज़ोर पड़े। स्त्रियाँ कशीदा काढ़ने में आँखें फोड़ती हैं और प्रेसवालों को प्रूफ देखने में आँखें फोड़नी पड़ती हैं। पर हैं ये दोनों मुहावरे दृष्टि-शक्ति से ही सम्बद्ध और इनका प्रयोग स्वयं कर्ता या वक्ता के ही सम्बन्ध में होता है। परन्तु प्राचीन काल में दण्डस्वरूप भी किसी की आँखें निकाली या फोड़ी जाती थी और अब भी डराने-धमकाने के लिए कहा जाता है—मेरी तरफ देखोगे तो आँखें निकाल लूँगा या फोड़ दूँगा। इन प्रयोगों के सम्बन्ध में दो बातें ध्यान देने की हैं। एक तो यह कि इन व्यापारों का परिणाम कर्ता या वक्ता पर नहीं, बल्कि दूसरों पर होता है—मध्यम पुरुष के उद्देश्य से होता है। और दूसरी सबसे अधिक विचारणीय बात यह है कि ऐसे प्रयोग मुहावरे के क्षेत्र या परिभाषा में कभी आ ही नहीं सकते, क्योंकि इनमें 'निकालना' या 'फोड़ना' क्रियाओं का प्रयोग आँख के साथ बिलकुल साधारण क्रिया के रूप में होता है—ये आँखों से सम्बद्ध क्रिया-प्रयोग मात्र हैं। हम कहते हैं—(क) उसने दीवार पर अपना सिर पटककर फोड़ लिया। अथवा (ख) तुमने बच्चे को लापरवाही से उठाकर उसका हाथ तोड़ दिया। बिलकुल साधारण अर्थ में ऐसे प्रयोग कभी मुहावरे नहीं कहलाते। हाँ, विशिष्ट अर्थों और विशिष्ट प्रसंगों में भले ही इनका प्रयोग मुहावरे के रूप में होता हो। जैसे—(क) तुम्हारे साथ बहस करने में कौन सिर फोड़े! अथवा (ख) इनके सब अधिकार (या सम्पत्ति) छीन लो और इन्हें हाथ-पैर तोड़कर (अर्थात् अकर्मण्य और निष्क्रिय बनाकर) घर में बैठा दो। सारांश यह कि जिन प्रयोगों में मुहावरोंवाला मुख्य लाक्षणिक तत्त्व न हो, उन्हें मुहावरों के अन्तर्गत नहीं मानना

चाहिए और साधारण क्रिया-प्रयोगवाले विभाग में ही रखना चाहिए। हाँ, 'आँख निकालना' और 'आँख फोड़ना' का साधारण अर्थ कोशों में इस दृष्टि से अवश्य रहना चाहिए कि ये दण्ड देने के ऐसे प्राचीन प्रकार थे, जो आजकल के सभ्य जगत् में नहीं रह गये हैं। ××

4. आचरण-संहिता
Code of conduct

आज-कल के औद्योगिक तथा राजनीतिक क्षेत्रों में लोगों को मनमाने आचरण और व्यवहार करते हुए देखकर उन्हें ठीक रास्ते पर लाने के लिए जो नियम और सिद्धान्त लिखित रूप में स्थिर किए जाते हैं, उन्हीं के संग्रह के लिए इस नाम का प्रचलन हुआ है। वास्तविक दृष्टि से देखने पर हम इसे आधुनिक आचार शास्त्र अथवा प्राचीन नीतिशास्त्र का एक वर्गीय अंश या शाखा ही कह सकते हैं। इसमें इस बात का स्पष्टीकरण होता है कि अमुक क्षेत्र या वर्ग में सम्बद्ध लोगों को किस प्रकार का आचरण करना चाहिए। उद्देश्य यह होता है कि सब लोग उचित और न्याय-संगत रीति से आचरण और व्यवहार करें, जिनसे उस क्षेत्र या वर्ग में एक दूसरे के अधिकारों पर आक्रमण न हो और व्यर्थ की अव्यवस्था, वैमनस्य या संघर्ष न होने पावे। कुछ लोग इसे "आचार-संहिता" भी कहते हैं; परन्तु हमारी समझ में इसे इसलिए "आचरण संहिता" ही कहना ठीक है कि आचार अपेक्षया अधिक महत्वपूर्ण और विस्तृत या व्यापक भाव और विवक्षा का सूचक है। ××

5. आतंकवाद
Terrorism

'आतंकवाद' *पु०* (सं०) यह मत या सिद्धान्त है कि अपना कोई बहुत बड़ा काम निकालने अथवा लोगों को अपने अधीन, अनुकूल या वश में करने के लिए उन्हें डरा-धमकाकर, बल-प्रयोग करके अथवा अपना भीषण रूप दिखला कर उनमें आतंक फैलाना चाहिए; और इस प्रकार ऐसी स्थिति में ले आना चाहिए कि वे चुपचाप या बिना विरोध किए हाथ पर हाथ रखकर बैठे रह जायँ। इसका प्रयोग राजनीतिक क्षेत्र में बड़ी-बड़ी शक्तियाँ करती हुई दिखाई देती हैं। प्रायः डाकुओं के दल भी बहुत बड़ा डाका डालने से पहले चारों ओर खूब आतंक फैलाते हैं। ××

6. आन

मानक कोश का सम्पादन करते समय मुझे जो बहुत से पेचीदे और विकट शब्द मिले थे उन्हीं में 'आन' भी है। मैं पेचीदे और विकट उन शब्दों को मानता हूँ जो आशय और प्रयोग की दृष्टि से अनेक प्रकार की आर्थी छायाओं से युक्त हों, जिनके आर्थी वर्गीकरण तथा विकास का क्रम निरूपित करने में अनेक प्रकार की जटिल समस्याएँ

सामने आती हों। तिस पर यदि ऐसे शब्दों के अनेक शब्द-भेद भी हों और उनकी अलग-अलग निरुक्तियाँ या व्युत्पत्तियाँ भी स्थिर करनी पड़ती हों तो उनका विवेचन और भी पेचीदा तथा विकट हो जाता है। 'आन' भी ऐसे ही शब्दों में है।

हिन्दी शब्द-सागर में 'आन' के अर्थ दिये गये हैं–1. मर्यादा; 2. शपथ, सौगन्ध, कसम; 3. दुहाई, विजय घोषणा; 4. ढंग, तर्ज, अदा; 5. क्षण, अल्पकाल; 6. अकड़, ऐंठ, दिखावा; 7. अदब, लिहाज, दबाव, लज्जा, शर्म, हया; 8. प्रतिज्ञा, प्रण, हठ, टेक। उक्त कोश में, एक तो ये सब अर्थ एक ही व्युत्पत्ति के अन्तर्गत आये हैं, दूसरे इनमें कोई व्याख्या नहीं है, पर्याय ही पर्याय हैं और तीसरे कई वर्गों में ऐसे पर्याय भी हैं जो एक दूसरे के वाचक नहीं हैं, और फलतः निरर्थक तथा भ्रामक हैं। फरहंग आसफिया, मुहज्जब उल्लुगात आदि उर्दू कोशों में भी कुछ इसी तरह के पर्याय हैं जिनमें अंदाज, अदा, नाज, शान आदि पर्याय भी सम्मिलित कर दिये गये हैं। सारांश यह कि कहीं इसकी कोई ऐसी परिभाषा या व्याख्या नहीं मिलती जिससे अन्य भाषा-भाषी इसका ठीक-ठीक अर्थ और आशय जान सकें, इसके भिन्न-भिन्न अंशों का कार्य-क्षेत्र समझ सकें और इसकी आत्मा तक पहुँच सकें। इसी लिए इसका सारा विवेचन करने में उस समय मुझे पूरे 5 दिन लग गये थे। यह बात आज से 7-8 वर्ष पहले की है। उसके बाद इधर मुझे इसके और भी कई सूक्ष्म अर्थ-भेद तथा प्रयोग मिले, जिनके कारण मुझे पुराने विवेचन का अधिकांश फिर से दोहराकर ठीक करना पड़ा। इस लेख की सब बातें पुराने और नये दोनों विवेचनों के निष्कर्ष के रूप में हैं।

अपने परम प्रचलित और प्रसिद्ध अर्थों में 'आन' संस्कृत 'आणि' से व्युत्पन्न है जिसका अर्थ है–प्रतिष्ठा या मर्यादा। उर्दू वाले जो इस शब्द को फारसी का मानते हैं, उसका मूल आधार भी यही है। तात्त्विक दृष्टि से अपने प्राथमिक अर्थ में 'आन' की परिभाषा होनी चाहिए–'परम्परा प्रतिज्ञा, संकल्प, सिद्धान्त आदि के निर्वाह या पालन की वह दृढ़ भावना जिसके मूल में अपनी या अपनी जाति, वर्ग, समाज आदि की प्रतिष्ठा या मर्यादा की रक्षा का विचार प्रधान होता है।' मानक कोश में यही परिभाषा दी गयी है और इसके ये उदाहरण दिये गये हैं–(क) वीर लोग अपनी आन पर प्राण देते हैं। (ख) वह आनवाला रोजगारी है, सहज में नहीं दबेगा। आगे चलकर इसका दूसरा अर्थ होता है–'किसी की उक्त भावना या गौरव के आधार पर या उसका स्मरण कराते हुए दी जानेवाली दुहाई (दे० 'दुहाई') या की जानेवाली पुकार।' तीसरा अर्थ होता है–'उक्त के आधार पर दी जानेवाली शपथ या सौगन्ध।' जैसे–तुम्हें भगवान की आन है, बाल-बच्चों को इस प्रकार असहाय छोड़कर कहीं मत जाता। आगे चलकर इसका एक और अर्थ होता है–'किसी की मर्यादा या महत्त्व के प्रति मन में होनेवाली आदरपूर्ण धारणा या पूज्य बुद्धि।' उदाहरण के रूप में उर्दू का यह शेर है–ठंढियाँ निकली हैं बच्चे को पड़ा फिरता है। कुछ किसी बात की भी आन है गोइयाँ तुमको–जान साहब। इसी अर्थ के आधार पर एक मुहावरा भी प्रचलित है–'(किसी की) आन मानना, जिसके दो अर्थ होते हैं। एक तो यह कि बड़ों का आदर करते हुए उनके सामने नम्रता और शालीनता का व्यवहार करना; जैसे–भले घर की स्त्रियाँ बड़े-बूढ़ों की आन मानती हैं। और दूसरा अर्थ यह होता

है–किसी का बड़प्पन या महत्त्व देखकर उसके सामने झुकना या दबना; जैसे–देखकर कुरती गले में सब्जधानी आपकी। धान के भी खेत ने है आन मानी आपकी।–नजीर।

फिर इसका एक और अर्थ होता है–'अपनी मर्यादा, सुरक्षा आदि के विचार से किया जानेवाला कोई ऐसा निश्चय जिसके फलस्वरूप किसी काम या बात का निषेध या वर्जन होता हो।' जैसे–(क) तुम्हें तो हमारे यहाँ आने की आन है। (ख) उनके घर में हरी चूड़ियों की आन है। फिर हम यह भी कहते हैं– 'उसे न जाने क्या आन पड़ गयी है कि वह किसी तरह मनाये नहीं मानता।' ऐसे अवसरों पर इसका आशय होता है–अपनी मर्यादा आदि की रक्षा के विचार से किया जानेवाला ऐसा दृढ़ निश्चय या संकल्प जो जिद या हठ के रूप में परिणत हो गया हो। और जब हम कहते हैं–'तुम तो बात-बात में अपनी आन ही दिखाते रहते हो', तो आशय होता है–अपनी मर्यादा, महत्त्व आदि की उत्कट भावना के कारण उत्पन्न होनेवाला मिथ्या अभिमान अर्थात् अकड़ या ऐंठ। मेरी समझ में प्रस्तुत प्रसंग में इसके उक्त आर्थी विकास का ध्यान रखते हुए शब्द-कोशों में इसके अर्थों का वर्गीकरण और विवेचन बहुत कुछ इसी रूप में होना चाहिए।

अब इस शब्द के दूसरे आर्थी क्षेत्र में आइये। हम कहते हैं–उसने ऐसी आन से कविता पढ़ी (या ठुमरी गायी) कि सब लोग वाह वाह करने लगे; अथवा-उसकी हर आन बहुत भली मालूम देती है। ऐसे अवसर पर इसका अर्थ होता है–किसी काम या बात का ऐसा ढंग, प्रकार या स्वरूप जो अनोखा या निराला होने के सिवा आकर्षक तथा हृदयग्राही भी हो, इस से और आगे बढ़ने पर इसका अर्थ होता है–अदा अर्थात् लुभावनी अंगभंगी या मनोहर हाव-भाव। यहाँ भी यह है तो उसी संस्कृत 'आणि' से व्युत्पन्न, परन्तु इसका सम्बन्ध उसके 'प्रतिष्ठा' या 'मर्यादा' वाले अर्थ से नहीं है बल्कि मर्मस्थल या उसे स्पर्श करनेवाले तत्त्व से है।

फिर 'आन' का एक और अर्थ होता है–बहुत ही थोड़ा समय, क्षण या पल। इस अर्थ में यह मूलतः अरबी का शब्द माना जाता है, परन्तु इसका सम्बन्ध संस्कृत के उस 'आनः' शब्द से भी हो सकता है जिसका पहला अर्थ होता है–उतना समय जितना एक बार साँस लेने में लगता है। जब हम कहते हैं–'आन की आन में ही वहाँ का सारा नक्शा बदल गया', तब इसका प्रयोग इसी अर्थ या आशय से सम्बद्ध होता है। इसी से और आगे बढ़कर यह साधारण काल या समय का भी वाचक हो जाता है; यथा–मिली के बिछुरन मरन कि आना।–जायसी।

पूरबी हिन्दी में यह शब्द विशेषण रूप में 'अपर' या 'दूसरा' के अर्थ में भी प्रचलित है और वहाँ यह संस्कृत 'अन्य' से बना है। बोलचाल में पूरबी हिन्दी में इसका प्रयोग कुछ इस प्रकार होता है; जैसे–तुम तो इसी तरह आन का आन समझ लेते हो। आशय होता है–कहा तो कुछ और जाता है पर तुम समझते हो कुछ और।

कुछ क्रियाओं और विशेषणों के अन्त में यह (आन) प्रत्यय के रूप में भी लगता है और इसके संयोग से प्रायः भाववाचक 'सज्ञाएँ बनती हैं; जैसे–उठना से उठान, मिलना से मिलान, ऊँचा से ऊँचान, चौड़ा से चौड़ान आदि। इस प्रत्ययवाले रूप और अर्थ की चर्चा

अभी तक किसी कोश में नहीं हुई है पर व्याकरणों में अवश्य है। मेरी समझ में प्रत्ययों की चर्चा भी कोशों में रहना बहुत आवश्यक है और इसी लिए मैंने इसे मानक कोश में भी और यहाँ भी स्थान दिया है।

इस प्रत्ययवाले रूप के सम्बन्ध में ध्यान रखने की एक और बात यह भी है कि इस प्रत्यय से कुछ शब्द तो पुंलिंग के रूप में प्रचलित मिलते हैं और कुछ शब्द स्त्रीलिंग के रूप में। भाषा-तत्वज्ञों और वैयाकरणों के लिए यह विषय विशेष रूप से विचारणीय है। मैं तो इस पर विचार करूँगा ही; यदि अन्य सज्जनों के ध्यान में इसके कुछ कारण आवें तो वे मुझे सूचित करने की कृपा करे। ××

7. उपयोगितावाद
Utilitarianism

पाश्चात्य सामाजिक दृष्टि से स्थिर किया हुआ एक आधुनिक मत या सिद्धांत जिसमें प्रत्येक वस्तु का अर्थ, महत्व या मूल्य इस दृष्टि से आंका और माना जाता है कि वह वस्तु हमारे लिए कितनी उपयोगी है अथवा सामाजिक दृष्टि से उसकी कितनी उपयोगिता है। अर्थात् जो वस्तु सारे जन-समाज अथवा उसके अधिकांश के लिए जितनी ही उपयोगी होती है, उसका महत्व या मूल्य भी उतना ही होता है अथवा होना चाहिए। इस सिद्धांत में नैतिक, धार्मिक, सांस्कृतिक आदि गुणों या विशेषताओं का कोई विचार नहीं होता; और इसका मूल आधार केवल लौकिक या सांसारिक होता है। ××

8. और

हिन्दी का एक बहुत ही छोटा, परम प्रचलित और बिलकुल साधारण शब्द है- और। कोशकारों और वैयाकरणों को छोड़कर कदाचित् ही कभी किसी हिन्दी-भाषी ने इसके अर्थों, आशयों तथा प्रयोगों पर विचार करने की कोई आवश्यकता समझी हो। आइये देखें कि इस छोटे से शब्द में कितनी अधिक आर्थी और व्यंजनात्मक शक्तियाँ निहित हैं।

पण्डित कामताप्रसाद गुरु ने अपनी हिन्दी-व्याकरण में इसे समुच्चयबोधक अव्यय कहा है और इसके दो-तीन साधारण प्रयोग बतलाये हैं। हिन्दी शब्द-सागर में इसे संयोजक अव्यय कहा है और उदाहरण स्वरूप यह प्रयोग बतलाया है—घोड़े और गदहे चर रहे हैं, आदि। उक्त कोश में इसे विशेषण रूप के अन्तर्गत अर्थ दिये हैं—1. अन्य, दूसरा और 2, अधिक, ज्यादा।

प्रायः आठ-दस वर्ष पूर्व मानक कोश के सम्पादन के प्रारम्भिक काल में मैंने इसके सम्बन्ध में लिखा था कि इसका प्रयोग क्रिया-विशेषण और विशेषण रूप में भी होता है, और क्रिया-विशेषण रूप का स्वतंत्र विवरण देते हुए उदाहरण दिये थे—और चिल्लाओ,

और मारो; और रोओ।

परन्तु इधर हाल में इस शब्द के कई ऐसे नए प्रयोग मेरे देखने में आये जिनके कारण मुझे अपने समस्त विवेचन पर फिर से तथा अधिक गम्भीरतापूर्वक विचार करने की आवश्यकता प्रतीत हुई, और मानक कोश के अगले संशोधित संस्करण के लिए सारा विवेचन नए साँचे में ढालना पड़ा। इस लेख में उस नये विवचन के आधार पर ही कुछ बातें लिखी जा रही हैं।

पदों, शब्दों, वाक्यों, वाक्यांशों आदि को जोड़नेवाला यह संयोजक अव्यय तो है ही पर कुछ अवस्थाओं में इसके प्रयोगों में से या तो वह संयोजक-तत्त्व बिलकुल निकल ही जाता है या बहुत दूर जा पड़ता है। हम कहते हैं–काम बिगाड़ते चलो और झिड़कियाँ सुनते चलो; अथवा खूब दूध पीओ और तन्दुरुस्त रहो। ऐसे अवसरों पर यह पहले कही हुई बात के परिणाम या फल का सूचक हो जाता है। झिड़कियाँ काम बिगाड़ने के फलस्वरूप सुननी पड़ती हैं; और तन्दुरुस्ती दूध पीने के फलस्वरूप आती है। फिर हम यह भी कहते हैं–मैं, और चुपचाप बैठा रहूँ; अथवा वह, और आपका सामना करे। ऐसे अवसरों पर यह किसी प्रकार की विपरीतता, विरोध अथवा विलक्षणता का सूचक होता है।

यह तो हुई ऐसे प्रयोगों की बात जिनमें इसका प्रयोग वाक्यों के बीच में होता है। पर कुछ ऐसे प्रयोग भी हैं जिनमें यह वाक्यों के आरम्भ में आता है; जैसे–और क्या तुम उसे हाथी-घोड़ा दे देते। अथवा और क्या मैं उसकी खुशामद करने बैठता। ऐसे अवसरों पर इसमें संयोजक-तत्त्व तो अवश्य वर्तमान रहता है, पर इसका सम्बन्ध कुछ दूरान्वयवाले तत्त्व से युक्त होता है। अर्थात् यह किसी ऐसी बात या व्यापार की ओर संकेत करता है जो पहले हो चुका है; और इसका अर्थ या आशय होता है–जो कुछ किया जा चुका है अथवा हो चुका है उसके अतिरिक्त या उससे अधिक। फिर हम यह भी कहते हैं–और अनजाने आदमी को नौकर रखो; अथवा और पढ़ी-लिखी औरत से ब्याह करो। ऐसे वाक्यों का प्रयोग तभी होता है जब कोई किसी अनजाने आदमी को नौकर रखने का अथवा किसी पढ़ी-लिखी स्त्री से विवाह करने का कोई दुष्परिणाम भोग चुका होता है। ऐसे अवसरों पर यह 'और' इस दुष्परिणाम की ओर व्यंग्यात्मक संकेत भी करता है, उस पर कटाक्ष भी करता है, और एक प्रकार से भविष्य के लिए सचेत या सावधान भी करता है। ऐसे प्रयोगों में उसका यह दूरान्वयी सम्बन्ध इतना अधिक दूर जा पड़ता है कि वह लुप्तप्राय हो जाता है। आशय यही होता है कि जो कुछ तुमने किया, वह तो किया ही; पर आगे कभी ऐसी भूल मत करना।

विशेषण रूप में इसका एक अर्थ अन्य या दूसरा तो है ही; जैसे–इस पर कोई और रंग होता तो अच्छा होता। एक और अर्थ होता है–प्रस्तुत से अधिक या जितना हो उससे ज्यादा; जैसे–अगर कुछ रुपये और हों तो काम मजे में चल जाय। फिर एक तीसरा अर्थ भी होता है–गैर, पराया या बेगाना जैसे–और कोई इस झगड़े में क्यों पड़ने लगा ?

क्रिया-विशेषण रूप में भी इसका प्रयोग होता है; जैसे–जरा और जल्दी-जल्दी

चलो; जिसका आशय होता है–चाल ज्यादा तेज करो। कुछ अवस्थाओं में इसका प्रयोग विशुद्ध सर्वनाम के रूप में भी होता है; जैसे–तुम औरों की बात छोड़ों, अपना विचार बताओ। अथवा, यह छाता मेरा नहीं, किसी और का है।

हो सकता है कि कुछ और प्रसंगों में कुछ भिन्न अर्थों में भी इसका प्रयोग होता हो, पर वे अभी तक मेरे ध्यान में नहीं आये हैं। यदि कोई विचारशील सज्जन इस सम्बन्ध में कुछ और सुझाव देने की कृपा करेंगे तो मैं उनका विशेष रूप से अनुगृहीत होऊँगा। ××

9. क्या

'क्या' हिन्दी के उन बहुत ही छोटे और सामान्य शब्दों में है, जिनका प्रयोग सभी लोग नित्य दिन में पचीसों-पचासों बार करते हैं। इसके साथ अनेक प्रयोग भी लगे हैं, जैसे–हम तुम्हें क्या समझते हैं, तुम उनके सामने क्या चीज हो, तुम क्या खाकर उनसे लड़ोगे, हम समझते हैं कि तुम्हारे मन में क्या है, क्या बात है, हमें क्या, हमारा क्या, क्या से क्या हो गया, आदि-आदि। इस प्रकार के बहुत से प्रयोग और उनके अर्थ हिन्दी शब्द-सागर में आये हैं। परन्तु मानक हिन्दी कोश का सम्पादन करने के समय मुझे 'क्या' के कई नये प्रयोग और अर्थ मिले हैं, जिनका अब तक हिन्दी के किसी कोश में समावेश नहीं हुआ है। शब्द-सागर में भी जो प्रयोग आये हैं, उनका वर्गीकरण भी उतना ठीक नहीं है, जितना होना चाहिए, और उनके अर्थों या व्याख्याओं में भी बहुत कुछ सुधार की आवश्यकता है। इसी दृष्टि तथा नए सिरे से विवेचन करने पर मुझे इसके सम्बन्ध में बहुत-सी बातें मिली हैं, जिनकी जानकारी भाषा-प्रेमियों के लिए मनोरंजक हो सकती हैं।

'क्या' के सम्बन्ध में पहली बात तो यह है कि पंडित कामताप्रसाद गुरु ने अपने हिन्दी व्याकरण में लिखा है कि इसकी कारक-रचना नहीं होती, और कदाचित इसी आधार पर शब्द-सागर में लिखा है कि इसके साथ विभक्ति नहीं लगती। पर शब्द-सागर में ही 'क्या का क्या हो जाना' अथवा 'क्या से क्या हो जाना', मुहावरा आया है जिसमें 'क्या' के आगे 'का' और 'से' विभक्तियाँ भी दिखायी गई हैं, वास्तव में बात यह है कि 'क्या' सर्वनाम तो है ही, विशेषण भी है, और जब विशेषण का प्रयोग संज्ञा के रूप में अथवा संज्ञा के स्थान पर होता है, तब उसमें विभक्ति लगती है; जैसे–बड़े से बड़ा, सबके सब आदि प्रयोगों में देखने में आता है। इसीलिए 'क्या' भी जब संज्ञा के स्थान पर प्रयुक्त होता है, तब उसमें विभक्ति लगती है। 'क्या से क्या हो गया' में दोनों 'क्या' कुछ विशिष्ट स्थितियों के वाचक है। 'क्या से क्या हो गया' का अर्थ या आशय होता है–पहले जो स्थिति थी, वह बदल कर बिलकुल भिन्न या विपरीत हो गई, अर्थात् एक रूप के स्थान पर दूसरा रूप हो गया। यहाँ 'क्या' स्थिति या रूप का वाचक है, अतः उसके साथ विभक्ति लगी है।

व्याकरण की दृष्टि से 'क्या' मूलतः प्रश्न-वाचक सर्वनाम है, पर यह विशेषण की तरह भी प्रयुक्त होता है, क्रिया विशेषण की तरह भी और अव्यय की तरह भी। तुम क्या

खाओगे ? वहाँ क्या हुआ ? तुम्हें क्या मिला ? क्या खरच लगा ? सरीखे प्रयोगों में यह सर्वनाम रहता है। 'वाह !' क्या बात कही है ! तुम्हारा वहाँ क्या हाल हो गया ! क्या पिद्दी और क्या पिद्दी का शोरबा ! सरीखे प्रयोगों में 'क्या' विशेषण तो हो ही गया है, उसका प्राश्निक रूप भी लुप्त हो गया है, और वह आश्चर्य, तुच्छता आदि का सूचक हो गया है। हमें क्या ! तुम्हारा क्या ! सरीखे प्रयोगों में भी 'क्या' है तो विशेषण ही पर, ऐसे अवसरों पर इसके आगे संज्ञा शब्द इसलिए नहीं है कि उसका अव्याहार हो गया है। इसमें 'क्या' वस्तुतः 'हमें क्या आवश्यकता या गरज है' का संक्षिप्त रूप है। और 'तुम्हारा क्या' वस्तुतः 'तुम्हारा क्या जाता या बिगड़ता है।' का संक्षिप्त रूप है। तुम ये सब बातें क्या जानो ! क्या कहना है ! हम क्या जायँ ! सरीखे प्रयोगों में भी यही 'क्या' और आगे बढ़कर क्रिया-विशेषण बन जाता है। और जब हम कहते हैं—क्या हम भी तुम्हारे साथ चलें ? तो यहाँ 'क्या' अव्यय हो जाता है।

पर ये सब तो 'क्या' के सम्बन्ध की बिलकुल सामान्य बातें हुईं। अब 'क्या' के कुछ ऐसे अर्थ तथा प्रयोग लीजिए जो मुझे नये मिले हैं। कुछ अवस्थाओं में 'क्या' का आशय 'नहीं' तो होता ही है; जैसे—'अब वह क्या आयेगा' फिर भी ऐसे अवसरों पर इसका आशय यह नहीं होता कि वह निश्चित रूप से नहीं आयेगा। इसमें कुछ सन्देह या सम्भावना का तत्त्व भी मिला रहता है। जब हम कहते हैं—'अब वह क्या आयेगा', अथवा 'वह क्या बचेगा' तो इसका आशय यही होता है कि उसके आने या बचने की बहुत ही कम आशा या सम्भावना है। अर्थात् हो सकता है कि किसी अवस्था में वह आ या बच भी जाय। फिर हम यह भी कहते हैं—दो क्या बल्कि चार आदमी भेज दो ! यहाँ भी 'क्या' का अर्थ प्रायः 'नहीं' के समान होता है, पर यह 'नहीं' भी कुछ अलग प्रकार का होता है। इसमें आपेक्षिक आवश्यकता, उपयोगिता आदि के तत्त्व निहित रहते हैं। और 'यह खाकी क्या हरा है।' में 'क्या' आपेक्षिक अनिश्चय और वरीयता के भाव का सूचक है। पर जब हम कहते हैं—'अन्धा इसे क्या देखेगा' अथवा 'मूर्ख इसे क्या समझेगा' तब हमारा आशय उक्त आशय से कुछ और आगे बढ़कर निश्चायक रूप धारण कर लेता है। जब कहते हैं—'तुम ये सब बातें क्या जानो' तब हमारा यह कथन उतना दृढ़ तथा निश्चायक नहीं होता, जितना 'अन्धा इसे क्या देखेगा', कहने में होता। और अर्थ-विवेचन की दृष्टि से यह अन्तर या भेद बहुत बड़ा और विशेष महत्त्व का है।

'क्या' के सम्बन्ध में बिलकुल नयी और सबसे अधिक महत्त्व की बात मेरे देखने में आयी, वह यह कि कुछ अवसरों पर इसका प्रयोग बिलकुल अकेले और बिना किसी दूसरे शब्द के योग के भी होता है और व्याकरण की दृष्टि से ऐसे अवसरों पर 'क्या न तो सर्वनाम रह जाता है, न विशेषण, अव्यय आदि, बल्कि वह एक स्वतन्त्र वाक्य बन जाता है। इस सम्बन्ध में व्याकरण का सिद्धान्त स्पष्ट है। जब हम अपने मन का कोई भाव प्रकट करने के लिए कुछ शब्द अपने व्याकरण के नियम के अनुसार किसी विशिष्ट क्रम में लगाकर कहते या लिखते हैं, तब उन शब्दों का समूह वाक्य कहलाता है। पर पहली और सबसे बड़ी शर्त यह होती है कि हमारे मन का कोई पूरा भाव उससे प्रकट हो। यदि भाव या विचार पूरा न हो, तो शब्द-समूह पद ही बनकर रह जाता है, वाक्य नहीं

बनता। पर कुछ अवसरों पर हम एक ही शब्द से अपने मन का कोई एक पूरा भाव या विचार प्रकट करते हैं, और ऐसी अवस्था में हमारा वह एक शब्द ही तात्त्विक दृष्टि से वाक्य बन जाता है। हमसे कोई पूछता है—आप कहां गये थे ? हम कहते हैं—घर। यहाँ यह अकेला 'घर' शब्द ही वाक्य बन गया है, क्योंकि इससे हम अपना यह भाव या विचार प्रकट करते हैं कि हम घर गये थे। 'क्या' का भी कुछ अवसरों पर वाक्य के रूप में ऐसा ही प्रयोग होता है। आपस में बात-चीत करने के समय किसी कारण से या कभी-कभी आपकी कोई बात, उसका कोई अंश या शब्द हम नहीं समझ या सुन पाते। उस समय हमें आप से पूछना पड़ता है—क्या ? अतः यह क्या भी यहाँ वाक्य हो जाता है। आप कह सकते हैं कि इस तरह तो व्याकरण की दृष्टि से ऊपर उदाहरण में का 'घर' भी संज्ञा न रह कर वाक्य बन गया है। पर नहीं; 'क्या' का यह अन्तिम उदाहरण तो हमने केवल विषय का स्पष्टीकरण करने के लिए दिया हैं। कुछ विशिष्ट अवसर ऐसे भी होते हैं, जिनमें 'क्या' में कुछ और भाव भी निहित रहते हैं, जिनका उल्लेख शब्द-कोशों में होना आवश्यक है। जब अचानक कोई अनहोनी, अनिष्ट अप्रत्याशित या विकट घटना घटित होने की बात हम सुनते हैं और हम प्रायः अवाक् से हो जाते हैं, तब हमारे मुँह से केवल 'क्या' निकल कर रह जाता है। यदि कोई आकर कहे—'आज सड़क पर दिन-दहाड़े गोलियाँ चल गयीं या डाका पड़ गया' पर प्रायः मुँह से उसी प्रकार 'क्या' निकल जाता है; जैसे अरे, हैं आदि शब्द निकलते हैं। ऐसे अवसरों पर यह विकट आघातजन्य विस्मय मात्र का सूचक होता है, और इसका आशय होता है कि क्या ऐसा भी कभी हो सकता है। एक और उदाहरण लीजिए। दो आदमियों में आपस में बहुत अधिक कहा-सुनी या लड़ाई-झगड़ा होता है। एक आदमी दूसरे से बिगड़कर कहता है—'मैं तुम्हारे घर में आग लगा दूँगा' या 'मैं तुम्हें जान से मार डालूँगा'। उस समय दूसरा आदमी क्रोध से भरकर कहता है—क्या ! अर्थ यह होता है कि क्या तुम मेरे रहते हुए ऐसा साहस कर सकते हो ? और आशय यही होता है कि मैं तुम्हें कदापि ऐसा न करने दूँगा। अथवा तुम कभी ऐसा न करने पाओगे।

सारांश यह कि बहुत से शब्दों का कुछ विशिष्ट अवसरों पर कुछ अलग अर्थ तथा कुछ स्वतन्त्र आशय होता है और आगे चलकर हमारे जो नये और अच्छे शब्दकोश बनें, उनमें शब्दों पर ऐसी ही गम्भीर दृष्टि से विचार करके उनके अर्थों, प्रयोगों आदि का निरूपण और विवेचन होना चाहिए। कोई शब्द छोटा या सामन्य समझकर उपेक्षापूर्वक छोड़ नहीं दिया जाना चाहिए।

××

10. खैर

'खैर' मूलतः अरबी की स्त्री० संज्ञा है जिसके मुख्य अर्थ हैं—कुशल क्षेम, मंगल आदि। परन्तु अव्यय रूप में इसका प्रयोग भी बहुत कुछ उसी प्रकार होता है जिस प्रकार हिन्दी के 'अंच्छा' अव्यय का। अनेक अवसरों पर अच्छा और खैर दोनों समानार्थक रहते हैं; जैसे—(क) अच्छा ! यह भी सही; और खैर, यह भी सही; (ख) अच्छा,

उनसे भी मैं समझ लूँगा; और खैर; उनसे भी मैं समझ लूँगा। परन्तु कुछ अवस्थाएँ ऐसी भी हैं जिनमें अच्छा और खैर के आशयों या भावों में बहुत कुछ अन्तर भी देखने में आता है। जैसे–'अच्छा ! तुम भी चल पड़े' में अच्छा की जगह खैर का प्रयोग नहीं हो सकता। इसी प्रकार 'दुनिया तो खैर मनाती है' में के 'खैर' के स्थान पर 'अच्छा' नहीं हो सकता। सूक्ष्म विचार करने पर ऐसा जान पड़ता है कि खैर में उपेक्षा, सहमति, स्वीकृति आदि के भाव तो अवश्य हैं; परन्तु आश्चर्य वाला भाव नहीं है। यह बात इस रूप में भी कही जा सकती है कि अच्छा तो अस्तु का वाचक है; परन्तु 'खैर' आधारणतः किसी प्रकार, जैसे-तैसे आदि भावों का सूचक है। और इसी लिए इसमें अवज्ञा, उदासीनता, उपेक्षा आदि के भाव भी अपेक्षया अधिक हैं। ××

11. ठीक

विशेषण, क्रिया-विशेषण और संज्ञा के रूप में प्रयुक्त होनेवाले हिन्दी का यह छोटा सा शब्द बहुत अधिक प्रचलित है। सभी लोग बोलचाल में नित्य इसका बहुत अधिक प्रयोग तो करते हैं परन्तु वह प्रयोग केवल अभ्यासवश और देखादेखी होता है और कभी कोई उसके आर्थी भेदों, वर्गों या विवक्षाओं पर कोई विचार नहीं करता। इसकी व्युत्पत्ति भी अनुमान से 'ठिकाना' शब्द से मानी गई है जो संभवतः हिन्दी के 'टिकना' या 'टिकान' से और संस्कृत के 'स्था' से सम्बद्ध है।

'हिन्दी शब्द सागर' में इसके विशेषण रूप की इतनी ही व्याख्या की गई है :–(क) जैसा हो वैसा; (ख) जैसा होना चाहिए वैसा; (ग) जिसमें भूल या अशुद्धि न हो; और (घ) जो बिगड़ा न हो, अच्छी दशा में हो। बाकी सारा काम यथार्थ, सच, प्रामाणिक, उपयुक्त, अच्छा, भला, उचित, मुनासिब योग्य, शुद्ध, सही, दुरुस्त आदि सरीखे पर्यायों से ही चलाया गया है और इन पर्यायों का वर्गीकरण भी युक्तिसंगत नहीं है।

जब तक इसकी और कोई व्युत्पत्ति निश्चित न हो और इसे 'ठिकाना' से ही व्युत्पन्न माना जाय तब तक इसकी पहली व्याख्या इस रूप में होनी चाहिए –जो अपने ठिकाने अर्थात् उचित या उपयुक्त स्थान पर हो; जैसे–यह तस्वीर अपनी ठीक जगह पर है।

परन्तु आगे चलकर यह शब्द अनेक प्रकार की दशाएँ, स्थितियाँ आदि सूचित करने लगता है और अनेक अवसरों पर अनेक प्रकार से प्रयुक्त होने लगता है। हमारी समझ में उन सब प्रयोगों का ध्यान रखते हुए इसके अर्थों का विभाजन और व्याख्या निम्नलिखित क्रम तथा प्रकार से होनी चाहिए :–

1. जो अपने नियत स्थान पर अच्छी या पूरी तरह से आता, बैठता या लगता हो; जैसे–यह जूता तुम्हारे पैर में ठीक होगा।

2. जो क्रम, परम्परा, व्यवस्था आदि के विचार से वैसा ही हो जैसा होना

चाहिए; जैसे—यह पुस्तक पाँचवें दरजे के लड़कों के लिए ठीक है।

3. जो नियम, नीति, न्याय, प्रकृति, प्रथा आदि की दृष्टि से उचित, उपयुक्त या संगत हो; जैसा साधारणतः होता हो वैसा ही; जैसे—ठीक आचरण या व्यवहार।

4. जो तर्क की दृष्टि से यथार्थ अथवा वास्तविकता की दृष्टि से यथा-तथ्य हो, जो मिथ्या न हो; जैसे—वहाँ से अभी तक ठीक विवरण (या समाचार) नही आया है।

5. जो बहुत कुछ या सब तरह से अनुकूल, सुगम अथवा सुभीते का हो; जैसे—(क) काम करने का यही ठीक ढंग है। (ख) शहर जाने का यही ठीक रास्ता है।

6. जिसमें किसी प्रकार की अशुद्धि, चूक या भूल न हो, शुद्ध, सही; जैसे—(क) इन प्रश्नों के हमें ठीक उत्तर मिलने चाहिए। (ख) यह हिसाब गलत है, इसे ठीक करो।

7. जिसमें गुण, प्रयोग, योग्यता आदि के विचार से कोई कोर-कसर, बुराई या विकार न हो; जैसे—(क) अब यह मशीन बिलकुल ठीक हो गई है। (ख) देखने में तो यह आदमी हर तरह से ठीक जान पड़ता है। (ग) इतनी ठोकरें खाने के बाद तो अब उसे ठीक हो जाना चाहिए।

8. जो स्वास्थ्य के विचार से अच्छी तथा प्रसम अवस्था में हो; जैसे—यही दवा खाते चलो, इससे तुम बिलकुल ठीक हो जाओगे।

9. जो औचित्य, निश्चय, मानक आदि के बिलकुल अनुरूप हो, कुछ भी आगे-पीछे या घट-बढ़कर न हो; जैसे—(क) गाड़ी ठीक चार बजे जाती है। (ख) इस आलमारी का ठीक दाम 50 रु० है।

10. नियत, निश्चित या स्थिर किया हुआ, ठहराया या पक्का किया हुआ; जैसे—(क) वे लड़की का ब्याह ठीक करने गये हैं। (ख) किराए के लिए एक मोटर ठीक कर लो। (ग) इस काम के लिए हमने एक आदमी ठीक कर लिया है।

उक्त अर्थों में उर्दू की देखादेखी अरबी का 'सही' विशेषण भी प्रायः प्रयुक्त होता है।

क्रिया-विशेषण रूप में यह शब्द मुख्यतः दो अर्थों में प्रयुक्त होता है। पहला अर्थ होता है—उचित अथवा संतोषजनक प्रकार या रूप से; जैसे—अभी तक तो यह घड़ी ठीक ही चल रही है। इसका दूसरा अर्थ होता है अवधि, सीमा आदि के विचार से नियत अवकाश, समय आदि पर; जैसे—(क) ठीक साल भर बाद वह वापस आया। (ख) यह कपड़ा नाप में ठीक दस गज है। कुछ अवसरों पर इसके साथ 'से' विभक्ति भी लगा देते हैं; जैसे—ठीक से सब काम करो। आशय होता है-ठीक ढंग, तरह या प्रकार से।

संज्ञा रूप में बोलचाल में इसका प्रयोग मुख्यतः दो अर्थों में देखने में आता है। एक तो-किसी काम या बात के सम्बन्ध में होनेवाला निर्णय, निश्चय या स्थिरता; जैसे—(क) पहले यहाँ रहने न रहने का ठीक कर लो, तब और बातें सोचना; (ख) उनके

यहाँ आने न आने का कोई ठीक नहीं है। इसका दूसरा अर्थ होता है-किसी कारण या बात के सम्बन्ध में होनेवाली प्रामाणिकता या विश्वसनीयता; जैसे–उसकी बातों का कोई ठीक नहीं है। इसके सिवा महाजनी बोलचाल में तीसरा अर्थ भी होता है-अंकों, संख्याओं आदि का जोड़ या योग; जैसे–इन सब रकमों का ठीक लगा दो। ××

12. तर्क-संगतिवाद

Rationalism

'तर्क-संगतिवाद' पु० (सं०) मेरी समझ में अंग्रेजी के (Rationalism) के लिए सबसे अधिक उपयुक्त और ठीक बैठनेवाला पद जान पड़ता है। मेरे देखने में अब तक इसके लिए तर्कवाद, तर्कणावाद, बुद्धिवाद, युक्तिवाद आदि कई पद देखने में आए हैं, परन्तु आशय और विवक्षा के विचार से 'तर्कसंगतिवाद' इनके स्थान पर सबसे अच्छा होगा।

वस्तुतः यह आधुनिक और पाश्चात्य दर्शन शास्त्र का एक प्रचलित और प्रसिद्ध सिद्धांत है। इसमें यह माना जाता है कि ज्ञान की प्राप्ति मुख्यतः तर्क और विचार के द्वारा ही होती है। केवल इन्द्रियों के द्वारा जानी या देखी हुई बातें सदा ठीक नहीं होती और हमें भ्रम में रख सकती हैं। अपने और विकसित अर्थ में इसका प्रयोग धार्मिक, पौराणिक आदि मतों और स्थापनाओं तथा परंपरागत उपाख्यानों, दन्त-कथाओं, रीति रिवाजों आदि के त्याग के भी सम्बन्ध में होता है। प्रायः सभी जातियों और देशों के प्राचीन ग्रन्थों आदि में बहुत सी ऐसी बातें मिलती हैं जो हमें विशुद्ध कल्पित और मन-गढ़न्त जान पड़ती हैं। फिर भी बहुत से अन्ध-विश्वासी लोग इन्हें परम मान्य समझते ही हैं। इस वाद में यह प्रतिपादित किया जाता है कि ऐसी बातें बिना अच्छी तरह सोचे-समझे और तर्क की कसौटी पर बिना कसे कभी ग्राह्य या मान्य नहीं होनी चाहिए। मनुष्य को सदा ऐसी बातें ही ठीक माननी चाहिए जो हर तरह से तर्क-संगत और वास्तविक जान पड़ें।

कोई बात अलौकिक और दैवी शक्ति के प्रभाव से युक्त समझकर ही नहीं मान ली जानी चाहिए। इस वाद का सारा आधार भौतिक या लौकिक ही होता है, लोकोत्तरिक नहीं। ××

13. दिव्य

'दिव्य' पु० (सं०) के विशेषण रूप में आकाश या देवताओं से सम्बन्ध रखनेवाला, परम सुन्दर आदि कई अर्थ हैं; परन्तु संज्ञा रूप में एक साधारण अर्थ में शपथ का पर्याय

ही है ।* परन्तु इसका मूलरूप और वास्तविक अर्थ कुछ और ही है । प्राचीन भारत में किसी अभियुक्त के अपराधी या निरपराध होने की दस विशिष्ट प्रकारों से परीक्षाएँ ली जाती थीं; जैसे—अग्नि-परीक्षा उदक-परीक्षा, तन्दुल, तप्त-मास आदि । परीक्षा के यही सब प्रकार दिव्य कहलाते थे । यह अंग्रेजी के Ordeal का ठीक समार्थक है । परन्तु आज-कल हिं० में Ordeal के स्थान पर अग्नि-परीक्षा का ही प्रयोग देखने में आता है जो दस प्रकार के दिव्यों मे से एक है । ××

14. दुहाई

इस शब्द की व्युत्पत्ति अभी तक अनिश्चित ही है । कई प्रकार के अनुमान और कल्पनाएँ अवश्य हुई हैं । एक विद्वान् का मत है कि यह शब्द संस्कृत के 'द्विधाकृतं' पद से बना है जिसका अर्थ है—मुझे दो टुकड़े कर डाला अर्थात् काट या मार डाला । किसी क्रुद्ध और प्रबल शत्रु के पंजे में पड़ने पर लोग इसी प्रकार की चीख-पुकार मचाते थे; जिसका विकृत रूप 'दुहाई' है । परन्तु यह बहुत ही क्लिष्ट कल्पना जान पड़ती है । कुछ और लोगों का मत है कि यह संस्कृत के 'द्विआह्वाय' से बना है, जिसका एक और रूप 'द्वयाह्वय' भी हो सकता है । इसका अर्थ होता है—(सहायता के लिए) दो बार (अर्थात् बार बार) चिल्लाना और पुकारना । इसी से मिलता-जुलता एक और अनुमान वह है जो ब्रज-भाषा के प्रसिद्ध मुहावरे 'हा हा खाना' से सम्बद्ध है ।** इसका अर्थ भी वही है जो ऊपर के संस्कृत के पदों का बतलाया गया है । इस प्रकार का अनुमान करनेवाले कहते हैं कि दो बार 'हा हा' करने से ही 'दो-हाई' रूप बना जो चलकर 'दुहाई' हो गया । ये अन्तिम दोनों अनुमान अधिक तर्कसंगत जान पड़ते हैं ।

हिन्दी में इसका पहला और मूल अर्थ होता है—बहुत अधिक कष्ट या विपत्ति आने पर अपनी रक्षा या सहायता के लिए जोर-जोर से चिल्लाकर मचाई जानेवाली पुकार । इसके साथ देना और मचाना क्रियाओं का प्रयोग होता है । आगे चलकर इसके कई और अर्थ भी विकसित होते हैं । मध्य युग में किसी नये राजा या शासक के अधिकारारूढ़ होने पर उसकी जो घोषणा जन-साधारण में की जाती थी उसे भी 'दुहाई' कहने लगे थे । इसका आशय यह होता था कि अब यदि कोई अत्याचारों आदि से पीड़ित हो तो उसी के नाम की पुकार करे अर्थात् उसी से रक्षा या शरण की प्रार्थना करे । इसी आधार पर इससे '(किसी के नाम की) दुहाई फिरना' वाला मुहावरा बन गया था जिसका अर्थ होता है—उक्त प्रकार की घोषणा का ढिंढोरा पीटा या फेरा जाना; यथा—नगर फिरी रघुबीर दुहाई ।—तुलसी । इससे भी और आगे बढ़कर यह किसी बहुत बड़े आदमी के पराक्रम, प्रभुत्व, यश, वैभव आदि का सूचक शब्द हो गया था ।

---

* बंगला में अभी तक शपथ या कसम के अर्थ में इसी 'दिव्य' का प्रयोग होता है; परन्तु इसका उच्चारण 'दिव्वि' होता है; जैसे—तोमार दिव्वि=तुम्हारी शपथ

** यथा—साँटी लै जसुमति अति तरजति हारे बसि हाहा खात ।—सूर ।

प्रायः बोल-चाल में कहा जाता है कि आज-कल उन्हीं की तो दुहाई है। इसी आधार पर इसका एक और अर्थ उसी प्रकार शपथ या सौगन्ध हो गया है जिस प्रकार 'आन' शब्द का हुआ है। (दे० 'आन') जिस प्रकार कहते हैं–'तुम्हें भगवान् की आन है' उसी प्रकार 'राम दुहाई' पद का भी प्रयोग होता है और जिसका अर्थ होता है–तुम्हें राम की शपथ है; जैसे–देखो राम दुहाई ऐसा काम मत करना।

एक दूसरे क्षेत्र में यह हिन्दी की 'दूहना' क्रिया से बना हुआ भाववाचक संज्ञा रूप भी है, जिसका अर्थ होता है–दूहने की क्रिया, भाव या पारिश्रमिक। परन्तु वह प्रस्तुत प्रसंग से बिलकुल भिन्न है। ××

15. पड़ना

'पड़ना' हिन्दी का एक बहुत ही छोटा और बिलकुल साधारण-सा शब्द है, जिसका प्रयोग प्रायः सभी हिन्दी-भाषी नित्य पचासों-सैकड़ों बार करते हैं। पर कदाचित् ही कभी क़िसी ने यह जानने, समझने या सोचने का प्रयत्न किया हो कि इसके कितने प्रकार के अर्थ, आशय और प्रयोग होते हैं। इसके संबंध की कोई बात जानने के लिए शब्दकोश देखना तो हिन्दी-भाषी व्यर्थ ही समझते होंगे। हिन्दी के अब तक के सर्वश्रेष्ठ शब्दकोश 'हिन्दी-शब्द सागर' में इसके 19 अर्थ किए गए हैं पर मानक हिन्दी कोश का सम्पादन करते समय मुझे विशेष छानबीन करने पर और भी ऐसे अनेक प्रयोग मिले हैं, जिनके आधार पर इसकी अर्थ-संख्या 25 तक जा पहुँची है और सम्भव है कि अभी कुछ और नए अर्थ तथा प्रयोग मिल जाएँ और इसकी अर्थ-संख्या कुछ और भी बढ़ जाय। ऐसे अर्थ-विशिष्ट प्रयोगों के कुछ उदाहरण इस प्रकार हैं–

1–कान में दवा, तरकारी में नमक या पेट में भोजन पड़ना।

2–घूँसा, थप्पड़ या लात पड़ना।

3–छत पर पलंग, पलंग पर बिस्तर या दीवारों पर छत पड़ना।

4–गरमी या सरदी पड़ना।

5–ओले या पत्थर पड़ना।

6–आफत या बला पड़ना, डाका पड़ना।

7–बात या मौका पड़ना।

8–बीमार होकर बिस्तर पर पड़ना।

9–धर्मशाला या सराय में जा पड़ना या पड़े रहना।

10–किसी बात में या किसी के बीच में पड़ना।

11–दुकान या मकान खाली पड़ना; चीजें व्यर्थ पड़ी रहना।

12–गहना या जायदाद रेहन पड़ना।

13–डेरा या पड़ाव पड़ना।

14–रास्ते में पुल या मन्दिर पड़ना।

15–घाव में मवाद या फल में कीड़े पड़ना।

16–किसी काम या बात की गरज या जरूरत पड़ना।

17–व्यवहार में गरम या नरम पड़ना; कमजोर या मजबूत पड़ना।

18–चार कोस की दूरी पड़ना।

19–माल महँगा या सस्ता पड़ना।

20–माल का पड़ता या लागत पड़ना।

21–रोजगार में घाटा पड़ना।

22–किसी को कल या चैन पड़ना।

23–खरच का पूरा पड़ना।

24–किसी के नाम रकम पड़ना।

25–लड़के का अपने बाप (या माँ) पर पड़ना।

26–कुछ जान पड़ना या दिखाई पड़ना। आदि आदि।

हो सकता है कि अधिक छान-बीन और सोच-विचार करने पर इसके कुछ और भी सूक्ष्म अर्थ, आशय, प्रयोग, भेद आदि मिल जाएँ , मैंने तो इस शब्द पर पूरे 8 दिन लगाये थे, पर इतना सब कुछ करने पर भी मुझे यही समझकर रुक जाना पड़ा कि अभी इस पर महीनों लगाए जा सकते हैं। पर प्रश्न तो यह है कि इतना समय कहाँ से आए और इसके लिए आवश्यक व्यय तथा साधन कौन जुटाए।

ऊपर 'पड़ना' के जो प्रयोग बतलाए गए हैं, वे एक प्रकार से बहुत ही साधारण और नित्य की बोलचाल में आनेवाले हैं। इनके सिवा इसके विलक्षण प्रयोगों के सम्बन्ध में कुछ ऐसी बातें भी हैं जो या तो व्याकरण के क्षेत्र में आती हैं या शोध के क्षेत्र में।

'पड़ना' के मुख्य अर्थ वही दो हैं, जिनके दो उदाहरण ऊपर आरम्भ में दिए गए हैं। शेष अर्थ और प्रयोग किसी न किसी रूप में इन्हीं दोनों से परिवर्द्धित, विकसित या विकृत हुए हैं। सैद्धांतिक दृष्टि से यह क्रिया हिन्दी की सकर्मक क्रिया 'डालना' का अकर्मक रूप है; जैसे–किसी चीज में कोई दूसरी चीज डालना और किसी चीज में कोई दूसरी चीज पड़ना, कहीं डेरा डालना और कहीं डेरा पड़ना, किसी के नाम कोई रकम डालना और किसी के नाम कोई रकम पड़ना आदि आदि। अनेक अकर्मक क्रियाओं के साथ 'पड़ना' का प्रयोग संयोज्य क्रिया के रूप में भी होता है। कहीं तो इससे किसी क्रिया का आकस्मिक आरंभ सूचित होता है; जैसे–कुछ देख या सुनकर चौंक या हँस पड़ना, बिना सोचे-समझे घर से चल या निकल पड़ना। और कहीं इससे किसी क्रिया या व्यापार का घटित, पूर्ण या समाप्त होना सूचित होता है; जैसे–कूद पड़ना, घूम पड़ना, फट पड़ना आदि। कुछ अवस्थाओं में यह क्रिया किसी प्रकार की बाध्यता या विवशता की भी सूचक होती है; जैसे–मुझे रोज उनके घर जाना (या जाकर बैठना) पड़ता है। परन्तु ऐसा मुख्यतः क्रियार्थक संज्ञाओं के प्रसंग में ही होता है। अवधारणबोधक क्रियाओं के साथ

लगकर यह क्रिया बहुत कुछ 'जाना' या 'होना' की तरह का अर्थ देती है और उन सकर्मक क्रियाओं को अकर्मक क्रियाओं का सा रूप दे देती है; जैसे—जान पड़ना, दिखाई पड़ना, समझ पड़ना आदि। कुछ अवस्थाओं में यह क्रिया 'जाना' से कुछ भिन्न भाव भी सूचित करती है; जैसे—'वह कूद जायगा' में तो बहुत कुछ योग्यता, शक्ति, सामर्थ्य आदि का भाव है, पर 'वह कूद पड़ेगा' में अधिकतर सम्भावना का भाव ही प्रधान है। कुछ संज्ञाओं के साथ लगकर यह क्रिया साधारण 'आना' या 'होना' की तरह का भी अर्थ देती है; जैसे—ख्याल पड़ना, याद पड़ना आदि। कभी-कभी इस क्रिया के योग से कुछ पदों में मुहावरे का तत्त्व भी आ लगता है; जैसे—(1) ऐसी समझ पर पत्थर पड़े। (2) दौलत तो मानों उनके घर फटी पड़ती है। (3) बहुत बोलने (या सरदी लगने) से गला पड़ (अर्थात बैठ) जाता है। (4) वह अकेला ही दो आदमियों पर भारी पड़ता है। (5) इस तरह हाथ धोकर किसी के पीछे पड़ना ठीक नहीं है। (6) राणा की सेना रातोंरात शत्रुओं पर जा पड़ी। या टूट पड़ी आदि आदि। कुछ अवस्थाओं में यह विशुद्ध शक्यता या संभावना की भी सूचक होती है; जैसे—बन पड़ा तो मैं किसी दिन वहाँ जाऊँगा। कभी-कभी यह किसी क्रिया की तुल्यता या समकक्षता भी प्रकट करती है; जैसे—(क) तुम तो आस-पास बैठे हुए लोगों पर गिरे पड़ते हो। (ख) वह खाने-पीने की चीजों पर गिरा पड़ता है, आदि आदि। ××

16. पलायनवाद
Escapism

पलायनवाद *पु०* (सं०) कायर और भीरू व्यक्तियों की ऐसी मनोवृत्ति का वाचक शब्द है, जिसके कारण वे जीवन की वास्तविक स्थितियों से बचकर दूर भागने का प्रयत्न और विचार करते हैं। अपने उत्तरदायित्व के निर्वाह और कर्तव्य के पालन से डर और बचकर कुछ लोग दूर हटना चाहते हैं; और यह सोचते-समझते हैं कि इन सब झंझटों से निकलकर ही निरापद भाव से और सुखपूर्वक रह सकते हैं। उनकी ऐसी ही प्रवृत्तियों और मनोवृत्तियों का सूचक विचार ही आज-कल पलायनवाद कहलाता है। अपने परवर्ती और विकसित अर्थ में इसका प्रयोग कला, साहित्य आदि की ऐसी कृतियों और रचनाओं के सम्बन्ध में भी होने लगा है, जो इस प्रकार की मनोवृत्ति को बढ़ावा देती हैं; अथवा उनकी तृप्ति के लिए साधन और सुयोग उत्पन्न करती हैं। ××

17. मुँह

'हाथ' के अर्थों और मुहावरों के सम्बन्ध में मेरा जो लेख 'आज' में प्रकाशित हुआ था उसके सम्बन्ध में कई सुयोग्य मित्रों ने चर्चा करते हुए इस विषय में अच्छा रस दिखाया था और मुझसे अनुरोध किया था कि शब्दों के अर्थों और मुहावरों के विवेचन का यह क्रम बराबर चलता रहना चाहिए। यद्यपि मानक हिन्दी कोश के लिए भी और यों भी शब्दों के नये ढंग के विवेचन का काम और विचार मैं बराबर करता रहता हूँ, फिर भी

नियमित रूप से पत्रों में इस प्रकार लेख लिखते रहना बराबर मेरे लिए कई कारणों से सम्भव नहीं है। हाँ शरीर के कुछ प्रमुख अंगों के अर्थों और मुहावरों का विवेचन मैं स्वयं दो दृष्टियों से हिन्दी-जगत् के सामने रखना चाहता हूँ। एक तो यह कि हिन्दी वालों की रुचि इस विषय की ओर बढ़े, और दूसरे यह कि भावी कोशकारों के लिए शब्दों के विवेचन और अर्थ-विभाजन के विचार से अधिक तर्क-संगत, निर्भ्रान्त, परिष्कृत तथा व्यवस्थित हो। 'शब्द-सागर' से अर्थ-विवेचन की जो परिपाटी आरम्भ हुई थी, उसके परम आदरणीय और श्लाघ्य होने में कोई सन्देह नहीं। परन्तु अब ऐसा समय आ गया है कि उस परिपाटी में नित्य बढ़नेवाली नयी आवश्यकताओं के विचार से परिवर्तन, संशोधन और सुधार होने चाहिए और उसकी सभी प्रकार की त्रुटियाँ दूर होनी चाहिए। हमारे आनेवाले कोशों का स्वरूप अद्यावधिक और अधिक कलात्मक होना चाहिए।

कोश के लिए मुहावरे लेते समय दो बातों का ध्यान रखना आवश्यक होता है। एक तो यह कि उनका वर्गीकरण अधिक अर्थ-परक और तर्क-संगत होना चाहिए, दूसरे उन मुहावरों की व्याख्या अपेक्षाकृत अधिक ठीक, व्यापक तथा स्पष्ट होनी चाहिए। यों तो 'मुँह' शब्द के आठ-नौ अर्थ हैं, परन्तु ऐसे मुख्य अर्थ दो ही हैं, जिनके साथ अधिकतर मुहावरे सम्बद्ध हैं, इनमें पहला अर्थ तो उस अंग के सम्बन्ध में है जिससे हम खाते-पीते और बात करते हैं और दूसरा अर्थ सारे चेहरे से, जिसमें आँखें, नाक, ठोढी आदि सम्मिलित या सम्बद्ध हैं। इसके सिवा कुछ गौण अर्थ भी हैं और उनके साथ भी कुछ मुहावरे हैं। साधारणतः मुँह के मुहावरों का 'शब्द-सागर' में बहुत-कुछ ठिकाने का वर्गीकरण हुआ है। फिर भी उसमें की कुछ बातें विचारणीय हैं। उसमें मुँह का दूसरा अर्थ है—मनुष्य का मुख-विवर। पर इसके पेटे में कुछ ऐसे मुहावरे भी आ गए हैं, जो मनुष्य या उसके मुख-विवर से नहीं, बल्कि पशु-पक्षियों के मुख-विवर से सम्बद्ध हैं; जैसे—मुँह डालना, मुँह देना आदि मुहावरों का प्रयोग केवल पशु-पक्षियों के सम्बन्ध में होता है। मनुष्य न तो किसी चीज में मुँह डालता है, न देता है। वह तो मुँह में चीज डालता या रखता है। इसी अर्थ के अन्तर्गत 'मुँह का कच्चा' और 'मुँह का कड़ा' ऐसे पद (मुहावरे नहीं) भी हैं, जिनका प्रयोग एक ओर मनुष्य के लिए भी होता है और दूसरी ओर पशुओं के लिए भी। इसके सिवा मुँह चलाना, मुँह फैलाना या बाना आदि मुहावरे भी हैं जो मनुष्यों के लिए भी और पशुओं के लिए भी समान रूप से समान अर्थ में प्रयुक्त होते या हो सकते हैं। ऐसी दशा में यह तो कहा ही नहीं जा सकता कि 'मुँह' का मनुष्यों से सम्बद्ध अर्थ और उसके मुहावरे अलग दिए जाएँ और पशु-पक्षियों से सम्बद्ध अर्थ तथा मुहावरे अलग दिए जाएँ। इसलिए ऐसी कठिनाई से बचने का एकमात्र उपाय यही है कि स्वयं 'मुँह' शब्द की व्याख्या मनुष्य के मुख-विवर तक ही परिमित न रखकर इतनी विशद और व्यापक रखी जाय कि उसके अन्तर्गत दोनों पक्षों के पद और मुहावरे आ सकें।

अब इसी बात पर एक दूसरी दृष्टि से विचार कीजिए। एक प्रसिद्ध मुहावरा है—मुँह मारना। पशु-पक्षियों के सम्बन्ध में इसका भी प्रायः वही अर्थ होता है जो मुँह डालना (या देना) का है। यह प्रयोग पहले अर्थ (खाने-पीने के अंग) से सम्बन्ध रखता है और इसलिए पहले अर्थ के साथ इसका अर्थ रहना उचित ही है। इसी प्रकार 'किसी के

मुँह से दूध की बू आना' भी है तो मूलतः खान-पान से ही सम्बद्ध; परन्तु लाक्षणिक रूप से इसका अर्थ होता है—ऐसी किशोर अथवा आरम्भिक युवावस्था में होना कि अभी तक लड़कपन पूरी तरह से दूर न हुआ हो। अर्थात् यह लड़कों के से आचार-व्यवहार या बात-चीत के लक्षणों का सूचक है। एक और मुहावरा है—किसी का मुँह मारना। कोशों में इसके जो अर्थ मिलते हैं, वे अधूरे और अव्याप्ति दोष से युक्त हैं। लाक्षणिक रूप से इसका वास्तविक अर्थ है या होना चाहिए—(क) किसी को दबाने, नीचा दिखाने, रोकने या वशवर्ती करने के लिए कोई बलसूचक या कठोर कार्य करना; और (ख) स्वयं ऐसी उत्कृष्ट स्थिति में होना कि सहज में किसी को परास्त या लज्जित करके हीन सिद्ध किया जा सके। इनमें पहले अर्थ का उदाहरण है—हजार रुपए की थैली देकर उनका भी मुँह मार दो। और दूसरे अर्थ का उदाहरण है—यह कपड़ा सूती होने पर भी रेशमी का मुँह मारता है। तात्त्विक दृष्टि से यह अर्थ-प्रकार खाने-पीनेवाले अंग से तो अलग है ही, सारे चेहरेवाले दूसरे अर्थ से भी इसलिए अलग है कि इसका प्रयोग केवल लाक्षणिक रूप में और वह भी केवल पौरुष, बल आदि सूचित करने के प्रसंग में होता है। इसलिए यह मुहावरा पहले अर्थ के साथ नहीं बल्कि 'मुँह' के दूसरे अर्थात् चेहरेवाले अर्थ के साथ रहना चाहिए। अब इसी वर्ग का एक और मुहावरा देखिए। हम कहते हैं—(क) पहले अपना मुँह तो देखो; और (ख) यहाँ भला किसका मुँह है जो तुम्हारे सामने आवे। ऐसे अवसरों पर 'मुँह' शब्द का प्रयोग बिना किसी विशिष्ट क्रिया के सहयोग के होता है। इसमें ध्यान देने की दो बातें हैं। एक तो यह कि ऐसे प्रयोगों के अर्थ-विवेचन के समय उनका स्वतन्त्र अर्थ-विभाग भी अपेक्षित होता है और दूसरे यह कि किसी विशिष्ट क्रिया से सम्बद्ध न होने के कारण मुहावरों में इनका अन्तर्भाव नहीं हो सकता। इसलिए मानक हिन्दी कोश में 'मुँह' शब्द के अपने नए विवेचन में मैंने इस दृष्टि से उसके दो-तीन नए अर्थ बढ़ा दिए हैं। पुरानी विवेचन-प्रणाली के अनुसार ऐसे प्रयोगों को मैंने मुहावरों के अन्तर्गत नहीं माना है। एक और प्रसिद्ध मुहावरा है, जो 'शब्द-सागर' में 'मुँह धो रखना' के रूप में आया है। पर वास्तविक बात यह है कि इसका प्रयोग सदा विधि के रूप में ही होता है, अर्थात् सदा दूसरे के प्रति और इस रूप में होता है—तुम 'मुँह धो रखो' या 'आप मुँह धो रखें (रखिए)।' हम कभी यह नहीं कहते—हमने मुँह धो रखा या वह मुँह धो लेगा आदि। और इस दृष्टि से कोशों में भी इस मुहावरे का रूप रहना चाहिए—मुँह धो रखो (रखिए या रख)। यदि ऐसा न करके इस मुहावरे का रूप 'मुँह धो रखना' ही रखा जाएगा तो साधारण शिक्षितों और अन्य भाषा-भाषियों में इस रूप के कारण बहुत भ्रम फैलेगा और सम्भव है कि वे इसका प्रयोग उसी प्रकार भ्रमात्मक तथा अशुद्ध रूपों में करने लगें, जिनका उल्लेख ऊपर किया गया है। कोशकार की एक छोटी सी भूल के कारण दूसरे लोग बहुत बड़ी-बड़ी भूलें कर सकते हैं और कोशकार प्रकारांतर से भाषा का रूप बिगाड़ने का दोषी ठहर सकता है। अतः कोश-रचना के क्षेत्र में अग्रसर होने के समय शब्दों के अर्थों, प्रयोगों, मुहावरों आदि का ऐसा ही सूक्ष्म विचार और विवेचन होना चाहिए।

'हाथ' की ही तरह 'मुँह' के मुहावरे भी कई वर्गों में विभक्त हैं। उसके कुछ मुहावरे खान-पान से, कुछ बोल-चाल से और कुछ केवल मनोभावों से सम्बद्ध हैं। 'मुँह जूठा

करना', 'मुँह मीठा करना', आदि केवल खान-पान से सम्बद्ध हैं, और 'मुँह बन्द करना', 'मुँह बाँधकर बैठना', 'मुँह में लगाम न होना', 'मुँह सीना', 'मुँह से फूल झड़ना', 'किसी के मुँह की बात छीनना' आदि का अन्तर्भाव बोल-चालवाले प्रसंग में होता है। 'मुँह चिढ़ाना या बनाना', 'मुँह में लहू लगना', 'मुँह में कीड़े पड़ना', 'किसी के सामने मुँह फैलाना', 'मुँह में पानी भर आना' आदि मुहावरे ऐसे हैं जिनका सम्बन्ध मुख्यतः मनोभावों से है। परन्तु कुछ मुहावरे ऐसे भी हैं जो एक ओर तो खान-पान से भी सम्बद्ध हैं और दूसरी ओर बोल-चाल से भी; जैसे–'मुँह चलना या चलाना', 'मुँह लगना या लगाना' आदि। हम कहते हैं–(क) जब देखो तब तुम्हारा मुँह चलता रहता है। और (ख) अब तो तुम बड़ों के सामने भी मुँह चलाने लगे। इनमें से पहला उदाहरण खान-पान से और दूसरा उद्दण्डतापूर्ण वाचालता से सम्बद्ध है। इसी प्रकार हम कहते हैं–(क) आज-कल तो बिस्कुट तुम्हारे मुँह लगा है। और (ख) नया नौकर अभी से मुँह लगने लगा है। इन उदाहरणों में भी खान-पान और वाचालतावाला अन्तर है। अर्थों के वर्गीकरण के सम्बन्ध में अब तक मैंने जो बातें कही हैं उनका ध्यान रखते हुए यह स्पष्ट ही है कि ऐसे मुहावरे एक जगह रखकर उनके दोनों अर्थ एक साथ देना न तो उचित ही है न तर्कसंगत ही और न कोशरचना की कला के विचार से निर्दोष तथा सूक्ष्म विवेचन का परिचायक ही। अतः इस प्रकार के मुहावरे अपने-अपने स्वतन्त्र अर्थ विभाग में आने चाहिए।

अब मुँह के कुछ मुहावरों के अर्थ या व्याख्याएँ लीजिए। अपना-सा मुँह लेकर रह जाना (या लौट आना) एक प्रसिद्ध मुहावरा है। साधारण कोशों में इसका अर्थ इस प्रकार पाया जाता है–लज्जित या चुप होकर रह जाना। 'मुँह ताकना' का अर्थ प्रायः कोशों मे इस प्रकार मिलता है–चकित होकर मुँह देखना या कुछ न कर सकने के कारण चुपचाप बैठना आदि। परन्तु क्या इतने से ही इन मुहावरों के ठीक-ठीक आशय प्रकट हो जाते हैं ? शायद बिलकुल नहीं। इनकी व्याख्याएँ क्रमात् कुछ इस प्रकार होनी चाहिए–(क) निराश, विफल, या हतोत्साह होने के कारण दीन या लज्जित भाव से चुपचाप रह जाना (या लौट आना)। और (ख) अकर्मण्य, असमर्थ, चकित या विवश होकर अथवा आशा, प्रतीक्षा आदि में चुपचाप किसी ओर (या किसी की ओर) देखते रहना आदि। 'मुँह में पानी भर आना' या 'मुँह से लार टपकना' आदि के जो साधारण अर्थ कोशों में मिलते हैं, वे स्वयं व्याख्या की दृष्टि से तो अपूर्ण हैं ही, इस दृष्टि से भी कुछ अपूर्ण हैं कि व्याख्याओं में इस बात का संकेत नहीं मिलता कि ये मुहावरे किस आधार पर अथवा कैसी क्रियाओं के अनुकरण पर बने हैं। यदि पहले मुहावरे के साथ खाने-पीने की चीज देखने पर मुँह में होनेवाली विशिष्ट शारीरिक प्रक्रिया का भी संकेत कर दिया जाय तो जिज्ञासुओं को ठीक आशय समझने में अधिक सहायता मिलेगी या अधिक सुगमता होगी। हिन्दी के भावी आदर्श तथा प्रामाणिक कोशों में इस प्रकार की नई और सूक्ष्म बातों की ओर भी ध्यान दिया जाना चाहिए। ××

18. रस

रस मूलतः किसी ठोस पदार्थ के अन्दर का वह तरल अंश है जो प्रायः किसी विशिष्ट गुण या स्वाद से युक्त होता है। कुछ अवस्थाओं में तो यह तरल अंश छोटी-छोटी बूँदों के रूप में धीरे-धीरे आप से आप ही बाहर निकलता रहता है; जैसे–ताड़ के वृक्ष का रस जो बाहर निकलने पर ताड़ी के रूप में प्राप्त होता है अथवा बबूल के अन्दर का रस जो बाहर निकलकर उसके तने पर ही सूखकर जम जाता और बाजार में गोंद के रूप में बिकता है। कुछ अवस्थाओं में यह रस पत्तियों, फलों, फूलों आदि को दबा या निचोड़कर, कूट-पीसकर अथवा उबाल कर या भभके से चुआकर निकाला जाता है; जैसे–गन्ने का रस, अनार, सन्तरे या सेव का रस। औषधों का जो काढ़ा या क्वाथ बनाया जाता है वह भी उनका रस निकालने के लिए ही। इससे और आगे चल कर रस का प्रयोग उन तरल पदार्थों के लिये होता है जो प्राणियों के पेट में खाद्य पदार्थ पहुँचने पर अन्दर की पाचन-क्रिया की सहायता से बनते और शरीर के भिन्न-भिन्न अंगों का पोषण करते हैं। इसी से और आगे चलकर यह दूध, पानी, पसीने, लासे आदि का भी अर्थ देता है। इससे और अधिक विकसित होकर यह शब्द कुछ ऐसे पदार्थों का भी वाचक हो जाता है जो या तो बिलकुल ठोस या बहुत कुछ ठोस होते हैं; जैसे–शिंगरफ, पारा आदि। फिर वैद्यक में धातुओं को फूँककर जो भस्म तैयार करते हैं उन्हें भी रस कहते हैं; जैसे–रस पर्पटी, रस सिंदूर आदि।

ये तो हुए इसके मूर्त रूप। इससे और आगे बढ़ने पर इसमें कुछ अमूर्त गुणों, विशेषताओं आदि के सूचक अर्थ भी लोक में प्रचलित हो गए हैं। खाने-पीने की चीजों में हमें जो स्वाद मिलता, वह होता तो वस्तुतः उनके अन्दर के तरल अंशों के कारण ही है, पर जीभ से हमें उनका जो स्वाद मिलता है वह भी रस ही कहलाता है। इस आधार पर हमारे यहाँ वैद्यक में खाद्य पदार्थों के छः रसों का आविर्भाव हुआ है जो अलग-अलग प्रकार के स्वादों के वाचक हैं। इससे भी और आगे बढ़ने पर यह उस आनन्द और सुख का वाचक बन जाता है जो हमें अच्छी और सुन्दर चीजें देखने या बातें सुनने पर प्राप्त होता है। इसी आधार पर हमारे यहाँ साहित्य में अद्‌भुत, करुण, भयानक, रौद्र, वीभत्स, वीर, शांत, शृंगार और हास्य इन नौ रसों की कल्पना हुई है। कथाओं, काव्यों, नाटकों के देखने-सुनने से हमारे मन मे करुणा, क्रोध, प्रीति, हर्ष आदि की जो अनुभूतियाँ होती हैं, उनका उत्पादक मूल तत्त्व यह रस ही माना गया है। यह ठीक है कि कुछ रस हमारे मन में क्रोध, घृणा के भाव भी उत्पन्न करते हैं; और ऐसी बातें तात्कालिक दृष्टि से अच्छी या सुन्दर नहीं कही जा सकतीं। फिर भी ऐसे दृश्य देखने अथवा वर्णन सुनने के उपरांत हमारे मन में यह सोचकर एक प्रकार का आनन्द ही होता है कि जो कुछ हमने देखा या सुना वह इतना वास्तविक जान पड़ता था कि अन्त में हमें उसकी प्रशंसा ही करनी पड़ी। इसी लिए दार्शनिक क्षेत्र में, रस की परिभाषा करते हुए कहा गया है कि भोग-विषयों के साथ इंद्रियों का संयोग होने पर मन को जो सुख मिलता है वही रस है। इसी आधार पर लोक-व्यवहार में हम कहते हैं–(क) उन्हें कविता सुनने में बहुत रस मिलता है; और (ख) कोई किसी रस में मग्न है तो कोई किसी रस में। फिर इसमें काम-क्रीड़ा, मन की तरंग,

सुख-भोग आदि के और अनेक अर्थ आ लगते हैं।

कदाचित् रस की इन्हीं श्रेष्ठताओं के कारण उपनिषदों में आनंदमय परम ब्रह्म को भी 'रस' कहा गया है। ××

19. रैडार

Radar

एक प्रकार का प्रसिद्ध आधुनिक यंत्र है जिसका उपयोग आज-कल सैनिक क्षेत्रों में प्रायः अधिकता से होता है। इसमें एक प्रकार का ऐसा यंत्र रहता है जो सैकड़ों मील की दूरी तक Radio (रेडियो की) किरण प्रसारित करता है। ये किरणें दूर-दूर तक जाकर चीजों से टकराकर फिर लौट आती हैं; और उन किरणों के विश्लेषण से यह जाना जाता है कि वह दूरी की चीज क्या है, कैसी है और किस गति से किधर आ या जा रही है। इससे सैकड़ों मील की दूरी पर आने-जानेवाले समुद्री या हवाई जहाजों और यहाँ तक कि समुद्र के नीचे चलने वाली पनडुब्बियों तक की गति-विधियों का पूरा पता चल जाता है। यदि शत्रु के समुद्री या हवाई जहाज आक्रमण के लिए आते हुए दिखाई पड़ें तो उनका सामना करने की पूरी तैयारी पहले से ही कर ली जाती है और यदि यह पता चले कि वे अमुक स्थान पर इकट्ठे हुए अथवा ठहरे हैं तो वहाँ पहुँचकर उन पर आक्रमण भी किया जा सकता है। ××

20. शीत युद्ध

Cold war

'शीत युद्ध' पु० (सं०) उस विरोधात्मक और शत्रुतापूर्ण लाग-डाँट का वाचक है जो आधुनिक राजनीति में प्रायः बड़े-बड़े राष्ट्रों में निरन्तर चलती रहती है। इसमें खुलकर या प्रत्यक्ष रूप से सैनिक आक्रमण और प्रत्याक्रमण तो नहीं होते; परन्तु इसमें राष्ट्र अपना प्रभाव और शक्ति प्रदर्शित करने तथा बढ़ाने के लिए गूढ़ राजनयिक चालें चलते रहते हैं और एक दूसरे को नीचा दिखाने और उनका प्रभाव कम करने का प्रयत्न करते रहते हैं। इसका फल यह होता है कि उनके तथा दूसरे राष्ट्रों के लिए बड़ी-बड़ी उलझनें और कठिनाइयाँ खड़ी हो जाती हैं; और उन्हें निरन्तर जटिल समस्याओं का सामना करना पड़ता है। ××

21. संवर्धन

Cultivation

साधारणतः इसका अर्थ होता है–अच्छी और ठीक तरह से बढ़ना या बढ़ाना। दूसरा अर्थ होता है प्रस्तुत या वर्तमान में वृद्धि करना या होना। पर आज-कल वैज्ञानिक

प्रसंगों में इसका प्रयोग मुख्यतः दो क्षेत्रों में होने लगा है। पहला क्षेत्र तो वह है जिसमें जीव-जंतुओं, पशु-पक्षियों आदि की नस्लें सुधार कर उनके गुणों, शक्तियों, संख्या आदि की वृद्धि की जाती है और अनेक दृष्टियों से उन्हें विकसित करने की क्रियाएँ की जाती हैं (कल्चर)। दूसरा क्षेत्र उन अमूर्त तत्त्वों, भावों आदि का है जिनमें विशिष्ट गुणों, शक्तियों आदि की उन्नति या विकास किया जाता है। (कल्टिवेशन) ××

22. सर्वोदय

'सर्वोदय' (सं० सर्व+उदय) का शब्दार्थ है –सबका उदय अर्थात् उन्नति, बढ़ती और विकास। परन्तु आज-कल इसका प्रयोग उस विशिष्ट सामूहिक-आन्दोलन के लिए होता है जो महात्मा गाँधी ने सब लोगों की आर्थिक, नैतिक और सामाजिक स्थित सुधारने के लिए आरम्भ किया था। यह मुख्यतः भारतीय आध्यात्मिक और दार्शनिक आधार पर स्थित है। आज-कल भारत में भी और बहुत से दूसरे पिछड़े हुए तथा विकासशील देशों में जो कष्ट, दुराचार, भुखमरी आदि अनेक बातें भरी पड़ी हैं, उन सबको दूर करके समस्त मानव जाति को कल्याण और मंगल के सात्विक मार्ग पर चलाना और दिन पर दिन बढ़ते हुए आर्थिक शोषण, ईर्ष्या, द्वेष, वैर-विरोध आदि को कम करके ऐसा सामाजिक आदर्श उपस्थित करने का प्रयत्न किया जाता है जिसमें सब लोग समान रूप से शान्ति और सुखपूर्वक जीवन व्यतीत कर सकें। साथ ही सब लोगों को अपनी उन्नति करने के लिए समान रूप से अवकाश और साधन प्राप्त हो सकें। और ये सब बातें तभी हो सकती हैं जब सब लोगों का जीवन साधारण, लौकिक स्तर से ऊपर उठाकर आध्यात्मिक और दार्शनिक स्तर पर ले जाया जाय। इसे हम महात्मा गाँधी की राम-राज्यवाली कल्पना की भूमिका ही कह सकते हैं। ××

23. सही

हिन्दी में यह शब्द विशेषण रूप में भी, *स्त्री०* संज्ञा रूप में भी और अव्यय रूप में भी प्रचलित है। विशेषण रूप में यह अरबी के 'सहीह' शब्द से बना है; और हिन्दी में नीचे लिखे अर्थों में प्रचलित है–

(1) सच या सत्य; जैसे–सही-सही बतलाओ कि तुम वहाँ गये थे या नहीं।

(2) ठीक या यथार्थ; जैसे–तुम्हारा कहना बिलकुल सही निकला।

(3) जिसमें गणना के विचार से कोई त्रुटि, दोष या भूल न हो, शुद्ध; जैसे–(क) तुम्हारा यह हिसाब बिलकुल सही है; (ख) तुमने जो जोड़ लगाया है वह गलत है; सही जोड़ लगाओ।

(4) स्वास्थ्य आदि के विचार से चंगा या नीरोग; जैसे–उनकी मृत्यु का समाचार बिलकुल निराधार है; वे सही-सलामत अपने घर पर मौजूद हैं।

इन सभी अर्थों में प्रामाणिकता, वास्तविकता आदि के तत्त्व स्पष्ट रूप से वर्तमान

हैं।

संज्ञा रूप में अरबी में यह व्यंजन वर्णों का वाचक शब्द है। परन्तु हिन्दी से इस अर्थ का कोई सम्बन्ध नहीं है। हमारे यहाँ यह *स्त्री०* संज्ञा के रूप में अवश्य प्रचलित है और इसके अर्थ उक्त विशेषणवाले अर्थों से ही सम्बद्ध हैं। हिन्दी में यह मुख्यतः दस्तखत या हस्ताक्षर के अर्थ में प्रचलित है। हम कहते हैं—इस कागज पर दोनों भाइयों की सही होनी चाहिए। अर्थात् दस्तखत या हस्ताक्षर होने चाहिए। ऐसे अवसरों पर इसका मूल आशय यही होता है कि इसकी प्रामाणिकता या यथार्थता मान्य और स्वीकृत होनी चाहिए। किसी कागज पर सही करके हम यह मान लेते हैं कि यह बात बिलकुल ठीक है। इसी आधार पर पुरानी हिन्दी में भी और आज-कल महाजनी बोल-चाल में भी 'सही भरना' मुहावरा प्रचलित है, जिसका अर्थ होता है—सत्यता की गवाही या साक्षी अंकित करना। इसके सिवा मौखिक रूप से भी किसी कथन या बात की पुष्टि या समर्थन करना 'सही भरना' कहलाता है। यथा—वानी विधि गौरि हर सेसहूँ गनेस कही सही भरी लोमस भुसुंडिवहु बारियों।—तुलसी।

इसके सिवा एक और क्षेत्र में भी *स्त्री०* संज्ञा के रूप में इसका प्रयोग देखने में आता है; जैसे—(क) साधारण चाल से चलो, दौड़ने की सही नहीं। (ख) साफ अक्षरों में लिखो; घसीट लिखने की सही नहीं। ऐसे अवसरों पर 'सही नहीं' का आशय यही होता है कि यह काम या बात प्रामाणिकता और मान्यतावाले तत्त्व से रहित है। यहाँ तक तो अर्थ के विचार से इसका सम्बन्ध अरबीवाले उक्त विशेषण रूप से माना जा सकता है। परन्तु ऐसा मानने में एक बहुत बड़ी कठिनता या बाधा उपस्थित होती है। उर्दूवाले यह शब्द उक्त *स्त्री०* संज्ञा के अर्थ में उस रूप में नहीं लिखते जिस रूप में वे इसका विशेषणवाला मूल रूप लिखते हैं। बल्कि वे भी उसी रूप में लिखते हैं जिस प्रकार अव्ययवाले अर्थों में 'सही' लिखते हैं। और यह रूप हिन्दी की 'सहना' क्रिया का भूतकालिक *स्त्री०* रूप है। यहाँ ध्यान रखने की एक और बात यह भी है कि इसके अव्ययवाले अर्थों के जो प्रयोग उर्दू और हिन्दी में मिलते हैं उनका बहुत कुछ सम्बन्ध हिन्दी की 'सहना' क्रिया से सूचित होता है।

अब उक्त बातों के प्रकाश में इस शब्द के अव्ययवाले प्रयोगों पर विचार कीजिए। हिन्दी का एक प्रसिद्ध पारम्परिक गीत है—लाख सही मैं पिअ की बतियाँ, एक सही ना जाय। इसमे का 'सही' स्पष्टतः 'सहना' क्रिया का भूतकालिक *स्त्री०* रूप है। उर्दू का एक प्रसिद्ध शेर है—

> झिड़की सही, अदा सही, चीने जबीं सही।
> सब कुछ सही, पर एक नहीं की नहीं सही॥

इसके प्रथम चरण में भी 'सही' उसी प्रकार 'सहना' क्रिया का भूत-कालिक *स्त्री०* रूप है जिस प्रकार वह उक्त पारम्परिक गीत में है। दूसरे चरण में के पहले 'सही' के सम्बन्ध में व्याकरण की दृष्टि से यह आपत्ति की जा सकती है कि 'सब कुछ' के विचार से इस क्रिया का रूप 'सही' नहीं, बल्कि 'सहा' होना चाहिए क्योंकि साधारणतः 'सब कुछ' के

साथ क्रिया का भूतकालिक रूप पुंलिंग ही रहता है, स्त्रीलिंग नहीं होता; जैसे–मैंने उसे सब कुछ दिया या सब कुछ बतलाया। फिर भी कई कारणों से यह आपत्ति बहुत अधिक महत्त्व की नहीं ठहरती। कहा जा सकता है कि पहले चरण की स्त्रीलिंगवाली शृंखला ठीक तरह से चलाये चलने के लिए ही दूसरे चरण के आरम्भ में भी क्रिया स्त्रीलिंग ही रखी गई है। परन्तु दूसरे चरण के अन्त में जो 'सही' है वह व्याकरण की दृष्टि से अव्यय ही माना जायगा और तब प्रश्न यह होगा कि इसकी व्युत्पत्ति क्या हो और अर्थ क्या ?

बहुत कुछ विचार करने पर मेरी समझ में यही आया है कि 'सही' का अव्ययवाला रूप भी हिंदी की 'सहना' क्रिया से सम्बद्ध है। हम कहते हैं–अच्छा यह भी सही। आशय यही है कि हमने तुम्हारी यह बात भी सह अर्थात् मान ली। यही बात 'चलो यही सही' सरीखे प्रयोगों के सम्बन्ध में भी है। और जब हम कहते हैं 'न सही' तब ऐसा प्रयोग हमारी अवज्ञा या उपेक्षा का सूचक होता हैं। उदाहरण के रूप में गालिब का यह मिसरा है–

गर नहीं हैं मेरे अशआर में मानीं, न सही।

फिर भी 'सही' के कुछ प्रयोगों के सम्बन्ध में एक विकट प्रश्न रह ही जाता है। हम कहते हैं–आप तो बराबर वहाँ जाने से इनकार ही करते थे, फिर भी आप वहाँ गए सही। 'सही' के कुछ इसी प्रकार के प्रयोग हमारे यहाँ के मध्य-युगीन साहित्य में मिलते हैं; यथा–

(क) प्रभु आसुतोष कृपालु शिव,
अबला निरखि बोले सही।–तुलसी। और

(ख) परसत पद-पावन, सोक-नसावन,
प्रकट भई तप-पुंज सही।–तुलसी।

ऐसे अवसरों पर 'सही' का प्रयोग हिन्दी के 'ही' अव्यय की तरह किसी बात पर जोर देने के लिए ही होता है। आशय यही होता है कि कही हुई बात अवश्य और निश्चित रूप से घटित हुई। ऐसी अवस्था में इसका सम्बन्ध अरबीवाले विशेषण 'सही' से स्थापित करना कुछ अधिक तर्क-संगत नहीं जान पड़ता। मेरा ऐसा विश्वास है कि 'सही' के इस प्रकार के प्रयोग हमारे यहाँ बहुत पहले से चले आ रहे हैं और उनकी व्युत्पत्ति भी कुछ स्वतंत्र ही होनी चाहिए। जो हो, यह विषय विद्वानों के लिए विचारणीय है।

हम ऊपर कह आए हैं कि उक्त उदाहरणों मे 'सही' का प्रयोग भी बहुत कुछ उसी प्रकार जोर देने के लिए हुआ है जिस प्रकार 'ही' का प्रयोग होता है। फिर भी इन दोनों के प्रयोगों में एक सूक्ष्म अंतर अवश्य है। हम कहते हैं–(क) आखिर आप वहाँ गए ही। और (ख) आखिर आप वहाँ गए सही। पहले वाक्य में 'ही' का प्रयोग मुख्यतः वक्ता का आश्चर्य मात्र सूचित करता है, परन्तु दूसरे वाक्य में 'सही' का प्रयोग यह सूचित करता है कि वक्ता को यह आशा नहीं थी कि सम्बोधित व्यक्ति वहाँ जायगा। अर्थात् सम्बोधित व्यक्ति का वहाँ जाना वक्ता की आशा के प्रतिकूल अथवा सम्भावना के विपरीत हुआ है।

परन्तु पहले वाक्य के 'ही' से इस प्रकार की ध्वनि का कोई संकेत नहीं मिलता।

अब 'सही' का एक और प्रकार का प्रयोग लीजिए। हम कहते हैं–अच्छा बैठो तो सही। 'सही' का इसी प्रकार का प्रयोग उर्दू के इस शेर में हुआ है–

संभालो तेगे अदा को, जरा सुनो तो सही।
जरा सी बात के बिगड़े, भला सुनो तो सही।

ऐसे अवसरों पर 'सही' का प्रयोग जोर देने के लिए तो होता ही है, पर इसमें यह भाव भी विवक्षित होता है कि चाहे और कुछ करो या न करो पर इतना तो करो; अर्थात् इसका आशय होता है–अधिक नहीं तो इतना अवश्य हो जाय। ××

24. सा-सी-से

हिन्दी में समानता या सादृश्य का भाव सूचित करने के लिए जो 'सा' प्रचलित है, वह जितना ही छोटा है, उतना ही भाव-गर्भित भी है और उतना ही विलक्षण भी। यद्यपि बहुत दिन पहले अपनी पुस्तक 'अच्छी हिन्दी' में मैंने इसके कुछ सूक्ष्म भावों के निरूपण का प्रयत्न किया था, पर इधर जब 'मानक हिन्दी-कोश' का सम्पादन करते समय यह शब्द मेरे सामने आया और मैंने इस पर विशेष अनुशीलन और विचार किया, तब मुझे इसमें और भी कई प्रकार की नई अर्थ-छटाएँ दिखाई दीं। यहाँ उन्हीं सूक्ष्म अर्थ-छटाओं का दिग्दर्शन कराया जाता है।

'हिन्दी शब्द सागर' ने इस अव्यय को सं० सादृश्य अथवा सह् से व्युत्पन्न माना है, परन्तु मेरी समझ में यह सीधे सम् या सम से व्युत्पन्न है। 'शब्द-सागर' में इसके दो ही अर्थ हैं–(1) समान, तुल्य, सदृश, बराबर; जैसे– उसका रंग तुम्हीं-सा है। और (2) एक प्रकार का मान-सूचक शब्द; जैसे–बहुत-सा थोड़ा-सा, जरा-सा। परन्तु 'सा' का ठीक-ठीक मूल्यांकन इन दो अर्थों से नहीं होने पाता और इसकी आत्मा के अनेक अंश या स्तर छिपे और दबे रह जाते हैं। यह ठीक है कि 'सा' मूलतः अव्यय ही है और मुख्यतः समानता या सादृश्य का ही बोधक है, पर पहली बात यह है कि इसका प्रयोग कहीं तो क्रिया-विशेषण की तरह और कहीं विशेषण की तरह भी होता है। दूसरे यह कि 'सा' निरा समानता या सादृश्य का ही बोधक नहीं है। जब हम कहते हैं–(क) कमल-सी आँखें, या (ख) फूल-सा शरीर; तब तो उसमें समानता या सादृश्यतावाला भाव ही रहता है। पर जब हम कहते हैं–(क) 'धूर्तों के-से काम' या 'बच्चों की-सी बातें' तब यह ढंग, तरह या प्रकार के क्षेत्र का परिचायक होता है। फिर जब हम कहते हैं–(ख) 'वहाँ बैठे-बैठे मुझे नींद-सी आने लगी' या (ग) 'वह एक मरियल सा टट्टू ले आया', तब यह पूरे सादृश्य का वाचक नहीं रह जाता, बल्कि सादृश्य होने पर भी आंशिक अल्पता, न्यूनता या हीनतावाले भाव का सूचक हो जाता हैं। जब हम कहते हैं–'तुम्हें इनमें से कौन-सी पुस्तक चाहिए ?' तब यह समानता या सादृश्य के क्षेत्र से निकलकर अवसाधारण या निश्चयवाले क्षेत्र में चला जाता है, क्योंकि हम निश्चित रूप से यह

जानना चाहते हैं कि बहुत-सी पुस्तकों में से कौन पुस्तक अपेक्षित है । और जब हम कहते हैं–'जरा-सा नमक', 'थोड़े-से आदमी' या 'बहुत-सी बातें' तब यह किसी अनिश्चित मात्रा या मान पर जोर देने के लिए प्रयुक्त होता है । कुछ अवस्थाओं मे इसका प्रयोग यह सूचित करने के लिए भी होता है कि जो कुछ कहा जा रहा है, वह पूरा-पूरा सदृश न होने पर भी चाहे थोड़ा हो या बहुत, पर है किसी न किसी रूप में मिलता-जुलता ही; जैसे–आमवात के रोगियों के शरीर पर उँगुली रखकर दबाने से गड्ढा-सा पड़ जाता है ।

इस अव्यय की एक और विशेषता यह है कि इसके रूप में विकार भी होते हैं, अर्थात् इसके रूप 'सी' और 'से' भी होते हैं । कारण यही है कि इसका प्रयोग संज्ञाओं के साथ भी होता है और विशेषणों के साथ भी और इसी लिए संज्ञाओं और विशेषणों के लिंग तथा वचन के अनुसार भी इसके रूप 'सी' और 'से' हो जाते हैं । इसके सिवा कुछ अवसरों पर विभक्तियों के साथ भी यह अव्यय लगता है; जैसे –(क) घर का-सा व्यवहार, (ख) मूर्खों का-सा आचरण । विभक्तियाँ विकारी होती हैं और उनके सम्पर्क से यह अव्यय भी विकारी हो जाता है ।

अव्यय के अतिरिक्त 'सा' का प्रयोग प्रत्यय के रूप में भी होता है जिसका उल्लेख 'शब्द-सागर' में नहीं है; यथा–ऐसा, कैसा, जैसा और वैसा में 'सा' प्रत्यय ही है और यह भी अव्यय 'सा' की तरह सम् या सम से व्युत्पन्न है, बल्कि यों कहना चाहिए कि वह अव्यय ही विकसित होकर प्रत्यय बन गया है, क्योंकि वह उसी अर्थ का बोधक हैं जो 'सा' अव्यय का मूल अर्थ है । यथा–ऐसा का अर्थ होगा–इस-सा; कैसा का अर्थ होगा–किस-सा; और वैसा का अर्थ होगा–उस-सा ।

अव्यय और प्रत्यय के सिवा 'सा' का एक और रूप संज्ञावाला भी है, जो संगीत के क्षेत्र में प्रचलित है और जो षडज स्वर का वाचक तथा संक्षिप्तक है । यद्यपि प्रस्तुत प्रसंग में 'सा' के इस संज्ञावाले रूप की चर्चा अनावश्यक है, फिर भी इसका उल्लेख केवल इस दृष्टि से किया गया है कि 'शब्द-सागर' में इसके इस रूप का विवेचन भी दृष्टि-दोष से छूट गया है

××

25. सस्ता

Cheap

'सस्ता' *स्त्री०* (सस्ती) संस्कृत स्वस्थ से बना है जिसका पहला और मुख्य अर्थ है–जो अपने उचित और प्रकृत स्थान पर हो । फलतः यह ऐसी स्थिति का भी सूचक हो गया है जिसमें कोई त्रुटि, न्यूनता या विकार न आया हो । सम्भवतः इसी न्यूनता वाले आशय के आधार पर यह 'महँगा' के ठीक विपरीत अर्थ का सूचक हो गया है । जो चीज उचित, नियत या साधारण मूल्य से कम पर बिकती या मिलती हो वह सस्ती कही जाती है; जैसे–यदि दस हजार रुपए का मकान किसी को छः, सात या आठ हजार में मिल जाय तो कहा जायगा–यह मकान उन्हें बहुत सस्ता मिल गया । लाक्षणिक रूप में भी यह महँगा के लाक्षणिक अर्थवाले विवरण का विपर्याय ही माना जाता है । हमें जो कुछ बहुत

थोड़े परिश्रम या प्रयत्न से अथवा अपेक्षया बहुत सहज में मिल जाय उसे भी 'सस्ता' कहते हैं; जैसें–आज-कल जिसे देखो वह सस्ता यश (या सम्मान) प्राप्त करने में लगा हुआ है। आशय यही होता है कि वह बहुत ही थोड़ा काम या परिश्रम करके और बहुत सहज में यह (सम्मान) प्राप्त करना चाहता है। इसके सिवा जो काम, चीजें या बातें अपने मानक स्तर से बहुत कुछ नीचे गिरी हुई, कम महत्व की अथवा तुच्छता आदि से युक्त मानी और समझी जाती हैं वे भी सस्ती कही जाती हैं; जैसे–आज-कल अनेक विश्वविद्यालयों की कई उपाधियाँ बहुत सस्ती हो गई हैं। आशय यही होता है कि वे उपाधियाँ बहुत ही थोड़े परिश्रम या प्रयत्न से प्राप्त कर ली जाती हैं या हो सकती हैं। इसी प्रकार जब हम कहते हैं–'आज-कल बाजारों में अनेक परकीय (या विदेशी) भाषाओं के सस्ते अनुवादों की भरमार है।' तब हमारा आशय यही होता है कि ये अनुवाद बहुत ही निम्नकोटि के हैं और जितने अच्छे होने चाहिए उतने कदापि नहीं हैं। ××

26. हाथ

यों तो बहुत से शब्दों के साथ थोड़े बहुत मुहावरे होते ही हैं, पर सबसे अधिक मुहावरे शरीर के मुख्य अंगों से सम्बद्ध हैं। 'आँख' के साथ जितने मुहावरे लगे हैं, उतने शायद और किसी अंग के वाचक शब्द के साथ न होंगे। कारण भी स्पष्ट है। ज्ञानेन्द्रियों में आँखें और कर्मेन्द्रियों में हाथ ही प्रधान या मुख्य हैं। संसार के सब काम आँखों के सहारे चलते और होते हैं। इसी से कहते हैं–बाबा आँखें बड़ी न्यामत हैं। दूसरा स्थान कदाचित् 'हाथ' के मुहावरों का है और यह भी इसी लिए कि 'आँख' के बाद सबसे अधिक काम का अंग हाथ ही है। पेट, पैर, मुँह, सिर आदि का स्थान इनके बाद आता है।

'हिन्दी शब्द-सागर' के सम्पादन के समय इस बात का विशेष ध्यान रखा जाता था कि शब्दों के अर्थ तो स्पष्टता के लिए अलग-अलग रहें ही, मुहावरों का भी अर्थों के अनुसार ही वर्गीकरण हो–किसी शब्द का जो मुहावरा जिस अर्थ के आथ सम्बद्ध हो वह उसी अर्थ के अन्तर्गत दिया जाय। ठीक-ठीक और स्पष्ट रूप से अर्थ का ज्ञान या बोध कराने का यही वैज्ञानिक ढंग है। परन्तु उस समय कई कारणों से कुछ शब्दों में इस नियम का ठीक तरह से निर्वाह नहीं हो सका था। इस बात की ओर मेरा ध्यान उस समय विशेष रूप से गया जब मैं प्रामाणिक हिन्दी कोश के लिए फिर से शब्द दोहराने लगा था। उस समय मैंने देखा कि 'पाँव' में ही सब मुहावरे आ गए हैं और 'पैर' में केवल एक मुहावरा है। बाकी मुहावरों के लिए इसमें 'पांव' शब्द की ओर संकेत कर दिया गया था। मैंने विचार करके देखा तो पता चला कि कुछ मुहावरे केवल 'पाँव' से सम्बद्ध हैं, कुछ केवल 'पैर' से, और कुछ ऐसे भी हैं जो दोनों के साथ चलते हैं। इसलिए मैंने इस प्रकार के थोड़े से मुहावरों का कुछ वर्गीकरण किया था और इस बात की ओर प्रामाणिक हिन्दी कोश की भूमिका में लोगों का ध्यान भी आकृष्ट किया था। इधर हाल में मेरा ध्यान 'हाथ' शब्द की ओर गया और मुझे उसमें अर्थों के विचार से भी और मुहावरों के विचार से भी कई प्रकार की अपूर्णताएँ और त्रुटियाँ दिखाई दीं। मुझे यह भी ध्यान आया कि इस प्रकार की अपूर्णताएँ और त्रुटियाँ इसीलिए रह गयीं कि यह विषय बहुत जटिल

था और इसके निराकरण के लिए बहुत-कुछ परिश्रम, विचारशीलता तथा समय की आवश्यकता थी। इसके सिवा उस समय के लिए उतना ही यथेष्ट समझा गया था जितना हुआ था या जितना हो सकता था। पर हिन्दी के वर्तमान गौरव और मर्यादा के विचार से ऐसी त्रुटियाँ दूर करने का प्रयत्न होना चाहिए। यही सोचकर मैंने केवल 'हाथ' शब्द के विवेचन में पूरा एक सप्ताह लगाया और अन्त में उसे एक नया रूप दिया। मैं यह तो नहीं कह सकता कि मेरा यह विवेचन सर्वथैव त्रुटिरहित और पूर्ण है, पर पहले से बहुत कुछ आगे बढ़ा हुआ अवश्य है। वह सारा विवेचन यहाँ दिया नहीं जा सकता पर इस सम्बन्ध में मुझे जो कई मनोरंजक और महत्त्व की बातें मिलीं उनकी कुछ चर्चा भाषा-प्रेमियों और शब्द-ब्रह्म के उपासकों के लिए कई दृष्टियों से उपयोगी सिद्ध हो सकती हैं।

पहले अर्थों की बात लीजिए। शब्द-सागर में 'हाथ' के कुल पाँच अर्थ हैं और हिन्दी के सभी कोशों में इसी परम्परा का अनुकरण और पालन हुआ है। पर मेरे विवेचन में यह संख्या पन्द्रह तक जा पहुँची है। कुछ तो यह अर्थ-विस्तार मुहावरों के विचार से हुआ है और कुछ लोक में प्रचलित प्रयोगों के विचार से। वर को कन्या का हाथ पकड़ाना या बाल-बच्चों का हाथ अपने भाई या मित्र को पकड़ाना आदि अनेक ऐसे मुहावरे हैं जिनके विचार से 'हाथ' शब्द में कुछ नए अर्थ जोड़े जाने चाहिए। इसके सिवा हम कहते हैं—(क) ज्योतिषी ने हाथ देखकर बहुत-सी विलक्षण बातें बतलायीं। (ख) वैद्य जी ने हाथ देखकर वास्तविक रोग बतला दिया। इन दोनों प्रसंगों में 'हाथ' के दो अलग-अलग अर्थ हैं। फिर स्टेशन पर हम सिकन्दरे का भी हाथ देखते हैं और चौरस्ते पर मार्ग या दिशा का सूचक अंकित हाथ भी। फिर हाथ के कुछ मुहावरे केवल कलाई के आगेवाले भाग (हथेली और उँगलियों से सम्बद्ध हैं) और कुछ कन्धे से उँगलियों तक समूचे अंग से। और इस दृष्टि से भी 'हाथ' का एक नया अर्थ निकल आता है। 'हाथ' के ये सभी अर्थ ऐसे हैं जिनका समावेश हमारे कोशों में विस्तृत, स्पष्ट तथा स्वतन्त्र रूप से होना चाहिए।

'हिन्दी शब्द-सागर' में और फलतः अधिकतर दूसरे कोशों में भी 'हाथ' के पहले अर्थ के बाद ही सब मुहावरे एक साथ आए हैं। परन्तु कोशों में अर्थों का जिस प्रकार का वर्ग-विभाग होता है उसी प्रकार का मुहावरों का भी वर्ग-विभाग होना चाहिए। साधारण अवस्था में इस प्रकार का वर्ग-विभाग करना उतना कठिन नहीं होता। परन्तु आँख, मुँह, हाथ सरीखे शब्दों मे मुहावरों का ऐसा वर्ग-विभाग दो कारणों से बहुत ही कठिन होता है। पहली बात तो यह है कि इन शब्दों से सम्बद्ध सैकड़ों मुहावरों को अलग-अलग छाँटकर यह निश्चित करना बहुत कठिन होता है कि कौन-सा मुहावरा किस अर्थ के अन्तर्गत या साथ रखा जाय। दूसरे, कुछ मुहावरे ऐसे भी होते हैं, जिनके अलग-अलग प्रसङ्गों में और अलग-अलग अर्थों के विचार से अलग-अलग आशय होते हैं, और इसी लिए ऐसे मुहावरों का वर्ग-विभाग करना कोशकार के लिए बहुत ही कठिन होता है। वस्तुतः इसी प्रकार की कई बड़ी-बड़ी कठिनाइयों ने 'शब्द-सागर' के सम्पादकों को ऐसे शब्दों के अर्थ निरूपण और मुहावरों के वर्गीकरण के सम्बन्ध में बहुत कुछ विवश कर दिया था, जिनके साथ दर्जनों अर्थ और सैकड़ों मुहावरे लगे थे। उस समय यह भी सोचा गया था कि एक साथ

सब मुहावरे एक ही जगह दे देने से जिज्ञासुओं को उन्हें ढूँढ़ने में सुभीता होगा। पर जिज्ञासुओं का सुभीता ही तो सब कुछ नहीं है। शब्दों के विवेचन का ढंग भी वैज्ञानिक होना चाहिए और इस विवेचन में कला की भी पूर्णता होनी चाहिए। फिर जिज्ञासुओं का बौद्धिक तथा साहित्यिक स्तर ऊँचा करना और उन्हें शब्दों के सूक्ष्म अर्थ-भेद, आशय-भेद, प्रयोग-भेद आदि बतलाना भी तो अच्छे कोशकार का ही मुख्य कर्तव्य होता है। अच्छे कोशकारों के सामने अनेक प्रकार की कठिनाइयाँ और जटिलताएँ आती ही रहती हैं। कौशल, मौलिकता और विचारशीलता तो उन्हें दूर करके रास्ता साफ करने में ही दिखाई पड़ती है। इसलिए हमारे भावी कोशकारों को ऐसी कठिनाइयों से घबराना नहीं चाहिए और जो कुछ हो चुका हो उससे भी आगे बढ़कर नया रास्ता निकालने के लिए तैयार रहना चाहिए।

अब पहले कुछ उदाहरण लीजिए। 'हाथ' के सम्बन्ध का एक बहुत प्रसिद्ध मुहावरा है–'हाथ उठाना।' हम किसी को नमस्कार या सलाम करने के लिए भी हाथ उठाते हैं और किसी को मारने के लिए भी हाथ उठाया जाता है और कोसने के लिए भी। 'हाथ दिखाना' का उल्लेख ऊपर ज्योतिषी और वैद्य के प्रसंग में हो ही चुका है। एक और प्रसंग हैं जिसमे 'हाथ दिखाना' का कुछ विलक्षण प्रयोग होता है। हम कहते हैं–'उस लड़ाई मे उन्होंने खूब हाथ दिखलाये' और यह भी कहते हैं–'उसने तलवार (या पटाबनेठी) के खूब हाथ दिखलाये।' यहाँ 'हाथ' का अर्थ है–अभ्यास, कौशल, दक्षता आदि के विचार से हाथों द्वारा होनेवाला कोई अनोखा या बड़ा काम। ऐसा ही एक और मुहावरा है–हाथ मारना। अलग-अलग प्रसंगों में इसके भी कई अर्थ होते हैं। किसी से प्रतिज्ञा करने या वचनबद्ध होने के समय (हाथ पर) हाथ मारा जाता है। दुकान पर रखी हुई किसी चीज पर उचक्का हाथ मारता है। आज-कल और भी न जाने कितने प्रकार के लोग कहाँ-कहाँ हाथ मारकर माला-माल होते हैं। कहा-सुनी या तकरार होने पर आगे बढ़कर विपक्षी को भी दो-चार हाथ मारे जाते हैं। साधारण जिज्ञासुओं के सुभीते के विचार से ऐसे मुहावरों के सब अर्थ एक साथ दे देना भले ही ठीक मान लिया जाय, पर अर्थ-विचार के उच्चतर सिद्धान्तों तथा कोश-कला की दृष्टि से ऐसा विवेचन कभी तर्क-सगंत, वैज्ञानिक और व्यवस्थित नहीं माना जा सकता। यही कारण है कि आज-कल उन्नत तथा सम्पन्न भाषाओं के ऊँचे दरजे के शब्द कोशों में पहली परिपाटी का त्याग और दूसरी परिपाटी का आदर देखने में आता है। और मेरी तुच्छ बुद्धि में हिन्दी के अच्छे कोशों में भी यही परिपाटी अपनायी जानी चाहिए।

'हाथ' के अर्थों का विवेचन करते हुए ऊपर कहा जा चुका है कि हाथ के कुछ मुहावरे हथेली और उँगलियोंवाले अंश से संबद्ध हैं और कुछ मुहावरे सारी बाँह अर्थात् कन्धे से उँगलियों तक के समूचे अंग से। उनमें से पहले वर्ग के मुहावरे ही बहुत अधिक हैं और दूसरे वर्ग के अपेक्षाकृत कम हैं। पहले वर्ग के मुहावरों के भी कई भेद, उप-भेद अथवा उपसर्ग हैं। बहुत से मुहावरे बहुत साधारण कार्य या व्यापार के सूचक हैं; जैसे–हाथ जोड़ना, हाथ मलना, हाथ मिलाना, (किसी के मुँह पर) हाथ रखना, हाथ-पर हाथ रखकर बैठना, (किसी को) हाथों हाथ लेना आदि। इसके बाद कुछ ऐसे मुहावरे

आते हैं जो कर्ता की विशिष्ट क्रियाशीलता या कर्तृत्व के सूचक होते हैं; जैसे–(किसी काम में) हाथ डालना, हाथ धोकर (किसी व्यक्ति के) पीछे पड़ना, (किसी का) हाथ पकड़ना, हाथ पैर मारना, हाथ पैर हिलाना, हाथ बटाना, (किसी काम में दूसरे का) हाथ रोकना, (कोई काम करने मे दूसरे का) हाथ रोकना, (किसी को बहुत कुछ दे चुकने पर अपना) हाथ रोकना आदि । एक तीसरा विभाग मनुष्य की आर्थिक स्थिति, प्राप्ति, हानि, लाभ आदि से सम्बद्ध है; जैसे–हाथ खाली होना, हाथ गरम होना, हाथ तंग होना, हाथ दबना, हाथ दबाकर खर्च करना, (किसी के आगे) हाथ फैलाना या पसारना, हाथ रँगना, हाथ लगाना, आदि । एक और चौथा विभाग भी है जा अधिकार, प्रभाव, स्वत्व आदि से संबद्ध है; जैसे–(लिखा-पढ़ी आदि के सम्बन्ध में) हाथ कटना, (किसी के नीचे) हाथ दबना, (किसी चीज से) हाथ धोना, (किसी का) हाथ पकड़ना (आश्रय या रक्षा में लेने के विचार से), (किसी के) हाथ पड़ना (नाहिं त परिहौ जम के हाथ ।–कबीर), (किसी के) हाथ बिकना (एक धनी के हाथ बिकानी ।–मीरा), हाथ से बे-हाथ होना आदि ।

और मेरी समझ में हाथ के मुहावरों का ऐसा वर्गीकरण ही अधिक उपयोगी सिद्ध होगा । मानक हिन्दी कोश में मैंने यथासाध्य इसी प्रकार का वर्गीकरण किया है ।

इस प्रकार यदि अन्य शब्दों के सम्बन्ध मे अर्थ और मुहावरों की दृष्टि से विचार किया जाय तो उनका क्षेत्र बहुत ही विस्तृत हो सकता है और अनेक उपयोगी मूल तथ्य सामने आ सकते हैं । ××

आचार्य रामचन्द्र वर्मा

(1889-1969)

जीवन परिचय :

एक सामान्य चोपड़ा—खत्री परिवार में जन्म, बाल्यावस्था में ही पिता का निधन। स्कूली शिक्षा केवल आठवीं कक्षा तक ही मिल पाई, लेकिन स्वाध्याय और बाबू श्यामसुंदर दास तथा बाबू रामकृष्ण वर्मा जैसे साहित्य-मनीषियों के सान्निध्य के कारण भाषा एवं साहित्य में विशेष गति प्राप्त कर ली। उनकी प्रतिभा और दक्षता को देखते हुए बीस वर्ष की उम्र में ही उन्हें "शब्दसागर" कोश के संपादन-विभाग में ले लिया गया, और दो वर्ष बाद ही उन्हें उस कोश का सम्पादक नियुक्त किया गया।

विशिष्ट योगदान :

'संक्षिप्त हिन्दी शब्दसागर', 'प्रामाणिक हिन्दी कोश', उर्दू-हिन्दी कोश', 'राजकीय कोश' और 'मानक हिन्दी कोश' का संपादन, 'अच्छी हिन्दी', 'हिन्दी प्रयोग', 'शब्द-साधना', 'शब्दार्थ मीमांसा' और 'शब्दार्थ दर्शन के लेखन द्वारा भाषा की समृद्धि और विकास में अविस्मरणीय योगदान।

विशेष सम्मान :

- भारत सरकार द्वारा 'पद्मश्री की सम्मानोपाधि।
- हिन्दी साहित्य सम्मेलन द्वारा 'साहित्य वाचस्पति' की उपाधि से विभूषित।
- ठलुआ क्लब द्वारा 'शब्दर्षि' की उपाधि।

'शब्दार्थ-विचार कोश' में महान् भाषा-तत्वज्ञ आचार्य
रामचन्द्र वर्मा ने समानार्थक शब्दों का
विवेचन अत्यंत वैज्ञानिक ढंग से किया है।
समानार्थक शब्दों के अर्थों में मूलतः
समानता रहने पर भी उनके अर्थ
या आशय में जो कम-अधिक भिन्नताएं
होती हैं उन्हीं को ध्यान में रखते हुए
उन्होंने इस अपूर्व ग्रंथ की रचना की है।

इस कोश में समानार्थक शब्द-समूहों को इस
प्रकार विवेचित किया है कि मिलते-
जुलते पर्याय शब्दों के अर्थों के अंतर
स्वतः स्पष्ट होते जाते हैं। अपने में,
यह कोश एक विशिष्ट पर्याय-कोश भी है।